ग्रन्थ प्राप्ति स्थान :
श्री दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

प्रमेयकमल मार्त्तण्ड स्तुतिः

गंभीर निखिलार्थ गोचर मल शिष्य प्रबोधप्रदम्
यद् व्यक्तं पदमद्वितीय मदिल माणिक्यनदि प्रभोः ।
तद् व्याख्यात मदो यथावगमतः किंचिन्मया लेशत
स्थेयाच्छुद्धधिया मनोरतिगृहे चन्द्रार्क तारावधि ॥१॥
मोहध्वान्त विनाशनो निखिलतो विज्ञान शुद्धिप्रदः
मेयानत नभोविसर्पण पटुर्वस्तूक्तिभा भासुरः ।
शिष्याब्ज प्रतिबोधनः समुदितो योऽद्रेः परीक्षामुखात्
जीयात् सोऽत्र निबध एष सुचिर मार्त्तण्ड तुल्योऽमलः ॥२॥

मुद्रक :
पाँचूलाल जैन
कमल प्रिन्टर्स
मदनगज-किशनगढ (राज०)

परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, चारित्र चक्रवर्ती, आचार्यप्रवर
१०८ श्री शान्तिसागरजी महाराज
पचेन्द्रियसुनिर्दान्तं, पंचससारभीरुकम् ।
शातिसागरनामानं, सूरिं वदेऽघनाशकम् ॥
जन्म :
ज्येष्ठ कृष्णा ६
वि. सं.
१९२९
क्षुल्लक दीक्षा :
ज्येष्ठ शुक्ला १३
वि. सं. १९७०
उत्तूर ग्राम (कर्नाटक)
मुनि दीक्षा :
फाल्गुन शुक्ला १४
वि. सं. १९७४
यरनाल ग्राम (कर्नाटक)
समाधि :
द्वितीय भाद्रपद
वि. सं. २०१२
कुन्थलगिरि सिद्धक्षेत्र

प्राक् कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ का स्रोत :

न्यायशास्त्र के महापण्डित, सर्वग्रन्थों के पारगामी एवं सद्गुणों के निवास भूत आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुखसूत्र नामक ग्रन्थ की रचना की। यह बहुत छोटा तथा सूत्ररूप ग्रन्थ है। इसमे छह परिच्छेद हैं। प्रथमादि परिच्छेदो मे यथाक्रम १३, १२, १०१, ६, ३ एव ७४ सूत्र है। इस तरह कुल २१२ सूत्र हैं। इसमे न्यायविषयक वर्णन है। परीक्षामुख ग्रन्थ न्याय शास्त्र का आद्य न्यायसूत्र रूप ग्रन्थ है। जैसे सिद्धान्त मे संस्कृत भाषा में सूत्रबद्ध रचना तत्त्वार्थसूत्र सर्व प्रथम उमास्वामी ने की तथैव न्याय के क्षेत्र मे परीक्षामुख प्रथम सूत्रग्रन्थ है।

माणिक्यनन्दि नन्दिसघ के प्रमुख आचार्य थे। धारानगरी इनकी निवास स्थली रही है। न्यायदीपिका मे आपको 'भगवान्' कहा गया है।[1] प्रमेयकमलमार्तण्ड मे प्रभाचन्द्र ने इन्हे गुरु के रूप में उल्लिखित किया है तथा शिमोगा जिले के नगर ताल्लुके के शिलालेख न० ६४ के एक पद्य में माणिक्यनन्दि को जिनराज लिखा है। आपके गुरु रामनदि थे तथा माणिक्यनन्दि के शिष्य नयनन्दि थे।[2]

परीक्षामुख की टीकाएँ :

उत्तरकाल मे उक्त ग्रन्थ पर अनेक टीका व्याख्याएँ लिखी गईं। यथा—

(१) प्रभाचन्द्राचार्य का विशाल प्रमेयकमलमार्तण्ड

(२) लघु अनन्तवीर्य की मध्यम परिमाण वाली प्रमेयरत्नमाला

(३) भट्टारक चारुकीर्ति का प्रमेयरत्नमालालंकार

(४) शान्तिवर्णी की प्रमेयकण्ठिका

उत्तरवर्ती प्राय समस्त जैन नैयायिको ने इस ग्रन्थ (परीक्षा मुख) से प्रेरणा ग्रहण की है।

---

१. "तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दि भट्टारक"—न्यायदीपिका, अभिनवधर्मभूषण।

२. सुदसणचरिउ। प्रशस्ति।

प्रस्तुत टीका :

[प्रमेयकमलमार्तण्ड]—परीक्षामुख की उक्त टीकाओ मे से सर्वाधिक परिमाण वाली टीका १२००० श्लोकप्रमाण प्रस्तुत ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड है, [प्रस्तुत भाग प्रमेयकमलमार्तण्ड का तृतीय भाग है। इसके पूर्व दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। तीनों भागो मे लगभग चार-चार हजार श्लोक प्रमाण अश आया है। पूर्व के दो भाग क्रमश: ६६८ व ६५२ पृष्ठो मे छपे हैं तथा प्रस्तुत भाग ७०६ पृष्ठो मे छपकर पूर्ण हुआ है।] जो कि आज आचार्य तथा न्यायतीर्थ जैसी उच्च कक्षाओ मे पाठ्यग्रन्थ के रूप मे स्वीकृत है एव न्याय का अद्वितीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे न्याय ग्रन्थो के प्राय: सर्व सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध हैं तथा मूलसूत्रो से सम्बद्ध सकल वादविवादो का समाधान (परिहार) इसमे है। विषय-परिचय स्वय पूज्य विदुषी माताजीश्री ने आगे दिया है।

प्रमेयकमलकार ·

इस ग्रन्थ के अध्ययन से प्रमेयकमलमार्तण्डकार [प्रभाचन्द्र] का वैदुष्य एव व्यक्तित्व अत्यन्त महनीय विदित होता है। आपने वैदिक तथा अवैदिक दर्शनो का गहन अध्ययन किया था। आप तार्किक तथा दार्शनिक दोनो थे। आपकी प्रतिपादन शैली और विचारधारा अपूर्व थी। आपके गुरु का नाम पद्मनन्दि सैद्धान्तिक था। पद्मनन्दि सैद्धान्तिक अविद्धकर्ण और कौमारदेवव्रती थे अर्थात् पद्मनन्दि ने कर्णवेध होने के पहले ही दीक्षा धारण की होगी और इसी कारण वे कौमारदेव व्रती कहे जाते थे। आप मूलसघान्तर्गत नन्दिगण के प्रभेदरूप देशीयगण के गोल्लाचार्य के शिष्य थे। आचार्य प्रभाचन्द्र के सधर्मा सिद्धान्त शास्त्रो के पारगामी तथा चारित्र के सागर 'कुलभूषण मुनि' थे। प्रभाचन्द्र पद्मनन्दि से शिक्षा-दीक्षा लेकर उत्तर भारत मे धारा नगरी मे चले आये और यहाँ आचार्य माणिक्यनन्दि के सम्पर्क मे आये। प्रभाचन्द्र ने अपने को माणिक्यनन्दि के पद मे रत कहा है। इससे उनका साक्षात् शिष्यत्व प्रकट होता है, अत सम्भव है कि प्रभाचन्द्र ने जैनन्याय का अभ्यास माणिक्यनन्दि से किया हो और उन्ही के जीवनकाल मे प्रमेयकमलमार्तण्ड की रचना की हो। आपने प्रमेयकमल मार्तण्ड धारानगरी मे लिखा था।

रचनाएँ :

इनकी निम्नलिखित रचनाएँ मान्य हैं ·—

१ प्रमेयकमलमार्तण्ड · परीक्षामुख व्याख्या

२ न्यायकुमुदचन्द्र : लघीयस्त्रय व्याख्या

३ तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण सर्वार्थसिद्धि व्याख्या

४. शाकटायनन्यास · शाकटायनव्याकरण व्याख्या

५. शब्दाम्भोजभास्कर : जैनेन्द्रव्याकरण व्याख्या

६ प्रवचनसारसरोजभास्कर : प्रवचनसार व्याख्या

७ गद्यकथाकोश : स्वतन्त्र रचना

८ रत्नकरण्डश्रावकाचार : टीका

९. समाधितन्त्र : टीका

१०. क्रियाकलाप : टीका

११. आत्मानुशासन : टीका

१२ महापुराण : टिप्पण

आचार्य जुगुलकिशोर मुख्तार ने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना मे रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका और समाधितन्त्र की टीका को प्रस्तुत प्रभाचन्द्र द्वारा रचित न मानकर किसी अन्य प्रभाचन्द्र की रचनाएँ माना है। पर जब प्रभाचन्द्र का समय ११ वी शताब्दी सिद्ध होता है तो इन ग्रन्थो के उद्धरण रह भी सकते है। रत्नकरण्ड टीका और समाधितन्त्र टीका मे प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र का एक साथ विशिष्ट शैली मे उल्लेख होना भी इस बात का सूचक है कि ये दोनो टीकाएं प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र की ही हैं। यथा—

"तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्।"—रत्नकरण्ड-टीका पृष्ठ ६। "यैः पुनयोगसाख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्याय-कुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरत. प्रत्याख्याता:।"—समाधितन्त्र टीका पृ० १५।

ये दोनो अवतरण प्रभाचन्द्र कृत शब्दाम्भोज भास्कर के उद्धरण से मिलते-जुलते है— "तदात्मकत्व चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्ध्यति तथा प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम्।"—शब्दाम्भोजभास्कर।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोष मे पाई जाने वाली अजन चोर आदि की कथाएँ रत्नकरण्ड-श्रावकाचारगत कथाओ से पूर्णत मिलती है। अतएव रत्नकरण्ड श्रावकाचार और समाधितन्त्र की टीकाएँ प्रस्तुत प्रभाचन्द्र की ही है।

क्रियाकलाप की टीका की एक हस्तलिखित प्रति बम्बई के सरस्वती भवन मे है। इस प्रति की प्रशस्ति मे क्रियाकलाप टीका के रचयिता प्रभाचन्द्र के गुरु का नाम पद्मनन्दि सैद्धान्तिक है और

न्यायकुमुदचन्द्र आदि के कर्ता प्रभाचन्द्र भी पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के ही शिष्य है । अतएव क्रियाकलाप-टीका के रचयिता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही जान पडते हैं ।[1]

प्रमेयकमलमार्तण्ड की अनुवादिका :

प्रमेयकमलमार्तण्ड की हिन्दी भाषा टीका अभी तक किसी ने नही लिखी थी । इसे पूज्य विदुषी आ० जिनमतीजी ने लिखकर सकल भारतीय दि० जैन समाज का महोपकार किया है—इसमे शका निरवकाश है । क्योकि आजकल की हवा मे सस्कृत या प्राकृत के ज्ञाता नही के तुल्य हैं । पूज्या माताजीश्री ने सरल-सुबोध शैली मे यह भाषा टीका लिखी है ।

प्रेरणा के स्रोत :

इस भाषा टीका लिखने हेतु प्रेरणा पू० आर्यिका न्याय साहित्य-सिद्धान्त शास्त्री शुभमती माताजी (पूर्व नाम — विमलाबाईजी) ने की थी । आपने शिक्षा प्रदात्री आ० जिनमतीजी से प्रार्थना की थी कि इस ग्रन्थ की भाषा टीका न होने से शास्त्री परीक्षा मे कठिनता होगी, अत. इसका हिन्दी मे साराश लिखिए । जिससे हमे सुविधा हो और बार-बार आपको पूछना न पडे । आपकी इस प्रार्थना को पू० जिनमती माताजी ने स्वीकार की और भाषानुवाद प्रारम्भ किया और ८ मास मे अनुवाद पूर्ण भी हो गया । आज यह ग्रन्थ ३ भागो मे छपकर प्रकाशित हो गया है । यह देखकर आ० शुभमतीजी को अपार हर्ष है । यथा—चामुण्डराय की प्रार्थना पर गोम्मटसार की रचना हुई तथैव आपकी प्रार्थना पर न्यायपारगता जिनमतीजी द्वारा भाषा टीका पूर्ण हुई ।

विदुषी भाषाटीकाकर्त्री का देह-परिचय ·

पूज्य माताजी जिनमतीजी का जन्म फाल्गुन शुक्ला १५ स० १९९० को म्हसवड ग्राम [जिला—सातारा (महाराष्ट्र)] मे हुआ ।[2] जन्म नाम प्रभावती था । आपके पिता श्री फूलचन्द्र जैन और माता श्री कस्तुरीदेवी थी । दुर्भाग्य से माता-पिता का वियोग बचपन मे ही होगया । इसी कारण आपका लालन-पालन आपके मामा के घर पर हुआ ।

सन् १९५५ मे आर्यिका रत्न श्री ज्ञानमति माताजी ने म्हसवड मे चातुर्मास किया । चातुर्मास मे अनेक बालिकाएँ माताजी से द्रव्यसग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, कातंत्र व्याकरण आदि ग्रन्थो का अध्ययन करती थी । उस समय विंशति वर्षीया सुश्री प्रभावती भी उन अध्येत्री बालिकाओ मे से एक थी ।

---

१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा ३।५०—५१ से साभार उद्धृत ।

२ म्हसवड ग्राम सोलापुर के पास है ।

प्रभावती ने वैराग्य से ओतप्रोत होकर सन् १९५५ मे ही दीपावली के दिन पू० ज्ञानमतीजी से १० वी प्रतिमा के व्रत ले लिये। तत्पश्चात् पू० आ० वीरसागरजी के सघ मे वि० स० २०१२ मे ब्र० प्रभावतीजी ने क्षुल्लिका दीक्षा ली; देह का नामकरण हुआ—"जिनमती"। सन् १९६१ ई० तदनुसार कार्तिक शु० ४ वि० स० २०१६ मे सीकर (राज०) चातुर्मास के काल मे पू० आ० १०८ श्री शिवसागरजी से क्षु० जिनमतीजी ने स्त्रीत्व के चरम सोपानभूत आर्यिका के कठोरतम व्रत अगीकृत किये।

शनैः शनैः अपनी कुशाग्र बुद्धि से तथा परमविदुषी आ० ज्ञानमतीजी के प्रबल निमित्त से आप विदुषी हो गईं। आप स्वय पू० ज्ञानमती माताजी को "गर्भाधान क्रिया से न्यून माता" कहती हैं। आज आप न्याय, व्याकरण के ग्रन्थो की विदुषी के रूप मे भारतधरा को पावन व सुशोभित कर रही हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड जैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थ की हिन्दी टीका करके आपने दार्शनिक क्षेत्र की महती पूर्ति की है।

आपके कारण से इस शताब्दी का पूज्य साध्वीवर्ग नूनमेव गौरवान्वित रहेगा।

अन्त मे यह आशा करता हुआ कि, प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तुत भाषा टीका "भव्यकमल-मार्त्तण्ड" रूप सिद्ध होगी; विदुषी, पूज्या आर्या जिनमतीजी को सभक्ति बहुबार त्रिधा वन्दन करता हुआ कलम को विराम देता हूँ।

विनीत :

जवाहरलाल मोतीलाल बकतावत

साटडिया बाजार, भीण्डर (उदयपुर)
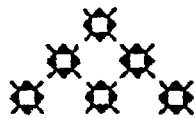
अपनी बात

आत्मा अनत ज्ञान शक्तियो का घनपिण्ड है। ज्ञान प्रकाश के समान अन्य कोई प्रकाश नहीं है, दीपक का प्रकाश, रत्न का प्रकाश, चन्द्र का प्रकाश एव सूर्य का प्रकाश, ज्ञान के प्रकाश द्वारा ही कार्यान्वित होता है इसके विना उक्त सब प्रकाश निरर्थक हैं। हमारे इस ज्ञान शक्ति पर अनादिकाल से आवरण आया हुआ है। जैसा और जितना आवरण हटता है वैसा उतना ज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान के प्रकट होने मे गुरुजन एव शास्त्र परम सहायक हुआ करते हैं। आर्यिका रत्न परम विदुषी ज्ञानमती माताजी जो कि मेरी गर्भाधान क्रिया विहीन माता हैं, उनके चरण सान्निध्य मे, अन्य अनेक विषयो के साथ न्याय विषय के प्रारम्भिक ग्रथ परीक्षामुख और न्यायदीपिका पूर्ण हुए ही थे कि परम पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज जो कि ऐलक अवस्था मे थे। आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज द्वारा मुनि दीक्षा लेकर सघ मे साधुओ को अध्ययन करा रहे थे उस समय हम कई आर्यिकाओ ने पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज के पास न्याय का पठन प्रारम्भ किया। प्रमेयरत्नमाला एवं आप्त परीक्षा पूर्ण हुई, प्रमेयकमलमार्तण्ड का अध्ययन प्रारभ हुआ बीच मे महाराजजी का अन्यत्र विहार हो गया। अनतर मार्त्तण्ड को पूज्या ज्ञानमती माताजी ने पूर्ण कराया एव आगे अन्य अनेक न्याय सिद्धान्त आदि सम्बधी ग्रन्थो का अध्ययन कराके मेरी आत्मा मे अनादि काल के लगे हुए मिथ्यात्व एव अज्ञान को दूर किया। जिसप्रकार वर्षाकालीन अमावस्या की घोर अधकार वाली रात्रि मे बीहड़ वन मे भटके हुए व्यक्ति को कोई प्रकाश देकर मार्ग पर लाता है उस प्रकार कलिकाल रूपी वर्षाकालीन पचेन्द्रिय के विषयरूप अमावस्या वाली अज्ञान रूपी रात्रि मे कुगति रूप बीहड वन मे भटके हुए मुझको परम पूज्या अम्मा ने मोक्षमार्ग पर लगाया है।

माताजी मुझको पढाती और अन्य नये विद्यार्थियो को छोटे-छोटे विषय पढवाती रहती। मेरा अध्ययन पूर्ण होने पर अध्ययन के इच्छुको को मैंने पढाना प्रारम्भ किया वर्त्तमान आर्यिका शुभमती दीक्षा पूर्व मुझसे शास्त्री परीक्षा का कोर्स पढ रही थी उसमे प्रमेयकमल मार्त्तण्ड ग्रन्थ निहित था केवल सस्कृत मे होने के कारण पाठन मे कठिनाई होती थी उन्होने [कुमारी विमला ने] मुझसे कहा कि यह ग्रन्थ दुरूह है तथा न्याय का विषय ऐसा ही कठिन पडता है अत: आप हिन्दी भाषा मे साराश रूप लिख दीजिये। मैंने उनके अनुनय पर लक्ष्य देकर लिखना प्रारम्भ किया, सारांश लिखने का विचार था किन्तु पूरे ग्रन्थ का अनुवाद कर लिया।

यह अनुवाद टोक नगरी की रम्य नसिया मे प्रारम्भ होकर अष्टमासावधि मे यही पूर्ण हुआ। अनन्तर उक्त अनुवाद मे अनेक परिवर्तन सवर्धन करके मैंने इसे सहारनपुर मे अतिम रूप दे दिया था। पडित, सिद्धात भूषण अध्यात्मप्रेमी श्रीमान् नेमिचन्दजी सहारनपुर वालो के सुझाव के अनुसार प्रथम भाग मे मैंने प्रतिपक्षी प्रवादी के पूर्व पक्ष भी लिखे थे। प्रथम भाग वीर० नि० २५०४ एव द्वितीय भाग २५०७ मे प्रकाशित हुआ। अब यह अतिम तृतीय भाग २५११ मे प्रकाशित हो रहा है। प्रारब्ध कार्य की पूर्णता पर प्रसन्नता होना स्वाभाविक है।

ग्रन्थ के अनुवाद मे त्रुटि, स्खलन होना सभव है अत· विद्वद्वर्ग सशोधन करे, "को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे"।

—आर्यिका जिनमती

परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, आचार्यप्रवर

१०८ श्री वीरसागरजी महाराज

चतुर्विधगणैः पूज्य, गभीरं सुप्रभावकम् ।
वीरसिन्धुगुरुं स्तौमि, सूरिगुणविभूषितम् ॥

जन्म ।	क्षुल्लक दीक्षा ·	मुनि दीक्षा ।	समाधि ।
आषाढ पूर्णिमा	फाल्गुन शुक्ला ७	आश्विन शुक्ला ११	आश्विन अमावस्या
वि स. १९३२	वि. स. १९८०	वि. स. १९८१	वि. सं. २०१४
वीर गाम (महाराष्ट)	कुम्भोज (महाराष्ट्र)	समडोली (महाराष्ट्र)	जयपुर (राज०)

विषय परिचय

आचार्य प्रभाचन्द्र विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रथ के राष्ट्रभाषानुवाद का यह तृतीय अतिम भाग पाठको के हाथो मे सौपते हुए सकल्प की पूर्ति के कारण चित्त प्रसन्न है। मूल सस्कृत ग्रन्थ बारह हजार श्लोक प्रमाण विस्तृत है अत: इसको तीन भागो मे विभक्त किया, प्रथम भाग सन् १९७८ मे प्रकाशित हुआ, द्वितीय भाग सन् १९८१ मे प्रकाशित हुआ, अब यह तृतीय भाग सन् १९८४ मे प्रकाशित हो रहा है। तीनो भागो मे समान रूप से ही [चार चार हजार श्लोक प्रमाण] सस्कृत टीका समाविष्ट हुई है।

इस तृतीय भाग मे करीब २५ प्रकरण हैं इनका परिचय यहा दिया जारहा है।

सामान्य स्वरूप विचार :

प्रमाण का वर्णन पूर्ण होने के अनतर प्रश्न हुआ कि प्रमाण के द्वारा प्रकाशित होने वाले पदार्थ किस प्रकार के स्वभाव वाले होते हैं ? अर्थात् जगत् के यावन् मात्र पदार्थ वस्तु तत्व या द्रव्यो मे कौन से गुणधर्म पाये जाते हैं ? इस प्रश्न के समाधान स्वरूप माणिक्यनन्दी आचार्य ने सूत्र रचा-"सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषय." सामान्य और विशेष गुणधर्म वाले पदार्थ होते है वे प्रमाण के द्वारा प्रकाशित होते हैं।

प्रत्येक पदार्थ अनुवृत्त प्रत्यय [यह मनुष्य है यह भी मनुष्य है इस प्रकार का प्रतिभास] वाला एवं व्यावृत्त प्रत्यय [यह इससे भिन्न है इसप्रकार का प्रतिभास] वाला होता है, अनुवृत्त प्रतीति से सामान्य धर्म और व्यावृत्त प्रतीति से विशेष धर्म सिद्ध होता हे।

पदार्थ के पूर्व आकार का त्याग एव उत्तर आकार की प्राप्ति तथा उभय अवस्था मे स्थिति [ध्रौव्य] देखी जाती है अत: पदार्थ सामान्य और विशेष धर्म युक्त है। वस्तु का सामान्य धर्म दो प्रकार का है तिर्यग् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। अनेक वस्तुओ मे होने वाले सादृश्य को तिर्यग् सामान्य कहते हैं, जैसे खडी मु डी आदि अनेको गायो मे गोपना सदृश है। पूर्व और उत्तर काल मे होने वाली पर्यायो मे जो एक द्रव्यपना है वह ऊर्ध्वता सामान्य है, जैसे स्थास, कोश, कुशूल और घटादिरूप पर्यायो मे एक मिट्टी द्रव्य व्यवस्थित है।

पर्याय विशेष और व्यतिरेक विशेष ये दो विशेष धर्म के भेद है। एक द्रव्य मे क्रमश. होने वाले परिणाम पर्याय विशेष हैं जैसे-आत्मा मे क्रमश: हर्ष और विषाद होता है। विभिन्न पदार्थो के विसदृश परिणाम को व्यतिरेक विशेष कहते हैं, जैसे-गौ और भैंस मे विसदृशता है। इस प्रकार पदार्थ सामान्य विशेषात्मक प्रतीति सिद्ध है।

वौद्ध सामान्य धर्म को स्वीकार नही करते उनका कहना है कि पदार्थ के सामान्य और विशेष धर्म एक ही इद्रिय ज्ञान के द्वारा जाना जाता है ग्रत एक है, तथा यह काल्पनिक धर्म है वास्तविक धर्म तो विशेप है। आचार्य ने समझाया कि जो एक इन्द्रिय ज्ञान द्वारा ग्राह्य है वह एक है ऐसा माने तो धूप और वात को एक मानना होगा ? क्योकि दोनो एक ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं।

सामान्य को नित्य, सर्वगत, एक अखण्ड स्वभाव वाला मानते हैं। गायो मे गोत्व, घटो मे घटत्व, मनुष्यों मे मनुष्यत्व रूप जो सामान्य धर्म पाया जाता है उसको यौग के मतानुसार सर्वथा एक माना जायगा तो बहुत भारी आपत्ति आती है—अनेक गायो का गोत्व एक है तो एक गाय के मर जाने पर उसका गोत्व नष्ट हुआ मानते हैं तो सामान्य का नित्यपना सिद्ध नही होता, और उक्त गोत्व धर्म का नाश नही मानते तो उस विवक्षित गाय के मरने पर भी उस स्थान पर गोत्व दिखायी देना चाहिए ? इसीप्रकार घटत्व, मनुष्यत्व आदि सामान्य धर्म की बात है। यदि वस्तु का यह सामान्य धर्म सर्वगत अर्थात् सर्वत्र व्यापक है तो मनुष्यो का मनुष्यपना गो का गोपना घटो का घटपना उन्ही निश्चित स्थानो मे क्यो प्रतीत होता है ? अन्यत्र क्यो नही प्रतीत होता ? यदि मनुष्य का मनुष्यपना आकाशवत् व्यापक है तो उसे अवश्य ही यत्र तत्र सर्वत्र प्रतिभासित होना चाहिए ! किन्तु ऐसा होता नहीं अतः सामान्य धर्म का सर्वगतपना असिद्ध है। मीमासक सामान्य और विशेप धर्म मे सर्वथा तादात्म्य स्वीकार करते हैं, किन्तु यह मान्यता भी अयुक्त है, जिनका सर्वथा तादात्म्य होगा वे विभिन्न रूप से प्रतिभासित नही हो सकेंगे, गायो का गोत्व अर्थात् सास्नादिमान्पना रूप सामान्य धर्म और धवली, शवली आदि विशेष धर्म विभिन्न रूपेन प्रतीत होते हैं अत सामान्य और विशेष धर्मों मे सर्वथा तादात्म्य न मानकर कथंचित् तादात्म्य मानना चाहिए।

इसप्रकार वस्तुगत सामान्य गुण, धर्म या स्वभाव अनित्य, असर्वगत, अनेक रूप ही सिद्ध होता है।

सामान्य को काल्पनिक मानना या व्यापक नित्य मानना किसप्रकार प्रतीति विरुद्ध है इस बात का मूल ग्रथ मे विशद रीत्या विवेचन किया है।

ब्राह्मणत्व जाति निरास :

नैयायिकादि प्रवादी ब्राह्मणो मे ब्राह्मणत्व नामकी एक अखड व्यापक नित्य स्वभाव वाली जाति मानते है, उनकी यह जाति भी सामान्य के समान असिद्ध है, बात यह कि जो सर्वत्र व्यापक है एव नित्य है उसका अनेको मे पृथक् पृथक् रूप से रहना, अपने आधार के नष्ट होने पर नष्ट होना सर्वथा अयुक्त है।

नित्य आदि विशेषण विशिष्ट ब्राह्मण्य सिद्ध करने के लिये दिये गये अनुमान प्रमाण बाधित होने से नैयायिकादि के अभीष्ट की सिद्धि नही हो पाती। ब्रह्मा के मुख से जिनकी उत्पत्ति हो उन मनुष्यो मे ब्राह्मण्य सन्निविष्ट होने की कल्पना बडी ही मजेदार है। परवादी के इस ब्राह्मणत्व जाति का आचार्य ने निरसन करके

सिद्ध किया है कि उक्त जाति आकाशवत् एक नित्य व्यापी न होकर सदृश सदाचार क्रिया परिणामादि के निमित्त से होने वाली अनेक अनित्य अव्यापक रूप है।

क्षणभंगवाद :

बौद्ध प्रत्येक वस्तु क्षणिक मानते है, घट, पट, मनुष्यादि पर्यायें एव जीव अजीव आदि द्रव्य सभी क्षण-भगुर हैं—एक समय मे उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते है। पदार्थ को जानने वाली बुद्धि भी क्षणिक है। वस्तु के नष्ट होने के लिये कारण की अपेक्षा नही होती अर्थात् वह स्वत: ही नष्ट हो जाती है। "सर्वं क्षणिक सत्त्वात्" सत्त्वरूप होने से सभी वस्तु क्षणिक है ऐसा अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध होता है।

बौद्ध की उपर्युक्त मान्यता प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित है, पदार्थों का ध्रौव्य प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, पूर्वोत्तर पर्यायो मे जिस प्रकार विभिन्नता ज्ञात होती है उसी प्रकार उन्ही पर्यायो मे द्रव्य का अन्वयपना प्रतीत होता है जैसे स्थास कोश घट आदि पर्यायो मे मिट्टी का अन्वय (ध्रौव्य) रहता है। पदार्थ को जानने वाली बुद्धि किसी अपेक्षा [ज्ञेय के परिवर्त्तन की अपेक्षा] भले क्षणिक हो किंतु बुद्धिमान् आत्मा तो नित्य है।

पदार्थ के नाश को निर्हेतुक मानना भी अयुक्त है, प्रत्यक्ष से देखा जाता है कि घट लाठी आदि की चोट से नष्ट होता है। क्षणिकत्व की सिद्धि के लिये दिया गया 'सत्त्वात्' हेतु क्षणिकत्व को सिद्ध न करके नित्यत्व को ही सिद्ध करता है। प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण नष्ट होती है और वह भी निरन्वयरूप से तब तो उपादान निमित्त और सहकारित्व बन नही सकता। वस्तु स्वय अपने सजातीय सन्तान को उत्पन्न करके नष्ट होती है तो कम से कम उक्त वस्तु की स्थिति तीन क्षण की तो हो ही जाती है। निरन्वय विनाशशील वस्तु मे अन्वय व्यतिरेक रूप प्रतिभास असम्भव है किन्तु ऐसा प्रतिभास प्रत्येक वस्तु मे होता है। अत पदार्थ को क्षणिक नही मान सकते। वस्तु मे अर्थ पर्याय की दृष्टि से परिवर्त्तन अवश्य होता है, किंतु समूलचूल नाश नही होता, जैसे बालक युवा वृद्ध इन अवस्थाओ मे एक ही मनुष्य परिवर्तित होता है अत मनुष्य की दृष्टि से वह अवस्थित है और बाल आदि अवस्था की दृष्टि से उत्पन्न प्रध्वसी है।

संबंधसद्भाववाद :

बौद्ध पदार्थों मे परस्पर मे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध स्वीकार नही करते, उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु से सर्वथा पृथक् है उनमे सयोग या सश्लेष आदि सम्बन्ध असम्भव है। परमाणु अन्य परमाणु से कोई बन्ध-सम्बन्ध नही, स्कन्ध की कल्पना कल्पनामात्र है। एक परमाणु का दूसरे परमाणु से सम्बन्ध इसलिये नही है कि वह परमाणु अन्य परमाणु के साथ एक देश से करता है तो परमाणु को साश मानना पडेगा और यदि एक परमाणु का दूसरे परमाणु से सर्व देश से सम्वन्ध माने तो उक्त स्कन्ध परमाणु मात्र रह जायगा। वस्तुओ मे कार्य कारण सम्बन्ध भी पारमार्थिक नही है।

यह बौद्ध की उपर्युक्त मान्यता असमीचीन है। संबंध प्रत्यक्ष से दिखाई देता है, अनेक तन्तुओं के ताने बाने रूप संबंध से वस्त्र निर्माण होता है। प्रत्येक परमाणु सर्वथा असंबद्ध है एक का अन्य से संबंध नहीं है तो रस्सी दंड वास आदि आकर्षण असंभव है, जब रस्सी के प्रत्येक तंतु पृथक हैं तो उसका एक छोर पकडते ही संपूर्ण रस्सी किसप्रकार खिंच जाती है? रस्सी से बंधी बालटी कूप से पानी किसप्रकार निकाल सकती है? क्योंकि रस्सी से प्रत्येक कण पृथक् पृथक् अवस्था में स्थित है। परमाणु से परमाणु का संबंध दोनों प्रकार से संभव है एक देश से संबंध होने से ही तो बडे स्कंध की निष्पत्ति होती है अन्यथा मेरु और सरसों में अंतर ही नहीं रह पायेगा। कभी सर्व देश से संबंध भी होता है, आकाश के एक प्रदेश में अनेक परमाणुओं वाले स्कंध का अवस्थान इसीसे बन जाता है। एक देश से संबंध माने तो परमाणु सांश हो जायगा ऐसा कहना अभीष्ट ही है क्योंकि परमाणु को केवल इसलिये निरंश कहते हैं कि उसका विभाग नहीं होता, किन्तु स्वयं में उसके छह पहलू या कोण माने ही हैं।

संबंध का लक्षण यही है कि "विश्लिष्टरूपता परित्यागेनसंश्लिष्टरूपतया परिणति संबंध" अर्थात् विभिन्नपने का त्याग कर संश्लेषरूप परिणमन करना संबंध है, यह संबंध अनेक प्रकार का है—संयोग संबंध जैसे कुंड में बेर, हाथ में कंकण आदि, कोई संश्लेष संबंध रूप है, जैसे जीव और कर्म का संबंध। कोई एक क्षेत्रावगाह संबंध जैसे—दूध और पानी का संबंध है इसीप्रकार कार्य कारण आदि संबंध भी होते हैं।

अन्वयी आत्म सिद्धि :

मनुष्यादि दृश्यमान पर्यायों में और सुख दुःख का अनुभवनरूप अदृश्य पर्यायों में एक ही आत्मा अन्वय-रूप से रहता है, बौद्ध मतानुसार आत्मा का निरन्वय विनाश अथवा प्रतिक्षण अन्य अन्य आत्मा की उत्पत्ति स्वीकृत की जाय तो आत्मा में जो अनुसंधानरूप प्रत्यभिज्ञान होता है वह नहीं हो सकेगा। यदि प्रतिक्षण का आत्मा अन्य अन्य है तो कृत प्रणाश और अकृत अभ्यागम का प्रसंग होगा अर्थात् जो अच्छे बुरे कायिक वाचिक मानसिक कार्य किये और तदनुसार जो कर्म बंध हुआ वह सिद्ध नहीं होगा क्योंकि कार्य करने वाला अन्य है और बंधने वाला अन्य, इसीप्रकार जिसने नहीं किया ऐसे आगामी काल के आत्मा को उक्त कर्म बंध का फल भोगना होगा, क्योंकि करने वाला आत्मा नष्ट हो चुका है, अतः जैसे हरित पीत आदि अवस्था में एक आम्रफल परिवर्तित होकर अन्वय रूप में रहता है वैसे आत्मा सुख दुःखादि अवस्था में अन्वय रूप से रहता है ऐसा सिद्ध होता है।

अर्थ का सामान्य विशेषात्मकवाद :

वैशेषिक पदार्थ सामान्य और विशेष धर्मों को सर्वथा पृथक् मानते हैं उनका कहना है कि सामान्य का प्रतिभास भिन्न है और विशेष का प्रतिभास-भिन्न है अतः ये धर्म अत्यन्त भिन्न हैं। अवयव और अवयवी भी अत्यंत भिन्न हैं। अवयव और अवयवी में विरुद्ध धर्मपना एवं पूर्वोत्तर काल भाविपना होने से ये सर्वथा पृथक् माने जाते

हैं अर्थात् अवयव अंशरूप और अवयवी अशवाला होता है इसप्रकार इनमे विरुद्ध धर्मत्व है तथा अवयव पूर्ववर्त्ती और अवयवी उत्तरवर्त्ती होते हैं अतः इनमे अत्यन्त भेद स्वीकार करना चाहिये। सामान्य और विशेष दोनो स्वतत्र पदार्थ हैं इनका समवाय द्वारा द्रव्य मे सबध हो जाने से दोनो अभिन्न मालूम होते है। पदार्थ छ है, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। द्रव्य के नौ भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मन, दिशा, आकाश, आत्मा और काल। गुण के चौबीस भेद हैं, कर्म पाच प्रकार का है, सामान्य दो भेद वाला, विशेष अनेक रूप एव समवाय सर्वथा एक रूप होता है। इसप्रकार वैशेषिक के यहा पदार्थों की व्यवस्था है किन्तु यह सब असिद्ध है समीचीन प्रमाण द्वारा बाधित होती है। सामान्य और विशेष को परस्पर मे भिन्न मानना या उन भिन्न धर्मों का द्रव्य मे समवाय मानना दोनो ही गलत है। विभिन्न प्रतिभास होने मात्र से वस्तु मे भेद मानना युक्ति युक्त नही है, एक ही आत्मा या अग्नि आदि वस्तु प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणो द्वारा ग्रहण होकर विभिन्न प्रतिभासित होती है किन्तु उनको भिन्न तो नही मानते ? अर्थात् एक ही अग्नि प्रत्यक्ष से प्रतिभासित होती है और अनुमान से भी प्रतिभासित होती है फिर भी उसे एक ही मानते हैं, ठीक इसीप्रकार सामान्य और विशेष धर्म विभिन्न रूपेन प्रतीत होते हैं फिर भी उन्हे एक पदार्थ निष्ठ ही स्वीकार करते है। अवयव और अवयवी को सर्वथा पृथक मानना भी अयुक्त है, क्या वस्त्र तंतुओ से पृथक है ? अवयव अवयवी धर्म धर्मी इत्यादि मे कथचित् भेद और कथचित् अभेद होता है। पदार्थ को कथचित् भेदाभेदरूप मानने से सकर, व्यतिकर, सशय, विरोध, वैयधिकरण्य, अवस्था अभाव और अप्रतिपत्ति ये आठ दोष आते हैं ऐसा कहना भी असिद्ध है, इन आठ दोषो का स्वरूप एव भेदाभेदात्मक या सामान्य विशेषात्मक वस्तु मे इन दोषो का किसप्रकार अभाव है इन सबका वर्णन मूल मे विशद-रीत्या हुआ है।

परमाणु रूप नित्य द्रव्य विचार :

यौग परमाणु को नित्य मानते है उनका कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु सर्वथा नित्य ही होते है, हा ! इन पृथ्वी आदि का विघटन होकर पुन जो परमाणु रूप हुआ है वह अनित्य है। यह यौग मान्यता अयुक्त है स्कध का विघटन होकर परमाणु की निष्पत्ति होती है, परमाणु को सर्वथा नित्य मानने पर तो उनके द्वारा पृथ्वी आदि कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती क्योंकि जो कूटस्थ नित्य होता है परिवर्तन असंभव है, परिवर्त्तन होना ही अनित्य कहलाता है, जब परमाणु पृथ्वी आदि परिवर्त्तन कर सकते है तब उन्हे सर्वथा नित्य किसप्रकार मान सकते है ? नही मान सकते।

अवयवी स्वरूप विचार :

अवयवों से अवयवी [शाखा, पत्ते आदि अवयव हैं और वृक्ष अवयवी है, ऐसे ही तन्तु अवयव और वस्त्र अवयवी है] सर्वथा पृथक् है ऐसा वैशेषिक आदि का कहना है किन्तु यह प्रतीति विरुद्ध है, वृक्ष, शरीर, वस्त्र, स्तभ आदि कोई भी अवयवी अपने अपने अवयवो से भिन्न देश मे प्रतीत नही होता।

अवयवी को निरश मानना भी हास्यास्पद है एक निरश अवयवी अनेक अवयवो में किसप्रकार रह सकता है ? तथा यदि अवयवो से अवयवी सर्वथा भिन्न है तो उसका ग्रहण किसप्रकार होगा ? कतिपय अवयवो के ग्रहण करने पर ही अवयवी प्रतीत होता है ऐसा गलत है, जल मे हाथी आधा डूबा हुआ है उसके कुछ अवयव प्रतीत होते हैं किन्तु पूर्ण अवयवी तो प्रतीत होता नही ? सपूर्ण अवयवो का ग्रहण भी हमारे इन्द्रिय ज्ञान के लिये अशक्य है। अत अवयवो से अवयवी कथचित् भेदाभेद स्वरूप स्वीकार किया है।

आकाश द्रव्य विचार :

आकाश द्रव्य की सिद्धि शब्द रूप हेतु से होती है ऐसा वैशेषिक कहते हैं, शब्द कर्ण द्वारा प्रतीत होते ही है, वे शब्द गुण स्वरूप हैं और गुणो को आश्रय की आवश्यकता होती है शब्द रूप गुण का जो आश्रय है वही आकाश है। शब्द रूप हेतु द्वारा सिद्ध होने वाला आकाश द्रव्य सर्वथा एक, नित्य और व्यापक है।

वैशेषिक की यह मान्यता असत् है, शब्दरूप हेतु से आकाश की सिद्धि असभव है, क्योकि शब्द स्पर्शादि युक्त है और आकाश स्पर्शादि से रहित, शब्द गुणरूप भी नही है वह द्रव्य ही है, जिसमे गुण आश्रित हो वह द्रव्य है, शब्द मे स्पर्शादि गुण विद्यमान है अत वह द्रव्य ही है। शब्द क्रियाशील भी है अत द्रव्य है। यदि शब्द आकाश का गुण होता तो हमारे इन्द्रिय गम्य नही होता तथा शब्द व्यापक नही है जिस द्रव्य का जो गुण होता है वह उस द्रव्य मे सर्वत्र रहता है, आकाश सर्वत्र है किन्तु शब्द सर्वत्र नही है। शब्द नष्ट होता है, किन्तु आकाश नित्य है। इसप्रकार अनेक हेतुओ से सिद्ध होता है शब्द आकाश का गुण नही है, अत उसके द्वारा आकाश की सिद्धि नितरा असभव है। आकाश की सिद्धि तो उसके अवगाहना गुण द्वारा होती है अर्थात् सपूर्ण पदार्थो को एक साथ अवगाहन [स्थान–आधार] देना रूप कार्य की अन्यथानुपपत्ति से अमूर्त्त व्यापक रूप आकाश द्रव्य सिद्ध होता है।

कालद्रव्य :

वैशेषिक काल द्रव्य को आकाशवत् व्यापक एव एक मानते हैं, किन्तु उनका यह कथन सिद्ध नही होता है। काल द्रव्य न आकाशवत् व्यापक है और एक द्रव्यरूप है। यदि काल द्रव्य एक रूप होता तो कुरुक्षेत्र और लका के देश मे होनेवाला दिवसादि का भेद नही हो सकता था। काल द्रव्य तो प्रत्येक आकाश प्रदेश पर एक एक कालाणु रूप से अवस्थित है। अर्थात् काल द्रव्य की सख्या असख्यात है। काल द्रव्य को निरश माने तो "यौगपद्य-एक साथ हुआ" इसप्रकार का ज्ञान सभव नही होगा। इसप्रकार काल द्रव्य निरश एक नित्य व्यापक न होकर अनेक अव्यापक सिद्ध होता है। यह कालद्रव्य द्रव्यदृष्टि से नित्य है किन्तु पर्याय दृष्टि से अनित्य भी है। निरश इसलिये है कि इसके एक एक प्रदेश ही एक एक काल द्रव्य है। व्यवहार काल, मुख्य काल ऐसे इस काल के दो भेद हैं एव भूत वर्त्तमान भावी की अपेक्षा तीन भेद है। मीमासक काल द्रव्य को नही मानते उनको आचार्यदेव ने समझाया है चिरक्षिप्रादिका व्यवहार क्रिया निमित्तक नही है अपितु कालद्रव्य निमित्तक है।

दिशाद्रव्यवाद :

वैशेषिक ने दिशा नाम का एक पृथक् द्रव्य माना है, किन्तु यह सर्वथा हास्यास्पद है। आकाश प्रदेशो मे ही सूर्य के उदयादि निमित्त से पूर्व आदि दिशा कल्पित की जाती है, जैसे कि देश आदि का विभाग करते है।

आत्मद्रव्यवाद :

आत्मा को नित्य सर्व व्यापी सिद्ध करने का प्रयास भी व्यर्थ है। क्रियाशील होने से आत्मा व्यापक नही माना जा सकता। एक भव से अन्य भव मे गमन रूप ससार तब बन सकता है जब आत्मा को सक्रिय एव अव्यापक स्वीकार किया जाय। आत्मा को सर्व व्यापी मानने वाले वैशेपिक इस प्रश्न का उत्तर नही दे पाते कि यह भवातर गमनरूप क्रिया कौन करता है। दूसरी बात यह है कि यदि आत्मा व्यापक है तो उसका जगत् के सर्व परमाणुओ के साथ सयोग है और उस कारण सब परमाणु द्रव्यो मे क्रिया सभव है इससे एक जीव का न जाने कितना बडा शरीर बन जाय ? किन्तु ऐसा कुछ होता नही अत आत्मा के सर्वगतत्व का निरसन हो जाता है। आत्मा को निरश कथमपि नही मान सकते, क्योकि सपूर्ण शरीर मे सुखादि का सवेदन पाया जाता है। इसप्रकार आत्मा को सर्वथा नित्य मान लेने पर ससार और मुक्त अवस्था सिद्ध नही होती। व्यापक मानने पर सक्रियत्व—गति से गत्यतर गमन सिद्ध नही होता। निरश मान लेने पर शरीर के विभिन्न भागो मे एक साथ व्याधि आदि का वेदन और अवेदन रूप भेद सिद्ध नही हो सकता अत तर्क एव आगम से यही सिद्ध होता है कि आत्मा कथचित् नित्या-नित्यात्मक, सक्रिय अव्यापक एव साश है।

गुणपदार्थवाद ·

परवादी वैशेषिक ने गुण नाम का एक पदार्थ मानकर उसके चौबीस भेद प्रतिपादित किये है—रूप, रस, गध स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, द्रवत्व, स्नेह, सस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द। गुण को भिन्न पदार्थ मानना अयुक्त है क्योकि सर्वदा द्रव्याश्रित है अथवा यो कहिये कि गुणो का पिण्ड ही द्रव्य होता है, गुण को पृथक् करके द्रव्य को देखा जाय तो कुछ भी प्रतीत नही होगा। इन गुणो के चौबीस भेदो मे से रूप, रस, गध, स्पर्श, स्नेह, गुरुत्व, ये पाच पुद्गल द्रव्य स्वरूप हैं अर्थात् ये पुद्गलात्मक जड द्रव्य के गुण है। बुद्धि ज्ञानात्मक होने से आत्मा का गुण है। सुख भी आत्मा का गुण है। इच्छा, द्वेष, मोह जनित आत्म विकार हैं न कि गुण। दु'ख भी असाताजन्य आत्म विकार है। सख्या, परिमाण भी वस्तु का स्वरूप है अर्थात् सख्येय से सख्या भिन्न नही हुआ करती। परिमाण वस्तु का प्रमाण या माप है और कुछ नही। पृथक्त्व भी गुण नही किन्तु वस्तु स्वय ही अपने को अन्य वस्तु से पृथक् रखती है। प्रयत्न तो क्रिया को कहते है। इसीप्रकार सयोग, विभाग, द्रवत्व ये सब वस्तुओ के अवस्था विशेष हुआ करते है। परत्व अपरत्व मे आपेक्षिक धर्म है। धर्म अधर्म ये पुण्य पाप स्वरूप है। शब्द तो पुद्गल द्रव्य की विभाव पर्याय है। इसप्रकार वैशेषिक मान्य गुणो का स्वरूप एव भेद सिद्ध नही है।

कर्मपदार्थ एवं विशेष पदार्थ :

वैशेषिक ने कर्म के पाच भेद किये हैं, कर्म अर्थात् क्रिया, सो क्रिया अनेक प्रकार की हुआ करती है न कि पाच प्रकार की तथा क्रिया पृथक् पदार्थ नही हैं, द्रव्य की परिस्पदन या हलन चलन रूप अवस्था है।

विशेष नाम का पदार्थ भी असिद्ध है, प्रत्येक द्रव्य स्वय अपने मे विशेष या असाधारण धर्म को धारण करता है उसके लिये ऊपर से विशेष पदार्थ को जोडने की आवश्यकता नही पडती है।

समवाय पदार्थ :

समवाय नाम का एक पदार्थ वैशेषिक ने कल्पित किया है जो द्रव्य मे गुण को जोड देवे। द्रव्य उत्पत्ति के प्रथम क्षण मे गुण रहित होता है और द्वितीय क्षण मे उसमे समवाय गुणो को सबद्ध करता है। किन्तु यह बात असिद्ध है। प्रथम बात तो यह है कि द्रव्य शाश्वत है वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। द्रव्य के परिवर्त्तन को यदि उत्पत्ति कहा जाय तो भी वह परिवर्तन गुण युक्त ही होता है। द्रव्य किसी भी क्षण किसी भी परिवर्त्तन के समय गुण रहित नही होता। अत. गुणो को जोडने वाले इस गोद स्वरूप समवाय नाम के पदार्थ की कोई आवश्यकता नही पडती। वैशेषिक समवाय को सर्वथा एक, नित्य, व्यापक मानते हैं वह भी असभव है। इसका मूल ग्रन्थ मे विस्तृत खडन है।

फलस्वरूप :

प्रमाण का फल अज्ञान निवृत्ति–अज्ञान का दूर होना है तथा हान बुद्धि, उपादान बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि होना भी प्रमाण का फल है। प्रमाण अर्थात् ज्ञान, किसी वस्तु को जब ज्ञान द्वारा जानते हैं तब तद्विषयक अज्ञान ही सर्वप्रथम दूर होता है, पुनश्च यह ज्ञात वस्तु मेरे लिये उपयोगी है या अनुपयोगी इत्यादि निर्णय हो जाया करता है। यह प्रमाण का फल प्रमाण से कथचित् अभिन्न है, क्योकि जो जानता है उसी का अज्ञान दूर होता है तथा उक्त फल प्रमाण से कथचित् भिन्न भी है, क्योकि प्रमाण करण स्वरूप है और फल क्रिया स्वरूप, तथा नाम भेद भी है, अतः सज्ञा लक्षणादि की दृष्टि से प्रमाण और फल मे भेद माना है। नैयायिकादि प्रमाण और फल सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद मानते है, इस मान्यता का मूल मे निरसन कर दिया है।

तदाभास स्वरूप :

प्रमाण के लक्षण जिनमे घटित न हो वे ज्ञान प्रमाणाभास है। सशय, विपर्यय आदि प्रमाणाभास कहलाते है। प्रमाणवत् आभासते इति प्रमाणाभास जो प्रमाण न होकर प्रमाण के समान प्रतीत होता है वह प्रमाणाभास कहलाता है। इसीप्रकार प्रमाण की सख्या मुख्यतया दो हैं इससे अधिक या कम सख्या मानना सख्याभास है। प्रमाण का विषय अर्थात् प्रमाण द्वारा जाना जाने वाला पदार्थ किस रूप है इसमे विवाद है जैन ने

अकाट्य युक्तियो द्वारा सिद्ध किया है कि जगत् पदार्थ सामान्य विशेषात्मक ही हुआ करते है ऐसे पदार्थों को प्रमाण ज्ञान जानता है इससे विपरीत केवल सामान्यात्मक या केवल विशेषात्मक पदार्थ मानना एव उसको प्रमाण का विषय बतलाना विषयाभास हैं। प्रमाण से प्रमाण के फल को सर्वथा पृथक् या सर्वथा अपृथक् मानना फलाभास है। इस प्रकार इन आभासो का इस प्रकरण मे वर्णन है।

जय पराजय व्यवस्था :

वस्तु तत्व का स्वरूप बतलाने वाला सम्यग्ज्ञान प्रमाण होता है, प्रमाण के बल से ही जगत् के यावन्मात्र पदार्थों का बोध होता है। जो सम्यग्ज्ञान नही है उससे वस्तु स्वरूप का निर्णय नही होता। जिन पुरुषो का ज्ञान आवरण कर्म से रहित होता है वे ही पूर्णरूप से तत्त्व को जान सकते है, वर्तमान मे ऐसे ज्ञानधारी पुरुषो का अभाव है। अत: वस्तु के स्वरूप मे विविध मत प्रचलित हुए हैं। भारत मे साख्य, मीमासक, यौग आदि अनेक मत है, वे स्व स्वमत को सत्य कहते है। कुछ शताब्दी पूर्व इन विविध मत वालो मे परस्पर मे अपने अपने मत की सिद्धि के लिये वाद हुआ करते थे। जो तर्क अनुमान आदि द्वारा अपने मत को सिद्ध करता उसका मत जय माना जाता और अन्य वादी का मत पराजय, वाद के चार अग हैं, वादी जो सभा मे सबसे पहले अपना पक्ष उपस्थित करता है—प्रतिवादी जो वादी के पक्ष को असिद्ध करने का प्रयत्न करता है, साम्यवाद को सुनने-देखने वाले एव प्रश्न कर्ता मध्यस्थ महाशय। सभापति वाद मे कलह नही होने देता, दोनो पक्षो को जानने वाला एव जय पराजय का निर्णय देने वाला सज्जन पुरुष सभापति कहलाता है। वादी और प्रतिवादी वे ही होने चाहिए जो प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप भली प्रकार से जानते हो, अपने अपने मत मे निष्णात हो एव अनुमान प्रयोग मे अत्यन्त निपुण हो, क्योकि वाद मे अनुमान प्रमाण द्वारा ही प्राय स्वपक्ष को सिद्ध किया जाता है। वादी प्रमाण और प्रमाणाभास को अच्छी तरह जानता हो तो अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए सत्य प्रमाण उपस्थित करता है, प्रतिवादी यदि न्याय के क्रम का उल्लघन नही करता और उस प्रमाण के स्वरूप को जानने वाला होता है तो उस सत्य प्रमाण मे कोई दूषण नही दे पाता और इस तरह वादी का पक्ष सिद्ध हो जाता है तथा आगे भी प्रतिवादी यदि कुछ प्रश्नोत्तर नही कर पाता तो वादी की जय भी हो जाती है तथा वादी यदि प्रमाणादि को ठीक से नही जानता तो स्वपक्ष को सिद्ध करने के लिए प्रमाणाभास असत्य प्रमाण उपस्थित करता है, तब प्रतिवादी उसके प्रमाण को सदोष बता देता है अब यदि वादी उस दोष को दूर कर देता है तो ठीक है अन्यथा उसका पक्ष असिद्ध होकर आगे उसका पराजय भी हो जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि वादी सत्य प्रमाण उपस्थित करता हे तो भी प्रतिवादी उसका पराजय करने के लिए उस प्रमाण को दूषित ठहराता है, तब वादी उस दोष का यदि परिहार कर पाता है तो ठीक वरना पराभव होने की सभावना है तथा कभी ऐसा भी होता है कि वादी द्वारा सही प्रमाण युक्त पक्ष उपस्थित किया है तो भी प्रतिवादी अपने मत की अपेक्षा या वचन चातुर्य से उस प्रमाण को सदोष बताता है ऐसे अवसर पर भी वादी यदि उस दोष का परिहार करने मे असमर्थ हो

जाता है तो भी वादी का पराजय होना सभव है। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि अपने पक्ष के ऊपर प्रमाण के ऊपर प्रतिवादी द्वारा दिये गए दोषो को निराकरण कर सकना ही विजय का हेतु है।

यौग का कहना है कि वाद द्वारा स्वमत की विजय नही होती, वाद वीतराग कथा रूप है जो कि गुरु और शिष्य के मध्य मे होता है। स्वमत की विजय जल्प और वितडा द्वारा होती है। जल्प का लक्षण यौग इस प्रकार करते हैं—यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थान साधनोपलभो जल्प: । अर्थात् प्रमाण तर्क आदि से युक्त एव छल, जाति, निग्रहस्थान, साधन, उपालभ से युक्त जल्प होता है। वादी पुरुष जब अपने पक्ष की सिद्धि एव पर पक्ष का खडन करने के लिये छल [असत् उत्तर देना छल है] आदि के द्वारा प्रतिवादी को निरुत्तर करने का प्रयास करता है तब उसका वह वचनालाप जल्प कहलाता है। प्रतिवादी को निरुत्तर करने का एक दूसरा तरीका यह है कि अपना पक्ष रक्खे बिना केवल सामने वाले के पक्ष मे दूषण देते जाना। इस तरीके को वितडा कहते है।

जैनाचार्य ने यौग के उपर्युक्त मतव्य का निरसन किया है कि प्रतिवादी को निरुत्तर करने मात्र से स्वमत की विजय नही होती, विजय के लिये तो अपना मत सभापति आदि के समक्ष सिद्ध करना होगा और यह स्वपक्ष सिद्धि अनुमान प्रयोग मे चतुर पुरुष द्वारा वाद से भली प्रकार की जाती है अत वाद ही विजय का हेतु है न कि जल्प और वितडा। इस प्रकरण मे यौगाभिमत तीन प्रकार का छल, चौबीस प्रकार की जाति एव बावीस प्रकार के निग्रह स्थानो का विस्तृत विवेचन है। अत मे आचार्य ने यह सिद्ध किया है कि निग्रह स्थान या छलादि द्वारा वादी या प्रतिवादी को चुप भले ही किया जाय किन्तु विजिगीषु पुरुष सभा मे सपक्ष सिद्ध करके ही विजयी होते हैं।

नय विवेचन :

नयो के सात भेद हैं—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवभूत। इस प्रकरण मे प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रत्येक नय के लक्षण के साथ-साथ उस उस नय सम्बन्धी तदाभास का विवेचन लक्षण मे कर दिया है अर्थात् नैगमनय, नैगमनयाभास, सग्रहनय, सग्रहनयाभास इत्यादि। सात नयो मे से पूर्व के चार नय अर्थ नय कहलाते है और अत के तीन नय शब्दनय कहलाते है। इन सातो ही नयो मे पूर्व पूर्व के नय बहुत विषय वाले हैं और आगामी नयो के कारण स्वरूप हैं तथा अग्रिम नय अपने पूर्व नय की अपेक्षा अल्प विषय वाले है एव कार्य स्वरूप हैं। जैसे—नैगमनय सग्रह नय की अपेक्षा बहुत विषय युक्त है एव सग्रह नय का कारण है। ऐसे ही आगे समझना। यहा पर नय सप्तभगी एव प्रमाण सप्तभगी वर्णन भी किया है। सप्तभगी मे सात ही भग क्यो है इस प्रश्न का अच्छा समाधान दिया है।

पत्र वाक्य विचार :

स्वमत या पक्ष को सिद्ध करने के लिये वादी प्रतिवादी प्रत्यक्ष सामने होकर वाद करते हैं तथा कभी पत्र द्वारा भी वाद करते है। जब वादी अपना पक्ष पत्र द्वारा प्रतिवादी के निकट प्रेषित करता है वह पत्र किस प्रकार का होना चाहिये इसका विवेचन इस प्रकरण मे है।

*

परम पूज्य, तपस्वी, आचार्यप्रवर

१०८ श्री शिवसागरजी महाराज

तपस्तपति यो नित्य, कृशागो गुणपीनकः।
शिवसिन्धुगुरुं वदे, भव्यजीवहितकरम् ॥

❖

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
वि. स. १९५८	वि स. २००१	वि. स. २००६	फाल्गुन अमावस्या
अड्ग्राम	सिद्धवरकूट	नागौर (राज०)	वि. स. २०२५
(महाराष्ट्र)			श्री महावीरजी

तृतीय खंड में आगत परीक्षा मुख के सूत्र

।। पञ्चमः परिच्छेदः ।।

१ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।

२ प्रमाणाद भिन्न भिन्नश्च ।

३ य· प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ।

।। षष्ठः परिच्छेदः ।।

१ ततोऽन्यत्तदाभासम् ।

२ अस्वसविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ।

३ स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ।

४ पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ।

५ चक्षूरसयोर्द्रव्ये सयुक्तसमवायवच्च ।

६ अवैशद्ये प्रत्यक्ष तदाभास बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ।

७ वैशद्येऽपि परोक्ष तदाभास मीमासकस्य करणज्ञानवत् ।

८ अतस्मिंस्तदिति ज्ञान स्मरणाभासम्, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ।

९ सदृशे तदेवेद तस्मिन्नेव तेन सदृश यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ।

१० असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्, यावास्तत्पुत्रः स श्यामो यथा ।

११ इदमनुमानाभासम् ।

१२ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ।

१३ अनिष्टो मीमासकस्यानित्यः शब्दः ।

१४ सिद्धः श्रावणः शब्दः ।

१५ बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ।

१६ अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ।

१७ अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत् ।

१८ प्रेत्यासुखप्रदो धर्म पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।

१६ शुचि नरशिर:कपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत् ।

२० माता मे वन्ध्या पुरुषसयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ।

२१ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करा· ।

२२ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्ध· ।

२३ अविद्यमानसत्ताक परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ।

२४ स्वरूपेणासत्त्वात् ।

२५ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धि प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।

२६ तस्य बाष्पादिभावेन भूतसघाते सन्देहात् ।

२७ सांख्य प्रति परिणामी शब्द कृतकत्वात् ।

२८ तेनाज्ञातत्वात् ।

२६ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्द: कृतकत्वात् ।

३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिक: ।

३१ निश्चितवृत्तिरनित्य· शब्द· प्रमेयत्वात् घटवत् ।

३२ आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।

३३ शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।

३४ सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।

३५ सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्कर: ।

३६ सिद्ध श्रावण: शब्द. शब्दत्वात् ।

३७ किञ्चिदकरणात्

३८ यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ।

३६ लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।

४० दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभया· ।

४१ अपौरुषेय शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ।

४२ विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम् ।

४३ विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ।

४४ व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेका· परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।

४५ विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम् ।

४६ वालप्रयोगाभास. पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ।

४७ अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात् यदित्थ तदित्थ यथा महानस इति ।

४८ धूमवांश्चायमिति वा ।

४६ तस्मादग्निमान् धूमवाश्चायमिति ।

५० स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ।

५१ रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।

५२ यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ।

५३ अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ।

५४ विसवादात्

५५ प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणमित्यादि सख्याभासम् ।

५६ लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ।

५७ सौगतसाख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयाना प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकै-र्व्याप्तिवत् ।

५८ अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।

५६ तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।

६० प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ।

६१ विषयाभास· सामान्यं विशेषो द्वय वा स्वतन्त्रम् ।

६२ तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च ।

६३ समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।

६४ परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ।

६५ स्वयमसमर्थस्य अकारकत्वात्पूर्ववत् ।

६६ फलाभास प्रमाणादभिन्न भिन्नमेव वा ।

६७ अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्ते ।

६८ व्यावृत्त्याऽपि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ।

६९ प्रमाणाद्व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ।

७० तस्माद्वास्तवो भेदः ।

७१ भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ।

७२ समवायेऽतिप्रसङ्गः ।

७३ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ।

७४ सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ।

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥१॥

॥ इति परीक्षामुखसूत्रं समाप्तम् ॥

परमपूज्य प्रशान्त मुद्राधारी आचार्यवर्य

१०८ श्री धर्मसागरजी महाराज
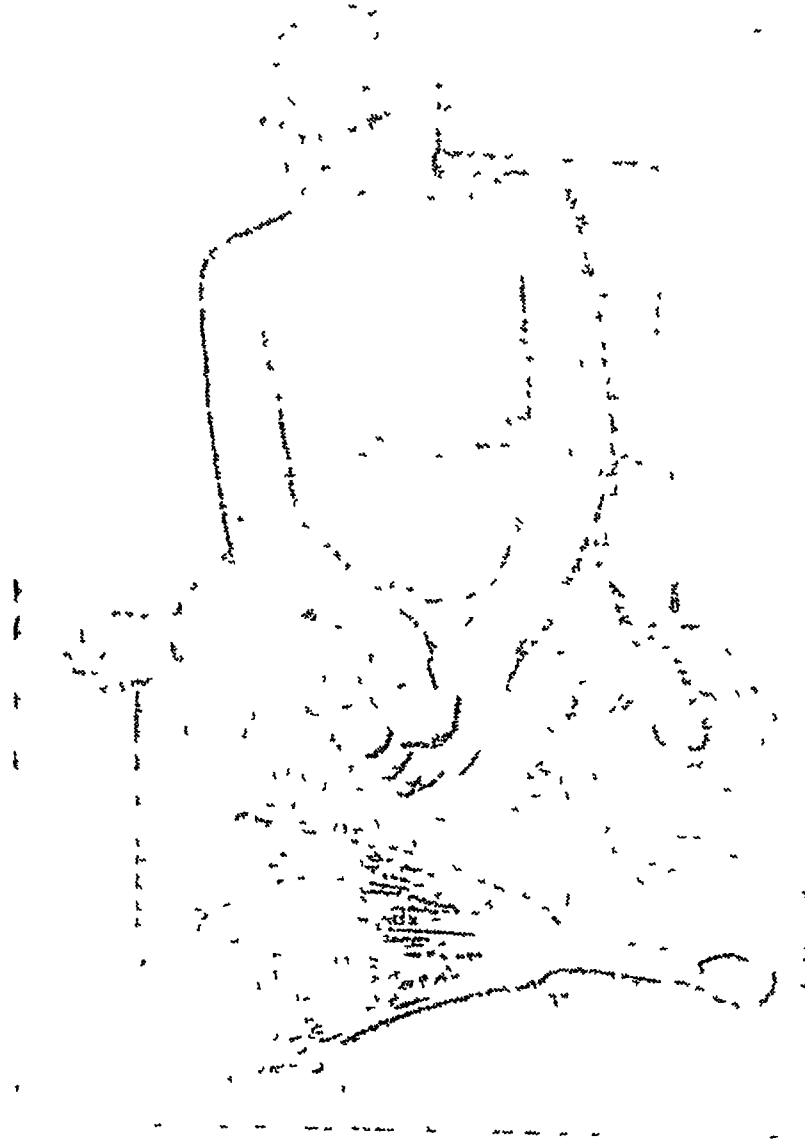
धर्मसागर आचार्यो धर्मसागर वर्द्धने।
चन्द्रवत् वर्त्तते योऽसौ नमस्यामि त्रिशुद्धत. ।।

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :
पौष पूर्णिमा	वि. स. २०००	वि. स० २००७
वि. स १९७०	वालूज ग्राम	फुलेरा
गभीरा गाम (राज०)	(महाराष्ट्र)	(राजस्थान)

विषय–क्रम

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

मंगलस्तवः

वर्द्धमान जिन नौमि घातिकर्मक्षयकरम् ।
वर्द्धमान वर्तमाने तीर्थं यस्य सुखकरम् ।। १ ।।
श्रीसर्वज्ञमुखोत्पन्ने ! भव्यजीव हित प्रदे ।
श्री शारदे ! नमस्तुभ्यं माद्य त परिवर्जिते ।। २ ।।
मूलोत्तर गुणाढ्या ये जैन शासन वर्द्धका. ।
निर्ग्रन्था पाणि पात्रास्ते पुष्यन्तु न' समीहितम् ।।३।।
माणिक्यनदि नामान गुण माणिक्य मडितम् ।
वन्दे ग्रन्थ. कृतो येन परीक्षामुख सज्ञक. ।। ४ ।।
प्रभाचन्द्र मुनिस्तस्य टीका चक्रे सु विस्तृताम् ।
मयाभिवन्द्यते सोऽद्य विघ्न नाशन हेतवे ।। ५ ।।
पञ्चेन्द्रिय सुनिर्दान्तं पञ्चससार भीरुकम् ।
शातिसागर नामान सूरि वन्देऽघनाशकम् ।। ६ ।।
वीर सिन्धु गुरु स्तौमि सूरि गुण विभूषितम् ।
यस्य पादयोर्लब्धम् मे क्षुल्लिका व्रत निश्चलम् ।।७।।
तपस्तपति यो नित्य कृशागो गुण पीनक ।
शिवसिन्धु गुरु वन्दे महाव्रत प्रदायिनम् ।। ८ ।।
धर्मसागर आचार्यो धर्मसागर वर्द्धने ।
चन्द्रवत् वर्त्तते योऽसौ नमस्यामि त्रिशुद्धितः ।। ९ ।।
नाम्नी ज्ञानमती मार्या जगन्मान्यां प्रभाविकाम् ।
भव्यजीव हितकारी विदुषी मातृवत्सला ।। १० ।।
अस्मिन्नपार ससारे मज्जन्ती मा सुनिर्भरम् ।
ययावलबन दत्त मातर ता नमाम्यहम् ।। ११ ।।
पार्श्वे ज्ञानमती मातु' पठित्वा शास्त्राण्यनेकश ।
सप्राप्त यन्मया ज्ञान कोटि जन्म सुदुर्लभम् ।। १२ ।।
तत्प्रसादादहो कुर्वे, देशभाषानुवादनम् ।
नाम्न. प्रमेयकमल, मार्त्तण्डस्य सुविस्तृतम् ।। १३ ।।

परम पूज्या, विदुषी, न्याय प्रभाकर

आर्यिका रत्न १०५ श्री ज्ञानमती माताजी
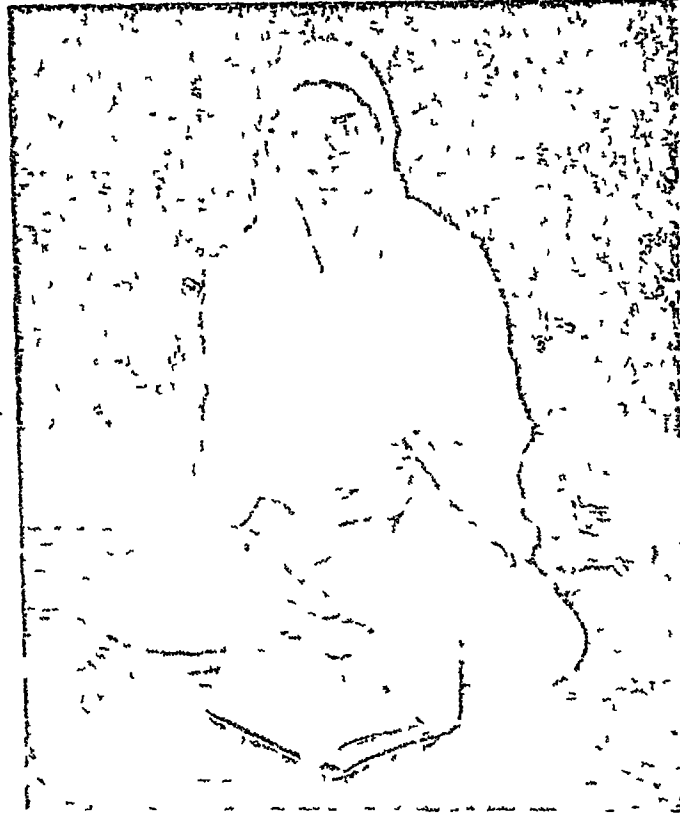
भव्यजीव हितकारी विदुषीं मातृवत्सलाम् ।
वन्दे ज्ञानमती मार्यां प्रमुखां सुप्रभाविकाम् ॥

जन्म :	क्षुल्लिका दीक्षा :	आर्यिका दीक्षा :
शरद् पूर्णिमा	चैत्र कृष्णा १	वैशाख कृष्णा २
वि. सं. १९९१	वि. सं. २००९	वि. सं. २०१३
टिकैतनगर (उ० प्र०)	श्री महावीरजी	माधोराजपुरा (राज०)

श्रीमाणिक्यनन्द्याचार्यविरचित–परीक्षामुखसूत्रस्य व्याख्यारूपः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

प्रमेयकमलमार्त्तण्डः

[तृतीय भागः]

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

अथोक्तप्रकार प्रमाण कि निर्विषयम्, सविषय वा ? यदि निर्विषयम्; कथ प्रमाण केशोण्डुकादिज्ञानवत् ? अथ सविषयम्, कोस्य विषयः ? इत्याशङ्कच विषयविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं

श्री माणिक्यनन्दी आचार्य ने परीक्षामुख नामा सस्कृत सूत्रबद्ध ग्रन्थ रचा था, इस सूत्र ग्रन्थ की सुविस्तृत सस्कृत टीका प्रभाचन्द्राचार्य ने की इस टीका ग्रन्थ का नाम ही प्रस्तुत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड है, इस ग्रन्थ के हिन्दी देश भाषामय अनुवाद सामान्य जनता को न्याय विपयक ज्ञान प्राप्त हो इस उद्देश्य से किया है; मूल ग्रन्थ विशाल होने के कारण अनुवाद भी विशाल हुआ अत· इस ग्रन्थ को तीन खण्डों मे विभक्त किया। प्रथम खण्ड मे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण स्वरूप द्वितीय अध्याय के पांचवे सूत्र तक अश आया है जिसमे प्रथम अध्याय के १३ और द्वितीय अध्याय के ५ कुल १८ सूत्र है और सस्कृत टीका २३० पृष्ठो की है। दूसरे खड मे द्वितीयाध्याय के अवशेष ७ सूत्र एव तृतीयाध्याय के सपूर्ण १०१ सूत्र है एवं संस्कृत टीका २३६

'सामान्यविशेपात्मा' इत्याद्याह—

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥ १ ॥

तस्य प्रतिपादितप्रकारप्रमाणस्यार्थो विपय । किंविशिष्ट ? सामान्यविशेपात्मा । कुत एतत् ?

पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेन अर्थक्रियोपपत्तेश्च ॥२॥

पृष्ठो की है । यह विभाग बम्वई धार्मिक परीक्षालय की शास्त्री परीक्षा के कोर्स के अनुसार किया है, शास्त्री परीक्षा के द्वितीय खण्ड मे न्याय विपय मे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का २३० पृष्ठो का अश आता है और शास्त्री परीक्षा तृतीय मे आगे के २३६ पृष्ठो का अश है । अब शेष चतुर्थ परिच्छेद से अतिम पष्ठ परिच्छेद तक के मूल ग्रन्थ का अनुवाद प्रारम्भ होता है—

"स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्" सूत्र मे प्रमाण का अक्षुण्ण लक्षण पहले बताया था उसमे अनेक मतों की अपेक्षा विस्तृत विवेचन पूर्व भागो मे कर लिया है, अब यहा प्रश्न होता है कि वह प्रमाण निर्विषयी है अथवा सविपयी है ? यदि निर्विषयी–विषय रहित है [कुछ भी नही जानता है] तो वह प्रमाण कैसे कहलायेगा ? अर्थात् नही कहला सकता, जैसे कि केशोण्डुकादि ज्ञान प्रमाण नही कहलाते है । यदि प्रमाण सविषयी है तो उसका क्या विषय है ? इस प्रकार के प्रश्न को लेकर प्रमाण के विपय सम्बन्धी विवाद को दूर करते हुए आचार्य सूत्रावतार करते है—

सामान्य विशेपात्मा तदर्थो विपय ॥१॥

सूत्रार्थ—सामान्य और विशेष धर्मो से युक्त ऐसा जो पदार्थ है वही प्रमाण विषय है, प्रमाण के [illegible] है । पूर्वोक्त कहे हुवे प्रमाण का सामान्य विशेपात्मक पदार्थ [illegible] प्रमाण से सिद्ध है ? ऐसी आशका को दूर करते हुए [illegible] ।

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्, यो हि यदाकारोल्लेखिप्रत्ययगोचरः स तदात्मको दृष्टः यथा नीलाकारोल्लेखिप्रत्ययगोचरो नीलस्वभावोर्थः, सामान्यविशेषाकारोल्लेख्यनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्यय-गोचरश्चाखिलो बाह्याध्यात्मिकप्रमेयोर्थः, तस्मात्सामान्यविशेषात्मेति। न केवलमतो हेतो स तदात्मा,

---

सूत्रार्थ—पदार्थों मे अनुवृत्त व्यावृत्त प्रत्यय होते है एव पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार की प्राप्ति एव अन्वयी द्रव्य रूप से ध्रुवत्व देखा जाता है इस तरह की परिणाम स्वरूप अर्थ क्रिया देखी जाती है, इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से होने वाली परिणाम स्वरूप अर्थ क्रिया का सद्भाव, पदार्थों को सामान्य विशेषात्मक सिद्ध करता है। पदार्थों मे सादृश्य को बतलाने वाला अनुवृत्त प्रत्यय है जैसे यह गौ है, यह भी गौ है इत्यादि अनेक पदार्थों मे समानता का ज्ञान होने से, तथा पृथकपना बतलाने वाला व्यावृत्त प्रत्यय अर्थात् यह गौ श्याम है धवल नही है इत्यादि व्यावृत्त प्रतिभास होने से पदार्थों मे सामान्य और विशेषात्मकपना सिद्ध होता है, जो जिस आकार से प्रतिभासित होता है वह उसी रूप देखा जाता है, जैसे नीलाकार से प्रतिभासित होने के कारण नील स्वभाव वाला पदार्थ है ऐसा माना जाता है। सामान्य आकार का उल्लेखी अनुवृत्त प्रत्यय और विशेष आकार का उल्लेखी व्यावृत्त प्रत्यय सम्पूर्ण बाह्य–अचेतन पदार्थ एव अभ्यन्तर–चेतन पदार्थों मे प्रतीत होता ही है अतः वे चेतन अचेतन पदार्थ सामान्य विशेषात्मक सिद्ध होते है। पदार्थों को सामान्य विशेषात्मक सिद्ध करने के लिये अकेला अनुवृत्त व्यावृत्त प्रत्यय ही नही है, अपितु सूत्रोक्त पूर्व आकार का त्याग रूप व्यय, उत्तर आकार की प्राप्तिरूप उत्पाद और दोनों अवस्थाओं मे अन्वय रूप से रहने वाला ध्रौव्य पदार्थों मे पाया जाता है, इस तरह की परिणाम स्वरूप अर्थ क्रिया का सद्भाव भी उनमे पाया जाता है, इन हेतुओं से पदार्थों को सामान्य विशेषात्मकता सिद्ध होती है।

भावार्थ—पदार्थ, वस्तु, द्रव्य, तत्त्व, अर्थ ये सब एकार्थ वाचक है, जगत के दृश्यमान तथा अदृश्यमान पदार्थ या द्रव्य किस रूप है जिनको कि प्रमाण ज्ञान अपना विषय बनाता है, इस विषय में नैयायिकादि जैनेतर मतो मे भिन्न भिन्न सिद्धात पाये जाते है। नैयायिक वैशेषिक आदि कुछ परवादी सामान्य और विशेष दोनों धर्मो को मानकर भी इनका सम्बन्ध भिन्न भिन्न पदार्थों में होना बतलाते हैं। ब्रह्माद्वैत आदि

अपि तु पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनाऽर्थक्रियोपपत्तेश्च । 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थ.' इत्यभिसम्बन्धः ।

अद्वैत वादी वस्तु को मात्र सामान्यात्मक स्वीकार करते है । बौद्ध पदार्थों को सामान्य धर्म से रहित सर्वथा विशेषात्मक ही मानते है । किन्तु यह सर्व ही मान्यता प्रमाण बाधित है, वस्तु पदार्थ या द्रव्य में सामान्य और विशेष दोनो धर्म, स्वभाव या गुण हमेशा ही रहते है, ऐसा नही है कि कुछ पदार्थ केवल सामान्यात्मक हो और कुछ विशेषात्मक ही हो । इसमे कारण है वस्तु की तथा प्रतीति, हम देखते है अनुभव करते है कि वस्तु मे सामान्य धर्म और विशेष धर्म युगपत सतत प्रतिभासित होते है, उदाहरण के लिये एक गौ है उसमे गौत्व–सास्नादिका होना रूप सामान्य धर्म सभी बैल तथा गायो मे पाया जाने वाला अनुवृत्त प्रत्यय कराने वाला वैशिष्य है तथा शबल–चितकबरापन विशेष धर्म है जो मात्र उसी मे निहित है यह व्यावृत्ति का कारण है, इसी प्रकार घटो मे घटत्व तो सामान्य धर्म है और छोटा, बडा, मिट्टी का, पीतल का, कृष्ण वर्ण, पीत वर्ण, रक्त वर्ण इत्यादि विशेष धर्म है, पट मे पटत्व अर्थात् धागो का ताना बाना रूप बुनाई इत्यादि तो सामान्य धर्म है और रेशमी, सूती, सफेद, काला, मोटा, पतला इत्यादि विशेष धर्म है, जगत का एक भी पदार्थ सामान्य और विशेष से रहित उपलब्ध नही होता है । इस विषय मे आगे स्वय ग्रन्थकार विविधरीत्या आलोचना करेंगे ही । पदार्थो को सामान्य विशेषात्मक सिद्ध करने के लिये प्रमुख दो हेतु है "पदार्था· सामान्य विशषात्मका:, अनुवृत्त व्यावृत्त प्रत्यय गोचरत्वात्, पूर्वोत्तराकार-परिहारावाप्ति स्थिति लक्षण परिणामेण, अर्थक्रियोपपत्ते:" पदार्थ–अचेतन चेतन अखिल द्रव्य समूह सामान्य और विशेष उभय धर्म युक्त हैं, क्योकि उनमे अनुवृत्त का (समानता का) और व्यावृत्तपने का बोध हो रहा है, तथा पूर्व आकार का परिहार रूप व्यय, उत्तराकार की प्राप्ति रूप उत्पाद और उभयाकारो मे अन्वय रूप स्थिति–ध्रौव्य पाया जाता है इस प्रकार की परिणाम रूप अर्थ क्रिया की उनमे उपलब्धि है । इस प्रकार इन हेतुओं से पदार्थ उभय धर्मात्मक सिद्ध होते है । जगत की कोई भी वस्तु मात्र सामान्य रूप या मात्र विशेष रूप देखने मे नही आती है अत. प्रत्यक्ष, अनुमान, तर्क एवं आगम प्रमाणो द्वारा सिद्ध सामान्य विशेषात्मक ही पदार्थो को स्वीकार करना चाहिए ।

कतिप्रकार सामान्यमित्याह—

सामान्यं द्वेधा ।। ३ ।।

कथमिति चेत्—

तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ।। ४ ।।

तत्र तिर्यक्सामान्यस्वरूप व्यक्तिनिष्ठतया सोदाहरण प्रदर्शयति—

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ।। ५ ।।

अब पदार्थो के उभय धर्मो मे से सामान्य धर्म कितने प्रकार का है सो बतलाते है—

सामान्यं द्वेधा ।। ३ ।। तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ।। ४ ।।

सूत्रार्थ—सामान्य के दो भेद है। तिर्यग् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य।

विशेषार्थ—अनेक वस्तुओ मे पाया जाने वाला समान धर्म तिर्यक् सामान्य कहलाता है, जैसे अनेक गायो मे गोपना समान रूप से विद्यमान रहता है, इसी तरह पटो मे पटत्व, मनुष्यो मे मनुष्यत्व, जीवो मे जीवत्व इत्यादि समान या सदृश धर्म दिखायी देते है इसी को तिर्यक् सामान्य कहते है, इस सामान्य धर्म या स्वभाव के कारण ही हमे वस्तुओ मे सादृश्य का प्रतिभास होता है। एक ही पदार्थ के उत्तरोत्तर जो परिणमन होते रहते है उनमे उस पदार्थ का व्यापक रूप से जो रहना है वह ऊर्ध्वता सामान्य है, जैसे स्थास, कोश, कूशल आदि परिणमन या पर्यायों मे मिट्टी का व्यापक रूप से रहना है। तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य में यह अन्तर है कि तिर्यक् सामान्य तो अनेक पदार्थ या व्यक्तियों में पाया जाने वाला समान धर्म है और उर्ध्वता सामान्य क्रम से उत्तरोत्तर होने वाले पर्यायों में पदार्थ या द्रव्य का रहना अपने क्रमिक पर्यायो मे एक अन्वयी द्रव्य का अस्तित्व ऊर्ध्वता सामान्य कहलाता है।

अब सूत्रकार स्वयं व्यक्तियो मे निष्ठ रहने वाले इस तिर्यक् सामान्य का स्वरूप उदाहरण सहित प्रस्तुत करते है—

सदृश परिणाम स्तिर्यक् खण्ड मुण्डादिषु गोत्ववत् ।।५।।

ननु खण्डमुण्डादिव्यक्तिव्यतिरेकेणापरस्य भवत्कल्पितसामान्यस्याप्रतीतितो गगनाम्भोरुहवदसत्त्वादसाम्प्रतमेवेद तल्लक्षणप्रणयनम्, इत्यप्यसमीचीनम्, 'गौर्गौः' इत्याद्यबाधितप्रत्ययविषयस्य सामान्यस्याऽभावासिद्धे । तथाविधस्याप्यस्यासत्त्वे विशेषस्याप्यसत्त्वप्रसङ्ग, तथाभूतप्रत्ययत्वव्यतिरेकेणापरस्य तद्व्यवस्थानिबन्धनस्यात्राप्यसत्त्वात् । अबाधितप्रत्ययस्य च विषयव्यतिरेकेणापि सद्भावाभ्युपगमे ततो व्यवस्थाऽभावप्रसङ्गः । न चानुगताकारत्व बुद्धेर्बाध्यते, सर्वत्र देशादावनुगतप्रतिभासस्याऽस्खलद्रूपस्य तथाभूतव्यवहारहेतोरुपलम्भात् । अतो व्यावृत्ताकारानुभवानधिगतमनुगताकारमव-

---

सूत्रार्थ—अनेक-व्यक्तियो मे पाया जाने वाला जो सदृश परिणाम है उसे तिर्यग् सामान्य कहते है, जैसे खण्डी, मुण्डी आदि गायो मे गोत्व—सास्नादि मान पना समान रूप से पाया जाता है, अनेक गायो मे रहने वाला जो गोत्व है उसीको तिर्यक्-सामान्य कहते है ।

सौगत— खण्डी, मुण्डी आदि गायो को छोड़कर अन्य पृथक् जैन का माना हुआ गोत्व सामान्य प्रतीति मे नही आता है, अत आकाश पुष्प के समान इस सामान्य का अभाव ही है, इसलिये जैनाचार्य यह जो सामान्य का लक्षण बता रहे है वह व्यर्थ है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, यह गो है, यह गो है, इस प्रकार सभी गो व्यक्तियो मे सामान्य का जो बोध हो रहा है वह निर्बाध है अतः आप बौद्ध सामान्य, धर्म का अभाव नही कर सकते है । अबाधितपने से सामान्य प्रतिभासित होने पर उसको नही माना जाय, उसका जबरदस्ती अभाव किया जाय तो फिर विशेष का भी अभाव मानना पडेगा ? क्योकि अबाधित प्रत्यय को छोडकर दूसरा कोई ऐसा प्रमाण नही है कि जो विशेष को सिद्ध कर देवे । अर्थात् विशेष भी अबाधित प्रतीति से ही सिद्ध होता है, सामान्य और विशेष दोनो की व्यवस्था निर्बाध प्रमाण पर ही निर्भर है । बाधा रहित ऐसा जो प्रमाण है उसके विषय हुए बिना ही यदि विशेष या किसी तत्व का सद्भाव स्वीकार किया जायगा तो फिर अबाधित ज्ञान से किसी भी वस्तु की व्यवस्था नही हो सकेगी । अनुगत आकार अर्थात् यह गौ है यह गौ है इत्यादि आकार रूप प्रतीति आती है वह किसी तरह बाधित भी नही होती है, सब जगह हमेशा ही अनुगताकार प्रतिभास अस्खलितपने से उस प्रकार के व्यवहार का निमित्त होता हुआ देखा गया है इसलिये यह निश्चय होता है कि व्यावृत्ताकार का अनुभव जिसमे नही है

भासन्त्यऽबाधितरूपा बुद्धि: अनुभूयमानानुगताकार वस्तुभूत सामान्य व्यवस्थापयति ।

ननु विशेषव्यतिरेकेण नापरं सामान्य बुद्धिभेदाभावात् । न च बुद्धिभेदमन्तरेण पदार्थभेद-व्यवस्थाऽतिप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

"न भेदाद्भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्य बुद्धयभेदत' ।
बुद्धयाकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता ।।"

[ ] इति,

तदप्यपेशलम्; सामान्यविशेषयोर्बुद्धिभेदस्य प्रतीतिसिद्धत्वात् । रूपरसादेस्तुल्यकालस्याभिन्नाश्रयवर्तिनोप्यत एव भेदप्रसिद्धेः । एकेन्द्रियाध्यवसेयत्वाज्जातिव्यक्त्योरभेदे वातातपादावप्यभेद-

---

और अनुगताकार का अवभास जिसमे हो रहा है ऐसी अबाधित प्रतीति या बुद्धि अपने अनुभव मे आ रहे अनुगत आकार का [समान धर्म–यह गो है, यह गो है इत्यादि] वास्तविक निमित्त जो सामान्य है उसकी व्यवस्था करती है–अर्थात् अनुवृत्त प्रत्यय से सामान्य की सिद्धि होती ही है ।

शंका–विशेष को छोडकर पृथक् कोई सामान्य दिखायी नही देता है, क्योकि बुद्धि या ज्ञान मे तो कोई भेद उपलब्ध नही होता है कि यह सामान्य है और यह विशेष है । अर्थात् प्रतिभास मे भिन्नता नही होने से सामान्य को नही मानना चाहिये । बुद्धि मे भेद अर्थात् पृथक् पृथक् प्रतिभास हुए बिना ही पदार्थो के भेदो की व्यवस्था करने लग जायेंगे तो अतिप्रसग दोष प्राप्त होगा । कहा भी है कि–विशेष से पृथक् कोई भी सामान्य नामक स्वतन्त्र पदार्थ देखा नही जाता, क्योकि सामान्य पृथक् होता तो बुद्धि मे अभेद नही रहता, अर्थात् विशेष का प्रतिभास भिन्न होता और सामान्य का भिन्न, किन्तु ऐसा नही होता है । बुद्धि के आकार के भेद से ही [झलक की विभिन्नता ही] पदार्थ का भेद सिद्ध होता है ।।१।।

समाधान–यह कथन असुन्दर है, सामान्य और विशेष मे बुद्धि का भेद तो प्रतीति सिद्ध है, इसी विषय का खुलासा करते है–रूप, रस इत्यादि गुण धर्म एक ही काल मे एक ही आश्रयभूत आम्र आदि पदार्थ मे रहते हुए भी बुद्धि भेद के कारण ही भिन्न भिन्न सिद्ध होते है, अर्थात् एक पदार्थ मे एक साथ रहकर बुद्धि, प्रमाण, या ज्ञान उन रूप, रस आदि का पृथक् पृथक् प्रतिभास कराता है और इस पृथक् प्रतिभास के कारण ही रूप, रसादि की पृथक् पृथक् गुण रूप व्यवस्था हुआ करती है ।

प्रसंगः। तत्रापि हि प्रतिभासभेदान्नान्यो भेदव्यवस्थाहेतु। स च सामान्यविशेषयोरप्यस्ति। सामान्यप्रतिभासो ह्यनुगताकारः, विशेषप्रतिभासस्तु व्यावृत्ताकारोऽनुभूयते।

दूरादूर्ध्वतासामान्यमेव च प्रतिभासते न स्थाणुपुरुषविशेषौ तत्र सन्देहात्। तत्परिहारेण प्रतिभासनमेव च सामान्यस्य ततो व्यतिरेकस्तल्लक्षणत्वाद्भेदस्य।

यदप्युक्तम्—

शका—जाति और व्यक्ति अर्थात् सामान्य और विशेष ये दोनो ही एक ही इन्द्रिय द्वारा जानने योग्य होते है [रूप और रस तो ऐसे एक ही इन्द्रिय गम्य नही होते।] अत सामान्य और विशेष मे भेद नही मानते है ?

समाधान—इस तरह एक इन्द्रिय द्वारा गम्य होने मात्र से सामान्य और विशेष को एक रूप माना जाय तो वायु और आतप को भी एक रूप मानना पड़ेगा ? क्योकि ये दोनो भी एक ही स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा गम्य होते है ? वायु और आतप मे भी प्रतिभास के विभिन्नता के कारण ही भेद सिद्ध होता है अर्थात् शीत स्पर्श के प्रतिभास से वायु और उष्ण स्पर्श के प्रतिभास से आतप की सिद्धि होती है अन्य किसी से तो इनमे भेद व्यवस्था नही होती है, इस प्रकार की प्रतिभास भेद या बुद्धि भेद की व्यवस्था तो सामान्य और विशेप मे भी पायी जाती है, देखो! सामान्य का प्रतिभास यह गो है यह गो है इत्यादि अनुगताकार है, और विशेष का प्रतिभास यह इससे भिन्न है, श्याम वर्ण गो, शवल नही है इत्यादि व्यावृत्ताकार अनुभव मे आता है।

सामान्य किस प्रकार प्रमाण से सिद्ध होता है इसमे और भी उदाहरण देखिये—दूर से वस्तु का सामान्य ही धर्म प्रतीत होता है, जैसे कि पुरुप अथवा ठूंट दूर प्रदेश मे स्थित है तो देखने वाले को सबसे पहले दोनो मे पाया जाने वाला ऊंचाई नामा जो सामान्य धर्म है वही प्रतीत है ठूंट या पुरुष विशेष तो प्रतीत होता नही, क्योकि उस विशेप मे सशय वना रहता है कि यह दिखाई देने वाला ऊंचा पदार्थ स्थाणु है अथवा पुरुप है ? यहां विशेष का परिहार करके अकेला सामान्य ही प्रतीत होता है इसलिये विशेप से पृथक् लक्षण वाला सामान्य है यह अपने आप सिद्ध होता है, क्योकि लक्षण के निमित्त से ही तो स्वभाव या धर्मो मे भेद माना जाता है।

"ताभ्यां तद्व्यतिरेकश्च किन्नाऽदूरेऽवभासनम् ।
दूरेऽवभासमानस्य सन्निधानेऽतिभासनम् ॥"
[प्रमाणवार्त्तिकाल०]

तदप्यसुन्दरम्; विशेषेपि समानत्वात्, सोपि हि यदि सामान्याद्व्यतिरिक्तः; तर्हि दूरे वस्तुनः स्वरूपे सामान्ये प्रतिभासमाने किन्नावभासते ? न हीन्द्रधनुषि नीले रूपे प्रतिभासमाने पीतादिरूपं दूरान्न प्रतिभासते । अथ निकटदेशसामग्री विशेषप्रतिभासस्य जनिका, दूरदेशवर्त्तिना च प्रतिपत्तृणां सा नास्तीति न विशेषप्रतिभासः; तर्हि सामान्यप्रतिभासस्य जनिका दूरदेशसामग्री निकटदेशवर्त्तिना चासौ नास्तीति न निकटे तत्प्रतिभासनमिति समः समाधिः । अस्ति च निकटे

बौद्ध के प्रमाणवार्त्तिकालंकार नामा ग्रन्थ मे कहा है कि जैनादि परवादी सामान्य को एक वास्तविक पदार्थ मानते है सो सामान्य के विषय मे हम पूछते है कि यदि पुरुष और स्थाणु को छोडकर भिन्न कोई ऊर्ध्वतासामान्य [ऊचाई] है तो वह उन वस्तुओ के निकट आने पर क्यो नही प्रतीत होता है ? जो धर्म दूर से ही अवभासित हो सकता है वह निकट आ जाने पर तो अधिक स्पष्ट रूप से अवभासित होना चाहिये ? ॥१॥ [किन्तु ऐसा होता तो नही, अत. सामान्य को काल्पनिक मानते है] सो यह बौद्ध का मतव्य असत् है, सामान्य के विषय मे जिस प्रकार आपने बखान किया उस प्रकार विशेष के विषय मे भी कर सकते है, कोई कह सकता है कि विशेष नामा धर्म यदि सामान्य धर्म से व्यतिरिक्त है तो दूर से वस्तु के सामान्य स्वरूप के प्रतिभासित होने पर क्यो नही प्रतीत होता है ? विशेष यदि वस्तु मे मौजूद है तो वह अवश्य ही सामान्य के प्रतीत होने पर प्रतिभासित हो जाता, इन्द्र धनुष मे नील वर्ण प्रतीत होने पर क्या पीतादि वर्ण दूर से ही प्रतीत नही होते ? अर्थात् होते ही है ।

शका—विशेष धर्म के प्रतिभास को उत्पन्न करने वाली निकट देशादि सामग्री हुआ करती है, वह दूर देशस्थ पुरुषो मे नही होने से दूर प्रदेश से विशेष का प्रतिभास नही होता है ?

समाधान—तो फिर सामान्य धर्म के प्रतिभास को उत्पन्न करने वाली सामग्री दूर देशता है और वह निकट देशवर्ती पुरुषो मे नही होने से निकट देश से सामान्य का प्रतिभास नही होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ? सामान्य और विशेष के बारे मे शका समाधान समान ही रहेगे । दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार विशेष

सामान्यस्य प्रतिभासन स्पष्ट विशेषस्य प्रतिभासवत्, यादृश तु, दूरे तस्यास्पष्ट प्रतिभासन तादृश न निकटे स्वसामग्र्यभावात् तद्वदेव ।'

न चानुगतप्रतिभासो बहि साधारणनिमित्तनिरपेक्षो घटते, प्रतिनियतदेशकालाकारतया तस्य प्रतिभासाभावप्रसङ्गात् ।। न चाऽसाधारणा व्यक्तय एव तन्निमित्तम्, तासा भेदरूपतयाऽऽविष्ट-त्वात् ।।तथापि तन्निमित्तत्वे कर्कादिव्यक्तीनामपि गौर्गौरिति बुद्धिनिमित्तत्वानुषङ्गः ।

न चाऽतत्कार्यकारणव्यावृत्ति एकप्रत्यवमर्शाद्येकार्थसाधनहेतुः अत्यन्तभेदेपीन्द्रियादिवत् समुदितेतरगुडूच्यादिवच्चेत्यभिधातव्यम्, सर्वथा समानपरिणामानाधारे वस्तुन्यतत्कार्यकारण-

---

का प्रतिभास निकट मे स्पष्ट रूप से होता है उसी प्रकार सामान्य प्रतिभास भी निकट में स्पष्ट रूप से होता ही है; दूर मे स्थित होने पर जैसा सामान्य का प्रतिभास अस्पष्ट होता है वैसा निकट मे स्थित होने पर नही होता है, क्योंकि वहां स्वसामग्री का अभाव है जैसे कि विशेष दूर मे स्थित होने पर अस्पष्ट रूप से प्रतीत होता है और निकट मे स्थित होने पर स्पष्ट रूपेन प्रतीत होता हैं ।

पदार्थो मे जो अनुगताकार प्रतिभास होता हैं वह बाह्य साधारण निमित्त की अपेक्षा बिना नही हो सकता है,. यदि सामान्य रूप बाह्य निमित्त के बिना ही अनुवृत्त प्रतिभास होता तो प्रतिनियत देश (स्थान गोशालादि) प्रतिनियत काल [उसी विवक्षित समय मे] और प्रतिनियत आकार [सास्नादि मान] रूप से उस सामान्य की (गोत्व आदि) प्रतीति नही आ सकती थी। इस अनुगताकार प्रतिभास का निमित्त असाधारण व्यक्तिया (खडी आदि गाये) ही है ऐसा कहना तो अशक्य है, व्यक्तिया अर्थात् शबली आदि गो विशेष अथवा अन्य अन्य वस्तु विशेष भेद रूप सें आविष्ट है वे व्यक्तियां सामान्य या सदृशतारूप अनुगताकार का प्रतिभास कराने मे निमित्त नहीं हो सकती है,, यदि भिन्न भिन्न व्यक्तिया ही अनुगताकार की प्रतीति मे निमित्त है तो सफेद अश्व आदि व्यक्तिया भी "यह गो है, यह गो है" इस प्रकार के अनुगत प्रतिभास का निमित्त बन जायेगी ? क्योकि जैसे शबली धवली आदि गो व्यक्तिया असाधारण होकर भी सामान्याकार का प्रतिबोध कराती है वैसे सफेद आदि अश्व व्यक्तियां भी करा सकती है, उभयत्र व्यक्तिपना तो है ही ?

बौद्ध—सफेद अश्वादि व्यक्तियो द्वारा गो आदि व्यक्तियो मे अनुगत आकार की प्रतीति इसलिये नही होती है कि अश्वादि व्यक्तियो की गो आदि व्यक्तियो के साथ,

व्यावृत्तेरेवासम्भवात् । अनुगतप्रत्ययाद्वस्तुनि प्रवृत्त्यऽभावप्रसङ्गाच्च । गुडूच्यादिदृष्टान्तोपि साध्य-विकल:; न खलु ज्वरोपशमनशक्तिसमानपरिणामाभावे 'गुडूच्यादयो ज्वरोपशमनहेतवः न पुनर्दधित्र-पुसादयोपि' इति शक्यव्यवस्थम्, 'चक्षुरादयो वा रूपज्ञानहेतवस्तज्जननशक्तिसमानपरिणामविर-हिणोपि न पुना रसादयोपि' इति निर्निबन्धना व्यवस्थितिः ।

कार्य कारण भाव की व्यावृत्ति है अर्थात् अश्वादि व्यक्तिया गो आदि व्यक्तियो का न कारण है और न कार्य ही है, जिसके साथ कार्य कारण भाव होता है वही उसके प्रतीति मे निमित्त कारण हुआ करता है, अत एक प्रत्यवमर्शी ज्ञान मे (अनुगताकार ज्ञान मे यह गो है, यह गो है, इस प्रकार की प्रतीति मे) गो व्यक्तिया निमित्त हुआ करती है, यह प्रतीति एक प्रत्यवमर्शी आदि एकार्थ साधनभूत है अर्थात् एक ही प्रकार के पदार्थ का विमर्श करने वाली तथा एक ही व्यवहार का हेतु है, गो व्यक्तिया परस्पर मे अत्यन्त भिन्न होने पर भी इन्द्रियादि के समान अथवा समस्त या व्यस्त गुडूची आदि औषधि के समान सामान्यपने का बोध कराने मे हेतु है, अर्थात् जैसे इन्द्रिय, प्रकाश और पदार्थ ये तीनो अत्यन्त भिन्न होने पर भी एक रूप ज्ञान के प्रति हेतु है, तथा गुडूची, सोठ आदि औषधि ये अत्यन्त भिन्न होने पर भी एक ज्वर नाश रूप कार्य को करते है वैसे ही गो व्यक्तिया परस्पर मे अत्यन्त भिन्न होने पर भी एक प्रत्यवमर्शी ज्ञान को उत्पन्न कराती है ।

भावार्थ—जैन ने पूछा कि बौद्ध जब सदृश परिणाम या सामान्य धर्म का अस्तित्व स्वीकार नही करते है तो जैसे गो व्यक्तियो से गो मे अनुगताकार प्रतिभास होता है वैसे सफेद अश्व आदि व्यक्तियो से भी होना चाहिए ? सो इसका उत्तर बौद्ध ने यह दिया कि अतद् कारण कार्य व्यावृत्ति अर्थात् सफेद अश्वादि व्यक्तिया खण्डी आदि गो व्यक्तियो का कार्य और कारण रूप नही है ऐसे अतद् कार्य कारणभूत अश्वादि व्यक्तियो से गो व्यक्तियो की व्यावृत्ति है पृथक्पना है यही कारण है कि उन गो व्यक्तियो द्वारा एक प्रत्यवमर्शी आदि एकार्थ साधन अर्थात् गो है, गो है इस प्रकार एकत्व का स्पर्श करने वाला अनुगत प्रत्यय हो जाता है, इस विषय का अनुमान इस तरह होवेगा कि खण्डी मुण्डी आदि गो व्यक्तिया सामान्य धर्म से रहित [illegible] ही अर्थात् परस्पर मे अत्यन्त भिन्न होकर ही एक प्रत्यवमर्शी [illegible]
का) हेतु है, क्योकि इनमे, अतद् कार्य कारण [illegible]

किञ्च, अनुगतप्रत्ययस्य सामान्यमन्तरेणैव देशादिनियमेनोत्पत्तौ व्यावृत्तप्रत्ययस्यापि विशेषमन्तरेणैवोत्पत्तिः स्यात्। शक्य हि वक्तुम्–अभेदाविशेषेप्येकमेव ब्रह्मादिरूप प्रतिनियतानेक-नीलाद्याभासनिबन्धनं भविष्यतीति किमपररूपादिस्वलक्षणपरिकल्पनया। ततो रूपादिप्रतिभासस्येवानुगतप्रतिभासस्याप्यालम्बन वस्तुभूत परिकल्पनीयम् इत्यस्ति वस्तुभूत सामान्यम्।

प्रकाश और पदार्थ परस्पर मे भिन्न होकर रूपादि ज्ञानो का हेतु हुआ करते है, अथवा जैसे गुडूची, सोठ आदि पदार्थ भिन्न होकर बुखार की शाति का हेतु हुआ करते हैं। मतलब यह है कि बिना सदृश परिणाम के ही अतत् कार्यकारण की व्यावृत्ति होने से अर्थात् गो व्यक्तियो मे उस कार्य कारण भाव की व्यावृत्ति नही होने से गो व्यक्तियां गोत्व का प्रतिभास करा देती है। सफेद अश्वादि अतद् कार्य कारण व्यावृत्ति नही है अर्थात् कार्य कारण भाव नही है अतः वे अनुगत प्रत्यय का हेतु नही है ?

जैन— यह बौद्ध का कथन असत् है, सर्वथा समान परिणाम से रहित जो वस्तु होगी उसमे असद् कार्य कारण व्यावृत्ति का होना ही असभव है, तथा जब वस्तु मे अनुगत प्रत्यय का आधार जो समान परिणाम हैं वह नही रहेगा तो अनुगत प्रत्यय के कारण जो पदार्थ मे प्रवृत्ति हुआ करती है वह भी नही हो सकेगी। तथा अतद् कार्य कारण व्यावृत्ति हेतु वाले इस अनुमान मे दिया हुआ गुडूची आदि का दृष्टात साध्यविकल भी है, देखिये यदि गुडूची आदि औषधिओ मे ज्वर का उपशमन करने की शक्ति रूप समान परिणाम (सामान्य) नही माना जाय तो "गुडूची आदि पदार्थ तो ज्वर के शान्ति के लिये होते है और दही, ककडी आदि नही होते है" ऐसी व्यवस्था होना अशक्य है। इसी प्रकार चक्षु प्रकाश आदि मे रूप ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति रूप समान परिणाम नही है तो "चक्षु आदि रूप ज्ञान का ही हेतु है रसादि ज्ञान का नही" इस तरह की व्यवस्था होना अशक्य है। इस तरह बौद्ध के अतद् कार्य कारण व्यावृत्ति रूप हेतु की सिद्धि नही होती है।

किंच, यदि सामान्य के बिना ही देशादि नियत रूप से अनुगत प्रत्यय का प्रादुर्भाव होता है तो विशेष के बिना ही व्यावृत्त प्रत्यय का प्रादुर्भाव होता है ऐसा स्वीकार करना पडेगा। कह सकते हैं कि सम्पूर्ण पदार्थो मे अभेद का अविशेषपना (अद्वैत) होने पर भी एक परम ब्रह्मादि के निमित्त से ही प्रतिनियत–भिन्न भिन्न नील, पीत

एककार्यतासादृश्येनैकत्वाध्यवसायो व्यक्तीनाम्; इत्यप्यचारु; कार्याणामभेदासिद्धेः, वाहदोहादिकार्यस्य प्रतिव्यक्ति भेदात्। तत्राप्यपरैककार्यतासादृश्येनैकत्वाध्यवसायेऽनवस्था। ज्ञान-लक्षणमपि कार्यं प्रतिव्यक्ति-भिन्नमेव।

अनुभवानामेकपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वादेकत्वम्, तद्धेतुत्वाच्च व्यक्तीनामित्युपचरितोपचारोपि श्रद्धामात्रगम्यः, अनुभवानामप्यत्यन्तवैलक्षण्येनैकपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वायोगात्, अन्यथा कर्कादिव्यक्त्य-

---

आदि अनेक तरह के प्रतिभास होते है अत. पृथक् पृथक् द्वैतरूप नील, पीत इत्यादि रूप स्वलक्षण भूत विशेष विशेष वस्तुओ की कल्पना करना व्यर्थ ही है ? इस आपत्ति को दूर करने के लिये रूपादि के प्रतिभासो का कारण जैसे विभिन्न विशेष धर्म हुआ करते है और वे व्यावृत्त प्रत्यय के कारण है ऐसा आप मानते है वैसे ही सदृश प्रतिभासो का कारण सामान्य धर्म है और यही अनुगताकार प्रत्यय [गो है, गो है] का कारण है ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार वस्तुभूत सामान्य की सिद्धि होती है।

शंका—गो आदि व्यक्तिया एक ही कार्य को करने वाली हुआ करती है अतः उनमे कार्य की सदृशता के कारण एकत्व का प्रतिभास–अनुगत प्रत्यय होता है अर्थात् अनुगत प्रत्यय कार्य के सादृश्य के निमित्त से हुआ करता है न कि सामान्य धर्म के निमित्त से ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, गो आदि व्यक्तियो मे कार्यत्व की समानता नही होती है, उनमे तो प्रत्येक व्यक्तिका वाह–बोझा ढोना, दोह–दूध देना इत्यादि पृथक् पृथक् ही कार्य हुआ करता है। यदि उन व्यक्तियो मे एक कार्यत्व का सादृश्य सिद्ध करने के लिये अन्य कोई एक कार्यत्व का सादृश्य माना जाय तब तो अनवस्था दूषण आयेगा। गो व्यक्तियो का प्रतिभासित होना रूप कार्य भी प्रतिव्यक्ति का भिन्न भिन्न ही है।

बौद्ध—निर्विकल्प ज्ञानो मे एक परामर्श रूप प्रतीति आने से एकपना सिद्ध होता है और ज्ञानो की एकता के कारण गो आदि व्यक्तियो मे एक कार्यता रूप सादृश्य सिद्ध हो जाता है ?

जैन—यह उपचरित उपचार तो मात्र श्रद्धागम्य है न कि तर्कगम्य है। देखिये आपने कहा कि अनुभव स्वरूप निर्विकल्पक ज्ञानो मे एकत्व है किन्तु यह बात गलत है, अनुभव भी परस्पर मे अत्यन्त विलक्षण माने गये है अत. उनमे एक परामर्श

नुभवेभ्योपि खण्डमुण्डादिव्यक्तौ एकपरामर्शप्रत्ययस्योत्पत्तिः स्यात् । अथ प्रत्यासत्तिविशेषात्खण्डमुण्डाद्यनुभवेभ्य एवास्योत्पत्तिर्नान्यत॰ । ननु प्रत्यासत्तिविशेष. कोन्योऽन्यत्र समानाकारानुभवात्, एकप्रत्यवमर्शहेतुत्वेनाभिमताना निर्विकल्पकबुद्धीनामप्रसिद्धेश्च । अतोऽयुक्तमेतत्—

"एकप्रत्यवमर्शस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी ।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता ।।"

[प्रमाणवा॰ १।११०] इति ।

ततोऽबाधबोधाधिरूढत्वात्सिद्ध सदृशपरिणामरूप वस्तुभूतं सामान्यम् । तस्याऽनभ्युपगमे—

प्रत्यय का हेतुपना सिद्ध नही हो सकता है, अन्यथा सफेद अश्व आदि व्यक्तियो के अनुभवो से भी खण्डो मुण्डी आदि गो व्यक्ति मे एक परामर्शी ज्ञान की उत्पत्ति होने लग जायगी ।

बौद्ध— ऐसी बात नही होगी, क्योकि प्रत्यासत्ति विशेषता के कारण खण्डी मुण्डी आदि गो के अनुभवो से ही गो व्यक्तियो मे एक परामर्शी प्रतिभास की उत्पत्ति होती है, अन्य सफेद अश्वादि के अनुभवो से नही, मतलब गो व्यक्ति के अनुभवो की गो व्यक्ति के साथ ही प्रत्यासत्ति विशेष [निकटता] है न कि कर्कादि के अनुभवो के साथ है, अत गो व्यक्तियो के अनुभवो से मात्र गो व्यक्ति मे एक परामर्शी ज्ञान होता है ?

जैन—अच्छा तो यह बताइये कि प्रत्यासत्ति विशेष किसे कहते है ? समान आकार रूप से प्रतीति होना ही प्रत्यासत्ति विशेष कहलाती है, न कि अन्य कुछ । यह भी बात है कि निर्विकल्प ज्ञान स्वरूप अनुभव एक परामर्शी प्रतिभास का हेतु है ऐसा आप कहते है किन्तु निर्विकल्प ज्ञान की ही सिद्धि नही होती है, इस ज्ञान का पहले ही [निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद नामा प्रथम भाग के प्रकरण मे] खण्डन कर आये है । अत॰ निम्नलिखित श्लोकार्थ अयुक्त है कि—एक परामर्शी प्रतिभास का हेतु निर्विकल्प बुद्धि है, निर्विकल्प ज्ञानो मे एकपना होने के कारण ही गो आदि व्यक्तियो मे अभिन्नता या समानता की झलक–अनुगत प्रत्यय [गो है, गो है] होता है ।।१।। इस प्रकार बौद्ध का सामान्य विषयक मतव्य बाधित होता है इसलिये सदृश परिणाम स्वरूप सामान्य ही वास्तविक वस्तु है ऐसा स्वीकार करना चाहिये, क्योकि यह सामान्य का स्वरूप अबाधित ज्ञान द्वारा सिद्ध होता है । यदि सामान्य को वस्तुभूत नही माना जाय तो आपके प्रमाण वार्तिक के वक्तव्य मे विरोध आता है । इसी को बताते है—क्षणिक

"नो चेद्भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम् ।
शुक्तौं वा रजताकारो रूपसाधर्म्यदर्शनात् ॥"

[प्रमाणवा० १।४५] इत्यस्य,

"अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
तस्मात्प्रमेयो (या)ऽधिगतेः प्रमाण मेयरूपता ॥"

[प्रमाणवा० ३।३०५]

इत्यस्य च विरोधानुषङ्गः ।

स्वलक्षण रूप वस्तु में भ्रम के कारण यदि क्षणिक गुण से अन्य जो अक्षणिकत्व या नित्यत्व है उसका आरोप या सयोग पुरुष द्वारा नही किया जाता तो "सर्व क्षणिक, सत्वात्" इत्यादि अनुमान प्रमाण प्रयुक्त नही होते । सीप मे समान धर्म जो शुक्ल रूप हैं उसके देखने से रजताकार प्रतिभास होने लगता है वह भी भ्रम के कारण ही होता है ॥१॥ पदार्थ के सदृश आकार धारण करने वाली बुद्धि पदार्थ के साथ सम्बन्ध घटित करती है उसको छोडकर अन्य कोई पदार्थ के साथ सम्बन्ध घटित करने वाला नही है; अतः प्रमेयाकार होने से प्रमाण की प्रमेय की साकारता सिद्ध होती है, अर्थात् ज्ञान पदार्थ के सदृश आकार को धारता है इस कारण से ही उसके प्रतिनियत विषय की व्यवस्था होती है ॥२॥ इत्यादि, इन उभय श्लोको मे पदार्थो में समान धर्म होना स्वीकार किया गया है; अर्थात् सीप और रजत मे रूप सादृश्य है, ज्ञान मे पदार्थ सदृश आकार है ऐसा कहा गया है अतः यहा पर यदि बौद्ध सदृश परिणाम स्वरूप सामान्य को नही मानते है तो इन श्लोकार्थो से विरोध आता है। यहा तक बौद्ध के अतद् व्यावृत्ति रूप सामान्य का निरसन किया है, अब आगे यौग आदि के नित्य सर्वगत सामान्य का निरसन करते है—यह प्रतीति से सिद्ध जो सामान्य हैं उसको अनित्य (कथचित्) तथा असर्वगत— अव्यापक स्वभाव वाला स्वीकार करना चाहिये, क्योकि नित्य सर्वगत स्वभाव वाला मानने से उसमे अर्थ क्रिया नही हो सकती है, शबली आदि गो व्यक्तियां अनित्य और असर्वगत होने से उनमे निष्ठ जो गोत्व सामान्य है वह अनित्य असर्वगत होना युक्ति युक्त ही है, यह गोत्व वाह तथा दोहन आदि अर्थ क्रिया मे उपयुक्त नहीं देखा गया है, वाहादि क्रिया मे तो गोत्व निष्ठ व्यक्तियां ही समर्थ हुआ करती है ।

तच्चाऽनित्यासर्वगतस्वभावमभ्युपगन्तव्यम्; नित्यसर्वगतस्वभावत्वेऽर्थक्रियाकारित्वा-योगात्। न खलु गोत्वं वाहदोहादावुपयुज्यते, तत्र व्यक्तीनामेव व्यापाराभ्युपगमात्।

स्वविषयज्ञानजनकत्वेपि व्यापारोस्य केवलस्य, व्यक्तिसहितस्य वा ? केवलस्य चेत्; व्यक्त्यन्तरालेप्युपलम्भप्रसङ्ग। व्यक्तिसहितस्य चेत्, किं प्रतिपन्नाखिलव्यक्तिसहितस्य, अप्रतिपन्ना-खिलव्यक्तिसहितस्य वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः, असर्वविदोऽखिलव्यक्तिप्रतिपत्तेरसम्भवात्। द्वितीयपक्षे पुन एकव्यक्तेरप्यग्रहणे सामान्यज्ञानानुषङ्गः। प्रतिपन्नकतिपयव्यक्तिसहितस्य जनकत्वे तु तस्य ताभिरुपकार. क्रियते, न वा ? प्रथमपक्षे सामान्यस्य व्यक्तिकार्यता, तदभिन्नोपकारकरणात्। ततो

यौगादि परवादी गोत्व आदि सामान्य धर्म को नित्य तथा व्यापक मानते है सो ऐसा यह गोत्वादि सामान्य अपने विषय मे प्रतिभास कराता है वह अकेला ही "यह गो है" इत्यादि रूप प्रतिभास कराने मे समर्थ है अथवा व्यक्ति [खण्ड, मुण्डादि] सहित होकर प्रतिभास कराने मे समर्थ है ? केवल गोत्वादि सामान्य ही स्वविषयक ज्ञान पैदा कराता है ऐसा प्रथम पक्ष मानेगे तो गो आदि व्यक्तियो के अन्तराल मे भी गोत्व आदि सामान्य उपलब्ध होने लगेगा, क्योकि व्यक्ति के बिना ही सामान्य स्वविषय मे ज्ञान को उत्पन्न कराता है ऐसा मान लिया है। द्वितीय विकल्प की बात कहे कि व्यक्ति सहित जो गोत्वादि सामान्य है वह स्वविषय का ज्ञान कराता है तो इसमे पुनः दो प्रश्न होवेगे कि वह सामान्य जिस पुरुष ने सपूर्ण व्यक्तियो के सामान्य को जान लिया है उसके लिये स्वविषयक ज्ञान का हेतु होता है अथवा बिना जाने हुए पुरुष के लिये हेतु होता है ? प्रथम पक्ष कहो तो ठीक नही है, क्योकि असर्वज्ञ [अल्पज्ञ] पुरुष को सपूर्ण व्यक्तियो को जानना ही अशक्य है तो उनमे स्थित सामान्य को कैसे जाना जा सकता है ? अर्थात् नही जाना जा सकता। सपूर्ण गो आदि व्यक्तियो को नही जाने हुए पुरुप के प्रति वह सामान्य स्वविषय मे ज्ञान उत्पन्न कराता है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो एक भी व्यक्ति को बिना जाने सामान्य का प्रतिभास हो सकेगा, अर्थात् व्यक्ति को बिना ग्रहण किये सामान्य जानने मे आवेगा, किन्तु ऐसा नही होता है। शबली आदि गो व्यक्ति को बिना जाने गोत्व सामान्य जाना जाय ऐसा कही देखा नही जाता है। कुछ व्यक्तियो को जाने हुए पुरुष के प्रति सामान्य स्वविषयक ज्ञान पैदा कराता है ऐसा स्वीकार करे तो शका होती है कि उक्त ज्ञात हुए कतिपय व्यक्तियो द्वारा सामान्य का उपकार किया जाता है अथवा नही किया जाता है ? यदि किया

भिन्नस्यास्य करणे 'तस्य' इतिव्यपदेशासिद्धिः । तत्कृतोपकारेणाप्युपकारान्तरकरणेऽनवस्था । द्वितीयपक्षे तु व्यक्तिसहभाववैयर्थ्यम् सामान्यस्य, अकिञ्चित्करस्य सहकारित्वासम्भवात् ।

सामान्येन सहैकज्ञानजनने व्यापाराद्वचक्तीना तत्सहकारित्वेपि किमालम्बनभावेन तत्र तासा व्यापार., अधिपतित्वेन वा ? प्राच्यकल्पनायाम् एकमनेकाकार सामान्यविशेषज्ञानं सर्वदा स्यात्, स्वालम्बनानुरूपत्वात्सकलविज्ञानानाम् ।

द्वितीयविकल्पे तु व्यक्तीनामनधिगमेपि सामान्यज्ञानप्रसग: । न खलु रूपज्ञाने, चक्षुपोधिगतस्याधिपतित्वेन व्यापारो दृष्ट: अदृष्टस्य वा, सर्वथा नित्यवस्तुन: क्रमाऽक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधा-

---

जाता है तो सामान्य व्यक्ति का कार्य कहलायेगा, क्योकि व्यक्ति द्वारा सामान्य का अभिन्न ऐसा उपकार किया गया है ? नित्य सामान्यवादी उस उपकार को सामान्य से भिन्न किया हुआ मानते है तो "यह सामान्य का उपकार है" इस प्रकार कह नही सकेंगे । यदि सामान्य और उपकार का सम्बन्ध जोडने के लिये अन्य उपकार व्यक्ति द्वारा किया जाना माने तो अनवस्था स्पष्ट ही दिखायी देती है । व्यक्ति द्वारा सामान्य का कुछ उपकार नहीं किया जाता ऐसा दूसरा पक्ष स्वीकार करे तो सामान्य का व्यक्ति के साथ रहना व्यर्थ होगा, जो कुछ भी नही करता है उस अकिञ्चितकर में सहकारी भाव होना असभव ही होगा ।

यौग—शबली आदि गो व्यक्तियां "गो है, गो है" इस प्रकार के एक ज्ञान को उत्पन्न कराने मे सामान्य को सहायता पहुचाती है अत· उन व्यक्तियों को सामान्य का सहकारी मानते है, अर्थात् व्यक्तियो मे सहकारीपना होता ही है ?

जैन—ऐसी बात है तो बताइये कि व्यक्तियां सामान्य की सहकारी बनती है सो एक ज्ञान को उत्पन्न कराने मे सामान्य के साथ उन व्यक्तियो का आलंबन भाव से व्यापार होता है अथवा अधिपतित्व भाव से व्यापार होता है ? प्रथम पक्ष की बात कहो तो एक अनुवृत्ताकार जो ज्ञान है वह अनेकाकार सामान्य विशेष रूप हमेशा होने लगेगा क्योकि सामान्य एक रूप और व्यक्तिया अनेक रूप है और दोनों का उस ज्ञान मे आलंवन है । सभी ज्ञान अपने आलंबन के अनुसार होते हैं यह बात प्रसिद्ध ही है ।

दूसरा पक्ष—अनुगताकार ज्ञान की उत्पत्ति में सामान्य के साथ व्यक्तियो का अधिपतित्व भाव से व्यापार होता है ऐसा कहने पर तो व्यक्तियो को बिना जाने भी सामान्य का ज्ञान होने का प्रसग आता है । व्यक्तियो को बिना जाने सामान्य का ज्ञान

च्चास्य न कस्याञ्चिदर्थक्रियाया व्यापार । व्यापारे वा सहकारिनिरपेक्षितया सदा कार्यकारित्वानुषङ्ग , तदवस्थाभाविन: कार्यजननस्वभावस्य सदा सम्भवात्, अभावे च अनित्यत्वं स्वभावभेदलक्षणत्वात्तस्य । कार्याजननस्वभावत्वे वा अस्य सर्वदा कार्याजनकत्वप्रसङ्ग । यो हि यदऽजनकस्वभाव: सोन्यसहितोपि न तज्जनयति यथा शालिबीज क्षित्याद्यविकलसामग्रीयुक्त कोद्रवाकुरम्, अजनकस्वभाव च सामान्य कार्यस्य, इत्यवस्तुत्वापत्तिर्नित्यैकस्वभावसामान्यस्य, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वाद्वस्तुन. ।

कैसे होगा ? इस तरह की आशका हो तो चक्षु का दृष्टान्त देकर बताते है, चक्षु को जानने पर ही उसके रूप को जानने मे व्यापार होवे सो बात है नही, इसी प्रकार चक्षु का धर्म जो अदृष्ट है उसका भी अनधिगत होकर ही रूप को जानने मे अधिपतित्व भाव से व्यापार होता हुआ देखा जाता है, वैसे व्यक्तियो का भी अनुगताकार ज्ञान मे अनधिगत रहकर भी व्यापार हो सकेगा ही ? यह बात भी है कि परवादी समत सामान्य तो सर्वथा नित्य है, नित्य वस्तु मे अक्रम से और क्रम से अर्थ क्रिया होना विरुद्ध है अत नित्य सामान्य का किसी भी अर्थ क्रिया मे [एक ज्ञान की उत्पत्ति मे] व्यापार होना असभव है । यदि नित्य सामान्यादि वस्तु अर्थक्रिया मे व्यापार करती है ऐसा जबरदस्ती मान लेवे तो भी वह नित्य वस्तु सहकारी के अपेक्षा के बिना ही सर्वदा कार्य को (स्वविषय मे ज्ञान को अथवा अनुगताकार ज्ञान को) करती ही रहेगी ? क्योकि सहकारी से रहित अवस्था वाले उस सामान्यादि नित्य वस्तु का कार्य को उत्पन्न करने का स्वभाव सदा विद्यमान ही रहता है । यदि परवादी कहे कि उस नित्य वस्तु मे ऐसा स्वभाव हमेशा नही रहता है तब तो वह वस्तु अनित्य ही कहलायेगी, क्योकि स्वभाव मे भेद होना, परिवर्तन होना यही तो अनित्य का लक्षण है । नित्य वस्तुभूत इस सामान्यादि मे स्वविषय मे ज्ञानोत्पत्ति आदि कार्य को करने का स्वभाव नही माना जाय तो वह नित्य वस्तु कभी कार्य को उत्पन्न कर ही नही सकेगी । इसी विपय का खुलासा करते है— सामान्यादि नित्य वस्तु कार्य की जनक नही हुआ करती, क्योकि उसमे कार्य का अजनकत्व स्वभाव है, जो जिसका अजनक स्वभाव वाला होता है वह अन्य जो सहकारी कारण है उससे युक्त होने पर भी कार्य को उत्पन्न नही कर सकता है, जैसे शालि (चावल) के बीज मे कोदो के अकुर को उत्पन्न करने का स्वभाव नही है तो वह शालि बीज पृथिवी जलादि सम्पूर्ण सामग्री के मिलने पर भी उस कोदो के अकुर को उत्पन्न नही ही करता, ऐसे ही सामान्य है, उसमे कार्य का अजनकत्व रूप स्वभाव है (अत. वह स्वविषय मे ज्ञानोत्पत्ति रूप कार्य नही कर

तथा तत्सर्वसर्वगतम्, स्वव्यक्तिसर्वगतं वा ? न तावत्सर्वसर्वगतम्; व्यक्त्यन्तरालेऽनुपलभ्यमानत्वाद्व्यक्तिस्वात्मवत्। तत्रानुपलम्भो हि तस्याऽव्यक्तत्वात्, व्यवहितत्वात्, दूरस्थित त्वात्, अदृश्यत्वात्, स्वाश्रयेन्द्रियसम्बन्धविरहात्, आश्रयसमवेतरूपाभावाद्वा स्याद्गत्यन्तराऽभावात् ? न तावदव्यक्तत्वात्; एकत्र व्यक्तौ सर्वत्र व्यक्तेरभिन्नत्वात् । अव्यक्तत्वाच्चान्तराले तस्यानुपलम्भे व्यक्तिस्वात्मनोप्यनुपलम्भोऽत एवास्तु । तत्रास्य सद्भावावेदकप्रमाणाभावादसत्त्वादेवाऽनुपलम्भे

सकता है) इस प्रकार इस अनुमान द्वारा नित्य एक स्वभाव वाले सामान्य में अवस्तुपने की आपत्ति आती है, क्योकि वस्तु का स्वभाव अर्थ क्रिया कारित्व है और नित्य सामान्य मे वह सिद्ध नही होती है ।

परवादी उस सामान्य को सर्वगत भी मानते है सो उसमें प्रश्न है कि स्वसंबंधी सभी व्यक्तियो मे तथा अन्यत्र सर्वत्र रहना रूप सर्व सर्वगतपना है अथवा विवक्षित एक व्यक्ति मे सर्वाशपने से रहना रूप स्वव्यक्तिसर्वगतपना है ? सर्वसर्वगत होना तो बनता नही है, क्योकि सामान्य धर्म व्यक्तियो के अतराल मे उपलब्ध नही होता है, जिस प्रकार कि व्यक्ति का स्वरूप अंतराल में उपलब्ध नही होता है । आप सामान्य को सर्वसर्वगत होते हुए भी व्यक्तियो के अन्तराल मे उसकी अनुपलब्धि होना कैसे सिद्ध कर सकेंगे, कौनसे हेतु उनमें रहेगे ? व्यक्तियो के अन्तराल मे सामान्य अव्यक्त होने से उपलब्ध नही होता अथवा व्यवहित होने से, या दूर मे स्थित रहने से, अदृश्य के कारण, स्वाश्रयभूत इन्द्रिय का सम्बन्ध नही होने से, या कि आश्रय में समवेत रूप का अभाव होने से उपलब्ध नही होता है ? इन छह हेतुओ को छोड़कर अन्य तो कोई हेतु है नही । अंतराल मे सामान्य अव्यक्त रहने के कारण उपलब्ध नही होता है ऐसा प्रथम पक्ष ठीक नही है, क्योकि जब वह सामान्य एक गो व्यक्ति मे व्यक्त हुआ दिखायी देता है तब वह सर्वत्र व्यक्त ही बन जायगा, क्योंकि व्यक्त स्वभाव से वह अभिन्न है ? सामान्य अव्यक्त है और इसी वजह से अंतराल मे उपलब्ध नही होता है ऐसा बताया जाय तो व्यक्तियों के विषय मे भी यही बात कह सकते है कि व्यक्तियां सर्वगत है किन्तु अन्तराल मे अव्यक्तता के कारण उपलब्ध नही होती है इत्यादि ?

यौग—व्यक्तियो को सर्वगत मान ही नही सकते, क्योकि अन्तराल मे व्यक्तियो का अथवा व्यक्तियो के स्वरूप का सद्भाव बतलाने वाला कोई प्रमाण नही है, अत: उनका अन्तराल मे असत्व होने के कारण अनुपलभ है ऐसा मानना चाहिये ?

सामान्यस्यापि सोऽसत्त्वादेवास्तु विशेषाभावात्। न खलु प्रत्यक्षतस्तत्तत्रोपलभ्यते विशेषरहितत्वात् खरविषाणवत्।

किञ्च, प्रथमव्यक्तिग्रहणवेलाया तदभिव्यक्तस्यास्य ग्रहणे अभेदात्तस्य सर्वत्र सर्वदोपलम्भ-प्रसङ्गः सर्वात्मनाभिव्यक्तत्वात्, अन्यथा व्यक्ताव्यक्तस्वभावभेदेनानेकत्वानुषङ्गादसामान्यरूपतापत्तिः। तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भाद्व्यक्त्यन्तराले सामान्यस्यासत्त्व व्यक्तिस्वात्मवत्।

जैन—ठीक बात कही, किन्तु यही विषय सामान्य मे घटित होता है, व्यक्तियो के अतराल मे सामान्य भी उपलब्ध नही होने के कारण असत्व रूप है, या असत्व होने के कारण ही तो वह अन्तराल मे उपलब्ध नही है, क्योकि अन्तराल मे सामान्य का सद्भाव बतलाने वाला कोई प्रमाण नही है। व्यक्तियो के अन्तराल में प्रत्यक्ष प्रमाण से सामान्य उपलब्ध नही होता क्योकि वह विशेष से रहित है, जैसे गधे के सीग विशेष रहित होने से प्रत्यक्ष से उपलब्ध नही होते है।

दूसरी बात यह है कि पहले व्यक्ति को ग्रहण करते समय उस व्यक्ति में अभिव्यक्त (प्रगट) हुआ यह सामान्य भी उसमे होने से ग्रहण मे आवेगा, फिर सभी जगह हमेशा के लिये सामान्य उपलब्ध होता ही रहेगा ? क्योकि सर्वरूप से प्रगट हो चुका है, यदि सर्वात्मपना प्रगट होने पर भी सर्वत्र उपलब्ध नही होता है तो इसका मतलब सामान्य मे व्यक्त और अव्यक्त ऐसे दो स्वभाव है, और दो स्वभाव है तो वह अनेक रूप बना गया ? इस तरह तो वह असामान्य मायने विशेष रूपता को ही प्राप्त हो जाता है, क्योकि अनेकपना विशेष मे होता है। इस आपत्ति को दूर करने के लिये व्यक्तियो के अन्तराल मे (शबली शुक्ल आदि गो व्यक्तियो के बीच बीच के स्थानो मे) उपलब्ध होने योग्य होते हुए भी उपलब्ध नही होता अतः वहा सामान्य का अभाव ही है ऐसा मानना चाहिये जैसे कि व्यक्तियो के निजस्वरूप का अन्तराल मे अभाव है।

शका—व्यक्तियो के अन्तराल मे सामान्य है क्योकि एक साथ भिन्न भिन्न देशो मे स्थित अपने आधार (गो आदि व्यक्तियो मे) मे रहकर भी एक है, जैसे लबा बास स्तम्भ आदि मे एक साथ उपलब्ध होने से एक रूप है ? इस अनुमान द्वारा अन्तराल मे सामान्य की सिद्धि हो जाती है ?

'व्यक्त्यन्तरालेऽस्ति सामान्यं युगपद्भिन्नदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वाद्वंशादिवत्' इत्यनुमानात्तत्र तद्भावसिद्धिः; इत्यप्यसङ्गतम्; हेतोः प्रतिवाद्यसिद्धत्वात्। न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं प्रत्यक्षतः स्थूणादौ वंशादिवत्प्रतीयते, यतो युगपद्भिन्नदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्व तस्य सिध्यत्स्वाधारान्तरालेऽस्तित्वं साधयेत्। तन्नाव्यक्तत्वात्तत्राऽनुपलम्भः।

नापि व्यवहितत्वादभिन्नत्वादेव। नापि दूरस्थितत्वात्तत एव।

समाधान—यह कथन असंगत है "युगपद् भिन्न देश स्वाधार वृत्तित्वे सति एकत्वात्" अर्थात् एक साथ विभिन्न देशस्थ स्व आधार मे रहकर एक स्वरूप है" ऐसा जो इस अनुमान मे हेतु प्रयुक्त किया है वह प्रतिवादी जैनादि के लिये असिद्ध है, इसी बात का खुलासा करते हैं—भिन्न भिन्न देशो में स्थित व्यक्तियो में एक ही सामान्य है ऐसा प्रत्यक्ष से प्रतीत नही होता है, जैसे कि स्थूण आदि में बांसादिक एक ही प्रतीत होते हैं, जब वह एक रूप प्रतीत ही नही होता है तो "एक साथ भिन्न देशस्थ स्व आधार में रहकर भी एक स्वरूप है" ऐसा हेतु निर्दोष प्रसिद्ध होकर अपने आधार जो व्यक्तियां है उनके अंतराल मे सामान्य का अस्तित्व रूप साध्य को कैसे सिद्ध कर सकता है अर्थात् नही कर सकता है, अतः अव्यक्त होने से अन्तराल में सामान्य का अनुपलंभ है ऐसा प्रथम विकल्प गलत सिद्ध हुआ।

सामान्य को व्यक्तियो के अन्तराल मे यत्र तत्र सर्वत्र सिद्ध करने के लिये दूसरा हेतु "व्यवहितत्वात्" था सो यह भी सदोष है क्योकि सामान्य एक स्वभाव वाला होने से व्यक्तियो से अभिन्न है अतः उसमे व्यवहितपना असम्भव है। दूर में स्थित होने से व्यक्तियो के अन्तराल में सामान्य की उपलब्धि नही होती है ऐसा तीसरा हेतु भी व्यवहितत्व के समान गलत है, जब सामान्य को व्यापक रूप स्वीकार करते हो तो उसमे दूर स्थितपना होना ही अशक्य है। अव्यक्तत्व, व्यवहितत्व, दूरस्थितत्व इन तीन हेतुओ का जिस प्रकार से निरसन किया है उसी प्रकार से अन्य तीन हेतु–अदृश्यत्व, स्वाश्रयेन्द्रियसम्बन्ध विरहत्व और आश्रय समवेत रूपाभावत्व का भी निरसन हुआ समझना चाहिये, क्योंकि व्यक्तियो से सामान्य का अभेद है अतः अदृश्य होने आदि से अन्तराल मे वह उपलब्ध नही होता इत्यादि कथन गलत ठहरता है।

नाप्यदृश्यात्मत्वात्, स्वाश्रयेन्द्रियसम्बन्धविरहात्, आश्रयसमवेतरूपाभावाद्वा, अभेदादेव। तन्न सर्वसर्वगत सामान्यम्।

नापि स्वव्यक्तिसर्वगतम्, प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तत्वेनास्याऽनेकत्वानुषङ्गाद् व्यक्तिस्वरूपवत्। कात्स्न्यैकदेशाभ्या वृत्यनुपपत्तेश्चाऽसत्त्वम्।

भावार्थ— यौग परवादी सामान्य नामा वस्तु को नित्य, सर्वगत एवं एक रूप मानते है, इस पर जैन का चोद्य है कि जब सामान्य सर्वत्र व्यापक आदि स्वभाव वाला है तो वह हमेशा व्यक्तियो मे (गो आदि मे) ही क्यो उपलब्ध होता है व्यक्तियो के अन्तराल मे क्यो नही दिखाई देता ? इसका समाधान यौग ने छह हेतुओ द्वारा करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह समाधान और वे हेतु सामान्य को सर्वगत सिद्ध नही कर पा रहे है। अव्यक्त होने से, व्यवहित होने से, दूर स्थित होने से अन्तराल मे सामान्य उपलब्ध नही होता है ऐसे यौग के हेतुओ का निरसन करके जैनाचार्य कहते है कि इसी तरह अन्य तीन हेतु भी निराकृत होते है, देखो! अदृश्य होने से अन्तराल मे सामान्य उपलब्ध नही होता ऐसा कहना अशक्य है क्योकि व्यक्तियो से सामान्य का अभेद है, जब व्यक्तिया दृश्य है तो तद्गत अभिन्न सामान्य अदृश्य कैसे रह सकता है ? अर्थात् नही। स्व आश्रय मे होने वाले इन्द्रिय सम्बन्ध से रहित होने के कारण अंतराल मे सामान्य दिखायी नही देता ऐसा कहना भी गलत है, क्योकि स्वाश्रयभूत व्यक्तियो का इन्द्रिय सम्बन्ध मौजूद है तो उनमे अभेद रूप से रहने वाले सामान्य का भी इन्द्रिय सम्बन्धपना निश्चित रहेगा, अब वह इन्द्रिय सम्बन्ध सामान्य जब कि एक स्वभाव वाला है तब उसे व्यापक होने के कारण सर्वत्र अन्तरालादि मे भी उपलब्ध होना ही पड़ेगा ? सामान्य का अतराल मे अभाव सिद्ध करने के लिये अंतिम हेतु "आश्रय समवेत रूप अभावात्" दिया था अर्थात् व्यक्तिरूप आश्रय मे समवेत जो रूप है उसका अंतराल मे अभाव है अत वहा सामान्य उपलब्ध नही होता ऐसा कहना भी असत् है सामान्य जब व्यक्ति मे अभिन्नपने से स्थित है तब व्यक्ति का रूप उसमे रहेगा ही तथा सामान्य एक ही स्वभाव वाला एव व्यापक भी है तो अतराल मे (जहा पर व्यक्तिया नही है वहा पर) भी अवश्य ही उपलब्ध होगा। इस प्रकार परवादी के सामान्य का स्वरूप सिद्ध नही होता है।

किञ्च, एकत्र व्यक्तौ सर्वात्मना वर्त्तमानस्यास्यान्यत्र वृत्तिर्न स्यात् । तत्र हि वृत्तिस्तद्देशे गमनात्, पिण्डेन सहोत्पादात्, तद्देशे सद्भावात्, अंशवत्तया वा स्यात् ? न तावद्गमनादन्यत्र पिण्डे तस्य वृत्तिः; निष्क्रियत्वोपगमात् ।

यौग से सामान्य के विषय में दो प्रश्न पहले पूछे थे कि सामान्य नित्य सर्वगत है सो सर्वगत शब्द का अर्थ सर्वसर्वगत है अथवा स्वव्यक्ति सर्वगत है, इनमे से सर्वसर्वगत स्वभाव वाला सामान्य है ऐसा कहना असत् है, यह निश्चित हुआ ।

अब दूसरा पक्ष–स्वव्यक्ति सर्वगत स्वभाव वाला सामान्य है, ऐसा यदि कहे तो वह भी सिद्ध नही होता है, व्यक्तिया तो असंख्याती है, उनमे प्रत्येक में परिसमाप्त रूप से सामान्य रहेगा तो वह अनेकपने को प्राप्त होगा, स्वव्यक्ति मे सर्वगत है इस शब्द का अर्थ तो अपने व्यक्ति मे पूर्ण रूपेण रहना है, इस तरह प्रत्येक मे परिसमाप्तिपने से रहेगा तो अनेक हो ही गया, जैसे व्यक्तियो का स्वरूप अनेक है ! व्यक्तियो के समान सामान्य को अनेक रूप नही स्वीकार करेंगे तो वह उन व्यक्तियों मे एकदेश से या सर्वदेश से रह नही सकता क्योकि "व्यक्तियो मे एकदेश से सामान्य रहता है" ऐसा मानते है तो उस सामान्य के अंश नही मानने से बनता नही, और सर्वदेश से रहना माने तो एक संख्या वाला सामान्य एक व्यक्ति मे सर्वदेश से सम्बन्ध हुआ तो अन्य व्यक्तिया सामान्य रहित हो जायगी ! अतः सामान्य सर्वगतादि स्वभाव वाला सिद्ध नही होता है ।

परवादी सामान्य को निरंश एक मानते है सो जब वह गो आदि व्यक्ति में सर्व रूप से समा जायगा तब अन्य व्यक्तियो मे रह नही सकता, क्योकि उसके अंश तो है नही जिससे कि अन्यत्र चला जाय । यौग से हम जैन का प्रश्न है कि निरंश एक सामान्य अन्य अन्य व्यक्ति मे रहता है सो क्या उस व्यक्ति के देश में जाता है अथवा गो आदि पिण्ड के (गो का शरीर) साथ वहा उत्पन्न होता है, या उस देश में मौजूद रहता है, या कि अश रूप से रहता है ? गमन कर जाने से अन्य अन्य पिड मे उसकी वृत्ति होती है ऐसा प्रथम पक्ष कहना अयुक्त है, क्योकि आपने सामान्य को निष्क्रिय–गमनादि क्रिया रहित माना है ।

किञ्च, पूर्वपिण्डपरित्यागेन तत्तत्र गच्छेत्, अपरित्यागेन वा? न तावत्परित्यागेन; प्राक्तनपिण्डस्य गोत्वपरित्यक्तस्यागोरूपताप्रसङ्गात्। नाप्यपरित्यागेन, अपरित्यक्तप्राक्तनपिण्डस्यास्यानशस्य रूपादेरिव गमनासम्भवात्। न ह्यपरित्यक्तपूर्वाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसङ्क्रान्तिर्दृष्टा।

नापि पिण्डेन सहोत्पादात्, तस्याऽनित्यतानुषङ्गात्। नापि तद्देशे सत्त्वात्, पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र निराधारस्यास्यावस्थानाभावात्। भावे वा स्वाश्रयमात्रवृत्तित्वविरोधः।

नाप्यंशवत्तया, निरंशत्वप्रतिज्ञानात्। ततो व्यक्त्यन्तरे सामान्यस्याभावानुषङ्गः। परेषां प्रयोगः 'ये यत्र नोत्पन्ना नापि प्रागवस्थायिनो नापि पश्चादन्यतो देशादागतिमन्तस्ते तत्राऽसन्तः यथा

दूसरी बात यह है कि सामान्य अन्य गो आदि पिंड मे जाता है वह अपने पहले स्थानभूत गो आदि पिंड का त्याग करके (छोड के) जाता है, अथवा विना त्याग किये जाता है? त्याग करके तो जा नही सकता, यदि जायगा तो पहला पिंड अगोरूप होवेगा, क्योकि उसमे जो गोत्व सामान्य था वह तो अन्य पिंड मे चला गया है? पूर्व गो पिण्ड को बिना त्यागे अन्य गो पिंड मे जाता है ऐसा द्वितीय कथन भी गलत है, जिसने पूर्व पिंड को नही छोडा वह अन्य जगह जा ही नही सकता, क्योकि वह तो रूपादि के समान निरंश है, पूर्व आधारो को विना छोड़े रूपादि धर्मो की अन्य अन्य जगह सक्रमण होना नही देखा जाता है।

गो आदि पिण्ड के साथ गोत्वादि सामान्य उत्पन्न हो जाता है अतः अन्य व्यक्तियो में उसका रहना सिद्ध होता है, ऐसा कहना भी जमता नही, इस तरह कहने से तो सामान्य अनित्य स्वभावी सिद्ध होगा। गो आदि व्यक्तियो के स्थान पर सामान्य का सद्भाव रहता है अत अन्य व्यक्तियो मे उसकी वृत्ति बन जाती है ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योकि गो पिण्ड के उत्पत्ति के पहले उस स्थान पर निराधार भूत इस सामान्य का ठहरना असम्भव है। यदि निराधार मे भी सामान्य का सद्भाव स्वीकार करेगे तो सामान्य अपने आश्रय मात्र ही रहता है ऐसा सिद्धात गलत ठहरता है।

अशवाला होने से अन्य व्यक्तियो मे सामान्य की वृत्ति सिद्ध होती है ऐसा कहना भी गलत है, आपने सामान्य को निरश माना है, इस प्रकार सामान्य व्यक्तियों के अंतराल मे अभाव रूप ही सिद्ध होता है। नित्य सर्वगत स्वभाव वाले सामान्य को नही मानने वाले प्रवादी उक्त सामान्य का निरसन करने के लिये इस प्रकार कहते है— यौग का अभिमत सामान्य असत् रूप ही है, क्योकि वह अनुत्पद्यमान आदि स्वभाव

खरोत्तमाग्रे तद्विषाणम्, तथा च सामान्यं तच्छून्यदेशोत्पादवति घटादिके वस्तुनि' इति । उक्तञ्च—

"न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चाशवत् ।
जहाति पूर्वमाधारमहो व्यसनसन्तति ॥१॥"

[प्रमाणवा० १।१५३]

ये तु व्यक्तिस्वभावं सामान्यमभ्युपगच्छन्ति
"तादात्म्यमस्य कस्माच्चेत्स्वभावादिति गम्यताम् ।" [ ]

वाला है [उत्पत्ति स्वभाव वाला नही है] जो जहा पर उत्पन्न नही हुए है, और पहले भी वहा पर अवस्थित नही थे, एव पीछे किसी समय अन्य स्थान से वहा आये भी नही वे पदार्थ तो सर्वथा असत् ही कहलाते है, जैसे गधे के सिर मे सीग सर्वथा असत् भूत है, वैसे सामान्य भी उत्पाद शील घटादि वस्तु मे न उत्पन्न हुआ है और न पहले से उस स्थान पर था इत्यादि, अतः असद्भूत ही है । यही बात बौद्ध ने प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ मे कही है—गो आदि व्यक्तियों के स्थान पर सामान्य पदार्थ न आता है, न पहले से उस स्थान पर मौजूद था, न कभी व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर पीछे वहा रहता है, तथा उसको अंग युक्त भी नही माना है जिससे कि अन्य अन्य असंख्य व्यक्तियो मे रह सके, अपना पूर्वाधार जो भी हो उसे वह छोड भी नही सकता है, क्योकि इन सब बातो को होने के लिये उसे अनित्य, अव्यापक एवं अनेक रूप मानना पड़ता है, इस प्रकार यह सामान्य तो व्यसन-कष्ट की परपरा ही है ॥१॥

मीमासक भाट्ट ने सामान्य को विशेष का स्वभावभूत स्वीकार किया है, उनका कहना है कि व्यक्ति के स्वभाव भूत ही सामान्य हुआ करता है, कोई भाट्ट को प्रश्न करे कि व्यक्ति के साथ सामान्य का तादात्म्य किस कारण से है तो उसका उत्तर यही होगा कि उसका स्वभाव ही ऐसा है, अर्थात् स्वभाव से ही सामान्य और विशेष का तादात्म्य सम्बन्ध है । किन्तु भाट्ट की इस मान्यता में आपत्ति आती है, देखिये ! यदि सामान्य विशेष भूत व्यक्तियो का स्वभाव है तो वह सामान्य व्यक्ति की तरह असाधारण रूप बन जायगा, एव व्यक्ति के उत्पन्न होने पर उत्पन्न होना और नष्ट होने पर नष्ट होना रूप प्रसग भी आयेगा । इस तरह उक्त सामान्य मे सामान्यपना ही समाप्त होवेगा ।

इत्यभिधानात्, तेषा व्यक्तिवत्तस्यासाधारणरूपत्वानुषङ्गाद् व्यक्त्युत्पादविनाशयोश्चास्यापि तद्योगित्वप्रसङ्गान्न सामान्यरूपता । अथाऽसाधारणरूपत्वमुत्पादविनाशयोगित्व चास्य नाभ्युपगम्यते, तर्हि विरुद्धधर्माध्यासतो व्यक्तिभ्योऽस्य भेद स्यात् ।

"तादात्म्य चेन्मत जातेर्व्यक्तिजन्मन्यजातता ।
नाशेऽनाशश्च केनेष्टस्तद्वच्चानन्वयो न किम् ? ।।२।।

भाट्ट—सामान्य असाधारण स्वरूप नही है तथा व्यक्ति के समान उत्पत्ति और विनाश वाला भी नही है, अर्थात् व्यक्ति के उत्पत्ति और विनाश युक्त होने के कारण सामान्य भी वैसा हो सो बात हमे इष्ट नही है ।

जैन— तो फिर सामान्य और विशेष में विरुद्ध धर्म होने के कारण भिन्नपन्ना ही मानना होगा, क्योकि विशेषभूत व्यक्ति उत्पाद और विनाश युक्त है और सामान्य नही है, यही विरुद्ध स्वभावत्व हुआ इस तरह व्यक्तियो से सामान्य भिन्न रूप सिद्ध होता है ।

अब यहा पर भाट्ट सामान्य के विषय मे अपना पक्ष रखता है— हम भाट्ट मीमासक सामान्य को विशेष का स्वभाव मानते है, किन्तु जैन आदि इसका विशेष के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मानते है, सो व्यक्ति के साथ सामान्य का तादात्म्य सम्बन्ध है तो उस व्यक्ति के उत्पन्न होने पर उत्पन्न होना और नष्ट होने पर नष्ट होना क्यो नही होता है ? अर्थात् जब गोत्व सामान्य का खड मुण्ड आदि व्यक्तियो के साथ तादात्म्य है तो उक्त गो व्यक्तियो के समान गोत्व सामान्य का भी अनन्वय अर्थात् असाधारणपना क्यो नही होगा अवश्य होगा ।

अभिप्राय यह है कि शबली, धवली आदि गो व्यक्तिया और उनमे होनेवाला सास्नादिमत्व रूप सामान्य इनको जैनादिवादी दो रूप बताकर फिर तादात्म्य सम्बन्ध रूप स्वीकार करते है सो उसमे प्रश्न होता है कि जब दोनो एक रूप हो गये तो जैसे शबली आदि गो व्यक्तियो का परस्पर मे अन्वय नही रहता अर्थात् शबली गो धवली मे और धवली गो शबली मे नही होती उसी प्रकार गोत्व सामान्य को उनमे नही होना था ? किन्तु गोत्वादि सामान्य का तो सर्वत्र गो व्यक्तियो मे अन्वय पाया जाता ही है, सो यह क्यो होता है इस प्रश्न का उत्तर जैनादि नही दे पाते ।।१।। यदि गो आदि

व्यक्तिजन्मन्यजाता चेदागता नाश्रयान्तरात् ।
प्रागासीन्न च तद्देशे सा तया सङ्गता कथम् ? ॥३॥

व्यक्तिनाशे न चेन्नष्टा गता व्यक्त्यन्तरं न च ।
तच्छून्ये न स्थिता देशे सा जातिः क्वेति कथ्यताम् ? ॥४॥

व्यक्तेर्जात्यादियोगेपि यदि जाते. स नेष्यते ।
तादात्म्यं कथमिष्ट स्यादनुपप्लुतचेतसाम् ? ॥५॥" [ ]

ततो यदुक्तं कुमारिलेन—

"विपयेण हि बुद्धीना विना नोत्पत्तिरिष्यते ।
विशेपादन्यदिच्छन्ति सामान्य तेन तद्ध्रुवम् ॥१॥

व्यक्ति के जन्म होने पर उसमे गोत्वादि सामान्य जन्म नही लेता, अन्य आश्रयभूत व्यक्ति से वहां आता भी नही, एवं उस व्यक्ति देश मे पहले भी नही था तो वताइये कि व्यक्ति अर्थात् विशेष का जाति अर्थात् सामान्य के साथ तादात्म्य किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता है ॥२॥ विवक्षित एक किसी व्यक्ति के नष्ट होने पर उसमें होने वाला सामान्य नष्ट नही होता है अन्य व्यक्ति मे चला भी नही जाता है, उस व्यक्ति से रहित जो स्थान अवशेप है उसमे भी सामान्य नही ठहरता फिर बताओ कि वह सामान्य किस प्रकार का है ? ॥३॥ यदि व्यक्ति के जन्मादि के होने पर भी सामान्य का जन्म होना आदि सिद्ध नही हो पाता है तो अभ्रान्त चित्त वाले पुरुष उन जाति और व्यक्ति में तादात्म्य किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं ? [अर्थात् नही कर सकते] ॥४॥ कुमारिल नामा ग्रंथकार ने भी कहा है कि ज्ञानो की उत्पत्ति विषय के विना हो नही सकती यह नियम है, अनुगताकार ज्ञान [यह गो है, यह गो है इत्यादि समानाकार प्रतिभास] भो विना विषय के होना शक्य नही अत. इन ज्ञानों का विषय विशेप से पृथक् अन्य कोई सामान्य है ऐसा जैनादि वादी का कहना है, अनुगताकार बुद्धि विपय के विना उत्पन्न होगी तो वह मिथ्या ही कहलायेगी, क्योकि विषय के विना जो हो वह असत् प्रतिभास माना जाता है, सो यह बात तो ठीक है किन्तु सामान्य व्यक्ति मे स्वभाव से हो है उससे अनुगताकार ज्ञान होगा ही उसके लिये सामान्य का विशेप में तादात्म्य मानना ही जरूरी हो सो वात नही और न वैशेपिक

ता हि तेन विनोत्पन्ना मिथ्याः स्युर्विषयादृते ।
न त्वन्येन विना वृत्तिः सामान्यस्येह दुष्यति ॥२॥"

[मी० श्लो० आकृति० श्लो० ३७–३८]

इति, तन्निरस्तम्, नित्यसर्वगतसामान्यस्याश्रयादेकान्ततो भिन्नस्याभिन्नस्य वाऽनेकदोषदुष्टत्वेन प्रतिपादितत्वात् । अनुगतप्रत्ययस्य च सदृशपरिणामनिबन्धनत्वप्रसिद्धेः । स चानित्योऽसर्वगतोऽनेकव्यक्त्यात्मकतयाऽनेकरूपश्च रूपादिवत्प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धः । ततो भट्टेनायुक्तमुक्तम्—

"पिण्डभेदेषु गोबुद्धिरेकगोत्वनिबन्धना ।
गवाभासैकरूपाभ्यामेकगोपिण्डबुद्धिवत् ॥१॥"

[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४४]

के समवाय की यहा आवश्यकता है अर्थात् व्यक्ति मे जाति (सामान्य) न तादात्म्य सम्बन्ध से है और न समवाय सम्बन्ध से है किन्तु स्वभाव से ही है, ऐसा सामान्य का स्वरूप मानने मे दोष भी नही आता ॥१–२॥ इस प्रकार का मीमासक का मतव्य जैन को मान्य नही है, क्योकि इस बात को हम भली प्रकार से प्रतिपादन कर आये है कि नित्य तथा सर्वगत स्वभाव वाला सामान्य अपने आश्रयभूत व्यक्ति से न सर्वथा भिन्न रूप सिद्ध होता है और न सर्वथा अभिन्न स्वभाव रूप ही सिद्ध होता है, उसमे तो व्यक्ति और जाति का एकत्व हो जाना, इत्यादि अनेक दोष भरे है जो पहले बता आये है (अर्थात् गो व्यक्ति से गोत्व सामान्य सर्वथा अभिन्न स्वभाव रूप है तो गो व्यक्ति के उत्पन्न होते ही उत्पन्न होगा और नष्ट होने पर नष्ट होगा, सो ऐसा मानने से सामान्य अनित्य और असर्वगत सिद्ध होता है तथा गो व्यक्ति से गोत्व सामान्य को सर्वथा पृथक् मानते है तो व्यक्तियो के अन्तराल मे भी गोत्व की प्रतीति होनी चाहिये इत्यादि) जैन के ऊपर यह सब दूषण नही आते है क्योकि हमारे यहा तो अनुगताकार ज्ञान का हेतु सदृश परिणाम माना है अर्थात् गो आदि व्यक्तियो मे गोत्व आदि सामान्य धर्म हुआ करते है उन्हीके निमित्त से अनेको व्यक्तियो मे समानता का बोध हो जाया करता है । वह सदृश परिणाम स्वरूप सामान्य अनित्य एव असर्वगत है, तथा अनेक व्यक्ति स्वरूप होने से अनेक भी है यह तो रूप, रसादि के समान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रतिभासित हो रहा है, बिलकुल प्रत्यक्ष सिद्ध बात है । अत· भट्ट ने जो कहा है वह खण्डित होता है, उसी भट्ट का मतव्य प्रस्तुत करते है—शबल, धवल आदि अनेक

यच्चेदमुक्तम्—

"न शावलेयाद्गोबुद्धिस्ततोऽन्यालम्बनापि वा।
तदभावेपि सद्भावाद् घटे पार्थिवबुद्धिवत्॥"
[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४]

तत्सिद्धसाधनम्; व्यक्तिव्यतिरिक्तसदृशपरिणामालम्बनत्वात्तस्याः।

यच्च सामान्यस्य सर्वगतत्वसाधनमुक्तम्—

गो पिण्डो मे जो गो बुद्धि होती है वह एक गोत्व सामान्य के निमित्त से ही होती है, क्योकि उनमे गो का प्रतिभास है तथा एक रूप है, जैसे कि एक गोपिंड मे एक बुद्धि होती है ॥१॥ इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि जैसे एक गो मे एकत्व रूप ज्ञान होता है वैसे अनेक गो व्यक्तियो मे भी एक गोत्व रूप ही तो प्रतिभास होता है अतः सामान्य को एक रूप माना है।

और भी कहा है—

अनेक गो व्यक्तियों में जो गोत्व प्रतिभास होता है वह न शाबलेय गो से होता है और न अन्य किसी से होता है, क्योंकि शाबलेय आदि गो के अभाव मे भी उसका सद्भाव देखा जाता है, जिस प्रकार कि घट मे मिट्टीपने का प्रतिभास हुआ करता है, अर्थात् काला घट, लाल घट आदि मे जो घटत्व का बोध है वह न काले घट के कारण है और न लाल घट के कारण है वह तो सब घटो मे व्यापक, एक सामान्य घटत्व रूप मिट्टीपने के कारण ही है, ठीक इसी प्रकार शाबलेय गो, बाहुलेय गो आदि मे जो गोत्व का बोध है वह न शाबलेय के कारण है और न बाहुलेय के कारण है वह तो एक, व्यापक सामान्य के कारण ही होता है ॥१॥ सो इस भट्ट के मतव्य पर हम जैन का कहना है कि जिस प्रकार आप शाबलेयादि गो व्यक्ति को गोत्व प्रतिभास का कारण नही मान रहे उसी प्रकार हम भी गो व्यक्ति को गोत्व सामान्य के प्रतिभास का कारण नही मानते किन्तु गो व्यक्ति से अतिरिक्त जो सदृश परिणाम है वही गोत्व प्रतिभास का कारण है अत. उपर्युक्त कथन सिद्ध साधन [सिद्धको ही सिद्ध करना] रूप होता है।

मीमासक सामान्य को सर्वगत सिद्ध करने के लिये अपना लबा पक्ष उपस्थित करते है—प्रत्येक व्यक्ति मे समवेत रूप से रहने वाले पदार्थ को विषय करने वाली गो

"प्रत्येकसमवेतार्थविषया वाथ गोमति ।
प्रत्येक कृत्स्नरूपत्वात्प्रत्येक व्यक्तिबुद्धिवत् ।।१।।"
[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४६]

प्रयोग·—येय गोबुद्धि· सा प्रत्येकसमवेतार्थविषया प्रतिपिण्ड कृत्स्नरूपपदार्थाकारत्वात् प्रत्येकव्यक्तिविषयबुद्धिवत् । एकत्वमप्यस्य प्रसिद्धमेव, तथाहि–यद्यपि सामान्य प्रत्येक सर्वात्मना परिसमाप्त तथापि तदेकमेवैकाकारबुद्धिग्राह्यत्वात्, यथा नञ्युक्तवाक्येषु ब्राह्मणादिनिवर्त्तनम् । न चेय मिथ्या, कारणदोषबाधकप्रत्ययाभावात् । उक्तञ्च—

"प्रत्येकसमवेतापि जातिरेकैकबुद्धित. ।
नञ्युक्तेष्विव वाक्येषु ब्राह्मणादिनिवर्त्तनम् ।।१।।

बुद्धि हुआ करती है, क्योकि वह एक एक व्यक्ति मे पूर्ण रूप से अनुभव मे आती है, जैसे एक एक गो व्यक्ति मे गो बुद्धि पूर्ण रूप से अनुभवित होती है ।।१।।

अनुमान प्रमाण इसी बात को सिद्ध करता है—जो यह "गो है गो है" इस प्रकार का अनुगत प्रतिभास होता है वह प्रत्येक गो व्यक्ति मे समवेत हुए गोत्व सामान्य का विषय करने वाला है, क्योकि व्यक्ति व्यक्ति के प्रति कृत्स्नरूपेन मौजूद जो सामान्य पदार्थ है उसके आकार रूप है, जैसे कि एक एक व्यक्ति को विषय करने वाला प्रतिभास या ज्ञान प्रत्येक मे पूर्णरूपेन मौजूद व्यक्ति के आकार रूप ही होता है । इस सर्वगत सामान्य का एकत्व भी प्रमाण प्रसिद्ध है । अब सामान्य का एकपना अनुमान से सिद्ध करते है—यद्यपि सामान्य प्रत्येक गो आदि व्यक्ति मे सर्वात्मना परिसमाप्त होकर रहता है तो भी वह एक ही है, क्योकि "यह गो है, यह गो है" इस प्रकार की एकपने की बुद्धि द्वारा ग्राह्य होता है, जैसे नञसमास से सयुक्त वाक्यो मे ब्राह्मणादि एक ही पदार्थ का व्यावर्त्तन होता है अर्थात् "यह ब्राह्मण नही है यह ब्राह्मण नही है"। इत्यादि वाक्यो मे एक ब्राह्मणत्व का प्रतिषेध ग्राह्य होता है, इस एकत्व के प्रतिभास को मिथ्या भी नही कह सकते, क्योकि इस ज्ञान मे इन्द्रियादि कारण सदोष नही है और न बाधक प्रत्यय ही है । इसी विषय को आगे और भी कहते है— प्रत्येक व्यक्ति मे समवेत हुई भी वह जाति (सामान्य) एक रूप ही है, क्योकि एक एक व्यक्ति मे ऐसी ही बुद्धि होती है, जैसे कि नञ समास प्रयुक्त वाक्यो मे—न ब्राह्मण: अब्राह्मण, यह ब्राह्मण नही है अथवा यह अब्राह्मण है इत्यादि वाक्यो मे एक ब्राह्मणत्व का व्यावर्त्तन

नैकरूपा मतिर्गोत्वे मिथ्या वक्तुं च शक्यते ।
नात्र कारणदोषोस्ति बाधकप्रत्ययोपि वा ।।२।।"

[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४७-४९]

तदप्युक्तिमात्रम्; प्रतिपिण्डं कृत्स्नरूपपदार्थाकारत्वस्य सदृशपरिणामाविनाभावित्वेन साध्यविपरीतार्थे साधनस्य विरुद्धत्वात् । नित्यैकरूपप्रत्येकपरिसमाप्तसामान्यसाधने दृष्टान्तस्य साध्यविकलता । तथाभूतस्य चास्य सर्वात्मना बहुषु परिसमाप्तत्वे सर्वेषा व्यक्तिभेदानां परस्परमेकरूपतापत्तिः एकव्यक्तिपरिनिष्ठितस्वभावसामान्यपदार्थसंसृष्टत्वात् एकव्यक्तिस्वरूपवत् । सामान्यस्य वानेकत्वापत्ति, युगपदनकैवस्तुपरिसमाप्तात्मरूपत्वात् दूरतरदेशावच्छिन्नानेकभाजनगतबिल्वादि-

---

हुआ करता है ।।१।। गोत्व रूप सामान्य विषय मे उत्पन्न हुई इस एकत्व बुद्धि को मिथ्या भी नही कह सकते, क्योकि इस बुद्धि के कारण जो इन्द्रियादि है उनमे सदोषता नही है तथा इस बुद्धि को बाधित करने वाला अन्य ज्ञान भी नही है ।।२।।

जैन—मीमासक का यह अनुमानिक कथन गलत है, इस अनुमान का कृत्स्न रूप पदार्थाकारत्व नामा हेतु (गोत्वादि सामान्य कृत्स्न रूप से पदार्थ के आकार होना) साध्य जो सर्वगतत्व है उससे विरुद्ध असर्वगतत्व को सिद्ध कर देता है, यह हेतु तो सहश परिणाम का अविनाभावी है परवादी सामान्य को नित्य, एक तथा प्रत्येक व्यक्ति मे परिसमाप्त होना रूप सिद्ध करना चाहते है, किन्तु हष्टात मे ऐसी बात नही होने से वह साध्य विकल ठहरता है । अर्थात् गो है, गो है, इस प्रकार का अनुगताकार ज्ञान एक एक व्यक्ति के प्रति समवेत हुए सामान्य को विषय करने वाला है ऐसा साध्य है वह "जैसे प्रत्येक व्यक्ति को विषय करने वाला ज्ञान" इस प्रकार के हृष्टांत मे पाया नही जाता है । सर्वथा एकत्व रूप माना गया यह सामान्य यदि सर्वात्मना बहुत से गो आदि विशेषो मे परिसमाप्त होकर रहता है तो सपूर्ण गो व्यक्तियो के भेद परस्पर में एक मेक हो जायेगे, क्योकि उन सभी व्यक्तियो ने एक व्यक्ति में परिनिष्ठित स्वभाव वाले सामान्य पदार्थ के साथ अभिन्न सश्लेष किया है, जैसे कि एक व्यक्ति का स्वरूप उसमे परिनिष्ठ होने से एक मेक होता है, अथवा सामान्य मे अनेकपने का प्रसंग आता है, देखिये ! आपका वह सामान्य एक साथ अनेक वस्तुओ में परिसमाप्त होकर रहता है अतः अनेक ही है, जैसे कि भिन्न भिन्न दूर स्थानो मे स्थित अनेक बर्तनो मे रखे हुए बेल, आंवला आदि फल एक साथ अनेक बर्तनों में मौजूद होने से अनेक ही

फलवत् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—'नात्र बाधकप्रत्ययोस्ति' इति; प्राक्प्रतिपादितप्रकारेणानेकबाधकप्रत्ययोपनिपातात् । प्रत्येकसमवेतायाश्च जातेरसिद्धत्वात् 'एकबुद्धिग्राह्यत्वात्' इत्याश्रयासिद्धो हेतु.। स्वरूपासिद्धश्च, अबाधसादृश्यबोधाधिगम्यत्वेनैकाकारप्रत्ययग्राह्यत्वस्यासिद्धेः । ब्राह्मणादिनिवृत्तिश्च परमार्थतो नैकरूपास्तीति साध्यविकलमुदाहरणम् ।

एतेन यदुक्तमुद्द्योतकरेण–"गवादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययः पिण्डादिव्यतिरिक्तान्निमित्ताद्भवति विशेषकत्वान्नीलादिप्रत्ययवत् । तथा गोतोऽर्थान्तर गोत्व भिन्नप्रत्ययविषयत्वाद्रूपादिवत् तस्येति च

हुआ करते है । अतः मीमासक ने जो कहा कि "सामान्य को एकत्व सिद्ध करने मे कोई बाधक प्रमाण नही है" सो गलत वात है, सामान्य को एकत्वरूप मानने मे अनेक बाधक प्रमाण मौजूद है व्यक्ति व्यक्ति के प्रति समवेत रूप रहने वाले सामान्य की असिद्धि होने से भी एकाकार बुद्धि ग्राह्यत्व नामा हेतु आश्रयासिद्ध बन जाता है, इसका विवरण करते है–सामान्य एक रूप है, क्योकि वह एकाकार बुद्धि ग्राह्य है, इस प्रकार के पूर्वोक्त अनुमान मे सामान्य रूप जो पक्ष है वह असिद्ध होने से एकाकार बुद्धि ग्राह्यत्व हेतु आश्रयासिद्ध नामा सदोष हेतु कहलाता है । एकाकार बुद्धि ग्राह्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध दोष युक्त भी है, अब इसीको बताते है—यह गो इसके समान है" इस प्रकार का सादृश्य ज्ञान होता हुआ देखा जाता है और सादृश्य अनेक मे होता है, इस तरह के सादृश्य रूप अबाधित ज्ञान के द्वारा सामान्य ग्रहण होता है अत सामान्य मे एकाकार बुद्धि ग्राह्यपना असिद्ध ही हो जाता है । सामान्य को एकरूप सिद्ध करने के लिये मीमासक ने नञ समास युक्त अब्राह्मणत्व आदि वाक्यो मे जैसे ब्राह्मणादि की निवृत्ति हो जाती है इत्यादि उदाहरण दिया था वह भी साध्य से रहित है, वह ब्राह्मणादि का अभाव परमार्थत एक रूप नही है, अर्थात् यह क्षत्रिय जाति का है ब्राह्मण नही है अथवा यह वैश्य जाति का है ब्राह्मण नही है इत्यादि रूप से अभाव भी अनेक प्रकार का हुआ करता है, एक प्रकार का नही जिससे कि वह सामान्य को एक रूप सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त बन सके ।

मीमासक के मीमासाश्लोक वार्तिक ग्रन्थ के उपर्युक्त अनुमान वाक्यो के खण्डित होने से ही नैयायिक के उद्योतकर रचित न्याय वार्तिक ग्रन्थ के अनुमान वाक्यो का खण्डन हुआ समझना चाहिये, उद्योतकर का अनुमान है कि शबल आदि गो व्यक्तियों मे जो अनुवृत्त प्रत्यय होता है वह उन गो व्यक्तियो से भिन्न अन्य किसी

व्यपदेशविषयत्वात्, यथा चैत्रस्याश्वश्चैत्राद्व्यपदिश्यमानः" [न्यायवा० पृ०.३३३] इति; तन्निरस्तम्; अनुवृत्तिप्रत्ययस्य हि सामान्येन पिण्डादिव्यत्तिरिक्तनिमित्तमात्रसाधने सिद्धसाध्यतानुषङ्गात्, सदृश-परिणामनिबन्धनतयाऽस्याभ्युपगमात् । नित्यैकानुगामिसामान्यनिबन्धनत्वसाधने दृष्टान्तस्य साध्य-विकलता । न ह्येवम्भूतेन क्वचिदन्वयः सिद्धः ।

न चानुगतज्ञानोपलम्भादेव तथाभूतसामान्यसिद्धिः । यत किं यत्रानुगतज्ञान तत्र सामान्य-सम्भवः प्रतिपाद्यते, यत्र वा सामान्यसम्भवस्तत्रानुगतज्ञानमिति ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; गोत्वादि-

---

निमित्त से होता है (अर्थात् सामान्य के निमित्त से होता है) क्योकि वह विशेषक है–भेद रूप है, जैसे नील, पीत आदि प्रत्यय भेद रूप है ।

इसी प्रकार सामान्य को विशेषो से भिन्न तथा नित्य सर्वगत सिद्ध करने के लिये उद्योतकर ग्रन्थकार द्वितीय अनुमान उपस्थित करते है कि गोत्व (गोपना–सास्नादिपना) गो व्यक्तियो से भिन्न हुआ करता है, क्योकि भिन्न प्रतीति का विषय है, जैसे नील, पीत इत्यादि रूप भिन्न प्रतिभास के विषय है, तथा गो व्यक्ति का यह गोपना है इत्यादि सम्बन्ध रूप व्यपदेश गो व्यक्ति और गोत्व मे पाया जाता है इस कारण से भी गोत्व सामान्य व्यक्तियो से पृथक् एकत्व सर्वगत सिद्ध होता है, "चैत्र नामा पुरुष का यह अश्व है" इत्यादि वाक्य में जिस प्रकार भिन्न व्यपदेश हुआ करता है ।

सो यह उद्योतकर का मंतव्य भी निराकृत हो जाता है, ये नैयायिकादि परवादी यदि गो व्यक्तियो के अतिरिक्त निमित्त मात्र से अनुवृत्तप्रत्यय होना स्वीकार करते हैं तो हम जैन के लिये सिद्धसाध्यता है, क्योकि हम भी सदृश परिणाम रूप निमित्त से गोत्व आदि अनुवृत्तप्रत्यय होता है ऐसा मानते है । यदि ये परवादी नित्य, एक, सर्वगत सामान्य रूप निमित्त से अनुवृत्तप्रत्यय होना स्वीकार करते है तब तो अयुक्त है, क्योंकि इस तरह की स्वीकृति में दृष्टांत साध्य विकल ठहरता है, इसीका खुलासा करते हैं—गो व्यक्तियो मे गोत्व रूप अनुवृत्त प्रत्यय गो से पृथक् जो नित्य एक सामान्य है उसके निमित्त से होता है, जैसे नीलादि प्रत्यय विभिन्न निमित्त से हुआ करते है, सो इसमे ऐसा अन्वयअविनाभाव नही है कि जो जो विभिन्न प्रत्यय हो वह वह नित्य, एक, अनुगामी रूप सामान्य के निमित्त से ही हो ।

सामान्येषु 'सामान्य सामान्यम्' इत्यनुगताकारप्रत्ययोपलम्भेनाऽपरसामान्यकल्पनाप्रसङ्गात् । न चात्रासौ प्रत्ययो गौण", अस्खलद्वृत्तित्वेन गौणत्वासिद्धेः । तथा प्रागभावादिष्वप्यभावेषु 'अभावोऽभाव" इत्यनुगतप्रत्ययप्रवृत्तिरस्ति, न च परैरभावसामान्यमभ्युपगतम् । न खलु तत्रानुगाम्येकं निमित्तमस्त्यन्यत्र सदृशपरिणामात् ।

ननु चापरसामान्यस्य प्रागभावादिष्वभावेपि सत्ताख्य महासामान्यमस्ति, तद्वलादेवाभावप्रत्ययोऽनुगतो भविष्यति । उक्तञ्च—

अनुगताकार ज्ञानो के उपलब्ध होने मात्र से ही नित्य सर्वगत सामान्य की सिद्धि होती हो सो भी बात नही है, नैयायिकादि से जैन का प्रश्न है कि आप लोग जहा पर अनुगत ज्ञान होता है वहा पर सामान्य का सभव बतलाते है अथवा जहा पर सामान्य है वहा पर अनुगत ज्ञान होना बतलाते है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, यदि जहा पर ही अनुगत ज्ञान हो वही सामान्य है ऐसा नियम बनाते है तो गौत्व सामान्य, पटत्व सामान्य, घटत्व सामान्य इत्यादि अनेक सामान्यो मे जो यह सामान्य है, यह सामान्य है, इस प्रकार का अनुगताकार ज्ञान होता है, वह किस सामान्य के निमित्त से होगा ? उसके लिये अन्य सामान्य की कल्पना करनी पड़ेगी ? घटत्व, पटत्व, गोत्व आदि मे जो अनुगत प्रत्यय होता है उसे गौण या कल्पित भी नही कह सकते है, क्योकि यह प्रत्यय भी गो व्यक्तियो मे गोत्व के समान अस्खलत्–निर्दोष रूप से अनुभव मे आता है, और भी स्थानो पर अनुगत प्रत्यय उपलब्ध होता है, देखिये ! यह अभाव है, यह अभाव है, इस प्रकार प्रागभाव, प्रध्वंसाभावादि अभावो मे भी अनुगतप्रत्यय होता ही है, नैयायिकादि ने अभाव सामान्य तो कोई माना ही नही है, जिससे अभावो मे अभावत्व का अनुगत ज्ञान हो जाय । उन प्रागभाव आदि मे सदृश परिणाम को छोडकर नित्य, एक अनुगामी ऐसा कोई निमित्त तो दिखायी नही देता है ।

शका—प्रागभाव आदि अभावो मे यद्यपि अपर सामान्य तो नही है, किन्तु सत्ता नामा महासामान्य है उसके निमित्त से ही इन अभावों मे अनुगतप्रत्यय हो जायगा, कहा भी है कि—जैनादिवादी यदि प्रश्न करे कि गो आदि व्यक्तियो मे अनुगतप्रत्यय सामान्य निमित्त से होता है तो प्रागभावादि मे किस निमित्त से होगा ? क्योंकि उनमे सामान्य नही है सो उसका समाधान यही है कि अभावो मे अनुत्पत्ति, एक, नित्य इत्यादि सामान्य के समान धर्म वाली जो सत्ता है उसके निमित्त से अनुगत-

"ननु च प्रागभावादौ सामान्य वस्तु नेष्यते ।
सत्तैव ह्यत्र सामान्यमनुत्पत्त्यादिरूपता" ॥१॥

[मी० श्लो० अपोहवाद श्लो० ११]

अनुत्पत्त्यादिविशिष्टेत्यर्थ. । तदयुक्तम्; अभिप्रेतपदार्थव्यतिरिक्तानां मतान्तरीयार्थानाम् उत्पाद्यकथार्थाना वाऽभावप्रतीतिविषयतोपलम्भेन सत्त्वप्रसङ्गात् । तत्राभावेष्वनुवृत्तप्रतीतेरनुगाम्येकसामान्यनिबन्धनत्वमस्तीत्यन्यत्राप्यस्यास्तन्निबन्धनत्वाभावः । प्रयोगः—ये क्रमित्वानुगामित्ववस्तुत्वोत्पत्तिमत्त्वसत्त्वादिधर्मोपेतास्तेप्रत्यया: परकल्पितनित्यैकसर्वगतसामान्यनिबन्धना न भवन्ति यथाऽभावेष्वभावोऽभाव इति प्रत्ययाः, सामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति प्रत्यया वा, तथा चामी प्रत्यया इति ।

प्रत्यय होता है ॥१॥ इस प्रकार अभावो मे अनुगत ज्ञान का निमित्त भी हमारे यहा प्रतिपादित किया ही है ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है । आपके अभिमत जो द्रव्य, गुण आदि पदार्थ है उनको छोड़कर अन्य मत मे माने गये अद्वैतादि रूप पदार्थ एवं लोक व्यवहार में विचित्र कथाओ मे व्यावर्णित जो पदार्थ है वे सब आपको अभाव ज्ञान के विषय रूप से उपलब्ध होते ही है अतः इन सब पदर्थों की सत्ता स्वीकार करनी होगी ? क्योकि आपने अभी अभी कहा है कि प्रागभाव आदि अभावो में सत्ता नामा महा सामान्य रहता है इसलिये आपको अभावो में अनुगतप्रत्यय अनुगामी एक सामान्य के निमित्त से होता है ऐसा नहीं कहना चाहिए । और जब अभावो मे अनुगत प्रत्यय नित्य एक रूप सामान्य के निमित्त से सिद्ध नही होता तो अन्य गो, घट, पट इत्यादि व्यक्तियो मे भी नित्य, एक, सर्वगत सामान्य के निमित्त से अनुगतप्रत्यय होना सिद्ध नही हो पाता है । अनुमान से इसी बात को सिद्ध करते है—जो प्रत्यय (ज्ञान) क्रमिकपना, अनुगामीपना, वस्तुपना, उत्पत्तिमानपना, सत्वपना इत्यादि धर्मों से युक्त होते है वे प्रत्यय नैयायिकादि परवादी द्वारा परिकल्पित नित्य, एक, सर्वगत सामान्य के निमित्त से नही हुआ करते है, जैसे प्रागभाव आदि अभावो मे "अभाव है यह अभाव है" इस प्रकार के प्रत्यय सर्वगत भूत सामान्य से नही होते, अथवा गोत्व, घटत्व आदि सामान्यो मे यह सामान्य है, यह सामान्य है इस प्रकार के ज्ञान होते है वे नित्य, एक सर्वगत सामान्य निमित्तक नही होते है उसी प्रकार क्रमिकत्व आदि रूप प्रत्यय भी सामान्य निमित्तक नही है ।

अथ यत्र सामान्यं तत्रैवानुगतज्ञानकल्पना, न; पाचकादिषु तदभावेप्यनुगतप्रत्ययप्रवृत्तेः। न खलु तत्रानुगाम्येक सामान्यमस्ति यत्प्रसादात्तत्प्रवृत्तिः स्यात्। निमित्तान्तरमस्तीति चेत्तत्किं कर्म, कर्मसामान्य वा स्यात्, व्यक्तिः, शक्तिर्वा ? न तावत्कर्म, तस्य प्रतिव्यक्ति विभिन्नत्वात्। 'विभिन्न ह्यऽभिन्नस्य कारण न भवति' इति सर्वोयमारम्भ। तच्चेद्भिन्नमपि तथाभूतकार्यकारण तदान्यत्र कः प्रद्वेष ?

किञ्च, तत्कर्म नित्य वा स्यात्, अनित्य वा ? न तावन्नित्यम्, तथानुपलब्धेरनभ्युपगमाच्च। अनित्य तु न सर्वदा स्थितिमदिति विनष्टे तस्मिन्न तथाभूतो व्यपदेशो ज्ञान वा स्यात्, अपचत. क्रियाविरहात्। पचन्नेव हि तथा व्यपदिश्येत नान्यदा। तन्न कर्मतस्य प्रत्ययस्य निबन्धनम्।

इस प्रकार जहा पर अनुगताकार ज्ञान होता है वहा पर सामान्य रहता है ऐसे प्रथम पक्ष का निरसन किया, अब द्वितीय पक्ष–जहा पर सामान्य होता है वहा पर अनुगताकार ज्ञान होता है, ऐसा माना जाय तो वह भी गलत है, पाचक [रसोइया] याजक आदि पुरुषो मे सामान्य नही है तो भी "यह पाचक है, यह पाचक है" इत्यादि रूप अनुगतप्रत्यय होता ही है। उन पाचकादि मे अनुगामी, एक सामान्य दिखायी तो नही देता, जिसके प्रसाद से अनुगताकार ज्ञान प्रवृत्त होवे। तुम कहो कि पाचकादि मे अनुगतप्रत्यय होने के लिये अन्य निमित्त मौजूद है, सो वह निमित्त कौनसा होगा, कर्म, कर्म सामान्य, शक्ति अथवा व्यक्ति ? कर्म अर्थात् पचनादि क्रिया उसके निमित्त से पाचकादि मे अनुगत ज्ञान होता है ऐसा कहना जमता नही, क्योकि पचनादि क्रिया तो प्रत्येक चैत्र, मैत्र आदि पुरुषो मे भिन्न भिन्न ही देखी जाती है। जो भिन्न भिन्न रूप होता है वह अभिन्न का कारण नही हुआ करता, यह सर्व जन सामान्य नियम है। यदि प्रति व्यक्ति की क्रिया विभिन्न होकर भी सपूर्ण व्यक्तियो मे अभिन्न रूप अनुगत ज्ञान करा देती है तो फिर जैन मत मे स्वीकृत प्रति व्यक्ति मे भिन्न ऐसे सदृश परिणाम द्वारा भी अनुगत ज्ञान होना सहज सभव है, उसको मानने मे आपको द्वेष क्यो हो रहा है ?

दूसरी बात यह है कि वह पाचकादि का पचनादि रूप कर्म नित्य है या अनित्य है ? नित्य तो कह नही सकते, क्योकि पाचकादि पुरुष पचनादि क्रिया को [रसोइया रसोई रूप कार्य को] सतत करता हुआ उपलब्ध नही होता है, तथा आपने ऐसा माना भी नही है। आपके सिद्धान्त मे तो शब्द, बुद्धि और कर्म अर्थात् क्रिया इन तीनो को मात्र तीन क्षण तक अवस्थित माना है। पचनादि क्रिया अनित्य

नापि कर्मसामान्यम्, तद्धि कर्माश्रितम्, कर्माश्रयाश्रित वा ? यदि कर्माश्रितम्, कथमन्यत्र ज्ञान जनयेत् ? न ह्यन्यत्र वृत्तिमदन्यत्र ज्ञानकारणमतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, कर्मसामान्यात् 'पाकः पाकः' इति प्रत्ययः स्यान्न पुनः 'पाचक पाचकः' इति । अथ कर्माश्रयाश्रितम्, तन्न, कर्माश्रितत्वात् । परम्परया कर्माश्रयाश्रित तत्, इत्यसारम्, अपचतः कर्मविवेकात् । विविक्ते च कर्मणि न कर्मत्वं कर्मणि तदाश्रये वाऽऽश्रितम्, अनाश्रित च कथ तत्त्र तथाज्ञानहेतुः स्यात् ?

है ऐसा कहो तो वह सदा ठहरने वाली नही रही, फिर जब वह क्रिया नही होगी तब उस पाचकादि पुरुषो मे "यह पाचक है" इस प्रकार का व्यपदेश अथवा अनुगत ज्ञान नही हो सकेगा ? क्योकि जो पका नही रहा है उसमे क्रिया का अभाव है । जब पकाता है तभी "पाचक है" ऐसी संज्ञा होती है अन्य समय मे नही, अतः सिद्ध हुआ कि पचनादि क्रिया पाचक है, पाचक है इत्यादि अनुगत ज्ञान का निमित्त नही है । कर्म सामान्य अर्थात् क्रिया मात्र ही पाचक है इत्यादि रूप अनुगत ज्ञान का निमित्त है ऐसा द्वितीय पक्ष भी ठीक नही है, यह सामान्य कर्म कर्म के आश्रित है, अथवा कर्म जिसमें हो रहा है उस पुरुष के आश्रित है ? यदि कर्म के आश्रित है तो कर्म के आश्रयभूत जो पुरुष है उसमे अनुगत ज्ञान को कैसे पैदा करा देगा ? अन्य जगह रहने वाला पदार्थ अन्य जगह ज्ञान का कारण नही हुआ करता, यदि मानो तो अतिप्रसग होगा फिर तो ऐसा भी कह सकते है कि घर मे रहने वाला दीपक गुफा में ज्ञान का कारण है । तथा यह भी बात है कि कर्म सामान्य (पचनादि क्रिया) से तो यह पाक है, पाक है (भोजन पकता है) इत्यादि रूप अनुगत ज्ञान होगा न कि यह पाचक है, पाचक है इत्यादि रूप । क्रिया के आश्रयभूत पुरुष मे कर्म सामान्य आश्रित रहता है ऐसी दूसरी बात भी गलत है कर्म सामान्य तो कर्म के ही आश्रित रहता है ।

शका— कर्म सामान्य तो कर्म मे रहता है और कर्म पुरुष के आश्रित रहता है ऐसा परम्परा आश्रय माना है ?

समाधान— यह कथन असार है, जो पुरुष पकाने का काम नही कर रहा है उससे पचन कर्म पृथक् हो जाता है, जब वह कर्म समाप्त या पृथक् होता है तब वह कर्म सामान्य कर्म या कर्म के आश्रयभूत पुरुष मे आश्रित नही रहता है, इस प्रकार अनाश्रित वह कर्मत्व सामान्य देवदत्तादि पुरुष मे "यह पाचक है" इत्यादि ज्ञानका हेतु कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता ।

अथाऽपचतोऽतीतानागते कर्मणी तथाव्यपदेशज्ञाननिबन्धन न कर्मत्वम्, ननु सती, असती वा ते तन्निबन्धन स्याताम् । न तावत्सती, अतीतस्य प्रच्युतत्वादनागतस्य चालब्धात्मस्वरूपत्वात् । असती च कथ कस्यापि निबन्धनमतिप्रसङ्गात् ? तन्न कर्मत्वमपि तत्प्रत्ययस्य निबन्धनम् ।

नापि व्यक्तिः, अनिष्टेर्विभिन्नत्वाच्च ।

नापि शक्ति , सा हि पाचकादन्या, अनन्या वा स्यात् ? अनन्यत्वे तयोरन्यतरदेव स्यात् । अन्यत्वे च अस्या एव कार्योपयोगित्वेन कर्त्तुरकर्त्तृत्वानुषङ्गः । अथ पारम्पर्येणोपयोग.—कर्त्ता हि

शका—पचन क्रिया को नही करने वाले पुरुप के भी "पाचक है" ऐसा नाम तथा ज्ञान होता है, उसमे कारण कर्म सामान्य नही है किन्तु उस पुरुप मे अतीतकाल मे जो पचन कर्म विद्यमान था और आगामी काल मे होगा उस कर्म के निमित्त से "यह पुरुष पाचक है" ऐसा नाम तथा ज्ञान हो जाया करता है । मतलब यही है कि वर्त्तमान काल मे भले ही वैसी क्रिया नही कर रहा हो किन्तु अतीतादिकाल मे होने वाली क्रिया के निमित्त से उस पुरुप को उस नाम से पुकारते हैं, एवं वैसा अनुगत ज्ञान भी हो जाया करता है ?

समाधान—अच्छा ! तो बताइये कि वह अतीतादि कालीन पचनादि क्रिया सत रूप होकर 'पाचक है" इत्यादि नाम तथा ज्ञान का हेतु है, अथवा असत् रूप होकर हेतु है ? सत् रूप होकर नामादि का हेतु बनती है ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि अतीतकालीन क्रिया नष्ट हो चुकी है और अनागत क्रिया अभी उत्पन्न ही नही हुई है । और असत् रूप क्रिया किस प्रकार किसी नामादि का हेतु बन सकती है ? असत् को निमित्त मानने से तो अति प्रसग दोष आता है । अत. कर्म सामान्य (क्रिया सामान्य) भी अनुगत ज्ञान का हेतु सिद्ध नही होता है ।

पाचकादि पुरुषो मे पाचकादिरूप अनुगत ज्ञान का कारण व्यक्ति है ऐसा तृतीय पक्ष कहना भी गलत है, क्योकि प्रथम तो आपने ऐसा माना ही नही, और दूसरी बात व्यक्ति तो भिन्न भिन्न रूप अनेक हुआ करती (करता) है वह अनुगत एक सदृश ज्ञान का कारण हो ही नही सकती (सकता) पाचकादि मे अनुगत ज्ञान का हेतु शक्ति है ऐसा चतुर्थ विकल्प भी असत् है । वह शक्ति पाचक पुरुष से अन्य है अथवा अनन्य है ? यदि अनन्य है तो पाचक पुरुष और शक्ति इन दो मे से एक ही अवशेष रहेगा ।

शक्तावुपयुज्यते शक्तिश्च कार्ये। नन्वसौ शक्तावुपयुज्यते स्वरूपेण, शक्त्यन्तरेण वा ? शक्त्यन्तरेणोपयोगेऽनवस्था। स्वरूपेणोपयोगे कार्येप्यसौ तथा किन्नोपयुज्यते किं परम्परापरिश्रमेण ? न चान्यन्निमित्तमस्ति।

पाचकत्वमस्तीति चेत्; तत्किं द्रव्योत्पत्तिकाले व्यक्तम्, अव्यक्तं वा ? व्यक्तं चेत्, तर्हि पाकक्रियायाः प्रागेव तथा ज्ञानाभिधाने स्याताम्। अथाऽव्यक्तम्; तर्हि पश्चादपि न ते स्याताम् विशेषा-

---

यदि शक्ति पाचक से अन्य है तो वह शक्ति ही पचन कार्य को करने मे उपयोगी हुई। इस तरह तो पाचक पुरुष पचन क्रिया का कर्त्ता नही रहा अकर्त्ता बन गया।

शका—परम्परा से पाचक कर्त्ता बन जायगा, कर्त्ता जो पाचक पुरुष है वह शक्ति से सयुक्त हुआ करता है और शक्ति पचनादि कार्य को करती है।

समाधान—ठीक है, किन्तु यह बताइये कि पाचक कर्त्ता शक्ति मे उपयुक्त होता है अर्थात् शक्ति से युक्त होता है वह स्वरूप से ही होता है अथवा अन्य शक्ति द्वारा शक्ति युक्त होता है ? अन्य शक्ति द्वारा होगा तो अनवस्था बन जायगी। स्वरूप से ही शक्ति सयुक्त होता है ऐसा कहो तो जैसे स्वरूप से शक्ति सयुक्त हुआ वैसे पचन-रूप कार्य मे भी स्वरूप से ही क्यो नही उपयुक्त–प्रयुक्त होगा ? व्यर्थ परम्परा के परिश्रम से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् पाचक मे शक्ति सयुक्त होना और पुन: उससे पचनादि कार्य होना इत्यादि परम्परा से कार्य का निमित्त मानना व्यर्थ है। इन कर्म, कर्म सामान्यादि को छोडकर अन्य कोई निमित्त नही है कि जिससे अनुगत ज्ञान हो जाय।

शका—पाचकादि मे "पाचक है" ऐसा अनुगत ज्ञान कराने मे तो पाचकत्व हेतु है ?

समाधान—तो फिर बताइये कि पाचक पुरुष के उत्पन्न होने के समय वह पाचकत्व व्यक्त रहता है अथवा अव्यक्त रहता है ? व्यक्त कहो तो पाक क्रिया (पकाने की क्रिया) के पहले ही उस पुरुष में "पाचक है" ऐसा अनुगत ज्ञान तथा नाम होने लगेगा। (किन्तु ऐसा होता नही) पाचक पुरुष के उत्पत्ति काल में पाक क्रिया अव्यक्त रहती है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो उत्पत्तिकाल के अनन्तर भी अनुगत ज्ञान और नाम नही हो सकेंगे, क्योकि उस नित्य पाचकत्व मे भेद होना या स्वभाव परिवर्त्तन होना रूप कोई भी विशेषता आ नही सकती। आगे इसी को कहते है—पाचकत्व रूप

भावात्। तथाहि–तत्पूर्वं द्रव्यसमवायधर्मः स्याद्वा, न वा? सत्त्वे सत्त्ववत्पूर्वमेव व्यक्तिः, तथाव्यपदेशश्च स्यात्। अथ न, तदा पश्चादपि द्रव्यसमवायधर्मत्व न स्यादेकरूपत्वात्तस्य। तन्न पश्चाद्व्यक्तिस्तस्य।

अस्तु वा, तथाप्यसौ द्रव्येण, क्रियया, उभाभ्या वाभिधीयते? न तावद्द्रव्येण; अस्य प्रागपि विद्यमानत्वात्। नापि क्रियया; तस्या अनाधेयातिशयेऽकिञ्चित्करत्वात्। नाप्युभाभ्याम्; पृथगऽसामर्थ्ये सहितयोरप्यसामर्थ्यात्। तन्नानुगत प्रत्ययोऽनुगाम्येक सामान्यमालम्बते।

किञ्च, 'गोत्वं वर्त्तते' इत्यभ्युपेत भवता, तत्र किं गोष्वेव गोत्व वर्त्तते, किं वा गोषु गोत्वमेव, गोषु गोत्व वर्त्तते एवेति वा? प्रथमपक्षेऽनन्वयित्वाविशेषाद्यावत्तेषु गोत्व वर्त्तते तावदन्य-

---

द्रव्य समवाय धर्म पाचक पुरुष के उत्पत्ति के पूर्व सत्त्व रूप है या नही? यदि सत्त्व रूप है तो जैसे देवदत्त रूप द्रव्य के मौजूदगी मे उस पाचकत्वकी व्यक्ति रहती है वैसे पहले ही रहेगी, फिर तो "यह पाचक है, यह पाचक है" इत्यादि नाम एव ज्ञान पहले से होता रहेगा? यदि उक्त पाचकत्व धर्म पूर्व मे सत्त्व रूप नही है तो पीछे देवदत्त रूप द्रव्य के उत्पन्न होने पर भी सत्त्वरूप नही रहेगा, क्योकि वह तो सदा एक रूप होता है, अतः पाचकत्व पीछे व्यक्त होता है, ऐसा कहना सिद्ध नही होता है।

परवादी के आग्रह से मान लेवे कि देवदत्तादि के उत्पन्न होने पर पीछे पाचकत्व की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु फिर भी उस पाचकत्व को किस नाम से कहेगे, द्रव्य से, क्रिया से या दोनो से? द्रव्य से तो कह नही सकते क्योकि यह तो द्रव्य के पहले भी विद्यमान था। पचनादि क्रिया के नाम से कहना भी नही बनता है, क्योकि पाचकत्व सामान्य रूप क्रिया अनाधेय अतिशय होने से अकिंचित्कर है। द्रव्य और क्रिया दोनो से पाचकत्व को कहते है ऐसा तीसरा पक्ष भी जमता नही, जब द्रव्य से पाचकत्व कहने मे नही आया तथा क्रिया से भी कहने मे नही आया तो दोनो से भी कहने मे नही आ सकता है, क्योकि जिसमे पृथक् अवस्था मे सामर्थ्य नहीं है उसमे संयोग-दोनो के मिलने पर भी सामर्थ्य आ नही सकता, इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि अनुवृत्त प्रत्यय अनुगामी एक सामान्य के अवलबन से नही होता है।

दूसरी बात यह है, कि गोत्व रहता है ऐसा आप मानते है सो गो व्यक्तियो मे ही (गाय बैल) गोत्व रहता है ऐसा अर्थ आपको इष्ट है, अथवा गो व्यक्तियो मे गोपना ही रहता है, या कि गो मे गोत्व रहता ही है, ऐसा अर्थ करना इष्ट है?

ऽपि किन्न वर्त्तेत ? द्वितीये पक्षे तु सत्त्वद्रव्यत्वादीना व्यवच्छेदाद्व्यक्तेरप्यभावप्रसङ्गस्तद्रूपत्वात्तस्याः। अथ 'गोषु गोत्व वर्त्तते' एवेति पक्षः, 'तत्र चान्यत्र गोत्वं वर्त्तत एव' इति. गोव्यक्तिवत्कर्कादावपि 'गौर्गौः' इति ज्ञान स्यात्तद्वृत्तेरविशेषात् । तन्न व्यक्त्यात्मकात् प्रतिव्यक्तिविभिन्नात्सदृशपरिणामात् । अन्यद् व्यक्तिभ्यो भिन्नमेक सामान्य घटते ।

विभिन्नं हि प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणामलक्षण सामान्य विसदृशपरिणामलक्षणविशेषवत् । यथैव हि काचिद्व्यक्तिरुपलभ्यमानाव्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणामदर्शनात्किञ्चित्केनचित्समानमपि 'तेनायं समानः सोऽनेन समानः' इति प्रतीतेः। न च

प्रथम पक्ष गो व्यक्तियों में ही गोत्व रहता है ऐसा माने तो बनता नही, गो व्यक्तियां और गोत्व भिन्न भिन्न है और वे समवाय से एकत्रित होते है ऐसा आपने माना है किन्तु यह बात गलत है, समवाय पदार्थ का खण्डन पहले कर चुके है, तथा जब गो से गोत्व भिन्न है तो समवाय गोत्व को गो मे ही क्यो सम्बद्ध करेगा, उसका उससे अन्वय तो है नही जैसे गो से गोत्व भिन्न है वैसे अश्वादि से भी भिन्न है फिर गो व्यक्तियो मे गोत्व रहता है तो अन्य अश्वादि मे भी क्यो नही रह सकता ? दूसरा पक्ष— गो व्यक्तियो मे केवल गोत्व ही रहता है ऐसा कहा जाय तो उन गो व्यक्तियो मे सत्व, द्रव्यत्व आदि धर्म नही रह सकेंगे, इस तरह गो व्यक्तियों का अभाव ही होवेगा, क्योकि सत्व आदि ही तो उनका स्वरूप है । गो व्यक्तियो मे गोत्व रहता ही है, ऐसा तीसरा पक्ष कहे तो उसका अर्थ गोत्व गो में और अश्व आदि मे भी रहता है, फिर जैसे गो में गोपने का "यह गो है, यह गो है" ज्ञान होता है वैसे सफेद अश्व आदि मे होने लगेगा । क्योकि गोत्व का रहना सर्वत्र सभव है । अत मे यह निश्चित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न भिन्न व्यक्ति स्वरूप जो सदृश परिणाम है वही सामान्य है, व्यक्तियो से भिन्न सर्वथा नित्य एक ऐसा सामान्य नही है ।

यह सदृश परिणाम स्वरूप सामान्य प्रति व्यक्ति मे भिन्न भिन्न ही है जैसे कि विसदृश परिणाम स्वरूप विशेष प्रति व्यक्ति मे विभिन्न रहता है । जिस प्रकार विवक्षित एक कोई शबल, धवल आदि गो व्यक्ति अन्य व्यक्ति से विशिष्ट उपलब्ध होती है वह विसदृश परिणाम के देखने से विशिष्ट मालूम पडती है, इसी प्रकार सदृश परिणाम के देखने से कोई किसी से समान भी उपलब्ध होता ही है, यह उसके समान है, इस प्रकार की सर्वजन प्रसिद्ध प्रतीति हुआ ही करती है । कोई कहे कि यदि गोत्व आदि धर्म को व्यक्ति स्वरूप से अभिन्न मानेगे तो उसमे सामान्यपना नही रहेगा ? सो

व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात्सामान्यरूपताव्याघातोऽस्य; रूपादेरप्यत एव रूपादिस्वभावताव्याघात-प्रसङ्गात्। प्रत्यक्षविरोधोऽन्यत्रापि समान:-सामान्यविशेषात्मतयार्थस्याध्यक्षे प्रतिभासनात्।

ननु प्रथमव्यक्तिदर्शनवेलाया सामान्यप्रत्ययस्याभावात्सदृशपरिणामलक्षणस्यापि सामान्य-स्यासम्भव., तदप्यसाम्प्रतम्, तदा सद्द्रव्यत्वादिप्रत्ययस्योपलम्भात्। प्रथममेका गां पश्यन्नपि हि सदादिना सादृश्य तत्रार्थान्तिरेण व्यपदिशत्येव। अननुभूतव्यक्त्यन्तरस्यैकव्यक्तिदर्शने कस्मान्न समान-प्रत्ययोत्पत्ति तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्? तवापि विशिष्टप्रत्ययोत्पत्ति: कस्मान्न स्याद्वै-

---

यह कोई बात नही है। सामान्य व्यक्ति स्वरूप है ऐसा मानने मे बाधा होगी तो रूप आदि धर्म मे भी रूपादि स्वभावत्व सिद्ध नही हो सकेगे; उसमे भी बाधा होगी, क्योंकि रूपादिक भी सामान्य के समान व्यक्ति स्वरूप से अभिन्न है। यदि कहा जाय कि रूप आदि को रूपादि स्वभाव वाले नही मानेगे तो प्रत्यक्ष बाधा आती है? तो सामान्य को भी व्यक्ति स्वरूप से भिन्न मानते हैं तो प्रत्यक्ष बाधा आती है, क्योंकि जगत के सम्पूर्ण पदार्थ सामान्य विशेषात्मक ही प्रत्यक्ष प्रमाण मे प्रतिभासित होते हैं।

शंका—सबसे प्रथम बार जब किसी गो को देखते है उस समय "यह गो है, यह गो है" इस प्रकार अनुगत प्रत्यय नही होता है अत: सदृश परिणाम लक्षण वाला जैन का सामान्य भी असम्भव है?

समाधान—यह शका असार है प्रथम बार गो को देखते है उस समय "सत् है सत् है, द्रव्य है, द्रव्य है" इत्यादि सामान्य प्रत्यय तो होता ही रहता है। जब कोई पुरुष प्रथम बार एक गो को देख रहा है तब यह पशु अन्य पदार्थ के समान ही अस्ति-रूप है इत्यादि रूप से कथन करता ही है।

शका—जिस पुरुष ने अन्य गो व्यक्तियो को देखा नही है वह जब एक गो को देखता है तब उसको यह इसके समान है, अथवा गो है, गो है, इस प्रकार का समान ज्ञान क्यो नही होता है? सदृश परिणाम तो उस गो मे मौजूद ही है?

समाधान—यह शका उन्ही मीमासको के ऊपर प्रतिशंका का कारण होगी, देखिये—गो व्यक्ति मे विसदृश—विशेष परिणाम उस गो व्यक्ति से अभिन्न है ऐसा आप मानते है सो जब कोई प्रथम बार गो को देख रहा है तब उसको "यह गो उससे विशिष्ट है विभिन्न स्वरूप वाली है" ऐसा विशिष्ट ज्ञान क्यो नही होता है विशिष्ट परिणाम उस गो मे मौजूद ही है?

सादृश्यस्यापि भावात्? परापेक्षत्वात्तस्याप्रसङ्गोऽन्यत्रापि समान। समानप्रत्ययोपि हि परापेक्षस्तामन्तरेण क्वचित्कदाचिदप्यभावात् द्वित्वादिप्रत्ययवद् दूरत्वादिप्रत्ययवद्वा।

द्विविधो हि वस्तुधर्मः–परापेक्षः, परानपेक्षश्च, स्थौल्यादिवद्वर्णादिवच्च। अतो यथान्यापेक्षो विशेषः स्वामर्थक्रिया व्यावृत्तिज्ञानलक्षणा कुर्वन्नर्थक्रियाकारी, तथा सामान्यमप्यनुगतज्ञानलक्षणामर्थक्रिया कुर्वत्कथमर्थक्रियाकारि न स्यात्? तद्बाह्या पुनर्वाहदोहाद्यर्थक्रिया यथा न केवल सामान्य कर्त्तुमुत्सहते तथा विशेषोपि, उभयात्मनो वस्तुनो गवादेस्तत्रोपयोगात्, इत्यर्थक्रियाकारित्वेनापि सामान्यविशेषाकारयोरभेदात्सिद्ध वास्तवत्वम्।

मीमांसक—गो को देखते समय विशिष्ट प्रतिभास इसलिये नही हो पाता है कि वह प्रतिभास अन्य महिष [भैंस] आदि की अपेक्षा करके होता है?

जैन—यही बात समान प्रतिभास मे है, गो को देखते समय समान प्रतिभास इसलिये नही हो पाता है कि वह अन्य गो की अपेक्षा करके होता है, बिलकुल प्रसिद्ध बात है कि समानता का प्रतिभास परकी अपेक्षा लिये बिना कभी किसी स्थान पर भी नही होता है, जैसे द्वित्व–दो संख्या का प्रतिभास एक की अपेक्षा लेकर होता है, अथवा दूरपने का प्रतिभास निकटता की अपेक्षा लेकर होता है।

वस्तुओ मे दो प्रकार के धर्म हुआ करते है एक पर सापेक्ष और एक परकी अपेक्षा से रहित, उदाहरण के लिये एक गाय है उसमे स्थूलपना आदि तो अन्य गो के छोटापन को अपेक्षा रखता है और सफेद वर्ण आदि परकी अपेक्षा नही रखता है। जिस प्रकार अन्य की अपेक्षा रखने वाला विशेष धर्म अपनी अर्थ क्रिया जो यह इससे विभिन्न है इत्यादि व्यावृत्ति रूप ज्ञान को करने से अर्थ क्रियाकारी (उपयोगी) कहलाता है, उसी प्रकार सामान्य धर्म भी अनुगत ज्ञान रूप अर्थ क्रिया को करता हुआ अर्थ क्रियाकारी कैसे नही कहलायेगा? अनुगत ज्ञान रूप अर्थ क्रिया से अन्य जो वाह दोहन, (बोझा ढोना, दूध देना) आदि अर्थ क्रिया है उस अर्थ क्रिया को तो जैसे अकेला सामान्य नही कर सकता वैसे विशेष भी नही कर सकता, क्योकि इस प्रकार की अर्थ क्रिया मे तो सामान्य और विशेष दोनो रूप जो गो आदि वस्तु है वे ही समर्थ हुआ करती है, न कि उनका एक एक धर्म समर्थ होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि अर्थ क्रियाकारी होने से सामान्य और विशेषाकारो मे अभेद है, और इसलिये दोनो वस्तुभूत धर्म है।

ततोऽपाकृतमेतत्—

"सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः ।
स्वभावपरभावाभ्या यस्माद्व्यावृत्तिभागिनः ।।१।।

तस्माद्यतो यतोऽर्थाना व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।
जातिभेदा प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ।।२।।"

[प्रमाणवा० १।४१–४२] इति ।

ननु सादृश्ये सामान्ये 'स एवाय गौः' इति प्रत्ययः कथ शबलं दृष्ट्वा धवल पश्यतो घटेतेति चेत् ? 'एकत्वोपचारात्' इति ब्रूम । द्विविध ह्येकत्वम्–मुख्यम्, उपचरितं च । मुख्यमात्मादिद्रव्ये । सादृश्ये तूपचरितम् । नित्यसर्वगतस्वभावत्वे सामान्यस्यानेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात् ।

इस प्रकार सपूर्ण पदार्थो के सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हो जाने से बौद्ध का निम्नलिखित कथन खण्डित होता है कि—जगत के सम्पूर्ण पदार्थ (प्रतिक्षण मे नष्ट होने वाले, परस्पर के स्पर्शपने से रहित, परमाणु मात्र स्वरूप गो, घट, पटादि पदार्थ) स्वभाव से ही अपने अपने स्वभावो मे व्यवस्थित है, वे पदार्थ स्वभाव और परभाव द्वारा व्यावृत्ति रूप हुआ करते है ।।१।। इन स्वलक्षणभूत पदार्थों की जिस कारण से परस्पर मे व्यावृत्ति या विशेष रूप विभिन्नता देखी जाती है, उसी कारण से उन्हें विशेष धर्म रूप या व्यावृत्ति माना गया है, इन विशेषावगाही पदार्थो मे जो जाति भेद अर्थात् सामान्य भेद (गोत्व, घटत्व पटत्व इत्यादि) दिखायी देते है वे केवल वासना–सस्कार वश ही कल्पित किये जाते है ।।२।। अभिप्राय यही है कि गो, पट, घट आदि पदार्थ मात्र विशेष रूप है, उनमे सामान्य नामा कोई धर्म नही है ।

मीमासक—यदि जैन के अभिमत सदृश परिणाम रूप सामान्य को स्वीकार करते है तो शबल गो को देखकर पुनः धवल गो को देखते हुए पुरुष को "यह वही गो है" इस प्रकार का ज्ञान होता है वह कैसे घटित होगा ? (क्योकि दोनो एक तो है नही) ।

जैन—यह ज्ञान तो एकत्व का उपचार होने से घटित हो जायगा एकत्व (एकपना) दो प्रकार का हुआ करता है, मुख्य एकत्व और उपचरित एकत्व । मुख्य एकत्व तो आत्मा आदि पदार्थो मे होता है, और उपचरित एकत्व सादृश्य मे होता है । आप मीमासक आदि का अभिमत सामान्य सर्वथा नित्य, सर्वगत एक रूप है ऐसा सामान्य

'तेन समानोयम्' इति प्रत्ययश्च कथं स्यात् ? तयोरेकसामान्ययोगाच्चेत्; न; 'सामान्यवन्तावेतौ' इति प्रत्ययप्रसङ्गात् । तयोरभेदोपचारे तु 'सामान्यम्' इति प्रत्ययः स्यात्, न पुनः 'तेन समानोयम्' इति । यष्टिपुरुषयोरभेदोपचाराद्यष्टिसहचरित· पुरुषो 'यष्टि·' इति यथा ।

ननु 'व्यक्तिवत्समानपरिणामेष्वपि समानप्रत्ययस्यापरसमानपरिणामहेतुकत्वप्रसगादनवस्था स्यात् । तमन्तरेणाप्यत्र समानप्रत्ययोत्पत्तौ पर्याप्त खण्डादिव्यक्तौ समानपरिणामकल्पनया' इत्यन्यत्रापि समानम्—विसदृशपरिणामेष्वपि हि विसदृशप्रत्ययो यदि तदन्तरहेतुकोऽनवस्था । स्वभावतश्चेत्, सर्वत्र विसदृशपरिणामकल्पनानर्थक्यम् ।

अनेक दोष युक्त है अर्थात् इस तरह के सामान्य की किसी भी प्रमाण से सिद्धि नही होती है ।

जैन मीमांसक को पूछते है कि "यह उसके समान है" इस प्रकार का ज्ञान किस तरह होगा ? (क्योकि सदृश रूप सामान्य आपने माना नही) तुम कहो कि उनमे एक सामान्य का योग है, सो बात भी बनती नही, इस तरह मानने से तो "ये दोनो सामान्यवान है" ऐसा ज्ञान होगा न कि "यह इसके समान है" ऐसा होगा ।

मीमांसक—"यह इसके समान है" इस तरह का जो दो व्यक्तियो में प्रतिभास होता है वह उन दोनो मे अभेद का उपचार करने से होता है ?

जैन—फिर तो "यह सामान्य है" ऐसा प्रतिभास होना चाहिये ? न कि "यह उसके समान है" ऐसा । जिस प्रकार लाठी और पुरुष मे अभेद का उपचार करके लाठी सहित पुरुष को "लाठी" कह देते है ।

मीमासक—खण्ड गो मुण्ड गो इत्यादि गो व्यक्तियो मे जैन सदृश परिणाम के द्वारा "यह खण्ड गो उस मुण्ड गो के समान है" इस प्रकार का ज्ञान होना स्वीकार करते है, सो जब स्वयं सदृश परिणामो मे "यह समान है, यह समान है" इस प्रकार का ज्ञान होता है वह किससे होगा, अन्य सदृश परिणाम से होना मानेगे तो अनवस्था आती है, तथा समान परिणामो मे अन्य समान परिणाम के बिना ही समानता का ज्ञान होना स्वीकार करते है तो खण्ड, मुण्ड आदि गो व्यक्तियों मे भी अन्य समान परिणाम के बिना समानता का ज्ञान हो जायगा फिर उन व्यक्तियो मे समान परिणाम की कल्पना करना व्यर्थ ही है ।

न च सदृशपरिणामानामर्थवत्स्वात्मन्यपि समानप्रत्ययहेतुत्वे अर्थानामपि तत्प्रसङ्ग; प्रतिनियतशक्तित्वाद्भावानाम्, अन्यथा घटादेः प्रदीपात्स्वरूपप्रकाशोपलम्भात्प्रदीपेपि तत्प्रकाश: प्रदीपान्तरादेव स्यात्। स्वकारणकलापादुत्पन्नाः सर्वेऽर्था विसदृशप्रत्ययविषया स्वभावत एवेत्यभ्युपगमे समानप्रत्ययविषयास्ते तथा किं नाभ्युपगम्यन्ते अलं प्रतीत्यपलापेन ?

।। सामान्यस्वरूपविचारः समाप्तः ।।

जैन—बिलकुल यही बात विसदृश परिणामो मे भी घटित होती है, इसी का खुलासा करते है—यह शबल गाय धवल गाय से विसदृश है इत्यादि विसदृश ज्ञान विशेष धर्म से होना मानते हो सो जब स्वय विसदृश या विशेष परिणामो मे "यह उससे विशेष है, यह उससे विशेष है" इत्यादि ज्ञान होता है वह किससे होगा, अन्य विशेष से होना माने तो अनवस्था होगी, और उन विसदृश परिणामो मे स्वभाव से ही विसदृशता का ज्ञान होता है ऐसा कहो तो सभी गो व्यक्तियो मे भी स्वभाव से ही विसदृशता का ज्ञान हो जायगा ? फिर विसदृश परिणाम की कल्पना करना व्यर्थ ही है।

सदृश परिणाम जैसे गो आदि व्यक्तियो मे समान प्रत्यय (सादृश्य ज्ञान) कराने मे निमित्त होते है और स्व मे भी (अपने मे भी) समान प्रत्यय कराने मे निमित्त होते हैं। वैसे गो आदि पदार्थ भी अपने में समानता का ज्ञान कराने मे निमित्त होने चाहिये ऐसा भी नही कह सकते क्योकि पदार्थो की शक्तिया प्रतिनियत हुआ करती है, किसी एक मे जो शक्ति है वह अन्य मे भी होना जरूरी नही है, अन्यथा घट आदि पदार्थ दीपक से प्रकाशित होते है अत· दीपक भी अन्य दीपक से प्रकाशित होना चाहिये ऐसा कुचोद्य भी कर सकते है।

सौगत—हम तो सम्पूर्ण पदार्थ अपने कारण कलाप से उत्पन्न होते है और स्वभाव से ही विसदृश ज्ञान के हेतु हुआ करते है ऐसा मानते है ?

जैन—तो फिर सभी पदार्थ स्वकारण कलाप से उत्पन्न होकर स्वभाव से ही समान–सदृश ज्ञान के हेतु हुआ करते है, ऐसा क्यो नही मानते है। मानना ही चाहिए। अब इस सामान्य के विषय मे अधिक नही कहते है।

।। सामान्यस्वरूपविचार समाप्त ।।

सामान्यस्वरूप के विचार का सारांश

जगत के सम्पूर्ण पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होते है और ऐसे ही पदार्थ को प्रमाण जानता है, वस्तु सामान्य विशेषात्मक है इस बात को सिद्ध करने के लिये दो समर्थ हेतु उपस्थित किये जाते है एक अनुवृत्त व्यावृत्त प्रत्यय होने से और दूसरा, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप परिणमन सहित अर्थ क्रिया होने से, अर्थात् प्रत्येक वस्तु में सामान्य समानता होने से अनुवृत्त ज्ञान तथा विशेष–विसदृशता होने से व्यावृत्त ज्ञान होता है तथा उत्पादादि परिणमन द्वारा अर्थ क्रिया होती है। अतः वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। पदार्थ में स्थित सामान्य के तिर्यग् सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य ऐसे दो भेद है। बौद्ध सामान्य धर्म को नही मानते है, उनका कहना हैं कि जाति और व्यक्ति अर्थात् सामान्य और विशेष दोनो एक ही इंद्रिय गम्य है अतः इनमे अभेद है, सामान्य मात्र काल्पनिक संवृत्ति सत्य, अनुमान का विषयभूत ऐसा आरोपित धर्म है, इन बौद्धो को समझाते हुए आचार्य कहते है कि एक इन्द्रिय गम्य होने से सामान्य और विशेष मे अभेद मानेगे तो वायु और धूप मे भी अभेद मानना होगा, क्योकि वे भी एक स्पर्शनेन्द्रिय गम्य है। दूरसे प्रत्येक वस्तु का सामान्य धर्म ही झलकता है. दूर से सूखा वृक्ष दिखायी देने पर उसकी ऊचाई मात्र झलकती है न कि पुरुष या स्थाणुरूप विशेष। दूर मे सामान्य का विशद प्रतिभास है वैसे निकट मे भी है। प्रत्येक गाय में जो यह भी गो हे यह भी गो है इत्यादि रूप से अनुगत बोध होता है वह साधारण धर्म के विना कैसे होगा ? यदि सामान्य धर्म के विना ही अनुगत ज्ञान होना माने तो व्यावृत्त ज्ञान भी विशेष के बिना होता है ऐसा स्वीकार करना होगा। व्यक्तियो मे एक कार्य-पना देखकर सदृशता का ज्ञान होना भी सम्भव नही क्योकि गो आदि व्यक्तियां समान कार्य कहा करती है ? वे तो बोझा ढोना, दूध देना, हल चलाना इत्यादि अनेक विभिन्न कार्यो मे सलग्न हैं। इस प्रकार अनुगत ज्ञान अन्य किसी कारण से न होकर सदृश परिणाम रूप सामान्य से ही होता है यह सिद्ध हुआ। यह सामान्य अनित्य, अनेक

रूप तथा अव्यापक धर्म रूप है, मीमासक आदि का नित्य, सर्वगत, एक ऐसा सामान्य प्रतीति मे नही आता है। एक तो बात यह है कि सर्वथा नित्य मे अर्थ क्रिया नही होती। सामान्य यदि सर्वगत है तो व्यक्ति व्यक्ति मे पृथक् पृथक् कैसे रहेगा वह तो उनके अतरालो मे भी उपलब्ध होना चाहिये? तथा एक ही है तो गो आदि व्यक्ति मर जाने पर उनका गोत्व सामान्य कही जायगा अथवा नष्ट होगा इत्यादि आपत्तिया आवेगी, सामान्य यदि सर्वत्र है तो वह अकेला ही अपना अनुगत रूप ज्ञान पैदा करा देता है अथवा व्यक्ति सहित होकर कराता है? अकेला करायेगा तो व्यक्तियो के अतराल मे भी गो है गो है ऐसा ज्ञान होना चाहिए। किन्तु होता नही। व्यक्ति सहित सामान्य अनुगत ज्ञान करायेगा तो सभी व्यक्तियो के जानने पर या बिना जाने? सपूर्ण व्यक्तियो को जानने पर अनुगत ज्ञान कराता है ऐसा कहना शक्य नही, क्योकि असर्वज्ञ जीवो को सम्पूर्ण व्यक्तियो का ज्ञान होता हो नही। सभी को जाने बिना अनुगत ज्ञान होगा तो एक व्यक्ति के जानते ही उसमे सामान्य का बोध अर्थात् यह गाय है यह गाय है ऐसा ज्ञान होना चाहिए किन्तु होता नही। तथा सामान्य सर्वगत है सो कैसा सर्वगत है सर्व सर्वगत अर्थात् सर्वत्र आकाश मे व्यापक है अथवा अपने विवक्षित स्थान या स्वरूप मे सर्वगत पूर्णरूप है? सर्व सर्वगत कहो तो व्यक्ति व्यक्ति के अतराल मे वह क्यो नही दिखता? गाय गाय के अन्तराल मे गोत्व दिख जाना चाहिए। अतराल मे वह गोत्व सामान्य अदृश्य रहता है या इद्रिय सम्बन्ध से रहित है इत्यादि कारण बताना शक्य नही है क्योकि जब गोत्व एक ही है तो एक गाय मे हो बीच मे न होकर पुन दूसरी गाय मे रहे यह बात बिलकुल जमती नही। नित्य होने से उसमे स्वभाव परिवर्तन भी नही होगा अत अतराल मे अव्यक्त होना, अदृश्य होना दूर रहना इत्यादि बाते नही होगी। यदि होगी तो अतराल की तरह व्यक्ति व्यक्ति मे भी अव्यक्त अदृश्य ऐसा ही सामान्य रहेगा क्योकि वह सदा सर्वत्र समान है। अतः आकाश की तरह सामान्य का सर्व सर्वगत होना सम्भव नही है। यदि स्वव्यक्ति मे सर्वगत है तो वह एक रूप सामान्य दूसरे असख्याती व्यक्तियो मे कैसे रह सकेगा। जब दूसरे मे जाने लगेगा तो पहला व्यक्ति सामान्य रहित होगा। तथा सामान्य को आप निष्क्रिय मानते है अतः वह कही जा भी नही सकता। पहले व्यक्ति को बिना छोडे जाता है कहो तब तो वह अनेक हो गया। इस तरह बौद्ध के समान नैयायिक के सामान्य की भी सिद्धि नही होती है। मीमासक भाट्ट सामान्य और विशेष मे सर्वथा तादात्म्य

मानते है वह भी एकान्त हटाग्रह है, सामान्य और विशेष मे सर्वथा एकत्व–तादात्म्य होगा तो एक व्यक्ति उत्पन्न होने पर या नष्ट होने पर सामान्य को भी उत्पन्न या नष्ट होना पडेगा, तथा व्यक्ति के समान सामान्य भो विशेष असाधारण रूप ही रह जायगा फिर उसमे अनेक व्यक्तियो मे समानता का ज्ञान कराने की शक्ति नही रहेगी। मीमासक भी नैयायिक की तरह सामान्य को एक नित्य मानते है सो गो आदि व्यक्तियो मे अकेला सामान्य पूर्ण रूप से समाप्त होकर रहेगा तो व्यक्तिया मिलकर एक मेक बन जायगी या सामान्य अनेक हो जायगा, अश अश रूप से जाना भी संभव नही, क्योंकि आपका सामान्य निरश है। अहो बडी भारी आपत्ति है कि निरश एक रूप सामान्य कही जा नही सकता, पहले व्यक्ति अश को छोड नही सकता, कही से आता नही, पहले रहता नही। जैन द्वारा इस तरह खडित होते देख बीच मे ही उद्योतकर महाशय कहते है कि गायो में अनुवृत्त प्रत्यय गो पिण्ड से न होकर किसी भिन्न ही नित्य सर्वगत सामान्य से होता है, विशेषक अर्थात् भेद करने वाले होने से, नीलादि प्रत्यय की तरह, यह गोत्वादि सामान्य गायो से भिन्न है इत्यादि। सो हम जैन तो गोत्व का कारण सदृश परिणाम बतला ही रहे है। गायो से गोत्व भिन्न होकर अनुगत ज्ञान कराता है तो सामान्यो मे 'सामान्य है सामान्य है' ऐसा अनुगत ज्ञान कराने के लिये कौनसा कारण है? अन्य सामान्य माने तो अनवस्था स्पष्ट है और स्वतः माने तो वस्तु वस्तु मे स्वतः निजी सामान्य धर्म से अनुगत ज्ञान क्यो न हो जाय। तथा प्रागभावादि मे भी "अभाव है अभाव है" ऐसा अनुगत ज्ञान होता है सो किस कारण से होगा? आप अभावो मे सामान्य मानते नही। जहा पर सामान्य हो वही अनुगत ज्ञान होगा ऐसा कहना भी शक्य नही, पाचकादि मे अर्थात् रसोइया आदि पुरुषो मे पाचकत्व सामान्य नही है तो भी "यह पाचक है" "यह पाचक है" ऐसा अनुगत ज्ञान होता है। गो मे गोत्व रहता है, सो इस वाक्य का क्या अर्थ है, गो मे ही रहता है, गो मे गोत्व ही रहता है, अथवा गो मे गोत्व रहता ही है ऐसा एवकार तीन जगह लगाकर कहने पर भी आपके एकात-वाद के कारण कुछ भी सार नही निकलता। गो मे गोत्व ही है ऐसा पहला पक्ष लेवे तो गो मे अन्य सत्वादि गुण न रह सकेंगे। गो मे ही गोत्व रहना आप कह नही सकते क्योकि आपके पास गोत्व एक है और गो अनेक है सो निरश एक गोत्व का सबके साथ अन्वय हो नही सकता। हम जैन तो ऐसा कह सकते है क्योकि हमारे यहां प्रति व्यक्ति भिन्न ऐसा सादृश्य परिणाम स्वरूप वाला सामान्य माना है। गो मे गोत्व रहता ही है,

सो ऐसे अवधारण से क्या लाभ। वह गोत्व तो अन्य सफेद घोड़ा आदि मे भी रह सकेगा। अत. सर्वगत एक सामान्य सिद्ध नही होता है उसे तो अनित्य, अनेक, अव्यापक ही स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार बौद्ध का काल्पनिक सामान्य, नैयायिक का सर्वगत नित्य सामान्य और मीमासक भाट्ट का विशेष के साथ सर्वथा तादात्म्य स्वरूप वाला सामान्य इन तीनो प्रकार का सामान्य सिद्ध नही होता, अपितु व्यक्ति व्यक्ति मे पृथक् पृथक् रूप से रहने वाला सदृश परिणाम है, वही सामान्य है। ऐसा मानना चाहिए।

॥ सामान्यस्वरूपविचार सारांश समाप्त ॥

२

ब्राह्मणत्वजातिनिरासः

एतेन नित्य निखिलब्राह्मणव्यक्तिव्यापक ब्राह्मण्यमपि प्रत्याख्यातम् । न हि तत्तथाभूत प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयते । ननु च 'ब्राह्मणोय ब्राह्मणोयम्' इति प्रत्यक्षत एवास्य प्रतिपत्तिः । न चेद विपर्ययज्ञानम्, बाधकाभावात् । नापि संशयज्ञानम्; उभयाशानवलम्बित्वात् । पित्रादिब्राह्मण्य-

---

मीमासक नैयायिक आदि के यहा पर जिस प्रकार गो आदि पदार्थो मे गोत्व आदि सामान्य नित्य, व्यापक, एक माना है, उसी प्रकार सपूर्ण ब्राह्मणो मे व्यापक, एक नित्य ऐसा ब्राह्मण्य माना है, सो जैसे गोत्वादि नित्य सामान्य की सिद्धि नही होती है, उसमे अनेक दोष है ऐसा अभी जैन ने सिद्ध किया, उस नित्य सामान्य के खण्डन से ब्राह्मण व्यक्तियो मे माना गया ब्राह्मणत्व भी खण्डित हो जाता है । मीमांसकादि परवादी जिस प्रकार का नित्य एक व्यापक ब्राह्मणत्व मानते है उस प्रकार का ब्राह्मणत्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से प्रतिभासित नही होता अत असत् है ।

मीमासक—जैन ने कहा कि ब्राह्मणत्व की प्रमाण से प्रतीति नही होती सो बात गलत है, "यह ब्राह्मण है, यह ब्राह्मण है" इस प्रत्यक्ष से ही इसकी प्रतीति हो रही है, इस ज्ञान को विपरीत भी नही कह सकते, क्योकि इसमे कोई बाधा नही आती है । यह ब्राह्मण है यह ब्राह्मण है, यह ज्ञान सशय रूप भी नही कहलाता, क्योंकि

ज्ञानपूर्वकोपदेशसहाया चास्य व्यक्तिर्व्यञ्जिका, तत्रापि तत्सहायेति। न चात्राऽनवस्था; बीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्तत्द्रूपोपदेशपरम्परायाः।

तथानुमानतोपि, तथाहि-ब्राह्मणपद व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्ध पदत्वात्पटादिपदवत्। न चायमसिद्धो हेतु, धर्मिणि विद्यमानत्वात्। नापि विरुद्ध, विपक्षे एवाभावात्। नाप्यनैकान्तिक, पक्षविपक्षयोरवृत्त। नापि दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम्, पटादौ व्यक्तिव्यतिरिक्तैक-

---

इसमे उभय अशो का अवलबन नही है। इस ब्राह्मण्य नित्य जाति की अभिव्यक्ति पिता आदि के ब्राह्मणत्व के ज्ञान से पुत्रादि मे हुआ करती है, अर्थात् "इसका पिता ब्राह्मण था" इत्यादि उपदेश की सहायता से पुत्र मे ब्राह्मणपना सिद्ध होता है, फिर उस पुत्र के ब्राह्मणत्व से आगे भी ब्राह्मणपने की सिद्धि होती रहती है, इस प्रकार मानने मे अनवस्था की आशका भी नही करना, क्योकि यह ब्राह्मणत्व के उपदेश की परम्परा बीजाकुर के समान अनादि की है, अनुमान प्रमाण से भी ब्राह्मणत्व की सिद्धि होती है, अब इसी अनुमान को उपस्थित करते है-"ब्राह्मण" यह एक पद है वह व्यक्ति से भिन्न कोई एक निमित्त रूप वाच्य से सम्बन्धित है, क्योकि पद है, जैसे पट, घट. इत्यादि पद अपने पट आदि से सम्बद्ध होते हैं, अभिप्राय यह है कि "ब्राह्मण है यह ब्राह्मण है" यह पद सामान्य का वाचक है, जब यह पद (शब्द) है तो उसका वाच्यार्थ अवश्य होना चाहिये, इस तरह ब्राह्मणत्व की अनुमान से सिद्धि होती है, इस अनुमान का पदत्व नामा हेतु असिद्ध भी नही है, क्योकि धर्मी मे हेतु विद्यमान रहता है। पदत्व हेतु विरुद्ध भी नही है, क्योकि विपक्ष मे नही जाता है, अनैकान्तिक भी नही है क्योकि पक्ष और विपक्ष मे अविरुद्ध वृत्ति वाला नही है, अर्थात् पक्ष के समान विपक्ष मे नही जाता सिर्फ पक्ष मे ही रहता है। पटादिवत दृष्टान्त साध्य विकल भी नही है, पट आदि पदार्थो मे पट आदि व्यक्ति से व्यतिरिक्त एक निमित्त रूप वाच्य का सम्बद्धपना नही मानेगे तो पट आदि व्यक्तिया अनन्त होने से उन सब व्यक्तियो का सम्बन्ध अनन्तकाल से भी ग्रहण नही होवेगा।

भावार्थ— "पट, ब्राह्मण." इत्यादि पद है जिन शब्दो के आगे सु औ जस्, अथवा ति तस् अन्ति इत्यादि विभक्ति रहती है उन्हे पद कहते है "विभक्त्यत पदम्" ऐसी पद शब्द की निरुक्ति है। इन पट ब्राह्मण इत्यादि पदो मे नित्य एक पदत्व नामा सामान्य रहता है, पट आदि व्यक्तिया अनन्त है अर्थात् नीला वस्त्र, सफेद वस्त्र, मोटा,

निमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभावे व्यक्तीनामानन्त्येनाऽनन्तेनापि कालेन सम्बन्धग्रहणाघटनात् । तथा, वर्णविशेषाध्ययनाचारयज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनं 'ब्राह्मणः इति ज्ञानम्, तन्निमित्तबुद्धिविलक्षणत्वात्, गवाश्वादिज्ञानवत्' इत्यतोपि तत्सिद्धिः । तथा 'ब्राह्मणेन यष्टव्यं ब्राह्मणो भोजयितव्यः' इत्याद्यागमाच्चेति ।

अत्रोच्यते । यत्तावदुक्तम्–प्रत्यक्षत एवास्य प्रतिपत्तिः; तत्र किं निर्विकल्पकात् विकल्पकाद्वा ततस्तत्प्रतिपत्तिः स्यात्? न तावन्निर्विकल्पकात्; तत्र जात्यादिपरामर्शाभावात्, भावे वा सविकल्पकानुषङ्गः । अन्यथा—

पतला वस्त्र, पुराना नया वस्त्र, रेशमी सूती वस्त्र इत्यादि अनेक वस्त्रो मे एक पटत्व सामान्य है वही शब्द और अर्थ का वाचक वाच्य सम्बन्ध कराता है, यदि पटो मे पटत्व या 'पट.' इत्यादि पदो मे पदत्व सम्बन्ध न हो तो अनन्तकाल मे भी वाच्य वाचक सम्बन्ध ग्रहण मे नही आ सकता है, अत· ब्राह्मण. यह सामान्य पद एक नित्य जाति रूप ब्राह्मणत्व की सिद्धि करता है जो कि ब्राह्मणत्व ब्राह्मण पुरुषो से भिन्न ही वस्तु रूप है ।

नित्य ब्राह्मणत्व जाति की सिद्धि करने वाला द्वितीय अनुमान भी मौजूद है, अब उसीको बताते है—"यह ब्राह्मण है" ऐसा जो ज्ञान होता है वह न वर्ण विशेष जो गोरापन आदि है उससे होता है और न, अध्ययन, आचार, यज्ञोपवीत इत्यादि कारणो से होता है वह तो अन्य निमित्त से (ब्राह्मणत्व से) ही होता है, क्योकि इन वर्ण आदि के ज्ञान से विलक्षण स्वरूप ब्राह्मण ज्ञान है, जैसे गो, अश्व इत्यादि का ज्ञान अन्य कारण से (सामान्य से) होता है । इस तरह अनुमान प्रमाणो से नित्य ब्राह्मण्य जाति का समर्थन हुआ । आगम प्रमाण से भी ब्राह्मणत्व को सिद्धि होती है– ब्राह्मणो को पूजा अनुष्ठान को करना चाहिए । ब्राह्मणो को भोजन कराना चाहिए, इत्यादि अनादि वेद वाक्यो से ब्राह्मण जाति की अनादिता सिद्ध होती है ।

जैन—अब यहा पर मीमांसक के इस अनादि ब्राह्मणत्व जाति का निरसन किया जाता है—आप मीमासक आदि ने कहा था कि ब्राह्मण्य जाति की प्रतीति प्रत्यक्ष से ही हो जाती है, सो उसमे हमारा प्रश्न है कि वह प्रत्यक्ष कौनसा है ? निर्विकल्प है या सविकल्प है ? निर्विकल्प प्रत्यक्ष से ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति हो नही सकती, क्योकि इसमे जाति, नाम आदि का परामर्श नही होता है, यदि माना जाय तो

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृश शुद्धवस्तुजम् ॥१॥
तत परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया ।
बुद्धयावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥२॥"

[मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० ११२,१२०] इति वचो विरुद्धचेत ।

नापि सविकल्पकात्, कठकलापादिव्यक्तीना मनुष्यत्वविशिष्टतयेव ब्राह्मण्यविशिष्टतयापि प्रतिपत्त्यसम्भवात् । पित्रादिब्राह्मण्यज्ञानपूर्वकोपदेशसहाया व्यक्तिर्व्यञ्जिकास्य, इत्यप्यसारम्, यतः पित्रादिब्राह्मण्यज्ञान प्रमाणम्, अप्रमाण वा ? अप्रमाण चेत्; कथमतोर्थसिद्धिरतिप्रसङ्गात् ? प्रमाण चेत्, किं प्रत्यक्षम्, अनुमान वा ? प्रत्यक्ष चेत्, न, अस्य तद्ग्राहकत्वेन प्रागेव प्रतिषेधात् ।

सविकल्प कहलायेगा । जाति आदि की कल्पना युक्त ज्ञान को भी निर्विकल्प माना जायगा तो आपका निम्नलिखित कथन विरुद्ध पड़ेगा—नेत्र के खोलते ही सबसे पहले जो इद्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है, यह ज्ञान शुद्ध वस्तु जन्य है तथा जैसे बालक, मूक आदि जीवो का ज्ञान कहने मे नही आता है वैसा है ॥१॥ इस निर्विकल्प ज्ञान के बाद वस्तु के जाति आदि धर्मो का निश्चय ज्ञान उत्पन्न होता है यह भी प्रत्यक्ष प्रमाण रूप से स्वीकार किया गया है ॥२॥

ब्राह्मण्य जाति की प्रतीति सविकल्प प्रत्यक्ष से होती है ऐसा कहना भी ठीक नही है, कठ, कलाप आदि जो ब्राह्मण पुरुष है उनमे जैसे मनुष्यपने का प्रतिभास होता है वैसे ब्राह्मणत्व रूप से विशिष्ट प्रतिभास नही होता है, अर्थात् किसी पुरुष विशेष को देखकर यह सविकल्पक ज्ञान तो हो जाता है कि यह मनुष्य है किन्तु यह ब्राह्मण है ऐसा ज्ञान नही होता है ।

मीमासक—पिता आदि के ब्राह्मणत्व के ज्ञान हो जाने से पुत्रादि मे इस ब्राह्मणत्व का अस्तित्व सिद्ध होता है, अर्थात् अपन ब्राह्मण है अपनी जाति ब्राह्मण है इत्यादि वृद्ध पुरुष के उमदेश से पुत्रादि को ब्राह्मणत्व से विशिष्ट ज्ञान हो जाता है ?

जैन— यह कथन असार है, पितादि को अपने ब्राह्मणपने का जो ज्ञान है वह प्रमाण है या अप्रमाण है ? यदि अप्रमाण है तो उससे ब्राह्मणत्व की सिद्धि किस प्रकार होगी ? अतिप्रसग होगा, अर्थात् अप्रमाण से वस्तु सिद्धि हो सकती है तो सशयादि से भी हो सकती है । ब्राह्मणपने का ज्ञान प्रमाणभूत है तो वह कौनसा प्रमाण है प्रत्यक्ष

किञ्च, 'ब्राह्मण्यजातेः प्रत्यक्षतासिद्धौ यथोक्तोपदेशस्य प्रत्यक्षहेतुतासिद्धि, तत्सिद्धौ च तत्प्रत्यक्षतासिद्धिः' इत्यन्योन्याश्रयः। यथा च ब्राह्मण्यजातेः प्रत्यक्षत्वमुपदेशेन व्यवस्थाप्यते तथा ब्रह्माद्यद्वैतप्रत्यक्षत्वमपि, तत्कथमप्रतिपक्षा पक्षसिद्धिर्भवतः स्यात्? अथाद्वैताद्युपदेशस्याध्यक्षबाधितत्वान्न प्रत्यक्षाङ्गत्वम्, तदन्यत्रापि समानम्। ब्राह्मण्यविविक्तपिण्डग्राहिणाध्यक्षेणैव हि तदुपदेशो बाध्यते। अथाऽदृश्या ब्राह्मण्यजातिस्तेनायमदोष., कथ तर्हि सा 'प्रत्यक्षा' इत्युक्त शोभेत?

किञ्च, औपाधिकोय ब्राह्मणशब्दः, तस्य च निमित्त वाच्यम्। तच्च किं पित्रोरविप्लुतत्वम्, ब्रह्मप्रभवत्व वा? न तावदविप्लुतत्वम्, अनादौ काले तस्याध्यक्षेण ग्रहीतुमशक्यत्वात्, प्रायेण

या अनुमान? प्रत्यक्ष तो वह हो नही सकता, इस विषय मे पहले ही कह चुके है कि प्रत्यक्ष का विषय ब्राह्मण्य होना असभव है।

दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणत्व जाति का प्रत्यक्षपना सिद्ध होने पर तो पितादि के ब्राह्मण्य के ज्ञान का उपदेश प्रत्यक्ष का हेतु रूप सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर ब्राह्मण्य के प्रत्यक्षता की सिद्धि होगी, इस तरह अन्योन्याश्रय दोष आता है। आप जिस प्रकार ब्राह्मण्य जाति का प्रत्यक्षपना उपदेश द्वारा सिद्ध करते है उसी प्रकार अन्य अद्वैतवादी आदि भी ब्रह्माद्वैत आदि का उपदेश द्वारा प्रत्यक्षपना सिद्ध कर लेगे? फिर आपके पक्ष की निर्द्वन्द्व सिद्धि किस प्रकार हो सकेगी? अर्थात् नही हो सकती है।

मीमासक—अद्वैतपने का उपदेश प्रत्यक्ष बाधित है, अतः वह प्रत्यक्ष प्रमाण का कारण नही हो सकता है?

जैन—तो यही बात ब्राह्मणत्व जाति मे भी होती है, ब्राह्मणत्व जाति से पृथक् मात्र मानव व्यक्ति को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नित्य ब्राह्मण्य का उपदेश बाधित होता ही है।

मीमासक—मनुष्य को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष द्वारा ब्राह्मण्य का ग्रहण इसलिये नही होता है कि वह ब्राह्मण्य अदृश्य है, अतः उपदेश बाधित हुआ सा मालूम देता है, इसमे कोई दोष वाली बात नही है?

जैन—फिर आप उस ब्राह्मण्य जाति को प्रत्यक्ष होना किस प्रकार कहते है? जब वह अदृश्य ही है तब उसे प्रत्यक्ष कहना शोभा नही देता है। तथा यह भी

प्रमदाना कामातुरतयेह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भाच्च कुतो योनिनिबन्धनो ब्राह्मण्यनिश्चय ? न च विप्लुतेतरपित्रऽपत्येषु वैलक्षण्य लक्ष्यते। न खलु वडवाया गर्दभाश्वप्रभवापत्येष्विव ब्राह्मण्या ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्य लक्ष्यते।

क्रियाविलोपात् शूद्रान्नादेश्च जातिलोप स्वयमेवाभ्युपगत:—

"शूद्रान्नाच्छूद्रसम्पर्काच्छूद्रेण सह भाषणात्।
इह जन्मनि शूद्रत्वं मृतः श्वा चाभिजायते॥"

[ ] इत्यभिधानात्।

बात है कि "ब्राह्मण" यह शब्द औपाधिक है उपाधि का द्योतक है, अत. इस उपाधि का कारण बताना होगा। माता पिता की अभ्रान्तता होना ब्राह्मण उपाधि का कारण है अथवा ब्रह्म से उत्पन्न होना कारण है ? माता पिता की अविभ्रान्तता तो कारण हो नही सकती, क्योकि माता पिता की परम्परा तो अनादि कालीन है, उसका प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होना अशक्य है, तथा प्राय करके स्त्रियो के काम जन्य दोष के कारण इस जन्म मे भी व्यभिचारपना देखा जाता है तो परम्परा से होने वाला योनि निमित्तक ब्राह्मणपना कैसे निश्चित किया जा सकता है ? तथा यह भी बात नही है कि माता पिता के अभ्रात–निर्दोष होने से और नही होने से सतानो मे विलक्षणता आती हो इसीका खुलासा करते है–जिस प्रकार गधी और घोडे से उत्पन्न हुई सतान स्वरूप खच्चर मे विलक्षणता पायी जाती है उस प्रकार ब्राह्मण और शूद्रा से उत्पन्न हुए ब्राह्मणी मे विलक्षणता नही पायी जाती है।

मीमासक आदि परवादीगण इधर तो ब्राह्मण्य जाति को नित्य एक मानते हैं और इधर उसका किसी किसी कारण से लोप होना बताते है जैसे कि ब्राह्मण योग्य क्रिया, जप, तप होमादि का लोप करने से, शूद्र का भोजन करने से ब्राह्मणत्व नष्ट होता है ऐसा स्वयं स्वीकार करते है। कहा भी है कि–शूद्र द्वारा पकाया हुआ भोजन करने से, शूद्र के साथ सपर्क हो जाने से, शूद्र के साथ वार्त्तालाप करने से ब्राह्मण पुरुषो के इस जन्म मे तो शूद्रपना आ जाता है, और मरने के बाद वे श्वान हो जाते है॥ १॥

कथं चैव वादिनो ब्रह्मव्यासविश्वामित्रप्रभृतीना ब्राह्मण्यसिद्धिस्तेषा तज्जन्यत्वासंभवात् । तन्न पित्रोरविप्लुतत्वं तन्निमित्तम् ।

नापि ब्रह्मप्रभवत्वम्; सर्वेषां तत्प्रभवत्वेन ब्राह्मणशब्दाभिधेयतानुषङ्गात् । 'तन्मुखाज्जातो ब्राह्मणो नान्य.' इत्यपि भेदो ब्रह्मप्रभवत्वे प्रजाना दुर्लभः । न खल्वेकवृक्षप्रभव फल मूले मध्ये शाखाया च भिद्यते । ननु नागवल्लीपत्राणा मूलमध्यादिदेशोत्पत्ते: कण्ठभ्रामर्यादिभेदो दृष्ट एवमत्रापि प्रजाभेदः स्यात्, इत्यप्यसत्; यतस्तत्पत्राणा जघन्योत्कृष्टप्रदेशोत्पादात्तत्पत्राणा तद्भेदो युक्तो ब्रह्मणस्तु तद्देशाभावान्न तद्भेद: । तद्देशभावे चास्य जघन्योत्कृष्टतादिप्रसङ्ग: स्यात् ।

मीमासक आदि माता पिता के निर्दोषता से ब्राह्मण्य की प्रवृत्ति होना मानते है किन्तु इस तरह की मान्यता से ब्रह्मा, व्यास ऋषि, विश्वामित्र आदि पुरुषो मे ब्राह्मणत्व किस प्रकार सिद्ध होगा ? क्योकि ये सब पुरुष अविभ्रान्त–निर्दोष माता पिता से उत्पन्न नही हुए थे, अतः ब्राह्मण शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त पिता आदि की अभ्रान्तता है ऐसा कहना सिद्ध नही होता है ।

भावार्थ—मीमासक, नैयायिक आदि वादी ब्राह्मण वर्ण वाले पुरुषो मे एक नित्य ब्राह्मणत्व नामा जाति की कल्पना करते है, उनका कहना है कि "यह ब्राह्मण है, यह ब्राह्मण है" इस तरह के शब्द या पदकी जो प्रवृत्ति है उसका वाच्य नित्य ब्राह्मणत्व जाति है, न कि ब्राह्मण व्यक्ति, ब्राह्मण पुरुष में जो ब्राह्मणपने का ज्ञान होता है वह यज्ञोपवीत, अध्ययन विशेष आदि कारणो से नही होता है अपितु अनादि नित्य ब्राह्मण्य जाति से होता है । पुत्र की ब्राह्मणता माता पिता के निर्दोषपने से जानो जाती है, और माता पिता की ब्राह्मणता उनके माता आदि से जानी जाती है इत्यादि, इस पर जैन का चोद्य है कि प्रथम तो अनादि से अभी तक माता आदि की निर्दोषता बराबर उसी एक परम्परा मे चली आना असभव है, तथा दूसरी बात माता पिता के निर्दोषता एव निर्भ्रान्तता से पुरुषो मे ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त होता है अथवा वह पुरुष ब्राह्मण माना जाता है तो ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णु के नाभिकमल से, व्यास ऋषि की उत्पत्ति शूद्री से होने के कारण उनमें नैयायिकादि को ब्राह्मणत्व नही मानना चाहिये । इसलिये नैयायिकादि का अनादि नित्य एक ही ब्राह्मण जाति है ऐसा कहना असत् ठहरता है । इस ब्राह्मणत्व जाति का खण्डन देखकर कोई यह नही समझे कि आचार्य वर्ण या जाति व्यवस्था को नही मान रहे है । किन्तु नित्य व्यापी एक स्वभाववाली कोई

किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति वा, न वा ? नास्ति चेत्, कथमतो ब्राह्मणोत्पत्ति ? न ह्यमनुष्यादिभ्यो मनुष्याद्युत्पत्तिर्घटते । अस्ति चेत्किं सर्वत्र, मुखप्रदेश एव वा ? सर्वत्र इति चेत्, स एव प्रजाना भेदाभावोनुषज्यते । मुखप्रदेशे एव चेत्, अन्यत्र प्रदेशे तस्य शूद्रत्वानुषङ्ग., तथा च न पादादयोस्य वन्द्या वृषलादिवत्, मुखमेव हि विप्रोत्पत्तिस्थान वन्द्य स्यात् ।

जाति नही है ऐसा आचार्य का कहना है । माता पिता की अभ्रान्तता ब्राह्मण रूप उपाधि का निमित्त है ऐसा प्रथम विकल्प जैसे सिद्ध नही हुआ वैसे ही ब्रह्मा से उत्पन्न होना रूप ही ब्राह्मणत्व उपाधि का निमित्त है ऐसा कहना भी सिद्ध नही होता है, अब इसी का खुलासा करते है—आप सभी जीवो की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानते है अत जो ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ हो वह ब्राह्मण है ऐसा कह नही सकते, यदि कहेगे तो सभी मनुष्यो को ब्राह्मण मानना होगा ।

शका— जो ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुआ हो वह ब्राह्मण शब्द का वाच्य होता है अन्य पुरुष नही ?

समाधान—सर्व प्रजा जब ब्रह्मा से उत्पन्न हुई है तब उसमे ऐसा भेद होना बनता नही । एक वृक्ष से उत्पन्न हुआ फल है उसमे यह भेद नही होता है कि मूल से हुआ है कि मध्य मे अथवा शाखा मे हुआ है ।

मीमासक—ऐसी बात नही है, नागवेल के पत्ते अलग-अलग मूल मध्य आदि भागो मे उत्पन्न होने से उनमे कण्ठ भ्रम करना आदि पृथक् पृथक् शक्ति भेद देखा जाता है, अर्थात् मूल भाग मे उत्पन्न हुए नागवेल के पत्ते कण्ठ मे भ्रम-घरघराट उत्पन्न कराने वाले होते है और मध्य भाग मे उत्पन्न हुए पत्ते कण्ठ को सुस्वर बना देते है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मा से सब जीव उत्पन्न होते हुए भी जो मुख से उत्पन्न हुए है उन्ही मे ब्राह्मण्य जाति प्रगट होती है अन्य मे नही अत. प्रजा भेद सिद्ध ही होता है ?

जैन—यह कथन असत् है, नागवेल के पत्ते जघन्य उत्कृष्ट आदि प्रदेशो से उत्पन्न होते है अत. उनमे पृथक् पृथक् कण्ठ भ्रम आदि भेद पाया जाना शक्य है, किन्तु ब्रह्माजी मे तो वह प्रदेश भेद नही है अत: देश भेद से मनुष्यो मे ब्राह्मणत्वादि का भेद होना सभव नही है, यदि देश भेद मानोगे तो ब्रह्मा के जघन्यपना, उत्कृष्टपना आदि भी मानना होगा ।

किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेवासौ जायेत ? विकल्पद्वयेप्यन्योन्याश्रयः- सिद्धे हि ब्राह्मणत्वे तस्यैव तन्मुखादेव जन्मसिद्धि॰, तत्सिद्धेश्च ब्राह्मणत्वसिद्धिरिति। अथ जात्या ब्राह्मण्यस्य सिद्धिस्तन्मुखादेव तज्जन्मनश्चायमदोष ; न; अस्याः प्रत्यक्षतोऽप्रतीतेः। न खलु खण्ड-मुण्डादिषु सादृश्यलक्षणगोत्ववद्देवदत्तादौ ब्राह्मण्यजाति प्रत्यक्षत. प्रतीयते, अन्यथा 'किमय ब्राह्मणो-ऽन्यो वा' इति संशयो न स्यात्। तथा च तन्निरासाय गोत्राद्युपदेशो व्यर्थ॰। न हि "गौरयं मनुष्यो वा' इति निश्चयो गोत्राद्युपदेशमपेक्षते।

किंच, स्वयं ब्रह्माजी के ब्राह्मणपना है या नही ? यदि नही है तो उससे ब्राह्मण जाति की उत्पत्ति कैसे होवेगी ? अमनुष्यो से मनुष्यो की उत्पत्ति होना तो घटित होता नही। ब्रह्मा मे ब्राह्मण्य का अस्तित्व है तो वह भी ब्रह्मा के सर्वाग मे है अथवा केवल मुख प्रदेश मे है ? सर्वत्र है कहो तो वही पूर्वोक्त दोष आता है कि प्रजाओ मे भेद सिद्ध नही होता है कि यह मनुष्य ब्राह्मण है और यह शूद्र है इत्यादि। इस दोष को हटाने के लिये दूसरा पक्ष स्वीकार करे कि ब्रह्मा के मुख भाग मे ही ब्राह्मणपना है तब तो मुख को छोडकर ब्रह्मा के अन्य अवयव शूद्र रूप हो जायेंगे। फिर ब्रह्माजी के चरण आदि नमस्कार करने योग्य नही रहेगे, जैसे वृषल-व्यभिचारी के चरण नमस्कार करने योग्य नही होते है। अत॰ ब्राह्मणो की उत्पत्ति स्थान स्वरूप ब्रह्मा का मुख ही वदनीय माना जायगा अन्य अवयव नही।

तथा आप ब्राह्मण वर्ण ही ब्रह्म मुख से उत्पन्न होना मानते है अथवा ब्रह्मा के मुख से ही ब्राह्मण उत्पन्न होते है ऐसा मानते है, एवकार किधर लगाना इष्ट है ? दोनों पक्षो मे अन्योन्याश्रय दोष आता है, ब्राह्मणत्व के सिद्ध होने पर तो ब्रह्मा के मुख से ही ब्राह्मण की उत्पत्ति होती है अथवा ब्राह्मण ही ब्रह्म मुख से उत्पन्न होते हैं, ऐसा सिद्ध होगा और इसके सिद्ध होने पर उससे ब्राह्मणत्व सिद्ध हो पायेगा, इस तरह दोनो भी असिद्ध रह जाते हैं।

मीमासक- जाति से ब्राह्मणत्व की सिद्धि हुआ करती है, और ब्राह्मण्य का जन्म तो ब्रह्म मुख से हुआ ही है अतः अन्योन्याश्रय दोष नही होगा ?

जैन—यह बात गलत है यह जाति ही तो प्रत्यक्ष से प्रतीति में नही आती है। खण्ड गो मुण्ड गो आदि गो व्यक्तियो मे जिस प्रकार सादृश्य परिणामरूप गोत्व प्रतीत होता है वैसे देवदत्त, यज्ञदत्त आदि व्यक्तियों मे ब्राह्मण्य जाति प्रत्यक्ष से प्रतीत

ननु यथा सुवर्णादिक परोपदेशसहायात्प्रत्यक्षात्प्रतीयते तथा सापि; इत्यप्ययुक्तम्; यतो न पीततामात्र सुवर्णमतिप्रसगात्, किन्तु तद्विशेष , स च नाध्यक्षो दाहच्छेदादिवैयर्थ्यप्रसंगात् । तस्यापि सहायत्वे तज्जातौ किञ्चित्तथाविध सहाय वाच्यम्-तच्चाकारविशेषो वा स्यात्, अध्ययनादिकं वा ? न तावदाकारविशेष , तस्याब्राह्मणेपि सम्भवात् । अत एवाध्ययन क्रियाविशेषो वा तत्सहायता न प्रतिपद्यते । दृश्यते हि शूद्रोपि स्वजातिविलोपाद्देशान्तरे ब्राह्मणो भूत्वा वेदाध्ययनं तत्प्रणीता च

नही होती है, यदि मनुष्य का ब्राह्मणत्व प्रत्यक्ष से प्रतीत होता तो "यह मनुष्य ब्राह्मण है अथवा अन्य वर्णीय है" इत्यादि सशय होता ही नही । और यदि प्रत्यक्ष से ब्राह्मण जाति का निश्चय हो चुकता है तो उस मनुष्य के ब्राह्मणपने का सशय दूर करने के लिये नाम गोत्र आदि का पूछना व्यर्थ ठहरता है, अथवा पुत्रादि मे ब्राह्मण्य का निर्णय होने के लिये वृद्धोपदेश की अपेक्षा क्यो कर होती ? जो प्रत्यक्ष गम्य वस्तु होती है उसमे उपदेशादि की अपेक्षा नही हुआ करती, क्या प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले गो आदि मे "गो है कि मनुष्य है" ऐसी शका हो सकती है ? अथवा उसके नाम आदि को पूछना पडता है ? अर्थात् नही ।

मीमासक—जिस प्रकार परोपदेश की सहायता युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण से सुवर्णादि को प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्राह्मण्य जाति परोपदेश की सहायता वाले प्रत्यक्ष से प्रतीत होती है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योकि प्रत्यक्ष से प्रतीत हुई जो पीतता (पीलापन) है उतना मात्र सुवर्ण नही हुआ करता, यदि केवल पीत को सुवर्ण माना जाय तो पीतल आदि को भी सुवर्ण मानने का प्रसग आता है, अत पीत मात्र को सुवर्ण नही कहते किन्तु उसमे जो वैशिष्टच है उसे सुवर्ण कहते है, यह जो वैशिष्टच है वह प्रत्यक्ष नही है, यदि होता तो सुनार आदि पुरुष उस सुवर्ण की दाह-जलाना, काटना आदि प्रयोग द्वारा परीक्षा करते है वह परीक्षा व्यर्थ ठहरती, यदि कहा जाय कि जलाना, काटना इत्यादि प्रयोग भी सुवर्ण की प्रत्यक्षता मे सहायक है, तो ऐसे ही ब्राह्मणत्व जाति मे कोई सहायक कारण बताना चाहिए । वह सहायक आकार विशेष है अथवा अध्ययनादि विशेष है ? आकार विशेष ब्राह्मण जाति का द्योतक होना असभव है क्योकि ब्राह्मण जैसा आकार विशेष तो अब्राह्मण मनुष्य मे भी पाया जाता है । इसी प्रकार अध्ययन विशेष या क्रिया विशेष भी ब्राह्मणपने का ज्ञान होने मे सहायक नही

क्रिया कुर्वाण. । ततो ब्राह्मण्यजाते. प्रत्यक्षतोऽप्रतिभासनात्कथ व्रतबन्धवेदाध्ययनादि विशिष्टव्यक्तावेव सिद्धचेत् ?

यदप्युक्तम्–'ब्राह्मणपदम्' इत्याद्यनुमानम्; तत्र व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्व तत्पदस्याध्यक्षबाधितम्, कठकलापादिव्यक्तीना ब्राह्मण्यविविक्तानां प्रत्यक्षतो निश्चयात्, अश्रावणत्व-विविक्तशब्दवत् । अप्रसिद्धविशेषणश्च पक्ष., न खलु व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयाभिसम्बद्धत्व मीमासकस्यास्माक वा क्वचित्प्रसिद्धम्, व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याभ्युपगमात् ।

होता । देखा जाता है कि कोई शूद्र मनुष्य अपनी जाति को छिपाकर स्वय देशान्तर में ब्राह्मण भेषी बनता है और वेदो का पठन पाठन करता है एव वेद कथित क्रियानुष्ठान को करता है । अत यह निश्चय होता है कि ब्राह्मण्य जाति प्रत्यक्ष से प्रतीत नही है । जब ब्राह्मण्य प्रत्यक्षगम्य नही है तो व्रत बन्ध–यज्ञोपवीत, चोटी, वेदो का अध्ययन कराना आदि विशिष्ट व्यक्ति मे ही होता है इत्यादि मीमासकादि परवादी का कथन कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् नही होगा ।

आपने "ब्राह्मण पद व्यक्ति से भिन्न निमित्त का वाच्य है" इत्यादि अनुमान उपस्थित किया था वह ठीक नही है आगे इसी का विवेचन करते है—'ब्राह्मण.' यह पद ब्राह्मण पुरुष के अतिरिक्त निमित्त रूप जो वाच्य है उससे सम्बद्ध है, क्योकि वह पदरूप है । इस प्रकार ब्राह्मण पद को व्यक्ति से पृथक् किसी निमित्त से सम्बद्ध मानना प्रत्यक्ष बाधित है । क्योकि ब्राह्मण्य से रहित कठ, कलाप आदि व्यक्तियो का प्रत्यक्ष से निश्चय होता है। जैसे कि अश्रावणत्व से रहित शब्द प्रत्यक्ष से निश्चित हो जाने से शब्द को अश्रावण रूप सिद्ध करने के लिये पक्ष बनाना प्रत्यक्ष बाधित होता है, अर्थात् शब्द अश्रावण (सुनने योग्य नही) होता है ऐसा कहना प्रत्यक्ष बाधित है, ऐसे ही ब्राह्मण पद ब्राह्मण व्यक्ति से पृथक्भूत किसी निमित्त से सम्बद्ध है ऐसा कहना प्रत्यक्ष बाधित है ।

"ब्राह्मण यह पद है" ऐसा पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला भी है, कैसे सो ही बताते है—ब्राह्मण पद ब्राह्मण व्यक्तियो से पृथक् एक ब्राह्मण्य निमित्त रूप वाच्य से सम्बद्ध है ऐसा न मीमासक के यहा प्रसिद्ध है और हम जैन के यहा प्रसिद्ध है, व्यक्तियो से भिन्नाभिन्न रूप सामान्य को ही मीमासकादि ने स्वीकार किया है, सामान्य

हेतुश्चानैकान्तिकः, सत्ताकाशकालपदे अद्वैतादिपदे वा व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेय-सम्बद्धत्वाभावेपि पदत्वस्य भावात् । तत्रापि तत्सम्बद्धत्वकल्पनायाम् सामान्यवत्त्वेनाद्वैताश्वविषाणा-देर्वस्तुभूतत्वानुषङ्गात् कुतोऽप्रतिपक्षा पक्षसिद्धिः स्यात् ? सत्तायाश्च सामान्यवत्त्वप्रसंगः, गगनादीना चैकव्यक्तिकत्वात्कथ सामान्यसम्भवः ? दृष्टान्तश्च साध्यविकल., पटादिपदे व्यक्तिव्यतिरिक्तैक-निमित्तत्वासिद्धे.।

व्यक्तियो से भिन्न तो इसलिये है कि वह भिन्न ज्ञान का कारण है, और अभिन्न इसलिये है कि व्यक्तियो से उसको पृथक् नही कर सकते है । इस प्रकार "ब्राह्मण यह पद है" ऐसा पक्ष प्रत्यक्ष बाधित आदि दोष युक्त ठहरता है ।

उपर्युक्त अनुमान का पदत्व नामा हेतु भी अनैकान्तिक है, सत्ता, आकाश काल इत्यादि पद मे अथवा अद्वैत इत्यादि पद मे, व्यक्ति से पृथक्भूत एक निमित्त रूप वाच्य से सम्बद्धपना नही है तो भी पदत्व नामा हेतु रहता है, सत्ता, अद्वैत आदि पदो मे भी व्यक्ति व्यतिरिक्त एक निमित्त इत्यादि साध्य रहता है अर्थात् इनमे भी सामान्य है ऐसा कहा जाय तो अद्वैत आदि भी सामान्यवान होने से इन अद्वैत, अश्व के सीग आदि को भी वास्तविक मानना होगा । इस तरह ब्राह्मण पद को जो पक्ष बनाया था वह निर्दोष रूप किस प्रकार सिद्ध होगा ? अर्थात् पद को व्यक्ति से पृथक् जो सामान्य है उसका वाच्य माने तो अश्वविषाण आदि मे सामान्य मानना होगा और इस तरह वह वस्तुभूत बन जायगा । तथा सत्ता मे सामान्य स्वीकार करने का प्रसग भी आता है । आकाश भी आपके मत से एक व्यक्ति स्वरूप है अत उसमे सामान्य का रहना कैसे सभव होगा ? क्योकि सामान्य अनेक मे रहता है ऐसा आपका सिद्धान्त है । पटादिपदवत् दृष्टान्त साध्य से रहित भी है, 'क्योकि पट', घट इत्यादि पदो मे पट आदि व्यक्तियो को छोडकर अन्य कोई नित्य एक रूप कारण अभिधेय सिद्ध नही है ।

भावार्थ—नैयायिक, मीमासकादि ब्राह्मण जाति को नित्य एक सिद्ध करते हैं उनका अनुमान वाक्य यह है कि 'ब्राह्मणपद व्यक्ति व्यतिरिक्तैक निमित्ताभिधेय सम्बद्ध पदत्वात् पटादिपदवत्" सो इस अनुमान को सदोष सिद्ध करते हुए प्रथम तो पक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण बाधित एवं अप्रसिद्ध विशेषण वाला सिद्ध किया, फिर हेतु को अनैकातिक दोष से दूषित किया है, 'विपक्षेप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिक." जो हेतु विपक्ष मे भी अविरुद्ध भाव से रहता हो वह अनैकान्तिक कहलाता है, सो यहा पर पदत्व नामा हेतु

एतेन वर्णविशेषेत्याद्यनुमान प्रत्युक्तम् । नगरादौ च व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्तनिबन्धनाभावेपि तथाभूतज्ञानस्योपलम्भादनेकान्तः । न खलु नगरादिज्ञाने व्यतिरिक्तमनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धनं किञ्चिदस्ति, काष्ठादीनामेव प्रत्यासत्तिविशिष्टत्वेन प्रासादादिव्यवहारनिबन्धनानां नगरादिव्यवहारनिबन्धनत्वोपपत्तेः, अन्यथा 'षण्णगरी' इत्यादिष्वपि वस्त्वन्तरकल्पनानुषङ्गः ।

सत्ता, आकाश, अद्वैत इत्यादि पदो मे जाता है जो कि साध्य से विपक्षी है अर्थात् जो पद है उसमे पदत्व नामा नित्य एक सामान्य रहता ही है ऐसा परवादी को सिद्ध करना है किन्तु सत्ता आदि शब्द पद रूप तो है किन्तु उनमे पदत्व सभव नही है, क्योकि सत्ता नामा पदार्थ सामान्य से रहित होता है ऐसा मीमासकादि स्वीकार करते है, आकाश नामा पदार्थ एक अखड होने से उसमे व्यक्ति भेद नही है अत अनेक व्यक्तिगत एक सामान्य उसमे भी संभव नही है, एव अद्वैत आदि पद तो काल्पनिक ही है अत उनमे सामान्य रहना शक्य नही है । इस प्रकार जिस अनुमान का हेतु ही सदोष है तो वह साध्य को कैसे सिद्ध कर सकता है ? अर्थात् नही कर सकता है ।

ब्राह्मण पद वाला अनुमान जैसे बाधित होता है वैसे ही द्वितीय अनुमान—"वर्ण विशेषाध्ययनाचार यज्ञोपवीतादि व्यतिरिक्त निमित्त-निबन्धन 'ब्राह्मण' इति ज्ञानं, तन्निमित्त बुद्धि विलक्षणत्वात्" वाक्य भी बाधित होता है, अब इसीका खुलासा करते है—"ब्राह्मण है" इस प्रकार का ज्ञान होता है वह यज्ञोपवीत आदि से न होकर व्यक्ति से पृथक् कोई एक ब्राह्मण्य जाति से ही होता है अर्थात् ब्राह्मणो में ब्राह्मण्य का ज्ञान ब्राह्मण पुरुप से न होकर अन्य निमित्त से (ब्राह्मण्य नित्य जाति से) होता है, ऐसा आपका कहना है, किन्तु "नगरम्" इत्यादि पद मे व्यक्ति से अन्य कोई निमित्त भूत सामान्य नही होते हुए भी उस प्रकार का ज्ञान उपलब्ध होता है अतः तन्निमित्तबुद्धि विलक्षणत्व हेतु व्यभिचारी है । यह नगर है, इत्यादि रूप जो ज्ञान होता है उस ज्ञान में व्यक्ति से भिन्न कोई कारण अनुवृत्तप्रत्यय का हो और वह नगरम्, नगरम् इत्यादि ज्ञान का निमित्त हो ऐसा देखा नही जाता है, वहा तो काष्ठ, पत्थर, चूना आदि पदार्थो की प्रत्यासत्ति विशेष से बने हुए प्रासाद, मदिर आदि ही "नगर है" इत्यादि व्यवहार का हेतु देखा जाता है, यदि ऐसी व्यवस्था न माने तो "षण्णगरी" इत्यादि पदो मे भी अन्य अन्य कोई वस्तुभूत निमित्त की कल्पना करनी पडेगी ।

'ब्राह्मणेन यष्टव्यम्' इत्याद्यागमोपि नात्र प्रमाणम्; प्रत्यक्षबाधितार्थाभिधायित्वात् तृणाग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यागमवत्।

ननु ब्राह्मण्यादिजातिविलोपे कथं वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारो जैनानां घटेत ? इत्यप्यसमीचीनम्, क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिन्होपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायास्तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। कथमन्यथा परशुरामेण निःक्षत्रीकृत्य ब्राह्मणदत्तायां पृथिव्यां क्षत्रियसम्भवः ? यथा चानेन निःक्षत्रीकृतासौ तथा केनचिन्निर्ब्राह्मणीकृतापि सम्भाव्येत। ततः क्रियाविशेषादिनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारः।

एतेनाविगानतस्त्रैवर्णिकोपदेशोत्र वस्तुनि प्रमाणमिति प्रत्युक्तम्, तस्याप्यव्यभिचारित्वाभावात्। दृश्यन्ते हि बहवस्त्रैवर्णिकैरविगानेन ब्राह्मणत्वेन व्यवह्रियमाणा विपर्ययभाजः। तन्न

नित्य ब्राह्मण्य जाति की सिद्धि करने के लिये "ब्राह्मणेन यष्टव्यम्" इत्यादि आगम वाक्य को उपस्थित किया था किन्तु वह यहां प्रमाणभूत नहीं कहलायेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष बाधित अर्थ को कहने वाला है, जैसे तृण के अग्रभाग पर "सौ हाथी समूह बैठा है" इत्यादि आगमवाक्य प्रत्यक्ष बाधित होने से प्रामाणिक नहीं कहलाते हैं।

मीमांसक—इस प्रकार कुतर्क करके ब्राह्मण्य आदि जाति का लोप करने पर वर्ण एवं आश्रमों की व्यवस्था कैसे बन सकेगी ? तथा वर्णाश्रम के द्वारा होने वाला, तपश्चर्या, दान, पूजा, जप आदि व्यवहार भी कैसे घटित होगा ? यह सब व्यवस्था जैन के यहां भी देखी जाती है ?

जैन—ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये, वर्णाश्रम की व्यवस्था क्रिया विशेष से, यज्ञोपवीत आदि चिह्नों से उपलक्षित जो व्यक्ति है उनमें हो जाया करती है और तदनुसार तपोदानादि व्यवहार भी बन जाता है, ऐसी बात नहीं होती तो परशुराम द्वारा पृथिवी को क्षत्रिय रहित किया गया था और पृथिवी को (राज्य को) ब्राह्मण के लिये दिया था फिर भी क्षत्रियों की उत्पत्ति पुनः कैसे हुई ? जिस प्रकार परशुराम ने पृथिवी मंडल को क्षत्रिय रहित कर दिया था, वैसे कोई पुरुष ब्राह्मण रहित करने वाला होना भी संभव है, अतः निश्चय होता है कि क्रिया विशेष आदि के द्वारा ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का व्यवहार होता है।

इस प्रकार नित्य ब्राह्मणत्व जाति का प्रतिपादक आगम खण्डित होता है, इसके खण्डन से ही "अविवाद रूप से जहां पर त्रिवर्ण का उपदेश उपलब्ध हो वहां

परपरिकल्पितायां जातौ प्रमाणमस्ति यतोऽस्याः सद्भावः स्यात् ।

सद्भावे वा वेश्यापाटकादिप्रविष्टाना ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो निन्दा च न स्यात् जाति-र्यतः पवित्रताहेतुः, सा च भवन्मते तदवस्थैव, अन्यथा गोत्वादपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात् । गवादीनां हि चाण्डालादिगृहे चिरोषितानामपीष्टं शिष्टैरादानम्, न तु ब्राह्मण्यादीनाम् । अथ क्रियाभ्रंशात्तत्र ब्राह्मण्यादीना निन्द्यता; न; तज्जात्युपलम्भे तद्विशिष्टवस्तुव्यवसाये च पूर्ववत्क्रियाभ्रशस्याप्यऽसम्भवात् । ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टव्यक्तिव्यवसायो ह्यप्रवृत्ताया अपि क्रियाया. प्रवृत्तेर्निमित्तम्, स च

पर ब्राह्मण्य है, अतः त्रिवर्ण का उपदेश ही ब्राह्मण्य जाति को सिद्ध करने मे प्रमाण है" ऐसा कहना भी निराकृत हो जाता है, क्योकि त्रिवर्ण का उपदेश भी व्यभिचरित होता हुआ देखा जाता है, बहुत से व्यक्ति अविवाद रूप से ब्राह्मण्यपने से कहे जाते है, किन्तु उनमे विपर्यय रहता है, अर्थात् शूद्र होकर भी किसी कारण वश वे पुरुष ब्राह्मण नाम से प्रसिद्धि मे आ जाया करते है । अतः मीमासक द्वारा मान्य नित्य ब्राह्मण्य जाति को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है यह निश्चित हुआ, जब प्रमाण नही है तब उसका सद्भाव सिद्ध होना अशक्य है ।

यदि नित्य एक ब्राह्मण्य जाति परमार्थ भूत सिद्ध होती तो वेश्या के स्थान या गली मे प्रविष्ट हुई ब्राह्मणी के ब्राह्मणपने का अभाव नही होता और निंदा की पात्र भी वह ब्राह्मण स्त्री नही बनती ? क्योकि पवित्रता का कारण तो आपने जाति को ही स्वीकार किया है और जाति आपके मत से चाहे कही भी चले जावो जैसी की तैसी बनी रहती है ? [क्योकि वह नित्य है] यदि ऐसा न माना जाय तो यह आपका अभीष्ट ब्राह्मण्य गो आदि पशुओ से भी निकृष्ट कहलायेगा । क्योकि गो आदि पशु बहुत काल तक चाडाल वेश्या आदि के स्थान घर आदि मे रह जाते है और फिर भी उनको शिष्ट पुरुष ग्रहण कर लेते है किन्तु ब्राह्मणी आदि को तो ग्रहण करते नही ।

शका—वेश्या आदि के स्थान पर जाकर ब्राह्मण योग्य क्रिया खतम हो जाती है अतः ब्राह्मणी निदा की पात्र बनती है ।

समाधान—ऐसा नही कहना, जब वेश्या के स्थान पर पहुचने पर भी ब्राह्मण्य जाति नित्य होने के नाते उपलब्ध होती है एव "यह ब्राह्मणी है" इस प्रकार का विशिष्ट निश्चय हो जाता है तब पहले के समान वहां पर भी क्रिया का नाश होना असभव है, क्रिया की प्रवृत्ति नही भी हो किन्तु ब्राह्मण्य जाति से विशिष्ट जो

तदवस्थ एव भवदभ्युपगमेन । क्रियाभ्रंशे तज्जातिनिवृत्तौ च व्रात्येप्यस्या निवृत्तिः स्यात्तद्भ्रंशा-विशेषात् ।

किञ्च, क्रियानिवृत्तौ तज्जातेर्निवृत्तिः स्याद् यदि क्रिया तस्याः कारणं व्यापिका वा स्यात्, नान्यथातिप्रसङ्गात् । न चास्याः कारणं व्यापकं वा किञ्चिदिष्टम् । न च क्रियाभ्रंशे जातेर्विकारोस्ति, "भिन्नेष्वभिन्ना नित्या निरवयवा च जातिः ।" [ ] इत्यभिधानात् । न चाविकृताया निवृत्तिः सम्भवत्यतिप्रसङ्गात् ।

व्यक्ति है उसका व्यवसाय प्रवृत्ति का निमित्त है और वह तो आपके सिद्धातानुसार मौजूद ही है । दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणत्व क्रिया नष्ट होने पर ब्राह्मणत्व जाति निवृत्त हो जाती है ऐसा स्वीकार करते है अर्थात् वेश्या आदि के स्थान पर ब्राह्मणी आदि के पहुचने से उसकी क्रिया वहा नही रहती अतः ब्राह्मण्य जाति निवृत्त होती है ऐसा मानेगे तो व्रात्य पुरुष मे भी ब्राह्मणत्व जाति का निवृत्त होना मानना होगा, क्योकि क्रियाभ्रंश तो उभयत्र समान है । भावार्थ यह है कि कोई ब्राह्मणी कभी वेश्या आदि के हीन स्थान पर पहुचती है तो उसमे ब्राह्मणत्व नही रहता ऐसा आपके यहा भी माना है, सो वैसे क्यो होता है ? यदि ब्राह्मण योग्य क्रिया नष्ट होने से ब्राह्मणत्व नही रहता तब तो व्रात्य पुरुष मे भी ब्राह्मण्य जाति की निवृत्ति माननी पडती है, अतः क्रिया नष्ट होने से ब्राह्मणत्व नही रहता यह कहना गलत होता है ।

यह भी बात है कि क्रिया निवृत्त होने पर जाति निवृत्त होती है ऐसा माना जाता है तो क्या क्रिया उस ब्राह्मण्य जाति का कारण है ? जैसे कि धूम का कारण अग्नि है, अथवा क्रिया ब्राह्मण्य का व्यापक हेतु है जैसे कि शिशपा का व्यापक हेतु वृक्ष है ? इस तरह क्रिया को उस जाति का कारण रूप हेतु या व्यापक हेतु मानना होगा अन्यथा क्रिया के निवृत्त होने पर जाति को निवृत्ति हो ही नही सकती, यदि मानेगे तो घट निवृत्त होने पर पट निवृत्त होता है ऐसा अतिप्रसग भी स्वीकार करना होगा । किन्तु आपके यहां पर ब्राह्मण्य जाति का व्यापक रूप हेतु या कारण रूप हेतु माना नही है । क्योकि ब्राह्मण जाति नित्य है, क्रिया भ्रंश हो जावे किन्तु नित्य जाति मे विकार नही आ सकता । आपके यहा "भिन्नेष्वभिन्ना नित्या निरवयवा च जातिः" ऐसा कहा गया है अर्थात् भिन्न भिन्न ब्राह्मण व्यक्तियो मे अभिन्नपने से रहने वाली नित्य एक अवयव रहित ब्राह्मण्य जाति है ऐसा माना है, जब वह अविकृत है तब उसकी निवृत्ति सभव ही नही, यदि मानो तो अतिप्रसग होगा ।

किञ्चेदं ब्राह्मणत्वं जीवस्य, शरीरस्य, उभयस्य वा स्यात्, संस्कारस्य वा, वेदाध्ययनस्य वा गत्यन्तरासम्भवात् ? न तावज्जीवस्य; क्षत्रियविट्शूद्रादीनामपि ब्राह्मण्यस्य प्रसङ्गात्, तेषामपि जीवस्य विद्यमानत्वात् ।

नापि शरीरस्य; अस्य पञ्चभूतात्मकस्यापि घटादिवद् ब्राह्मण्यासम्भवात् । न खलु भूताना व्यस्ताना समस्ताना वा तत्सम्भवति । व्यस्ताना तत्सम्भवे क्षितिजलपवनहुताशनाकाशानामपि प्रत्येकं ब्राह्मण्यप्रसङ्गः । समस्ताना च तेषा तत्सम्भवे घटादीनामपि तत्सम्भवः स्यात्, तत्र तेषा सामस्त्यसम्भवात् । नाप्युभयस्य, उभयदोषानुसगात् ।

नापि संस्कारस्य, अस्य शूद्रबालके कर्त्तुं शक्तितस्तत्रापि तत्प्रसगात् ।

नित्य ब्राह्मण्य जाति के विषय में अनेक प्रश्न हुआ करते है कि वह ब्राह्मणत्व किसके होता है ? जीव के होता है, अथवा शरीर के, या दोनो के, अथवा सस्कार या वेदाध्ययन के ? इतनी चीजो मे ब्राह्मण्य होता होगा अन्य किसी मे तो सभव नही है। प्रथम विकल्प का विचार करे कि जीव के ब्राह्मण्य होता है तो ठीक नही बैठता, क्योकि जीवत्व ब्राह्मणवत क्षत्रिय, वेश्य एवं शूद्र मे भी रहता है । फिर उन सबमे भी ब्राह्मण्य मानना होगा ? क्योकि जीव तो उनमें भी विद्यमान है ।

शरीर के ब्राह्मणत्व होता है ऐसा भी नही कह सकते, क्योकि शरीर तो पंच भूतो से निर्मित है उसमे घट पट आदि के समान ब्राह्मण्य होना असभव है । इसी को बताते है—व्यस्त भूत–एक एक पृथिवी आदिक अथवा समस्त भूत पृथिवी, अग्नि, जल, वायु एवं आकाश इनके ब्राह्मण जातिपना संभव नही है, यदि व्यस्त भूतो के ब्राह्मण्य है, तो एक एक पृथिवी आदि मे भी ब्राह्मण्य उपलब्ध होने का प्रसग आता है, तथा पाचो जहा सयुक्त है वहा ब्राह्मण्य रहता है ऐसा कहो तो घट आदि मे भी ब्राह्मण्य मानना होगा ? क्योकि उसमे समस्त भूत होते है । उभय-जीव और शरीर दोनो के ब्राह्मण्य जाति होती है ऐसा माने तो उभय पक्ष के बताये हुए दोष एकत्रित होवेगे ।

यज्ञोपवीत आदि संस्कार के ब्राह्मणत्व माना है ऐसा पक्ष भी गलत होगा, क्योकि वह सस्कार तो शूद्र बालक मे भी शक्य है फिर उसमे ब्राह्मण्य मानना पड़ेगा ।

किंच, सस्कारात्प्राग्ब्राह्मणबालस्य तदस्ति वा, न वा ? यद्यस्ति; सस्कारकरण वृथा। अथ नास्ति, तथापि तद्वृथा। अब्राह्मणस्याप्यतो ब्राह्मण्यसम्भवे शूद्रबालकस्यापि तत्सम्भव. केन वार्येत ?

नापि वेदाध्ययनस्य, शूद्रेपि तत्सम्भवात्। शूद्रोपि हि कश्चिद्देशान्तर गत्वा वेद पठति पाठयति वा। न तावतास्य ब्राह्मणत्व भवद्भिरभ्युपगम्यत इति। तत. सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेय ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था इति सिद्ध सर्वत्र सदृशपरिणामलक्षण समानप्रत्ययहेतुस्तिर्यक्सामान्यमिति।

॥ इति ब्राह्मणत्वजातिनिरास समाप्त. ॥

मीमासक को हम जैन पूछते है कि यज्ञोपवीतादि संस्कार होने के पहले ब्राह्मण बालक मे ब्राह्मणत्व रहता है कि नही ? यदि रहता है तो सस्कार करना व्यर्थ है, और पहले ब्राह्मण्य नही है ऐसा कहो तो भी सस्कार करना व्यर्थ है, क्योकि यदि पहले ब्राह्मण्य नही था और सस्कार से ब्राह्मण्य आया तब तो शूद्र बालक मे सस्कार से ब्राह्मणत्व होना शक्य होगा। उसको कौन रोक सकता है ?

वेदो का अध्ययन ब्राह्मण का कारण है ऐसा पक्ष स्वीकार करे तो भी ठीक नही है, वेदाध्ययन शूद्र मे भी सभव है। कोई शूद्र पुरुष है वह अन्य देश मे जाकर वेद के पठन पाठन का कार्य करता हुआ देखा जाता ही है, किन्तु उतने मात्र से आप उसमे ब्राह्मणत्व तो नही मान सकते हैं। इस प्रकार नित्य ब्राह्मण्य जाति से ब्राह्मणपना होता है ऐसा कहना सिद्ध नही होता, इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि सदृश परिणाम (यह ब्राह्मण है, यह ब्राह्मण है इत्यादि) सदृश क्रिया इत्यादि सदृश सामान्य के निमित्त से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिक वर्ण व्यवस्था होती है। इस तरह सर्वत्र ही सदृश परिणाम लक्षण वाला तिर्यक्सामान्य ही समान प्रत्यय या अनुवृत्तप्रत्यय का कारण है यह सिद्ध होता है।

॥ ब्राह्मणत्वजातिनिरास समाप्त ॥

ब्राह्मणत्वजाति के निरसन का सारांश

नैयायिक आदि ब्राह्मणत्व जाति को अखंड एक, नित्य, व्यापी आकाश की तरह मानते है उनका कहना है कि यह ब्राह्मणत्व जाति प्रत्यक्ष से ही यह ब्राह्मण है यह ब्राह्मण है इस तरह से प्रतीत होती है, इस ज्ञान को विपर्यय या संशय ज्ञान भी नही कह सकते क्योकि बाधक प्रमाण का अभाव है। यह ब्राह्मणत्व जाति पिता आदि के ब्राह्मणत्व के उपदेश परम्परा से पुत्रादि व्यक्ति मे प्रगट होती है। अनुमान के द्वारा भी इसकी सिद्धि होती है। ब्राह्मण यह एक पद है इस पद का वाच्य तो ब्राह्मण व्यक्ति से भिन्न कोई वस्तु होनी चाहिये क्योकि पद रूप है जैसे कि पट आदि पद पटत्व के निमित्त से होते है। व्यक्ति से पृथक् कोई पद का वाच्य नही माना जायगा तो व्यक्तिया अनत है उन सबके साथ पद का सम्बन्ध नही हो सकता और बिना सम्बन्ध के वाच्य वाचक भाव बन नही सकता है। आगम प्रमाण तो सैकडो है "ब्राह्मणेन यष्टव्यम्" "ब्राह्मणो भोजयितव्य" इत्यादि वाक्य प्रचुरमात्रा मे उपलब्ध है इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन प्रमाणो से ब्राह्मणत्व जाति अनादि अखड सिद्ध होती है।

जैन ने उक्त मंतव्य का निरसन करते हुए कहा है कि एक व्यापक नित्य जाति अर्थात् सामान्य जगत मे नही है। इस बात को हम अच्छी तरह अभी सामान्य-वाद मे सिद्ध कर आये है इसी प्रकार ब्राह्मणत्व जाति भी एक व्यापक रूप सिद्ध नही हो सकती। प्रत्यक्ष से ब्राह्मणत्व की प्रतीति नही होती है। पिता के उपदेश परम्परा से पुत्ररूप व्यक्ति मे ब्राह्मणत्व प्रगट होने की प्रक्रिया भी असिद्ध है। यदि प्रत्यक्ष से ही यह ब्राह्मणत्व प्रतीत होता तो उसको वृद्ध पुरुष के उपदेशादि से सिद्ध करने की जरूरत ही न होती और न प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु मे विवाद ही होता। ब्रह्मा के मुख से जो मनुष्य होवे वह ब्राह्मण है ऐसी बात भी युक्ति सगत नही है। क्या ब्रह्माजी के अन्य अवयव शूद्र है जिससे कि मुख को ही ब्राह्मणता मे कारण माना जाय? यदि ऐसी बात है तो उनके चरण की कौन उपासना करेगा खुद ब्रह्मा मे ब्राह्मणत्व किससे

आया यह भी एक जटिल प्रश्न रहेगा। यज्ञोपवीत धारणा, वेदाध्ययन करना, इत्यादि हेतु भी ब्राह्मणत्व को सिद्ध करने मे समर्थ नही है। क्योंकि यह सबके सब शूद्र मे भी पाये जा सकते है। इन सब बातो से स्पष्ट है कि ब्राह्मणत्व जाति एक अखड नित्य आकाश की तरह नही है अपितु सदृश परिणाम रूप सामान्य है वह सामान्य यहा पर सदृश क्रिया, आचारादि से प्रत्येक ब्राह्मण व्यक्ति मे भिन्न ही है।

विशेष —प्रभाचन्द्राचार्य ने ब्राह्मणत्व जाति का जो निरसन किया है वह एक व्यापक नित्य आकाश की तरह की जाति नैयायिको ने मानी है उसी का किया है न कि वर्णादि व्यवस्था करने वाली इस शुद्ध ब्राह्मणत्वादि जातियो का। कोई भी मत का खण्डन इसलिये होता है कि उसमे एकान्त हटाग्रह रहता है अत एक बार तो आचार्य सर्व शक्ति लगाकर उस एकात का निरसन ही कर देते हैं। इस बात को पुष्ट करने के लिये अनेक दृष्टात दे सकते है, देखिये बौद्ध के साकार ज्ञानवाद का आचार्य निरसन करते है किन्तु जैन ही ज्ञान को साकार, साकारोपयोग इन नाम से कहते हैं फिर बौद्ध के साकारवाद का खण्डन तो केवल तदुत्पत्ति, तदाकार, तदध्यवसाय रूप हटाग्रह एकात के निरसन के लिये करते हैं। अर्थात् बौद्ध लोग ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है ऐसा मानते है वह पदार्थ से उत्पन्न होता है अतः उसके आकार वाला बनता है एव उसी पदार्थ को जानता है इस प्रकार के पदार्थ से उत्पन्न होने वाले साकार ज्ञान का जैन ने खण्डन किया है न कि यह घट है यह पट है इत्यादि आकार वाले ज्ञान का। निष्कर्ष यही हुआ कि जहा पर एकात है वहा पर वह बात किसी अपेक्षा से सत्य होते हुए भी दूषित ही हो जाती है तभी तो ऋजुसूत्र नय का विषय क्षणिक होते हुए भी निरपेक्ष क्षणिक मानने वाले बौद्ध का खण्डन हो जाता है, सग्रह नय से सभी सत् रूप होते हुए भी सर्वथा सत् मानने वाले ब्रह्माद्वैतादि अद्वैतवादी का खण्डन हो जाया करता है। इसी प्रकार यहा पर प्रभाचन्द्राचार्य ब्राह्मणत्व जाति का खण्डन करते है वह नित्य व्यापी जाति का ही करते है। यहा प्रकरण भी सामान्य का है। जैन सामान्य विशेष दोनो को ही वस्तु का निजी धर्म मानते है। वस्तु स्वत सामान्य विशेषात्मक ही होती है किन्तु नैयायिक सामान्य को बिलकुल पृथक् एक पदार्थ मानता है और विशेष को भी बिलकुल वस्तु से पृथक् ही मान कर पुन. उन सभी का पदार्थ मे समवाय होना बताता है बस इसी सामान्य का खण्डन करते समय उसीका एक भेद स्वरूप ब्राह्मणत्व सामान्य का निरसन कर दिया है न कि यह योनि विशेष से

सम्बन्ध रखने वाली व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नरूप ब्राह्मणत्व जाति का। ऐसे ही सामान्य-वाद मे गोत्व आदि जाति का खंडन किया है, मनुष्यत्व का भी खण्डन हो सकता है। इसका मतलब यह नही हुआ कि गायो मे गोत्व और मनुष्य मे मनुष्यत्व है ही नही, सिर्फ वह एक नित्य व्यापक नही है और समवाय सम्बन्ध ऊपर से मनुष्यादि में नही आता है। मनुष्य, गाये, बैलादि मे स्वतः ही वह मनुष्यत्व, गोत्व आदि रहता है. उसी प्रकार मनुष्य विशेष मे ब्राह्मणत्व है, वह ऊपर से एक अखड व्यापक ब्राह्मणत्व जाति से नही आता है। बहुत से विद्वान् यह समझते है कि प्रभाचन्द्राचार्य वर्ण व्यवस्था को ही नही मानते, किन्तु वह भ्रम है, यह न्याय ग्रन्थ है यहा परवादी के एकात मत का निरसन करना मुख्य अभिप्राय रहता है। महापुराण मे भगवत् जिनसेनाचार्य ने "जातयोऽनादयः प्रोक्ता शुक्लध्यानस्य हेतव" ऐसा कहा है। वह ध्यान देने योग्य है। प्रभाचन्द्राचार्य ने ब्राह्मणत्व जाति का खण्डन किया इसका मतलब यह नही कि कोई माता पिता के रजोवीर्य की शुद्धि के बिना ही केवल क्रिया विशेष पालने से ही ब्राह्मण है। ब्राह्मणत्व जाति के खण्डन का कारण नैयायिक की नित्य व्यापो जाति का निरसन करना है।

इस ब्राह्मणत्व जाति खडन का इतना ही अभिप्राय समझना चाहिये कि यहा प्रकरण प्राप्त नैयायिक मीमासकादि के द्वारा मानी गयी व्यापक, नित्य, एक ब्राह्मणत्व जाति का ही निरसन किया गया है। न कि अनित्य, अनेक, अव्यापक ब्राह्मणत्व जाति का, जातिया माता पिता के रजोवीर्य से सम्बन्ध रखती है, माता पितादि के रक्तादि का तथा स्वभाव एव शारीरिक बनावट आदि का सतान मे असर आते हुए साक्षात् ही दिखाई देता है। बहुत से पैत्रिक रोग भी देखने मे आते है अर्थात् माता पिता जिस सग्रहणी श्वास आदि रोग से ग्रस्त रहते है प्राय. सतान मे भी वे रोग देखने मे आते है। अत. जिनका आचरण क्रिया भ्रष्ट एव कुशीली है परम्परा से जिनके यहा विधवा विवाह आदि हीनाचरण होते है उनकी सन्तान उच्च नही कहला सकती। वर्तमान की पर्याय मे वह सन्तान हीन कुल को ही कहलायेगी, क्योकि ऐसे ही हीनपिड से उनके शरीर का निर्माण हुआ है। खानदान एक रहस्यमय वस्तु है वह दृष्टिगोचर नही है, वर्तमान मे तो इस रजोवीर्य की विशेषता के लिये एक सुन्दर उदाहरण हो गया है, जैसे सकर धान्य तत्कालीन पैदायश की दृष्टि से तो सुहावना लगता है किन्तु आगे उन बीजो की परम्परा नही चलती, थोड़े बार ही उगाने के बाद उन सकर बीजो मे

अकुरोत्पादक शक्ति समाप्त हो जाती है उनसे फिर अंकुर पैदा ही नही होगे । ऐसे ही माता पिता के रजोवीर्य शुद्ध नही होगे अर्थात् उसमे जाति का मिश्रण—सकर है तो उससे होने वाली सन्तान आगे आगे अपने वश परम्परा को चला नही सकती, थोडे ही पीढी के बाद वह खतम हो जायगी, स्वभाव से ही यह नियम है, इसमे तर्क तो कुतर्क कहलायेगा ।

जो ब्राह्मणत्व के अभिमान मे चूर हो रहे है दूसरे को नीच दृष्टि से देखते है ब्राह्मण को ही सब कुछ समझते है, देव समझते है, जातिमद मे चूर हैं, उन नैयायिक मीमासक के ब्राह्मणत्व जाति का खडन किया है । अंत के वाक्य ध्यान देने योग्य है "ततः सदृश क्रिया परिणामादि निबन्धनैवेय ब्राह्मण क्षत्रियादि व्यवस्था..." सदृश क्रिया परिणाम आदि । यहा आदि शब्द माता पिता के परम्परागत रजोवीर्य शुद्धि द्योतक होना चाहिए । अर्थात् सदृश क्रिया—सदाचार की समानता, परिणाम क्रूरतादि रहित एव माता पिता की शुद्धि के कारण ब्राह्मणत्व व्यवस्था है । ऐसे ही क्षत्रियादि मे समझना चाहिये ।

।। ब्राह्मणत्वजाति के निरसन का सारांश समाप्त ।।

३

क्षणभंगवादः

किं पुनरूर्ध्वतासामान्यमित्याह—

परापरविवर्त्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।।६।।

सामान्यमित्यभिसम्बन्धः । तदेवोदाहरणद्वारेण स्पष्टयति मृदिव स्थासादिषु ।

सामान्य का दूसरा भेद ऊर्ध्वता सामान्य है अब उसका लक्षण क्या है ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र द्वारा उसका अबाधित लक्षण प्रस्तुत करते है—

परापर विवर्त्त व्याापि द्रव्य मूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।।६।।

सूत्रार्थ—पूर्व और उत्तर पर्यायो मे व्याप्त होकर रहने वाला द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य कहलाता है, जैसे स्थास, कोश, कूशल, घट आदि पर्यायों में मिट्टी नामा द्रव्य पाया जाता है वह अन्वयी द्रव्य ही ऊर्ध्वता सामान्य है ।

भावार्थ—सामान्य के दो भेद हैं तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य । अनेक द्रव्यो मे जो सदृशता पायी जाती है वह तिर्यक् सामान्य कहलाता है, जैसे अनेक गायो मे गोपना सदृश है । एक ही द्रव्य की पूर्व एवं उत्तरवर्त्ती जो अवस्था हुआ करती है, उन पर्यायों में द्रव्य रहता हुआ चला आता है वह द्रव्य ही ऊर्ध्वता सामान्य

ननु पूर्वोत्तरविवर्त्तव्यतिरेकेणापरस्य तद्व्यापिनो द्रव्यस्याप्रतीतितोऽसत्त्वात्कथं तल्लक्षणमूर्द्ध्वतासामान्यं सत्, इत्यप्यसमीचीनम्, प्रत्यक्षत एवार्थानामन्वयिरूपप्रतीतेः प्रतिक्षणविशरारुतया स्वप्नेपि तत्र तेषां प्रतीत्यभावात्। यथैव पूर्वोत्तरविवर्त्तयोर्व्यावृत्तप्रत्ययादन्योन्यमभावः प्रतीतस्तथा मृदाद्यनुवृत्तप्रत्ययात्स्थितिरपि।

ननु कालत्रयानुयायित्वमेकस्य स्थितिः, तस्याश्चाऽक्रमेण प्रतीतौ युगपन्मरणावधि ग्रहणम्, क्रमेण प्रतीतौ न क्षणिका बुद्धिस्तथा तां प्रत्येतुं समर्था क्षणिकत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्, बुद्धेः क्षणिक-

---

नाम से कहा जाता है, इस द्रव्य सामान्य को ही आगे की पर्याय का उपादान कारण कहते है, अर्थात् द्रव्य सामान्य को जैन उपादानकारण नाम से कहते हैं और इसी को नैयायिकादि परवादी समवायीकारण कहते है।

बौद्ध—पूर्वोत्तर पर्यायो मे व्याप्त रहने वाला द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है ऐसा जैन ने कहा, किन्तु पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय इन पर्यायो को छोडकर अन्य कोई द्रव्य नामा पदार्थ उन पर्यायो मे व्याप्त रहने वाला प्रतीत नही होता है अतः उसका सत्व नही है, फिर वह ऊर्ध्वता सामान्य का लक्षण किस प्रकार सत्य कहलायेगा?

जैन—यह कथन असमीचीन है, जगत के यावत् मात्र पदार्थो मे अन्वय रूप की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो रही है, उन पदार्थों मे प्रतिक्षण नष्ट होना तो स्वप्न मे भी प्रतीत नही होता है। जिसप्रकार पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय इनमे व्यावृत्त प्रतिभास होने से पूर्व पर्याय से उत्तर पर्याय भिन्न रूप प्रतीत होती है—उन दोनो का परस्पर मे अभाव मालूम पड़ता है, उसी प्रकार उन्ही पयार्यो मे मिट्टी आदि द्रव्य का अन्वयीपना प्रतीत होता ही है वह मिट्टी रूप स्थिति अनुवृत्त प्रत्यय का निमित्त है।

बौद्ध—द्रव्य रूप जो एक पदार्थ आपने माना है उसका तीनों कालों मे अन्वयरूप से [यह मिट्टी है, यह मिट्टी है इत्यादि रूप से] रहना स्थिति कहलाती है, अब इस स्थिति का प्रतिभास यदि अक्रम से होता है तो एक साथ मरण काल तक [अथवा विवक्षित घटादि का शुरु से आखिर तक] उसका ग्रहण होना चाहिये और यदि क्रम से प्रतिभासित होती है तो क्षण मात्र रहने वाला ज्ञान उस काल त्रय-वर्ती स्थिति को जानने के लिये समर्थ नही हो सकता, क्योकि वह क्षणिक है।

त्वेपि प्रतिपत्तुरक्षणिकत्वात् । प्रत्यक्षादिसहायो ह्यात्मैवोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वं भावानां प्रतिपद्यते । यथैव हि घटकपालयोर्विनाशोत्पादौ प्रत्यक्षसहायोसौ प्रतिपद्यते तथा मृदादिरूपतया स्थितिमपि । न खलु घटादिसुखादीना भेद एवावभासते न त्वेकत्वमित्यभिधातुं युक्तम्, क्षणक्षयानुमानोपन्यासस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । स ह्येकत्वप्रतीतिनिरासार्थो न क्षणक्षयप्रतिपत्त्यर्थः, तस्य प्रत्यक्षेणैव प्रतीत्यभ्युपगमात् ।

न चानन्तरातीतानागतक्षणयोः प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तौ स्मरणप्रत्यभिज्ञानुमानानां वैफल्यम्; तत्र तेषां साफल्यानभ्युपगमात्, अतिव्यवहिते तदङ्गीकरणात् । न चाक्षणिकस्यात्मनोऽर्थग्राहकत्वे

जैन—यह कथन ठीक नही है, ज्ञान या बुद्धि भले ही क्षणिक हो किन्तु जानने वाला आत्मा नित्य है, प्रत्यक्षादि प्रमाणो की सहायता लेकर यह आत्मा ही पदार्थो के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपने को जानता है, देखा भी जाता है कि जिसप्रकार घट और कपाल रूप उत्पाद और व्यय को आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाण की सहायता लेकर जान लेता है उसी प्रकार घट आदि की मिट्टी रूप स्थिति को भी जान लेता है। घट कपाल आदि बाह्य पदार्थ तथा सुख दु ख आदि अतरंग पदार्थ इनका मात्र भेद ही प्रतीत होता एकत्व प्रतीत नही होता ऐसा कहना तो शक्य नही है, क्योंकि इस तरह कहने से तो क्षणक्षयीवाद को सिद्ध करने के लिये जो अनुमान उपस्थित [सर्वं क्षणिक सत्वात्] किया जाता है वह व्यर्थ ठहरेगा । अर्थात् आप बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षणिक सिद्ध करते है सो उसमे जो अनुमान प्रमाण प्रयुक्त होता है वह एकत्व–स्थिति की प्रतीति का निराकरण करने के लिये ही प्रयुक्त होता है न कि क्षण क्षय की प्रतीति के लिये प्रयुक्त होता है, आप स्वयं ही कहते है कि प्रत्येक वस्तु का क्षणिकपना प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रतिभासित होता है ।

यदि कोई कहे कि प्रत्यक्षादि की सहायता से आत्मा घट कपालादि रूप उत्पाद व्यय एव मिट्टी रूप स्थिति को जानता है तो अनंतर अतीत क्षण और अनागत क्षणो में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त होता है ऐसा मानने पर उन अनंतर [निकटवर्त्ती] अतीतादि के ग्राहक स्मृति प्रत्यभिज्ञान, अनुमान प्रमाण ये सब व्यर्थ ठहरेंगे ? सो यह कथन ठीक नही, हम जैन ने प्रत्यभिज्ञानादि प्रमाणो की अनंतर अतीतादि क्षणो मे प्रवृत्ति होना माना ही नही, प्रत्यभिज्ञानादिक तो अति दूरवर्त्ती क्षणो में प्रवृत्त हुआ करते हैं । यहा पर कोई पर वादी आशंका करे कि नित्य स्वभावी आत्मा यदि पदार्थो

स्वगतबालवृद्धाद्यवस्थानामतीतानागतजन्मपरम्परायाः सकलभावपर्यायाणां चैकदैवोपलम्भप्रसङ्गः; ज्ञानसहायस्यैवार्थग्राहकत्वाभ्युपगमात्, तस्य च प्रतिबन्धकक्षयोपशमाऽनतिक्रमेण प्रादुर्भावान्नोक्त-दोषानुषङ्गः।

न च द्रव्यग्रहणेऽतीताद्यवस्थानां ततोऽभिन्नत्वाद्ग्रहणप्रसङ्गः; अभिन्नत्वस्य ग्रहण प्रत्यनङ्गत्वात्, अन्यथा ज्ञानादिक्षणानुभवे सच्चेतनादिवत् क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्याद्यनुभवानुषङ्गः। तस्माद्यत्रैवास्य ज्ञानपर्यायप्रतिबन्धापायस्तत्रैव ग्राहकत्वनियमो नान्यत्रेत्यनवद्यम्–"आत्मा प्रत्यक्ष-सहायोऽनन्तरातीतानागतपर्याययोरेकत्वं प्रतिपद्यते" इति, स्मरणप्रत्यभिज्ञानसहायश्चातिव्यवहित-पर्यायेष्वपि। तयोश्च प्रामाण्यं प्रागेव प्रसाधितम्।

का ग्राहक माना जाता है तो स्वयं में होने वाली बाल वृद्ध आदि अवस्थाये और अतीतानागत जन्मों की बडी भारी परंपरा की सकल भाव पर्यायो का एक ही समय मे उपलंभ हो जाने का प्रसग आता है। सो ऐसी बात नही है, आत्मा अकेला ग्राहक नही होता किन्तु ज्ञान की सहायता लेकर अर्थ ग्राहक होता है ऐसा माना गया है, तथा ज्ञान की उत्पत्ति भी प्रतिबधक कर्म [ज्ञानावरण] के क्षयोपशम का अतिक्रम बिना किये होती है अर्थात् जितना क्षयोपशम होता है उतनी ही भाव पर्यायो को ज्ञान जान सकता है अधिक को नही, अतः बाल वृद्धादि अवस्थाये अथवा समस्त जन्म परंपरा को एक समय मे ही जानने का प्रसग नही आता है।

यह बात भी ध्यान देने की है कि द्रव्य के ग्रहण होने से अतीतानागत सर्व ही अवस्थायें द्रव्य से अभिन्न होने के कारण ग्रहण हो जानी चाहिये सो बात नही है, क्योकि जो अभिन्न हो वह एक के ग्रहण से उसके साथ ग्रहण हो ही जाय ऐसी बात नही है, यदि ऐसा मानेंगे तो ज्ञान आदि का अनुभव करते समय जैसे चैतन्य का अनुभव होता है वैसे उसी चैतन्य मे अभिन्न रूप रहने वाला क्षणक्षयीपना, स्वर्ग-प्रापणशक्ति इत्यादि का अनुभव होना चाहिये। क्योकि अभिन्न एक के ग्रहण में अन्य अभिन्नाशका ग्रहण होता ही है ऐसा कहा है। इस आपत्ति को दूर करने के लिये जहां पर–जिस विषय मे आत्मा के प्रतिबधक कर्म का अपाय हुआ है मात्र उसी विषय मे आत्मा ग्राहक बनता है अन्य विषय में नही; इसप्रकार ग्राहकत्व का नियम स्वीकार करना चाहिये। अत यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष की सहायता लेकर यह आत्मा अनंतरवर्त्ती अतीतानागत पर्यायों के एकत्व को जानता है, और वही आत्मा प्रत्यभि-

ननु स्मरणप्रत्यभिज्ञानयोः पूर्वोपलब्धार्थविषयत्वे तद्दर्शनकाल एवोत्पत्तिप्रसङ्गः, तद्दर्शनवत्तद्विषयत्वेनानयोरप्यविकलकारणत्वात्, न चैवम्, तस्मान्न ते तद्विषये । प्रयोगः-यस्मिन्नविकलेपि यन्न भवति न तत्तद्विषयम् यथा रूपेऽविकले तत्राभवच्छ्रोत्रविज्ञानम्, न भवतोऽविकलेपि च पूर्वोपलब्धार्थे स्मृतिप्रत्यभिज्ञाने इति; तदप्यपेशलम्; तद्दर्शनकाले तयोः कारणाभावेनाऽप्रादुर्भावात् । न ह्यर्थस्तयोः कारणम्; ज्ञान प्रति कारणत्वम्यार्थे प्रागेव प्रतिषेधात् । स्मरण हि संस्कारप्रबोधकारणम्, संस्कारश्च कालान्तराविस्मरणकारणलक्षणधारणारूपः, तद्दर्शनकाले नास्तीति कथ तदैवास्योत्पत्तिः प्रत्यभि-

---

ज्ञान, स्मरण आदि की सहायता लेकर अत्यत व्यवहित पर्यायो मे भी एकत्व [स्थिति] को जान लेता है, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान ये दोनो प्रामाणिक ज्ञान है, इस बात को तो तीसरे अध्याय में ही सिद्ध कर दिया है ।

बौद्ध—स्मृति और प्रत्यभिज्ञान प्रमाणो की प्रवृत्ति पहले प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्ध हुये विषय मे ही होती है तो प्रत्यक्ष के काल मे हो उनकी उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्ष के समान स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का भी विषय रूप अविकल-कारण तो मौजूद ही है, किन्तु ऐसा होता नही अतः स्मृति और प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा पूर्व मे उपलब्ध हुए विषय वाले नही है । इसीको अनुमान द्वारा अधिक स्पष्ट करते है—अविकल विषय मौजूद होने पर भी जो ज्ञान नही होता उस ज्ञान का वह विषय नही कहलाता है, जैसे पीत आदि रूप अविकल कारण होने पर भी कर्णजन्य ज्ञान नही होने से उस ज्ञान का विषय पीतादि रूप नही माना है, आपके अभीष्ट स्मृति और प्रत्यभिज्ञान भी अविकल कारण भूत पूर्व मे उपलब्ध पदार्थ के होते हुए भी उत्पन्न नही होते अतः पूर्वोपलब्ध विषय वाले नही है ?

जैन—यह कथन असत् है, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष के काल में इसलिये उत्पन्न नहीं होते है कि उनके कारणो का अभाव है । इन ज्ञानो का कारण पदार्थ नही है । ज्ञान के प्रति पदार्थ कारण हुआ करते है अर्थात् ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है इस सिद्धांत का तो पहले ही [नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत्" इस सूत्र मे दूसरे अध्याय मे] खण्डन कर आये है । स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का कारण इस प्रकार है, स्मृति प्रमाण का कारण तो प्रत्यक्ष पूर्वक होने वाले संस्कार का प्रबोध—प्रगट होना है, और प्रत्यभिज्ञान का संस्कार एव स्मृति अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान रूप संस्कार और स्मरण कारण है । कालातर मे विस्मृत

ज्ञानस्य वा ? तदुत्पत्तौ हि दर्शन पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधप्रभवस्मृतिसहाय प्रवर्त्तते, तच्च प्राग्नास्तीति कथ तदैव तदुत्पत्ति ?

अथ मतम्—आत्मन. केवलस्यैवातीताद्यर्थग्रहणसामर्थ्ये स्मरणाद्यपेक्षावैयर्थ्यम्; तदसामर्थ्ये वा नितरा तद्वैयर्थ्यम्, न खलु केवल चक्षुर्विज्ञानं गन्धग्रहणेऽसमर्थं सत्तत्स्मृतिसहाय समर्थं दृष्टमिति; तदप्यसङ्गतम्; यत स्मरणादिरूपतया परिणतिरेवात्मनोऽतीताद्यर्थग्रहणसामर्थ्यम्, तत्कथं तदपेक्षावैयर्थ्यम् ? चक्षुर्विज्ञानस्य तु गन्धग्रहणपरिणामस्यैवाभावान्न तत्स्मृतिसहायस्यापि गन्धग्रहणे सामर्थ्यमिति युक्तमुत्पश्यामः ।

नही होना है लक्षण जिसका ऐसा जो धारणा नामा प्रत्यक्ष ज्ञान है उसे सस्कार कहते है, वह प्रत्यक्ष के काल मे नही है फिर किस प्रकार उसी के काल मे स्मृति की अथवा प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति होवेगी ? अर्थात् प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानो की उत्पत्ति मे पूर्व प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त हुए सस्कार प्रबोध से उत्पन्न हुई जो स्मृति है वह जिसमे सहायक ऐसा प्रत्यक्ष कारण हुआ करता है, ऐसा कारण पहले नही रहना फिर किस प्रकार उनकी उसी समय उत्पत्ति होवे ? नही हो सकती है ।

बौद्ध—आत्मा प्रत्यक्षादि की सहायता लेकर स्थिति आदि विषय का ग्राहक होता है ऐसा पहले कहा था सो उस आत्मा के बारे मे शका है कि यदि अकेले आत्मा के ही अतीतादि रूप पदार्थ को ग्रहण करने की सामर्थ्य है तो उसे स्मृति आदि की अपेक्षा लेना व्यर्थ है, और यदि अकेले आत्मा मे वह सामर्थ्य नही है तब तो वह अपेक्षा बिलकुल ही बेकार ठहरती हैं, उदाहरण से स्पष्ट होता है कि अकेला चक्षुजन्य ज्ञान गन्ध पदार्थ को ग्रहण करने मे समर्थ नही है तो वह स्मृति की सहायता लेकर भी समर्थ नही होता है ।

जैन—यह असगत है, स्मरण आदि रूप से आत्मा की जो परिणति है वही तो अतीतादि पदार्थो को ग्रहण करने की सामर्थ्य है, अत. उसकी अपेक्षा लेना किस प्रकार व्यर्थ ठहरेगा ? चक्षुजन्य ज्ञान की तो गध ग्रहण रूप परिणति ही नही होती अत. उसके स्मृति की सहायता लेकर भी गध ग्रहण मे सामर्थ्य नही होता है, यह तो स्वाभाविक है । अतः पहले जो बौद्ध ने कहा था कि क्षणिक बुद्धि द्वारा पूर्व और उत्तर क्षणो का ग्रहण नही होता है अत उनमे होने वाली स्थिति किस प्रकार प्रतीति मे आवेगी इत्यादि सो निराकृत हुआ समझना चाहिये, क्योकि इनका ग्रहण नित्य

ततो निराकृतमेतत्–'पूर्वोत्तरक्षणयोरग्रहणे कथं तत्र स्थास्नुताप्रतीति' इति, आत्मना तयोर्ग्रहणसम्भवात्। भवता तु तयोरप्रतीतौ कथं मध्यक्षणस्य तत्राऽस्थास्नुताप्रतीतिरिति चिन्त्यताम्? पूर्वदर्शनाहितसंस्कारस्य मध्यक्षणदर्शनात्तत्क्षणस्मृतिस्तस्याश्च 'स इह नास्ति' इत्यस्थास्नुतावगमे स्थास्नुतावगमोऽप्येव किन्न स्यात्?

ननु चास्थास्नुता पूर्वोत्तरयोर्मध्येऽभावः तस्य वा तत्र, स च तदात्मकत्वात्तद्ग्रहणेनैव गृह्यते, तदप्यसारम्, तदप्रतीतौ तत्रास्य अत्र वा तयोर्निषेधस्याप्यसम्भवात्। न ह्यप्रतिपन्नघटस्य

आत्मा द्वारा होता है। आपके प्रति भी प्रश्न होता है कि पूर्व और उत्तर क्षणो की प्रतीति क्षणिक बुद्धि द्वारा तो होती नही, फिर मध्य क्षण की उन दोनो क्षणो मे अस्थास्नुता क्षणिकता की प्रतीति किस प्रकार होवेगी यह आपको विचारणीय है।

बौद्ध—पूर्व क्षण के प्रत्यक्ष से उत्पन्न हुए जो संस्कार हैं उसके मध्य क्षण के दर्शन से उस क्षण की स्मृति हो जाती है और उस स्मृति के कारण "वह [क्षण] यहा पर नही है" इस प्रकार की अस्थास्नुता–क्षणिकता की प्रतीति हो जाती है।

जैन—तो फिर ऐसे ही स्थास्नुता, स्थिति या ध्रौव्य की भी प्रतीति होवे उसको क्यो नही माने? स्थिति के विषय में भी यही बात है कि पूर्व क्षण के प्रत्यक्ष होने से संस्कार हुए और उसका मध्य क्षण में दर्शन हुआ उससे उस क्षण की स्मृति हो आयी पुनः स्मृति से वह स्थिति यहा द्रव्यरूप से मौजूद है ऐसा ज्ञान होता ही है।

बौद्ध—पूर्व और उत्तर क्षणो का मध्य मे नही होना अस्थास्नुता या क्षणिकत्व कहलाता है, अथवा मध्य का वहा नही होना क्षणिकत्व है, ऐसा जो यह क्षणिकत्व है वह पूर्वोत्तर क्षणो का अभाव रूप होने से उसके साथ ही ग्रहण मे आ जाता है, अर्थात् पूर्वोत्तर क्षण का अभाव ही मध्य क्षण है अत. पूर्वोत्तर क्षणों के ग्रहण होने पर मध्य क्षण का अभाव ग्रहण मे आ जाता है।

जैन—यह कथन असार है, मध्य क्षण यदि प्रतीत नही होता है तो पूर्वोत्तर क्षणो मे उसका निषेध करना अथवा पूर्वोत्तर क्षणो का मध्य क्षण मे निषेध करना असभव है। इसी को बताते है–जिसने घट को जाना नही है उसके "यहा घट नही है" इस प्रकार की प्रतीति होना असभव है, ऐसे मध्य क्षण की प्रतीति बिना उसका निषेध होना अशक्य है। दूसरी बात यह भी है कि जैसे क्षणिकत्व की

'अत्र घटो नास्ति' इति प्रतीतिरस्ति। कथं चैवं स्थास्नुता न प्रतीयेत ? सापि हि पूर्वोत्तरयोर्मध्ये कथञ्चित्सद्भावस्तस्य वा तत्र, स च तदात्मकत्वात्तद्ग्रहणेनैव गृह्येत।

ननु स्थास्नुतार्थानां नित्यतोच्यते, सा च त्रिकालापेक्षा, तदप्रतिपत्तौ च कथं तदपेक्षनित्यताप्रतिपत्तिः ? तदसाम्प्रतम्; वस्तुस्वभावभूतत्वेनान्यानपेक्षत्वान्नित्यतायाः, तथाभूतायाश्चास्याः प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धत्वेन प्रतीतेः प्रतिपादनात्। न खलु स्वयं नित्यतारहितस्य त्रिकालेनासौ क्रियतेऽनित्यतावत्। न हि वर्तमानकालेनानित्यता क्रियते तस्याऽसत्त्वात्, सत्त्वे वा तदनित्यत्वस्याप्यपरेण करणेऽनवस्थाप्रसङ्गः। ततो यथा स्वभावतः पूर्वोत्तरकोटिविच्छिन्नः क्षणो जातः क्षणिको विधीयते कालनिरपेक्षश्च प्रतीयते तथाऽक्षणिकत्वमपि।

प्रतीति होना आप बतला रहे है वैसे स्थास्नुता (नित्यता) प्रतीति होना भी क्यो नहीं बनता ? बन ही सकता है, क्योकि पूर्वोत्तर क्षणो का मध्य मे कथंचित् सद्भाव है वही स्थास्नुता है, अथवा मध्य का उन क्षणों मे सद्भाव है वही स्थास्नुता कहलाती है, और वह तदात्मक होने से क्षणो के ग्रहण से ही ग्रहण मे आ जाती है, इस प्रकार स्थास्नुता सिद्ध होती है।

बौद्ध—पदार्थो की नित्यता को आप स्थास्नुता कहते हैं, और वह त्रिकाल-भूत वर्त्तमान और भविष्यति की अपेक्षा रखने वाली हुआ करती है, किन्तु तीनो काल प्रतीत नही होते तो उनकी अपेक्षा से होने वाली नित्यता भी कैसे प्रतीत होवेगी ?

जैन—यह कथन गलत है, नित्यता तो वस्तु का स्वभाव है स्वभाव अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है, वस्तु का उस तरह का नित्य स्वभाव प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रसिद्ध है ऐसा प्रतिपादन करने वाले ही है। यह नियम है कि जो स्वयं नित्यता से विहीन है वह तीनो कालो से नित्य नही किया जा सकता, जैसे कि अनित्यता नही की जा सकती है। अब अनित्यता त्रिकाल से कैसे नही की जा सकती सो बताते हैं—वर्त्तमान काल द्वारा अनित्यता नही की जाती, क्योकि उसका असत्व (सौगत मतानुसार) है यदि वर्त्तमान मे अनित्यता का सत्व मानेंगे तो उसको अन्य कोई काल करेगा इस तरह तो अनवस्था होगी। इसलिये जिस प्रकार आप स्वभाव से पूर्वोत्तर कोटि विच्छिन्न क्षण होता है वह क्षणिक एव काल निरपेक्ष प्रतीत होता है इस प्रकार मानते हैं, ऐसे ही अक्षणिकत्व या स्थास्नुता काल निरपेक्ष होती है ऐसा मानना चाहिये।

ननु चाक्षणिकत्वम् अर्थानामतीतानागतकालसम्बन्धित्वेनातीतानागतत्वम् । न च काल-स्यातीतानागतत्वं सिद्धम्; तद्धि किमपरातीतादिकालसम्बन्धात्, तथाभूतपदार्थक्रियासम्बन्धाद्वा स्यात्, स्वतो वा ? प्रथमपक्षेऽनवस्था ।

द्वितीयपक्षेपि पदार्थक्रियाणां कुतोऽतीतानागतत्वम् ? अपरातीतानागतपदार्थक्रियासम्बन्धाच्चेत्; अनवस्था । अतीतानागतकालसम्बन्धाच्चेत्, अन्योन्याश्रयः । स्वतः कालस्यातीतानागतत्वे अर्थानामपि स्वत एवातीतानागतत्वमस्तु किमतीतानागतकालसम्बन्धित्वकल्पनया ? इत्यप्यसमीक्षिता-

---

बौद्ध—अतीत काल के सम्बन्ध से पदार्थों का अतीतपना होना और अनागत काल के सम्बन्ध से अनागतपना होना अक्षणिकत्व कहलाता है, किन्तु काल का अतीतानागतपना सिद्ध नही होता है, काल मे अतीतादिपना किस हेतु से सिद्ध करे, अन्य अतीतादि काल सम्बन्ध से, अथवा उस प्रकार के पदार्थों की क्रिया सम्बन्ध से या कि स्वतः ही ? प्रथम पक्ष कहो तो अनवस्था होगी, क्योकि अन्य अन्य काल सम्बन्ध की अपेक्षा बढती जायगी । दूसरा पक्ष कहो तो पुनः प्रश्न होता है कि पदार्थो की क्रियाओ का अतीतानागतपना किससे सिद्ध होता होगा ? किसी दूसरे अतीतानागत पदार्थो की क्रिया सम्बन्ध से कहो तो अनवस्था तैयार है, और अतीतानागत काल के सम्बन्ध से कहो तो अन्योन्याश्रय होता है—काल का अतीतानागतपना सिद्ध होवे तो पदार्थो की क्रियाओ का अतीतानागतपना सिद्ध होवे, और वह सिद्ध होवे तो काल का अतीतादिपना सिद्ध होवे इस तरह दोनो ही असिद्ध कोटि मे रह जाते है । यदि जैनादि वादी तीसरा पक्ष कहे कि काल मे अतीतादिपना तो स्वतः ही रहता है तब पदार्थो मे भी स्वतः ही अतीतादिपना होना चाहिए, फिर अतीतादि काल के सम्बन्ध से पदार्थो मे अतीतादिपना आता है ऐसा कहना व्यर्थ ही ठहरता है ?

जैन—यह बखान बिना सोचे किया गया है, यह बात बिलकुल प्रसिद्ध है कि अतीतादि कालो मे अतीतादिपना स्वरूप से ही रहता है, इसका खुलासा करते है-द्रव्य रूप पुरुषादि द्वारा जो वर्त्तमानत्व अनुभूत हो चुका है वह काल अतीत कहलाता है, तथा जो वर्त्तमानत्व अनुभव मे आवेगा वह काल अनागत कहलाता है और उन अतीतादिकाल के सबध से पदार्थो का अतीतानागतपना सिद्ध होता है। काल के समान पदार्थो में भी स्वरूप से अतीतादिपना होवे ऐसा कहना अयुक्त है, क्योकि एक वस्तु का स्वभाव अन्य वस्तु मे जोडना गलत है, यदि ऐसा करेंगे तो निब

भिधानम्, स्वरूपत एवातीतादिसमयस्यातीतादित्वप्रसिद्धेः। अनुभूतवर्त्तमानत्वो हि समयोतीत, अनुभविष्यद्वर्त्तमानत्वश्चानागतः, तत्सम्बन्धित्वाच्चार्थानामतीतानागतत्वम्। न च कालवदर्थानामपि स्वरूपेणैवातीतानागतत्व युक्तम्, न ह्येकस्य धर्मोन्यत्राप्यासञ्जयितु युक्तः; अन्यथा निम्बादेस्तिक्त-तादिधर्मो गुडादेरपि स्यात्, ज्ञानधर्मो वा स्वपरप्रकाशकत्व घटादेरपि स्यात्, तद्धर्मो वा जडता ज्ञान-स्यापि स्यात्।

ननु चानुवृत्ताकारप्रत्ययोपलम्भादक्षणिकत्वधर्मोर्थिना साध्यते, स च बाध्यमानत्वादसत्य; तदप्यसम्यक्, यतोऽस्य बाधको विशेषप्रतिभास एव, स चानुपपन्नः। तथाहि-अनुवृत्ताकारे प्रतिपन्ने, अप्रतिपन्ने वासौ तद्बाधको भवेत्? यदि प्रतिपन्ने, तदा किमनुवृत्तप्रतिभासात्मको विशेषप्रतिभास, तद्व्यतिरिक्तो वा? प्रथमपक्षेऽनुवृत्तप्रतिभासस्य मिथ्यात्वे विशेषप्रतिभासस्यापि तदात्मकत्वात्तत्प्रसक्ते

आदि मे कडुआपन होता है अत. गुड, शक्कर आदि मे भी कडुआपन होता है ऐसा भी कह सकेगे। क्योकि एक का धर्म अन्य मे जोडना आपने स्वीकार किया है। इसीप्रकार ज्ञान का स्वभाव स्व और परको जानना है अत घट, पट आदि मे भी स्वपर को जानना रूप स्वभाव होवे या घट पट आदि का जड स्वभाव ज्ञान मे होवे ऐसा भी कह सकते है।

बौद्ध—जैन आदि वादीगण पदार्थो का नित्यधर्म अनुवृत्त आकार वाले ज्ञान के द्वारा उपलब्ध होने से सिद्ध करते है, अर्थात् अनुवृत्ताकार ज्ञान होता है अत पदार्थो मे नित्यता है ऐसा इनका कहना है, किन्तु अनुवृत्ताकार ज्ञान तो बाधित होता है अत असत्य है?

जैन—यह बात असत् है, आपने कहा कि अनुवृत्ताकार प्रत्यय बाधित होता है सो इस ज्ञान को बाधा देनेवाला कौन है विशेष प्रतिभास ही तो होगा? किन्तु वह स्वय अनुपपन्न है, कैसे सो बताते है—अनुवृत्त प्रत्यय बाधित होता है ऐसा आपका कहना है सो वह कब बाधित होगा अनुवृत्ताकार को जान लेने पर अथवा बिना जाने? अर्थात् अनुवृत्त प्रत्यय विशेष प्रतिभास द्वारा बाध्यमान ठहरा सो विशेष प्रतिभास ने उसको जाना कि नही? यदि जाना है तो उसमे पुन. दो प्रश्न होते है कि अनुवृत्त प्रतिभासात्मक विशेष प्रतिभास बाधक बनता है अथवा अनुवृत्त प्रतिभास से रहित जो विशेष प्रतिभास है वह बाधक बनता है? प्रथम पक्ष कहो तो जब

कथमसौ तद्बाधकः ? द्वितीयपक्षेप्यनुवृत्ताकारप्रतिभासमन्तरेण स्थासकोशादिप्रतिभासस्य तद्व्यतिरिक्तस्यासंवेदनात्तद्बाधकत्वायोगात् । अनुवृत्ताकाराप्रतिपत्तौ च विशेषप्रतिभासस्यैवासम्भवात्कथ तद्बाधकता ?

किञ्च, विपरीतार्थव्यवस्थापक प्रमाण बाधकमुच्यते । प्रतिक्षणविनाशिपदार्थव्यवस्थापकत्वेन च प्रत्यक्षम्, अनुमान वा प्रवर्त्ततान्यस्य प्रमाणत्वेन सौगतैरनभ्युपगमात् ? तत्र न तावत्प्रत्यक्ष तद्व्यवस्थापकम्, तत्र तथार्थानामप्रतिभासनात् । न हि प्रतिक्षण त्रुटयद्रूपता बिभ्राणास्तत्रार्थाः प्रतिभासन्ते, स्थिरस्थूलसाधारणरूपतयैव तत्र तेषा प्रतिभासनात् । न चान्यादृग्भूत प्रतिभासोऽन्यादृग्भूतार्थव्यवस्थापकोऽतिप्रसङ्गात् ।

अनुवृत्त प्रत्यय मिथ्या है तब अनुवृत्त प्रत्ययाकार हुआ जो विशेष प्रतिभास है वह भी तो मिथ्या कहलायेगा फिर वह कैसे बाधक बनेगा ? द्वितीय पक्ष–अनुवृत्त प्रतिभास रहित जो विशेष प्रतिभास है वह अनुवृत्तप्रत्यय का बाधक है ऐसा कहे तो अनुवृत्ताकार का प्रतिभास हुए बिना स्थास कोश आदि का प्रतिभास उनसे व्यतिरिक्त अनुभव में नही आता है अत. बाधक नही हो सकता । अनुवृत्ताकारकी प्रतिपत्ति नही होने पर भी विशेष प्रतिभास उसका बाधक होता है ऐसा द्वितीय विकल्प कहो तो ऐसा विशेष प्रतिभास होना ही असभव है, अत उसमे बाधकपना किसप्रकार सिद्ध होगा ? नही हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि बाधक तो उसे कहते है जो विपरीत अर्थ का व्यवस्थापक प्रमाण होता है । अब बताइये कि हमारे नित्य वस्तु से विपरीत अर्थ जो क्षणिकत्व है उसको कौनसा प्रमाण सिद्ध करता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनाश शील है ऐसी व्यवस्था प्रत्यक्ष प्रमाण करता है अथवा अनुमान प्रमाण करता है ? अन्य तीसरा प्रमाण तो बौद्धो ने माना नही । प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थ के प्रतिक्षण विनाश शील स्वभाव की व्यवस्था कर नही सकता, क्योकि प्रत्यक्ष मे उस प्रकार के पदार्थ प्रतिभाषित ही नही होते है । प्रत्यक्ष प्रमाण मे प्रतिक्षण विनाश रूपता को धारण करने वाले पदार्थ प्रतिभासित नही होते है, उसमे तो स्थिर स्थूल साधारण स्वरूप को धारण करने वाले पदार्थ ही प्रतीत हो रहे है, अन्य किसी रूप तो प्रतिभासित हो और अन्य ही किसी रूप बतावे सो बनता नही, यदि ऐसा कहेगे तो अति प्रसग होगा फिर तो घट ज्ञान पटका व्यवस्थापक बन सकता है ।

न च तत्र तथा तेषा प्रतिभासेपि सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भाद्यथानुभव व्यवसायानुपपत्तेः स्थिरस्थूलादिरूपतया व्यवसाय', इत्यभिधातव्यम्, अनुपहतेन्द्रियस्यान्यादृग्भूतार्थनिश्चयोत्पत्तिकल्पनाया प्रतिनियतार्थव्यवस्थित्यभावानुषङ्गात् । नीलानुभवेपि पीतादिनिश्चयोत्पत्तिकल्पनाप्रसङ्गात् । तथा च "यत्रैवजनयेदेना तत्रैवास्य प्रमाणता" [ ] इत्यस्य विरोध । ततो

भावार्थ—पहले पदार्थ का किसी अन्य रूप प्रतिभास हुआ था और पुन किसी अन्य रूप हुआ तब उस दूसरे प्रतिभास के अनुसार जब पदार्थ साक्षात् अर्थक्रियाकारी दिखायी देवे तब वह दूसरा प्रतिभास या ज्ञान पहले प्रतिभास का बाधक कहलाता है । जैसे "यह जल है" ऐसा मरीचिका मे पहले प्रतिभास हुआ था वह दूसरे वास्तविक प्रतिभास से बाधित होता है कि यह जल नही किन्तु मरीचिका है, क्योकि इसमे अर्थक्रियादि दिखायी नही देती इत्यादि । यहा पर बौद्ध ने कहा था कि अनुवृत्ताकार प्रतिभास बाधित होता है अत. वह असत्य है, किन्तु यह बात सर्वथा गलत है, अनुवृत्ताकार प्रतिभास को बाधित करने वाला कोई वास्तविक प्रमाण ही नही है, प्रत्यक्षादि प्रमाण तो प्रत्येक पदार्थ को स्थिर, साधारण—सदृश परिणामादि से युक्त ही प्रतिभासित कर रहे है । अत. अनुवृत्ताकार प्रत्यय बाधित होता है ऐसा बौद्ध का कहना ही बाधित होता है न कि अनुवृत्त प्रत्यय बाधित होता है ।

बौद्ध- प्रत्यक्षादि प्रमाण मे जो पदार्थो की स्थिर—सदृश आदि रूप प्रतीति होती है वह अन्य अन्य सदृश परिणामो के उत्पन्न होने से होती है, उस अपर अपर सदृश परिणाम के कारण ही पदार्थ का वास्तविक प्रतिभास होता नही और स्थिर—स्थूल—सदृशादि रूप प्रतिभास होने लग जाता है, अर्थात् पदार्थ का क्षणिक रूप निश्चय न होकर नित्य रूप निश्चय होने लगता है ?

जैन—इस तरह नही कहना । देखिये—जिसकी इन्द्रिय उपहत [सदोष] नही है ऐसे मनुष्य के भी अन्य तरह—[वस्तु स्वरूप से विपरीत] का अर्थ निश्चय उत्पन्न होना स्वीकार करेंगे तो किसी भी पदार्थ की प्रतिनियत व्यवस्था बन नही सकेगी । फिर तो कोई पदार्थ नील स्वरूप अनुभव मे आने पर भी उसमे पीत आदि रूप निश्चय उत्पन्न होने लगेगा ? इस तरह तो "यत्रैव जनयेदेना तत्रैवास्य प्रमाणता" निर्विकल्प प्रत्यक्ष जिस विषय मे सविकल्प बुद्धि को उत्पन्न करता है मात्र उसी विषय

यथाविधार्थाध्यवसायो विकल्पस्तथाविधार्थस्यैवानुभवो ग्राहकोभ्युपगन्तव्यः । न चार्थस्य प्रति [क्षण] विनाशित्वात्तत्सामर्थ्यबलोद्भूतेनाध्यक्षेणापि तद्रूपमेवानुकरणीयमिति वाच्यम्, इतरेतराश्रयानुषङ्गात्–सिद्धे हि क्षणक्षयित्वेऽर्थाना तत्सामर्थ्याविनाभाविनोध्यक्षस्य तद्रूपानुकरण सिद्धचति, तत्सिद्धौ च क्षणक्षयित्व तेषा सिध्यतीति ।

नाप्यनुमान तद्ग्राहकम्; तत्र प्रत्यक्षाप्रवृत्तावनुमानस्याप्रवृत्तेः । तथा हि–अध्यक्षाधिगतमविनाभावमाश्रित्य पक्षधर्मतावगमबलादनुमानमुदयमासादयति । प्रत्यक्षाविषये तु स्वर्गादाविवानुमानस्याप्रवृत्तिरेव ।

मे वह प्रमाणभूत माना है" इत्यादि कथन विरुद्ध पड़ेगा ? क्योकि इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि वस्तु जैसी है वैसा ही उसमे निश्चय होता है । इस अति प्रसंग को दूर करने के लिये जिस प्रकार का पदार्थ का निश्चायक विकल्प होता है उसी प्रकार के पदार्थ का ग्राहक अनुभव होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

बौद्ध—प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनाशशील है अतः उस पदार्थ के सामर्थ्य के बल से उत्पन्न होने वाला जो प्रत्यक्ष है वह उसके रूप का ही अनुकरण करेगा मतलब प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थ से उत्पन्न होता है अतः उसीके आकार वाला होना जरूरी है और इसीलिये उस तरह के [क्षणिकत्व के] अनुभव का ग्राहक प्रमाण होता है ?

जैन—ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष आवेगा–पदार्थो का क्षणिकपना सिद्ध होने पर तो उसके सामर्थ्य का अविनाभावी प्रत्यक्ष का तद् रूप अनुकरण सिद्ध होगा, और उसके सिद्ध होने पर पदार्थो का क्षणक्षयीपना सिद्ध होगा, इस तरह दोनो असिद्ध ही रहेगे ।

पदार्थो के क्षणिकत्व को अनुमान भी ग्रहण नही कर सकता है, क्योकि प्रत्यक्ष की उसमें प्रवृत्ति नही होने से अनुमान की प्रवृत्ति नही हो सकेगी, अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए अविनाभाव का आश्रय लेकर पक्षधर्मता के ज्ञान के बल से अनुमान प्रमाण उत्पन्न होता है, जो प्रत्यक्ष का विषय नही है ऐसे स्वर्ग आदि के विषय के समान विषय मे तो अनुमान की अप्रवृत्ति हो रहती है ।

किञ्च, अत्र स्वभावहेतो , कार्यहेतोर्वा व्यापार: स्यात् ? न तावत्स्वभावहेतो , क्षणिकस्वभावतया कस्यचिदर्थस्त्रभावस्यानिश्चयात्, क्षणिकत्वस्याध्यक्षागोचरत्वात् । अध्यक्षगोचरे एव ह्यर्थे स्वभावहेतोर्व्यवहृतिप्रवर्तनफलत्वम्, यथा विशददर्शनावभासिनि तरौ वृक्षत्वव्यवहारप्रवर्त्तनफलत्व शिंशपाया: ।

अथोच्यते–'यो यद्भाव प्रत्यन्यानपेक्ष. स तत्स्वभावनियत. यथाऽन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने, विनाश प्रत्यन्यानपेक्षाश्च भावा ' इति, तदप्युक्तिमात्रम्, हेतोरसिद्धे. । न खलु मुद्गराद्यनपेक्षा घटादयो भावा प्रमाणतो विनाशमनुभवन्तोनुभूयन्ते प्रतीतिविरोधात् ।

यदि जबरदस्ती मान भी लेवे कि प्रत्यक्ष के अविषयभूत क्षणिकत्व मे अनुमान की प्रवृत्ति होती है तो उसमे कौन से हेतु का व्यापार होगा स्वभाव हेतु का या कार्य हेतु का ? स्वभाव हेतु का तो हो नही सकता, क्योकि किसी भी पदार्थ का स्वभाव क्षणिकत्व स्वभाव रूप से निश्चित नही है । क्षणिकत्व का अनिश्चय भी इसीलिये है कि वह प्रत्यक्ष के गोचर नही है । तथा स्वभाव हेतु के व्यवहार प्रवृत्ति की सफलता प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ मे ही हुआ करती है, जिस प्रकार कि विशद प्रत्यक्ष से अवभासित हुए वृक्ष मे शिशपानामा स्वभाव हेतु से वृक्षत्व व्यवहार की प्रवृत्तिरूप फल है, अभिप्राय यह है कि स्वभाव हेतु वाला अनुमान प्रत्यक्ष गोचर पदार्थ मे प्रवृत्त होता है न कि प्रत्यक्ष के अविषय मे, अत स्वभाव हेतु वाला अनुमान क्षणिकत्व का ग्राहक नही बन सकता ।

बौद्ध—पदार्थ विनाश स्वभाव से नियत है, क्योकि विनाश के लिये अन्य की अपेक्षा नही रखते है, जो जिस भाव के प्रति अन्य से अनपेक्ष है वह विनाश स्वभाव से नियत रहता है, जैसे अतिम कारण सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करने मे अन्य की अपेक्षा नही करती है, प्रत्येक पदार्थ विनाश के प्रति अन्य की अपेक्षा रखते हो नही, अत: विनाश स्वभाव नियत है, इस अनुमान द्वारा पदार्थो का क्षणिकत्व सिद्ध होता है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, विनाश प्रति अन्य अनपेक्षत्वनामा अनुमान का हेतु असिद्ध है, आपका जो कहना है कि पदार्थ विनाश होने के लिये अन्य अनपेक्ष हैं किन्तु यह बात असिद्ध है, घट आदि पदार्थ लाठी आदि की अपेक्षा किये बिना विनाश को प्राप्त होते है ऐसा प्रमाण से अनुभव मे नही आता है, यह तो प्रतीति विरुद्ध बात

किञ्च, अत्रान्यानपेक्षत्वमात्रं हेतु, तत्स्वभावत्वे सत्यन्यानपेक्षत्व वा ? प्रथमपक्षे यव-बीजादिभिरनेकान्तो हेतोः, शाल्यंकुरोत्पादनसामग्रीसन्निधानावस्थाया तदुत्पादनेऽन्यानपेक्षाणामप्येषा तद्भावनियमाभावात् । द्वितीयपक्षे तु विशेष्यासिद्धो हेतु, तत्स्वभावत्वे सत्यप्यन्यानपेक्षत्वासिद्धेः । न ह्यन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादनस्वभावापि द्वितीयक्षणानपेक्षा तदुत्पादयति, दहनस्वभावो वा वह्नि करतलादिसयोगानपेक्षो दाह विदधाति । भागे विशेषणासिद्धं च तत्स्वभावत्वे सत्यन्यान-पेक्षत्वम्, शृङ्गोत्थशरादीनां क्षणिकस्वभावाभावात् ।

है । तथा "विनाश प्रति अन्यानपेक्षत्व" जो हेतु है वह अन्यानपेक्षत्व–मात्र है अथवा "तत्स्वभावत्वे सति अन्यानपेक्षत्व" है । प्रथम पक्ष–विनाश के प्रति अन्य की अपेक्षा मात्र नही रखना ऐसा हेतु बनाते है तो यव बीजादि के साथ हेतु की अनैकान्तिकता होगी, कैसे सो बताते है—जो अन्य की अपेक्षा नही रखता वह विनाश स्वभाव नियत है ऐसा कथन व्यभिचरित है, क्योकि शालि के अकुर को उत्पन्न करनेवाली सामग्री निकट होने पर उनके उत्पादन मे अन्य की अपेक्षा नही रखने वाले भी इन यव बीजो के तद् भाव नियम विनाश स्वभाव का नियम नही रहता है ।

दूसरापक्ष—"तत् स्वभावत्वे सति अन्यानपेक्षत्व" विनाश स्वभाव होने पर अन्य अनपेक्षपना है । इस तरह का हेतु बनावे तो वह विशेष्य–असिद्ध नामा सदोष हेतु कहलायेगा । क्योकि वस्तु मे विनाश स्वभाव सिद्ध होने पर भी वह विनाश अन्य निरपेक्ष ही है ऐसा सिद्ध नही है, यह बात भी है कि अतिम कारण सामग्री स्व कार्य की उत्पादन स्वभाव वाली है किन्तु वह भी द्वितीय क्षण की अपेक्षा बिना स्व कार्य को उत्पन्न नही कर सकती, जैसे कि जलाने का स्वभाव वाली अग्नि हाथ आदि के सयोग की अपेक्षा किये बिना जलाने का कार्य नही कर सकती । "तत् स्वभावत्वे सति अन्यानपेक्षत्व" हेतु भागा सिद्ध विशेषण वाला भी है, क्योकि सभी पदार्थ विनाश स्वभाव नियत है, ऐसा पक्ष है किन्तु महिष आदि के सीग से बनाये हुए बाण आदि मे क्षणिक स्वभाव का अभाव है । अत. सभी पदार्थ क्षणिक स्वभावी विनाश स्वभावी है ऐसा कहना गलत पडता है ।

दूसरी बात यह विचारणीय है, यदि मान लेवे कि विनाश अहेतुक है तथापि जब लाठी आदि के व्यापार के अनतर उपलब्ध हो तब उसे मानना चाहिये न कि उत्पत्ति के अनतर ही, अर्थात् घट का विनाश लाठी की चोट लगने पर होता हुआ

किञ्च, यदि नामाऽहेतुको विनाशस्तथापि यदैव मुद्गरादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यते तदैवासावभ्युपगमनीयो नोदयानन्तरम्, कस्यचित्तदा तदुपलम्भाभावात्। न च मुद्गरादिव्यापारानन्तरमस्योपलम्भात्प्रागपि सद्भाव: कल्पनीय., प्रथमक्षणे तस्यानुपलम्भान्मुद्गरादिव्यापारानन्तरमप्यभावानुषङ्गात्। न चान्ते क्षयोपलम्भादादावप्यसावभ्युपगन्तव्य:, सन्तानेनानेकान्तात्।

किञ्च, उदयानन्तरध्वसित्व भावानाम् भिन्नाभिन्नविकल्पाभ्यामन्येन ध्वसस्यासम्भवादवसीयते, प्रमाणान्तराद्वा ? तत्रोत्तरविकल्पोऽयुक्त:, प्रत्यक्षादेरुदयानन्तरध्वसित्वेनार्थग्राहकत्वाप्रतीते। प्रथमविकल्पे तु भिन्नाभिन्नविकल्पाभ्या मुद्गराद्यनपेक्षत्वमेवास्य स्यात् न तूदयानन्तर भाव:। न खलु निर्हेतुकस्याश्वविषाणादे: पदार्थोदयानन्तरमेव भावितोपलब्धा।

दिखायी देता है अत तभी उसे मानना चाहिये न कि कुम्हार के द्वारा घट के बनते ही। घट उत्पत्ति के अनतर विनष्ट हुआ ऐसा किसी को उस समय दिखायी भी नही देता है। लाठी आदि के व्यापार के अनतर घट का नाश उपलब्ध होने से पहले भी उसका नाश का सद्भाव बताना तो ठीक नही, यदि इस तरह मानेगे तो लाठी के व्यापार के पूर्व क्षण मे नाश की उपलब्धि नही होने से उस व्यापार के अनतर भी नाश की उपलब्धि नही हो सकेगी। लाठी के व्यापार के अत मे घट विनाश उपलब्ध होता है अत उस व्यापार के आदि मे भी विनाश था ऐसा कहना भी गलत ठहरेगा, देखिये–जो जो अत मे विनष्ट होता है वह वह आदि मे विनष्ट होता है ऐसा कहेगे तो सतान के साथ अनेकान्त होगा, क्योकि आत्म सतान का निर्वाण के अन्त मे तो उत्तर क्षण की उत्पत्ति का नाश होता है किन्तु आदि में तो नाश नही होता।

सपूर्ण पदार्थ उत्पत्ति अनतर ही नष्ट हो जाते है, सो इस बात का निश्चय कैसे होता है ? लाठो द्वारा घट का नाश किया जाता है वह घट से यदि भिन्न है तो घट का अभाव हो नही सकता, और यदि अभिन्न है तो लाठी ने घट को ही किया ऐसा अर्थ निकलता है, अत. हम बौद्ध घट का विनाश पर से होना असभव देख स्वय ही घटादिक विनाश शील है ऐसा मानते है। इस तरह बौद्ध की मान्यता है, अथवा "घटादि पदार्थ उत्पत्ति के अनतर नाश होने वाले है" ऐसा प्रमाणातर से ज्ञात होने के कारण पदार्थ को विनाश शील मानते है। किसी प्रमाण से घटादि का उत्पत्ति अनतर विनाश जाना जाता है ऐसा उत्तर विकल्प अयुक्त होगा, क्योकि प्रत्यक्षादि प्रमाण से उत्पत्ति के अनतर ही पदार्थ नष्ट होते है ऐसा जाना नही जाता। प्रथम

अथाहेतुकत्वेन ध्वसस्य सदा सम्भवात्कालाद्यनपेक्षात: पदार्थोदयानन्तरमेव भाव:; नन्वेवमहेतुकत्वेन सर्वदा भावात्प्रथमक्षणे एवास्य भावानुषङ्गो नोदयानन्तरमेव। न ह्यनपेक्षत्वादहेतुक: क्वचित्कदाचिच्च भवति, तथाभावस्य सापेक्षत्वेनाहेतुकत्वविरोधिना सहेतुकत्वेन व्याप्तत्वात्, तथा सौगतैरप्यभ्युपगमात्।

ननु प्रथमक्षणे एव तेषा ध्वसे सत्त्वस्यैवासम्भवात्कुतस्तत्प्रच्युतिलक्षणो ध्वस: स्यात् ? तत· स्वहेतोरेवार्था ध्वसस्वभावा: प्रादुर्भवन्ति, इत्यप्यविचारितरमणीयम्, यतो यदि भावहेतोरेव

विकल्प–लाठी आदि से घट आदि का नाश किया जाता है वह घट से भिन्न माने चाहे अभिन्न माने, दोनो तरह से बनता नही अतः घटादि का विनाश स्वयं होता है ऐसा यदि क्षणिक वादी का मतव्य हो तो इससे "घटादि का विनाश लाठी आदि की अपेक्षा नही रखता" इतना ही सिद्ध होगा किन्तु उत्पत्ति के अनतर तत्काल ही नाश होना सिद्ध नही हो सकता। कहने का अभिप्राय यही है कि आप नाश को निर्हेतुक मानते है लाठी आदि हेतु से घटादिक नष्ट हुए ऐसा कहना आपको इष्ट नही है किन्तु ऐसे निर्हेतुक रूप विनाश को मान लेने पर भी आपका सिद्धात–"घटादि पदार्थ उत्पत्ति के अनतर तत्काल ही नष्ट होते है" सिद्ध नही होता है, देखिये–जो निर्हेतुक हो वह उत्पत्ति अनतर नष्ट हो ऐसा नियम नही है, अश्व विषाण आदिक निर्हेतुक है किन्तु वह अश्व रूप पदार्थ के उत्पत्ति अनंतर ही होते हुए नही देखे जाते है।

बौद्ध—हम तो ऐसा मानते है कि नाश जब निर्हेतुक है अन्य कारण की अपेक्षा नही रखता है तो वह हमेशा होना सभव ही है अत. काल आदि की अपेक्षा किये बिना वह विनाश पदार्थ के उत्पत्ति अनंतर ही हो जाया करता है।

जैन—यदि ऐसी बात है तो अहेतुक होने के कारण सदा विद्यमान ऐसे उस विनाश को प्रथम क्षण मे ही हो जाना चाहिये, उत्पत्ति के अनतर ही होना तो बनता नही। जो अनपेक्ष होने से अहेतुक है वह किसी एक स्थान पर, किसी एक समय ही होता हो ऐसा नही बनता, क्योकि जो कभी कभी किसी किसी स्थान पर मात्र होता है वह कालादि की अपेक्षा सहित होता है अतः वह अहेतुकपन का विरोधी सहेतुक से व्याप्त रहेगा। आप बौद्धो ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है कि जो कभी कभी होता है वह निर्हेतुक नही होता किन्तु सापेक्ष होता है।

तत्प्रच्युति', तदा किमेकक्षणस्थायिभावहेतोस्तत्प्रच्युति', कालान्तरस्थायिभावहेतोर्वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्त, एव (क) क्षणस्थायिभावहेतुत्वस्याऽद्याप्यसिद्धे तत्कृतत्वं तत्प्रच्युतेरसिद्धमेव । द्वितीयपक्षे तु क्षणिकताऽभावानुषङ्ग ।

किञ्च, भावहेतोरेव तत्प्रच्युतिहेतुत्वे किमसौ भावजननात्प्राक्तत्प्रच्युति जनयति, उत्तरकालम्, समकाल वा ? प्रथमपक्षे प्रागभावः प्रच्युति। स्यान्न प्रध्वसाभावः । द्वितीयपक्षे तु भावो-

---

बौद्ध—प्रथम क्षण मे ही विनाश हो जाना चाहिये ऐसा आपने कहा किन्तु पदार्थों का नाश प्रथम क्षण मे ही होवेगा तो उनका सत्त्व ही असभव है फिर सत्त्व की प्रच्युति रूप नाश कैसे होवे ? क्योकि पदार्थ तो उत्पन्न ही नही हो पाये, अत पदार्थ अपने हेतु से उत्पन्न होते हुवे नाश स्वभाव वाले ही उत्पन्न हुआ करते हैं, ऐसा हम मानते है ।

जैन—यह कथन अविचारित रमणीय है, आपने कहा कि पदार्थ अपने हेतु से उत्पन्न होते हुए नाश स्वभाव वाले ही उत्पन्न होते है सो पदार्थ की उत्पत्ति का जो हेतु है वही प्रच्युति–नाश का हेतु है ऐसा आपने स्वीकार किया है, इस पर हम जैन का प्रश्न है कि पदार्थ के उत्पत्ति का जो हेतु है वह एक क्षण स्थायी है या कालातर स्थायी है जिससे कि प्रच्युति–नाश भी होना है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योकि एक क्षण स्थायी पदार्थ हेतु रूप होना अभी तक सिद्ध नही है, अत पदार्थ की उत्पत्ति का जो हेतु है वही प्रच्युति का हेतु है यह असिद्ध ही है । द्वितीय पक्ष–कालातर स्थायी भाव हेतु पदार्थ की उत्पत्ति का कारण है ऐसा कहने पर पदार्थों की क्षणिकता सिद्ध नही होती है ।

दूसरी बात यह है कि भाव स्वभाव वाले जो हेतु है जैसे मिट्टी, चक्र आदि घट के उत्पत्ति के भाव स्वभाव हेतु है, इन्ही से घटादि के नाश होता है ऐसा जो बौद्ध कहते है उसमे प्रश्न होता है कि वह भाव रूप हेतु पदार्थ को उत्पन्न करने के पहले उसके नाश को पैदा करते हैं अथवा उत्तरकाल मे याकि समकाल में करते है ? प्रथम पक्ष–घटादि को उत्पन्न करने के पहले उसके नाश को पैदा करते है ऐसा कहो तो घटादि का जो प्रागभाव है वही नाश कहलायेगा, प्रध्वसाभाव नही । द्वितीय पक्ष–घटोत्पत्ति

त्पत्तिवेलाया तत्प्रच्यूतेरुत्पत्त्यभावान्न भावहेतुस्तद्धेतु । तथा चोत्तरोत्तरकालभाविभावपरिणतिमपेक्ष्योत्पद्यमाना तत्प्रच्युति. कथ भावोदयानन्तरं भाविनी स्यात् ? तृतीयपक्षेपि भावोदयसमसमयभाविन्या तत्प्रच्युत्या सह भावस्यावस्थानाविरोधान्न कदाचिद्भावेन नष्टव्यम् । कथं चासौ मुद्गरादिव्यापारानन्तरमेवोपलभ्यमाना तदभावे चानुपलभ्यमाना तज्जन्या न स्यात् ? अन्यत्रापि हेतुफलभावस्यान्वयव्यतिरेकानुविधानलक्षणत्वात् ।

न च मुद्गरादीनां कपालसन्तत्युत्पादे एव व्यापार इत्यभिधातव्यम्, घटादेः स्वरूपेणाविकृतस्यावस्थाने पूर्ववदुपलब्ध्यादिप्रसङ्गात् । न चास्य तदा स्वयमेवाभावान्नोपलब्ध्यादिप्रसङ्ग., तदभावस्यापि तदैवोपलभ्यमानतयाऽन्यदा चानुपलभ्यमानतया कपालादिवत्तत्कार्यतानुषङ्गात् ।

के उत्तर काल मे भाव हेतु घटादि के नाश को उत्पन्न करते है, ऐसा कहो तो घट आदि के उत्पत्ति के समय मे उसके नाश की उत्पत्ति नही होने के कारण भाव हेतु ही [उत्पत्ति का हेतु ही] नाश का हेतु है ऐसा कहना गलत ठहरता है । जब भाव हेतु [मिट्टी चक्रादि] नाश के हेतु रूप सिद्ध नही होते है तब जो नाश उत्तरोत्तर कालभावी पदार्थ की परिणति की अपेक्षा लेकर उत्पन्न होता है उस नाश को पदार्थ की उत्पत्ति के अनंतर ही होता है ऐसा किस प्रकार कह सकते है ? तीसरा पक्ष–भाव हेतु पदार्थ की उत्पत्ति के समान काल मे प्रच्युति को पैदा करते है ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योकि इस तरह तो पदार्थ की उत्पत्ति के समान काल मे होने वाली प्रच्युति के साथ पदार्थ का अवस्थान होने मे भी विरोध नही रहने से पदार्थ को कभी भी नष्ट नही होना चाहिये । आप घटादि पदार्थो का नाश लाठी आदि से नही होता है ऐसा कहते हैं किन्तु जब लाठी की चोट लगते ही घटादिक नष्ट होते है और नही लगने पर नष्ट नही होते है, तो किसप्रकार लाठी आदि द्वारा घटादि का नाश होना नही मानेंगे । क्योकि घटादि का नाश होकर कपालादिकी उत्पत्ति मे भी कारण कार्य का अन्वय व्यतिरेक भाव देखा जाता है, अर्थात् लाठी की चोट लगे तो घट फूट कर कपाल बना [अन्वय] और लाठी आदि की चोट का निमित्त नही मिला तो घट फूटकर कपाल की उत्पत्ति नही हुई [व्यतिरेक] अत. घटादि पदार्थ के नाश के कारण लाठी आदिक है ऐसा सिद्ध होता है ।

बौद्ध – घट आदि पदार्थ के नाश का कारण लाठी आदि नही है, लाठी आदिक तो मात्र कपाल [ठोकरे] की उत्पत्ति मे कारण हुआ करते है ।

अथ घट एव मुद्गरादिकं विनाशकारणत्वेन प्रसिद्धमपेक्ष्य समानक्षणान्तरोत्पादनेऽसमर्थं क्षणान्तरमुत्पादयति, तदप्यपेक्ष्य अपरमसमर्थतरम्, तदप्युत्तरमसमर्थतमम्, यावद्घटसन्ततेर्निवृत्तिरित्युच्यते, ननु चात्रापि घटक्षणस्यासमर्थक्षणान्तरोत्पादकत्वेनाभ्युपगतस्य मुद्गरादिना कश्चित्सामर्थ्यविघातो विधीयते वा, न वा ? प्रथमविकल्पे कथमभावस्याहेतुकत्वम् ? द्वितीयविकल्पे तु

जैन—यह कथन गलत है, यदि लाठी द्वारा घट का नाश नही होता है तो घटादि का स्वरूप लाठी के चोट के वाद भी जैसा का तैसा वना रहेगा, फिर उसकी पहले के समान उपलब्धि होना, जल भरने मे काम आना इत्यादि क्यों नही होते हैं ? होने चाहिये।

बौद्ध—लाठी आदि के सन्निधि मे स्वय ही घटादि का अभाव हो जाता है, अत वह उपलब्ध नही हो पाता है।

जैन—यदि ऐसा कहेगे तो घट का अभाव भी जव लाठी का व्यापार होता है तब उपलब्ध होता है और लाठी का व्यापार नही होने पर नही होता है इस तरह घटाभाव का कपाल के समान ही लाठी व्यापार के साथ अन्वय व्यतिरेक होने से उसका कार्य कहलाने लगेगा, अर्थात् जैसे कपाल की उत्पत्ति लाठी व्यापार के साथ अन्वय व्यतिरेक रखने से लाठी व्यापार का कार्य माना जाता है वैसे ही घट का अभाव भी लाठी व्यापार के साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है अत' उसका कार्य माना जायगा। [फिर अभाव निर्हेतुक ही होता है ऐसा बौद्ध सिद्धात गलत ठहरता है]

बौद्ध—घट विनाश के उत्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है—लाठी आदि लोक व्यवहार मे घटादि के विनाश के कारण रूप से प्रसिद्ध है उसकी सहायता मात्र लेकर घट स्वयं ही नाश का कारण बनता है, प्रथम घट क्षण जो कि मिट्टी चक्र आदि से उत्पन्न हुआ है, वह समान क्षणान्तर को उत्पन्न करने मे असमर्थ ऐसा दूसरा घट क्षण [घट] उत्पन्न करता है, पुन वह द्वितीय घट क्षण भी उसकी [लाठी आदि की] अपेक्षा लेकर तीसरा असमर्थतर घट क्षण उत्पन्न करता है, फिर तीसरा भी चतुर्थ असमर्थतम घट क्षण को उत्पन्न करता है, यह कार्य तब तक चलता है जब तक कि घट सतति की निवृत्ति नही होती है। अभिप्राय यह है कि घट क्षण से आगे आगे

मुद्गरादिसन्निपाते तज्जनकस्वभावाऽव्याहतौ समर्थक्षणान्तरोत्पादप्रसङ्ग:, समर्थक्षणान्तरजननस्वभावस्य भावात्प्राक्तनक्षणवत् ।

किञ्च, भावोत्पत्तेः प्रागभावस्याभावनिश्चये तदुत्पादककारणापादन कुर्वन्त. प्रतीयन्ते प्रेक्षापूर्वकारिण: तदुत्पत्तौ च निवृत्तव्यापारा:, विनाशकहेतुव्यापारानन्तरं च शत्रुमित्रध्वसे सुखदु खभाजोऽनुभूयन्ते । न चानयो: सद्भाव: सुखदु:खहेतु:, ततस्तद्व्यतिरिक्तोऽभावस्तद्धेतुरभ्युपगन्तव्य: ।

अशक्त–क्षीण क्षीण शक्ति वाले घट क्षण होते जाते है, और अंत में घट सतान का निरन्वय अभाव हो जाता है, इसमें घट का अभाव हुआ तो स्वय ही किन्तु लाठी आदि की अपेक्षा मात्र लेकर हुआ अतः व्यवहार मे कह देते है कि लाठी की चोट से घट का विनाश हुआ ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो बताइये कि घट क्षण ही अन्य असमर्थ घट क्षण का उत्पादक है सो उस घट क्षण का लाठी द्वारा कुछ सामर्थ्य का विघात होता है कि नही, यदि होता है तो अभाव या नाश निर्हेतुक कहा रहा ? और यदि लाठी से घट क्षण के सामर्थ्य का विघात नही होता है ऐसा मानते है तो लाठी आदि के चोट लगने पर घट के क्षणातर को उत्पन्न करने का स्वभाव अबाधित रह जाने से समर्थ अन्य घट क्षण को वह उत्पन्न कर सकता है क्योकि उसमे समर्थ घट क्षण को उत्पन्न करने का स्वभाव मौजूद ही है, जैसे लाठी के चोट के पहले था । तथा घट आदि पदार्थ के उत्पत्ति के पहले उसका अभाव जब निश्चित मालूम रहता है तभी बुद्धिमान लोग उस घट आदि के उत्पादक कारणो को ग्रहण करते हुए देखे जाते है, एवं जब उनका घटोत्पत्ति आदि कार्य सपन्न हो जाता है तब वे उस कार्य से निवृत्त भी होते हुए देखे जाते है, घट आदि पदार्थ किसी को प्रिय होने से मित्रवत् है और किसी को अप्रिय होने से शत्रुवत् है अत उस शत्रु मित्र रूप घटादि के विनाशक कारण–लाठी आदि के व्यापार के अनंतर किसी को सुख हर्ष और किसी पुरुष को दु ख होता है । शत्रु और मित्र स्वरूप इन घटो का सद्भाव तो सुख और दु ख का कारण नही हो सकता, अत. घटादि पदार्थ के अभाव का हेतु उन पदार्थ के अतिरिक्त कोई है ऐसा मानना चाहिये ।

किञ्च, अभावस्यार्थान्तरत्वानभ्युपगमे किं घट एव प्रध्वंसोऽभिधीयते, कपालानि, तदपर पदार्थान्तर वा ? प्रथमपक्षे घटस्वरूपेऽपर नामान्तर कृतम् । तत्स्वरूपस्य त्वविचलितत्वान्नित्यत्वानुषङ्गः । अथैकक्षणस्थायि घटस्वरूप प्रध्वस., न, एकक्षणस्थायितया तद्रूपस्याद्याप्यप्रसिद्धेः । द्वितीयपक्षेपि प्राक्कपालोत्पत्तेः घटस्यावस्थिते· कालान्तरावस्थायितैवास्य, न क्षणिकता ।

किञ्च, कपालकाले 'स , न' इति शब्दयो· किं भिन्नार्थत्वम्, अभिन्नार्थत्वं वा ? भिन्नार्थत्वे कथ न नञ्शब्दवाच्य. पदार्थान्तरमभाव ? अभिन्नार्थत्वे तु प्रागपि नञ्प्रयोगप्रसक्तिः । न चानुपलम्भे सति नञ्प्रयोग इत्यभिधातव्यम्; व्यवधानाद्यभावे स्वरूपादप्रच्युतार्थस्यानुपलम्भानुपपत्तेः । स्वरूपात्प्रच्युतौ वा कथ न कपालकाले मुद्गरादिहेतुक भावान्तर प्रच्युतिर्भवेत् ?

आप बौद्ध से हम जैन का प्रश्न है कि घट आदि पदार्थ से उसका अभाव [विनाश] अर्थान्तरभूत नही है ऐसा आप कहते है–सो विनाश किसे कहा जाय, घट को नाश कहेगे कि कपाल–ठीकरो को नाश कहेगे, अथवा अन्य ही पट आदि को नाश कहेगे ? घट को ही नाश कहते है तो वह नाश घट का स्वरूप हुआ, उसीका प्रध्वस या नाश यह नाम धरा, और जब प्रध्वंस घट का स्वरूप बना तो स्वरूप अचलित होता है अत. नित्य रहने का प्रसग आयेगा ।

शका—एक क्षण स्थायी घट का जो स्वरूप है उसे प्रध्वस कहना चाहिये ?

समाधान—ऐसा नही कहना, घट का एक क्षण स्थायीपना अभी तक सिद्ध ही नही हुआ है । कपालो को प्रध्वस कहते है ऐसा दूसरा पक्ष रखे तो कपालो की उत्पत्ति के पहले घट की अवस्थिति रह जाने से कालातर तक घट का सद्भाव सिद्ध हुआ, इससे तो घट की क्षणिकता सिद्ध न होकर अक्षणिकता ही सिद्ध होती है ।

किंच, कपाल के काल मे "वह" "नही" ऐसे दो शब्द है सो इन दोनो का भिन्न भिन्न अर्थ है अथवा अभिन्न–एक ही अर्थ है ? भिन्न भिन्न अर्थ है तो नञ शब्द का वाच्यभूत एक पृथक् पदार्थ रूप अभाव कैसे नही सिद्ध हुआ ? हुआ ही । 'वह' और 'नही', इन शब्दो का अभिन्न–एक अर्थ है ऐसा माने तो घटाभाव के पहले भी 'न' 'नही' शब्द का प्रयोग होने का प्रसग आता है । अर्थात् घट मौजूद रहते हुए भी "घट नही है" ऐसा कहना होगा ।

अथ घटकपालव्यतिरिक्तं भावान्तर घटप्रध्वसः, नन्वत्रापि तेन सह घटस्य युगपदवस्थानाविरोधात् कथ तत्तत्प्रध्वसः ? अन्यथोत्पत्तिकालेपि तत्प्रध्वसप्रसङ्गाद्घटस्योत्पत्तिरेव न स्यात् ।

अन्यानपेक्षतया चाग्नेरुष्णत्ववत्स्वभावतोऽभावस्य भावे स्थितेरपि स्वभावतो भाव किन्न स्यात् ? शक्यते हि तत्राप्येव वक्तुं कालान्तरस्थायी स्वहेतोरेवोत्पन्नो भावो न तद्भावे भावान्तरमपेक्षते अग्निरिवोष्णत्वे । भिन्नाभिन्नविकल्पस्य चाभाववत् स्थितावपि समानत्वात् तत्राप्यन्यानपेक्षया

शका—जब घट उपलब्ध नही होगा तब 'न' नही शब्द का प्रयोग होगा, पहले से नही ?

समाधान—ऐसा नही कह सकते, जिसमे किसी प्रकार देश आदि का व्यवधान नही है, जो स्वरूप से च्युत भी नही हुआ है ऐसा यदि पदार्थ है तो वह अनुपलब्ध क्यो रहेगा ? वह तो उपलब्ध हो ही जायगा, मतलब दूर देशादि मे भी घट नही है निकट मे है, स्वरूप भी उसका नष्ट नही हुआ है तो वह दिखायी देना ही चाहिये । यदि घट, कपाल काल मे स्वरूप से च्युत होता है ऐसा स्वीकार करते है, तब तो कपाल काल मे लाठी आदि हेतु से घटादि का भावातर रूप से हो जाना प्रच्युति या विनाश है यह सिद्ध हुआ ।

तीसरा पक्ष—घट तथा कपाल से पृथग्भूत पदार्थ को घट का प्रध्वस कहते है ऐसा माने तो उसमे पुनः प्रश्न होता है कि पृथग्भूत पदार्थ स्वरूप उस घट के प्रध्वस के साथ घट का युगपत् रहना अविरुद्ध होने से वह घट का प्रध्वंस कैसे करेगा ? यदि कर सकता है तो घट क्षण की उत्पत्ति काल मे भी कर सकेगा । फिर तो घट की उत्पत्ति ही नही हो सकेगी ।

यदि अग्नि का उष्णत्व अन्य की अपेक्षा के बिना स्वभावतः है वैसे अभाव को स्वभावत. माना जाता है तो स्थिति-ध्रौव्य भी स्वभावतः पदार्थ मे क्यो नही रह सकता ? स्थिति के विषय मे कह सकते है कि स्वहेतु से ही पदार्थ कालातर तक ठहरने वाला उत्पन्न होता है [अर्थात् चिरकाल तक टिकने वाला पदार्थ उत्पन्न होता है न कि क्षणिक रूप उत्पन्न होता है] इसमे उसको अन्य हेतु की अपेक्षा नही करनी पडती, जैसे अग्नि उष्ण रूप से स्वभावत ही उत्पन्न होती है । जिस

निर्हेतुकत्वानुषङ्गः। तथाहि—न वस्तुनो व्यतिरिक्ता स्थितिस्तद्धेतुना क्रियते; तस्याऽस्थास्नुतापत्तेः। स्थितिसम्बन्धात्स्थास्नुता, इत्यप्ययुक्तम्, स्थितितद्वतोर्व्यतिरेकपक्षाभ्युपगमे तावत्तादात्म्यसम्बन्धोऽसङ्गत.। कार्यकारणभावोप्यनयोः सहभावादयुक्त। असहभावे वा स्थिते' पूर्वं तत्कारणस्यास्थितिप्रसग। स्थितेरपि स्वकारणादुत्तरकालमनाश्रयतानुषङ्गः। अव्यतिरिक्तस्थितिकरणे च हेतुवैयर्थ्यम्। तत स्थितिस्वभावनियतार्थस्तद्भाव प्रत्यन्यानपेक्षत्वादिति स्थितम्।

प्रकार आप अभाव या नाश के लिये प्रश्न करते है कि घट आदि पदार्थ का लाठी आदि से होने वाला अभाव घटादि से भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न है तो घट का कुछ भी नही बिगडा, अभाव तो न्यारा पडा है, और घटाभाव घट से अभिन्न है तो उस लाठी की चोट ने घट को ही किया इत्यादि इसीलिये अभाव को निर्हेतुक मानना चाहिये। सो यह भिन्न अभिन्न के प्रश्न स्थिति के लिये भी कर सकते है, वे प्रश्न इस प्रकार है—पदार्थ की स्थिति अन्य हेतुक है तो वह भिन्न है कि अभिन्न ? भिन्न है तो वह स्थिति पदार्थ की नही कहलायेगी, और अभिन्न है तो उस हेतु ने पदार्थ को ही किया ऐसा अर्थ निकलता है अत स्थिति को निर्हेतुक मानना चाहिये। इसी को आगे कहते है यदि वस्तु से व्यतिरिक्त स्थिति अन्य हेतु द्वारा की जाती है तो वस्तु अस्थिर—अस्थास्नु बन जायगी अर्थात् वस्तु एक क्षण भी टिकने वाली नही रहेगी।

शका—वस्तु मे स्थिति का सबध हो जाने से स्थास्नुता आ जाती है।

समाधान— यह बात अयुक्त है, स्थिति और स्थितिमान् वस्तु इनमे भिन्नता स्वीकार करने पर प्रश्न होता है कि स्थिति और स्थितिमान् मे कौनसा सबध है, तादात्म्य सबध तो हो नही सकता क्योकि यह भिन्न वस्तु मे नही होता है। कार्य कारण सबध माने तो नही बनता, क्योकि स्थिति और स्थितिमान् साथ रहने वाले है, साथ रहने वाले पदार्थो मे कार्य कारण हो नही सकता जैसे गाय के दाये बाये सीगोमे नही होता है। यदि स्थिति और स्थितिमान् मे सहभाव नही माना जाय तो स्थिति के पहले उसका कारण अस्थिति रूप बन जायगा ? और ऐसी परिस्थिति मे स्थिति भी अपने उत्पत्ति कारण का उत्तर काल मे आश्रय नही ले सकेगी। यदि वस्तु से अव्यतिरिक्त स्थिति को किया जाता है तो उसको हेतु की आवश्यकता नही रहती है, अर्थात् वस्तु से अभिन्न स्थिति को किसी कारण ने किया तो स्थितिमान्

अहेतुकविनाशाभ्युपगमे च उत्पादस्याप्यऽहेतुकत्वानुषङ्गो विनाशहेतुपक्षनिक्षिप्तविकल्पा-नामत्राप्यविशेषात्; तथा हि-उत्पादहेतुः स्वभावत एवोत्पित्सु भावमुत्पादयति, अनुत्पित्सु वा? आद्यविकल्पे तद्धेतुवैफल्यम्। द्वितीयविकल्पेपि अनुत्पित्सोरुत्पादे गगनाम्भोजादेरुत्पादप्रसङ्गः। स्वहेतुसन्निधेरेवोत्पित्सोरुत्पादाभ्युपगमे विनाशहेतुसन्निधानाद्विनश्वरस्य विनाशोप्यभ्युपगमनीयो न्यायस्य समानत्वात्।

ततः कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकाऽहेतुकौ कारणानन्तर सहभावाद्रूपादिवत्। न चानयोः सहभावोऽसिद्धः; "नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः॥" [ ]

वस्तु को ही किया ऐसा अर्थ निकलता है और वह वस्तु तो अपने हेतु से की जा चुकी है, अत. पुन करना व्यर्थ ठहरता है। इसप्रकार स्थिति भी अभाव के समान निर्हेतुक सिद्ध होती है, अत यह निश्चित हुआ कि घटादि यावन्मात्र पदार्थ स्थिति स्वभाव नियत ही हुआ करते है, क्योकि अपने स्थिति स्वभाव के लिये उन्हे अन्य की अपेक्षा नही करनी पड़ती।

बौद्ध नाश को अहेतुक मानते है सो नाश की तरह उत्पाद को भी अहेतुक मानने का प्रसग आता है, उत्पाद को अन्य हेतुक मानते है तो जैसे विनाश को अन्य हेतुक मानने के पक्ष मे दोष आते है वैसे इसमें भी आयेंगे, अब उसीको बताते है— उत्पाद का कारण उत्पाद को उत्पन्न करता है सो स्वत स्वभाव से ही उत्पन्न होने वाले पदार्थ को उत्पन्न करता है, या उत्पन्न नही होने के इच्छुक पदार्थ को उत्पन्न करता है? प्रथम बात;स्वीकार करते है तो उत्पाद का कारण मानना व्यर्थ ठहरता है, क्योकि पदार्थ स्वत· स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाते है। द्वितीय विकल्प—उत्पन्न नही होने वाले पदार्थ को उत्पादक कारण उत्पन्न करते है ऐसा माने तो नही उत्पन्न होने वाले आकाश पुष्प आदि को भी उत्पन्न करने का प्रसंग आता है। यदि कहो कि उत्पन्न होने वाले पदार्थ का हेतु जब निकट होता है तभी उस पदार्थ का उत्पाद होता है, तो इसी तरह विनाश का हेतु निकट होने पर ही विनश्वर पदार्थ का विनाश होता है ऐसा मानना चाहिये। क्योकि न्याय तो समान होता है। जो न्याय उत्पाद के विषय मे लागू करते है वही व्यय, नाश, अभाव या प्रच्युति के विषय मे करना चाहिये।

इत्यभिधानात्। न चाहेतुकेन पर्यायसहभाविना द्रव्येणानेकान्तः; 'कारणानन्तरम्' इति विशेषणात्। न चैवमसिद्धत्वम्, मुद्गरादिव्यापारानन्तर कार्योत्पादवत्कारणविनाशस्यापि प्रतीते, 'विनष्टो घट उत्पन्नानि कपालानि' इति व्यवहारद्वयदर्शनात्। न च साध्यविकलमुदाहरणम्, न हि कारणभूतो रूपादिकलाप कार्यभूतस्य रूपस्यैव हेतुर्न तु रसादेरिति प्रतीति। नाप्यसहभावो रूपादीना येन साधनविकल स्यात्। तन्नोक्तहेतोरर्थाना क्षणक्षयावसाय.।

इसप्रकार बौद्धाभिमत निर्हेतुक विनाश सिद्ध नही हो पाता है, इसलिये कार्य-कारण का उत्पाद विनाश न सहेतुक मानना चाहिये-न निर्हेतुक ही, क्योकि कारण के अनतर इनमे सहभाव देखा जाता है, जिसमे सहभाव रहता है वे सहेतुक या निर्हेतुक-पने से उत्पन्न नही होते, जैसे रूप आदि मे सहभाव होने से वे सहेतुकादि-स्वभाव से उत्पन्न नही होते है। नाश और उत्पाद मे सहभावीपन असिद्ध भी नही है—"नाशोत्पादौ सम यद् वद् नामोन्नामौ तुलातयो" जिसप्रकार तराजू के दो पलडों मे ऊँचापन और नीचापन एक साथ होता है उसीप्रकार पदार्थ मे नाश और उत्पाद एक साथ होते है। ऐसा सिद्धात है। "कारणातर सहभावात्" यह हेतु अहेतुक ऐसे पर्याय सहभावी द्रव्य के साथ व्यभिचरित भी नही होता है अर्थात् द्रव्य और पर्याय सहभावी होकर भी अहेतुक है अत जो सहभावी हो वह अहेतुक सहेतुक नही होता ऐसा कथन गलत ठहरता है, इसतरह की आशका भी नही करना, क्योकि "सहभावात्" हेतु मे "कारणानतरम्" यह विशेषण जुडा हुआ है, पर्याय सहभावी द्रव्य कारणातर सहभावी नही होता अत अहेतुक है। इस हेतु मे असिद्धपना भी नही है, लाठी आदि के व्यापार के अनतर जैसे कपाल रूप कार्य का उत्पाद होता हुआ प्रसिद्ध है वैसे घट रूप कारण का विनाश भी उसी कारण के अनतर होता हुआ प्रतीत होता है। जैसे ही लाठी आदि की चोट लगी वैसे ही घट फूट गया, ठीकरे हो गये, इस प्रकार दो तरह का व्यवहार देखा जाता है। "रूपादिवत्" यह दृष्टात भी साध्य विकल नही है, कारणभूत रूपादि कलाप केवल कार्यभूत रूप का ही हेतु होवे और रस गध आदि का नही होवे ऐसा प्रतीत नही होता है। रूप रस आदि मे असहभाव [क्रमभाव] हो सो भी वात नही जिससे कि दृष्टात साधन विकल कहलावे इसलिये पहले जो "तत् स्वभावत्वे सति अन्य निरपेक्षत्वात्" ऐसा हेतु बौद्ध ने प्रस्तुत किया था वह घट आदि पदार्थो के क्षणक्षयीपने को सिद्ध नही कर सकता है।

नापि सत्त्वात्; प्रतिबन्धासिद्धेः। न च विद्युदादौ सत्त्वक्षणिकत्वयोः प्रत्यक्षत एव प्रतिबन्धसिद्धेर्घटादौ सत्त्वमुपलभ्यमानं क्षणिकत्वं गमयति इत्यभिधातव्यम्, तत्राप्यनयोः प्रतिबन्धासिद्धेः। विद्युदादौ हि मध्ये स्थितिदर्शनं पूर्वोत्तरपरिणामौ प्रसाधयति। न हि विद्युदादेरनुपादानोत्पत्तिर्युक्तिमती, प्रथमचैतन्यस्याप्यनुपादानोत्पत्तिप्रसङ्गतः परलोकाभावानुषङ्गात्, विद्युदादिवत्तत्रापि प्रागुपादानाऽदर्शनात्। न चानुमीयमानमत्रोपादानम्; विद्युदादावपि तथात्वानुषङ्गात्।

पदार्थों की क्षणिकता "सत्वात्" हेतु से भी सिद्ध नही होती है, क्योकि उसका क्षणिकत्व के साथ अविनाभाव नही है।

बौद्ध—विद्युत् आदि पदार्थों मे सत्त्वपना और क्षणिकपने का अविनाभाव प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, अत. वहा के अविनाभाव को देखकर घट आदि मे सत्व की उपलब्धि से क्षणिकत्व को भी सिद्ध करते है। अर्थात् बिजली आदि मे सत्व और क्षणिकत्व साथ था अतः घट आदि मे भी क्षणिकत्व होना चाहिये क्योकि सत्व साक्षात् दिखायी दे रहा है तो उसका अविनाभावी क्षणिकत्व भी अवश्य होना चाहिये।

जैन—यह कथन गलत है, बिजली आदि पदार्थ मे भी सत्व और क्षणिकत्व का अविनाभाव असिद्ध ही है, क्योकि बिजली आदि की बीच मे जो स्थिति देखी जाती है वह पूर्व और उत्तर परिणामो को सिद्ध करती है अर्थात् विद्युत आदि पदार्थ पहले दिखायी देते है फिर नष्ट होते है यह सब बीच मे कुछ समय स्थिति रहने पर ही सभव हो सकता है जब बिजली आदि पदार्थ कुछ काल तक रहते है तो "सभी पदार्थ क्षणिक है क्योकि सत्व रूप है, जैसे बिजली आदि पदार्थ सत्व रूप होकर क्षणिक होते है" इस तरह के अनुमान मे वे उदाहरण भूत कैसे हो सकते है? अर्थात् नही हो सकते।

बिजली आदि पदार्थ बिना उपादान के उत्पन्न होते है ऐसा कहना भी युक्त नही है, यदि बिजली आदि की बिना उपादान की उत्पत्ति मानेगे तो चार्वाक के अभिमत प्रथम चैतन्य की उपादान के बिना उत्पत्ति होना सिद्ध होवेगा फिर परलोक का अभाव मानना होगा क्योकि विद्युत आदि का पहले कुछ भी उपादान कारण दिखायी नही देता वैसे चैतन्य का भी दिखायी नही देता है। तुम कहो कि चैतन्य का उपादान अनुमान से सिद्ध हो जाता है तो विद्युत आदि का उपादान भी अनुमान से सिद्ध हो सकता है।

नाप्यस्य निरन्वया सन्तानोच्छित्ति॰, चरमक्षणस्याकिञ्चित्करत्वेनावस्तुत्वापत्तित पूर्वपूर्वक्षणानामप्यवस्तुत्वापत्ते॰ सकलसन्तानाभावप्रसङ्ग॰। विद्युदादे सजातीयकार्याकरणेपि योगिज्ञानस्य करणान्नावस्तुत्वमिति चेत्, न, आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य रूपाकरणेपि रससहकारित्वप्रसङ्गात्। ततो रसाद्रूपानुमानं न स्यात्। 'तथा दृष्टत्वान्न दोष ' इत्यन्यत्रापि समानम्, विद्युच्छब्दादेरपि विद्युच्छब्दाद्यन्तरोपलम्भात्।

न चैकत्र सत्वक्षणिकत्वयो सहभावोपलम्भात्सर्वत्र ततस्तदनुमान युक्तम्, अन्यथा सुवर्णे सत्वादेव शुक्लतानुमितिप्रसङ्ग॰, शुक्ले शङ्खे शुक्लतया तत्सहभावोपलम्भात्। अथ सुवर्णाकारनिर्भासि-

---

आत्मा का निरन्वय सतति उच्छेद होना भी नही मानना चाहिये, यदि मानेगे तो उसका जो चरम क्षण है वह अकिंचित्कर ठहरता है क्योकि उसने अग्रिम क्षण को उत्पन्न नही किया है, जब वह अकिंचित्कर है तो अवस्तु ही कहलाया, और अवस्तु रूप है तो जितने भी पूर्व पूर्ववर्त्ती चित्तक्षण है वे सब अवस्तु रूप बन जायेगे। फिर तो सकल सतान ही शून्य–अभाव रूप हो जायेगे।

शका—विद्युत आदि पदार्थ सजातीय कार्य [अन्य विद्युत क्षण] को भले ही नही करे किन्तु योगी के ज्ञान को तो करते ही है, अत वे अवस्तु नही कहलाते है।

समाधान—ऐसा नही कहना, सजातीय कार्य नही करने वाले को भी कारण माना जाय तो आस्वादन मे आया हुआ जो रस है उसके समान काल मे होने वाला रूप उत्तरकालीन रूप क्षण को उत्पन्न नही करता है तो भी उसे रस का सहकारी कारण मानना होगा ? फिर रस से रूप का अनुमान होना अशक्य है। कोई कहे कि रस हेतु से रूप का अनुमान होता हुआ साक्षात् उपलब्ध है अत. उसको मानने मे कोई दोष नही है। सो यह बात अन्यत्र भी है, विद्युत, शब्द आदि पदार्थ से अन्य विद्युत शब्दातर होते हुए उपलब्ध है।

बौद्ध ने कहा कि विद्युत आदि मे सत्व–अस्तित्व और क्षणिकत्व एक साथ एकत्र देखा जाता है अत. घट आदि मे सत्व को देखकर क्षणिकत्व को भी उसीमे सिद्ध करते है। किन्तु एक किसी जगह इनका सहभाव देखकर सब जगह वैसा ही अनुमान लगाना युक्त नही है, अन्यथा सुवर्ण मे सत्व को देखकर शुक्लता का

प्रत्यक्षेण शुक्लतानुमानस्य बाधितत्वान्न तत्र शुक्लतासिद्धिः, तर्हि घटादौ क्षणिकतानुमानस्य 'स एवायम्' इत्येकत्वप्रतिभासेन बाधितत्वात्प्रतिक्षणविनाशितासिद्धिर्न स्यात् ।

अथैकत्वप्रत्यभिज्ञा भिन्नेष्वपि लूनपुनर्जातनखकेशादिष्वभेदमुल्लिखन्ती प्रतीयत इत्येकत्वे नाऽसौ प्रमाणम्; नन्वेव कामलोपहताक्षाणा धवलिमामाबिभ्राणेष्वपि पदार्थेषु पीताकारनिर्भासि-

---

अनुमान लगाना पड़ेगा ! क्योकि शख मे शुक्लता के साथ सत्व को देखा है अत. जहा सत्व है वहा शुक्लता है ऐसा भी अनुमान करने लग जायेंगे ।

शंका—सुवर्ण मे शुक्लता को सिद्ध करने वाला अनुमान साक्षात् सुवर्ण के [पीले] आकार से प्रतिभासित हुए प्रत्यक्ष से बाधित है अत. उस अनुमान से सुवर्ण मे शुक्लपना सिद्ध नही हो सकता है ?

समाधान— तो फिर यही बात घट आदि पदार्थ के विषय मे माननी होगी घट आदि को क्षणिक रूप सिद्ध करने वाला अनुमान "यह वही घट है जिसे मैने पहले देखा था" इत्यादि प्रतिभास द्वारा बाधित होता हुआ देखा हो जाता है, अतः उस अनुमान द्वारा उन पदार्थो का प्रतिक्षण विनाशपना सिद्ध नही हो सकता है ।

बौद्ध—यह वही है इत्यादि एकत्व रूप जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह काट कर पुन उत्पन्न हुए नख केश आदि भिन्न भिन्न पदार्थो मे भी "यह वही नख है" इत्यादि एकत्व का प्रतिभास कराता है अत एकत्व के विषय मे वह प्रतीति प्रमाण-भूत नही है ।

जैन—इस तरह एक जगह एकत्व की प्रतीति प्रमाण भूत नही होने से सब जगह ही उसको अप्रमाण माना जायगा तो बडा भारी दोष होगा देखिये ! किसी पीलिया नेत्र रोगी को सफेद रग वाले पदार्थो मे पीत आकार को [पीत रग को बतलाने वाला] प्रतीति कराने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह बाधित होता है अतः अप्रमाण है, इसलिये वास्तविक पीत वस्तु—सुवर्ण आदि मे पीताकार प्रतीति कराने वाला ज्ञान भी अप्रमाणभूत कहलायेगा । क्योकि वह एक जगह बाधित हो चुका है । जैसे आपने एकत्व का ज्ञान नख केशादि मे बाधित होता देख सब जगह अप्रमाण-भूत माना है ।

प्रत्यक्षमुदेतीति सत्यपीताकारेपि न तत्प्रमाणम् । भ्रान्तादभ्रान्तस्य विशेषोन्यत्रापि समान । प्रसाधितं च प्रत्यभिज्ञानस्याभ्रान्तत्वं प्रागित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

अथ विपक्षे बाधकप्रमाणबलात्सत्त्वक्षणिकत्वयोरविनाभावोवगम्यते । ननु तत्र सत्त्वस्य बाधक प्रत्यक्षम्, अनुमान वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, तत्र क्षणिकत्वस्याप्रतिभासनात् । न चाप्रतिभासमानक्षणक्षयस्वरूप प्रत्यक्ष विपक्षाद्व्यावर्त्य सत्त्व क्षणिकत्वनियतमादर्शयितु समर्थम् । अथानुमानेन तत्ततो व्यावर्त्य क्षणिकनियततया साध्येत; ननु तदनुमानेप्यविनाभावस्यानुमानबलात्प्रसिद्धि , तथा चानवस्था । न च तद्बाधकमनुमानमस्ति ।

बौद्ध—भ्रान्त ज्ञान से अभ्रान्त ज्ञान विशेष ही हुआ करता है अत भ्रान्त ज्ञान बाधित होने पर भी अभ्रान्त ज्ञान को बाधित नही मानते है ।

जैन—यह बात तो एकत्व ज्ञान के विषय मे भी है वह भी कही नख केशादि विषय मे भ्रान्त होते हुए भी घट–देवदत्त आदि विषयो मे अभ्रान्त ही है, प्रत्यभिज्ञान अभ्रान्त–सत्य होता है इस बात की सिद्धि पहले [तीसरे परिच्छेद मे] ही कर आये है अत· यहा अधिक नही कहते है ।

शका—विपक्ष मे बाधक प्रमाण को देखकर क्षणिकत्व और सत्व मे अविनाभाव सिद्ध किया जाता है, अर्थात् पहले सत्व को क्षणिकत्व के साथ देखा था अत यह सत्व क्षणिकत्व का विपक्ष अक्षणिक–नित्य मे नही रह सकता । इस प्रकार दोनो का अविनाभाव सिद्ध करते है ?

समाधान—अक्षणिक मे सत्व नही रहता "इस तरह कहने वाला बाधक प्रमाण कौनसा होगा, प्रत्यक्ष या अनुमान ? प्रत्यक्ष तो हो नही सकता, क्योकि प्रत्यक्ष मे तो क्षणिक रूप वस्तु प्रतीत ही नही होती, जिसमे पदार्थ का क्षणक्षयीपना प्रतिभासित ही नही होता है वह प्रत्यक्ष सत्व को विपक्ष भूत अक्षणिकत्व से हटाकर क्षणिकत्व मे ही नियत करने को समर्थ नही हो सकता है । अनुमान प्रमाण बाधक है वह सत्व को विपक्षभूत अक्षणिकत्व से हटाकर क्षणिकत्व मे नियत कर देता है, ऐसा कहो तो वह "सर्व क्षणिक सत्वात्" जो अनुमान है उसके साध्य साधन के अविनाभाव को भी सिद्ध करना होगा अत दूसरा अनुमान चाहिये, पुन उसके

ननु 'यत्र क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधो न। तत्सत् यथा गगनाम्भोरुहम्, अस्ति च नित्ये स:' इत्यतोनुमानात्ततो व्यावर्त्तमान सत्त्वमनित्ये एवावतिष्ठत इत्यवसीयते, तन्न, सत्त्वाऽक्षणिकत्वयोर्विरोधाऽसिद्धे: । विरोधो हि सहानवस्थानलक्षण:, परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो वा स्यात् ? न तावदाद्य:, स हि पदार्थस्य पूर्वमुपलम्भे पश्चात्पदार्थान्तरसद्भावादभावावगतौ निश्चीयते शीतोष्णवत् । न च नित्यत्वस्योपलम्भोस्ति सत्त्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयो विरोधस्तयो: सम्भवति, नित्यत्वपरिहारेण सत्त्वस्य तत्परिहारेण वा नित्यत्वस्यानवस्थानात् । 'क्षणिकतापरिहारेण ह्यक्षणिकता व्यवस्थिता तत्परिहारेण च क्षणिकता' इत्यनयो परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो विरोध. । न चार्थक्रियालक्षणसत्त्वस्य क्षणिकतया व्याप्तत्वान्नित्येन विरोध ; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्-

---

अविनाभावसिद्धि को तीसरा चाहिये, इस तरह अनवस्था फैलेगी, तथा अक्षणिक मे सत्व को बाधा देने वाला अनुमान भी नही है ।

बौद्ध— जहा पर क्रम तथा युगपत् रूप से अर्थ क्रिया नही होती वह सत् नही हैं, जैसे आकाश पुष्प मे अर्थ क्रिया नही होने से सत्व नही रहता है, नित्य— अक्षणिक मे भी अर्थ क्रिया का विरोध है अत उसमे सत्व नही रहता है, इस अनुमान से अक्षणिक से सत्व व्यावृत्त होकर अनित्य–क्षणिक मे ही रहता है ऐसा सिद्ध होता है ।

जैन—यह कथन गलत है, सत्व और अक्षणिक [नित्य] मे विरोध की असिद्धि है । विरोध दो प्रकार का है सहानवस्थान विरोध और परस्पर परिहार स्थिति विरोध, इनमे से सहानवस्थान नामा विरोध तो सत्व और क्षणिक मे हो नही सकता, क्योकि वह तो पहले पदार्थ का उपलभ हो पीछे अन्य पदार्थ के सद्भाव से उस प्रथम पदार्थ के अभाव को देखकर निश्चित होता है, जैसे शीत और उष्ण मे होता है । किन्तु ऐसा नित्य का उपलभ होना आप मान नही सकते अन्यथा आपके यहा नित्य मे सत्व मानने का प्रसग आयेगा । परस्पर परिहार स्थिति वाला विरोध भी सत्व और अक्षणिकत्व मे दिखायी नही देता है, इससे विपरीत नित्य का परिहार करके सत्व और सत्व का परिहार करके नित्य रहता ही नही । क्षणिकता का परिहार करके अक्षणिकता और अक्षणिकता का परिहार करके क्षणिकता रहती है अत इनमे परस्पर परिहार स्थिति नामा विरोध होता है ।

अर्थक्रियालक्षण सत्त्व क्षणिकतया व्याप्त नित्यताविरोधात्सिध्यति, सोप्यस्य क्षणिकतया व्याप्तेरिति ।

ननु च अर्थक्रियाया: क्रमयौगपद्याभ्या व्याप्तत्वात्तयोश्चाक्षणिकेऽसम्भवात्कुत: क्रमवत्यर्थक्रिया नित्ये सम्भविनी ? न च सहकारिक्रमान्नित्ये क्रमवत्यप्यसौ सम्भवति, अस्योपकारकानु-

---

बौद्ध—अर्थ क्रिया है लक्षण जिसका ऐसे सत्व की व्याप्ति क्षणिकत्व साथ है अतः सत्व का नित्य के साथ विरोध है ।

जैन—इस तरह से तो अन्योन्याश्रय दोष आयेगा–अर्थ क्रिया लक्षण वाले सत्व की क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति तो नित्यता के विरोध से सिद्ध होगी और नित्य के साथ विरोध की सिद्धि सत्व के क्षणिकत्व व्याप्ति से होगी, इस तरह दोनो ही असिद्ध रह जाते है ।

भावार्थ—सत्व-सत्ता या अस्तित्व और क्षणिकत्व का अविनाभाव सिद्ध करने के लिये बौद्ध ने विद्युत् का उदाहरण प्रस्तुत किया है कि जिस प्रकार विद्युत आदि पदार्थ क्षण मात्र मे रहकर नष्ट हो जाते है वैसे ही ससार भर के यावन्मात्र घट पट आत्मा आदि पदार्थ है वे सब क्षणिक है । विद्युत आदि मे जो सत्व या सत्ता रूप धर्म था वह क्षणिकत्व के साथ देखा गया था, अत घट आदि पदार्थ मे जो सत्व दिखायी देता है वह भी क्षणिकत्व साथ ही रहना चाहिये, उन घटादि मे क्षणिकत्व को सिद्धि अनुमान से 'सर्वं क्षणिक सत्वात्' करते है किन्तु आचार्य ने इस अनुमान को प्रत्यक्ष बाधित सिद्ध किया है, एव उसमे क्षणिकत्व का अविनाभावी सत्व सिद्ध करने का प्रयत्न असफल है ऐसा बतलाया है । विद्युत आदि पदार्थ भी सर्वथा क्षणिक नही है–क्षण मात्र रहने वाले नही हैं अपितु अनेक क्षण तक रहने वाले हैं न ये पदार्थ उपादान रहित है और न निरन्वय विनाशी है । पदार्थ को नित्य मानेंगे तो वह कूटस्थ हो जाने से उसमे क्रम से या युगपत् अर्थ क्रिया नही हो सकती अत पदार्थ क्षणिक है ऐसा बौद्ध का कहना भी अन्योन्याश्रय दोप से भरा है, इस तरह क्षणिकत्व सिद्धि नही होती है ।

बौद्ध—अर्थ क्रिया की व्याप्ति क्रम और युगपत् के साथ है और वे नित्य मे हो नही सकते, कैसे सो बताते है–क्रमिक अर्थ क्रिया नित्य मे होना तो असभव

पकारकपक्षयोः सहकार्यऽपेक्षाया एवासम्भवात् । नापि यौगपद्येनासौ नित्ये सम्भवति, पूर्वोत्तर-कार्ययोरेकक्षण एवोत्पत्तेर्द्वितीयक्षणे तस्यानर्थक्रियाकारित्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गात्, इत्यप्यसारम्, एकान्तनित्यवदऽनित्येपि क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाऽसम्भवात्, तस्याः कथञ्चिन्नित्ये एव सम्भवात्, तत्र क्रमाक्रमवृत्त्यनेकस्वभावत्वप्रसिद्धेः, अन्यत्र तु तत्स्वभावत्वाप्रसिद्धे. पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानान्वितरूपाभावात्, सकृदनेकशक्त्यात्मकत्वाभावाच्च । न खलु कूटस्थेर्थे पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोपादाने स्त., क्षणिके चान्वित रूपमस्ति, यतः क्रमः कालकृतो देशकृतो वा । नापि युगपदनेकस्वभावत्व यतो यौगपद्य स्यात्, कौटस्थ्यविरोधान्निरन्वयविनाशित्वव्याघाताच्च ।

ही है सहकारी कारण क्रम से मिलते है अतः नित्य मे क्रमश अर्थ क्रिया हो सकती है ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि नित्य वस्तु के सहकारी कारण उपकारक भी नही हो सकते और अनुपकारक भी नही हो सकते, [उपकारक तो तब बने जब नित्य मे परिवर्तन होवे, और अनुपकारक सहकारी कारण नित्य मे अर्थ क्रिया की शक्ति ला नही सकते, क्योकि वे तो नित्य से पृथक् है] नित्य मे सहकारी की अपेक्षा होना ही दुर्लभ है । युगपत् अर्थ क्रिया भी नित्य मे होना शक्य नही, नित्य मे यदि अर्थ क्रिया की सामर्थ्य युगपत् है तो पूर्व कार्य और उत्तर कार्य एक ही क्षण मे सपन्न हो जायगा, फिर द्वितीय क्षण मे अर्थ क्रियाकारी नही होने से नित्य अवस्तु ही कहलायेगा ।

जैन—यह कथन असार है, यह सब बाधा एकात नित्य मे आती है और जैसे एकान्त नित्य मे क्रम तथा युगपत् अर्थ क्रिया होना असभव है वैसे ही अनित्य के एकात पक्ष मे भी क्रमिक या युगपत् अर्थ क्रिया का होना असंभव है, अर्थ क्रिया तो कथञ्चित् नित्य पदार्थ मे ही हो सकती है, क्योकि उसमे क्रमवर्त्ती स्वभाव [पर्याय] और अक्रमवर्त्ती अनेको स्वभाव [गुण] पाये जाते है, सर्वथा क्षणिक आदि मे ऐसे स्वभावो की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि जो वस्तु सर्वथा क्षणिक है उसमे पूर्व स्वभाव का त्याग और उत्तर स्वभाव को ग्रहण करनेवाला अन्वयपना नही रहता और एक साथ अनेक शक्तिया भी नही रह सकती । कूटस्थ नित्य पदार्थ मे पूर्व स्वभाव का त्याग और उत्तर स्वभाव का ग्रहण सभव नही और सर्वथा क्षणिक पदार्थ मे अन्वयपना सभव नही है, उस कारण से सर्वथा क्षणिक या कूटस्थ पदार्थ मे देशकृत क्रम और काल कृत क्रम बन नही सकता । अर्थात् देशकृत क्रम—एक देश से अन्य देश

किञ्च, क्षणिक वस्तु विनष्ट सत्कार्यमुत्पादयति, अविनष्टम्, उभयरूपम्, अनुभयरूपं वा ? न तावद्विनष्टम्; चिरतरनष्टस्येवानन्तरनष्टस्याप्यसत्त्वेन जनकत्वविरोधात्। नाप्यविनष्टम्, क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् सकलशून्यतानुषङ्गाद्वा, सकलकार्याणामेकदैवोत्पद्य विनाशात्। नाप्युभयरूपम्, निरंशैकस्वभावस्य विरुद्धोभयरूपासम्भवात्। नाप्यनुभयरूपम्, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधस्यापरविधाननान्तरीयकत्वेनानुभयरूपत्वायोगात्।

मे जाना, व्याप्त होना इत्यादि एव काल कृत क्रम–क्रमश अनेक समयो मे व्याप्त होकर रहना इत्यादि क्रम या क्रमिक अर्थ क्रिया सर्वथा क्षणिकादि पदार्थ मे नही है। सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक वस्तु मे युगपत् अनेक स्वभावपना भी सिद्ध नही होता है जिससे युगपत् अर्थ क्रिया हो सके। यदि वस्तु मे देशादि क्रम स्वीकार करते है तो वह कूटस्थ नित्य नही कहलाती और कालादि कृत क्रम या अनेक स्वभावत्व इत्यादि वस्तु मे मानते है तो उसके निरन्वय विनाशपना [क्षणिकपना] सिद्ध नही होता है। इस तरह सर्वथा नित्य और सर्वथा क्षणिक रूप वस्तु मे अर्थ क्रिया सिद्ध नही होती है।

बौद्ध से जैन का प्रश्न है कि वस्तु सर्वथा क्षणिक है ऐसा आप कहते है वह क्षणिक वस्तु कार्य को कब उत्पन्न करेगी, नष्ट होकर करेगी, कि अविनष्ट रहकर, उभयरूप से या कि अनुभय रूप से। नष्ट होकर तो कर नही सकती, क्योंकि जिस तरह चिर काल की नष्ट हुई वस्तु असत् होने से कार्य को उत्पन्न नही करती है उसी तरह अनतर समय मे नष्ट हुई वस्तु भी असत् होने से कार्योत्पादक नही हो सकती है। अविनष्ट–बिना नष्ट हुए ही वस्तु कार्योत्पादक बनती है ऐसा दूसरा विकल्प कहे तो क्षणभगवाद ही भग–नष्ट हो जायेगा। अथवा सकल शून्यपने का प्रसग उपस्थित होगा, क्योंकि सपूर्ण कार्य एक काल मे ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जायेंगे। उभयरूप–नष्ट और अविनष्ट दोनो रूप होकर वस्तु कार्य को करती है ऐसा कहना ही अशक्य है, क्योंकि निरश, एक स्वभाव वाली वस्तु मे विरुद्ध दो धर्म रहना असिद्ध है। अनुभय रूप वस्तु अर्थात् नष्ट तथा अविनष्ट न होकर कार्य को उत्पन्न करती है ऐसा पक्ष भी गलत है, जो एक दूसरे का व्यवच्छेद करके रहते है उनमे से एक का निषेध करने पर अन्य का विधान अवश्य हो जाता है, अत. वस्तु मे नष्ट और अविनष्ट का अनुभयपना असभव ही है।

कथ च निरन्वयनाशित्वे कारणस्योपादानसहकारित्वस्य व्यवस्था तत्स्वरूपापरिज्ञानात् ? उपादानकारणस्य हि स्वरूपं किं स्वसन्ततिनिवृत्तौ कार्यजनकत्वम्, यथा मृत्पिण्ड: स्वय निवर्तमानो घटमुत्पादयति, आहोस्विदनेकस्मादुत्पद्यमाने कार्ये स्वगतविशेषाधायकत्वम्, समनन्तरप्रत्ययत्वमात्र वा स्यात्, नियमवदन्वयव्यतिरेकानुविधानं वा ? प्रथमपक्षे कथञ्चित्सन्ताननिवृत्ति:, सर्वथा वा ? कथञ्चिच्चेत्, परमतप्रसङ्ग: । सर्वथा चेत्, परलोकाभावानुषङ्गो ज्ञानसन्तानस्य सर्वथा निवृत्ते. ।

यह भी एक जटिल प्रश्न है कि बौद्ध मत मे वस्तु निरन्वय—समूल चूल क्षणमात्र मे नष्ट हो जाती है तो उसमे कारण के उपादान और सहकारीपने की व्यवस्था कैसे हो सकेगी, क्योकि क्षणिक वस्तु का परिज्ञान या उसके उपादान तथा सहकारीपने का परिज्ञान तो हो नही सकता । बौद्ध ही बतावे कि उपादान का लक्षण क्या है, स्व सतति की निवृत्ति होने पर कार्य को उत्पन्न करना उपादान कारण कहलाता है, जैसे कि मिट्टी का पिड स्वय निवृत्त होता हुआ घट को उत्पन्न करता है, अथवा अनेक कारण से उत्पन्न हो रहे कार्य मे अपने मे होने वाला विशेष डालना, या समनतर प्रत्यय मात्र होना, याकि नियम से कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेकानुविधान होना ? प्रथम पक्ष—स्वसतति के निवृत्त होने पर कार्य को उत्पन्न करना उपादान कारण है ऐसा कहो तो पुन: प्रश्न होता है कि कथचित् [पर्याय रूप से] सतान निवृत्ति होती है अथवा सर्वथा [द्रव्यरूप से भी] सतान निवृत्ति होती है ? कथचित् कहने से तो बौद्ध का परमत मे—जैनमत मे प्रवेश हो जाता है, और सर्वथा कहते है तो परलोक का अभाव होता है, क्योकि ज्ञान रूप संतान का सर्वथा नाश होना स्वीकार किया है ।

भावार्थ—उपादान कारण का लक्षण बौद्ध से जैन पूछ रहे है चार तरह से उसका लक्षण हो सकता है ऐसा बौद्ध से कहा है, स्व सतान के निवृत्त होने पर कार्य को पैदा करना, उपादान कारण है, अथवा अनेक कारण से उत्पन्न हो रहे कार्य मे विशेषता लाना, या समनतर प्रत्यय मात्र होना याकि नियम से कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेकपना होना ? प्रथम विकल्प—जो अपने सतान के निवृत्ति मे कार्य को पैदा करे वह उपादान कारण कहलाता है, ऐसा कहना वनता नही, क्योकि अपने सतान का यदि कथचित् नाश होकर कार्योत्पादकपना मानते है वौद्ध का जैनमत मे प्रवेश होता है, और सतान का सर्वथा नाश होने पर उपादान कारण कार्य को उत्पन्न

द्वितीयपक्षेपि किं स्वगतकतिपयविशेषाधायकत्वम्, सकलविशेषाधायकत्वं वा ? तत्राद्यविकल्पे सर्वज्ञज्ञाने स्वाकारार्पकस्यास्मदादिज्ञानस्य तत्प्रत्युपादानभावः, तथा च सन्तानसङ्करः। रूपस्य वा रूपज्ञानं प्रत्युपादानभावोनुषज्येत स्वगतकतिपयविशेषाधायकत्वाविशेषात्। रूपोपादानत्वे

करता है ऐसा माने तो परलोक का अभाव होता है, क्योंकि घट संतान, पट संतान आदि के समान आत्मा भी एक संतान है और उसका यदि सर्वथा नाश होता है तो परलोक मे कौन गमन करेगा ? अतः उपादान कारण का प्रथम लक्षण गलत है। ऐसे ही अनेक कारण कलाप से उत्पद्यमान कार्य मे विशेषाधायकत्व, समनंतर प्रत्यय मात्र, नियम से अन्वय व्यतिरेक विधानत्व रूप उपादान कारण का लक्षण सिद्ध नही होता है, इन सब लक्षणो का आगे क्रमशः विवेचन हो रहा है, यहा यह ध्यान रखना चाहिये कि उपादान कारण के ये जो चार तरह से लक्षण बतलायें है वे सब परमत की जैसी मान्यता है तदनुसार पूछे है, क्योंकि उन्ही द्वारा मान्य लक्षणो को बाधित करना है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जहा कही लक्षण आदि के विषय मे विकल्प उठाते है तो उसी–उसी मत की अपेक्षा लेकर कह रहे है ऐसा समझना चाहिये। अस्तु।

द्वितीय पक्ष–अनेक कारण कलाप से उत्पद्यमान कार्य मे विशेषाधायक होना उपादान कारण है ऐसा कहो तो विशेषाधायकत्व कौनसा हैं, स्वगत कतिपय विशेषाधायकत्व–अपने मे [उपादान मे] होने वाले कुछ विशेषो को कार्य मे डालना, या सकल विशेषाधायकत्व–अपनी सारी विशेषता को कार्य मे डालना ? पहली बात स्वीकार करे तो सर्वज्ञ के ज्ञान मे जब हमारा छद्मस्थो का ज्ञान अपना आकार अर्पित करता है तब उस सर्वज्ञ ज्ञान के प्रति उपादान भाव बनता ही हैं सो यह संतान संकर हुआ ? [इसी तरह हमारे ज्ञान सर्वज्ञ को विषय करेंगे तो संकर होगा] क्योंकि अपने मे होने वाले कुछ कुछ विशेषो को–चेतनत्वादि को कार्यभूत सर्वज्ञ ज्ञान मे डाल दिया है [ज्ञान जिसको जानता हैं उसीसे उत्पन्न होता है और उसीके आकार वाला होता है ऐसी बौद्ध की मान्यता है अतः सर्वज्ञ का ज्ञान जब हम जैसे को जानेगा तो हमारे से या हमारे ज्ञान से उत्पन्न होगा; सो हम जो उनके ज्ञान के प्रति उपादान बने है इसलिये हमारी संतान का उनके संतान के साथ संकर होने का प्रसंग आ रहा है] इसीप्रकार नील, पीत आदि वर्ण जब रूप ज्ञान के प्रति उपादान होते है तब उनका संतान संकर होवेगा, क्योंकि स्वगत कतिपय विशेषाधायकत्व

च परलोकाय दत्तो जलाञ्जलिः। कतिपयविशेषाधायकत्वेनोपादानत्वे च एकस्यैव ज्ञानादिक्षणस्यानुवृत्तव्यावृत्ताऽनेकविरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गात् स एव परमतप्रसङ्ग.। द्वितीयविकल्पे तु कथं निर्विकल्पकाद्विकल्पोत्पत्तिः रूपाकारात्समनन्तरप्रत्ययाद्रसाकारप्रत्ययोत्पत्तिर्वा, स्वगतसकलविशेषाधायकत्वाभावात्? सन्तानबहुत्वोपगमात्सर्वस्य स्वसदृशादेवोत्पत्तिरित्यभ्युपगमे तु एकस्मिन्नपि पुरुषे प्रमातृवहुत्वापत्ति.। तथा च गवाश्वादिदर्शनयोर्भिन्नसन्तानत्वादेकेन दृष्टेर्थे परस्यानुसन्धान न स्याद्देवदत्तेन दृष्टे यज्ञदत्तवत्।

तो इसमे भी है अर्थात् नील पीतादि पदार्थ रूपज्ञान के प्रति उपादान होते समय अपना आकार उसमे अर्पित करते है–उसमे विशेषता डालते है। इस तरह अचेतन स्वरूप पीतादि वर्ण चेतन स्वरूप ज्ञान का उपादान कारण बनना स्वीकार करने पर तो परलोक के लिये जलाजलि देनी पड़ेगी। क्योकि अचेतन रूप से चेतनवस्तु उत्पन्न होती है ऐसा बौद्ध ने मान लिया जैसे चार्वाक मानते है। स्वगत कतिपय विशेष का ही मात्र विधायक होना उपादान कारण है अर्थात् पीत नील आदि वर्ण अपने वर्ण को ही रूप ज्ञान मे डालते है जडत्व को नही डालते है ऐसा मानते है तो एक ही ज्ञानादि क्षण के अनुवृत्त व्यावृत्त रूप अनेक विरुद्ध धर्म मानने पड़ेगे सो इस मान्यता मे वही पूर्वोक्त परमत प्रवेश का प्रसग आता है, क्योकि जैन ही एक वस्तु मे अनेक विरुद्ध धर्म रहना स्वीकार करते है। अपने मे होने वाली सकल विशेषता को कार्य मे जोड़ देना उपादान कारण है ऐसा दूसरा पक्ष कहे तो निर्विकल्प ज्ञान से सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति होना, तथा रूपाकार समनतर प्रत्यय से रसाकार ज्ञान की उत्पत्ति होना कैसे सभव होगा? क्योकि इनमे स्वगत सकल विशेपाधायकपना तो है नही, अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान रूप उपादान से सविकल्प ज्ञान उत्पन्न हुआ उस सविकल्प मे निर्विकल्प ज्ञान ने स्वगत विशेषता कहा डाली है? यदि डाली होती तो वह निर्विकल्प कहलाता। इसी तरह रूप के आकार वाला ज्ञान रसाकार ज्ञान का कारण बनता है ऐसा आप स्वय मानते है सो उस रूप ज्ञान की स्वगत विशेपता रसाकार ज्ञान मे क्यो नही है?

बौद्ध—बहुत सी ज्ञान सताने स्वीकार की गयी है, अत अपने सदृश उपादान से सदृश ही ज्ञान उत्पन्न होता है, सभी ज्ञानो की उत्पत्ति इसी तरह होती है।

किञ्च, सकलस्वगतविशेषाधायकत्वे सर्वात्मनोपादेयक्षणे एवास्योपयोगात् तत्रानुपयुक्त-स्वभावान्तराभावाच्च एकसामग्र्यन्तर्गतं प्रति सहकारित्वाभावः, तत्कथं रूपादेः रसतो गतिः ?

जैन—ऐसा कहो तो एक पुरुष मे बहुत से प्रमाता मानने पडेंगे, फिर गो दर्शन और अश्व दर्शन मे भिन्न सतानपना हो जाने से एक के द्वारा देखे हुए पदार्थ मे दूसरे को अनुसधान नही होवेगा, अर्थात् जिसने पहले गाय को देखा था वही मैं अब अश्व को देख रहा हू इत्यादि एक ही जीव के गो ज्ञान का अश्व ज्ञान के साथ अनुसधान नही हो सकेगा । जैसे कि देवदत्त द्वारा देखे हुए पदार्थ मे यज्ञदत्त को अनुसधान [दोनो का जोड रूप प्रतिभास] नही होता है ।

कार्य मे स्वगत सकल विशेष को दे डालना मात्र उपादान कारण का स्वरूप माना जाय तो और भी बहुत सी बाधा आती है, आगे उसी को दिखाते है—उपादान कारण जब कार्य मे सर्व रूप से अपनी विशेपता निहित करता है उसी समय वह उपयोगी ठहरेगा, क्योकि इतना ही उसका स्वरूप मान लिया है । तथा इस तरह उपादान मे अन्य अनुपयुक्त [कार्य मे अनुपयोगी या नही डालने योग्य धर्म] स्वभावातर नही होने से उस उपादान कारण मे एक सामग्री के अन्तर्गत होकर सहकारी होने का अभाव होने से रस से रूपादि का अनुमान ज्ञान कैसे हो सकेगा ? नही हो सकता ।

भावार्थ—बौद्ध रससे रूपादिका अनुमान होना स्वीकार करते है, उनके यहा रूप क्षण और रसादि के क्षण सतान पृथक् है, रूप क्षण का उपादान पूर्व रूप क्षण है, इस तरह आगे आगे क्रम चलता है, पूर्वोत्तर क्षणो का समूह सतान है और एक क्षण एक क्षण सतानी है । किसी पुरुष ने आम्र फल का रस चखा, उस रस के स्वाद से—रस ज्ञान से उसने प्रथम तो रस को पैदा करने वाली सामग्री का अनुमान किया, फिर सामग्री के अनुमान से रूप का अनुमान किया, ऐसी बौद्ध की मान्यता है ।

उनका यह भी कहना है कि पूर्व का जो रूपक्षण है [प्रत्येक नील, पीत, घट, पट, आत्मा आदि पदार्थ क्षण क्षण मे नष्ट होकर नये नये उत्पन्न होते रहते हैं अपनी क्षणो की धारा चलती रहती है, उसमे पूर्व क्षण उत्तर क्षण का उपादान होता है और उत्तर क्षण उसका कार्य कहलाता है, प्रत्येक पदार्थ के क्षण पृथक् पृथक् हैं]

स्वभावान्तरोपगमे त्रैलोक्यान्तर्गतान्यजन्यकार्यान्तरापेक्षया तस्याजनकत्वमपि स्वभावान्तरमभ्युपगन्तव्यम्, इत्यायातमेकस्यैवोपादानसहकार्यऽजनकत्वाद्यनेकविरुद्धधर्माध्यासितत्वम् । न चैते धर्माः काल्पनिका , तत्कार्याणामपि तथात्वप्रसङ्गात् ।

समनन्तरप्रत्ययत्वमप्युपादानलक्षणमनुपपन्नम्, कार्ये समत्व कारणस्य सर्वात्मना, एकदेशेन वा ? सर्वात्मना चेत्, यथा कारणस्य प्राग्भावित्वं तथा कार्यस्यापि स्यात्, तथा च सव्येतरगोविषाणवदेककालत्वात्तयोः कार्यकारणभावो न स्यात् । तथा कारणाभिमतस्यापि स्व-

---

वह सजातीय उत्तर रूप क्षण को पैदा करता हुआ विजातीय रस क्षण की उत्पत्ति मे सहकारी भी बनता है, बस ! इसी बात को यहा पर जैनाचार्य कह रहे है कि आप इधर तो उपादान कारण का अर्थ कार्य मे अपनी सारी विशेपता अर्पित करना बतलाते है, और इधर वही एक उपादान कारण विजातीय कार्य का सहकारी बनता है ऐसा बतलाते है सो जब उपादान ने अपना सर्वस्व कार्य मे दे डाला तो अब किस स्वभाव से वह अन्य का सहकारी बनेगा ? तथा रससे रूप का अनुमान होना भी दुर्लभ हो जाता है, अत "स्वगतसकलविशेपाधायकत्व" उपादान का लक्षण करना गलत ठहरता है ।

यदि उपादान कारण मे कार्य के अनुपयोगी ऐसा स्वभावातर का सद्भाव माना जाता है तो तीन लोक के अदर होने वाले अन्य अन्य उपादान द्वारा जन्य जो कार्यातर समूह है उसकी अपेक्षा से इस विवक्षित उपादान मे कार्य का अजनकपना रूप स्वभावातर भी मानना होगा । इस तरह एक ही पदार्थ मे उपादानत्व, सहकारित्व, अजनकत्व इत्यादि अनेक विरुद्ध धर्म सिद्ध हो जायेगे जो जैन को इष्ट है । एक पदार्थ के उक्त विरुद्ध धर्म काल्पनिक नही है यदि इन्हे काल्पनिक मानेगे तो उनसे होने वाले कार्य भी काल्पनिक कहलायेगे ।

समनतर प्रत्ययत्व होना उपादान कारण है ऐसा तीसरा उपादान का लक्षण भी ठीक नही है, "समनतर" इस पद मे स शब्द है उसका अर्थ समान है सो कार्य मे कारण का समत्व होने का अर्थ सर्व रूप से समत्व होना है या एक देश से समत्व होना है ? सर्व रूप से कहो तो जैसे कारण पूर्ववर्त्ती होता है वैसे कार्य भी पूर्ववर्त्ती कहलाने लगेगा, क्योकि सर्व रूप से समान है । फिर कारण और कार्य गाय के दाये बाये सीग की तरह एक कालीन हो जाने से उनमें कार्य कारण भाव ही नही रहेगा ।

कारणकालता, तस्यापि सेति सकलशून्य जगदापद्येत । कथञ्चित्समत्वे योगिज्ञानस्याप्यस्मदादिज्ञानावलम्बनस्य तदाकारत्वेनैकसन्तानत्वप्रसङ्ग स्यात् ।

अनन्तरत्व च देशकृतम्, कालकृत वा स्यात् ? न तावद्देशकृत तत्त्रोपयोगि, व्यवहितदेशस्यापि इह जन्ममरणचित्तस्य भाविजन्मचित्तोपादानत्वोपगमात् नापि कालानन्तर्यं तत्, व्यवहितकालस्यापि जाग्रच्चित्तस्य प्रबुद्धचित्तोत्पत्तावुपादानत्वाभ्युपगमात् । अव्यवधानेन प्राग्भावमात्रमनन्तरत्वम्, इत्यप्ययुक्तम्, क्षणिकैकान्तवादिना विवक्षितक्षणानन्तर निखिलजगत्क्षणानामुत्पत्तेः सर्वेपामेकसन्तानत्वप्रसङ्गात् ।

तथा कारण रूप से अभिमत जो उपादान है उसका कारण जो पूर्वतर क्षण है वह भी समकाल भावी सिद्ध होगा अर्थात् पूर्व क्षण भी एक कार्य है उसमे उससे भी पूर्ववर्त्ती जो क्षण है वह कारण है इन दोनो कार्य कारण का भी समत्व—काल समानत्व सिद्ध होगा, और ऐसा होने से जगत् सकल शून्य होवेगा क्योकि कार्य और कारण मे समकालत्व होने से भेद नही रहता और उक्त भेद के अभाव मे कार्य कारण ही समाप्त होते है । कार्य मे कारण का कथचित् समत्व होना माने तो, जिसमे हम जैसे अल्पज्ञो के ज्ञान का अवलवन है ऐसे योगीजन का ज्ञान तदाकार [हमारे ज्ञान का आकार वाला] होने से एक सतान रूप वन जायगा क्योकि योगी ज्ञान कथचित् हमारे ज्ञान के आकार जैसा बनता है और आप ज्ञान के विषय को ज्ञान का कारण मानते है, अर्थात् ज्ञान जिसको जानता है उसीसे उत्पन्न भी होता है ऐसा मानते है ।

"समनतर" इन अक्षरो मे जो अनतर शब्द है उसका वाच्य क्या होगा, देशकृत अनतरत्व या कालकृत अनतरत्व ? देशकृत अनतरत्व वाच्यार्थ करना ठीक नही होगा, उपादान कारण मे देशकृत अनतर उपयोगी इसलिये नही होगा कि आपने व्यवहित देश वाले जन्म मरण युक्त चित्त को भावी जन्म वाले चित्त का उपादान माना है । कालकृत अनतरत्व भी उपयुक्त नही होगा, क्योकि व्यवहित काल वाले जाग्रत चित्त को निद्रित अवस्था के अनतर प्रबुद्ध हुए चित्त का उपादान रूप से स्वीकार किया गया है ।

शका—भावी जन्म के चित्त का उपादान इस जन्म के चित्त को माना अवश्य है किन्तु इनमे अव्यवधान रूप से प्राग्भाव–पहले होना, कार्य के पूर्व होना, इतना ही अनतरपना है ?

नियमवदन्वयव्यतिरेकानुविधानसल्लक्षणम्; इत्यप्यसमीचीनम्, बुद्धेतरचित्तानामप्युपादानोपादेयभावानुषङ्गात्, तेषामव्यभिचारेण कार्यकारणभूतत्वाविशेषात् । निरास्रवचित्तोत्पादात्पूर्वं बुद्धचित्त प्रति सन्तानान्तरचित्तस्याकारणत्वान्न तेषामव्यभिचारी कार्यकारणभाव· इति चेत्, यतः प्रभृति तेषा कार्यकारणभावस्तत्प्रभृतितस्तस्याव्यभिचारात्, अन्यथाऽस्याऽसर्वज्ञत्व स्यात् । "नाकारण विषय:" [ ] इत्यभ्युपगमात् ।

समाधान—यह कथन अयुक्त है, क्षणिक एकान्तवादी के यहा यह बात घटित नही होगी, कार्य के पूर्व होना मात्र उपादानत्व है तो विवक्षित एक क्षण के अनतर सपूर्ण जगत के क्षणो की उत्पत्ति हो जायगी क्योकि विवक्षित क्षण सामान्य उपादान रूप होनेसे सबको उत्पन्न कर सकेगा और सभी चेतन अचेतन कार्यो का एक संतापना सिद्ध होने का प्रसग प्राप्त होगा ।

नियम से कार्य में अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान होना उपादान कारण है ऐसा चौथा लक्षण भी सुघटित नही होता, जिस कार्य मे नियम से अन्वयव्यतिरेक हो वह उसका उपादान कारण माने तो सुगता और इतर चित्तो मे उपादान–उपादेय भाव बन बैठेगा, क्योकि इनके चित्तो का अव्यवधान रूप से कार्य कारण भाव समान ही है अर्थात् हमारे ज्ञान के सद्भाव पर तो सुगत ज्ञान उस ज्ञान को विषय करके उत्पन्न होता है और उसके अभाव मे उत्पन्न नही होता, इस तरह अन्वयव्यतिरेकत्व बन सकता है ।

बौद्ध—निरास्रव चित्त की उत्पत्ति से पूर्व बुद्ध चित्त के प्रति अन्य सतान अकारण है अतः बुद्ध और इतर जनो के चित्तो मे उपादान उपादेय भाव नही हो सकने से उनमे अव्यवधानपने से कार्य कारण भाव का अभाव ही है ।

जैन—अच्छा तो जबसे उनमे कार्य कारण बनेगा तब से ही सुगत के अव्यभिचारीपना सिद्ध होगा, अर्थात् जब सुगत ज्ञान हमारे ज्ञान को विषय करके उत्पन्न होगा तभी हमारा ज्ञान कारण और सुगत ज्ञान कार्य इस तरह कार्य कारणपना होगा, अन्यथा सुगत के असर्वज्ञपने का प्रसग होगा, क्योकि आपके यहां यह नियम है कि "नाकारण विपय." जो ज्ञान का कारण नही है वह उसका विषय भी नही है ऐसा माना है ।

अव्यभिचारेण कार्यकारणभूतत्वाविशेषेपि प्रत्यासत्तिविशेषवशात्केषाञ्चिदेवोपादानोपादेयभावो न सर्वेषामिति चेत्, स कोन्योन्यत्रैकद्रव्यतादात्म्यात् ? देशप्रत्यासत्तेः रूपरसादिभिर्वातातपादिभिर्वा व्यभिचारात् । कालप्रत्यासत्त एकसमयवर्तिभिरशेषार्थैरनेकान्तात् । भावप्रत्यासत्तेश्च एकार्थोद्भूतानेकपुरुषविज्ञानैरनेकान्तात् ।

बौद्ध—अव्यभिचार रूप से कार्य कारण भाव समान होते हुए भी प्रत्यासत्ति विशेष के वश से किन्ही किन्ही मे ही उपादान उपादेय भाव वन पाता है न कि सभी के साथ ।

जैन—अच्छा तो यह वताईये कि वह प्रत्यासत्ति विशेष क्या है, एक द्रव्य मे तादात्म्य रूप से रहना ही तो प्रत्यासत्ति विशेष कहलाती है ? क्योकि यदि देश प्रत्यासत्ति मे उपादान उपादेय भाव मानेगे तो रूप रस या वायु आतप आदि के साथ व्यभिचार आता है क्योकि इनमे देश प्रत्यासत्ति [देश सबधी अति निकटता] होते हुए भी परस्पर मे उपादान–उपादेयत्व नही पाया जाता है । काल प्रत्यासत्ति मे उपादान उपादेय भाव मानेगे तो एक समय होने वाले जितने भी पदार्थ है उनमे परस्पर मे उपादान–उपादेय भाव आयेगा किन्तु है नही अत व्यभिचार दोष होता है । भाव प्रत्यासत्ति भी उपादान उपादेय भाव की नियामिका नही होवेगी, क्योकि एक ही पदार्थ से उत्पन्न हुए अनेक पुरुषो के अनेको ज्ञानो के साथ व्यभिचार होता है, अर्थात् भाव स्वरूप की निकटता–समानता होना भाव प्रत्यासत्ति है और यह जिनमे हो उनमे उपादान–उपादेय भाव होता है ऐसा कहे तो एक ही घट आदि विषय से अनेक पुरुषो के अनेक ज्ञान हुआ करते है, एक ही वस्तु को अनेको व्यक्तियो के ज्ञान विषय किया करते है, उन ज्ञानो मे समान स्वरूप समानाकार वाली भाव प्रत्यासत्ति तो है किन्तु उन ज्ञानो का परस्पर मे उपादान–उपादेय भाव तो नही है फिर किस तरह भाव प्रत्यासत्ति भी कार्य कारण भाव रूप उपादान–उपादेय की नियामिका हुई, अर्थात् नही हुई । इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारो प्रकार की प्रत्यासत्तिया कार्य-कारण भाव को सिद्ध नही कर सकती है ऐसा निश्चित हुआ । तथा—

न चात्रान्वयव्यतिरेकानुविधान घटते । न खलु समर्थे कारणे सत्यभवतः स्वयमेव पश्चाद्भवतस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधान नाम नित्यवत् । 'स्वदेशवत्स्वकाले सति समर्थे कारणे कार्यं जायते नासति' इत्येतावता क्षणिकपक्षेऽन्वयव्यतिरेकानुविधाने नित्येपि तत्स्यात्, स्वकालेऽनाद्यनन्ते सति समर्थे नित्ये स्वसमये कार्यस्योत्पत्तेरसत्यऽनुत्पत्तेश्च प्रतीयमानत्वात् । सर्वदा नित्ये समर्थे सति स्वकाले एव कार्यं भवत्कथ तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेत् ? तर्हि कारणक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चानाद्यनन्ते तदभावेऽविशिष्टे क्वचिदेव तदभावसमये भवत्कार्य कथ तदनुविधायीति समानम् ?

बौद्ध के क्षणिक पदार्थ मे अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान ही घटित नही होता है, अब इसी को बताते है–समर्थ कारण के होने पर तो नही होना और पीछे स्वयमेव हो जाना, ऐसा जहा दिखाई देता है वहा अन्यव व्यतिरेक विधान नाम कैसे पा सकता है, अर्थात् क्षणिक पदार्थ एक क्षण रहता है उसके अस्तित्व मे तो कार्य उत्पन्न होता नही है और पीछे हो जाता है सो कारण के होने पर कार्य होता है [अन्वय] और कारण के नही होने पर कार्य नही होता [व्यतिरेक] ऐसा कैसे कह सकते है ? अत· जैसे नित्य मे कार्य कारण भाव नही बनता वैसे क्षणिक मे भी नही बनता है ।

बौद्ध—स्वदेश और स्वकाल मे समर्थ कारण के होने पर कार्य होता है और नही होने पर नही होता, इतना ही कार्य कारण का अन्वय व्यतिरेकपना है ।

जैन—तो फिर क्षणिक की तरह नित्य मे भी अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान बन सकता है, देखिये–अनादि अनत जो स्वकाल है उस स्वकाल मे समर्थ कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है और समर्थ कारक के नही होने पर नही होती, इस तरह प्रतीत होता ही है ।

बौद्ध—समर्थ कारण सर्वदा नित्य रहता है फिर स्वकाल मे ही कार्य होता हुआ किस प्रकार उसका अन्वय व्यतिरेक घटित होगा ?

जैन—तो फिर कारण क्षण के पूर्व और उत्तर अनादि अनत काल मे उस कारण का अभाव समान रूप से रहते हुए भी मात्र किसी एक अभाव के समय मे होता हुआ कार्य किस प्रकार कारण का अनुविधायी बनेगा ? नही बन सकता । इस तरह नित्य के समान ही क्षणिक की बात है ।

नित्यस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोनेकस्वभावत्वसिद्धे· कथमेकत्व स्यादिति चेत् ? क्षणिकस्य कथमिति सम· पर्यनुयोग· ? स हि क्षणस्थितिरेकोपि भावोऽनेकस्वभावो विचित्र-कार्यत्वान्नानार्थक्षणवत् । न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्व युक्त रूपादिज्ञानवत् । यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थितेरेकस्मात्प्रदीपादिक्षणाद् वर्तिकादाहतैलशोषादिविचित्रकार्याणि शक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते, अन्यथा रूपादेरपि नानात्व न स्यात् ।

ननु च शक्तिमतोऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयो· शक्तीनामघटनात्तासा परमार्थसत्त्वाभावः; तर्हि रूपादीनामपि प्रतीतिसिद्धद्रव्यादर्थान्तरानर्थान्तरविकल्पयोरसम्भवात्परमार्थसत्त्वाभाव स्यात् ।

शका—नित्य पदार्थ प्रतिक्षण अनेक कार्यो का करता है ऐसा मानने पर उसमे क्रमश अनेक स्वभावपना सिद्ध होता है, फिर उसका एकपना किस प्रकार रह सकेगा ?

समाधान—बिलकुल यही शंका क्षणिक पदार्थ मे भी होती है, क्षणिक पदार्थ मे अनेक स्वभाव नही है, ऐसा भी नही कह सकेगे, क्योकि वह एक क्षण स्थित रहते हुए भी विचित्र–नाना कार्यो का करने वाला होने से अनेक स्वभाव वाला सिद्ध होता है, जैसे नाना क्षणो मे अनेक कार्यो को करने से नाना स्वभावत्व सिद्ध होता है। कारण मे अनेक शक्ति स्वभाव नही होते हुए भी वह नाना कार्यो को करता है ऐसा भी नही कहना । क्योकि जैसे रूप आदि के विभिन्न ज्ञानरूप कार्य विभिन्न स्वभाव भूत रूपादि कारणो से होने से नानारूप है । अर्थात् जिस प्रकार ककडी आदि वस्तु मे रूप, रस आदि के भिन्न भिन्न प्रतिभास रूप रस आदि के स्वभावो मे भेद होने के कारण ही होते है, उसी प्रकार क्षण मात्र स्थिति वाले प्रदीपादि क्षण से बत्ती का जलाना, तेल का सुखाना–कम करना, इत्यादि विचित्र कार्य शक्ति भेद होने के कारण बन जाते है यदि प्रदीपादि मे इसप्रकार का नाना शक्तिपना नही माने तो रूप रस आदि मे भी नानापना सिद्ध नही होगा ।

बौद्ध—यह नाना शक्तिया शक्तिमान पदार्थ से न अर्थान्तर भूत सिद्ध होती है और न अनर्थातर भूत सिद्ध होती है अत इनका परमार्थपने से सत्त्व ही नही है । अर्थात् शक्तिमान से अनेक शक्तियो को अर्थातर मानते है तो दोनो का सबध नही

प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानत्वाद्रूपादय: परमार्थसन्तो न पुनस्तच्छक्तयस्तासामनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानत्वात्, इत्यप्ययुक्तम्, क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनामपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गात् । ततो यथा क्षणिकस्य युगपदनेककार्यकारित्वेप्येकत्वाविरोध:, तथाऽक्षणिकस्य क्रमशोनेककार्यकारित्वेपीत्यनवद्यम् ।

यच्चार्थक्रियालक्षण सत्त्वमित्युक्तम्, तत्र लक्षणशब्द: कारणार्थ:, स्वरूपार्थः, ज्ञापकार्थो वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमर्थक्रिया लक्षण कारण सत्त्वस्य, तद्वार्थक्रियाया ? तत्रार्थक्रियात: सत्त्व-

---

रहेगा, किसी अन्य से सबध माने तो अनवस्था आती है । तथा शक्तिमान से शक्तिया अनर्थातर भूत है तो शक्तिमान और शक्तिया एक स्वरूप हो जाती है ।

जैन— यदि अनेक शक्तिया शक्तिमान पदार्थ मे नही रह सकती है तो प्रतीति सिद्ध रूप, रस आदि अनेक स्वभाव भी एक पदार्थ मे नही रह सकेंगे । उनमे वे ही प्रश्न होने लगेगे कि रूप, रस आदि अनेक स्वभाव द्रव्य से पृथक् मानते है तो सबध कौन करावे, और अपृथक् है तो द्रव्य और वे नाना स्वभाव एकमेक होकर एक ही चीज रह जायगी, अत: उनका परमार्थ से अभाव सिद्ध होवेगा ।

बौद्ध—रूप, रस आदि नाना स्वभाव तो एक वस्तु मे साक्षात् ही बुद्धि मे प्रतिभासित हो रहे है अत वे स्वभाव परमार्थ भूत है, किन्तु शक्तिमान की शक्तिया केवल अनुमान ज्ञान मे ही प्रतीत होती है, अत इनका परमार्थ भूत सत्त्व सिद्ध नही हो पाता ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, जो अनुमान मे प्रतीत होवे उसका परमार्थ सत्व नही माना जाय तो, वस्तु मे जो क्षणक्षयीपने की शक्ति या स्वर्ग प्राप्य शक्ति आदि शक्तिया होती है वे सब अपरमार्थ भूत कहलायेगी, इसलिये जैसे क्षणिक के युगपत् अनेक कार्यकारीपना होते हुवे भी एकपने का विरोध नही है, वैसे ही नित्य के भी क्रमश· अनेक कार्यो को करने के स्वभाव या शक्तिया परमार्थ भूत ही है, ऐसा निर्दोष सिद्धात स्वीकार करना चाहिये ।

बौद्ध ने कहा था कि जो अर्थक्रिया लक्षण वाला है उसमे सत्व रहता है अथवा जिसमे अर्थक्रिया नही होती उसमे सत्व [अस्तित्व] नही रहता इस प्रकार सत्व का लक्षण अर्थक्रिया किया, सो लक्षण शब्द किस अर्थ वाला अभीष्ट है, कारण

स्योत्पत्तौ प्राक् पदार्थाना सत्त्वमन्तरेणाप्यस्या प्रादुर्भावान्निर्हेतुकत्व निराधारकत्व वानुपज्येत। अथ सत्त्वादर्थक्रियोत्पद्यते; तदार्थक्रियात प्रागपि सत्त्वसिद्धेर्भावाना स्वरूपसत्त्वमायातम्।

को लक्षण कहना अथवा स्वरूप को या ज्ञापक को लक्षण कहना ? कारण को लक्षण कहे तो सत्व का कारण अर्थक्रिया लक्षण है अथवा अर्थक्रिया का कारण सत्व लक्षण है ? इनमे से यदि अर्थक्रिया से सत्व की उत्पत्ति होना माने [अर्थ क्रिया को कारण] तो पहले पदार्थो के सत्व बिना भी अर्थक्रिया का प्रादुर्भाव होने से अर्थक्रिया निर्हेतुक या निराधार बन जायगी । मतलब अर्थ क्रिया से पदार्थ का सत्व उत्पन्न हुआ ऐसा माने तो अर्थ क्रिया पदार्थ के बिना निराधार और किसी कारण से नही हुई अत निर्हेतुक है ऐसा मानने का प्रसग आता है जो सर्वथा विसगत है । सत्व से अर्थ क्रिया उत्पन्न होती है ऐसा दूसरा पक्ष कहे तो, पदार्थ मे अर्थ क्रिया के होने के पहले से ही सत्व था ऐसा अर्थ निकला, इसका मतलब तो यही हुआ कि पदार्थो मे स्वरूप से ही सत्व है ।

भावार्थ—पदार्थ का सत्व या अस्तित्व किस कारण से रहता है इस पर विचार हुआ, पर वादी अर्थ क्रिया से वस्तु का सत्व सिद्ध करते है, किन्तु ऐसा कहना सर्वथा सिद्ध नही होता है, सूक्ष्म दृष्टि से सोचा जाय तो इस पर पक्ष मे बाधा दिखायी देती है, यदि सत्व से अर्थ क्रिया की उत्पत्ति हुई अर्थात् सत्व अर्थ क्रिया का हेतु है तो सत्व पहले अर्थ क्रिया से रहित था सो वस्तु अर्थक्रिया शून्य नही होती है ऐसा कहना गलत ठहरता है, तथा अर्थक्रिया से सत्व की उत्पत्ति होना स्वीकार करे तो पदार्थ के बिना सत्व के अर्थ क्रिया कहा हुई, किस कारण से हुई इत्यादि कुछ भी समाधान नही होने से वह अर्थ क्रिया निराधार निर्हेतुक ठहरती है, जो किसी भी वादी प्रतिवादी को इष्ट नही है, इसलिये फलितार्थ यही निकलता है कि पदार्थों का सत्व या अस्तित्व स्वरूप से ही है, किसी कारण वश से नही है । प्रत्येक पदार्थ मे सामान्य या साधारण गुण और विशेष गुण होते है, उन गुणो मे से सामान्य गुणो के अन्तर्गत अस्तित्व नामा गुण है इसी को सत्व कहना चाहिये, यह सत्व स्वरूप से ही उस वस्तु मे मौजूद है अथवा यो कहिये अस्तित्व गुण से ही वस्तु मौजूद है । इस-प्रकार सत्व का लक्षण अर्थ क्रिया या अर्थ क्रिया का लक्षण सत्व है ऐसा कथन असत्य हो जाता है ।

अथ स्वरूपार्थोसौ, तत्रापि तद्धेतोरसत्त्वप्रसङ्गः, न ह्यर्थक्रियाकाले तद्धेतुर्विद्यते। न चान्यकालस्यास्यान्यकाला सा स्वरूपमतिप्रसङ्गात्।

नापि ज्ञापकार्थोसौ, अर्थक्रियाकालेर्थस्यासत्त्वादेव। असतश्चास्याऽत. कथं सत्ताज्ञप्तिरतिप्रसङ्गात्? न चार्थक्रियोदयात्प्राक् कारणमासीदिति व्यवस्थापयितुं शक्यम्। यतो यदि स्वरूपेण पूर्वं हेतुरवगतो भवेत्तदनन्तर चार्थक्रिया, तदार्थक्रिया प्रतिपन्नसम्बन्धोपलभ्यमाना प्राग्धेतुसत्ता व्यवस्थापयतीति स्यात्। न चार्थक्रियामन्तरेण हेतुः स्वरूपेण कदाचिदप्युपलब्धः परैः स्वरूपसत्त्वप्रसङ्गात्।

अर्थक्रियायाश्चापरार्थक्रिया यदि सत्त्वव्यवस्थापिका, तदानवस्था। न चार्थक्रियाऽनधिगतसत्त्वस्वरूपापि हेतुसत्त्वव्यवस्थापिका; अश्वविषाणादेरपि तत्सत्त्वव्यवस्थापकत्वानुषङ्गात्। न

"लक्षण" शब्द का अर्थ स्वरूप करते हैं तो भी उस स्वरूप के हेतु का अभाव होता है, क्योकि जब अर्थ क्रिया का समय आता है तब उसका हेतु तो रहता नही, क्योकि पदार्थ सर्वथा क्षणिक है। अन्य काल का सत्व अन्य काल की अर्थ क्रिया का स्वरूप होना तो शक्य नही, अन्यथा अति प्रसग होगा।

"लक्षण" शब्द का अर्थ ज्ञापक है ऐसा कहना भी जमता नही, क्योकि अर्थ क्रिया के काल मे पदार्थ का सत्व रहता ही नही। जब पदार्थ का असत्व है तब उसके सत्ता को जानना कैसे सभव हो सकता है, अति प्रसग दोष आता है, अर्थात् असत् होकर भी कोई ज्ञापक बनता है तो आकाश पुष्प, अश्व विषाणादि को ज्ञापक मानना होगा। यह भी बात है कि अर्थ क्रिया का उदय होने के पहले "कारण था" इत्यादि रूप से व्यवस्था होना शक्य नहीं, क्योकि यदि पहले स्वरूप से हेतु ज्ञात हो उसके अनतर अर्थ क्रिया भी ज्ञात हो तब तो प्रतिपन्न सबधयुक्त एव उपलभ्यमान अर्थ क्रिया पहले से ही हेतु की सत्ता को सिद्ध कर सकती है, अन्यथा नही। आप बौद्ध द्वारा कभी कभी अर्थ क्रिया के बिना उसका कारण, स्वरूप से जाना हुआ तो हो नही सकता, क्योकि ऐसा मानते है तो जैन के समान पदार्थ का सत्व स्वरूप से है ऐसा स्वीकार करने का प्रसग आता है।

अर्थ क्रिया से सत्व की सिद्धि होती है ऐसा मानते है तो विवक्षित अर्थ क्रिया का सत्व किसी अन्य अर्थ क्रिया से सिद्ध होगा, इस तरह तो अनवस्था फैलती

च हेतुजन्यत्वादर्थक्रिया सती नार्थक्रियान्तरोदयात्, इत्यभिधातव्यम्, इतरेतराश्रयानुषङ्गात्-हेतुसत्त्वाद्ध्यऽर्थक्रिया सती, तत्सत्त्वाच्च हेतोः सत्त्वमिति ।

अस्तु वार्थक्रियालक्षण सत्त्वम् । तथाप्यतोर्थाना क्षणस्थायिता क्षणिकत्व साध्येत, क्षणादूदर्ध्वमभावो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, नित्यस्याप्यर्थस्य क्षणावस्थित्यभ्युपगमात् । कथमन्यथास्य सदावस्थिति क्षणावस्थितिनिबन्धनत्वात् । क्षणान्तराद्यवस्थितेः ? अथ क्षणादूदर्ध्वमभाव साध्यते, तन्न; अभावेन सहास्य प्रतिबन्धासिद्ध । न चाप्रतिबन्धविषयोऽश्वविषाणादिवदनुमेय । तन्न सत्त्वादप्यर्थाना क्षणिकत्वावगति ।

है, जिसका सत्व स्वरूप ज्ञात नही है ऐसी अर्थ क्रिया भी अपने कारण के सत्व की व्यवस्थापिका होती है ऐसा भी नही कहना, इस तरह तो अश्व विषाण आदि से भी उसके सत्व की व्यवस्था होने लग जायगी ।

शका—हेतु द्वारा जन्य होने से अर्थ क्रिया सत् रूप है न कि अन्य अर्थ क्रिया द्वारा जन्य होने से सत् रूप है ।

समाधान—ऐसा माने तो अनवस्था दोष से छूट कर अन्योन्याश्रय दोष मे आकर पडेगे-हेतु के सत्व से तो अर्थ क्रिया का सत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर अर्थ क्रिया के सत्व से हेतु का सत्व सिद्ध होगा, इस तरह कुछ भी सिद्ध नही होगा ।

मान भी लेवे कि अर्थ क्रिया का लक्षण सत्व है, तथापि इस सत्व हेतु से पदार्थो का क्षण रूप रहने वाला क्षणिकत्व सिद्ध किया जाता है अथवा एक क्षण के ऊपरले समय मे पदार्थ का अभाव होना सिद्ध किया जाता है ? प्रथम पक्ष कहो तो सिद्ध साध्यता है, क्योकि हम जैन ने अर्थ के नित्य होते हुए भी क्षण रूप अवस्थिति स्वीकार की है, यदि नित्य रूप माने गये पदार्थ मे क्षण का अवस्थान नही मानते हैं तो वह पदार्थ सदा अवस्थित कैसे कहलायेगा ? क्योकि क्षण के अनतर की स्थिति का कारण तो क्षणभर अवस्थान ही तो है । अब यदि दूसरा पक्ष-"क्षण के ऊपर अभाव होना क्षणिकपना है" ऐसा कहे तो ठीक नही है क्योकि अभाव के साथ क्षणिकपने का कोई अविनाभाव सिद्ध नही है । जिसमे अविनाभाव सवध नही है वह पदार्थ अनुमान गम्य नही हुआ करता है, जैसे अश्व विषाण अनुमेय नही है । इस प्रकार सत्व हेतु से पदार्थो का क्षणिकत्व सिद्ध करना भी गलत ठहरता है ।

नापि कृतकत्वात्; उक्तप्रकारेण क्षणिके कार्यकारणभावप्रतिषेधत' कृतकस्याऽसिद्धस्वरूपत्वेन तदवगति प्रत्यनङ्गत्वात् । ततः प्रतीत्यनुरोधेन स्थिरः स्थूलः साधारणस्वभावश्च

कृतकत्व नामा हेतु से पदार्थो के क्षणिकत्व को सिद्ध करे तो वे ही पूर्वोक्त दोष आयेंगे, क्षणिक पदार्थ मे कार्य कारण भाव ही सिद्ध नही होता है ऐसा अभी बहुत कह दिया है, इसी कथन से कृतकत्व हेतु भी असिद्ध दोष युक्त है यह निश्चय होता है, और जो असिद्ध है वह अन्य के सिद्धि का हेतु या ज्ञान का हेतु होना अशक्य ही है । इसलिये पदार्थ की जैसे प्रतीति आती है उस प्रतीति के अनुसार पदार्थो की व्यवस्था करनी चाहिये, प्रतीति मे स्थिर स्थूल, साधारण [सदृश परिणाम] स्वभाव वाले पदार्थ आ रहे है, अत वैसे ही स्वीकार करना चाहिये ।

विशेषार्थ—जगत मे घट, पट, आत्मा, पृथिवी, वायु आदि यावन्मात्र पदार्थ है वे सभी सामान्य विशेषात्मक होते है, सामान्य हो चाहे विशेष, वस्तु मे दोनो स्वत' सिद्ध ही है, ऊपर से किसी कारण द्वारा सबधित नही किये है । अद्वैतवादी पदार्थ को सर्वथा सामान्य धर्म वाला ही मानते हैं । उनकी दृष्टि से वस्तुओ का प्रतिनियत वैशिष्टय मात्र काल्पनिक है, यहा तक कि उनमे चेतन अचेतन कृत विशेष भी नही है । बौद्ध वस्तु को सर्वथा विशेषात्मक ही प्रतिपादित करते है । इनका मंतव्य पूर्व वादी से सर्वथा उलटा है । गायो मे सफेद, कृष्ण, खण्ड, मुण्ड आदि को छोडकर और कोई सामान्य धर्म नही है ऐसा इनका कहना है । नैयायिक, वैशेपिक वस्तु में दोनो धर्म मानते है किन्तु वे पदार्थ की उत्पत्ति निर्गुणात्मक मानते है, अर्थात् पदार्थ प्रथम क्षण मे निर्गुण ही उत्पन्न होते है और उनमे समवाय सबध फिर गुणो का सयोजन करता है, गो व्यक्तियो मे जो सास्नादि सामान्य धर्म है वह निजी नही अपितु समवाय से संयुक्त है, वह सामान्य, एक–व्यापक एव नित्य है, इत्यादि सामान्य के विषय मे इनकी विपरीत मान्यता है, इसका सयुक्तिक विस्तृत खण्डन "सामान्य स्वरूप विचार" प्रकरण मे हो चुका है । पदार्थ का सामान्य धर्म दो तरह का है तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य । तिर्यक् सामान्य अनेक वस्तुओ मे पाया जाने वाला सादृश्य धर्म है जो बौद्ध को अरुचिकर है उसको सिद्ध करके पुन. ऊर्ध्वता सामान्य का प्रतिपादन किया है, एक ही पदार्थ की जो पूर्व और उत्तर अवस्था होती है उन अवस्थाओ मे जो पदार्थ मौजूद रहता है उसको ऊर्ध्वता सामान्य कहते है जैसे

भावोभ्युपगन्तव्यः।

❋ क्षणभगवाद समाप्त. ❋

स्थास आदि अवस्थाओ मे मिट्टी मौजूद रहती है। पूर्वोत्तर अवस्थाओ मे एक ही वस्तु का रहना कहते ही बौद्ध का क्षणवाद खडा हुआ, क्योंकि बौद्ध प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानते है। प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतिभासित पदार्थ का स्वरूप स्थिर, स्थूल और साधारण या सदृश परिणाम रूप है किन्तु एकान्तवादी बौद्ध पदार्थ को अस्थिर, अर्थात् क्षणिक स्थूलता रहित [परमाणु मात्र] एव सदृशता रहित मानते है। अस्थिर–क्षणिकत्व धर्म का तो इस प्रकरण "क्षणभगवाद" मे खण्डन किया है, और सदृश या साधारण धर्म की सिद्धि सामान्य स्वरूप विचारनामा प्रकरण मे की है। इसके बाद आगे स्थूलत्व धर्म का विवेचन संबध सद्भाव प्रकरण मे होगा। इस तरह पदार्थ, वस्तु या द्रव्य स्थिर, स्थूल और साधारण धर्म वाले होते है ऐसा निर्बाध सिद्ध होता है।

❋ क्षणभगवाद समाप्त ❋

बौद्ध के क्षणभंगवाद के निरसन का सारांश

बौद्ध पदार्थ को क्षणिक मानते है, उनके यहा वस्तु के क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये तीन हेतु दिये जाते है अर्थ क्रियाकारित्व, सत्व और कृतत्व किन्तु इनसे क्षणिकत्व सिद्ध नही होता है । प्रत्येक पदार्थ प्रत्यक्ष से ही अन्वयरूप प्रतीत होता है । त्रिकाल मे रहने वाली स्थिति क्षणिक बुद्धि द्वारा गम्य नही होती, किन्तु जानने वाला आत्मा नित्य है वह प्रत्यक्ष बुद्धि प्रत्यभिज्ञान इत्यादि की सहायता से पदार्थो को उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप ही ग्रहण करता है । जिसप्रकार कि घट के उत्पाद व्यय प्रतीत होते है सो उन्हीके साथ उनकी मिट्टी रूप स्थिति भी प्रत्यक्ष से ही दिखाई देती है ।

दूसरी बात यह भी है कि द्रव्य के ग्रहण करने पर उसकी अतीतादि सभी पर्यायें ग्रहण हो ही जाय ऐसा कोई नियम नही, बौद्ध कहते है कि द्रव्य से अतीतादि अवस्था अभिन्न है अत द्रव्य के साथ उनका भी ग्रहण हो जाना चाहिये सो ऐसा मानने पर तो ज्ञान द्वारा पदार्थो का अनुभव करते समय जैसे उनसे अभिन्न चेतनत्वादि प्रतीत होते है वैसे ही उन्हीके साथ अभिन्न रहने वाले जो स्वर्ग प्रापणत्वादि धर्म है वे सब प्रतीत होने चाहिये क्योकि वे धर्म उन ज्ञानादि से अभिन्न है, किन्तु ऐसा आपने माना नही और ऐसा है भी नही अत अभिन्न होने से अतीतादि अवस्था द्रव्य के ग्रहण होते ही ग्रहण मे आ ही जाय ऐसा नियम नही बन सकता ।

पदार्थ की स्थास्नुता अर्थात् ठहरने का स्वभाव रूप जो नित्यता है वह तीन काल की अपेक्षा से होती है अत तीनो कालो को जाने बिना नित्यता कैसी जाने ऐसा प्रश्न है वह गलत है क्योकि पदार्थ की नित्यता तीन काल की अपेक्षा से न होकर स्वभाव से ही है । पदार्थ की अतीत पर्याय भविष्यत पर्याय ऐसा जो नाम है वह काल के निमित्त से है सो काल मे अतीतपना किससे है ऐसी शका करना भी ठीक नही है,

काल मे अतीत अनागतत्व स्वत रहता है और वस्तु की पर्यायो मे अतीतादित्व काल के निमित्त से आता है ऐसी ही वस्तु व्यवस्था है ।

घटादि का विनाश लाठी आदि के व्यापार के बाद देखा जाता है अत· विनाश को निर्हेतुक नही कह सकते । लाठी का व्यापार कपाल की उत्पत्ति मे निमित्त होता है ऐसा भी नही कहना । क्योंकि कपाल की उत्पत्ति मे लाठी सहायक है तो उससे घट का तो कुछ बिगडा नही वह लाठी मारने पर भी जैसा का तैसा दिखाई देना चाहिये । बौद्धमतानुसार यदि नाश स्वत होता है तो नाश के कारण उपस्थित होने पर जो सुख दु.खादिका अनुभव होता है वह नही होना चाहिये । अर्थात् लाठी आदि के व्यापार के अनतर घट का इच्छुक पुरुष दु.खी होता है और कपाल का इच्छुक सुखी होता है एव इन दोनो कार्यो को नही चाहने वाला व्यक्ति मध्यस्थ रहता है सो यह बात क्यो होती ।

अत. नाश का कारण जरूर है यह सिद्ध होता है । हम जैन बौद्ध को पूछते है कि जैसे आप नाश को स्वत होना मानते है वैसे उत्पाद को स्वत: होना मानना चाहिये । किन्तु आप उत्पाद को सहेतुक मानते है । सत्व हेतु से वस्तु का क्षणिकत्व सिद्ध करना भी शक्य नही है । क्योकि सत्त्व का क्षणिकत्व के साथ अविनाभाव नही है । बिजली मे सत्व और क्षणिकत्व का अविनाभाव प्रत्यक्ष से दिखता है ऐसा कहना भी अशक्य है । हम जैन बिजली का भी निरन्वय नाश नही मानते "भवान्तर स्वभावत्वात् अभावस्य" यह सुप्रसिद्ध न्याय है । नित्य वस्तु मे सत्व नही है इस बात को, कौनसा प्रमाण पुष्ट करता है ? आपके यहा प्रत्यक्ष निर्विकल्प है अत नित्य हो चाहे क्षणिक दोनो को भी जान नही सकता । अनुमान प्रमाण भी क्षणिकत्व को विषय नही करेगा, उसके लिये अविनाभावी हेतु चाहिये, आप सत्व हेतु का क्षणिकत्व के साथ अविनाभाव करके अनुमान करते है किन्तु सत्व और क्षणिकत्व का अवित्ताभाव का नही है यह बात कह चुके है । अर्थ क्रिया कारित्व हेतु भी क्षणिकत्व को पुष्ट न करके नित्य को ही पुष्ट करेगा अर्थात् क्षणिक वस्तु मे क्रम या युगपत् अर्थ क्रिया का होना शक्य नही है । जैन प्रत्येक पदार्थ को कथचित् नित्य मानते है अत: उसीमे अर्थ क्रिया सभव है । यदि वस्तु क्षणिक है तो वह नष्ट होकर कार्य को पैदा करेगो कि अविनष्ट होकर ? नष्ट होकर कहो तो ठीक नही क्योकि जैसे

पूर्व पूर्व की नष्ट हुई वस्तु ने कार्य पैदा नही किया था वैसे कार्य क्षण के प्रथम समय की नष्ट हुई वस्तु भी कार्योत्पादक नही बन सकती । अर्थात् बौद्ध वस्तु को उत्पन्न होते ही नष्ट होती है ऐसा मानते है सो जब घट उत्पन्न हुआ था तभी तत्काल ही कपालरूप कार्य क्यो नही दिखता । अविनष्ट होकर घटादि पदार्थ कार्य करते है ऐसा मानो तो क्षणभगवाद समाप्त होगा क्योकि वस्तु स्थित होकर कार्य करने लगी तो वह नित्य हो ही जायगी अथवा कम से कम दो चार क्षण तो ठहर ही जायगी । तथा वस्तु सर्वथा क्षणिक है तो उसमे अनेक स्वभाव हो नही सकते किन्तु आपने वस्तु को क्षणिक मान कर भी उसे उत्तर क्षण के सजातीय कार्य का उपादान और विजातीय कार्य का सहकारी कारण रूप माना है । अर्थात् पूर्व क्षण का रूप उत्तर क्षण के रूप का उपादान और रस क्षण का सहकारी है सो ऐसे दो स्वभाव निरन्वय क्षणिक मे होना शक्य नही । उपादान का सही स्वरूप भी आपके यहा सिद्ध नही है कार्य मे अपनी सपूर्ण विशेषता को डालना उपादान है ऐसा कहो तो निर्विकल्प से विकल्प पैदा होना रूपाकार प्रत्यक्ष से रस का ज्ञान होना इत्यादि नही बनता क्योकि इन कार्यो मे उपादान की सपूर्ण विशेषता नही है । कृतकत्व हेतु भी क्षणिकत्व सिद्धि मे कार्यकारी नही है, क्षणिक वस्तु मे अन्वय व्यतिरेक भी सभव नही है इस प्रकार क्षणभगवाद अर्थात् वस्तु क्षण क्षण मे नष्ट होना यह जो बौद्धाभिमत सिद्धात है वह नितरा असिद्ध है, प्रत्यक्ष या अनुमान किसी से भी वह सिद्ध नही हो पाता अतः स्थिर अर्थात् कथचित् नित्य और स्थूल अर्थात् अवयवी स्वरूप साधारण धर्मयुक्त प्रत्येक वस्तु है ऐसा प्रतीति सिद्ध तत्व स्वीकार करना चाहिये ।

❖ क्षणभंगवाद के निरसन का सारांश समाप्त ❖

४

संबंधसद्भाववाद:

ननु चाणूनामय शलाकाकल्पत्वेनान्योन्य सम्बन्धाभावत स्थूलादिप्रतीतेर्भ्रान्तत्वात्कथ तद्वशात्तत्स्वभावो भाव: स्यात् ? तथाहि–सम्बन्धोर्थाना पारतन्त्र्यलक्षणो वा स्यात्, रूपश्लेषलक्षणो वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमसौ निष्पन्नयो. सम्बन्धिनो· स्यात्, अनिष्पन्नयोर्वा ? न तावदनिष्पन्नयो, स्वरूपस्यैवाऽसत्त्वात् शशाश्वविषाणवत् । निष्पन्नयोश्च पारतन्त्र्याभावादसम्बन्ध एव । उक्तञ्च—

अब यहा पर पदार्थ के स्थूलत्व धर्म का बौद्ध बहुत बडा पक्ष रखकर खण्डन करना चाह रहा है—

बौद्ध—जैन ने अभी कहा कि पदार्थ स्थूल रूप को लिये हुए हैं, सो यह स्थूलत्व असिद्ध है, अणु रूप ही पदार्थ हुआ करते है, उनका परस्पर मे सबध नही होता है, जैसे लोहे की शलाकाये परस्पर मे सबध रहित हुआ करती है। पदार्थों मे जो स्थूलत्वादि धर्म प्रतीत होते है वह प्रतीति भ्रान्त है, उस भ्रान्त ज्ञान से पदार्थों मे स्थूलता को सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती । अब इसीका खुलासा करते है–पदार्थो के सबध का स्वरूप क्या है यह पहले देखना होगा, पारतन्त्र्य को सबध कहते है या रूपश्लेपको सबध कहते है ? पारतन्त्र्य को सवध माने तो वह किन पदार्थो मे होगा निष्पन्नो मे या अनिष्पन्नो मे ? अनिष्पन्न दो पदार्थो मे सबध हो नही सकता क्योकि उनका अभी स्वरूप से ही असत्व है। जैसे शश विषाण और अश्व विपाणो का स्वरूपास्तित्व नही होने से सवध नही होता

"पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता ।
तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥१॥"

[सम्बन्धपरी०]

नापि रूपश्लेषलक्षणोसौ; सम्बन्धिनोर्द्वित्वे रूपश्लेषविरोधात् । तयोरैक्ये वा सुतरा सम्बन्धाभाव, सम्बन्धिनोरभावे सम्बन्धायोगात् द्विष्ठत्वात्तस्य । अथ नैरन्तर्यं तयो रूपश्लेषः; न, अस्यान्तरालाभावरूपत्वेनाऽतात्त्विकत्वात् सम्बन्धरूपत्वायोग. । निरन्तरतायाश्च सम्बन्धरूपत्वे सान्तरतापि कथं सम्बन्धो न स्यात् ?

किञ्च, असौ रूपश्लेषः सर्वात्मना, एकदेशेन वा स्यात् ? सर्वात्मना रूपश्लेषे अणूना पिण्डः अणुमात्रः स्यात् । एकदेशेन तच्छ्लेषे किमेकदेशास्तस्यात्मभूता., परभूताः वा ? आत्मभूता-

---

है । निष्पन्न हुए दो पदार्थो का सबध होता है ऐसा कहो तो इनमे पारतन्त्र्य का ही अभाव है अतः असबध ही रहेगा । कहा भी है—पारतन्त्र्य होने को संबध कहते है, सो जब पदार्थ सिद्ध है तो उनमे क्या परतत्रता आयेगी ? इसलिये सभी पदार्थो का परस्पर में वास्तविक सबध नही है ॥१॥

रूप श्लेष—[अन्योन्य स्वभावो का अनुप्रवेश] लक्षण वाला सबध भी सिद्ध नही होता है, क्योकि इन रूप आदि सबधियो मे दोपना है तो रूप श्लेष कैसे होवे विरोध आता है । सबधियो मे एकत्व माने तो बिल्कुल ही सबध का अभाव होवेगा, जहां पर दो सबधी ही नही है वहां पर सबंध का अयोग रहेगा सबध तो दो वस्तुओ मे हुआ करता है ।

शका—संबधियो मे जो निरतरपना है वही उनका रूप श्लेष कहलाता है ।

समाधान—ऐसा नही कहना, निरंतर का अर्थ होता है अतराल का अभाव, और अभाव होता है अतात्विक, अत. वह सबंध रूप नही हो सकता । यदि निरंतरता के सबंधपना सभव है तो सान्तरता के कैसे नही हो सकता ? क्योकि इसमे भी निरंतरता के समान दो पदार्थो की अपेक्षा रहती है । तथा यह रूप श्लेष लक्षण संबध सर्वदेश से होता है या एकदेश से होता है ? सर्वदेश से संबधियो का सबध होना रूप श्लेष कहलाता है ऐसा मानने पर अणुओ का पिण्ड भी अणु मात्र रह जायगा । एकदेश से रूप श्लेप सवध होता है अर्थात् वस्तु के एकदेश मे रूप श्लेप होता है,

श्चेत्, न एकदेशेन रूपश्लेषस्तदभावात् । परभूताश्चेत्; तैरप्यणूना सर्वात्मनैकदेशेन वा रूपश्लेषे स एव पर्यनुयोगोनवस्था च स्यात् । तदुक्तम्—

"रूपश्लेषो हि सम्बन्धो द्वित्वे स च कथं भवेत् ।
तस्मात्प्रकृतिभिन्नाना सम्बन्धो नास्ति तत्त्वत: ।।२।।"

[सम्बन्धपरी०]

किञ्च, परोपेक्षैव सम्बन्ध', तस्य द्विष्ठत्वात् । त चापेक्षते भाव स्वय सन्, असन्वा ? न तावदसन्, अपेक्षाधर्माश्रयत्वविरोधात् खरशृङ्गवत् । नापि सन्, सर्वनिराशंसत्वात्, अन्यथा सत्त्वविरोधात् । तन्न परापेक्षा नाम यद्रूप. सम्बन्ध: सिद्धचे त् । उक्तञ्च—

"परापेक्षा हि सम्बन्ध' सोऽसन् कथमपेक्षते ।
सश्च सर्वनिराशसो भाव कथमपेक्षते ।।३।।"

[सम्बन्धपरी०]

ऐसा कहो तो उसके एकदेश अश आत्मभूत है या परभूत है ? आत्मभूत कहो तो ठीक नही होगा, क्योकि अणु के अश नही होने से एकदेश से रूप श्लेष नही बनेगा । रूप श्लेष के अश परभूत [पर स्वरूप] है ऐसा कहो तो पुन' प्रश्न होगा कि उन परभूत अंशो से अणुओ का एकदेश से रूप श्लेष होगा अथवा सर्वदेश से इत्यादि वे ही प्रश्न होते है, और अनवस्था भी आती है । यही बात सबध परीक्षा नामा ग्रन्थ मे लिखी है—रूप श्लेष लक्षण वाला सबध होता है ऐसा माने तो वह दो मे किस प्रकार हो सकेगा ? अत स्वभाव से भिन्न भिन्न अणुओ का कोई तात्विक सबध नही है ।।२।।

यह सबध पर की अपेक्षा लेकर होता है क्योकि दो मे होता है, सो पर की अपेक्षा रखने वाला यह सबध स्वय सत् है या असत्, असत् हो नही सकता, असत् पदार्थ अपेक्षा धर्माश्रय का विरोधी होता है, जैसे गधे के सीग अपेक्षा धर्म के आश्रयभूत नही होते है । परापेक्ष सबध स्वय सत्,है ऐसा कहना भी गलत है, जो स्वय सत् है वह सर्वत्र निराकाक्ष हुआ करता है, अन्यथा वह स्वत' सत्व रूप नही हो सकता । इसलिये परापेक्ष रूप श्लेष सबध भी सिद्ध नही होता है । कहा भी है—परापेक्ष संबध माने तो वह यदि असत् है तो पर की अपेक्षा किस प्रकार करेगा और यदि सत् है तो भी सर्वत्र निरीच्छ होने से पर की अपेक्षा किस तरह कर सकेगा ? अत' परापेक्ष सबध का अभाव है ।।३।।

किञ्च, असौ सम्बन्ध: सम्बन्धिभ्या भिन्न , अभिन्नो वा ? यद्यभिन्न:; तदा सम्बन्धिनावेव न सम्बन्ध. कश्चित्, स एव वा न ताविति । भिन्नश्चेत्, सम्बन्धिनौ केवलौ कथ सम्बधौ (द्धौ) स्याताम् ?

भवतु वा सम्बन्धोर्थान्तरम्, तथापि तेनैकेन सम्बन्धेन सह द्वयो सम्बन्धिनो: क: सम्बन्ध:? यथा सम्वन्धिनोर्यथोक्तदोषान्न कश्चित्सम्बन्धस्तथात्रापि तेनानयो: सम्बन्धान्तराभ्युपगमे चानवस्था स्यात्तत्रापि सम्बन्धान्तरानुषङ्गात् । तन्न सम्बन्धिनो: सम्बन्धबुद्धिर्वास्तवी तद्व्यतिरेकेणान्यस्य सम्वन्धस्यासम्भवात् । तदुक्तम्—

"द्वयोरेकाभिसम्वन्धात्सम्वन्धो यदि तद्द्वयो. ।
क: सम्बन्धोनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा ।।४।।

तत:—

तौ च भावौ तदन्यश्च सर्वे ते स्वात्मनि स्थिता: ।
इत्यमिश्रा. स्वय भावास्तान् मिश्रयति कल्पना ।।५।।
[सम्बन्धपरी०]

दूसरी बात यह है कि यह सबध अपने दो सबधियो से भिन्न है कि अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो मात्र दो सबधी ही रहेगे, सम्बध नही रहेगा, अथवा अकेला सबध ही रह सकेगा, सम्बधी पदार्थ नही रह सकेगे । दो सम्बधियो से सम्बध भिन्न माने तो अकेले सम्बधी किस प्रकार परस्पर मे सम्बद्ध हो सकेगे ? सम्बध तो न्यारा है ।

मान भी लेवे कि सम्बध भिन्न रहता है, तथापि उस एक सम्बध के साथ दोनो सम्वधियो का कौनसा सम्वध है ? जिस प्रकार दो सम्बधियो मे पूर्वोक्त दोष होने से कोई सम्बध सिद्ध नही हो पाता है उसीप्रकार सम्वध के साथ सम्बधियो का सम्वध मानने मे वे ही दोष आने से कोई सम्बध सिद्ध नही होता है । सबंध के साथ सबधियो का सबध कराने हेतु अन्य सम्वध की कल्पना करे तो अनवस्था होगी, क्योकि वहा भी सम्वधातर की आवश्यकता रहेगी, अत सम्वधियों मे सम्वध का जो प्रतिभास होता है वह सत्य नही है, क्योकि सम्वधियो को छोडकर अन्य कोई सम्वध नामा पदार्थ नही है । कहा भी है – दो सम्वधियो मे एक सम्वध से सम्वध होता है वह सम्वंध भी उनमे किससे सम्वद्ध है ? अन्य किसी सम्वद्ध से है तो अनवस्था आती है अत. सम्वधि पदार्थो में सम्वध का जो प्रतिभास होता है वह असत् है ।।४।।

"तौ च भावौ सम्बन्धिनौ ताभ्यामन्यश्च सम्बन्ध· सर्वे ते स्वात्मनि स्वस्वरूपे स्थिताः। तेनामिश्रा व्यावृत्तस्वरूपाः स्वयं भावास्तथापि तान्मिश्रयति योजयति कल्पना। अत एव तद्वास्तवसम्बन्धाभावेपि तामेव कल्पनामनुरुन्धानैर्व्यवहर्तृभिर्भावाना भेदोऽन्यापोहस्तस्य प्रत्यायनाय क्रियाकारकादिवाचिन. शब्दाः प्रयोज्यन्ते–'देवदत्त गामभ्याज शुक्ला, दण्डेन' इत्यादयः। न खलु कारकाणा क्रियया सम्बन्धोस्ति; क्षणिकत्वेन क्रियाकाले कारकाणामसम्भवात्। उक्तञ्च—

"तामेव चानुरुन्धानैः क्रियाकारकवाचिनः।
भावभेदप्रतीत्यर्थं सयोज्यन्तेभिधायकाः ॥६॥"

[सम्बन्धपरी०]

कार्यकारणभावस्तर्हि सम्बन्धो भविष्यति, इत्यप्यसमीचीनम्; कार्यकारणयोरसहभावतस्तस्यापि द्विष्ठस्यासम्भवात्। न खलु कारणकाले कार्यं तत्काले वा कारणमस्ति, तुल्यकाल कार्य-

---

इसलिये वे दोनो सम्बधी, तथा सम्बध ये सबके सब अपने मे ही स्थित है, इसप्रकार अमिश्र सम्बन्ध रहित ही पदार्थ हैं, ऐसे मिश्र रहित पदार्थो को कल्पना बुद्धि मिश्रित करती है सम्बध सहित प्रतिभासित कराती है ॥५॥

वे दोनो सम्बधी पदार्थ, तथा उनसे अन्य सम्बध ये सबके सब निज निज स्वरूप मे स्थित हैं, इसप्रकार पदार्थ स्वय अमिश्र व्यावृत्त स्वरूप है, फिर भी उन अमिश्र पदार्थो को कल्पना बुद्धि परस्पर मे सयुक्त–सबद्ध करा देती है। अतएव उन पदार्थो मे वास्तविक सम्बध नही होते हुवे भी जो सम्बन्ध की कल्पना करा देती है उस काल्पनिक बुद्धि को करने वाले व्यवहारी जनो ने पदार्थों के भेद रूप अन्यापोह स्थापित किया और उसकी प्रतीति कराने के लिये क्रिया, कारकादि वाचक शब्दो को प्रयुक्त किया है जैसे हे देवदत्त ! सफेद गाय को दण्डे से भगादो, इत्यादि। यह वाचक शब्दादिक इसलिये काल्पनिक है कि कारको का क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नही है, कारक तो क्षणिक है वे क्रिया के समय नही रहते है। कहा भी है—उसी काल्पनिक बुद्धि को करने वाले व्यवहारी लोगो द्वारा क्रिया, कारक वाचक शब्द पदार्थो मे भेद बताने हेतु प्रयुक्त होते हैं ॥६॥

शका—रूप श्लेषादि सम्बन्ध नही हो किन्तु कार्य कारणभाववाला सबध तो सिद्ध होगा ?

कारणभावानुपपत्तेः सव्येतरगोविषाणवत्। तन्न सम्बन्धिनौ सहभाविनौ विद्येते येनानयोर्वर्तमानोसौ सम्बन्धः स्यात्। अद्विष्ठे च भावे सम्बन्धतानुपपन्नैव।

कार्ये कारणे वा क्रमेणासौ सम्बन्धो वर्त्तते, इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतः क्रमेणापि भावः सम्बन्धाख्य एकत्र कारणे कार्ये वा वर्त्तमानोऽन्यनिस्पृह =कार्यकारणयोरन्यतरानपेक्षो नैकवृत्तिमान् सम्बन्धो युक्तः, तदभावेपि=कार्यकारणयोरभावेपि तद्भावात्। यदि पुनः कार्यकारणयोरेक कार्यं कारण वापेक्ष्यान्यत्र कार्ये कारणे वासौ सम्बन्धः क्रमेण वर्त्तत इति सस्पृहत्वेन द्विष्ठ एवेष्यते; तदानें-

---

समाधान—यह भी ठीक नही है, कारण और कार्य मे सहभाव नही है अतः द्विष्ठ सम्बन्ध का भी उसमे असभव है। आगे इसीको कहते है—कारण के समय मे कार्य और कार्य के समय मे कारण नही होता, क्योकि समान काल वाले पदार्थो मे कार्यकारण भाव असभव है, जैसे गो के दाये बाये सीगो मे कार्य कारणभाव नही है, अर्थात् दोनो सीग एक साथ उत्पन्न होने से एक सीग कारण और दूसरा कार्य है ऐसी व्यवस्था सर्वथा नही होती है। कार्य कारण सम्बन्ध वाले पदार्थ सहभावी नही पाये जाते, जिससे कि उनमे यह सम्बन्ध घटित हो सके। अर्थात् कारण और कार्य दोनो एक साथ नही रहते इसलिये दो मे स्थित होने वाला यह सम्बन्ध उनमे घटित नही होता है।

अद्विष्ठ पदार्थ मे सबध का सद्भाव सर्वथा असभव है।

शका—यह सम्बन्ध क्रमश पहले कारण मे और पुन कार्य मे रहता है।

समाधान—ऐसा भी नही जमता, क्योकि यदि सबध नामा वस्तु क्रम से एक कारण या कार्य मे रहकर अन्यसे निस्पृह है, कार्य और कारण
की अपेक्षा नही रखता तो ऐसा एक वृत्तिवाला सबध युक्त नही है,
के अभाव मे भी रहता है। यदि कहा जाय कि कारण या
अपेक्षा लेकर यह सबध अन्य कारण अथवा कार्य मे क्रम से
होने से द्विष्ठ ही माना जाता है तो ये जो कार्य कारण
के नाते उपकारकपना होना चाहिये, क्योकि उपकारी
इस कथन का साराश [illegible] कि कार्य और

नापेक्ष्यमाणेनोपकारिणा भवितव्य यस्मादुपकार्येऽपेक्ष्य स्यान्नान्यः । कथ चोपकरोत्यऽसन् ? यदा कारणकाले कार्याख्यो भावोऽसन् तत्काले वा कारणाख्यस्तदा नैवोपकुर्यादसामर्थ्यात् ।

किञ्च, यद्येकार्थाभिसम्बन्धात्कार्यकारणता तयो· कार्यकारणभावत्वेनाभिमतयो., तर्हि द्वित्वसख्यापरत्वापरत्वविभागादिसम्बन्धात्प्राप्ता सा सव्येतरगोविषाणयोरपि । न येन केनचिदेकेन सम्बन्धात्सेष्यते, किं तर्हि ? सम्बन्धलक्षणेनैवेति चेत्; तन्न, द्विष्ठो हि कश्चित्पदार्थ. सम्बन्धः, नातोऽर्थद्वयाभिसम्बन्धादन्यत्तस्य लक्षणम्, येनास्य सख्यादेर्विशेषो व्यवस्थाप्येत ।

कस्यचिद्भावे ᳚भावोऽभावे चाभाव तावुपाधी विशेषणं यस्य योगस्य=सम्बन्धस्य स कार्यकारणता यदि न सर्वसम्बन्ध , तदा तावेव योगोपाधी भावाभावौ कार्यकारणताऽस्तु किम-

---

तो उनका परस्पर मे उपकारक पना भी जरूरी है, किन्तु वे उपकार कैसे करे ? कारण के समय कार्य नही रहता और कार्य के समय कारण नही रहता अत. उनमे सामर्थ्य नही होने से उपकारकपना असंभव है ।

दूसरी बात यह है कि यदि एक के सबंध से कार्य कारण रूप से माने गये पदार्थो मे कार्य कारणपना सिद्ध हो सकता है तो द्वित्व [दो] सख्या परत्व–अपरत्व, विभाग इत्यादि सबध से वह कार्य कारणता गाय के दाये-बाये सीग मे भी हो सकती है ।

शका—जिस किसी एक सबध से कार्य कारणता नही मानी है किन्तु सबध का लक्षण जिसमे है उससे कारण कार्यता आया करती है ?

समाधान—ऐसी बात नही है, द्विष्ठ रूप पदार्थ ही सबध कहलाता है, दो पदार्थो के अभि सबध से अन्य कुछ भी उसका लक्षण देखा नही जाता है, जिससे कि सख्या परत्व आदि से उसकी विशेपता–विभिन्नता व्यवस्थित की जा सके ।

शंका—किसी एक के [कार्य अथवा कारण के] होने पर होना और नही होने पर नही होना इसप्रकार भाव और अभाव है विशेपण जिसके उस सबध को कार्य कारण सबध कहते हैं, न कि सभी सबधो को कार्य कारण सबध कहते हैं ?

समाधान—यदि ऐसी बात है तो उन्ही भाव और अभाव रूप विशेपणो को कार्य कारणपना माना जाय । व्यर्थ के असत् सबध की कल्पना क्यो करे ? यदि जैनादि परवादी कहे कि अभाव भावरूप विशेपण और कार्य कारण मे भेद [अतर]

सत्सम्बन्धकल्पनया ? भेदाच्चेत् 'भावे हि भावोऽभावे चाभाव:' इति बहवोऽभिधेयाः कथ कार्यकारणतेत्येकार्थाभिधायिना शब्देनोच्यन्ते ? नन्वय शब्दो नियोक्तार समाश्रितः। नियोक्ता हि य शब्दं यथा प्रयुङ्क्ते तथा प्राह, इत्यनेकत्राप्येका श्रुतिर्न विरुध्यते इति तावेव कार्यकारणता ।

यस्मात् पश्यन्नेक कारणाभिमतमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्याऽदृष्टस्य कार्याख्यस्य दर्शने सति तददर्शने च सत्यऽपश्यत्कार्यमन्वेति 'इदमतो भवति' इति प्रतिपद्यते जनः 'अत इद जातम्' इत्याख्यातृभिर्विनापि । तस्माद्दर्शनादर्शने–विषयिणि विषयोपचारात्–भावाभावौ मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात् कार्यादिश्रुतिरप्यत्र भावाभावयोर्मा लोकः प्रतिपदमियती शब्दमालामभिदध्यात् इति व्यवहारलाघवार्थं निवेशितेति ।

है, अर्थात् "होने पर होना और न होने पर नही होना" इस विशेषण रूप वाक्य के बहुत अर्थ हुआ करते है, उन सब अर्थो को कार्य कारणता रूप एक मात्र अर्थ को कहने वाले शब्द द्वारा कैसे कहा जा सकता है ? सो इस परवादी के प्रश्न का उत्तर यह है कि कौन से अर्थ को कितने अर्थो को शब्द कह रहा है यह काम तो शब्द का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के अधीन है, शब्द का प्रयोक्ता जिस शब्द को जिसप्रकार से प्रयोग मे लाता है उसी एक वा अनेक अर्थो को वह शब्द कहने वाला बन जाता है, अत अनेक अर्थो मे भी एक शब्द का प्रयुक्त होना विरुद्ध नही पडता है । इसप्रकार किसी एक के होने पर होना और न होने पर नही होना रूप भाव अभाव ही कार्य कारणपना है ऐसा सिद्ध होता है ।

कारणपने से माने गये कोई एक पदार्थ को देखते हुए जो "कारण के पहले अदृष्ट रहता है और उपलब्ध स्वभाववाला है "ऐसे कार्य की खोज मनुष्य किया करता है जिसका कि दर्शन और अदर्शन होता है, अर्थात् कारण जब दिखता है तब कार्य नही दिखता है और जब कार्य दिखता है तब कारण मौजूद नही रहने से दिखायी नही देता है, सो इस कारण कार्यता को बताने वाले व्यक्तियो के नही होने पर भी अपने आप ही मनुष्य समझ जाते है कि यह कार्य इस कारण से होता है" इसलिये कारण और कार्य मे से किसी एक का दर्शन और एक का अदर्शन जिसमे है उस विषयी ज्ञान मे विषय का उपचार होकर "इसके होने पर होता है और नही होने पर नही होता" ऐसी कार्य बुद्धि होती है, सो यह कार्य बुद्धि अर्थात् कार्य का ज्ञान भाव अभाव को छोडकर नही होता है, कार्य आदि शब्द जो प्रयुक्त होते है वे

अन्वयव्यतिरेकाभ्या कार्यकारणता नान्या चेत् कथं भावाभावाभ्या सा प्रसाध्यते? तदभावाभावात् लिंगात्तत्कार्यतागतिर्याप्यनुवर्ण्यते 'अस्येद कार्यं कारण च' इति; संकेतविषयाख्या सा। यथा 'गौरय सास्नादिमत्त्वात्' इत्यनेन गोव्यवहारस्य विषयः प्रदर्श्यते। यतश्च 'भावे भाविनि=भवनधर्मिणि तद्भावः=कारणाभिमतस्य भाव एव कारणत्वम्, भावे एव कारणाभिमतस्य भाविता कार्याभिमतस्य कार्यत्वम्' इति प्रसिद्धे प्रत्यक्षानुपलम्भतो हेतुफलते। ततो भावाभावावेव कार्य-कारणता नान्या तेनैतावन्मात्र=भावाभावौ तावेव तत्त्व यस्यार्थस्यासावे तावन्मात्रतत्त्व, सोर्थो येषा विकल्पाना ते एतावन्मात्रतत्त्वार्था =एतावन्मात्रबीजा' कार्यकारणगोचराः, दर्शयन्ति घटिता-निव=सम्बद्धानिवाऽसम्बद्धानप्यर्थान्। एव घटनाच्च मिथ्यार्था.।

किञ्च, असौ कार्यकारणभूतोर्थो भिन्नः, अभिन्नो वा स्यात्? यदि भिन्न., तर्हि भिन्ने का घटना स्वस्वभावव्यवस्थिते? अथाऽभिन्न., तदाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का? नैव स्यात्।

तो व्यवहार की लघुता के लिये हुआ करते है कि प्रत्येक समय या प्रत्येक स्थान पर ऐसा नही कहना पडे कि "इसके होने पर यह होता है और न होने पर नही होता"। अभिप्राय यह हुआ कि कारण और कार्य को छोडकर अन्य तीसरा कोई सबध नामा पदार्थ नही है।

कोई पूछे कि अन्वय व्यतिरेक को छोडकर अन्य कार्य कारणता नही है तो उसको भाव अभाव से कैसे सिद्ध करते है, तथा कारण के भाव अभाव रूप हेतु से कार्य का अनुमान कैसे होता है कि यह इसका कार्य है और यह इसका कारण है? सो इस प्रश्न का उत्तर यही है कि यह कार्य कारणता सकेत विषयक है, जैसे कि यह गाय है क्योकि सास्नादिमान है 'इत्यादि अनुमान मे पहले का सकेत किया हुआ रहता है कि जिसमे ऐसी सास्ना [गले मे लटकता हुआ जो चर्म रहता है उसे सास्ना कहते है] हो वह पशु गाय नाम से पुकारा जाता है इत्यादि। यह भी एक बात है कि पदार्थ मे होना रूप धर्म रहना कार्य है, एव कारण रूप से अभिमत पदार्थ ही कारण कहलाता है, पदार्थ मे ही आगामी कालीन भाविता कार्यपने से प्रसिद्ध होता है, इसप्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलभ से हेतु और फल की [कारण कार्य की] सिद्धि होती है। इसीलिये हम बौद्ध भाव और अभाव को ही कार्य कारणपना मानते हैं। भाव और अभाव ही है तत्व जिसके उसे या उतने मात्र तत्व को कार्य कारण कहते है, और इस तरह के कार्य कारण तत्त्व जिन ज्ञानो के विषय है उन्हे विकल्प कहते

स्यादेतत्, न भिन्नस्याभिन्नस्य वा सम्बन्ध । किं तर्हि ? सम्बन्धाख्येनैकेन सम्बन्धात्; इत्यत्रापि भावे सत्तायामन्यस्य - सम्बन्धस्य विश्लिष्टौ कार्यकारणाभिमतौ श्लिष्टौ स्याताम् कथं च तौ सयोगिसमवायिनौ ? आदिग्रहणात्स्वस्वाम्यादिकम्, सर्वमेतेनानन्तरोक्तेन सामान्यसम्बन्धप्रतिषेधेन चिन्तितम् ।

सयोग्यादीनामन्योन्यमनुपकाराच्चाऽजन्यजनकभावाच्च न सम्बन्धी च तादृशोनुपकार्योपकारकभूतः ।

अथास्ति कश्चित्समवायी योऽवयविरूप कार्यं जनयति अतो नानुपकारादसम्बन्धितेति, तन्न, यतो जननेपि कार्यस्य केनचित्समवायिनाभ्युपगम्यमाने समवायी नासौ तदा जननकाले कार्य-

---

है, उन विकल्प या भ्रान्त ज्ञानो का यही काम है कि वे ज्ञान असबद्ध पदार्थों को भी सबद्ध हुए के समान प्रतीति कराते है, और इसीलिये विकल्प मिथ्या कहलाते है ।

किञ्च, कार्य कारण भूत पदार्थ परस्पर मे भिन्न है या अभिन्न है, यदि भिन्न कहे तो दोनो का सबध कैसे, क्योकि दोनो भी स्व स्व स्वभाव मे स्थित है । यदि अभिन्न कहे तो अभिन्न वस्तु मे काहे की कार्य कारणता ? अर्थात् अभिन्न एकमेक है उसमे कार्य और कारण भाव बनना शक्य नही ।

शका—भिन्न या अभिन्न कार्य कारण का संबध नही होता किन्तु सबंध नाम के एक सबध से संबध होता है ?

समाधान—ऐसा कहो तो स्वरूप से जो विश्लिष्ट थे उन कार्य कारण का पदार्थ में सबध हुआ इस तरह का अर्थ निकला । फिर उन्हे सयोगी या 'समवायी' ऐसे नामो से कैसे पुकारेगे ? तथा ऐसे विश्लिष्ट पदार्थ—स्वामी—भृत्य, गुरु—शिष्य, देवदत्तस्य धन, इत्यादि सबध द्वारा कैसे कहे जायेगे । अतः सामान्य सबध के निराकरण से ही सभी संयोग समवाय स्वस्वामी आदि सबधो का निराकरण हुआ ऐसा समझना चाहिये । यह सयोगी आदि नामो से कहे जाने वाले जो पदार्थ है उनका परस्पर मे अनुपकारत्व एव अजन्य जनकत्व होने से भी कोई सबधी सिद्ध नहीं होता, जिससे कि वैसा अनुपकारी उपकारक भूत पदार्थ न बने, अर्थात् सभी पदार्थ अनुपकारक या अजन्य आदि रूप से ही दिखायी देते है ।

शका—कोई एक समवायी नामा उपकारक है जो अवयवी स्वरूप कार्य को पैदा करता है । अतः "अनुपकारक होने से असंबधिता है" ऐसा नही कह सकते ?

स्यानिष्पत्तेः। न च ततो जननात्समवायित्वं सिद्धयति, कुम्भकारादेरपि घटे समवायित्वप्रसगात्। तयोः समवायिनोः परस्परमनुपकारेपि ताभ्या वा समवायस्य नित्यतया समवायेन वा तयोः परत्र वा क्वचिदनुपकारेपि सम्बन्धो यदोच्यते, तदा विश्वं परस्परासम्बद्धं समवायि परस्पर स्यात्। यदि च सयोगस्य कार्यत्वात्तस्य ताभ्या जननात्सयोगिता तयो तदा सयोगजननेपीष्टौ, तत संयोग-जननान्न तौ संयोगिनौ, कर्मणोपि सयोगितापत्ते। सयोगो ह्यन्यतरकर्मज उभयकर्मजश्चेष्यते।

समाधान—यह कथन ठीक नही है, किसी समवायी द्वारा कार्य को पैदा होना मानेगे तो कार्य के उत्पत्ति काल मे समवायी नही रहने से कार्य पैदा ही नही हो सकेगा, कार्य के पैदा होने पर उस पदार्थ मे समवायी-पना सिद्ध होता है ऐसा कहे तो कुभकारादिका भी घट मे समवायीपना मानना पडेगा। कार्य कारण रूप दो समवायी का परस्पर मे उपकारकपना नही होते हुए भी सबध माना जाता है, तथा उन कार्य कारण से नित्य समवाय का समवाय होना स्वीकार करते है, तथा च असमवायी अथवा अकार्य कारण स्वरूप कही अन्यत्र अनुपकारक वस्तु मे भी कार्य कारणादि का सबंध मानते है तव तो परस्पर असबद्ध विश्व भी परस्पर मे समवायो मानना पडेगा? क्योकि अनुपकारकादि मे भी सयोग आदि सबध स्वीकार किये। यदि कहा जाय कि सयोग सबंध तो उन समवायी पदार्थों से उत्पन्न होता है अत उन्ही दो पदार्थो का सबध माना जाता है। तव तो यह अर्थ निकला कि वे पदार्थ सयोग या सबध को उत्पन्न भी करते है, किन्तु इस तरह वे सयोगी नही कहलायेगे, क्योकि यदि सयोग को उत्पन्न करने वाले पदार्थ को सयोगी कहेगे तो कर्म पदार्थ को भी सयोगी मानना होगा।

भावार्थ—नैयायिकादि सयोग को उत्पन्न करने वाला कर्म नामा एक अलग ही पदार्थ मानते है, उनके यहा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेप और समवाय इस प्रकार छह पदार्थ माने है, सो कार्य कारण रूप समवायी से सयोगीपना होना स्वीकार करते है तो कर्म नामा पदार्थ भी सयोगी का कारण सिद्ध होता है, फिर दो द्रव्यो मे ही सयोग होता है कर्मो मे नही ऐसा मत गलत ठहरता है।

दो पदार्थो की क्रिया से तथा दोनो मे से एक की क्रिया या कर्म से सयोग उत्पन्न होता है ऐसा नैयायिक ने माना ही है। सयोग को प्रतिपादक कारिका मे आदि शब्द का ग्रहण किया है उससे सयोग नामा गुण भी सयोगी द्रव्यपने को प्राप्त

आदिग्रहणात्संयोगस्यापि सयोगिता स्यात् । न सयोगजननात्सयोगिता । किन्तर्हि ? स्थापनादिति चेत्; न स्थितिश्च प्रतिवर्णिता=ग्रन्थान्तरे प्रतिक्षिप्ता, स्थाप्यस्थापकयोर्जन्यजनकत्वाभावान्नान्या स्थितिरिति ।

"कार्यकारणभावोपि तयोरसहभावतः ।
प्रसिद्धयति कथ द्विष्ठोऽद्विष्ठे सम्बन्धता कथम् ।।७।।

क्रमेण भाव एकत्र वर्त्तमानोन्यनिस्पृहः ।
तदभावेपि तद्भावात्सम्बन्धो नैकवृत्तिमान् ।।८।।

होता है अभिप्राय यह है कि नैयायिक तो केवल द्रव्यो मे ही सयोगीपना मानते है किन्तु यहां कर्म तथा गुण नामा पदार्थ मे भी सयोगीपना सिद्ध हो रहा है ।

शंका—सयोग को उत्पन्न करने से संयोगीपना नही आता अपितु स्थापना से आता है, मतलब दो सयोगी पदार्थ द्वारा स्थापने योग्य सयोग लक्षण वाले पदार्थ की स्थिति को करने से सयोगीपना आता है ?

समाधान—यह बात असिद्ध है, हमने आपके इस स्थिति स्थापनका ग्रन्थांतर मे खण्डन कर दिया है, क्योकि स्थाप्य और स्थापकमे आप जो जन्य जनक भाव बताते है सो जन्य जनक भावका तो निषेध कर चुके है, इसतरह स्थाप्य-स्थापक के असिद्ध होने से स्थिति सिद्ध नही होती ।

अब यहा पर सबध के विषयका जो "सबध परोक्षा" नामा ग्रन्थ में विवरण है उसको प्रस्तुत करते है—

कार्य कारण मे असहभाव होने से द्विष्ठ सबध कैसे बने, अद्विष्ठ मे सबधपना किसप्रकार हो सकता है ? [अर्थात् नही हो सकता] ।।७।।

पदार्थ तो क्रमसे अन्योन्य निस्पृह वर्त्तमान है, अत. कार्य या कारण के नही होनेपर भी इनमेसे एक तो होता ही है, इसतरह सबध सिद्ध नही होता, क्योकि एक वृत्तिमान् (एक मे रहना) को सबध नही कहते ।।८।।

यद्यपेक्ष्य तयोरेकमन्यत्रासौ प्रवर्त्तते ।
उपकारी ह्यपेक्ष्यः स्यात्कथ चोपकरोत्यसन् ॥९॥
यद्य`कार्थाभिसम्बन्धात्कार्यकारणता तयोः ।
प्राप्ता द्वित्वादिसम्बन्धात्सव्येतरविषाणयोः ॥१०॥
द्विष्ठो हि कश्चित्सम्बन्धो नातोन्यत्तस्य लक्षणम् ।
भावाभावोपधिर्योगः कार्यकारणता यदि ॥११॥
योगोपाधी न तावेव कार्यकारणतात्र किम् ।
भेदाच्चेन्नन्वऽय शब्दो नियोक्तार समाश्रितः ॥१२॥

उन कार्य कारणोमे सापेक्ष भाव है तो उनमें से एक अन्यत्र कैसे प्रवृत्त हो ? उपकारीपना तो दोनो एक साथ रहे तो बने, जब कार्य और कारण मे से वर्त्तमान मे एक असत् है तब उपकार किसप्रकार कर सकता है ॥९॥

यदि कहा जाय कि पृथक् समयो मे अवस्थित ऐसे कार्य कारणभूत पदार्थों मे एकार्थाभिसंबध होने से कार्य कारण रूप उपकारकपना बन जाता है तब तो द्वित्व आदि के अभिसबध से दाये बाये सीगो मे भी कार्य कारण भाव मानना पडेगा ॥१०॥

कोई भी सबध हो वह दो पदार्थों मे होता है, द्विष्ठ ही उसका लक्षण है, अन्य लक्षण नही है । तथा भावाभाव के उपाधि का योग अर्थात् इसके होने पर (कारण के) होना और न होने पर नही होना यही कार्य कारणता है ऐसा कहा जाय तो ॥११॥

उसी भावाभाव की उपाधि के योग को कार्यकारण सबध कहना चाहिये अर्थात् इससे पृथक् कोई सबधनामा वस्तु नही है ऐसा मानना चाहिये । इस पर शका होवे कि सबध अनेक भेद वाला होता है अत यह निश्चय किस प्रकार होगा कि यहा विवक्षित प्रकरणमे कार्य कारणता ही भावाभाव वाच्य से कही जा रही है इत्यादि ? सो इसका उत्तर यह है कि इस तरह का निश्चय अर्थात् शब्द प्रयोग तो प्रयोक्ता के अधीन है ॥१२॥

पश्यन्नेकमदृष्टस्य दर्शने तददर्शने ।
अपश्यत्कार्यमन्वेति विना व्याख्यातृभिर्जनः ।।१३।।

दर्शनादर्शने मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात् ।
कार्यादिश्रुतिरप्यत्र लाघवार्थं निवेशिता ।।१४।।

तद्भावाभावात्तत्कार्यगतिर्याप्यनुवर्ण्यते ।
सकेतविषयाख्या सा सास्नादेर्गोगतिर्यथा ।।१५।।

भावे भाविनि तद्भावो भाव एव च भाविता ।
प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ।।१६।।

एतावन्मात्रतत्त्वार्थाः कार्यकारणगोचराः ।
विकल्पा दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्था घटितानिव ।।१७।।

किसी एक कारण को देखता हुआ पुरुष अवशेष जो अदृष्ट कार्य है उसका अन्वेपण व्याख्याता के बिना स्वयं करता है ।।१३।।

कार्य कारणका दर्शन अदर्शन ही कार्य बुद्धि है इससे अन्य नही, कार्य कारण आदि शब्दो की योजना तो व्यवहार लाघव के लिये की गयी है ।।१४।।

इस कारण के होने पर यह कार्य होता है इत्यादि जो कहा जाता है अथवा ऐसा ज्ञान होता है वह केवल सकेत विषयक है, जैसे कि किसी ने कहा कि यह गो है, क्योकि सास्नादिमान है, सो सास्नायुक्त पदार्थ मे सकेत मात्र ही तो है ।।१५।।

पदार्थका भावी भवनरूप होना यही तो कार्य कारणता है, और यह हेतु तथा फल स्वरूप कारण कार्य भाव प्रत्यक्ष और अनुपलभ से सिद्ध होता है ।।१६।।

भावाभावकी उपाधि मात्र ही कार्य कारणपने का स्वरूप है, इस कार्य कारण-पने को ग्रहण करने वाले विकल्प हुआ करते है वे असबद्ध पदार्थो को भी सबद्ध के सदृश प्रतीत कराते है, इसीलिये तो विकल्प ज्ञान मिथ्या कहलाते है ।।१७।।

भिन्ने का घटनाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का ।
भावे ह्यन्यस्य विश्लिष्टौ श्लिष्टौ स्याता कथ च तौ ॥१८॥

संयोगिसमवाय्यादि सर्वमेतेन चिन्तितम् ।
अन्योन्यानुपकाराच्च न सम्बन्धी च तादृशः ॥१९॥

जननेपि हि कार्यस्य केनचित्समवायिना ।
समवायी तदा नासौ न ततोतिप्रसगत ॥२०॥

तयोरनुपकारेपि समवाये परत्र वा ।
सम्बन्धो यदि विश्व स्यात्समवायि परस्परम् ॥२१॥

संबंध वादी से हम बौद्ध पूछते है कि कारण और कार्यरूप पदार्थ को छोड-कर अन्य सबध नामा क्या चीज है ? यदि इस सबध को उनसे भिन्न बतलायेंगे तो वह सबध ही नही कहलायेगा, एव अभिन्न कहे तो वे एकमेक हुए, उसमे काहेका संबध ? विभिन्न दो पदार्थो मे विभिन्न सबध किसप्रकार सबन्ध स्थापित कर सकता है ॥१८॥

जैसे यह कार्य कारण सबध सिद्ध नही होता है वैसे समवाय सबध, सयोग सबन्ध या सयोगी पदार्थ, समवायी पदार्थ आदि भी सिद्ध नही होते ऐसा समझना चाहिये । क्योकि सयोगी आदि पदार्थो मे परस्पर उपकारपना तो है नही, जिससे वैसा सबंधी सिद्ध हो ॥१९॥

समवायी द्वारा कार्य को उत्पन्न किया जाता है ऐसा कहे तो भी ठीक नही, क्योकि कार्य निष्पत्ति के समय समवायी पदार्थ नष्ट हो चुकता है, नष्ट हुए को समवायी माना जाय तो अति प्रसग आता है ॥२०॥

समवायीरूप दो पदार्थ एव समवाय ये सब परस्पर पृथक् है, इनका उपकार-भाव बनता नही, अनुपकार नित्य पृथक् ऐसे समवाय से यदि सबन्ध होना माने तो विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर के समवायी कहलाने लगेंगे ॥२१॥

सयोगजननेपीष्टौ ततः सयोगिनौ न तौ ।
कर्मादियोगितापत्तेः स्थितिश्च प्रतिवर्णिता ॥२२॥"

[सम्बन्धपरी०] इति ।

अस्तु वा कार्यकारणभावलक्षणः सम्बन्धः, तथाप्यस्य प्रतिपन्नस्य, अप्रतिपन्नस्य वा सत्त्वं सिद्ध्येत् ? न तावदप्रतिपन्नस्य, अतिप्रसगात् । प्रतिपन्नस्य चेत्, कुतोस्य प्रतिपत्तिः-प्रत्यक्षेण, प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्या वा, अनुमानेन वा प्रकारान्तराऽसम्भवात् ? प्रत्यक्षेण चेत्; अग्निस्वरूप-

---

समवायीकी जैसी बात है वैसी संयोगी की भी बात है, अर्थात् दो संयोगी द्रव्य संयोग को उत्पन्न करते है ऐसा माने तो भी ठीक नही है, सयोग को कर्म नामा पदार्थ करता है सो उसको भी सयोगी मानना पडेगा, नैयायिकादिने कर्म पदार्थ का जो स्थिति स्थापक आदि लक्षण या काम निर्धारित किया है वह भी खडित कर दिया है, क्योकि स्थाप्य-स्थापक भाव भी जन्य-जनक के असिद्ध रहने से किसी तरह से भी सिद्ध नही होता है ।।२२।।

नैयायिकादि के आग्रह से मान भी लेवे कि कार्य-कारण लक्षण भूत कोई संवन्ध है, किन्तु प्रतिपन्न सबन्ध का सत्व सिद्ध करे कि अप्रतिपन्नका ? अप्रतिपन्नका सत्व तो सिद्ध नही हो सकता, क्योकि अतिप्रसग दोप आता है, अर्थात् अप्रतिपन्न वस्तु भी माने तो गगनपुष्प आदि भी मानने होगे, क्योकि वे भी अप्रतिपन्न है । प्रतिपन्न कार्यकारणका सत्व सिद्ध करते है ऐसा कहो तो उक्त कार्य कारणको किस प्रमाण से जाना प्रत्यक्ष से या अन्वय व्यतिरेकी ज्ञानो से, याकि अनुमान से ? अन्य कोई प्रमाण नही है । प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्य कारण सबन्ध जाना जाता है ऐसा माने तो वह प्रत्यक्ष कौनसा है, अग्नि स्वरूप (कारण) का ग्राहक है कि धूम स्वरूपका (कार्य का) ग्राहक है, याकि उभय स्वरूप (कार्य कारण दोनो) का ग्राहक है ? अग्निस्वरूप ग्राहक प्रत्यक्ष से कार्यकारण सवन्ध तो जाना नही जा सकता, क्योकि वह प्रत्यक्ष तो मात्र अग्नि का सद्भाव जान रहा है, धूम स्वरूप का नहीं, विना धूम को जाने "यह अग्नि धूम का कारण है" इत्यादि रूप से निश्चय हो नही सकता । और इस तरह प्रतियोगी जो धूमादि कार्य है उसको जाने विना उसके प्रति जो कारण

ग्राहिणा, धूमस्वरूपग्राहिणा, उभयस्वरूपग्राहिणा वा ? न तावदग्निस्वरूपग्राहिणा; तद्धि तत्सद्भावमात्रमेव प्रतिपद्यते न धूमस्वरूपम्, तदप्रतिपत्तौ च न तदपेक्षयाग्नेः कारणत्वावगमः। न हि प्रतियोगिस्वरूपाप्रतिपत्तौ तं प्रति कस्यचित्कारणत्वमन्यद्वा धर्मान्तरं प्रत्येतुं शक्यमतिप्रसंगात्। नापि धूमस्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण कार्यकारणभावावगमः, अत एव, उभयस्वरूपग्रहणे खलु तन्निष्ठसम्बन्धावगमो युक्तो नान्यथा। नाप्युभयस्वरूपग्राहिणा, तत्रापि हि तयोः स्वरूपमात्रमेव प्रतिभासते न त्वग्नेर्धूमं प्रति कारणत्वं तस्यैव तं प्रति कार्यत्वम्। न हि स्वस्वरूपनिष्ठपदार्थद्वयस्यैकज्ञानप्रतिभासमात्रेण कार्यकारणभावप्रतिभासः, घटपटादेरपि तत्प्रसंगात्। यत्प्रतिभासानन्तरमेकत्र ज्ञाने यस्य प्रतिभासस्तयोस्तदवगमः; इत्यपि तादृग्; घटप्रतिभासानन्तरं पटस्यापि प्रतिभासनात्। न च 'क्रमभाविपदार्थद्वयप्रतिभाससमन्वय्येकं ज्ञानम्' इति वक्तुं शक्यम्, सर्वत्र प्रतिभासभेदस्य भेदनिबन्धनत्वात्।

है उसका प्रतिपादन नही कर सकते है कि यह पदार्थ इसका कारण है, या इसका कोई धर्म या स्वभाव है इत्यादि। यदि प्रतियोगी कार्यादिक सबधित पदार्थ के ज्ञात किये बिना उसका कारण ज्ञात होना माने तो अति प्रसग आयेगा।

धूम स्वरूप ग्राही प्रत्यक्ष द्वारा कार्य कारण सबन्ध जाना जाता है ऐसा भी नही कहना, क्योकि उसमे वही दोष आता है। उभय–कारण कार्य को ग्रहण करने पर ही दोनो मे होने वाला सबन्ध जान सकते हैं अन्यथा नही। उभय स्वरूप ग्राही प्रत्यक्ष द्वारा कार्य कारण सबन्ध का ज्ञान होता है ऐसा कहना भी जचता नही, क्योकि उस प्रत्यक्ष मे भी दोनो का (अग्नि और धूमका) स्वरूप मात्र प्रतिभासित हो रहा है न कि अग्नि धूम के प्रति कारण है, धूम अग्नि का कार्य है इत्यादि रूप प्रतीत होता है। अपने अपने स्वरूप मे निष्ठ ऐसे दो पदार्थो का एक ज्ञान द्वारा प्रतिभास होने मात्र से कोई कारण कार्य भाव जाना नही जाता, यदि ऐसा माना जाय तो घट और पट आदि में भी कार्य कारण भाव मानना पडेगा। क्योकि वे भी एक ज्ञान द्वारा प्रतिभासित होते है।

शका—एक के प्रतिभासित होने के अनन्तर जिसका एक ज्ञान मे प्रतिभास होगा वह उन कार्य कारण के सम्बन्ध को जान लेगा ?

समाधान—यह कथन भी पहले जैसा सदोष है, प्रतिभास के अनतर होने वाला प्रतिभास यदि कार्य कारण सम्बन्ध का ग्राहक माना जाय तो घट प्रतिभास के

अथाग्निधूमस्वरूपद्वयग्राहिज्ञानद्वयानन्तरभाविस्मरणसहकारीन्द्रियजनितविकल्पज्ञाने तद्द्वयस्य पूर्वापरकालभाविनः प्रतिभासात्कार्यकारणभावनिश्चयो भविष्यतीत्युच्यते; तदप्युक्तिमात्रम्, चक्षुरादीना तज्ज्ञानजननासामर्थ्ये स्मरणसव्यपेक्षाणामपि जनकत्वविरोधात्। न हि परिमलस्मरणसव्यपेक्ष लोचन 'सुरभि चन्दनम्' इति प्रत्ययमुत्पादयति। तत्सव्यपेक्षलोचनव्यापारानन्तरमेते कार्यकारणभूता इत्यवभासनात्तद्भावः सविकल्पकप्रत्यक्षप्रसिद्धः; इत्यप्यसमीचीनम्; गन्ध-

---

अनन्तर पट प्रतिभास होता है। उसे भी कार्यकारण सम्बन्धका ग्राहक मानना पडेगा। क्रम से होने वाले दो पदार्थो के प्रतिभासो का समन्वय करने वाला कोई एक ज्ञान है ऐसा भी कह नही सकते क्योकि ज्ञान हो चाहे प्रमेय हो सर्वत्र ही प्रतिभास के भेद से ही भेद व्यवस्था हुआ करती है।

शका—अग्नि और धूम के स्वरूप को ग्रहण करने वाले दो ज्ञानो के अनतर एक ऐसा ज्ञान होता है कि जिसमे स्मरण सहायक है, एव जो इन्द्रिय से पैदा हुआ है, उस ज्ञान मे पूर्वापर काल भावी अग्नि धूम का प्रतिभास हो जाता है, अतः उस ज्ञान द्वारा कार्यकारण भाव का निश्चय हो जायगा?

समाधान—यह कथन ठीक नही है, जब चक्षु आदि इन्द्रियां उस ज्ञान को पैदा करने में असमर्थ है तब स्मरण की सहायता मिलने पर भी वे उस ज्ञान को पैदा नही कर सकती। क्या चक्षु इन्द्रिय स्मरण की सहायता लेकर "यह चदन सुगधित है" इसप्रकार का निश्चय करा सकती है? नही करा सकती।

शका—स्मरण सहायक नेत्र ज्ञान होने के अनतर इन धूम अग्नि मे कार्य कारण भाव सम्बन्ध है ऐसा प्रतीत होता है अतः वह सम्बन्ध सविकल्प प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है?

समाधान—यह बात असत् है, इसतरह कहो तो नेत्र ज्ञान का विषय गंध भी है ऐसा मानना पडेगा? क्योकि गध के स्मरण की सहायता युक्त नेत्र के व्यापार होने के अनतर "चदन सुगधित है" ऐसा प्रतिभास होता है। इसतरह विषय सकर रूप अति प्रसग न हो जाय इसलिये मानना होगा कि कार्य कारण भाव सबध प्रत्यक्ष ज्ञान से नही जाना जाता।

स्यापि लोचनज्ञानविषयत्वप्रसगात्, गन्धस्मरणसहकारिलोचनव्यापारानन्तर 'सुरभि चन्दनम्' इति प्रत्ययप्रतीतेः। तन्न प्रत्यक्षेणासौ प्रतीयते।

नापि प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्याम्; प्रत्यक्षस्येवानुपलम्भस्यापि प्रतिषेध्यविविक्तवस्तुमात्र-विषयत्वेनात्राऽसामर्थ्यात्। अथाग्निसद्भाव एव धूमस्य भावस्तदभावे चाभावः कार्यकारणभावः, स

प्रत्यक्ष और अन्वय व्यतिरेक रूप अनुपलभ से कार्य कारण सबंध जाना जाता है ऐसा कहना भी ठीक नही है, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण मे उस सबध को जानने की सामर्थ्य नही है, वैसे अनुपलभ मे भी नही है, क्योकि अनुपलंभ ज्ञान भी प्रति-षेध्य जो अग्नि धूमादि है उनसे पृथक्भूत जो महाह्रद (तालाब) आदि है उसीको विषय करता है।

शका—अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के अभाव मे नही होता है इस तरह का इन दोनो का जो कार्य कारण सबध है उसका प्रत्यक्ष तथा अनुपलभ से प्रतिभास होता है ऐसा हम कहते है ?

समाधान—तो फिर वक्तृत्व आदि हेतुकी असर्वज्ञत्व के साथ व्याप्ति सिद्ध हो जायगी। देखो ! रागादिमान असर्वज्ञस्वरूप हमारे मे ही वक्तृत्व देखा जाता है और रागादिभाव रहित एव असर्वज्ञत्व रहित शिला खण्ड आदि मे वह वक्तृत्व देखा नही जाता, इससे वक्तृत्व की असर्वज्ञ के साथ व्याप्ति सिद्ध होती है। और यदि इस बात को सही मानते है तो आप सबधवादी जैन नैयायिकादिने सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के लिये जलाजलि दी समझनी चाहिये।

विशेषार्थ—"अग्नि के सद्भाव मे ही धूम होता है और अग्नि के अभाव मे धूम का भी अभाव होता है" ऐसा अन्वय व्यतिरेक सही मानकर उसके द्वारा कार्य कारण भाव सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है तो सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार करने वाले जैन, नैयायिकादिके यहा पर बडा भारी दोष उपस्थित होता है, कैसे सो बताते है-मीमासक सर्वज्ञ का अभाव करने के लिये अनुमान प्रमाण उपस्थित करते है कि "नास्ति सर्वज्ञ वक्तृत्वात्" सर्वज्ञ नही है क्योकि वह बोलने वाला है, जो बोलनेवाला होता है वह सर्वज्ञ नही होता, जैसे हम लोग, अर्थात् हम असर्वज्ञ तथा रागादियुक्त है सो हम स्वय मे असर्वज्ञ के सद्भाव मे वक्तृत्व पाया जाता है और रागादि तथा असर्वज्ञत्व के

चैताभ्या प्रतीयते इत्युच्यते; तर्हि वक्तृत्वस्यासर्वज्ञत्वादिना व्याप्तिः स्यात्,। तद्धि रागादिमत्त्वाऽसर्वज्ञत्वसद्भावे स्वात्मन्येव दृष्टम्, तदभावे चोपलशकलादौ न दृष्टम् । तथा च सर्वज्ञवीतरागाय दत्तो जलाजलिः ।

वक्तृत्वस्य वक्तुकामताहेतुकत्वान्नायं दोषः; रागादिसद्भावेपि वक्तुकामताभावे तस्या सत्वात् नन्वेव व्यभिचारे विवक्षाप्यस्य निमित्त न स्यात्, अन्यविवक्षायमप्यन्यशब्दोपलम्भात्, अन्यथा गोत्रस्खलनादेरभावप्रसंगात् । अथार्थविवक्षाव्यभिचारेपि शब्दविवक्षायामप्यव्यभिचारः, न;

अभाव मे पत्थर आदि मे वक्तृत्व पाया नही जाता सो यह अनुमान सर्वज्ञ के अभाव को निर्बाध सिद्ध कर देगा क्योकि यहा पर सबधवाद के प्रकरण में नैयायिकादि इस तरह का अन्वय व्यतिरेक स्वीकार कर रहे है किन्तु सर्वज्ञ का अभाव हम किसी को भी इष्ट नही है, अतः इस तरह की व्याप्ति बतलाकर कार्य कारण सम्बन्ध को सिद्ध करना शक्य नही है ऐसा बौद्ध ने संबधका निराकरण करते हुए कहा है ।

शंका—बौद्ध ने जो अभी कहा कि अग्नि और धूम का कार्य कारण भाव इसतरह के अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध करेंगे तो वक्तृत्व हेतु से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो जायगा सो ऐसी बात नही है, वक्तृत्व जो होता है वह बोलने की इच्छा से होता है, बोलने की इच्छा सर्वज्ञ के होती नही, अत. वक्तृत्व हेतु से असर्वज्ञपना सिद्ध नही होता है । हम लोग देखते है कि रागादि के सद्भाव मे भी जब बोलने की इच्छा नही होती तो वक्तृत्व (बोलनारूप क्रिया) नही होता अत रागादि जहां हो वहां वक्तृत्व होवे ही ऐसा नियम नही होने से वक्तृत्व हेतु सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही कर सकता ।

समाधान—इस तरह वक्तृत्व हेतु को व्यभिचरित ठहराया जाय तो आपकी यह बोलने को इच्छा रूप विवक्षा भी वक्तृत्व का निमित्त सिद्ध नही हो सकेगी अर्थात् बोलने की इच्छा होने पर ही वक्तृत्व होता है ऐसा वक्तृत्व का कारण विवक्षा वतायी जाय तो उसमे भी वही व्यभिचार आता है, देखा जाता है कि विवक्षा तो और कुछ है और बोला जाता है और कुछ, अत. विवक्षा ही वक्तृत्व का निमित्त है यह कहा सिद्ध हुआ । अन्यथा गोत्र स्खलन आदि का अभाव होवेगा अर्थात् विवक्षा अन्य है और कह देते है अन्य । कहना चाहते है देवदत्त, और कहते है जिनदत्त, सो इससे मालूम

स्वप्नावस्थायामन्यत्र गतचित्तस्य वा शब्दविवक्षाभावेपि वक्तृत्वसवेदनात् । न च व्यवहिता सा तन्निमित्तमिति वक्तव्यम्, प्रतिनियतकार्यकारणभावाभावप्रसगात्; सर्वस्य तत्प्राप्ते । अथ 'असर्वज्ञत्वाद्यभावे सर्वत्र वक्तृत्व न सम्भवति' इत्यत्र प्रमाणाभावान्न तस्य तेन कार्यकारणभावलक्षण: प्रतिबन्ध सिद्धयति, तदग्निधूमादावपि समानम् । अथ 'अग्न्यभावे धूमस्य भावे तद्धेतुकताविरहात्सकृदप्यहेतोरग्नेस्तस्य भावो न स्यात्, दृश्यते च महानसादावग्नित:, ततो नानग्नेर्धूमसद्भाव.' इति

होता है कि विवक्षा वक्तृत्वका निमित्त नही है ।

प्रश्न—अर्थ विवक्षा मे भले ही व्यभिचार हो किन्तु शब्द विवक्षा मे व्यभिचार नही है अर्थात् कहना चाहा कुछ और निकल गया कुछ किन्तु इच्छा तो थी ही, बिना इच्छा के वक्तृत्व कहा हुआ ।

उत्तर—ऐसा कहना भी नही जमता, देखिये—कोई स्वप्न अवस्था मे है अथवा उसका कही अन्यत्र मन गया है तब उस व्यक्ति के कोई भी विवक्षा नही होती किन्तु वक्तृत्व तो देखा जाता है । तुम कहो कि पहले जाग्रत आदि अवस्था की विवक्षा उस स्वप्नावस्था आदि मे निमित्त पड जायगी सो भी ठीक नही है, इसतरह के व्यवहित विवक्षा को भी निमित्त माना जाय तो प्रतिनियत कार्य कारणभाव ही समाप्त होवेगा क्योकि हर किसी व्यवहित कारण से हर कोई व्यवहित कार्य होवेगा, सब कार्य के लिए व्यवहित कारण निमित्त पडने लग जायेगे ।

शंका—सभी पुरुषो मे रागादिक तथा असर्वज्ञ के अभाव होने पर वक्तृत्व नही होता है, अर्थात् सभी पुरुप रागादिमान होकर ही वक्तृत्व युक्त होते है ऐसा जानने के लिए कोई प्रमाणभूत ज्ञान नही है, अत असर्वज्ञत्वादि के साथ वक्तृत्व का कार्य कारणभाव रूप अविनाभाव सिद्ध नही हो पाता है ।

समाधान—सो यही बात अग्नि और धूम मे भी लागु होगी अर्थात् सब जगह धूम और अग्नि मे कार्य कारण सबध है ऐसा जानने के लिए कोई प्रमाण नही है अत उनमे भी अविनाभाव सिद्ध नही हो सकेगा ।

शंका—यदि अग्नि के अभाव मे धूम का सद्भाव होता है तो धूम अग्नि हेतुक सिद्ध नही होने से एक बार भी अग्नि धूम का हेतु नही बन सकेगी, किन्तु

प्रतिबन्धसिद्धिरित्यभिधीयते; तदप्यभिधानमात्रम्; यथैव हीन्धनादेरेकदा समुद्भूतोप्यग्नि: अन्य-दारणिनिर्मथनात् मण्यादेर्वा भवन्नुपलभ्यते, धूमो वाग्नितो जायमानोपि गोपालघटिकादौ पावकोद्-भूतधूमादप्युपजायते, तथा 'अग्न्यभावेपि कदाचिद्धूमो भविष्यति' इति कुतः प्रतिबन्धसिद्धि: ? अथ 'यादृशोग्निरिन्धनादिसामग्रीतो जायमानो दृष्टो न तादृशोऽरणितो मण्यादेर्वा । धूमोपि यादृशोग्नितो न तादृशो गोपालघटिकादौ वह्निप्रभवधूमात्, अन्यादृशात्तादृशभावेतिप्रसगात् इति नाग्निजन्यधूमस्य तत्सदृशस्य चानग्नेर्भाव. । भावे वा तादृशधूमजनकस्याग्निस्वभावतैव इति न व्यभिचार: । तदुक्तम्—

महानसादि मे अग्नि से धूम निकलता हुआ देखा जाता है, अत: मालूम होता है कि बिना अग्नि के धूम का सद्भाव नही हो सकता, इसप्रकार कार्य कारण का अविनाभाव सिद्ध होता है ?

समाधान—यह भी कथन मात्र है, जिसप्रकार किसी एक समय ईन्धनादि से अग्नि उत्पन्न होती देखी जाती है, वैसे अन्य समय मे कभी अरणि मथन से या कभी मणि मन्त्रादि से भी अग्नि उत्पन्न होती है, ठीक इसीप्रकार धूम अग्नि से उत्पन्न होता हुआ कही दिखाई देने पर भी कही गोपाल घटिका (इन्द्रजालियो के घड़े मे) आदि मे अग्नि जन्य धूम से भी धूम की उत्पत्ति देखी जाती है, इसतरह के धूम को देखे तो मालूम पडता है कि कदाचित् अग्नि के अभाव मे भी धूम होता है, फिर किससे धूम और अग्नि मे कार्य कारण का अविनाभाव सिद्ध करे ? अर्थात् नही कर सकते ।

शका—जिसप्रकार की ईन्धनादि से पैदा हुई अग्नि होती है उसप्रकार की अरणि या मणि आदि से उत्पन्न हुई अग्नि नही हुआ करती, ऐसा अग्नि मे भेद माना जाता है, इसीतरह अग्नि से पैदा हुआ धूम जैसा होता है वैसा गोपाल घटिकादि में अग्नि से जन्य धूमके निमित्त से निकलने वाला धूम नही होता है, अतः धूमो मे भी विभिन्नता स्वीकार करनी होगी, यदि अन्य प्रकार के धूम को भी वैसा ही धूम माना जायगा तो अतिप्रसग आता है, अतः जो साक्षात् अग्नि जन्य धूम है उसकी गोपाल घटिका के धूम के समानता नही हो सकती । यदि धूमो मे समानता है तो उनमे अग्नि स्वभावता ही सिद्ध होगी । इसप्रकार धूम और अग्नि मे कार्य कारण सबध का कोई भी व्यभिचार नही है, ऐसा निश्चित हुआ, कहा भी है—गोपाल घटिका मे धूम दिखाई देता है वह यदि अग्निस्वभाव वाला माने तो वहा अग्नि है ही, और

"अग्निस्वभाव शक्रस्य मूर्धा यद्यग्निरेव सः।
अथानग्निस्वभावोसौ धूमस्तत्र कथ भवेत्॥"
[प्रमाणवा० ३।३५] इत्यादि।

तदेतद्वक्तृत्वेपि समानम्—'तद्धि सर्वज्ञे वीतरागे वा यदि स्यात्, असर्वज्ञाद्रागादिमतो वा कदाचिदपि न स्यादहेतो सकृदप्यसम्भवात्, भवति च तत्तत:, अतो न सर्वज्ञे तस्य तत्सदृशस्य वा सम्भव' इति प्रतिबन्धसिद्धि ।

यदि वह धूम अग्निस्वभाव नही है तो वह धूम ही कैसे कहलायेगा ? ॥१॥

समाधान—अग्नि और धूम के बारे मे नैयायिकादिका दिया हुआ यह व्याख्यान वक्तृत्व हेतु मे भी घटित होता है, सो ही बताते है, सर्वज्ञ या वीतराग पुरुष मे यदि वक्तृत्व है तो वह असर्वज्ञ के या रागादि मान के कभी भी नही होगा, क्योकि जो हेतु नही है, वह एक बार भी नही होना था, किन्तु असर्वज्ञ मे तो वक्तृत्व पाया जाता है अतः सर्वज्ञ मे उस वक्तृत्व का अथवा उसके समान वक्तृत्व का सद्भाव सम्भव नही, इसतरह असर्वज्ञत्व एव रागादिमान पुरुषो के साथ ही वक्तृत्व हेतु का अविनाभाव सिद्ध होगा ।

भावार्थ—मीमासकादि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने के लिए वक्तृत्व हेतु देते है कि सर्वज्ञ नही है, क्योकि वह बोलनेवाला है, जो जो बोलनेवाला होता है वह वह असर्वज्ञ ही होता है, जैसे हम लोग बोलते है तो असर्वज्ञ ही है सर्वज्ञ नही है। इस अनुमान मे असर्वज्ञपना और वक्तृत्वपना इन दोनो का अविनाभाव सिद्ध करने की मीमासक ने कोशिश की है। किन्तु सर्वज्ञवादी जैन, नैयायिकादि लोग इस वक्तृत्व हेतु को सदोप ठहराकर अनुमान का खण्डन करते है, जैनादि का कहना है कि सर्वज्ञत्व के साथ वक्तृत्व का कोई विरोध तो है नही जिससे कि वह सर्वज्ञ मे न रहकर अकेले असर्वज्ञ मे ही रहे। जगत मे देखा जाता है कि जो विशेष ज्ञानी या विद्वान होता है वह अज्ञानी की अपेक्षा अधिक अच्छा, स्पष्ट, मधुर अर्थ सन्दर्भ युक्त बोलता है, इससे विपरीत अज्ञानी को कुछ भी ठीक से बोलना नही आता है, अतः जो सम्पूर्ण जगतत्रय एव कालत्रयवर्ती पदार्थो का ज्ञायक है वह तो विशेप अधिक स्पष्ट बोलेगा, इसलिए बोलनेवाला होने से सर्वज्ञ नही है, ऐसा मीमासकका कथन गलत ठहरता है।

किञ्च, कार्यकारणभाव: सकलदेशकालावस्थिताखिलाग्निधूमव्यक्तिक्रोडीकरणेनावगतोऽनुमाननिमित्तम्, नान्यथा। न च निर्विकल्पकसविकल्पकप्रत्यक्षस्येयति वस्तुनि व्यापार:, प्रत्यक्षानुपलम्भयोर्वा।

किञ्च, कार्योत्पादनशक्तिविशिष्टत्व कारणत्वम्। न चासौ शक्ति· प्रत्यक्षावसेया किन्तु कार्यदर्शनगम्या,

"शक्तय: सर्वभावाना कार्यार्थापत्तिगोचरा:"

[मी० श्लो० शून्यवाद श्लो० २५४] इत्यभिधानात्।

यहा पर कार्यकारण आदि सम्बन्धका खण्डन करते हुए बौद्ध लोग जैन आदि पर आक्षेप लगा रहे हैं कि आप यदि धूम और अग्निमे कार्य कारण का सर्वथा अविनाभाव सिद्ध करते है, उसमे किसी प्रकार का व्यभिचार नही मानते है तो वक्तृत्व और असर्वज्ञत्व मे अविनाभाव मानना पडेगा इत्यादि। अस्तु। आगे जैन इस बौद्ध के मन्तव्य का निरसन करनेवाले है।

अग्नि और धूम इत्यादि पदार्थो मे सम्बन्ध वादी कार्य कारण सम्बन्ध मानते है, किन्तु जब सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण कालो मे होनेवाले जितने भी धूम और अग्नि है उन सबको एक एक को जानेंगे तब वह कार्य कारणभाव सबध अनुमान का हेतु बन सकता है, अन्यथा नही बन सकता। तीनो लोको मे अवस्थित सम्पूर्ण धूम और अग्निओको जानने का कार्य न सविकल्प प्रत्यक्ष कर सकता है और न निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही कर सकता है, तथा प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ ये दोनों भी इतने बडे विषय मे प्रवृत्त नही हो सकते है। इसलिए हम बौद्ध कार्य कारणादि सबध को नही मानते है। दूसरी बात यह है कि कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति से विशिष्ट होना कारणपना कहलाता है, किन्तु कार्योत्पादन शक्ति प्रत्यक्ष से जानी नही जाती, केवल कार्य को देखकर उसका अनुमान होता है, कहा भी है—'शक्तय सर्वभावाना कार्यार्थापत्ति गोचरा." सभी पदार्थो की शक्तिया कार्योकी अन्यथानुपत्ति से जानी जाती है। अब देखिये—जब धूमादि कार्य से अग्नि आदि कारणत्वका ज्ञान होगा तभी तो अनुमान से शक्ति का ज्ञान होगा। पुनः "इस शक्ति का यह कार्य है" इसप्रकार का उस अनुमान में

तत्र कार्यात्कारणस्यावगमेऽनुमानाच्छक्त्यवगम' स्यात् । तत्रापि शक्तिकार्ययो' प्रतिवन्ध-प्रतीतिर्न प्रत्यक्षादेः; उक्तदोषानुषगात् । अनुमानात्तदवगमेऽनवस्थेतरेतराश्रयानुषगो वा स्यात् । एतेन तृतीयोपि पक्षश्चिन्तित इति ।

तदेतत्सर्वमसमीचीनम्; सम्बन्धस्याध्यक्षेणैवार्थाना प्रतिभासनात्, तथाहि—पटस्तन्तुसम्बद्ध एवावभासते, रूपादयश्च पटादिसम्वद्धाः । सम्बन्धाभावे तु तेषा विश्लिष्ट प्रतिभास स्यात्, तमन्तरेणान्यस्य सश्लिष्टप्रतिभासहेतोरभावात् । कथं च सम्बन्धे प्रतीयमानेऽप्रतीयमानस्याप्यसम्बन्धस्य

स्थित कार्यकारण का अविनाभाव सम्बन्ध किससे जाना जाता है ? प्रत्यक्ष से तो जान नही सकते, इत्यादि वही पहले दिये हुए दोष आते है । अनुमान से अविनाभाव को जानना भी शक्य क्योकि उसमे अनवस्था या अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट दिखाई दे रहा है । कार्य कारण भाव को अनुमान प्रमाण जानता है ऐसा तीसरा पक्ष भी पहले के दो पक्षो के समान असिद्ध ठहरता है, उसमे पहले के समान शका समाधान का विचार कर लिया समझना चाहिए । इसतरह जैनादि का कार्य कारण आदि कोई भी सबध सिद्ध नही होता है, यह निश्चित हुआ ।

जैन—यह बौद्ध का विस्तृत विवेचन असत्य है, पदार्थों का सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष प्रमाण से साक्षात् ही उपलब्ध हो रहा है, देखिये—वस्त्र धागो मे सम्बन्धित प्रतीत हो रहा है, वस्त्र मे शुक्लता आदि धर्म सम्वद्ध दिखायी दे रहे है, यदि ऐसी बात नही होती तो तन्तुओ का वस्त्र से भिन्न ही प्रतिभास होता, सम्बन्ध को छोडकर अन्य कोई सश्लिष्ट प्रतिभास का कारण नही है । इसतरह जब सम्बन्ध का साक्षात् प्रतिभास हो रहा है तब उसे छोडकर प्रतीति मे नही आने वाले ऐसे असम्बन्ध की कल्पना कैसे कर सकते है ? ऐसी कल्पना करने मे तो प्रतिभास से विरुद्ध पडता है, तथा पदार्थों का सम्बन्ध नही मानेगे तो उनमे अर्थ क्रिया नही हो सकेगी, जब घट आदि पदार्थो के परमाणु परस्पर मे सम्बन्ध रहित है तब घट पदार्थ जल धारण आदि रूप अर्थ क्रिया को कैसे कर सकता है ? अर्थात् नही कर सकता है । पदार्थो के प्रत्येक परमाणु यदि पृथक्-पृथक् ही है तो रस्सी, दण्डा, बास आदि वस्तुओ के एक भाग या छोर को पकडकर खीचते ही अन्य भागरूप सम्पूर्ण वस्तुका आकर्पण कैसे होता है ? नही होना चाहिए ! किन्तु इन रस्सी आदि का आकर्षण बराबर होता है, अत. निश्चित होता है कि पदार्थो का परस्पर सम्वन्ध अवश्य है ।

कल्पना प्रतीतिविरोधात् ? अर्थक्रियाविरोधश्च, अणूनामन्योन्यमसम्बन्धतो जलधारणाहरणाद्यर्थ-क्रियाकारित्वानुपपत्तेः। रज्जुवंशदण्डादीनामेकदेशाकर्षणे तदन्याकर्षणं चासम्बन्धवादिनो न स्यात्। अस्ति चैतत्सर्वम्। अतस्तदन्यथानुपपत्तेश्चासौ सिद्धः।

यच्च—'पारतन्त्र्य हि' इत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; एकत्वपरिणतिलक्षणपारतन्त्र्यस्यार्थानां प्रतीतित. सुप्रसिद्धत्वात्, अन्यथोक्तदोषानुषग:। न चार्थाना सम्बन्ध: सर्वात्मनैकदेशेन वाभ्युपगम्यते येनोक्तदोप: स्यात् प्रकारान्तरेणैवास्याभ्युपगमात्। सर्वात्मैकदेशाभ्या हि तस्यासम्भवात् प्रकारान्तर-

---

विशेषार्थ—बौद्ध घट, पट, गृह, बास आदि सम्पूर्ण पदार्थो के परमाणुओ को परस्पर सम्बन्ध रहित मानते है, कोई पदार्थ स्थूल नही है जो भी दृश्यमान वस्तु स्थूल दिखाई देती है वह मात्र कल्पना से दिखाई देती है, प्रत्येक वस्तु के एक-एक परमाणु बिखरे अर्थात् पृथक्-पृथक् ही है, सो इस असम्बध मान्यता पर आचार्य समझा रहे है कि यदि घट, पट, रस्सी, दण्ड आदि पदार्थ के अश या परमाणु भिन्न-भिन्न होते तो घट मे जल भरना, वस्त्र को पहनना, रस्सी को खीचना, रस्सी से बालटी को बाधकर कुआ से पानी निकालना इत्यादि लोक प्रसिद्ध कार्य किस प्रकार सम्पन्न होते ? अर्थात् नही हो सकते, अत. सिद्ध होता है कि घटादि पदार्थो के परमाणु परस्पर सम्बंध है।

बौद्ध ने कहा था कि "पारतन्त्र्य हि सबध" दो वस्तुओं का पारतन्त्र्य भाव सम्बन्ध कहलाता है इत्यादि, सो वह कथन अयुक्त है, पदार्थो की जो एकत्वरूप परि-णतिया हुआ करती है वह पारतन्त्र्य तो प्रत्यक्ष से प्रतीत हो रहा है, अन्यथा वही पूर्वोक्त अर्थ क्रिया का अभाव होना आदि दोष आते है। हम जैन घटादि परमाणुओ का परस्पर मे जो सम्बन्ध मानते है वह न एकदेश से मानते है, और न सर्वदेश से मानते है, जिससे कि बौद्ध के दिए हुए दूषण आ जाय, हमारे यहा तो एक भिन्न ही प्रकार का सम्बन्ध माना जाता है, एकदेश या सर्वदेश सम्बन्ध तो सिद्ध नही हो पाता, अत. अन्य ही प्रकार का सम्बन्ध उन परमाणुओ मे होना चाहिए, इसतरह प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से एकदेश तथा सर्वदेश सम्बन्ध से पृथक् जाति का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है जो स्निग्ध तथा रूक्ष गुणो के कारण हुआ करता है, अर्थात् परमाणुओ मे जो बध या सबध होकर स्थूलता आती है वह स्निग्ध या रूक्ष गुणो के

स्य वा भावात्, तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्तेश्च ताभ्या जात्यन्तरतया श्लेषः स्निग्धरूक्षतानिबन्धनो बन्धोऽभ्युपगन्तव्योऽसौ सक्तुतोयादिवत् । विश्लिष्टरूपतापरित्यागेन हि सश्लिष्टरूपतया कथञ्चिदन्यथात्वलक्षणैकत्वपरिणति सम्बन्धोऽर्थाना चित्रसवेदने नीलाद्याकारवत् । न हि चित्रसविदो जात्यन्तररूप-

---

निमित्त से आती है, जैसे सत्तू जल आदि मे सम्बन्ध होता है ।

भावार्थ—बौद्ध पदार्थो को स्थिर, स्थूल, साधारण नही मानता है, उसके यहा सभी पदार्थ क्षणिक, सूक्ष्म परमाणु मात्र एव विशेषरूप ही स्वीकार किए गये है, इनमे से यहा सबधवाद प्रकरण मे स्थूलत्व पर विचार कर रहे है, स्थिरत्व का समर्थन क्षणिकभगवाद का निरसन मे कर दिया है, और सामान्यवाद मे साधारणत्व का समर्थन कर चुके है । घट आदि पदार्थो के परमाणु एक दूसरे से सम्बन्धित नही हो सकते, क्योकि उन परमाणुओ का परस्पर मे एक देश से सबध होना माने तो परमाणु के अश सिद्ध होते है और सर्वदेश से सबध माने तो सब परमाणु मिलकर एक अणु पिण्ड बराबर मात्र रह जायेगे ऐसा बौद्ध का कहना है, सो जैनाचार्य बौद्ध को समझा रहे है कि परमाणुओ का जो सबध होता है वह न तो एक देश से होता है और न सर्वदेश से, वह तो "स्निग्ध रूक्षत्वाद् बध" उन्ही परमाणुओ मे होनेवाले स्निग्ध तथा रूक्ष गुणो के कारण होता है, नैयायिक आदि पर वादी के यहा इस तरह का सबध का सिद्धान्त नही होने से उनके सबध को भले ही बौद्ध दूषित ठहरावे किन्तु जैन के अकाट्य नियम एव सिद्धान्त पर दोष की गध भी नहीं है । परमाणुओ का परस्पर सबध होने के बाद वे एक पिण्डरूप भी हो जाते है और स्थूलता को भी धारण करते है । यदि परमाणुओ को सर्वथा पृथक्-पृथक् ही माना जाय तो यह साक्षात् दिखाई देनेवाली स्थूलता असत् ठहरती है, अत प्रतीति के अनुसार सबध को स्वीकार करना चाहिए । सबध को नही मानने से अर्थ क्रिया का अभाव आदि अनेको दोष उपस्थित होते है, उनका यथाक्रम निर्देश करते जारहे है । घट आदि पदार्थो के परमाणुओ का विश्लिष्टरूप पूर्व अवस्था का त्याग और कथचित् पर्याय रूप से सश्लेप होकर अन्य प्रकार से एकत्व परिणति हो जाना ही सबध कहलाता है, जैसे कि आप बौद्ध चित्र ज्ञान मे नील, पीत आदि आकारो की एकत्वरूप परिणति मानते है । चित्र ज्ञान मे जो नील, पीत आदि आकारो का सश्लेप है वह एक जात्यन्तर रूप से उत्पाद ही है,

तयोत्पादादन्यो नीलाद्यनेकाकारैः सम्बन्धः, सर्वात्मनैकदेशेन वा तैस्तस्या सम्बन्धे प्रोक्ताशेषदोषानुषङ्गाविशेषात् ।

स चैवंविधः सम्बन्धोर्थानां क्वचिन्निखिलप्रदेशानामन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशतः-यथा सक्तुतोयादीनाम्, क्वचित्तु प्रदेशसश्लिष्टतामात्रेण-यथाङ्गुल्यादीनाम् । न चान्तर्बहिर्वा सांशवस्तुवादिनः सांशत्वानुषङ्गो दोषाय, इष्टत्वात् । न चैवमनवस्था, तद्वतस्तत्प्रदेशानामत्यन्तभेदाभावात् । तद्भेदे हि तेषामपि तद्वता प्रदेशान्तरैः सम्बन्ध इत्यनवस्था स्यात् नान्यथा, अनेकान्तात्मकवस्तुनोऽत्यन्तभेदाभेदाभ्यां जात्यन्तरत्वाच्चित्रसंवेदनवदेव ।

नन्वेवं परमाणूनामप्यंशवत्त्वप्रसङ्गः स्यात्, इत्यप्यनुत्तरम्, यतोऽत्रांशशब्दः स्वभावार्थः;

और तो कोई सम्बन्ध हो नही सकता, क्योकि उन आकारो का चित्र ज्ञान मे एकदेश या सर्वदेश से सम्बन्ध होना स्वीकार करेंगे तो वही पूर्वोक्त पिण्ड मात्र होना इत्यादि दोष आते है, कोई विशेषता नही है । यह पदार्थो का जो सम्बन्ध है वह किसी जगह तो सम्पूर्ण प्रदेशो का परस्पर मे प्रवेशानुप्रवेश होकर होता है, जैसे कि सत्तू और जल आदि मे हुआ करता है, तथा किसी जगह प्रदेशो का सश्लेष मात्र से होता है, जैसे अगुलियो का परस्पर मे स्पर्श मात्र से सम्बन्ध होता है । हम जैन अंतरग आत्मादि पदार्थ को तथा बहिरग जड पुद्गलादि पदार्थो को सांश ही मानते है अतः सम्बन्ध मानेंगे तो सांशता आ जायेगी ऐसा दोष नही दे सकते, हमारे लिये तो सांशपना इष्ट ही है । इसतरह मानने मे अनवस्था भी नही आती है पदार्थ से उसके प्रदेश सर्वथा भिन्न नही हुआ करते । हा यदि पदार्थ से परमाणुरूप प्रदेश सर्वथा भिन्न मानते तब तो प्रदेशो का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अन्य प्रदेशों की कल्पना करनी पड़ती, और अनवस्था आ जाती, किन्तु वे प्रदेश पदार्थ से कथंचित भिन्न मानने से कोई दोष नही आता है, वस्तु स्वय अनेक धर्म स्वरूप है, उसमे न सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद है, किन्तु कथचित भेदाभेदात्मक जात्यतर ही है, जैसे कि चित्र ज्ञान नीलादि आकारो से सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न नही है, अपितु कथञ्चित भेदाभेदात्मक है ।

शंका—इसतरह मानेगे तो परमाणु अंशवान बन जायगा ?

समाधान—ऐसी बात नही है, यह तो बताइये कि अंश शब्द का अर्थ क्या

अवयवार्थो वा स्यात् ? यदि स्वभावार्थं, न कश्चिद्दोषस्तेषा विभिन्नदिग्विभागव्यवस्थितानेकाणुभिः सम्बन्धान्यथानुपपत्त्या तावद्धा स्वभावभेदोपपत्ते । अवयवार्थस्तु तत्रासौ नोपपद्यते, तेषामभेद्यत्वेनावयवासम्भवात् । न चैव तेषामविभागित्व विरुध्यते, यतोऽविभागित्व भेदयितुमशक्यत्व न पुर्नान.स्वभावत्वम् ।

यत्तूक्तम्—'निष्पन्नयोरनिष्पन्नयोर्वा पारतन्त्र्यलक्षण. सम्बन्धः स्यात्' इत्यादि; तदप्यसारम्, कथञ्चिन्निष्पन्नयोस्तदभ्युपगमात् । पटो हि तन्तुद्रव्यरूपतया निष्पन्न एव अन्वयिनो द्रव्यस्य पटपरिणामोत्पत्ते प्रागपि सत्त्वात्, स्वरूपेण त्वऽनिष्पन्नः, तन्तुद्रव्यमपि स्वरूपेण निष्पन्न पटपरिणामरूपतयाऽनिष्पन्नम् । तथागुल्यादिद्रव्य स्वरूपेण निष्पन्नम् सयोगपरिणामात्मकत्वेनानिष्पन्नमिति ।

है, स्वभाव अर्थ है या अवयव अर्थ है ? यदि स्वभाव अर्थ है तो कोई दोष नही आयेगा, विभिन्न दिशा देश आदि मे स्थित जो अनेको परमाणु थे उनका सम्बन्ध होने से उतने स्वभाव भेद उनमे होना सगत ही है । दूसरा विकल्प—अवयव को अश कहते है, ऐसा माने तो ठीक नही, क्योकि परमाणु अभेद्य हुआ करते है उनमे अवयव होना असम्भव है । स्वभाव भेद होते हुए भी परमाणुओ मे अविभागीपना रह सकता है, अविभागपने का तो यही अर्थ है कि भेद नही कर सकना, स्वभाव रहित होना अविभागीपना नही कहलाता है ।

पहले कहा था कि निष्पन्न वस्तुओ मे पारतन्त्र लक्षण वाला सम्बन्ध होता है अथवा अनिष्पन्न दो वस्तुओ मे होता है इत्यादि सो यह प्रश्न व्यर्थ का है, हम स्याद्वादी तो कथचित निष्पन्न दो वस्तुओ मे सम्बन्ध होना मानते है । इसका खुलासा करते है—एक वस्त्र है वह तन्तु द्रव्य रूप से निष्पन्न ही है ऐसे अन्वयी द्रव्य को पट परिणाम रूप उत्पत्ति होती है, इसमे तन्तु रूप से तो उसको पहले भी सत्त्व रहता है, किन्तु पहले वह पट स्वरूप से अनिष्पन्न था (बना नही था) ऐसे ही अगुली आदि द्रव्य स्वरूप से निष्पन्न रहते है और उनका सयोग होना रूप जो परिणाम है वह अनिष्पन्न रहता है ।

बौद्ध का कहना है कि पदार्थ तो स्वतन्त्र रहते है उनमे पारतन्त्र्य नही होने से सम्बन्ध हो ही नही सकता, इस पर प्रश्न होता है कि परतन्त्रता के साथ सम्बन्ध की कही पर व्याप्ति देखो हुई प्रसिद्ध है या नही ? अर्थात् ज्ञात है या नही ?

किञ्च, पारतन्त्र्यस्याऽभावाद्भावानां सम्बन्धाभावे तेन व्याप्तः क्वचित्सम्बन्धः प्रसिद्धः, न वा ? प्रसिद्धश्चेत्; कथं सर्वत्र सर्वदा सम्बन्धाभावः विरोधात् ? नो चेत्; कथमव्यापकाभावादव्याप्यस्याभावसिद्धिरतिप्रसङ्गात् ?

'रूपश्लेषो हि' इत्याद्यप्येकान्तवादिनामेव दूषणं नास्माकम्; कथञ्चित्सम्बन्धिनोरेकत्वापत्तिस्वभावस्य रूपश्लेषलक्षणसम्बन्धस्याभ्युपगमात् । अशक्यविवेचनत्वं हि सम्बन्धिनो रूपश्लेषः, असाधारणस्वरूपता च तदऽश्लेषः । स चानयोर्द्वित्वं न विरुन्ध्यात् तथा प्रतीतेश्चित्राकारकैसंवेदनवत् । न चापेक्षिकत्वात्सम्बन्धस्वभावस्यापि तथाभावानुषङ्गात् । सोपि ह्यापेक्षिक एव कञ्चिदर्थमपेक्ष्य

यदि ज्ञात है तो सर्वत्र हमेशा सबध का अभाव कैसे कर सकते है ? ज्ञात रूप से प्रसिद्ध सम्बन्ध का अभाव करना विरुद्ध है । यदि कहो कि परतन्त्रता के साथ सबध की व्याप्ति ज्ञात नही है तो फिर अव्यापक के अभाव से अव्याप्य के अभाव की सिद्धि किस प्रकार कर सकते है अर्थात् परतन्त्रता और सम्बन्ध मे जब व्यापक–व्याप्य भाव ही प्रसिद्ध नही है तो एक के अभाव मे दूसरे का अभाव कैसे कर सकते है, नही कर सकते, अन्यथा घट के अभाव मे पट का अभाव करने का अति प्रसग उपस्थित होगा ।

सम्बन्ध का लक्षण रूप श्लेष करे तो भी नही बनता इत्यादि पहले कहा था सो वह दूषण तो एकान्तवादी के ऊपर लागू होगा हम अनेकान्तवादी के ऊपर नही, क्योकि हम तो दो सम्बन्धी पदार्थो का एकलोली भाव या एकत्व परिणति होना ,यही रूपश्लेष का लक्षण करते है, सम्बन्धी पदार्थो का विवेचन नही कर सकना यही रूपश्लेष कहलाता है, तथा अपना असाधारण स्वरूप नही छोडना यही उसका अश्लेप (असम्बन्ध) कहा जाता है । ऐसा रूपश्लेष उन पदार्थोके द्वित्व के विरुद्ध भी नही पडता है, क्योकि वैसी प्रतीति आ रही है, जैसे कि चित्ररूप एक ज्ञान मे नील पीत आदि अनेक आकारो की प्रतीति आती है । "सम्बन्ध अपेक्षा रखनेवाला है अत: मिथ्या है क्योकि पदार्थ सूक्ष्म आदि स्वभावो को लिए हुए है उनमे अपेक्षा हो नही सकती" ऐसा बौद्ध का कहना भी ठीक नही है, आप पदार्थो को असम्बन्ध स्वभाववाले मानते है किन्तु असम्बन्ध स्वभाव भी तो अपेक्षा युक्त होता है, यह पदार्थ इससे पृथक् है अथवा एक परमाणु दूसरे परमाणु से असम्बद्ध है ऐसा किसी पदार्थ की अपेक्षा लेकर ही तो असम्बन्ध की व्यवस्था हुआ करती है अपेक्षा बिना तो हो नही

कस्यचित्तद्व्यवस्थित्यन्यथानुपपत्तेः स्थूलतादिवत् । 'प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमान सोनापेक्षिक एव तत्पृष्ठभाविविकल्पेनाध्यवसीयमानो यथापेक्षिकस्तथाऽवास्तवोपि' इत्यन्यत्रापि समानम् । न खलु सम्बन्धोऽध्यक्षेण न प्रतिभासते यतोऽनापेक्षिको न स्यात् ।

एतेन 'परापेक्षा हि' इत्याद्यपि प्रत्युक्तम्; असम्बन्धेपि समानत्वात् ।

'द्वयोरेकाभिसम्बन्धात्' इत्याद्यप्यविज्ञातपराभिप्रायस्य विजृम्भितम्; यतो नास्माभि. सम्बन्धिनोस्तथापरिणति व्यतिरेकेणान्यः सम्बन्धोभ्युपगम्यते, येनानवस्था स्यात् ।

सकती । जैसे कि स्थूलत्व आदि अपेक्षा के विना सिद्ध नही होते है ।

बौद्ध--निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान मे प्रत्येक पदार्थ या परमाणु अपेक्षा रहित ही प्रतिभासित होता है, उस निर्विकल्प ज्ञान के पीछे जो विकल्प ज्ञान पैदा होता है वह सापेक्ष पदार्थ को प्रतीति कराता है, किन्तु वह जैसे अपेक्षा सहित है वैसे अवास्तविक भी है । अर्थात् असत् अपेक्षा को प्रतिभासित करने से ही विकल्प को अवास्तविक माना जाता है ।

जैन--यही वात सम्बन्ध के विपय मे भी कह सकते हैं ? सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान मे प्रतिभासित नही होता सो बात नही है जिससे कि वह अनपेक्षिक न माना जाय, कहने का अभिप्राय यह है कि जो प्रत्यक्ष ज्ञान मे प्रतीत हो वह अनपेक्षिक होता है ऐसा कहो तो सम्बन्ध साक्षात् ही प्रत्यक्ष मे प्रतिभासित होता ही है अत· वह भी अपेक्षा रहित ही है, ऐसा मानना चाहिए ।

सम्बन्ध मे पर की अपेक्षा होती है अत वह असत् है ऐसा जो कहा था वह भी अयुक्त है, असम्बन्ध मे भी पर की अपेक्षा हुआ करती है। दो सम्बन्धी पदार्थो मे एक सबध से कैसे सबध होगा । इत्यादि जो कहा था वह भी जैन के अभिप्राय को नही समझने से ही कहा था, क्योकि हम जैन सम्बन्धी पदार्थों की उस तरह की अर्थात् विश्लिष्ट अवस्था का त्याग करके सश्लिष्ट एक लोलीभाव से परिणति होना ही सबध है ऐसा मानते है, इससे पृथक् कोई सबध नही माना है, जिससे अनवस्था दोष आवे ।

बौद्ध ने कहा था कि अवास्तविक ऐसी कल्पना बुद्धि के कारण ही क्रिया

तथा च 'तामेव चानुरुन्धाने.' इत्याद्यप्ययुक्तम्, क्रियाकारकादीना सम्बन्धिना तत्सम्बन्धस्य च प्रतीत्यर्थं तदभिधायकानां प्रयोगप्रसिद्धेः। अन्यापोहस्य च प्रागेवापास्तस्वरूपत्वाच्छब्दार्थत्वमनुपपन्नमेव। चित्रज्ञानवच्चानेकसम्बन्धितादात्म्येप्येकत्व सम्बन्धस्याविरुद्धमेव।

यदप्युक्तम्—'कार्यकारणभावोपि' इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम्, यतो नास्माभि सहभावित्व क्रमभावित्व वा कार्यकारणभावनिबन्धनमिष्यते। किन्तु यद्भावे नियता यस्योत्पत्तिस्तत्तस्य कार्यम्, इतरच्च कारणम्। तच्च किञ्चित्सहभावि, यथा घटस्य मृद्द्रव्य दण्डादि वा। किञ्चित्तु क्रमभावि, यथा प्राक्तनः पर्याय.। तत्प्रतिपत्तिश्च प्रत्यक्षानुपलम्भसहायेनात्मना नियते व्यक्तिविशेषे,

---

कारक आदि सम्बन्ध वाचक शब्दो का प्रयोग हुआ करता है इत्यादि, सो बात अयुक्त है, देखिये "हे देवदत्त ! गा निवारय" इत्यादि क्रियाकारक संबंधी पदार्थो की एव संबंध की प्रतीति कराने के लिए ही उनके वाचक शब्दो का (हे देवदत्त इत्यादि) प्रयोग किया जाता है, यह बात तो बिलकुल प्रसिद्ध है। आप बौद्ध शब्दो को केवल अन्यापोह वाचक मानते है सो उसका पहले ही अपोहवाद प्रकरण मे (द्वितीय भाग मे) खण्डन कर आये है। आपका कहना है कि सबधी पदार्थ यदि दो है या अनेक है तो उनमे होनेवाला सबध भी अनेक होना चाहिए, सो बात गलत है, जिसप्रकार आप एक चित्र ज्ञान मे एकत्व रहते हुए भी अनेक नील पीत आदि आकारों का तादात्म्य होना स्वीकार करते हैं वैसे ही सम्बन्ध के विषय में समझना चाहिए (अर्थात् दो या अनेक पदार्थो का एक लोली भाव ही सबध है अतः दो को जोडनेवाला सम्बन्ध भी दो होना चाहिये ऐसा दोष देना गलत है)।

पहले जो कहा था कि कार्य कारण भाव भी कैसे बने, क्योंकि वे दोनो पदार्थ साथ नही होते इत्यादि, सो बिना सोचे कहा है, हम जैनो के यहा कोई सहभाव या क्रमभाव के निमित्त से कार्य कारण संबध नही माना है, किन्तु जिसके होनेपर नियम से जिसकी उत्पत्ति होती है वह उसका कार्य और इतर कारण कहलाता है, इन कारणो मे कोई तो सहभावी हुआ करता है, जैसे घटरूप कार्य का कारण मिट्टी अथवा दण्ड आदिक सहभावी है, तथा कोई कारण क्रमभावी हुआ करता है, जैसे उस घट की पहली पर्याय कुशलादि क्रम भावी है। इन कार्य कारण भावो का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ है सहायक जिसमे ऐसे आत्मा द्वारा नियतरूप व्यक्ति विशेष मे हो जाता है,

तर्कसहायेन वाऽनियते प्रसिद्धा । एकमेव च प्रत्यक्ष प्रत्यक्षानुपलम्भशब्दाभिधेयम् । तद्धि कार्यकारण-भावाभिमतार्थविषय प्रत्यक्षम्, तद्विविक्तान्यवस्तुविषयमनुपलम्भशब्दाभिधेयम् । तथाहि-एतावद्भिः प्रकारैर्धूमोग्निजन्यो न स्यात्-यदि अग्निसन्निधानात्प्रागपि तत्र देशे स्यात्, अन्यतो वाऽऽगच्छेत्, तदन्यहेतुको वा भवेत् । एतच्च सर्वमनुपलम्भपुरस्सरेण प्रत्यक्षेण प्रत्याख्यातम् ।

एतेन प्रागनुपलब्धस्य रासभस्य कुम्भकारसन्निधानानन्तरमुपलभ्यमानस्य तस्य तत्कार्यता स्यादिति प्रतिव्यूढम्; यदि हि तस्य तत्र प्रागसत्त्वमन्यदेशादनागमनन्याहेतुकत्व च निश्चेतु शक्येत

अथवा तर्क प्रमाण की है सहायता जिसमे ऐसे उस आत्मा द्वारा अनियत अर्थात् सर्वत्र स्थान पर उस कार्य कारण भाव सबध का ज्ञान होता है । कार्य कारण भाव का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुपलभ प्रमाण द्वारा होता है ऐसा जो कहा उसमे "प्रत्यक्ष और अनुप-लम्भ" इन दोनो शब्दो का वाच्य एक ही प्रत्यक्ष रूप है, धूम और अग्नि आदि कार्य-कारण रूप माने गये पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है और इन धूम आदि से पृथक् भूत जो महाह्रदादि पदार्थ है उसको विषय करनेवाले ज्ञान को अनुपलभ शब्द से कहते है । इसी का खुलासा करते है---इतने प्रकार के प्रमाणो द्वारा धूम अग्नि जन्य नही है अर्थात् यदि अग्नि के सानिध्य के पहले भी उस स्थान पर (पर्वतादि मे) धूम होवे, अथवा अन्य स्थान से आता होवे तो उस धूम को अन्य हेतुक अर्थात् अग्नि को छोडकर किसी अन्य कारण से जन्य ऐसा सिद्ध होता । किन्तु यह सब अनुपलम्भ युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित होता है अर्थात् युक्त प्रत्यक्ष द्वारा धूम का अग्नि रूप कारण से उत्पन्न होना ही सिद्ध होता है । अत कार्य कारण सम्बन्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण से ज्ञात होना सिद्ध है ।

यदि बौद्ध कहे कि "जिमके होनेपर जो उत्पन्न होता है वह उसका कारण है" ऐसा माना जाय तो पहले जो उपलब्ध नही है और कुम्हार के सन्निधि मे उपलब्ध हो जाता है ऐसा रासभ (गधा) कुम्हार का कार्य कहलायेगा और कुम्हार उसका कारण माना जायेगा ? सो ऐसी बात नही है, गधा यदि कुम्हार के स्थान पर कुम्हार आने के पहले असत् रहता, तथा अन्य स्थान से नही आता, एव अन्य हेतुक नही होता, इतनी सारी बात निश्चित कर सकते तब तो "गधा कुम्हार का कार्य है" ऐसा कह सकते थे किन्तु ऐसा नही है अत. गधा और कुम्हार का उदाहरण देकर कार्य

स्यादेव कुम्भकारकार्यता । तत्तु निश्चेतुमशक्यम् ।

न च भिन्नार्थग्राहि प्रत्यक्षद्वय द्वितीयाग्रहणे तदपेक्ष कारणत्व कार्यत्व वा ग्रहीतुमसमर्थमित्य-भिधातव्यम्, क्षयोपशमविशेषवता धूममात्रोपलम्भेप्यभ्यासवशाद्वह्निजन्यत्वावगमप्रतीतेः, अन्यथा बाष्पादिवैलक्षण्येनास्याऽनवधारणात्ततोग्रचनुमाभावे सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । ततः कारणाभि-मतपदार्थग्रहणपरिणामापरित्यागवतात्मना कार्यस्वरूपप्रतीतिरभ्युपगन्तव्या नीलाद्याकारव्याप्येकज्ञाने तत्स्वरूपवत् ।

ननु नालिकेरद्वीपादिवासिनामकस्माद्धूमस्याग्नेर्वोपलम्भेपि कार्यकारणभावस्यानिश्चयान्नासौ

कारण भाव को व्यभिचरित करना अशक्य है ।

शंका—धूम और अग्नि आदि भिन्न भिन्न पदार्थ है, उनको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष भी दो है, उनमे से एक को ग्रहण करनेवाला प्रत्यक्ष दूसरे को ग्रहण नही करता फिर उन पदार्थो की अपेक्षा लेकर होनेवाला जो कारणपना या कार्यपना है उसको कौन जानेगा उसको जानने के लिए तो दोनो ही प्रत्यक्ष असमर्थ ही रहेगे ?

समाधान—इसतरह नही कहना, जिन पुरुषोके ज्ञानावरण का विशेष क्षयोप-शम हुआ है उनको अकेले धूम को देखने मात्र से भी अभ्यास के कारण "यह धूम अग्नि से पैदा हुआ है" ऐसा ज्ञान हो जाता है, यदि इसप्रकार नही माना जाय तो उस व्यक्ति को वाफ से धूम विलक्षण (पृथक्) होता है इसतरह का धूम और बाफ मे भेद मालूम नही पडता, फिर तो धूम को देखकर अग्नि का अनुमान नहीं हो पायेगा और इसतरह सम्पूर्ण लोक व्यवहार ही समाप्त हो जाने का प्रसग आता है । इन दोषो को दूर करने के लिए कारणरूप से माना गया पदार्थ जिसने पहले जाना है तथा उस सस्कार को जिसने नही छोडा है ऐसे आत्मा द्वारा कार्य स्वरूप का प्रतिबोध होता है ऐसा स्वीकारना चाहिये, जैसे कि नील, पीत आदि आकारो मे व्यापक ऐसा एक ही ज्ञान होते हुए भी उसमे अनेक नील आदि के स्वरूप प्रतीत होते है ।

शंका—जो पुरुष नालिकेर नामा द्वीप मे निवास करते है, वे यहां आनेपर, अग्नि को अथवा धूम मात्र को देखते है उनको तो उन अग्नि आदि मे होनेवाला कार्य कारणभाव निश्चित नही होता है, अत मालूम पडता है कि कार्य कारण सबंध

वास्तवः, तदप्यपेशलम् बाह्यान्त कारणप्रभवत्वात्तन्निश्चयस्य । क्षयोपशमविशेषो हि तस्यान्तःकारणम्, तद्भावभावित्वाभ्यासस्तु बाह्यम्, अकार्यकारणभावावगमस्य त्वऽतद्भावभावित्वाभ्यास । तदभावान्न क्वचित्तेषा कार्यकारणभावस्याऽकार्यकारणभावस्य वा निश्चय इति ।

धूमादिज्ञानजननसामग्रीमात्रात्तत्कार्यत्वादिनिश्चयानुत्पत्तेर्न कार्यत्वादि धूमादे स्वरूपमिति चेत्; तर्हि क्षणिकत्वादिरपि तत्स्वरूप मा भूत्तत एव । क्षणिकत्वाभावेऽवस्तुत्वम् अन्यत्रापि समानम्,

---

वास्तविक नही है ?

समाधान—यह शका असत् है, कार्य कारण सबध का निश्चय तो बाह्य तथा अभ्यन्तर कारण से हुआ करता है, क्षयोपशम विशेष हो जाना इस निश्चय ज्ञान का अन्तरग कारण है, और कारण के सद्भाव मे कार्य होता है ऐसा बार बार देखने को मिलना रूप अभ्यास होना बाह्य कारण है । जिनमे कार्य कारण भाव नही है ऐसे जल और अग्नि आदि को बार बार देखने को मिलना कि इस जल के होने पर भी अग्नि नही होती अथवा इस घट के नही होने पर भी पट होता है इत्यादि अतद् भाव भावित्व को बार बार देखना रूप अभ्यास भी कार्य कारण भाव के निश्चय का बाह्य निमित्त हुआ करता है । जिन जीवो के इसतरह के बाह्य तथा अन्तरग निमित्त नही होते है उनको अग्नि और धूम आदि सम्बन्धी कार्य कारण भाव का निश्चय ज्ञान नही हो पाता है, और न अकार्य कारण भाव का ही निश्चय हो पाता है ।

शङ्का—धूम आदि पदार्थ के ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली जो नेत्र आदि सामग्री है उससे यदि धूमादिका कार्यपना निश्चित नही होता है तो वह कार्यपना आदि धर्म धूमादिका स्वरूप ही नही कहलायेगा ?

समाधान—तो फिर क्षणिकपना आदि धर्म भी उन पदार्थोके स्वरूप नही कहलायेगे । क्योकि उनके ज्ञान की नेत्रादि सामग्री होते हुए भी क्षणिकत्वादि का निश्चय नही होता है ।

शंका—यदि क्षणिकपना वस्तु का धर्म नही रहेगा तो वह वस्तु ही नही कहलायेगी ?

सर्वथाप्यकार्यकारणस्य वस्तुत्वानुपपत्तेः खरशृंगवत् ।

न च कार्यस्यानुत्पन्नस्यैव कार्यत्व धर्म , असत्त्वात् । नाप्युत्पन्नस्यात्यन्त भिन्न तत्, तद्धर्मत्वात् । तत एव कारणस्यापि कारणत्व धर्मो नैकान्ततो भिन्नम् । तच्च ततोऽभिन्नत्वात्तद्ग्राहिप्रत्यक्षेणैव प्रतीयते तद्व्यक्तिस्वरूपवत् । दृश्यते हि पिपासाद्याक्रान्तचेतसामितरार्थव्यवच्छेदेनाबाल तदपनोदसमर्थे जलादौ प्रत्यक्षात्प्रवृत्तिः । तच्छक्तिप्रधानतायां तु कार्यदर्शनात्तन्निश्चीयते तद्व्यतिरेकेणास्यासम्भवात् । न च स्वरूपेणाकार्यकारणयोस्तद्भावः सम्भवति । नाप्युत्तरकाल भिन्नेन तेनानयोः कार्यकारणताऽभिन्ना कर्तुं शक्या, विरोधात् । नापि भिन्ना; तयोः स्वरूपेण कार्यकारणताप्रसगात् ।

समाधान—सो यही बात कार्यपना आदि धर्मो की है, अर्थात् जो सर्वथा अकार्य या अकारणरूप है वह वस्तु ही नही हो सकती, जैसे कि गधे के सीग सर्वथा अकार्य कारणरूप है अतः वस्तुभूत नही है । कार्य कारण के विषय मे यह बात ध्यान मे रखने की है कि जो कार्य अभी अनुत्पन्न है उसका कार्यत्व धर्म नही हुआ करता, क्योकि उसका अभी सत्त्व नही है, तथा कार्य के उत्पन्न होनेपर उस कार्यभूत पदार्थ से कार्यपना अत्यन्त भिन्न भी नही पडा रहता, क्योकि उसीका वह धर्म है । इसीप्रकार कारणभूत पदार्थ का कारणपना धर्म भी एकान्त से भिन्न नही है, वह उससे अभिन्न होने से कारणभूत पदार्थ को ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष द्वारा ही कारणपना प्रतीत हो जाता है, जैसे कि उस व्यक्ति का स्वरूप प्रतीत होता है । देखा जाता है कि प्यास आदि पीडा से आक्रात पुरुषो के इतर वस्तु का व्यवच्छेद करके प्यासादि को दूर करने मे समर्थ ऐसे जल आदि कारणभूत पदार्थ मे प्रत्यक्ष से प्रवृत्ति होती हुई आबाल गोपाल प्रसिद्ध है ।

जब कारणभूत पदार्थ के शक्ति की प्रधानता रहती है तब कार्य को देखकर उसके कारणपने का निश्चय करते है कि यह कार्य उस कारण के बिना नही हो सकता था इत्यादि । जिन पदार्थो मे निज स्वरूप से कार्य कारणपना नही है उनमे उसके होनेपर होना इत्यादि रूप तद्भाव बन नही सकता । कारण के उत्तर कालमें किसी भिन्न सम्बन्ध द्वारा कार्य कारणभूत दो पदार्थो का अभिन्न स्वरूप कार्य कारणपना किया जाना शक्य नही है, क्योकि भिन्न सम्बन्ध द्वारा अभिन्नता करना विरुद्ध है । भिन्न सबध द्वारा भिन्न कार्य कारणपना किया जाना भी शक्य नही है, क्योकि यदि

न च स्वरूपेण कार्यकारणयोरर्थान्तरभूततत्सम्बन्धकल्पने किञ्चित्प्रयोजनं कार्यकारणताया स्वतः सिद्धत्वात् ?

ननु कार्याप्रतिपत्तौ कथं कारणस्य कारणताप्रतिपत्तिस्तदपेक्षत्वात्तस्याः ? कथमेव पूर्वापरभागाप्रतिपत्तौ मध्यभागस्यातो व्यावृत्तिप्रतिपत्तिरपेक्षाकृतत्वाविशेषात् ? ततः "पश्यन्नयं क्षणिकमेव पश्यति" इति [ ] वचो विरुध्येत। मध्यक्षणस्वभावत्वात्तद्व्यावृत्तेः, तद्ग्राहिज्ञानेन प्रति-

---

सम्बन्ध भिन्न है और पदार्थो मे कार्य कारणपना है तो उस कार्य कारणता को स्वरूप से मानने का प्रसग आता है। जब पदार्थो मे कार्य कारण भाव स्वरूप से ही है तब अर्थातरभूत (पृथक् ऐसे) सम्बन्ध को मानने मे कुछ भी प्रयोजन नही रहता है, क्योकि कार्य कारणपना स्वत स्वरूप से ही सिद्ध हो चुका है।

बौद्ध—कार्य को बिना जाने देखे कारण का कारणपना किसप्रकार जाना जा सकता है ? क्योकि कार्य की अपेक्षा से ही कारणपना हुआ करता है।

जैन—ऐसी बात है तो हम आपसे पूछते है कि पूर्व और उत्तर भागो को बिना जाने (अथवा पूर्व तथा उत्तर क्षण को बिना जाने) मध्य भाग की (अथवा मध्य क्षण की) इनसे व्यावृत्ति है ऐसा कैसे जान सकेंगे ? क्योकि यहा पर भी अपेक्षा कृतपना समान ही है। अर्थात् जैसे कार्य की अपेक्षा से कारण मे कारणपना होता है वैसे ही पूर्व आदि भाग की अपेक्षा से मध्य भाग या उसकी व्यावृत्ति हुआ करती है। इसतरह मध्य भाग की व्यावृत्ति करना या मध्य क्षण को व्यावृत्ति करना आप बौद्ध को अशक्य हो जायगा, फिर "पश्यन्नय क्षणिक मेव पश्यति" देखता हुआ योगी क्षणिकको ही देखता है, इत्यादि आपका कथन विरुद्ध पडता है।

बौद्ध—मध्य क्षण जो होता है वह पूर्व तथा उत्तर क्षण की व्यावृत्ति स्वभाव वाला ही हुआ करता है, अत पूर्व उत्तर क्षण को ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे उसकी प्रतिपत्ति भी हो जाती है।

जैन—इसी तरह कार्य को उत्पन्न करने की जो शक्ति है वही कारण कहलाता है अत उसको ग्रहण करनेवाले ज्ञान से ही कार्य की प्रतिपत्ति होती है ऐसा भी

पत्तिश्चेत्; तर्हि कार्योत्पादनशक्ते' कारणस्वभावत्वात्तद्ग्राहिणैव ज्ञानेन प्रतिपत्तिरिष्यता विशेषाभावात्। उक्ता च कार्यप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षादिसहायेनात्मनेत्युपरम्यते।

किञ्च, कार्यानिश्चये शक्तेरप्यनिश्चये नीलादिनिश्चयोपि मा भूत्। यदेव हि तस्या कार्यं तदेव नीलादेरपि, अनयोरभेदात्। वक्तृत्वस्य चासर्वज्ञत्वादिना व्याप्त्यसम्भव सर्वज्ञसिद्धिप्रघट्टके प्रतिपादित'।

मानना चाहिए। कोई विशेष नही है। इस बात को हम जैन ने भली प्रकार सिद्ध किया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण है सहायक जिसके ऐसे आत्मा द्वारा कार्य का ज्ञान हो जाया करता है, अब इस विषय पर अधिक नही कहना चाहते। बौद्ध यदि कार्य के निश्चय नही होने से उसकी शक्ति भी अनिश्चित रहती है ऐसा हटाग्रह करते है तो नील, पीत आदि वस्तु का निश्चय होना भी अशक्य हो जायगा। क्योकि जो शक्ति का कार्य है वही नील आदि का भी है, नील और शक्ति मे अभेद होने से बौद्ध ने कार्य कारण सम्बन्ध का निषेध करते हुए कहा था कि कार्य और कारण मे व्याप्ति करेंगे अर्थात् जहा कार्य होता है वहा अवश्य कारण होना चाहिये इत्यादि रूप से दोनो का अविनाभाव निश्चित करेंगे तो वक्तृत्व और असर्वज्ञत्व की व्याप्ति है ऐसा मानना पडेगा। अर्थात् जहा वक्तृत्व है वहा असर्वज्ञपना निश्चित है ऐसा दोनो का अविनाभाव सिद्ध होने से सर्वज्ञ का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा इत्यादि, सो इस विषय मे हम सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरण मे (द्वितीय भाग मे) भली प्रकार प्रतिपादन कर आये है कि वक्तृत्व के साथ असर्वज्ञपने का कोई नियम नही है कि जो बोलने वाला हो अवश्य ही असर्वज्ञ या रागादिमान हो, उलटे जो अधिक ज्ञानी होगा वही अच्छी तरह बोल सकेगा इत्यादि।

धूम और अग्नि आदि कार्य कारणो का व्यभिचार सिद्ध करने के लिए बौद्ध ने ईन्धन से उत्पन्न हुई अग्नि और मणि आदि से उत्पन्न हुई अग्नि आदि का दृष्टांत देकर कहा था कि जैसे अग्नि कही पर तो ईन्धनसे पैदा होती है और कभी मणि से अथवा अरणि मथन से होती है, वैसे ही धूम कही पर तो अग्नि से होता है और कही विना [गोपाल घटिका मे] अग्नि के भी हो जाता है अतः धूम और अग्नि में कार्य कारण भाव नही मानना चाहिए इत्यादि सो इस विषय मे यह बात है कि इंधन से उत्पन्न हुई अग्नि और मणि आदि मे उत्पन्न हुई अग्नि मे भेद है, अभेद नही, इसलिये इनका दृष्टान्त देकर कार्य कारणभाव का अभाव करना शक्य नही है, साक्षात्

न चेन्धनादिप्रभवपावकस्य मण्यादिप्रभवपावकादभेदो येन नियत कार्यकारणभावो न स्यात्। अन्यादृशाकारो हीन्धनप्रभव· पावकोऽन्यादृशाकारश्च मण्यादिप्रभव·। तद्विचारे च प्रतिपत्त्रा निपुणेन भाव्यम्। यत्नत परीक्षित हि कार्यं कारण नातिवर्त्तते। कथमन्यथा वीतरागेतरव्यवस्था तच्चेष्टाया: साङ्कर्योपलम्भात्?

कथ चैववादिनो मृतेतरव्यवस्था स्यात्? व्यापारव्याहाराकारविशेषस्य हि क्वचिच्चैतन्य-कार्यतयोपलम्भे सत्यस्त्यत्र जीवच्छरीरे चैतन्य व्यापारादिकार्यविशेषोपलम्भात्, मृतशरीरे तु नास्ति तदनुपलम्भादिति कार्यविशेषस्योपलम्भानुपलम्भाभ्या कारणविशेषस्य भावाभावप्रसिद्धे स्तद्व्यवस्था युज्येत।

दिखाई देता है कि ईन्धन से पैदा हुई अग्नि अन्य ही आकार वाली हुआ करती है और सूर्यकान्त मणि से पैदा हुई अग्नि अन्य आकार की होती है। अग्नि और धूम हो चाहे अन्य भी कोई वस्तु उसका सही ज्ञान प्राप्त कराने के लिए पुरुष को निपुण होना आवश्यक है। "यत्नत परीक्षित हि कार्यं कारण नातिवर्त्तते" प्रयत्न पूर्वक यदि कार्य कारण की परीक्षा करते है तो कभी भी कार्य कारण का उल्लघन करनेवाला (कारण के विना ही होनेवाला) दिखाई नही देगा। इसतरह की व्यवस्था यदि नही मानी जाय तो सराग और वीतराग पुरुष की सिद्धि किस प्रकार होगी? क्योंकि उन दोनो की चेष्टा भी समान हुआ करती है।

ईन्धन प्रभव अग्नि और मणि प्रभव अग्नि मे यदि बौद्ध को भेद नही दिखाई देता है तो वह मृतक पुरुष और जीवत पुरुष मे किसप्रकार भेद सिद्ध कर सकेंगे? व्यापार, वचन आदि विशेष चिह्न को देखकर "यह चैतन्य का काम है" अत यह पुरुष जीवत है ऐसा कहा जाता है, अर्थात् इस जीवत शरीर मे अवश्य ही चैतन्य है, क्योंकि उसका कार्य व्यापार (हाथ आदि को हिलाना आदि क्रिया) जानना, देखना, श्वास लेना इत्यादि हो रहा है, मृतक शरीर मे व्यापारादि नही होते अत· उसमे चैतन्य नही है, ऐसी मृतक और जीवत पुरुष की व्यवस्था हो जाती है ऐसा कहो तो वैसे ही कार्य विशेष की उपलब्धि होने से कारण विशेष की उपलब्धि होना तथा कारण के न होने से कार्य का नही होना इत्यादि रूप से धूम और अग्नि आदि पदार्थों मे कार्य कारण भाव सम्बन्ध की सिद्धि होती है। तथा यदि बौद्ध कार्य कारण भाव मे दोष देते है, तो अकार्य कारण भाव मे भी वे दोष आते है, कैसे सो बताते है—

अकार्यकारणभावेपि चैतत्सर्वं समानम्–सोपि हि द्विष्ठः कथमसहभाविनोः कार्यकारणत्वाभ्यां निषेध्ययोर्वर्त्तेत ? न चाद्विष्ठोसौ; सम्बन्धाभावविरोधात् । पूर्वत्र भावे वर्त्तित्वा परत्र क्रमेणासौ वर्त्तमानोऽन्यनिस्पृहत्वेनैकवृत्तिमत्त्वात्कथं सम्बन्धाभावरूपता (ता) प्रतिपद्येत ? अथाकार्यकारणयोरेकमपेक्ष्यान्यत्रासौ क्रमेण वर्त्तत इति सस्पृहत्वेनास्य द्विष्ठत्वात्तदभावरूपतेष्यते; तदा तेनापेक्ष्यमाणेनोपकारिणा भवितव्यम् । 'कथं चोपकरोत्यसन्' इत्यादि सर्वमत्रापि योजनीयम् ।

अकार्य कारणभाव भी दो मे हुआ करता है, जो पदार्थ परस्पर मे कार्य कारणरूप नही है अर्थात् अकार्य कारणरूप गो महिषादिक है वे यदि सहभावी (साथ) नही है उनका कार्य और कारणपने से कैसे निषेध कर सकते है अथवा वे अपने को कार्य कारण के निषेधरूप कैसे रख सकते है ? तुम कहो कि अकार्य कारणभाव अद्विष्ठ (एक मे रहने वाला) होता है, सो भी बात नही है, यदि वह अद्विष्ठ है तो संबंध का अभावरूप होने मे विरोध आयेगा । पूर्व की अकारणरूप अवस्था मे रहकर क्रमसे अन्य अकार्य मे प्रवृत्तमान वह पदार्थ जब अन्य से निस्पृह एव एक मे ही वृत्तिमान है तब उस पदार्थ के सम्बन्ध के अभावपने को कैसे जान सकते है ? इसप्रकार सम्बन्ध के समान सम्बन्ध के अभाव के विषय मे शंकाये कर सकते है ।

बौद्ध—अकार्य और अकारण इन दो पदार्थो मे से एक की अपेक्षा लेकर क्रम से यह असम्बन्ध रहा करता है इसतरह यह असम्बन्ध सस्पृह होने से द्विष्ठ ही है, इसप्रकार हम सम्बन्ध के अभाव को मानते है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो पुन. वही सम्बन्ध के विषय मे किये गये प्रश्न उठेगे कि वह असम्बन्ध अकार्य अकारण से पृथक् है अतः उसको जोडनेवाला उपकारक चाहिये, पुन वह उपकारक भी पृथक् होगा इत्यादि अनवस्था आदि दूषण आते है, तथा जब अकार्य आदि असत् है तब उपकारक कैसे हो सकता है इत्यादि दोष असंबंध पक्ष मे भी आते है ।

यदि पदार्थो मे अकार्य कारणभाव भी न माने तब तो कार्य कारणभाव वास्तविक ही सिद्ध हो जायगा, क्योकि दोनो का अभाव करने मे विरोध आता है । जैसे किसी पदार्थ मे नील और अनील दोनोका अभाव नही कर सकते, अर्थात् यह

अकार्यकारणभावस्याप्यर्थानामनभ्युपगमे तु कार्यकारणभावो वास्तव· स्यात् । उभयाभावस्तु न युक्त: विरोधात्, क्वचिन्नीलेतरत्वाभाववत् । ततो यथा कुतश्चित्प्रमाणादकार्यकारणभावो गवाश्वादीनामतद्भावभावित्वप्रतीते. परस्परं परमार्थतो व्यवतिष्ठते, तथाग्निधूमादीना तद्भावभावित्वप्रतीते: कार्यकारणभावोपि बाधकाभावात् । तन्न प्रमाणत: प्रतीयमान. सम्बन्ध स्वाभिप्रेत-

---

वस्तु नीली नही है और अनील (पीत आदि रूप) भी नही है ऐसा नही कह सकते है। इसप्रकार बौद्ध सम्बन्ध का निराकरण नही कर सकते है इसलिए जैसे गाय और अश्व आदि पदार्थो मे परस्पर जो पारमार्थिक अकार्य अकारण भाव है वह अतद्भाव भावीपने से अर्थात् गाय के होने पर भी अश्व का नही होना या अश्व के नही होनेपर भी गाय का होना इत्यादि रूप से प्रतीत होता है अत उसे सत्य मानते है, इसी प्रकार अग्नि और धूम इत्यादि पदार्थो मे तद्भावभाविपने से अर्थात् अग्नि के होनेपर ही धूम का होना इत्यादि रूप से कार्य कारण भाव की प्रतीति होती है अत उसे भी सत्य मानना चाहिए, दोनो–कार्य कारणभाव और अकार्य कारणभाव मे किसी प्रकार की भी बाधा नही आती है। इसलिये बौद्धो को चाहिए कि वे अपने इष्ट तत्व जो असबधत्व आदिको जिसप्रकार मानते हैं उसका निह्नव नही करते हैं, उसीप्रकार प्रमाण से प्रतीत हो रहे सम्बन्ध का भी निह्नव नही करना चाहिए। जब सम्बन्ध का अपलाप नही हो सकता तो बौद्ध का यह कहना कि "स्थूलत्व धर्म की प्रतीति भ्रान्त है अत. स्थूलत्व आदि पदार्थ के स्वभाव नही है" इत्यादि गलत ठहरता है। जिसप्रकार बौद्ध एक ही चित्र ज्ञान मे एक साथ अनेक आकार सम्बन्धी पदार्थ प्रतिभासित होना स्वीकार करते है, वैसे ही उस ज्ञान मे क्रम से भी अनेक आकार रूप कार्य कारणपना प्रतिभासित होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिए इसमे कोई विरोध की बात नही है।

भावार्थ—बौद्ध ने कार्य कारण सम्बन्ध का खण्डन करते हुए कहा था कि कारण को प्रतिभासित करानेवाला प्रमाण अलग है और कार्य को प्रतिभासित करने वाला प्रमाण अलग है अत दोनो के परस्पर मे होनेवाले सम्बन्ध को कौन जान सकता है तथा कार्यभूत पदार्थ या कारणभूत पदार्थ क्षणिक है उनका ग्राहक ज्ञान भी क्षणिक है, फिर किस तरह उन दोनो के सम्बन्ध को जाने। इस पर आचार्य उन्ही के चित्र ज्ञान का उदाहरण देकर समझाते है कि जैसे एक ही चित्र ज्ञान मे एक साथ अनेक

तत्त्ववन्निह्नवनीयो येन स्थूलादिप्रतीतेर्भ्रान्तत्वात्तस्वभावतार्थस्य न स्यात् । चित्रज्ञानवद्युगपदेकस्याने-काकारसम्बन्धित्ववत्क्रमेणापि तत्तस्याविरुद्धम् । इति सिद्धं परापरविवर्त्तव्याप्येकद्रव्यलक्षण-मूर्ध्वतासामान्यम् ।

॥ सम्बन्धसद्भाववादः समाप्तः ॥

नील पीत आदि आकार प्रतीत होते है, या एक ज्ञान का एक साथ अनेक आकारो के साथ सम्बन्धीपना हो सकता है, वैसे क्रम क्रम से भी उस ज्ञान मे अनेक आकार (कार्य कारण आदि) प्रतीत हो सकते है, कोई विरुद्ध वात नही है । इसतरह जब कार्य कारण सबध को ग्रहण करनेवाला ज्ञान मौजूद है तो उस सम्बन्ध का कैसे खडन कर सकते है ? अर्थात् नही कर सकते ।

इसप्रकार "परापर विवर्त्तव्यापि द्रव्य मूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।। इस सूत्र मे जो ऊर्ध्वता सामान्य का लक्षण बतलाया था वह निर्बाध सिद्ध हो गया । इस सूत्र मे जब आचार्य ने यह कहा कि पर अपर अर्थात् पूर्व और उत्तर पर्यायो मे व्यापक रूप से रहनेवाला जो एक ही द्रव्य होता है उसे ऊर्ध्वता सामान्य कहते है इत्यादि तब बौद्ध ने द्रव्य को क्षणिक सिद्ध करनेके लिए अपना लम्बा पक्ष स्थापित किया था उसका आचार्य ने खण्डन किया, तथा इसी ऊर्ध्वता सामान्य भूत द्रव्य मे जो कार्य कारण भाव रहता है उसको दूषित करने का बौद्ध ने असफल प्रयत्न किया तब सबध का सद्भाव सिद्ध किया इसतरह इस चौथे परिच्छेद के छठे सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने बौद्ध के क्षणभगवाद का खण्डन किया है और असम्बन्ध का निरसन कर कार्य कारण भाव, व्याप्य, व्यापक भाव आदि अनेक तरह के सम्बन्ध को सत्यभूत सिद्ध किया है ।

॥ **संबंधसद्भाववाद समाप्त** ॥

संबंधसद्भाववाद का सारांश

पूर्वपक्षः—वौद्ध किसी वस्तु का किसी के साथ सम्वन्ध नही मानते हैं, अत उनके यहा अवयवी, स्कन्ध, स्थूलत्व इत्यादि स्वभाव का निपेध किया जाता है। उनका कहना है कि पदार्थो मे परतन्त्र स्वरूप या रूपश्लेष स्वरूप कोई भी सम्वन्ध प्रतीति नही होता है क्योकि परतन्त्र स्वरूप संवध माने तो वह दो पदार्थो मे निष्पन्न होने के वाद होगा या विना निष्पन्न हुए यह प्रश्न है, निष्पन्नो का सम्वन्ध कहो तो वे बन चुके अव सवंध से क्या प्रयोजन और अनिष्पन्न असत् मे सम्बन्ध हो नही सकता। रूपश्लेप सम्वन्ध माने तो वह भी एकदेश से होगा या सर्वदेश से, यदि एक-देश से एक अणु मे अन्य अणु का सम्वन्ध माना जाय तो वे सम्वन्वित होने वाले अन्य परमाणु उस एक अणु से पृथक् रहेंगे या अपृथक्? पृथक् माने तो सम्वन्ध ही नही रहा और अपृथक् कहो तो सव परमाणु मिलकर एक अणुमात्र रह जायेंगे। तथा सबध, सबधीभूत दो वस्तुओ से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो सबध एक है उसका दो के साथ कौनसा सम्वन्ध वनेगा वह भी वडा कठिन प्रश्न है। कार्य कारण भाव असहभावी है अत उनमे होनेवाला सम्वन्ध कैसे बने। जैसे कार्य कारणादि सम्बन्ध सिद्ध नही होता वैसे योगाभिमत सयोग, समवायादि सम्बन्ध भी सिद्ध नही होते उस पक्ष मे भी उपर्युक्त प्रश्न उठते है। सवधवादी यह वता देवे कि कार्य कारण भाव प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है या अनुमान से? प्रत्यक्ष से ग्रहण नही हो सकता। क्योकि दोनो वर्तमान काल मे एक साथ नही रहते। अनुमान से कहो तो उसको हेतु चाहिए। कारण होनेपर कार्य होता है, कारण नही होनेपर कार्य नही होता ऐसा देखकर कार्य कारण भाव सिद्ध करो तो वक्तृत्वादि हेतु मे भी ऐसा अन्वय व्यति-रेक पाया जाने से उस हेतु से सर्वज्ञ का अभाव स्वीकार करना होगा अर्थात् जहा वक्तृत्व है वहा असर्वज्ञत्व है और जहा असर्वज्ञत्व नही वहा वक्तृत्व नही ऐसा अन्वय

व्यतिरेक होने से वक्तृत्व हेतु सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने वाला मानना पड़ेगा तथा कार्य कारण भाव का ज्ञान सम्पूर्ण वस्तु को जाने बिना कैसे होवे क्योकि सभी धूम और अग्नि को जानेगे तभी तो उनका कार्य कारण संबध जोडेगे अन्यथा नही। कारण मे कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति भी प्रत्यक्ष नही होती है इस तरह सम्बन्ध सिद्ध नही हो पाता है।

उत्तरपक्ष जैन :— यह कथन असमीचीन है। सम्बन्ध प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है, उसका लोप करना अशक्य है। तन्तुओ का सम्बन्ध रूप वस्त्र प्रत्यक्ष दिखाई देता है। बौद्ध सबध को नही मानोगे तो रस्सी का एक छोर अन्य भागो से पृथक् होने से उसको एक तरफ से खीचते ही सारी रस्सी खीचती हुई नही आनी चाहिए। फिर कुआ पर पानी कैसे भरेगे क्योकि रस्सी का एक भाग हाथ मे है अन्य भाग कुआ मे है और वे सब भाग पृथक् पृथक् है अत बाल्टी कैसे खीचे ? आपका पढाया हुआ विद्यार्थी कहेगा कि यह बाल्टी खीच नही सकती क्योंकि रस्सी के सब अवयव बिखरे हैं इसलिये इन व्यवहारो को देखकर सम्बन्ध को मानना पडेगा, वह भी सवृत्ति से नही किन्तु वास्तविकता से, क्योंकि कल्पना से कोई काम नही होता है।

सम्बन्ध यही है कि दो वस्तुओ को विश्लिष्ट अवस्था वदलकर एक नयी सश्लिष्ट अवस्था हो जाना, यह अवस्था का परिवर्तन वस्तु के स्निग्धत्व और रुक्षत्व के कारण हुआ करता है। सम्बन्ध कई प्रकार का होता है। कही पर एक दूसरे के प्रदेशों का अनुप्रवेश होना रूप होता है जैसे सत्तु और जल के प्रदेश परस्पर मिश्रित होते है। कही पर श्लेष रूप होता है जैसे दो अगुलियो का। परमाणु मे हम अवयव (भाग) रूप अश नही मानते है अर्थात् जव कभी एक परमाणु अन्य परमाणुओं से सम्बन्ध को प्राप्त होता है वह दिशादि के स्वभाव भेद से प्राप्त होता है इसलिये वे सव परमाणु उस एक अणुमात्र नही होते है। आपने निष्पन्न वस्तु मे सम्बन्ध होता है या अनिष्पन्न मे ऐसा पूछा था उसका उत्तर यही है कि निष्पन्न दो वस्तुओ मे ही सम्बन्ध होगा और सम्बन्ध होने पर उनकी अवस्था एक जात्यन्तर रूप रहेगी। संबंध होने पर पदार्थ पृथक् नही होते है जैसे चित्र ज्ञान मे नीलादि अनेक आकार पृथक् नही होते है तथा कार्य कारण का नियम इतना ही है कि जिसके होने पर जो नियम से हो और नही होने पर न हो। वौद्ध ने कहा था कि यदि कारण पहले और कार्य

पीछे ऐसे पूर्वोत्तर क्षणवर्ती होते है तो उनको कौन सा प्रमाण जानेगा इत्यादि उसका उत्तर यह है कि क्षयोपशम विशिष्ट जो आत्मा है वह इन कार्य कारण भावरूप पदार्थो को जानता है, क्योकि वह कारण और कार्य दोनो के क्षणो मे अन्वयरूप से रहता है। आपके क्षणिकत्व का तो अभी क्षणभगवाद मे खण्डन हो चुका है। कार्यकारण सबंध के जितने प्रश्न है वे सब अकार्यकारणवाद मे भी आते है वह भी दो वस्तु मे होगा अत. दिष्ट रहेगा फिर उसको कौन जानेगा इत्यादि। इसलिए प्रत्यक्ष सिद्ध इस सबंध को अवश्य मानना चाहिए।

॥ सम्बन्धसद्भाववाद का सारांश समाप्त ॥

यथा च द्वेधा सामान्य तथा—

विशेषश्च ।। ७ ।।

चकारोऽपिशब्दार्थे । कथ तद्द्वैविध्यमित्याह—

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ।। ८ ।।

अब यहां विशेष का भेद सहित वर्णन करते है—

विशेषश्च ।। ७ ।।

जैसे सामान्य के दो भेद है वैसे विशेष के भी दो भेद है । सूत्रस्थ चकार शब्द 'भी' अर्थ का वाचक है । उसी दो भेदो के नाम बताते है—

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ।। ८ ।।

तत्र पर्यायस्वरूप निरूपयति—

एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥ ६ ॥

अत्रोदाहरणमाह आत्मनि हर्षविषादादिवत् ।

ननु हर्षादिविशेषव्यतिरेकेणात्मनोऽसत्त्वादयुक्तमिदमुदाहरणमित्यन्य', सोप्यप्रेक्षापूर्वकारी, चित्रसवेदनवदनेकाकारव्यापित्वेनात्मन. स्वसवेदनप्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात् 'यद्यथा प्रतिभासते तत्तथैव व्यवहर्त्तव्यम् यथा वेद्याद्याकारात्मसवेदनरूपतया प्रतिभासमान सवेदनम्, सुखाद्यनेकाकारैकात्मतया प्रतिभासमानश्चात्मा इत्यनुमानप्रसिद्धत्वाच्च ।

पर्याय विशेष और व्यतिरेक विशेष इस तरह विशेष के दो भेद हैं। इनमे से पर्याय विशेष का स्वरूप बतलाते है—

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविन परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्ष विषादादिवत् ॥ ६ ॥

एक द्रव्य मे क्रम से होने वाले परिणामो को पर्याय विशेष कहते है, जैसे आत्मा मे क्रमश हर्ष और विषाद हुआ करते है ।

सौगत—हर्ष और विषाद आदि को छोडकर दूसरा कोई आत्मा नामा पदार्थ नही है, अत उसका उदाहरण देना अयुक्त है ?

जैन—यह कथन अविचारकपने का सूचक है, जिसप्रकार आप एक चित्र ज्ञान को अनेक नील पीत आदि आकारो मे व्यापक मानते है वैसे आत्मा अनेक हर्षादि परिणामो मे व्यापक रहता है ऐसा मानना होगा, क्योकि ऐसा स्वय अपने को ही साक्षात् अनुभव मे आ रहा है। जो जैसा अनुभव मे आता है उस वस्तु को वैसा ही कहना चाहिए, जिस तरह सवेदन (ज्ञान) वेद्य तथा वेदक आकार रूप से प्रतीत होता है तो उसे वैसा मानते है, उसी तरह आत्मा भी सुख तथा दु ख आदि अनेक आकार से प्रतीत होता है अतः उसे वैसा मानना चाहिए। इसप्रकार अनुमान से आत्मा की सिद्धि होती है ।

सुख-दु ख आदि पर्याय परस्पर मे एकान्त से भिन्न है उनमे कोई व्यापक एक द्रव्य नही है ऐसा माने तो "मै पहले सुखी था, अब दु खी हू" इसतरह अनुसधानरूप ज्ञान नही होना चाहिए किन्तु होता है ।

सुखदुःखादिपर्यायाणामन्योन्यमेकान्ततो भेदे च 'प्रागहं सुख्यास सम्प्रति दुःखी वर्ते' इत्यनुसन्धानप्रत्ययो न स्यात्। तथाविधवासनाप्रबोधादनुसन्धानप्रत्ययोत्पत्तिः; इत्यप्यसत्यम्; अनुसन्धानवासना हि यद्यनुसन्धीयमानसुखादिभ्यो भिन्ना; तर्हि सन्तानान्तरसुखादिवत्स्वसन्तानेप्यनुसन्धानप्रत्ययं नोत्पादयेदविशेषात्। तदभिन्ना चेत् तावद्धा भिद्येत। न खलु भिन्नादभिन्नमभिन्नं नामाऽतिप्रसङ्गात्। तथा तत्प्रबोधात्कथं सुखादिष्वेकमनुसन्धानज्ञानमुत्पद्येत? तेभ्यस्तस्याः कथञ्चिद्भेदे नाममात्रं भिद्येतअहमहमिकया स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रसिद्धस्यात्मनः सहक्रमभाविनो गुणपर्यायानात्मसात्कुर्वतो 'वासना' इति नामान्तरकरणात्।

बौद्ध—मै पहले दुःखी था इत्यादि प्रकार की वैसी वासना प्रगट होने से ही अनुसधानात्मक ज्ञान पैदा होता है।

जैन—यह असत् है, अनुसन्धान को करनेवाली उक्त वासना अनुसधीयमान सुख दुःख आदि से भिन्न है कि अभिन्न ? यदि भिन्न है तो जैसी वह वासना अन्य सतानो मे सुखादिका अनुसधान ज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) पैदा नही कराती वैसे अपने सतान मे नही करा सकेगी। क्योकि कोई विशेषता नही है, जैसे पर सन्तानो से भिन्न है वैसे स्व संतान से भिन्न है। यदि उस वासना को सुखादि से अभिन्न माने तो जितने सुखादि के भेद हैं उतने वासना के भेद मानने होगें क्योकि ऐसा हो नही सकता कि वासना उन सुखादि से अभिन्न होवे और एक भी बनी रहे। यदि वासना अनेको सुख-दुःख आदि मे अभिन्नपने से रहकर भी अपने एकत्व को भिन्न बनाये रख सकती है तो घट, पट, गृह आदि से अभिन्न जो उनके घटत्व आदि स्वरूप है वे भी भिन्न मानने होगे। इस अति प्रसग को हटाने के लिए कहना होगा कि जितने सुखादि के भेद है उतने वासना के भेद है, इसतरह जब वासनाये अनेक है तो उनके प्रबोध से सुख, दुःख आदि मे एक अनुसन्धानात्मक ज्ञान किसप्रकार उत्पन्न होगा ? क्योकि वासनारूप कारण अनेक है, तो उनसे होवे वाला कार्य (ज्ञान) भी अनेक होना चाहिए ? यदि इस दोष को दूर करने के लिए सुख-दुःख आदि से वासना को कथचित् भेद रूप माना जाय तो आत्मा और वासना मे नाम मात्रका भेद रहा "अहं" मै इस प्रकार से जो अपने में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध है, जो सहभावी गुण एव क्रमभावी पर्यायो को आत्मसात् (धारण) कर रहा है ऐसे आत्मा के हो "वासना" ऐसा नामान्तर कर दिया है, और कुछ नही।

क्रमवृत्तिसुखादीनामेकसन्ततिपतितत्वेनानुसन्धाननिबन्धनत्वम्; इत्यपि तादृगेव; आत्मनः सन्ततिशब्देनाभिधानात्। तेषा कथचिदेकत्वाभावे नैक पुरुषसुखादिवदेकसन्ततिपतितत्वस्याप्ययोगात्।

आत्मनोऽनभ्युपगमे च कृतनाशाकृताभ्यागमदोषानुषङ्ग। कर्तुर्निरन्वयनाशे हि कृतस्य कर्मणो नाश कर्त्तु. फलानभिसम्बन्धात्, अकृताभ्यागमश्च अकर्त्तुरेव फलाभिसम्बंधात्। ततस्तद्दोषपरिहारमिच्छतात्मानुगमोभ्युपगन्तव्यः। न चाप्रमाणकोयम्, तत्सद्भावावेदकयोः स्वसवेदनानुमानयोः प्रतिपादनात्।

अहमेव ज्ञातवानहमेव वेद्मि' इत्यादेरेकप्रमातृविषयप्रत्यभिज्ञानस्य च सद्भावात्। तथा चोक्त भट्टेन—

बौद्ध— क्रम से होने वाले सुख, दुःख आदि का एक संततिरूप प्रमुख होना है वही अनुसन्धानात्मक ज्ञान का कारण है।

जैन—यह कथन भी पहले के समान है, यहां आत्मा को "संतति" शब्द से कहा। जब तक उन सुख-दु ख या हर्ष-विषाद आदि पर्यायो के कथचित् द्रव्यदृष्टि से एकपना नही मानते है तब तक अनेक पुरुषो के सुख दु खादि मे जैसे एकत्व का ज्ञान नही होता वैसे एक पुरुष के सुखादि मे भी एक सतति पतित्व से अनुसन्धान होना शक्य नही।

तथा आत्म द्रव्यको नही माने तो कृत प्रणाश और अकृत अभ्यागम नामा दोष भी उपस्थित होता है, इसीका स्पष्टीकरण करते है—जब कर्त्ता का निरन्वय नाश हो जाता है तब उसके द्वारा किए हुए कर्म का नाश होवेगा फिर कर्त्ता को उसका फल कैसे मिलेगा ? तथा जिसने कर्म को नही किया है उसको फल मिलेगा। अतः इस दोष को दूर करने के लिए आप बौद्धो को अनुगामी एक आत्मानामा द्रव्य को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। यह आत्मा अप्रामाणिक भी नही समझना, क्योंकि आत्मा को सिद्ध करने वाले स्वसवेदन ज्ञान तथा अनुमान ज्ञान है, ऐसा प्रतिपादन कर दिया है। आत्मा को सिद्ध करनेवाला और भी ज्ञान है मैने ही जाना था, अभी मैं ही जान रहा हू, इत्यादि रूप से एक ही प्रमाता को विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान मौजूद है। भट्ट मीमांसक ने भी कहा है—आत्मद्रव्य मे हर्ष-विषाद, सुख-दु'ख आदि

"तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मक ।
पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥"

[मी० श्लो० आत्मवाद श्लो० २८] इति ।

"तस्मात्तत्प्रत्यभिज्ञानात्सर्वलोकावधारितात् ।
नैरात्म्यवादबाध. स्यादिति सिद्ध समीहितम् ॥"

[मी० श्लो० आत्मवाद श्लो० १३६] इति च ।

अथ कथमतः प्रत्यभिज्ञानादात्मसिद्धिरिति चेत् ? उच्यते—'प्रमातृविषय तत्' इत्यत्र तावदावयोरविवाद एव। स च प्रमाता भवन्नात्मा भवेत्, ज्ञानं वा? न तावदुत्तरः पक्षः, 'अहं ज्ञातवानहमेव च साम्प्रत जानामि' इत्येकप्रमातृपरामर्शेन ह्यहबुद्धेरुपजायमानाया ज्ञानक्षणो विषयत्वेन कल्प्य-

---

विवर्त्तोको सर्वथा भिन्न या अभिन्न मानते हैं तो बाधा आती है अर्थात् आत्म द्रव्य को एक अन्वयी न मानकर द्रव्य तथा पर्यायों को सर्वथा क्षणिक एवं पृथक्-पृथक् मानते है तो दोनों ही असिद्ध हो जाते है अतः व्यावृत्त अनुवृत्त स्वरूप वाला पुरुष आत्मा नित्य है ऐसा स्वीकार करना चाहिए, जैसे कि सर्प एक स्थिर है और उसमें कुण्डलाकार होना लम्बा होना इत्यादि पर्यायें होती है, अथवा सुवर्ण एक है और वह कड़ा, हार, कुण्डल आदि आकारों मे क्रम-क्रमसे प्रवृत्त होता है ॥ १ ॥ सम्पूर्ण लोक मे प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञान द्वारा आत्मा की सिद्धि होने से बौद्धका नैरात्म्यवाद बाधित होता है, अतः हमारा आत्मनित्यवाद सिद्ध होता है। यदि कोई कहे कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा आत्मा की सिद्धि कैसे होती है ? तो बताते है—प्रत्यभिज्ञान प्रमाता को विषय करता है इस विषय मे जैन तथा बौद्ध का विवाद नही है, अब यह देखना है कि वह प्रमाता कौन है आत्मा है कि ज्ञान है ज्ञान तो हो नही सकता, क्योकि "मैंने जाना था अब मैं ही जान रहा हूं" इत्यादिरूप से एक प्रमाता का परामर्श जिसमें है ऐसे प्रत्यभिज्ञान द्वारा अहं (मै) इसप्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है वह यदि ज्ञान क्षण विषयक है तो कौनसा ज्ञान क्षण है अतीत ज्ञान क्षण है, या वर्त्तमान है, अथवा दोनो है अथवा संतान है इनको छोडकर अन्य कुछ तो हो नही सकता। अहंबुद्धि अतीत ज्ञान क्षण को विषय करती है ऐसा प्रथम विकल्प माने तो "जाना था" इतना आकार ही निश्चित होना शक्य है, क्योकि उसने पहले जाना है "अभी जान रहा हूं" इस आकार

मानोतीतो वा कल्प्येत, वर्तमानो वा, उभौ वा, सन्तानो वा प्रकारान्तरासम्भवात् ? तत्राद्यविकल्पे 'ज्ञातवान्' इत्ययमेवाकारावसायो युज्यते पूर्वं तेन ज्ञातत्वात्, 'सम्प्रति जानामि' इत्येतत्तु न युक्तम्, न ह्यसावतीतो ज्ञानक्षणो वर्त्तमानकाले वेत्ति पूर्वमेवास्य निरुद्धत्वात् । द्वितीयपक्षे तु 'सम्प्रति जानामि' इत्येतद्युक्त तस्येदानी वेदकत्वात्, 'ज्ञातवान्' इत्या-कारग्रहण तु न युक्त प्रागस्यासम्भवात् । अत एव न तृतीयोपि पक्षो युक्तः; न खलु वर्तमानातीतावुभौ ज्ञानक्षणौ ज्ञान (त) वन्तौ, नापि जानीतः । कि तर्हि ? एको ज्ञातवान् अन्यस्तु जानातीति । चतुर्थपक्षोप्ययुक्त , अतीतवर्त्तमानज्ञानक्षणव्यतिरेकेणान्यस्य सन्तानस्यासम्भवात् । कल्पितस्य सम्भवेपि न ज्ञातृत्वम् । न ह्यसौ ज्ञान (त) वान्पूर्वं नाप्यधुना जानाति, कल्पितत्वेनास्याऽवस्तुत्वात् । न चावस्तुनो ज्ञातृत्व सम्भवति वस्तुधर्मत्वात्तस्य इति अतोऽन्यस्य प्रमातृत्वासम्भवादात्मैव प्रमाता सिद्धयति । इति सिद्धोऽत. प्रत्यभिज्ञानादात्मेति ।

को जानना उसके लिए शक्य नही है, क्योकि यह जो अतीत ज्ञान क्षण है वह पहले ही नष्ट हो जाने से वर्त्तमानकाल मे नही जान रहा है । द्वितीय विकल्प - वर्त्तमान ज्ञानक्षण उस जोडरूप प्रतिभास को जानता है ऐसा मानना भी शक्य नही, वर्त्तमान ज्ञानक्षण केवल "अभी जान रहा हू" इतने को ही जानता है, "जाना था" इस आकार को ग्रहण कर नही सकता, क्योकि वह पहले नही था । अतीत और वर्त्तमान दोनो ज्ञानक्षण उस जोडरूप प्रतीति को विषय करते है ऐसा तीसरा पक्ष भी जमता नही, क्योकि वे दोनो न ज्ञात है (अतीत मे) और न जान रहे (वर्त्तमान मे) किन्तु उन ज्ञानक्षणो मे से एक तो "ज्ञातवान्—जाना था" इस आकार को लिए हुए है, और दूसरा "जानाति जान रहा है" इस आकार को लिए है । चौथा पक्ष—सतान अह बुद्धि को विषय करती है ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योकि अतीत और वर्त्तमान ज्ञान क्षण को छोडकर अन्य सतान नामा ज्ञानक्षण नही है । काल्पनिक संतान मान लेवे तो वह ज्ञाता नही होगी । काल्पनिक सतान न पहले ज्ञातवान् है और न वर्त्तमान ज्ञाता है क्योकि वह अवस्तुरूप है अवस्तु मे ज्ञातृत्व-सभव नही है, ज्ञातृत्व वस्तु का धर्म है । इसप्रकार अतीत आदि ज्ञानक्षण अह बुद्धि विषय वाले सिद्ध नही हैं अतीतादि क्षणोको छोडकर अन्य प्रमाता बन नही सकता अत. निश्चित होता है कि आत्मा ही प्रमाता है, और वह प्रत्यभिज्ञान द्वारा सिद्ध हो जाता है ।

अब यहा पर क्षणिकवादी बौद्ध आत्मा के विषय मे कुचोद्य उठाकर उसके अन्वयीपने का अभाव करना चाहते है—

ननु चात्मासुखादिपर्यायैः सम्बद्धयमानः परित्यक्तपूर्वरूपो वा सम्बद्धयेत, अपरित्यक्तपूर्वरूपो वा ? प्रथमपक्षे निरन्वयनाशप्रसङ्गः, अवस्थातु कस्यचिदभावात् । द्वितीयपक्षे तु पूर्वोत्तरावस्थयोरात्मनोऽविशेषादपरिणामित्वानुषङ्गः । प्रयोगः यत्पूर्वोत्तरावस्थासु न विशिष्यते न तत्परिणामि यथाकाशम्, न विशिष्यते पूर्वोत्तरावस्थास्वात्मेति, तदपरीक्षिताभिधानम्; आत्मनो भेदेन प्रसिद्धसत्ताकैः सुखादिपर्यायैः स्वस्य सम्बन्धानभ्युपगमात् । आत्मैव हि तत्पर्यायतया परिणमते नीलाद्याकारतया चित्रज्ञानवत्, स्वपरग्रहणशक्तिद्वयात्मकतयैकविज्ञानवद्वा । न खलु ययैव शक्त्यात्मानं प्रतिपद्यते विज्ञान तयैवार्थम्, तयोरभेदप्रसङ्गात् । अन्यथात्मनो येन रूपेण सुखपरिणामस्तेनैव दु.ख-

---

बौद्ध—अभी जैन ने पर्याय विशेष का लक्षण करते हुए कहा कि एक द्रव्य मे क्रम से होने वाले परिणमनो को पर्याय विशेष कहते है, जैसे आत्मा मे क्रमशः हर्ष और विषाद हुआ करते है, उसमे हमारा प्रश्न है कि सुखादि पर्यायो के साथ आत्मा क्रम से सम्बन्ध करता है वह पूर्व रूप को छोडकर करता है या बिना छोड़े ही, यदि छोड़कर करता है तब निरन्वय विनाश का प्रसग आयेगा, क्योकि अवस्थित रहनेवाला कोई पदार्थ नही और यदि पूर्वरूप को बिना छोडे उन पर्यायो से सम्बद्ध होता है तो पूर्वोत्तर अवस्थाओ मे आत्मा मे कुछ विशेषपना नही रहने से वह अपरिणामी कहलायेगा । अनुमान से यही बात सिद्ध होती है कि आत्मा परिणामी नही है, क्योकि वह पूर्वोत्तर अवस्थाओ मे एकसा रहता है, जो पूर्वोत्तर अवस्थाओ मे विशिष्ट न होकर एकसा रहता है वह परिणामी नही माना जाता, जैसे आकाश हमेशा एकसा रहने से परिणामी नही है, आत्मा भी आकाश के समान पूर्वोत्तार अवस्थाओ मे (सुखादि पर्यायो मे) एकसा है अत अपरिणामी है ?

जैन—यह बौद्ध का कथन असत् है, आत्मा से कथचित् भिन्न ऐसी सर्वजन प्रसिद्ध जो सुख-दु.ख आदि पर्याये है उनका अपना कोई सम्बन्ध नही है (उन सुख-दु.ख का परस्पर मे सबध नही होता) अब इसी को बतलाते है—आत्मा स्वय एक परिणमनशील पदार्थ है, वही सुख आदि पर्यायरूप परिणमन करता है, जैसे बौद्ध के यहा नील, पीत आदि आकार रूप एक चित्र ज्ञान परिणमन करता है, अथवा स्व और पर दोनो को जानने की दो शक्तियोरूप एक विज्ञान हुआ करता है वैसे ही आत्मद्रव्य है । जिस शक्ति से ज्ञान अपने को जान रहा है उसी शक्ति से पदार्थ को नही जानता । यदि एक शक्ति से दोनो को जानेगा तो उन दोनो मे स्व-पर मे अभेद

परिणामेपि अनयोरभेदो न स्यात्। न च तच्छक्तिभेदे तदात्मनो ज्ञानस्यापि भेद, अन्यथैकस्य स्व-परग्राहकत्व न स्यात्। नापि चित्रज्ञानस्य नीलाद्यनेकाकारतया परिणामेपि एकाकारताव्याघात.। तद्वत्सुखाद्यनेकाकारतया परिणामेपि, आत्मनो नैकत्वव्याघातो विशेषाभावात्। न चैकत्र युगपत्, अन्यत्र तु कालभेदेन परिणामाद्विशेष., प्रतीतेर्नियामकत्वात्। यत्र हि प्रतीतिर्देशकालभिन्ने तदभिन्ने वा वस्तुन्येकत्व प्रतिपद्यते तत्रैकत्व प्रतिपत्तव्यम्, यत्र तु नानात्व प्रतिपद्यते तत्र तु नानात्वमिति।

ततो यदुक्तम्–सर्वात्मनैवाभेदे भेदस्तद्विपरीत कथ भवेत्? न ह्येकदा विधिप्रतिषेधौ पर-स्परविरुद्धौ युक्तौ। प्रयोग.–यत्राभेदस्तत्र तद्विपरीतो न भेद· यथा तेषामेव पर्यायाणां द्रव्यस्य च

का प्रसग आयेगा। आत्मा यदि उन पर्यायोरूप परिणमन नही करता तो जिस रूप से उसके सुख परिणाम होता है उसी रूप से दु ख परिणाम होने पर भी इनमे अभेद नही होता। परिणमन की शक्तियो मे भेद स्वीकार करने पर तद्युक्त ज्ञान मे भी भेद हो जायगा ऐसा नियम नही है यदि ऐसा होता तो एक ज्ञान स्व और पर दोनो का ग्राहक नही कहलाता। जैसे चित्र ज्ञान मे नील आदि अनेक आकारपने से परिणमित हो जाने पर भी उसके एकाकारता मे कोई बाधा नही आती, वैसे सुख-दु ख आदि अनेक आकारपने से परिणत होने पर भी आत्मा मे एकपने का कोई विरोध नही आता। चित्रज्ञान और आत्मा इनमे अनेकाकार होकर भी एकरूप बने रहने की समानता है कोई विशेषता नही है। कहने का अभिप्राय यह है कि बौद्ध चित्रज्ञान को जैसे अनेका-कार होकर एक रूप मानते है, वैसे हम जैन सुख आदि अनेक परिणाम स्वरूप होते हुए भी आत्मा को एक रूप मानते है। बौद्ध कहे कि चित्र ज्ञान मे एक साथ अनेक आकार होते है किन्तु आत्मा मे ऐसे युगपत् सुख-दु ख आदि परिणाम नही होते अत. कालभेद होने से चित्र ज्ञान और आत्मा मे समानता नही हो सकती सो ऐसी बात नही है, यहा तो प्रतीति ही नियामक है, अर्थात् जहा पर देश और काल भेद से भिन्न वस्तु मे या देश और काल के अभेद से अभिन्न वस्तु मे प्रतीति द्वारा एकत्व प्राप्त होता है वहा पर एकत्व मानना चाहिए और जहा पर प्रतीति द्वारा नानापना प्राप्त होता है वहा पर नानापना मानना चाहिए।

बौद्ध—द्रव्य और उसकी पर्याय या परिणाम इनमे सर्वात्मना अभेद है तो उसका विपक्षी जो भेद है वह कैसे सम्भव है क्योंकि एक काल मे परस्पर विरुद्ध

यत्प्रतिनियतमसाधारणमात्मस्वरूप तस्य न स्वभावाद्भेद: अभेदश्च द्रव्यपर्याययोरिति । किञ्च, पर्यायेभ्यो द्रव्यस्याभेद:, द्रव्यात्पर्यायाणा वा ? प्रथमपक्षे पर्यायवद्द्रव्यस्याप्यऽनेकत्वानुषङ्ग: । तथा हि-यद्व्यावृत्तिस्वरूपाऽभिन्नस्वभाव तद्व्यावृत्तिमत् यथा पर्यायाणा स्वरूपम्, व्यावृत्तिमद्रूपाव्यतिरिक्त च द्रव्यमिति । द्वितीयपक्षे तु पर्यायाणामप्येकत्वानुषङ्ग । तथाहि—यदनुगतस्वरूपाऽव्यतिरिक्त तदनुगतात्मकमेव यथा द्रव्यस्वरूपम्, अनुगतात्मस्वरूपाऽभिन्नस्वभावाश्च सुखादय पर्याया: इत्यादि;

तन्निरस्तम्; प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुरूपे कुचोद्याऽनवकाशात् । न खलु मदोन्मत्तो हस्ती सन्निहितम् व्यवहितं वा पर मारयति, सन्निहितस्य मारणे मेण्ठस्यापि मारणप्रसग· । व्यवहितस्य च

विधि प्रतिषेधो का होना अयुक्त है, अर्थात् भेद और अभेद होना युक्त नही है । अनुमान से सिद्ध है कि द्रव्य और पर्याय भिन्न नही है क्योकि उनमे अभेद माना है, जहा पर अभेद है वहा पर उससे विपरीत भेद नही रहता, जैसे उन पर्यायोका और द्रव्य का जो प्रतिनियत असाधारण निजी स्वरूप है उसका स्वभाव से भेद नही हुआ करता, जैन ने द्रव्य और पर्याय मे अभेद माना ही है, अत. उनमे अभेद ही रहेगा भेद नही रह सकता । दूसरी बात यह है कि जैन पर्यायो से द्रव्य का अभेद मानते है कि द्रव्य से पर्यायो का अभेद मानते है ? प्रथम पक्ष लेवे तो पर्यायो के समान द्रव्य को भी अनेक होने का प्रसग आता है । इसी का खुलासा करते है—जो व्यावृत्ति स्वरूप अभिन्न स्वभाव वाला है वह व्यावृत्तिमान ही है, जैसे कि पर्यायों का स्वरूप है, द्रव्य भी व्यावृत्तिमान रूप से अव्यतिरिक्त है इसलिये उसे अनेक माना जायगा । दूसरा पक्ष—द्रव्य से पर्यायो का अभेद है ऐसा माने तो सब पर्याये एक रूप को प्राप्त होगी, जो अनुगत स्वरूप होकर अव्यतिरिक्त रहता है वह अनुगतात्मक ही कहलाता है, जैसे द्रव्य स्वरूप अनुगतात्मक है, सुखादि पर्याये भी अनुगत स्वरूप अभिन्न स्वभाव वाली है अतः वे एकरूप है । इसतरह जैन मान्यता में भी दोष आते है ?

जैन—बौद्ध का यह कहना भी पूर्वोक्त रीत्या खण्डित हो जाता है, क्योकि प्रमाण से निश्चित हुए वस्तु स्वरूप मे कुचोद्योको अवकाश नही हुआ करता है, मदोन्मत्त हाथी के विषय मे कोई व्यर्थ के कुचोद्य उठावे कि मत्त हाथी निकटवर्ती को मारता है या दूरवर्ती को मारता है ? निकटवर्ती को मारता है ऐसा कहो तो

मारणेतिप्रसङ्ग, इत्यनर्थानल्पकल्पनाभयात् स्वकार्यकारणदुपरमते । चित्रज्ञानादावपि चैतत्सर्वं समानम् । प्रतिक्षिप्त च प्रतिक्षणं क्षणिकत्व प्रागित्यलमतिप्रसगेन ।

अथेदानी व्यतिरेकलक्षण विशेष व्याचिख्यासुरर्थान्तिरेत्याह—

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेकः गोमहिषादिवत् ।।१०।।

एकस्मादर्थात्सजातीयो विजातीयो वार्थोऽर्थान्तरम्, तद्गतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् । यथा गोषु खण्डमुण्डादिलक्षणो विसदृशपरिणाम, महिषेषु विशालविसङ्कटत्वलक्षण,

---

महावत को भी मारना चाहिए और यदि दूरवर्ती को मारता है तो उसे सबको ही मारना चाहिए इत्यादि बहुत प्रकार के व्यर्थ के प्रश्न एव कल्पना होने के प्रसग आते है अत द्रव्य और पर्याय के विषय मे व्यर्थ के प्रश्न नही करने चाहिए, मत्त हाथी तो अपना कार्य करने मे चूकता नही, कोई चाहे जितने प्रश्न उठा लो, वैसे ही द्रव्य और पर्याय कथञ्चित् भेदाभेद रूप प्रतीति सिद्ध है, इनके विषय मे बौद्ध चाहे जितने प्रश्न उठा लेवे, किन्तु इस वस्तु स्वरूप का अपलाप नही कर सकते । बौद्ध के चित्र ज्ञान में भी द्रव्य पर्याय के समान प्रश्न कर सकते है कि चित्र ज्ञान नील पीत आदि आकारो से सर्वात्मना अभिन्न है तो उनका विभिन्न प्रतिभास नही होना चाहिए इत्यादि, अत. प्रतीति के अनुसार ही वस्तु स्वरूप को स्वीकार करना होगा । आत्मा आदि पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट होते है इस सिद्धान्त का पहले खण्डन कर चुके है अत' यहा अधिक नही कहते है ।

इसप्रकार यहा तक विशेष का प्रथम भेद पर्यायविशेष का विवेचन किया प्रसगोपात्त आत्मा का अन्वयीपना अर्थात् आत्मद्रव्य कथचित् द्रव्यदृष्टि से अपनी सुखादि पर्यायो से अभिन्न है और कथचित् पर्यायदृष्टि से भिन्न भी है ऐसा सिद्ध किया, अब विशेष का द्वितीय भेद व्यतिरेक विशेष का व्याख्यान करते है—

अर्थातरगतो विसदृशपरिणामोव्यतिरेको गो महिषादिवत् ।।१०।।

सूत्रार्थ—विभिन्न पदार्थो मे होने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक विशेप कहते है, जैसे गाय, भैस आदि मे होने वाली विसदृशता विशेप कहलाती है उसीको व्यतिरेक विशेप कहते है ।

गोमहिषेषु चान्योन्यमसाधारणस्वरूपलक्षण इति । तावेवप्रकारौ सामान्यविशेषावात्मा यस्यार्थस्याऽसौ तथोक्तः । स प्रमाणस्य विषयः न तु केवल सामान्यं विशेषो वा, तस्य द्वितीयपरिच्छेदे 'विषयभेदात्-प्रमाणभेदः' इति सौगतमत प्रतिक्षिपता प्रतिक्षिप्तत्वात् । नाप्युभय स्वतन्त्रम्, तथाभूतस्यास्याप्य-प्रतिभासनात् ।

।। अन्वय्यात्मसिद्धिः समाप्तः ।।

एक कोई गाय आदि पदार्थ है उस पदार्थ से न्यारा सजातीय गाय आदि पदार्थ हो चाहे विजातीय भैंस आदि पदार्थ हो उन पदार्थो को अर्थान्तर कहते है, उनमे होने वाली विसदृशता या विलक्षणता ही व्यतिरेक विशेष कही जाती है, जैसे कि गाय भैंसादि मे हुआ करती है अर्थात् अनेक गो व्यक्तियो मे यह खण्डी गाय या बैल है, यह मुण्ड है (जिसका पैर आदि खण्डित हो वह गो खण्ड कहलाती है तथा जिसका सीग टूटा हो वह मुण्ड कहलाती है) इत्यादि विसदृशता का परिणाम दिखायी देता है और भैंसो मे यह बडी विशाल है, यह बहुत बडे सीग वाली है इत्यादि विसदृशता पायी जाती है, तथा गाय और भैंस आदि पशुओ मे परस्पर मे जो असाधारण स्वरूप है वही व्यतिरेक विशेप कहलाता है । इसप्रकार पूर्वोक्त सामान्य के दो भेद और यह विशेष के दो भेद ये सब पदार्थो मे पाये जाते है । अत. सामान्य और विशेष है स्वरूप जिसका उसे सामान्य विशेषात्मक कहते है । यह सामान्य विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विपय होता है, अकेला सामान्य या अकेला विशेष प्रमाण का विषय नही होता है । प्रमाण अकेले अकेले सामान्यादि को विषय कैसे नही करता इस बात का विवेचन दूसरे अध्याय मे प्रमेयभेदात् प्रमाणभेद माननेवाले बौद्ध का खण्डन करते हुए हो चुका है, अर्थात् सामान्य एक पृथक् पदार्थ है और उसका ग्राहक अनुमान या विकल्प है तथा विशेष एक पृथक् तथा वास्तविक कोई पदार्थ है और उसका ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण है इत्यादि सौगतीय मत पहले हो खण्डित हो चुका है अतः निश्चित होना है कि प्रत्येक पदार्थ स्वय सामान्य विशेषात्मक ही है । कोई कोई परवादी सामान्य और विशेष को एकत्र मानकर भी उन्हे स्वतन्त्र बतलाते है, सो वह भी गलत है, क्योंकि ऐसा प्रति-भास नही होता है ।

।। अन्वय्यात्मसिद्धि समाप्त ।।

अन्वय्यात्मसिद्धि का सारांश

बौद्ध एक अनादि नित्य आत्मा को नही मानते है उनका कहना है कि सुखादि पर्यायो को छोडकर अन्य आत्मा नामक नित्य वस्तु नही है, जो सुखादि पर्याये है वे सब क्षणिक है इसी तरह सभी अन्तरग वहिरग वस्तुये क्षणिक है यह सिद्ध होता है। इस मन्तव्य पर आचार्य कहते है कि जैसे आप एक ही चित्र ज्ञान मे अनेक नीलादि आकार मानते है वैसे एक आत्मा मे क्रम से सुखादि अनेक पर्याये हैं। यदि ये सुखादि पर्याये अत्यन्त भिन्न होती तो "पहले मैं सुखी था, अब दु खी हू" ऐसा जोड रूप ज्ञान नही हो पाता। जोड़ रूप ज्ञान वासना से होता है ऐसा कहना भी ठीक नही, यह वासना भी सुखादि से भिन्न होगी तो अन्य सतान के सुखादि की तरह इस सतान के सुखादि मे भी जोड नही कर सकती क्योकि वह तो दोनो से पृथक् है। वासना इन सुखादि पर्याय से कथचित् भिन्न है ऐसा कहो तो आपने आत्मा का ही वासना ऐसा दूसरा नाम रखा तथा आत्मा को एक अन्वयरूप नही माना जायगा तो कृत नाश और अकृताभ्यागम नामक अव्यवस्था करने वाला दोष आता है। अर्थात् जिस आत्मा ने कर्मबन्ध किया वह उसका फल नही भोगेगा और दूसरा उक्त फल को भोगेगा यह तो बडी भारी दोषास्पद बात है बताइये यदि धन कमाने वाले को उसका भोग करने को न मिले, याद करनेवाले विद्यार्थी को उसकी परीक्षा देकर उत्तीर्ण होने का आनन्द न मिले, प्रसव वेदना भोगने वाली स्त्री को पुत्र के पालन का अनुभव न आवे, तपस्या करनेवालो को स्वर्गापवर्गो का सुख न मिले तो वे सब व्यक्ति काहे को तपस्या अभ्यासादि करते हैं।

"प्रयोजन विना मन्दोपि न प्रवर्तते"

मैनें पहले जाना था, अभी मै जान रहा हूँ इत्यादि जोड़ ज्ञान का विषय कौनसी वस्तु होगी आत्मा या ज्ञान ? ज्ञान कहो तो वह कौनसा भूत क्षण का या वर्तमान क्षण का, अतीत क्षणवर्ती ज्ञान कहो तो वह सिर्फ "मैने जाना था" इतना ही कहेगा और वर्तमान का ज्ञान कहो तो वह "मै जानता हू" इतना ही कहेगा दोनो को कौन जाने ? अर्थात् किसी भी ज्ञान क्षण मे ऐसी सन्धान करने की शक्ति नही है। यदि आत्मा यह जोड करता है तो वाद विवाद ही समाप्त होता है फिर तो अन्वयी एक आत्मा सुखादि मे रहता है ऐसा सिद्ध होगा। द्रव्य से पर्यायें या पर्यायो से द्रव्य भिन्न है या अभिन्न है इत्यादि प्रश्न तो व्यर्थ के है। स्वभाव मे तर्क नही हुआ करते है 'जबकि वस्तु प्रतीति मे वैसे ही आ रही है तब उसमे क्या तर्क करना। वह तो अनुभव से निश्चित हो चुकी है, अतः प्रतीति का लोप न हो इस बात को लक्ष्य मे रखकर अन्वयी आत्मा द्रव्य को स्वीकार करना ही होगा। इसके लिए आपके यहा का चित्र ज्ञान का दृष्टान्त बहुत उपयोगी होगा अर्थात् जैसे आप चित्र ज्ञान को एक मानकर भी उसमे अनेक नीलादि आकार प्रतीत होना मानते है। वैसे ही एक अन्वयी आत्मा सुखादि अनेक अनुभवो मे रहता है ऐसा मानना चाहिए।

।। अन्वय्यात्मसिद्धि का सारांश समाप्त ।।

६

अर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्ववादः

ननु चार्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्वमयुक्तम्, तदात्मकत्वेनास्य ग्राहकप्रमाणाभावात्। सामान्यविशेषाकारयोश्चान्योन्य प्रतिभासभेदेनात्यन्त भेदात्। प्रयोग·—सामान्याकारविशेषाकारौ परस्परतोऽत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वाद्घटपटवत्। पटादौ हि भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वमत्यन्तभेदे

अब यहा पर पदार्थ के समान्य विशेषात्मक होने मे आपत्ति उठाकर उसमे वैशेषिक अपना लम्बा पक्ष उपस्थित करता है—

वैशेषिक—जैन ने प्रत्येक पदार्थ को सामान्य विशेषात्मक माना है वह अयुक्त है, क्योकि पदार्थ उस रूप है ऐसा जानने वाला कोई प्रमाण नही है। सामान्य और विशेष इन दोनो का परस्पर मे अत्यन्त भिन्न रूप से प्रतिभास होता है, अत इनमे भेद है। अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि सामान्य आकार और विशेप आकार परस्पर मे अत्यन्त भिन्न है, क्योकि भिन्न भिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्य है, जैसे घट और

सत्येवोपलब्धम्, तत् सामान्यविशेषाकारयोरुपलभ्यमान कथ नात्यन्तभेद प्रसाधयेत् ? अन्यत्राप्यस्य तदप्रसाधकत्वप्रसङ्गात् । न खलु प्रतिभासभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्चान्यत् पटादीनामप्यन्योन्यं भेद-निबन्धनमस्ति । स चावयवावयविनोर्गुणगुणिनो क्रियातद्वतोः सामान्यविशेषयोश्चास्त्येव । पट-प्रतिभासो हि तन्तुप्रतिभासवैलक्षण्येनानुभूयते, तन्तुप्रतिभासश्च पटप्रतिभासवैलक्षण्येन । एव पटप्रति-भासाद्रूपादिप्रतिभासवैलक्षण्यमप्यवगन्तव्यम् ।

विरुद्धधर्माध्यासोऽप्यनुभूयत एव, पटो हि पटत्वजातिसम्बन्धी विलक्षणार्थक्रियासम्पादकोऽति-शयेन महत्त्वयुक्तः, तन्तवस्तु तन्तुत्वजातिसम्बन्धिनोऽल्पपरिमाणाश्च, इति कथ न भिद्यन्ते ? तादात्म्य

पट विभिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्य होने से परस्पर मे अत्यन्त भिन्न है । पट आदि पदार्थो मे भिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्य होना अत्यत भेद होने पर ही दिखाई देता है अत सामान्य और विशेषाकार मे पाया जाने वाला भिन्न प्रमाण ग्राह्यपना उनके अत्यन्त भेद को कैसे नही सिद्ध करेगा, अर्थात् करेगा ही । यदि ऐसा नही माने तो पट आदि मे भी भेद सिद्ध नही हो सकेगा । घट, पट, गृह, जीव आदि पदार्थो मे प्रतिभास के भेद होने से ही भेद सिद्ध होता है, एवं विरुद्धधर्मत्व होने से भेद सिद्ध होता है, इनको छोडकर अन्य कोई कारण नही है । यह भेद प्रसाधक प्रतिभास अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान तथा समान्य और विशेषो मे पाया ही जाता है । इसी को बतलाते है—पट का जो प्रतिभास होता है वह ततु के प्रतिभास से विलक्षण रूप अनुभव मे आता है, एवं ततुओ का प्रतिभास पट प्रतिभास से विलक्षण अनुभव मे आता है, इसीप्रकार पट के प्रतिभास से पट का रूपत्व आदि का प्रतिभास विलक्षण होता है, इस प्रतिभास के विभिन्न होने से हो पट अवयवी और ततु अवयव इनमे अत्यन्त भेद माना जाता है तथा गुण रूपादि और गुणी पट इन दो मे भेद माना जाता है ।

पट और ततु आदि मे विरुद्ध धर्माध्यासपना भी भली प्रकार से अनुभव मे आता है, जो पट है वह अपने पटत्व जाति से सम्बद्ध है, विलक्षण अर्थक्रिया (शीत निवारणादि) को करनेवाला है, अतिशय महान है, और जो ततु है वे ततुत्व जाति से सम्बद्ध है एवं अल्प परिमाणवाले है, फिर इन पट और तन्तुओ मे किसप्रकार भेद नही होगा ? जैन पट और तन्तु या गुण और गुणी में तादात्म्य मानते है किन्तु

चैकत्वमुच्यते, तस्मिश्च सति प्रतिभासभेदो विरुद्धधर्माध्यासश्च न स्यात्, विभिन्नविषयत्वात्ततस्तयोः। यदि च तन्तुभ्यो नार्थान्तर पट ; तर्हि तन्तवोपि नाशुभ्योर्थान्तरम्, तेपि स्वावयवेभ्यः इत्येव तावच्चिन्त्यं यावन्निरंशा परमाणव, तेभ्यश्चाभेदे सर्वस्य कार्यस्यानुपलम्भः स्यात्। तस्मादर्थान्तरमेव पटात्तन्तवो रूपादयश्च प्रतिपत्तव्या।

तथा विभिन्नकर्तृकत्वात्तन्तुभ्यो भिन्न. पटो घटादिवत्। विभिन्नशक्तिकत्वाद्वा विषाऽगदवत्। पूर्वोत्तरकालभावित्वाद्वा पितापुत्रवत्। विभिन्नपरिमाणत्वाद्वा वदरामलकवत्।

तथा तन्तुपटादीना तादात्म्ये 'पट तन्तव' इति वचनभेद, 'पटस्य भाव. पटत्वम्' इति षष्ठी, तद्धितोत्पत्तिश्च न प्राप्नोतीति।

तादात्म्य तो एकत्व को कहते है यदि यह एकत्व पटादि मे होता तो भिन्न भिन्न प्रतिभास और विरुद्ध धर्माध्यास नही होता, क्योकि ये विभिन्न विषयवाले हुआ करते है। तथा यदि तन्तुओ से वस्त्र भिन्न नही है तो तन्तु भी अपने अवयव जो अश रूप हैं उनसे भिन्न नही रहेगे तथा वे अश भी अपने अवयवो से अभिन्न होगे, इसतरह जब तक निरश परमाणु रह जाते है तबतक अवयवो से अवयवी को अभिन्न बताते जाना। वे परमाणु भी अभिन्न है तो सब कार्य का अभाव हो जायेगा। इस आपत्ति को हटाने के लिये पट से तन्तु तथा रूपादि गुण भिन्न है ऐसा मानना चाहिए। तथा तन्तु और पट इन दोनो के कर्त्ता भी भिन्न-भिन्न हुआ करते है अत वे अत्यन्त भिन्न है, जैसे पट घट गृह विभिन्न कर्तृत्व के कारण अत्यन्त भिन्न है। तन्तुओ की शक्ति और वस्त्र की शक्ति पृथक्-पृथक् है इस कारण से भी दोनो भिन्न है, जैसे कि विष और औषधि मे पृथक्-पृथक् शक्ति रहने के कारण भिन्नता है, तन्तु और वस्त्र मे पूर्व तथा पश्चात् भावीपना होने के कारण भी विभिन्नता है, जैसे पिता और पुत्र मे पूर्वोत्तर काल भावीत्व होने से विभिन्नपना है। इन तन्तु और पट मे परिमाण अर्थात् माप भी अलग अलग है, तन्तु अल्प परिमाणवाले है और पट महान परिमाण वाला है अत इनमे वेर आवले की तरह भिन्नता है।

तन्तु और पट इत्यादि अवयव-अवयवी मे तादात्म्य माना जायगा तो पट ऐसा एक वचन और "तन्तव" ऐसा बहुवचन रूप निर्देश नही हो सकता, "पटस्यभाव

किञ्च 'तादात्म्यम्' इत्यत्र किं स पट आत्मा येषा तन्तूना तेषां भावस्तादात्म्यमिति विग्रहः कर्तव्यः, ते वा तन्तवः आत्मा यस्य पटस्य, स च ते आत्मा यस्येति वा ? प्रथमपक्षे पटस्यैकत्वात्तन्तूनामप्येकत्वप्रसङ्ग, तन्तूना वाऽनेकत्वात्पटस्याप्यनेकत्वानुषङ्गः। अन्यथा तत्तादात्म्य न स्यात्। द्वितीयविकल्पेप्ययमेव दोष। तृतीयपक्षश्चाविचारितरमणीयः, तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽसम्भवात्। न हि तन्तुपटव्यतिरिक्त वस्त्वन्तरमस्ति यस्य तन्तुपटस्वभावतोच्येत।

न च तन्तुपटादीना कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यम्, सशयादिदोषोपनिपातानुषङ्गात्। 'केन खलु स्वरूपेण तेषा भेद. केन चाभेदः' इति सशय। तथा 'यत्राभेदस्तत्र भेदस्य

पटत्व" ऐसी षष्ठी विभक्ति और तद्धित का त्व प्रत्यय भी आ नही सकता अतः इनमे अभेद मानना अशक्य है।

"तादात्म्यम्" इस पद का अर्थ भी किसप्रकार करना ? सः पट' स्वरूपयेषां-तेपा भावः वह पट है स्वरूप जिन ततुओ का वह तदात्म तथा तदात्म का भाव तादात्म्य, इसतरह का विग्रह है, अथवा वे तन्तु है स्वरूप जिस पट का, उसे तदात्म कहे, याकि वस्त्र और तन्तु है स्वरूप (आत्मा) जिसका उसे तदात्म कहते है ? प्रथमपक्ष कहो तो पट एक रूप होने से तन्तु भी एकरूप बन जायेगे, अथवा तन्तु अनेक होने से वस्त्र भो अनेक बन जायेगे ? क्योकि इनका परस्पर मे अभेद है, अन्यथा तन्तु और वस्त्र मे तादात्म्य नही माना जा सकता। द्वितीय पक्ष—तन्तु है स्वरूप जिस वस्त्र का उसे तदात्म कहते है और तदात्म का भाव ही तादात्म्य है ऐसा कहे तो यही दोप है कि वस्त्र अनेक रूप अथवा तन्तु एक रूप बन जाने का प्रसंग आता है। तीसरा पक्ष तो सर्वथा अविचारित रमणीय है क्योंकि वस्त्र और तन्तु को छोड़कर अन्य स्वरूप नही है। वस्त्र मे वस्त्रपना और तन्तु इनसे अतिरिक्त तीसरी वस्तु नही है जो इन दोनो का स्वभावपना बने।

यदि तन्तु और वस्त्र इत्यादि पदार्थो मे कथचित भेद और कथंचित अभेद मानते है, तो इस पक्ष मे सशय, अभाव आदि दोप आते हैं, आगे इसी का खुलासा करते है—भेदाभेदात्मक वस्तु मे असाधारण आकार से निश्चय नही हो सकने के कारण किस स्वरूप से भेद है और किस स्वरूप से अभेद है ऐसा संशय होता है।

विरोधो यत्र च भेदस्तत्राभेदस्य शीतोष्णस्पर्शवत्' इति विरोधः। तथा—'अभेदस्यैकत्वस्वभावस्यान्यदधिकरणं भेदस्य चानेकस्वभावस्यान्यत्' इति वैयधिकरण्यम्। तथा 'एकान्तेनैकात्मकत्वे यो दोषोऽनेकस्वभावत्वाभावलक्षणोऽनेकात्मकत्वे चैकस्वभावत्वाभावलक्षणः सोऽत्राप्यनुषज्यते' इत्युभयदोषः। तथा 'यन स्वभावेनार्थस्यैकस्वभावता तेनानेकस्वभावत्वस्यापि प्रसङ्ग, येन चानेकस्वभावता तेनैकस्वभावत्वस्यापि' इति सङ्करप्रसङ्ग। "सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सकर" [ ] इत्यभिधानात्। तथा 'येन स्वभावेनानेकत्वं तेनैकत्वं प्राप्नोति येन चैकत्वं तेनानेकत्वम्' इति व्यतिकर। "परस्परविषयगमन व्यतिकर" [ ] इति प्रसिद्धेः। तथा 'येन रूपेण भेदस्तेन कथञ्चिद्भेदो येन चाभेदस्तेनापि कथञ्चिदभेदः' इत्यनवस्था। अतोऽप्रतिपत्तितोऽभावस्तत्त्वस्यानुषज्येतानेकान्तवादिनाम्। एवं सत्त्वाद्यनेकान्ताभ्युपगमेप्येतेऽष्टौ दोषा द्रष्टव्या। तन्न तदात्मार्थं प्रमाणप्रमेय।

तथा जहा अभेद है वही भेद का विरोध है और जहा भेद है वहा अभेद के रहने मे विरोध है जैसे कि शीत और उष्ण का विरोध है। अभेद तो एक स्वभावी होने से अन्य अधिकरण भूत है और भेद अनेक स्वभावी होने से अन्य अधिकरण वाला है यह वैयधिकरण्य दोष है। तथा पट आदि वस्तु को सर्वथा एकात्मक मानते है तो अनेक स्वभाव का अभाव होना रूप दोप आता है और सर्वथा अनेकात्मक माने तो एक स्वभाव का अभाव होना रूप दोप आता है, इसतरह उभयदोष आता है (यह दोष वैयधिकरण्य नामा दोष मे अन्तर्निहित है) जिस स्वभाव से एक स्वभावपना है उस स्वभाव से अनेक स्वभावपने का भी प्रसङ्ग आता है एव जिस स्वभाव से अनेक स्वभावपना है उस स्वभाव से एक स्वभावपना भी हो सकने से सकर नामा दूषण आता है, "सर्वेषा युगपत् प्राप्ति सकरः" ऐसा सकर दोष का लक्षण है, जिस स्वभाव से अनेकत्व है उससे एकत्व प्राप्त होता है और जिससे एकत्व है उससे अनेकत्व प्राप्त है अत व्यतिकर दोप उपस्थित होता है, "परस्परविषयगमन व्यतिकर" ऐसा व्यतिकर दोष का लक्षण है। तथा जिस रूप से भेद है उससे कथचित भेद है और जिस रूप से अभेद है उससे कथचित अभेद है सो यह अनवस्था नामा दोष आया। इसतरह वस्तु के स्वरूप की अप्रतिपत्ति होने से उसका अत मे जाकर अभाव ही हो जाता है, इसप्रकार अनेकान्तवादी जैन के यहा माने हुए तत्व मे सशयादि आठो दूपण आते है। इसीतरह वस्तु को कथचित सत् और कथचित असत् रूप मानने मे ये ही आठ दोष आते है, अत सामान्यविशेपात्मक पदार्थ प्रमाण द्वारा ग्राह्य नही होता है।

किन्तु परस्परतोऽत्यन्तविभिन्ना द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षडेव पदार्थाः। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव द्रव्याणि। पृथिव्यप्तेजोवायुरित्येतच्चतुष्टयं द्रव्यं नित्यानित्यविकल्पाद्द्विभेदम्। तत्र परमाणुरूपं नित्यं सदकारणवत्त्वात्। तदारब्धं तु द्व्यणुकादि कार्यद्रव्यमनित्यम्। आकाशादिकं तु नित्यमेवानुत्पत्तिमत्त्वात् एषां च द्रव्यत्वाभिसम्बन्धाद्द्रव्यरूपता।

एतच्चेतरव्यवच्छेदकमेषां लक्षणम्; तथाहि-पृथिव्यादीनि मनःपर्यन्तानीतरेभ्यो भिद्यन्ते, 'द्रव्याणि' इति व्यवहर्त्तव्यानि, द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात्, यानि नैवं न तानि द्रव्यत्वाभिसम्बन्धवन्ति यथा गुणादीनीति। पृथिव्यादीनामप्यवान्तरभेदवतां पृथिवीत्वाद्यभिसम्बन्धो लक्षणम् इतरेभ्यो भेदे

हम नैयायिक वैशेषिक के यहां वस्तु तत्व की एक विभिन्न ही व्यवस्था है प्रत्येक पदार्थ परस्पर मे अत्यन्त विभिन्न है, उस पदार्थ के द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामा छह भेद है अर्थात् छह ही पदार्थ प्रमाण ग्राह्य हैं। इन छह पदार्थों मे से द्रव्य नामा पदार्थ नौ भेद को लिये हुए है—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। इन नौ मे भी जो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु है वे चारो द्रव्य नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार के है, परमाणु नामा द्रव्य तो नित्य, सत् और अकारणत्व रूप है अर्थात् इन पृथिवी आदि चारो द्रव्यो के चार प्रकार के जो परमाणु हैं वे सदा नित्य सत् एवं अकारण हुआ करते है तथा परमाणुओ से बना जो द्वयणुक, त्रिअणुक आदि कार्य है वह अनित्य है। इन पृथिवी आदि चारो को छोडकर शेष पांच आकाशादि द्रव्य सर्वथा नित्य ही है अर्थात् ये दो प्रकार के नही है, एक नित्य स्वभावी ही है, क्योंकि ये अनुत्पत्तिमान है इन सब द्रव्यो में द्रव्यत्व के संबंध से द्रव्यपना हुआ करता है। इन पृथिवी आदि नौ

व्यवहारे तच्छब्दवाच्यत्वे वा साध्ये केवलव्यतिरेकिरूप द्रष्टव्यम् । अभेदवता त्वाकाशकालदिग्द्रव्याणामनादिसिद्धा तच्छब्दवाच्यता द्रष्टव्या ।

एव रूपादयश्चतुर्विंशतिगुणाः । उत्क्षेपणादीनि पञ्च कर्माणि । परापरभेदभिन्न द्विविध सामान्यम् अनुगतज्ञानकारणम् । नित्यद्रव्यव्यावृ (व्यव्)त्तयोऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः । अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदमितिप्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्ध॰ स समवायः ।

अत्र पदार्थषट्के द्रव्यवद्गुणा अपि केचिन्नित्या एव केचित्त्वनित्या एव । कर्माऽनित्यमेव । सामान्यविशेषसमवायास्तु नित्या एवेति ।

व्यवहृत होता है क्योकि इसमे पृथिवीत्व का ही सम्बन्ध है, इत्यादि केवल व्यतिरेकी अनुमान लगा लेना चाहिए । आकाश, दिशा और काल इन अभेद वाले द्रव्यो की तो अनादि सिद्ध ही तत् शब्द वाच्यता है अर्थात् इनमे किसी सबध से नाम निर्देश न होकर स्वय अनादि से वे उन नामो से कहे जाते है ।

इसीतरह द्रव्य के अनन्तर कहा गया जो गुण नामा पदार्थ है उसके चौबीस रूप, रस आदि भेद है, उत्क्षेपण आदि कर्म नामा पदार्थ पाच प्रकार का है । पर सामान्य और अपर सामान्य ऐसे सामान्य के दो भेद है । यह सामान्य नामा पदार्थ अनुगत प्रत्यय का कारण है । जो नित्य द्रव्यो मे रहते है, अन्त्य है, अत्यन्त पृथक्पने का ज्ञान कराते है वे विशेष नामा पदार्थ है । अयुत सिद्ध आधार्य और आधारभूत वस्तुओ मे "यहा पर यह है" इसप्रकार की इह इद बुद्धि को कराने मे जो कारण है उस सम्बन्ध को समवाय नामा पदार्थ कहते है । इन छह पदार्थो मे से जो द्रव्य नामा पदार्थ है उसमे रहनेवाले गुण होते है वे कोई तो नित्य ही है और कोई अनित्य ही है । कर्म नामा पदार्थ सर्वथा अनित्य ही है । सामान्य, विशेष एव समवाय ये तीनो सर्वथा नित्य ही है । इसप्रकार हम वैशेषिक के यहा प्रमाण ग्राह्य पदार्थों की व्यवस्थिति है ।

जैन—अब यहा पर वैशेपिक के मन्तव्य का निरसन किया जाता है, अनेक धर्मात्मक वस्तु को ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाण नही है, ऐसा आपने कहा किन्तु यह असिद्ध है, प्रमाण से सिद्ध करते है कि अनेक धर्मात्मक पदार्थ ही वास्तविक है क्योकि

अत्र प्रतिविधीयते । अनेकधर्मात्मकत्वेनार्थस्य ग्राहकप्रमाणाभावोऽसिद्धः, तथाहि—वास्तवानेकधर्मात्मकोर्थः, परस्परविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वात्, पितृपुत्रपौत्रभ्रातृभागिनेयाद्यनेकार्थक्रियाकारिदेवदत्तवत् । न चायमसिद्धो हेतुः, आत्मनो मनोज्ञाङ्गनानिरीक्षणस्पर्शनमधुरध्वनिश्रवणताम्बूलादिरसास्वादनकर्पूरादिगन्धाघ्राणमनोज्ञवचनोच्चारणचङ्क्रमणावस्थानहर्षविषादानुवृत्तव्यावृत्तज्ञानाद्यन्योन्यविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वेन अध्यक्षतोनुभवात् । घटादेश्च स्वान्यव्यक्तिप्रदेशाद्यपेक्षयानुवृत्तव्यावृत्तसदसत्प्रत्ययस्थानगमनजलधारणादिपरस्परविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वेन प्रत्यक्षतः प्रतीतेरिति । दृष्टान्तोऽपि न साध्यसाधनविकलः; वास्तवानेकधर्मात्मकत्वाऽन्योन्यविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वयोस्तत्र सद्भावात् ।

उसमे परस्पर विलक्षण ऐसी अनेक प्रकार की अर्थ क्रिया हो रही है, जैसे एक ही देवदत्त नामा पुरुष मे परस्पर विरुद्ध ऐसी पिता, पुत्र, पौत्र, भाई, भानजा इत्यादि अनेक प्रकार की अर्थक्रिया हुआ करती है। यह अनेक अर्थक्रियाकारित्व हेतु असिद्ध भी नही है, क्योकि सुन्दर स्त्री को देखना, स्पर्श करना, उसके मधुर शब्द सुनना, ताबूल आदि रस्व का आस्वादन, कपूर आदि का गन्ध लेना, मनोज्ञ वचनालाप कहना, घूमना, स्थित होना, हर्ष और विषाद युक्त होना अनुवृत्त एव व्यावृत्त ज्ञानयुक्त होना इत्यादि परस्पर मे विलक्षण अनेक अर्थ क्रियाये आत्मा मे होती हुई प्रत्यक्ष से प्रतीत हो रही है।

इसीप्रकार घट आदि मे स्वप्रदेश की अपेक्षा अनुवृत्त प्रत्यय होना, पर प्रदेश की अपेक्षा व्यावृत्त प्रत्यय होना अर्थात् घट स्वस्थान मे अस्तितत्व का बोध कराता है एवं पर स्थान मे जहा घट का अभाव है वहा नास्तित्व का बोध कराता है, एक स्थान पर स्थित होना, जल लाने के लिये व्यक्ति के हाथ से गमन करना, जल को धारण करना इत्यादि परस्पर मे विलक्षण ऐसी अर्थ क्रियाये होती हुई प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत हो रही है तथा उपर्युक्त अर्थक्रियाकारित्व हेतु वाले अनुमान मे प्रदत्त देवदत्तवत् दृष्टान्त भी साध्य साधन रहित नही है, क्योकि उसमे वास्तविक अनेक धर्मात्मकपना और परस्पर विलक्षण अर्थक्रियाकारित्व इन दोनो का सद्भाव पाया जाता है।

शंका—धर्म और धर्मी ये दो भिन्न-भिन्न प्रमाणो द्वारा ग्राह्य होने से इनमे अत्यन्त भेद प्रसिद्ध होता है, अत. एक धर्मी मे वास्तविक अनेक धर्म भले ही सिद्ध हो किन्तु उनका तादात्म्य तो सिद्ध नही हो सकता ?

ननु भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वेन धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदप्रसिद्धेः सिद्धेपि धर्मिणि वास्तवानेकधर्माणां सद्भावे तादात्म्याप्रसिद्धिः, इत्यप्यसमीचीनम्, अनैकान्तिकत्वाद्धेतोः, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां हि भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वेप्यात्मादिवस्तुनो भेदाभाव, दूरेतरदेशवर्त्तिनामस्पष्टेतरप्रत्ययग्राह्यत्वेपि वा पादपस्याऽभेदः। ननु चात्र प्रत्ययभेदाद्विषयभेदोऽस्त्येव, प्रथमसमयवर्ति हि विज्ञानमूर्द्ध्वताविषयमुत्तर च शाखादिविशेषविषयम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्, एवविषयभेदाभ्युपगमे 'यमहमद्राक्षं दूरस्थित' पादपमेतर्हि तमेव पश्यामि' इत्येकत्वाध्यवसायो न स्यात्, स्पष्टेतरप्रतिभासाना सामान्यविशेषविषयत्वेन घटादिप्रतिभासवद्भिन्नविषयत्वात्। अथ पादपापेक्षया पूर्वोत्तरप्रत्ययानामेकविषयत्व सामान्य-

---

समाधान—यह शका व्यर्थ है, धर्म और धर्मी भिन्न-भिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्य है ऐसा कहना अनेकान्तिक है (अर्थात् तन्तु पट आदि पदार्थ सर्वथा भिन्न है क्योकि ये भिन्न प्रमाण ग्राह्य है, ऐसा "भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व" हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास रूप होता है) आत्मा आदि पदार्थ स्वानुभव प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण ऐसे भिन्न दो प्रमाणो द्वारा ग्रहण मे आते है तो भी उनमे भेद नही है तथा और भी उदाहरण है कि एक वृक्ष दूर मे स्थित पुरुषो को अस्पष्ट और निकट मे स्थित पुरुषो को स्पष्ट ज्ञान द्वारा ग्राह्य होता है तो भी उसमे अभेद है।

शका—यह वृक्ष का उदाहरण ठीक नही, इसमे ज्ञान के भेद से विषय मे भी भेद सिद्ध होता है, कैसे सो बताते है कोई पुरुष पहले दूर से जो वृक्ष का ज्ञान करता है वह ज्ञान तो ऊर्ध्वता—ऊचाई को विषय करनेवाला है और आगे निकट जाने पर जो ज्ञान होता है उसका विषय शाखा, पत्र आदि है, अत प्रमाण भेद से विषय भेद सिद्ध ही होता है अभिप्राय यह है कि जो भिन्न प्रमाण ग्राह्य है वह भिन्न है ऐसा वैशेषिक का कथन ठीक ही है ?

समाधान—यह बात गलत है, इस तरह विषय भेद स्वीकार करेगे तो दूर मे स्थित हुए मैंने जिस वृक्ष को देखा था उसी को अब देख रहा हू इसप्रकार का उस वृक्ष मे एकपने का निश्चय नही हो सकेगा। क्योकि स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभासरूप ज्ञानो का सामान्य और विशेष रूप भिन्न विषय मान लिया है। जैसे घट आदि के प्रतिभासो के भिन्न विषय माने जाते है।

विशेषापेक्षया तु विषयभेदः; कथमेवमेकान्ताभ्युपगमो न विशीर्यंत ? गुणगुण्यादिष्वप्यतस्तद्वत्कथञ्चिद्भेदाभेदप्रसिद्धे भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वस्य विरुद्धत्वम् ।

एकान्ततोऽवयवावयव्यादीना भिन्नप्रमाणग्राह्यत्व चासिद्धम्; 'पटोयम्' इत्याद्युल्लेखेनाभिन्नप्रमाणग्राह्यत्वस्यापि सम्भवात् । ननु 'पटोयम्' इत्याद्युल्लेखेनावयव्येत्र प्रतिभासते नावयवास्तत्कथमभिन्नप्रमाणग्राह्यत्वम्; इत्यप्यपेशलम्, तद्भेदाप्रसिद्धेः । तन्तव एव ह्यातानवितानीभूता अवस्थाविशेषविशिष्टाः 'पटोयम्' इत्याद्युल्लेखेन प्रतिभासन्ते नान्यस्ततोर्थान्तर पट· । प्रमाण हि यथाविध

शंका—वृक्ष की अपेक्षा उन पूर्वोत्तरवर्ती ज्ञानो मे एक विषयपना है किन्तु सामान्य और विशेष की अपेक्षा तो विषय भेद है ?

समाधान—तो फिर आपका वह एकान्त आग्रह कैसे नही खण्डित होगा कि जिनमें भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व है वे सर्वथा भिन्न ही है । गुण और गुणी इत्यादि वस्तुओं मे भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व होता है तो भी वे कथंचित भेदाभेदात्मक हुआ करते है, अत· जिनमे भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व हो वे सर्वथा भिन्न है ऐसा हेतु विरुद्ध पडता है । वैशेषिक ने तन्तु और वस्त्र आदि अवयव अवयवी मे एकान्त से भिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्यपना बतलाया किन्तु यह असिद्ध है "पटोऽयम्" यह पट है, इसप्रकार के एक ही प्रमाण द्वारा अवयव और अवयवो का (तन्तु और वस्त्र) ज्ञान होता देखा जाता है ।

शंका—"पटोऽय" यह पट है इत्यादि उल्लेखी जो ज्ञान है वह केवल अवयवी का प्रतिभास कराता है न कि अवयवो का, अतः अवयवी आदि अभिन्न एक प्रमाण द्वारा ग्राह्य कहा हुए ?

समाधान—यह बात असत् है, अवयव और अवयवी मे भेद की सिद्धि नही है, जो तन्तु रूप अवयव होते है वे ही आतान वितानरूप होकर (लंबे चौड़े होकर) अवस्थाविशेप वाले हो जाते है तो यह वस्त्र है इस तरह के उल्लेख से प्रतीत होते है, इन तन्तुओ से पृथक् पट नही है, प्रमाण जिस तरह से वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करता है उसीतरह से उसके स्वरूप को मानना चाहिए, जहा पर अत्यन्त भेद को ग्रहण करता है वहां पर अत्यन्त भेद मानना होगा, जैसे घट और पट मे अत्यन्त भेद है । तथा जहां पर प्रमाण कथञ्चित भेद को ग्रहण करता है वहा पर कथंचित भेद मानना

वस्तुस्वरूप गृह्णाति तथाविधमेवाभ्युपगन्तव्यम्, यत्रात्यन्तभेदग्राहकं तत्रात्यन्तभेदो यथा घटपटादौ, यत्र पुनः कथचिद्भेदग्राहक तत्र कथचिद्भेदो यथा तन्तुपटादाविति ।

अतः कालात्ययापदिष्ट चेदं साधन यथानुष्णोग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् । न च घटादौ तथाविधभेदेनास्य व्याप्त्युपलम्भात्सर्वत्रात्यन्तभेदकल्पना युक्ता: क्वचित्तार्णत्वादिविशेषाधारेणाग्निना धूमस्य व्याप्त्युपलम्भेन सर्वत्राप्यतस्तथाविधविशेषसिद्धिप्रसङ्गात् । अथ तार्णत्वादिविशेष परित्यज्य सकलविशेषसाधारणमग्निमात्र धूमात्प्रसाध्यते । नन्वेवमत्यन्तभेद परित्यज्यावयवावयव्यादिष्वपि भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वाद्भेदमात्र कि न प्रसाध्यते विशेषाभावात् ?

होगा, जैसे तन्तु और वस्त्र मे कथचित् भेद दिखायी देता है अत इनमे कथचित भेद मान सकते है, सर्वथा नही । इसप्रकार अवयव अवयवी आदि मे सर्वथा भेद है ऐसा कहना बाधित होने से "भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वात्" हेतु कालात्ययापदिष्ट भी हो जाता है, अग्नि ठडी है, क्योकि वह द्रव्य है, इसतरह के अनुमान मे जैसे द्रव्यत्वात् हेतु कालात्ययापदिष्ट होता है वैसे ही भिन्न प्रमाणग्राह्यत्व हेतु है । घट पट आदि पदार्थो मे भी अत्यन्त भेद सिद्ध नही है, जिससे कि उनमे अत्यन्त भेद की व्याप्ति देखकर सब जगह तन्तु वस्त्रादि मे भी अत्यन्त भेद की कल्पना कर सके । यदि ऐसी कल्पना करते है तो कही-कही तृण की आदि विशेष आधार वाली अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति देखी जाती है उसे देख अन्य सब जगह भी अग्नि के साथ वैसी व्याप्ति करनी होगी ? किन्तु ऐसा नही है ।

शंका—तृणो की अग्नि, कडे की अग्नि इत्यादि विशेष को छोडकर सम्पूर्ण विशेषो मे रहनेवाली साधारण अग्निमात्र को ही धूमहेतु से सिद्ध किया जाता है ?

समाधान—बिलकुल इसीतरह अवयव अवयवी आदि मे अत्यन्त भेद को छोडकर भिन्नप्रमाणग्राह्यत्व हेतु द्वारा भेद मात्र को क्यो न सिद्ध किया जाय ? उभयत्र समानता है, कोई विशेषता नही है ।

अवयवी अवयव आदि मे अत्यन्त भेद सिद्ध करने के लिये घट पटवत् ऐसा दृष्टान्त दिया है वह भी साध्य विकल होने से कार्यकारी नही है, क्योकि घट और पट मे भी अत्यन्त भेद सिद्ध नही है, उनमे कथचित ही भेद सिद्ध होता है, कैसे सो

दृष्टान्तश्च साध्यविकलत्वान्न साधनाङ्गम् अत्यन्तभेदस्यात्राप्यसिद्धेः । तदसिद्धिश्च सद्रूपतया घटादीनामभेदात् । साधनविकलश्च, स्फारिताक्षस्यैकस्मिन्नप्यध्यक्षे घटादीना प्रतिभाससम्भवात् । न च प्रतिविषय विज्ञानभेदोभ्युपगन्तव्यः; मेचकज्ञानाभावप्रसङ्गात् । घटादिवस्तुनोप्येकविज्ञानविषयत्वाभावानुषङ्गाच्च; अत्राप्यूर्द्ध्वाधोमध्यभागेषु तद्भेदस्य कल्पयितु शक्यत्वात् । तथा चावयविप्रसिद्धये दत्तो जलाञ्जलि । प्रतीतिविरोधोन्यत्रापि न काकैर्भक्षितः ।

विरुद्धधर्माध्यासोपि धूमादिनानैकान्तिकत्वान्नावयवावयविनोरात्यन्तिक भेद प्रसाधयति । न खलु स्वसाध्येतरयोर्गमकत्वागमकत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेपि धूमो भिद्यते । नन्वत्रापि सामग्री-

---

बताते है—घट सत्‌रूप है और पट भी सत्‌रूप है, इस सत्व की अपेक्षा घट और पट मे भेद नही है । तथा यह घट पटवत् दृष्टान्त साधन विकल (हेतु के धर्म से रहित) भी है, आख खोलते ही एक साथ एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान मे घट पट आदि अनेक पदार्थो का प्रतिभास होता हुआ देखा जाता है, अतः घटादिक भिन्नप्रमाणग्राह्य ही है ऐसा सिद्ध नही होता । वैशेषिक प्रत्येक विषय मे भिन्न-भिन्न ही ज्ञान होते है ऐसा मानते है किन्तु वह ठीक नही है, यदि ऐसा मानेंगे तो मेचकज्ञान (अनेक वर्ण हरित, पीत आदि का चितकबरा ज्ञान) का अभाव होगा, क्योकि उस एक ही ज्ञान में अनेक विषय है । तथा घट आदि वस्तु भी एक ज्ञान का विषय नही हो सकेगी, क्योकि इसमे भी ऊपर का भाग, मध्य भाग, अधोभाग इसतरह भिन्न भिन्न विषय की कल्पना कर सकते है और कह सकते है कि एक ही ज्ञान इन तीन भागो को नही जान सकता उनमे से प्रत्येक के लिये पृथक्-पृथक् ज्ञान चाहिये इत्यादि । इसतरह तो आप वैशेषिक को अवयवी की प्रसिद्धि के लिये जलाजलि देनी पडेगी । अर्थात् एक ज्ञान से अवयवी का ग्रहण नही हो सकने से उसका अभाव ही होवेगा । यदि कहा जाय कि एक ही घट आदि अवयवी मे और उसके ग्राहक ज्ञान मे भेद मानने मे प्रतीति से विरोध आता है तो यही बात घट और पट अथवा तन्तु और पट आदि में है, वे भी एक ज्ञान द्वारा साक्षात् प्रतीत हो रहे है, उनको भी भिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्य मानना प्रतीति से विरुद्ध होता है ।

अवयव और अवयवी मे विरुद्ध धर्माध्यास होने से अत्यन्त भेद है ऐसा वैशेषिक ने कहा किन्तु वह विरुद्ध धर्माध्यास हेतु भी धूमादि हेतु से अनैकान्तिक होता

भेदोस्त्येव—धूमस्य हि पक्षधर्मत्वादिकारणोपचितस्य स्वसाध्य प्रति गमकत्वम्, तद्विपरीतकारणोपचितस्य सामग्रचन्तरत्वात्साध्यान्तरेऽगमकत्वम्, न त्वेकस्यैव गमकत्वागमकत्व सम्भवति; इत्यप्यन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायेनानेकान्तावलम्बनम्; धूमस्याभिन्नत्वात् । य एव हि धूमोऽविनाभावसम्बन्धस्मरणादिकारणोपचितो वन्हि प्रति गमकः स एव साध्यान्तरेऽगमक इति । अथान्य स्वसाध्य प्रति गमकोऽन्यश्चान्यत्रागमक , तर्हि यो गमको धूमस्तस्य स्वसाध्यवत्साध्यान्तरेपि सामर्थ्यादेकस्मादेव धूमान्निखिलसाध्यसिद्धिप्रसङ्गाद्धे त्वन्तरोपन्यासो व्यर्थ स्यात् ।

है अत उससे अवयव और अवयवी मे अत्यन्त भेद सिद्ध करना शक्य नही, इसीका खुलासा करते है— धूम नामा हेतु मे अपने साध्य को (अग्नि) सिद्ध करना और इतर (जल) को सिद्ध नही करना इसप्रकार विरुद्ध दो धर्म होते है तो भी उसमें भेद नही है ।

वैशेषिक—धूम आदि हेतुओ मे भी सामग्री की भेद से भेद होता है, पक्ष धर्मत्वादिकारण युक्त होने से तो वह धूम स्वसाध्य का गमक बनता है और इससे विपरीत विपक्ष व्यावृत्तिरूप कारण सामग्री युक्त होने से अन्य साध्य जो जलादिक है उसका अगमक बनता है, एक मे ही गमकत्व और अगमकत्व नही रहता है ।

जैन—यह तो अन्ध सर्प बिल प्रवेश न्याय से अनेकान्त का अवलम्बन ही हुआ अर्थात् जैसे अन्धा सर्प चीटी आदि के भय से बिल को छोड़कर इधर उधर घूमता है और पुन. उसी बिल मे घुस जाता है, वैसे आपने पहले तो अवयव अवयवी आदि मे एकपना हो जाने के भय से भिन्नता स्वीकार की और पुन॰ धूम मे विभिन्न सामग्री मानकर भी एकपना स्वीकार किया । धूम एक है । वही अविनाभावी सबध का स्मरण होना इत्यादि कारणयुक्त हुआ अग्नि के प्रति तो गमक बन जाता है और अन्य साध्य–जलादि के प्रति अगमक होता है, इसतरह धूम तो वह का वही है ।

वैशेषिक—जो स्वसाध्य का गमक होता है वह धूम पृथक् है और अन्यत्र जो अगमक होता है वह धूम पृथक् है ।

जैन—तो इसका मतलब यह हुआ कि धूम हेतु मे अगमक नामा धर्म नही है, यदि ऐसा है तो वह जैसे अपने साध्य का गमक है वैसे सब अन्य-अन्य साध्यो का

किञ्च, अतोऽप्राप्तपटावस्थेभ्यः प्राक्तनावस्थाविशिष्टेभ्यस्तन्तुभ्यः पटस्य भेदः साध्येत, पटावस्थाभाविभ्यो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, पूर्वोत्तरावस्थयो सकलभावाना भेदाभ्युपगमात् । न खलु यैवार्थस्य पूर्वावस्था सैवोत्तरावस्था पूर्वाकारपरित्यागेनैवोत्तराकारोत्पत्तिप्रतीतेः । द्वितीयपक्षे तु हेतूनामसिद्धिः; न खलु पटावस्थाभावितन्तुभ्यः पटस्य भेदाप्रसिद्धौ विरुद्धधर्माध्यासविभिन्नकर्तृक-त्वादयो धर्माः सिद्धिमासादयन्ति । कालात्ययापदिष्टत्व चैतेषाम्, आतानवितानीभूततन्तुव्यति-रेकेणार्थान्तरभूतस्य पटस्याध्यक्षेणानुपलब्धेस्तेन भेदपक्षस्य बाधितत्वात् ।

(जल, पट, घट) भी गमक बन जायेगा, फिर एक ही हेतु से सम्पूर्ण साध्यो की सिद्धि हो सकेगी, अन्य-अन्य हेतु को ग्रहण करना व्यर्थ हो जायेगा ।

दूसरी बात यह है कि विरुद्धधर्मता होने से पट और तन्तुओ मे भेद सिद्ध करते है, सो कौनसे तन्तुओ से पट का भेद सिद्ध करना है, जो अभी पट की अवस्था को प्राप्त नही हुए है ऐसे पहले की अपनी पृथक्-पृथक् अवस्था वाले तन्तुओ से पट न्यारा है याकि जो पट मे अवस्थित हो चुके है ऐसे तन्तुओ से पट न्यारा है । यदि पहले पक्ष की बात कहो तो सिद्ध साध्यता है क्योकि पूर्व अवस्था और उत्तर अवस्था इनमे तो सम्पूर्ण पदार्थ पृथक ही हुआ करते है । ऐसा नही है कि पदार्थ की जो पूर्व अवस्था है वही उत्तर मे होती है, वस्तु अपने पूर्व आकार का त्याग करके ही उत्तर आकार को प्राप्त होती है । पट मे स्थित तन्तुओ से पट की पृथक्ता है ऐसा दूसरा पक्ष कहे तो हेतुओ की असिद्धि साक्षात् दिखाई दे रही है । पट मे लगे हुए तन्तु पट से भिन्न नही है, वे तो उसी मे अभिन्न प्रतीत हो रहे है, अतः पट से तन्तुओ को भिन्न सिद्ध करने के लिए दिये गये विरुद्ध धर्माध्यासत्व विभिन्न कर्तृकत्व आदि हेतु सिद्ध नही होते है । विरुद्ध धर्माध्यासत्व आदि वैशेषिक कथित हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष युक्त भी है, क्योकि इनका पक्ष प्रत्यक्ष बाधित है, अर्थात् पट से तन्तु सर्वथा पृथक् है क्योकि पट महा परिमाण आदि धर्म वाला है और तन्तु अल्प परिमाण आदि धर्म-वाले है अत. विरुद्ध धर्म होने से ये दोनो पृथक् माने जाते है, ऐसा वैशेषिक ने अनुमान कहा किन्तु पट से तन्तु पृथक् दिखायी नही देते वे आतान वितानीभूत होकर पटमय ही प्रतीत होते है, तन्तुओ का आतान आदिरूप सन्निवेश छोड अन्य पट नामा पदार्थ दिखायी नही देता, अत विरुद्ध धर्माध्यासत्वादि हेतु सदोषबाधित पक्ष वाले है ।

'तन्तवः पट' इति सञ्ज्ञाभेदोऽप्यवस्थाभेदनिबन्धनो न पुनर्द्रव्यान्तरनिमित्त । योषिदादिकरव्यापारोत्पन्ना हि तन्तवः कुविन्दादिव्यापारात्पूर्वं शीतापनोदाद्यर्थासमर्थास्तन्तुव्यपदेशं लभन्ते, तद्व्यापारात्तूत्तरकाल विशिष्टावस्थाप्राप्तास्तत्समर्था. पटव्यपदेशमिति ।

विभिन्नशक्तिकत्वाद्यप्यवस्थाभदमेव तन्तूना प्रसाधयति न त्ववयवावयवित्वेनात्यन्तिक भेदम् ।

यच्चोक्तम्—'पटस्य भाव ' इत्यभेदे षष्ठी न प्राप्नोतीति, तदप्ययुक्तम्, 'षण्णा पदार्थानामस्तित्वम्, षण्णा पदार्थाना वर्ग.' इत्यादौ भेदाभावेपि षष्ठ्याद्युत्पत्तिप्रतीते. । न हि भवता

"तन्तव , पट " इत्यादि नाम भेद तो अवस्था के भेद के कारण होता है, न कि भिन्न-भिन्न द्रव्यो के कारण । स्त्री आदि के हाथो के व्यापार–चरखा चलना आदि क्रिया से तन्तु–सूत उत्पन्न होते है, वे जब तक जुलाहा आदि के हाथो मे जाकर ताना बाना आदि रूप से बुने नही जाते तब तक तन्तु नाम को पाते है, और शीत, गरमी आदि की बाधा दूर करने मे असमर्थ रहते है, जब वे जुलाहा आदि द्वारा बुने जाकर आगे विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होते है तव वे शीत बाधा दूर करने आदि मे समर्थ होकर "पट" ऐसा नाम पाते है । पट मे भिन्न शक्ति है और तन्तुओ मे भिन्न शक्ति है अत. दोनो सर्वथा भिन्न है ऐसा वैशेषिक ने कहा सो यह भेद अवस्था भेद के कारण ही है, इससे अवयव और अवयवी स्वरूप, तन्तु और वस्त्र आदि मे सर्वथा भेद सिद्ध नही हो सकता है ।

वैशेषिक ने कहा कि यदि वस्त्र और तन्तु आदि मे सर्वथा भेद नही मानेगे तो "पटस्य भावः पटत्व" इत्यादि षष्ठी विभक्ति एव तद्धितका "त्व" प्रत्यय नही बन सकता इत्यादि सो बात अयुक्त है, छह पदार्थो का (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय) अस्तित्व है, छह पदार्थो का वर्ग है इत्यादि वाक्यो मे छह पदार्थ और उनका अस्तित्व भिन्न नही होते हुए भी षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त हुई है । आपने द्रव्य आदि छहो पदार्थो के अतिरिक्त अस्तित्वादि स्वीकार नही किया है जिससे षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त होती ।

वैशेषिक—जो सत्‌रूप होता है वह ज्ञापक प्रमाण का विषय हुआ करता है, उस सत का जो भाव है वह सत्व कहलाता है जो कि सत्ता ग्राहक प्रमाण का

षट्पदार्थव्यतिरिक्तमस्तित्वादीष्यते। ननु सतो ज्ञापकप्रमाणविषयस्य भावः सत्त्वम्–सदुपलम्भकप्रमाणविषयत्व नाम धर्मान्तर पण्णामस्तित्वमिष्यते, अतो नानेनानेकान्तः; तदसत्, षट्पदार्थसंख्याव्याघातानुषङ्गात्, तस्य तेभ्योन्यत्वात्। ननु धर्मिरूपा एव ये भावास्ते षट्पदार्था· प्रोक्ताः, धर्मरूपास्तु तद्व्यतिरिक्ता इष्टा एव। तथा च पदार्थप्रवेशकग्रन्थ.—"एव धर्मैविना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः" [प्रशस्तपादभा० पृ० १५] इति।

अस्त्वेव तथाप्यस्तित्वादेर्धर्मस्य षट्पदार्थैः सार्धं कः सम्बन्धो येन तत्तेषा धर्म स्यात्–सयोग, समवायो वा? न तावत्संयोगः; अस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्। नापि समवाय; तस्यैकत्वेनेष्ट-

---

विषय है यह धर्मान्तरभूत सत्त्व छह पदार्थो का अस्तित्व है, अतः "षण्णा पदार्थानां अस्तित्व" इत्यादि वाक्य के साथ हमारा कथन अनैकान्तिक नही होता, अर्थात् जहां षष्ठी विभक्ति होती है वहा पदार्थो मे अत्यन्त भेद सिद्ध होता है ऐसा हमने कहा है वह षण्णा पदार्थानामस्तित्व इत्यादि वाक्य से व्यभिचरित नही है, क्योकि यहा भी छह पदार्थ और अस्तित्व भिन्न माने है अत· षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

जैन—यह कथन अयुक्त है, इसतरह कहोगे तो आपके छह पदार्थो की सख्या का व्याघात होता है, क्योकि सत्त्व को छह पदार्थों से पृथक् मान लिया।

वैशेषिक—धर्मी स्वरूप जो पदार्थ है वे छह ही है किन्तु अस्तित्व आदि धर्म रूप पदार्थ तो इन छहो से अतिरिक्त भी स्वीकार किये है, पदार्थ प्रवेशक ग्रन्थ में भी कहा है कि "एव धर्मैविना धर्मिणा एव निर्देशः कृत." धर्मो का निर्देष न कर केवल धर्मी पदार्थो का ही निर्देश किया है इत्यादि।

जैन—ऐसा होवे तथापि अस्तित्वादि धर्म का षट् पदार्थो के साथ कौनसा सम्बन्ध है, जिस सम्बन्ध से वे धर्म उनके कहलाते है, सयोग संबध है या समवाय सम्बन्ध है? सयोग तो कह नही सकते, क्योकि सयोग को गुण रूप मानकर उसका आश्रय केवल द्रव्यो मे बतलाया जाता है। अस्तित्वादि धर्म का पदार्थ रूप धर्मी के साथ समवाय सम्बन्ध है ऐसा दूसरा विकल्प भी उचित नही, क्योकि समवाय को आपने एक रूप माना है, यदि अस्तित्व धर्म का समवाय सबंध से धर्मी मे रहना स्वीकार करेंगे तो समवाय अनेक रूप बन जायेगे। सम्बन्ध के बिना ही पदार्थ और

त्वात् । समवायेन चास्य समवायसम्बन्धे समवायानेकत्वप्रसग: । सम्बन्धमन्तरेण धर्मधर्मिभावाभ्युपगमे चातिप्रसग· ।

किञ्च, अस्तित्वादेरपरास्तित्वाभावात्कथं तत्र व्यतिरेकनिबन्धना विभक्तिर्भवेत् ? अथ तत्राप्यपरमस्तित्वमगीक्रियते तदानवस्था स्यात् । उत्तरोत्तरधर्मसमावेशेन च सत्त्वादेर्धर्मिरूपत्वानुषगात् 'षडेव धर्मिण.' इत्यस्य व्याघात. । 'ये धर्मिरूपा एव ते षट्केनावधारिता ' इत्यप्यसारम्; एव हि गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानामनिर्देश स्यात् । न ह्येषा धर्मिरूपत्वमेव; द्रव्याश्रितत्वेन धर्मरूपत्वस्यापि सम्भवात् ।

तथा 'खस्य भाव खत्वम्' इत्यत्राभेदेपि तद्धितोत्पत्तेरुपलम्भान्न सापि भेदपक्षमेवावलम्बते ।

अस्तित्व आदि मे धर्मी धर्म भाव माने तो अति प्रसग होवेगा, फिर तो आकाशकुसुम और अस्तित्व आदि मे भी धर्मी धर्मपना हो सकेगा ।

दूसरी बात यह है कि जहा षष्ठी विभक्ति होती है वहा अत्यन्त भेद होता है ऐसा सर्वथा माने तो "अस्ति इति एतस्य भावः अस्तित्व" इत्यादि मे षष्ठी विभक्ति परकत्व प्रत्यय नही होगा, क्योकि अस्ति मे अस्तित्व का अभाव है । तथा अस्तित्व आदि धर्म मे पुन अन्य अस्तित्व स्वीकार कर लेते है तो अनवस्था होगी । दूसरा दोष यह होगा कि अस्तित्व मे अन्य अस्तित्व मानने पर पूर्व के अस्तित्व को धर्मी मानना होगा, इसतरह उत्तरोत्तर धर्म का समावेश होने से सत्त्वादिक धर्मी बनेंगे, फिर तो छह पदार्थ ही धर्मी कहलाते है, ऐसा आपका कहना खण्डित होगा ।

वैशेषिक—जो केवल धर्मी रूप ही है धर्म रूप नही है, वे पदार्थ छह ही हैं ऐसा हमने अवधारण किया है, अत. कोई दोष नही है ।

जैन—यह भी असार है, ऐसा कहने से गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इनका निर्देश नही हो सकेगा, क्योकि गुण आदि पाचो पदार्थ केवल धर्मीरूप से स्वीकार नही किये जा सकते, वे द्रव्य के आश्रय मे रहने के कारण धर्मरूप भी होते है, न कि सर्वथा धर्मीरूप । तद्धित का प्रत्यय भेद मे ही होता है ऐसा ऐकान्तिक कहना भी गलत है, "खस्यभाव खत्वे" इत्यादि पद मे अभेद होते हुए भी तद्धित की उत्पत्ति देखी जाती है ।

यच्चोक्तम्–'तादात्म्यमित्यत्र कीदृशो विग्रह: कर्तव्य:' इत्यादि; तत्रेत्थ विग्रहो द्रष्टव्य:–तस्य वस्तुन आत्मानौ द्रव्यपर्यायौ सत्त्वासत्त्वादिधर्मौ वा तदात्मानौ, तच्छब्देन वस्तुन: परामर्शात्, तयोर्भावस्तादात्म्यम्–भेदाभेदात्मकत्वम् । वस्तुनो हि भेद: पर्यायरूपतैव, अभेदस्तु द्रव्यरूपत्वमेव, भेदाभेदौ तु द्रव्यपर्यायस्वभावावेव । न खलु द्रव्यमात्र पर्यायमात्र वा वस्तु; उभयात्मन: समुदायस्य वस्तुत्वात् । द्रव्यपर्याययोस्तु न वस्तुत्व नाप्यवस्तुता; किन्तु वस्त्वेकदेशता । यथा समुद्राशो न समुद्रो नाप्यसमुद्र , किन्तु समुद्रैकदेश इति ।

'स पट आत्मा येषाम्' इत्यपि विग्रहे न दोष:, अवस्थाविशेषा, पेक्षया तन्तूनामेकत्वस्याभीष्टत्वात् ।

'ते तन्तव आत्मा यस्य इति विग्रहे तन्तूनामनेकत्वे पटस्याप्यनेकत्व स्यादिति चेत्; किमिद तस्यानेकत्व नाम–किमनेकावयवात्मकत्वम्, प्रतितन्तु तत्प्रसङ्गो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता; आता-

---

वैशेषिक ने प्रश्न किया था कि "तादात्म्य" पद का विग्रह किस तरह करना चाहिये इत्यादि, सो उसका उत्तर यह है कि "तस्य वस्तुन:" आत्मानौ–द्रव्यपर्यायौ सत्वा सत्वादि धर्मौ वा तदात्मानौ तयोर्भाव तादात्म्यम्" तत् मायने वस्तु या पदार्थ, आत्मा मायने उस वस्तु का स्वरूप, अर्थात् द्रव्यपर्याय अथवा सत्व आदि धर्मो को आत्म या स्वरूप कहते है उस वस्तु स्वरूप का जो भाव है वह तादात्म्य कहलाता है, कथचित् भेदाभेदात्मकपना होने को भी तादात्म्य कहते है, क्योकि पर्यायपने से वस्तु में भेद है और द्रव्यपने से अभेद है, द्रव्य और पर्याय स्वभाव ही भेदाभेदरूप हुआ करते है, वस्तु न द्रव्यमात्र है और न पर्यायमात्र ही है, किन्तु उभयात्मक समुदाय ही वस्तु है । द्रव्य और पर्याय को अकेले अकेले को वस्तु नही कहते न अवस्तु ही कहते है किन्तु वस्तु को एक देश कहते है, जैसे समुद्र का अंश न समुद्र है और न असमुद्र ही है किन्तु समुद्र का एक देश है ।

"स: पट: आत्मा येषा" इत्यादि रूप तादात्म्य शब्द का विग्रह करो तो भी कोई दोष नही है, क्योकि तन्तुओं मे अवस्था विशेष की अपेक्षा कथंचित् एकपना भी माना जाता है ।

"ते तन्तव. आत्मा यस्य" इसतरह तादात्म्य पद का विग्रह करे तो तन्तु अनेक रूप होने से वस्त्र भी अनेक रूप बन जायगा ऐसी कोई शका करे तो उस व्यक्ति

नवितानीभूतानेकतन्त्वाद्यवयवात्मकत्वात्तस्य । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः, प्रत्येक तेषा तत्परिणामाभावात् । सुमुदितानामेव ह्यातानवितानीभूत: परिणामोऽमीषा प्रतीयते, तथाभूताश्च ते पटस्यात्मेत्युच्यते ।

वस्तुनो भेदाभेदात्मकत्वे सशयादिदोषानुषगोऽयुक्त, भेदाभेदाऽप्रतीतौ हि सशयो युक्त, क्वचित्स्थाणुपुरुषत्वाप्रतीतौ तत्सशयवत् । तत्प्रतीतौ तु कथमसौ स्थाणुपुरुषप्रतीतौ तत्सशयवदेव? चलिता च प्रतीति' सशय:, न चेय तथेति ।

से हम जैन पूछते है कि अनेक रूप होवेगे इसका क्या अर्थ है अनेक अवयव रूप होना या प्रत्येक तन्तु पट बन जाना ? अनेक अवयवात्मक होने को अनेकपना कहते है तो सिद्ध साध्यता है, क्योकि आतान वितान भूत हुए (बने हुए) अनेक तन्तु आदि अवयव स्वरूप ही पटादि वस्तु हुआ करती है । प्रत्येक तन्तु पट रूप बन जाना अनेकत्व है ऐसा कहना तो अयुक्त है, क्या प्रत्येक तन्तु पट जितने मापवाले दिखाई देते है ? अर्थात् नही दिखाई देते । समुदित हुए तन्तुओ का जो आतान वितानभाव है वही पट रूप प्रतीत होता है, इसतरह का तन्तुओ का अवस्थान होना ही "ते पटस्य आत्मा" वे तन्तु पट का स्वरूप है, ऐसा हम कहते हैं ।

वस्तु को भेदाभेदात्मक माने तो संशय, विरोध आदि दोष आते हैं ऐसा कहना अयुक्त है, यदि वस्तु मे भेदाभेदपना प्रतीत नही होता तब तो कह सकते थे कि उस स्वरूप मे सशय है जैसे कही स्थाणु और पुरुषत्व की प्रतीति नही होने से सशय हो जाया करता है । जब वस्तु मे भेदाभेदपना प्रतीत हो रहा है तब कैसे संशय होवेगा ? क्या स्थाणु और पुरुष के प्रतीत होने पर सशय होता है ? अर्थात् नही होता है । चलित प्रतिभास को सशय कहते है, ऐसा प्रतिभास तो यहा है नही ।

भेद और अभेद का परस्पर मे विरोध भी नही है, जिसप्रकार वस्तु मे अर्पित की अपेक्षा सत्व और असत्व का रहना विरुद्ध नही है अर्थात् वस्तु अपने धर्म की अपेक्षा सत्वरूप और पर की अपेक्षा असत्वरूप कहलाती है वैसे ही द्रव्य की अपेक्षा अभेदरूप और पर्याय की अपेक्षा भेदरूप कहलाती है अत. भेदाभेदात्मक होने मे कोई विरोध नही है । तथा ऐसी प्रतीति ही आ रही है, प्रतीत होने पर विरोध किस प्रकार होवेगा ? विरोध तो अनुपलम्भ साध्य है—वैसा उपलब्ध न होता तो विरोध आता है।

न चानयोर्विरोधः; कथञ्चिदर्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोरिव भेदाभेदयोर्विरोधासिद्धेः, तथाप्रतीतेश्च। प्रतीयमानयोश्च कथं विरोधो नामास्यानुपलम्भसाध्यत्वात् ? न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोऽस्ति। न खलु वस्तुनः सर्वथा भाव एव स्वरूपम्, स्वरूपेणेव पररूपेणापि भावप्रसंगात्। नाप्यभाव एव; पररूपेणेव स्वरूपेणाप्यभावप्रसगात्।

न च स्वरूपेण भाव एव पररूपेणाभावः, परात्मना चाभाव एव स्वरूपेण भावः, तदपेक्षणीयनिमित्तभेदात्, स्वद्रव्यादिक हि निमित्तमपेक्ष्य भावप्रत्ययं जनयत्यर्थं परद्रव्यादिक त्वपेक्ष्याऽभावप्रत्ययम् इति एकत्वद्वित्वादिसख्यावदेव वस्तुनि भावाभावयोर्भेदः। न ह्येकत्र द्रव्ये द्रव्यान्तरमपेक्ष्य

वस्तु मे स्वस्वरूपादि की अपेक्षा सत्व मानने पर उसी वक्त पररूपादि की अपेक्षा असत्व मानने का अनुपलम्भ नही है। वस्तु का स्वरूप सर्वथा भावरूप ही नही हुआ करता, यदि सर्वथा भावरूप वस्तु है तो स्वरूप के समान पररूप से भी वह भावरूप–अस्तित्वरूप बन जायगी ? (फिर तो वह विवक्षित वस्तु घट पट गृह आदि सब रूप कहलाने लगेगी) तथा वस्तु सर्वथा अभावरूप भी नही है, यदि होती तो पर के समान स्वस्वरूप से भी वह अभावात्मक बनती।

विशेषार्थः—वैशेपिक अवयव–अवयवी, गुण-गुणी इत्यादि मे सर्वथा भेद मानता है, उसका कहना है कि इन अवयव अवयवी आदि मे विरुद्ध धर्म पाये जाते है अर्थात् अवयव का धर्म अलग है और अवयवी का अलग, जैसे तन्तु अवयवों का धागेरूप अल्प परिमाणरूप रहना धर्म है अर्थात् स्वरूप है तथा वस्त्र अवयवी का विस्तार रूप रहना इत्यादि धर्म है अत. इनमे सर्वथा भेद है, तथा इनमे अर्थक्रिया भी पृथक् होती है, सख्या भी पृथक् है, भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व भी है, इत्यादि कारणो से अवयव अवयवी आदि पदार्थ आपस मे सर्वथा भेद रूप ही होते है। जैन इस मत का क्रमशः खण्डन करते चले आये है, अवयव अवयवी आदि में भेद है वह कथञ्चित् ही है यदि सर्वथा भेद होता तो घट और पट के समान तन्तु और वस्त्र रूप अवयव अवयवी पृथक्-पृथक् दिखाई देते। तन्तुओ का अल्प परिमाण रहना आदि तो पट रूप बनने के पहले की बात है, तन्तुओ को आतान आदि रूप करके वस्त्र बनने के बाद वे स्वयं भी वस्त्ररूप प्रतीत होने लगते है। भिन्न-भिन्न प्रमाण से तन्तु पट आदि ग्रहण होते हैं अतः भिन्न है ऐसा कहना तो बिलकुल हास्यास्पद है, एक ही पदार्थ प्रत्यक्ष, अनुमान

द्वित्वादिसख्या प्रकाशमाना स्वात्ममात्रापेक्षैकत्वसख्यातो नान्या प्रतीयते। नापि सोभयी तद्वतो भिन्नैव; अस्याऽसख्येयत्वप्रसंगात्। सख्यासमवायात्तत्त्वम्; इत्यप्यसुन्दरम्; कथञ्चित्तादात्म्यव्यतिरिक्तस्य समवायस्यासत्त्वप्रतिपादनात्। तत्सिद्धोऽपेक्षणीयभेदात्सख्यावत्सत्त्वासत्त्वयोर्भेद। तथाभूतयोश्चानयोरेकवस्तुनिप्रतीयमानत्वात्कथ विरोध: द्रव्यपर्यायरूपत्वादिना भेदाभेदयोर्वा? मिथ्येय प्रतीति; इत्यप्यसगतम्, बाधकाभावात्। विरोधो बाधक; इत्यप्ययुक्तम्; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्–सति हि विरोधे तेनास्याबाध्यमानत्वान्मिथ्यात्वसिद्धि, ततश्च तद्विरोधसिद्धिरिति।

आदि अनेको प्रमाणो द्वारा ग्रहण मे आता है, किन्तु इतने मात्र से उसमे भेद नही माना जाता, एक ही वृक्ष दूर से अस्पष्ट ज्ञान से ग्रहण होता है और निकटता से स्पष्ट ज्ञान द्वारा ग्रहण मे आता है, पर्वत पर होने वाली अग्नि प्रथम धूम हेतु से अनुमान प्रमाण द्वारा ग्राह्य होती है एव वही पुन: पर्वत पर जाकर प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ग्राह्य हो जाती है, सो क्या इन वृक्ष और अग्नि मे भेद है? अर्थात् नही, इसलिये भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व हेतु गुण गुणी आदि मे सर्वथा भेद सिद्ध नही कर सकता, जैन गुण गुणी अवयवी आदि पदार्थों मे कथचित् भेद और कथचित् अभेद मानते है, द्रव्य दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ अभेदरूप है और वही पदार्थ पर्याय दृष्टि से भेदरूप है। वैशेषिक का यह हटाग्रह है कि पदार्थ या तो भावरूप (अस्तित्व) है या सर्वथा अभावरूप है, सो बात गलत है, पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सद्भाव–अस्तित्व या सत्वरूप है, किन्तु पर द्रव्यादि की अपेक्षा से वैसा नही है, अपितु परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा वह अभाव–नास्ति या असत्वरूप ही है, यदि ऐसा न माना जाय तो एक पट नामा पदार्थ जैसे अपने पटपने है वैसे घटपने, गृहपने भी है, सबमे पट मौजूद है ऐसा मानना पडेगा जो कि प्रतीति विरुद्ध है, तथा वह पट यदि सर्वथा अभावरूप है तो स्वस्वरूप से भी रहित होवेगा। एक ही वस्तु मे अस्ति नास्ति, भेद अभेद, नित्य अनित्य, एक अनेक इत्यादि विरोधी धर्म साक्षात् प्रतीति मे आते है अत. उनको उसीतरह मानना चाहिये। विरोध तब होता है जब वस्तु वैसी प्रतिभासित न होवे।

वस्तु मे जो स्वरूप से सद्भाव है वही पररूप से अभाव नही कहलाता, तथा जो पररूप से अभाव है वही स्वरूप से सद्भाव नही होता, किन्तु इनमे अपेक्षा के निमित्त से भेद हुआ करता है, सो अपेक्षा ही बतलाई जाती है—स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा लेकर पदार्थ सद्भावरूप ज्ञान को उत्पन्न कराते हैं, और परद्रव्यादि चतुष्टय की

विरोधश्च अविकलकारणस्यैकस्य भवतो द्वितीयसन्निधानेऽभावादवसीयते। न च भेदसन्निधानेऽभेदस्याऽभेदसन्निधाने वा भेदस्याभावोऽनुभूयते ।

किंच, अत्र विरोधः सहानवस्थानलक्षणः परस्परपरिहारस्थितिस्वभावो वा, वध्यघातकरूपो वा स्यात् ? न तावत्सहानवस्थानलक्षणः, अन्योन्याव्यवच्छेदेनैकस्मिन्नाधारे भेदाभेदयोर्धर्मयो' सत्त्वा-

---

अपेक्षा से अभावरूप ज्ञान को उत्पन्न कराते है, जैसे कि एकत्व और द्वित्व आदि संख्या स्व अपेक्षा एकत्वरूप है और पर अपेक्षा द्वित्व है, ऐसे ही वस्तु मे भाव और अभाव मे भेद हुआ करता है (स्व अपेक्षा भाव और पर अपेक्षा अभाव) द्वित्व आदि सख्या एक द्रव्य मे रहकर अन्य द्रव्य की अपेक्षा लेकर प्रकाशमान होती है वह अपने स्वरूप की अपेक्षा से एकत्व सख्या से अन्य प्रतीत नही है, तथा द्वित्व और एकत्व दोनों संख्या भी सख्यवान पदार्थ से सर्वथा भिन्न नही है, अन्यथा इसके असख्येयपने का प्रसग प्राप्त होगा ।

वैशेषिक—संख्यावान मे संख्या का समवाय होने से संख्येयत्व हुआ करता है ?

जैन—यह बात असत् है, कथचित् तादात्म्य को छोड़कर अन्य समवाय नामा पदार्थ नही है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाले है । अतः जैसे अपेक्षणीय पदार्थ के भेद से संख्या मे भेद होता है वैसे ही सत्व और असत्व मे अपेक्षा करने योग्य पदार्थ के भेद होने से कथचित् भिन्नता हुआ करती है ऐसा सिद्ध हुआ । जब इसप्रकार के सत्व और असत्व की वस्तु मे प्रतीति आ रही है तब किसप्रकार विरोध आवेगा । अथवा द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से वस्तु मे कथचित् अभेद और भेद प्रतीत हो रहा तब कैसे विरोध आवेगा ? अर्थात् नही आवेगा ।

वैशेषिक—वस्तु मे जो सत्व और असत्व एवं भेद और अभेद प्रतीत होता है वह मिथ्या है ?

जैन—यह बात असगत है, क्योकि वस्तु मे सत्व और असत्व आदि की प्रतीति होने मे कोई बाधा नही आती है ।

वैशेषिक—विरोध है यही तो बाधा या वाधक है ।

सत्त्वयोर्वा प्रतिभासमानत्वात् । परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोधः सहैकत्राम्रफलादौ रूपरसयो-रिवानयोः सम्भवतोरेव स्यान्न त्वसम्भवतो सम्भवदसम्भवतोर्वा ।

किञ्च, अय विरोधो धर्मयो., [धर्म] धर्मिणोर्वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्, एतल्ल-क्षणत्वाद् धर्माणाम् । ऐकाधिकरण्य तु तेषा न विरुध्यते मातुलिंगद्रव्ये रूपादिवत् । धर्मधर्मिणोस्तु

जैन—यह अयुक्त है, इस तरह कहो तो इतरेतराश्रय नामा दोष आयेगा। जब सत्व और असत्व मे एकत्र रहने का विरोध सिद्ध होगा तब उसके द्वारा इस सत्व असत्व की बाध्यमानता होने से मिथ्यापन की सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर उस बाधकत्व से विरोध की सिद्धि होवेगी, इस तरह दोनो असिद्ध ही रह जायेंगे।

जहा पर अविकल एक कारण के होते हुए अन्य दूसरे के सन्निधान होने पर उसका अभाव हो जाता है वहा पर निश्चय होता है कि इन दोनो का एकत्र रहने मे विरोध है, जैसे शीत के रहते हुए वहा उष्णता आते ही शीतता का अभाव होने से दोनो का विरोध निश्चित होता है, किन्तु ऐसा विरोध–भेद के सन्निधान मे अभेद का अभाव या अभेद के सन्निधान मे भेद का अभाव होना, दिखायी नही देता।

किंच, वैशेषिक भेद और अभेद मे विरोध होना बताते हैं सो कौनसा विरोध है, सहानवस्थालक्षणविरोध है, या परस्पर परिहार स्थिति लक्षण, अथवा बध्यघातक नामा विरोध है ? सहानवस्था नामा विरोध हो नही सकता, क्योकि एक ही वस्तु मे एक दूसरे का व्यवच्छेद किये बिना ही भेद और अभेद धर्म या सत्व और असत्व धर्म रहते हुए साक्षात् दिखायी दे रहे है। परस्पर परिहार स्थिति लक्षणवाला विरोध तो एक साथ एक आम्रफल आदि वस्तु मे रूप तथा रस के समान विद्यमान वस्तुओ मे ही हुआ करता है अर्थात् दोनो एकत्र एक साथ रहते हुए भी परिहार करके रहते हैं किन्तु एकत्र रहते अवश्य है, जो असभव स्वरूप है ऐसे *शशविषाण और अश्वविषाण* मे परस्पर परिहार स्थिति लक्षणविरोध नही होता और न सभव असभव रूप वध्या पुत्र और अवध्यापुत्र मे होता है। अभिप्राय यह हुआ कि परस्पर परिहार स्थितिवाला विरोध विद्यमानो मे ही होता है न कि अविद्यमानो मे, या विद्यमान-अविद्यमानो मे तथा विरोध जो होता है वह दो धर्मो मे होता है, या धर्म और धर्मी मे होता है।

विरोधे धर्मिणि धर्माणा प्रतीतिरेव न स्यात्, न चैवम्, अबाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वात्तत्र तेषाम्। वध्यघातकभावोपि विरोध. फणिनकुलयोरिव बलवदबलवतो: प्रतीत: सत्वासत्त्वयोर्भेदाभेदयोर्वा नाशङ्कनीय:; तयो: समानबलत्वात् ।

अस्तु वा कश्चिद्विरोध., तथाप्यसौ सर्वथा, कथचिद्वा स्यात् ? न तावत्सर्वथा, शीतोष्ण-स्पर्शादीनामपि सत्त्वादिना विरोधासिद्धे: । एकाधारतया चैकस्मिन्नपि हि धूपदहनादिभाजने क्वचित्प्रदेशे शीतस्पर्श. क्वचिच्चोष्णस्पर्श: प्रतीयत एव । अथानयो प्रदेशयोर्भेद एवेष्यते, अस्तु नामान-

---

दो धर्मो में होता है कहो तो सिद्ध साधन है, क्योंकि धर्मोका यही लक्षण है कि परस्पर का परिहार करके रहना, किन्तु इन धर्मो का एक ही वस्तुभूत आधार मे रहना विरुद्ध नही है, जैसे कि एक ही बिजौरे आदि मे रूप रस आदि रहते है । तथा धर्म और धर्मी में विरोध होता है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो बड़ी भारी आपत्ति आवेगी, फिर तो धर्मी मे धर्म प्रतीत ही नही हो पायेंगे, किन्तु ऐसी बात नही है, धर्मी मे ही धर्मो की प्रतीति होती हुई अबाधित ज्ञान में प्रतिभासित हो रही है, बध्यघातक नामका तीसरा विरोध भी सर्प और नेवले के समान बलवान और अबलवान मे होता है, अर्थात् एक बलवान हो और दूसरा कमजोर हो तो उनमे से बलवान कमजोर को नष्ट करता हुआ प्रतीत होता है और उनमे बध्यघातक विरोध माना जाता है, किन्तु ऐसा विरोध भेद और अभेद, अथवा सत्व और असत्व में नही है, क्योंकि वे दोनो समान बलवाले है ।

मान लेवे कि भेद अभेदादि मे कोई विरोध है, किन्तु वह सर्वथा है या कथंचित् है ? सर्वथा कह नही सकते, शीत उष्ण आदि विरुद्ध कहलानेवाले स्पर्श भी एक साथ एक जगह सत्वादि की अपेक्षा रहते हुए दिखाई देते है, अत. उनमे विरोध सिद्ध नही होता, अर्थात् शीत स्पर्श सत्‌रूप है, उष्ण स्पर्श सत्‌रूप है, इत्यादि सत् की अपेक्षा दोनो मे समानता है . तथा शीत और उष्ण एक आधार मे भी उपलब्ध होते है, एक ही धूपदान मे कही तो उष्णता है और किसी भाग मे शीतता है, यह साक्षात् प्रतीत होता है । अत. इनमे सर्वथा विरोध नही मान सकते ।

वैशेषिक—यह धूपदहन का उदाहरण गलत है, यहा अलग-अलग प्रदेश विभाग की अपेक्षा से शीत और उष्ण स्पर्श रहा करते है ।

योर्भेद, धूपदहनाद्यवयविनस्तु न भेदः। न चास्य शीतोष्णस्पर्शाधारता नास्तीत्यभिधातव्यम्, प्रत्यक्षविरोधात्। तन्न सर्वथा विरोधः। कथञ्चिद्विरोधस्तु सर्वत्र समानः।

किंच, भावेभ्योऽभिन्नः, भिन्नो वा विरोधः स्यात्? न तावत्तेभ्योऽभिन्नो विरोधो विरोधको युक्त, स्वात्मभूतत्वात्तत्स्वरूपवत्, विपर्ययानुषगो वा। अथ भिन्नः, तथापि न विरोधक., अनात्मभूतत्वादर्थान्तरवत्। अथार्थान्तरभूतोपि विरोधो विरोधको भावाना विशेषणभूतत्वात्, न पुनर्भावा-

---

जैन—ठीक है, किन्तु प्रदेश विभाग होकर भी धूपदहनरूप अवयवी तो एक ही है! यह एक ही धूपदहनरूप वस्तु शीत और उष्ण स्पर्श का आधार नही है ऐसा तो कोई कह नही सकता, क्योकि ऐसा कहने मे साक्षात् विरोध दिखाई देता है। अत. भेदाभेद, सत्वासत्व आदि मे सर्वथा विरोध मानना असिद्ध है। इन भेद और अभेद आदि मे कथचित् विरोध है, ऐसा दूसरा विकल्प कहो तब तो कोई बात नही, ऐसा विरोध तो भेद अभेद मे ही क्या घट पट आदि मे भी हुआ ही करता है।

यह भी बताना चाहिये कि पदार्थों से विरोध भिन्न होता है या अभिन्न? अभिन्न तो हो नही सकता, जो अभिन्नरूप है वह उस वस्तु का स्वरूप ही है, फिर वह कैसे विरोधक होवेगा? यदि जो वस्तु से अभिन्न है, वह भी विरोधक होता है तब तो वस्तु का स्वरूप भी उसका विरोधक बन जायेगा। क्योकि जैसे वस्तु से अभिन्न रहकर विरोध ने वस्तु का विरोध किया वैसे वस्तु का स्वरूप भी उससे अभिन्न होने से विरोधक हो सकेगा। यदि दूसरा पक्ष कहा जाय कि पदार्थों से विरोध भिन्न है तो भी ठीक नही, भिन्न रहकर विरोधक कैसे बने! क्योकि वह अनात्मभूत है, अर्थात् पदार्थ का स्वरूप नही, जैसे दूसरा भिन्न पदार्थ अनात्मभूत होने से उसका विरोधक नही बन पाता है।

वैशेषिक—पदार्थों से विरोध अर्थातर (अलग) रहकर भी विरोधक हो जाता है, क्योकि वह उन पदार्थों का विशेषण हुआ करता है, किन्तु अन्य पदार्थ अन्य के विरोधक नही होते क्योकि वे उनके विशेषणभूत नही है।

जैन—यह कथन असत् है, विरोध आपके यहा तुच्छाभावरूप बतलाया है, वह यदि शीत द्रव्य और उष्ण द्रव्य आदि का विशेषण बनेगा तो, वे शीतादि पदार्थ

न्तरं तस्य तद्विशेषणत्वाभावात्; तदप्यसमीचीनम्; विरोधो हि तुच्छरूपोऽभाव', स यदि शीतोष्ण-द्रव्ययोर्विशेषण तर्हि तयोरदर्शनापत्तिस्तत्सम्बद्धरूपत्वात्। असम्बद्धस्य च विशेषणत्वेऽतिप्रसंगात्।

अन्यतरविशेषणत्वेऽप्येतदेव दूषणम्। तदेव च विरोधि स्याद्यस्यासौ विशेषण नान्यत्। न चैकत्र विरोधो नामास्य द्विष्ठत्वात्, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा तत्प्रसग:।

अथ विरुध्यमानत्वविरोधकत्वापेक्षया कर्मकर्तृस्थो विरोध, विरोधसामान्यापेक्षयोभयविशेषणत्वाद्द्विष्ठोभिधीयते। नन्वेव रूपादेरपि द्विष्ठत्वापत्ति किन्न स्यात् तत्सामान्यस्यापि द्विष्ठत्वाविशे-

---

दिखाई नही देगे। क्योंकि अभावरूप विरोधनामा विशेषण से वे पदार्थ सम्बद्ध हो चुके है। यदि कहा जाय कि शीत आदि द्रव्य मे विरोधनामा विशेषण असम्बद्ध रहकर ही विशेषणभूत बन जाता है, तब तो अतिप्रसंग उपस्थित होगा, फिर तो चाहे जो विशेपण चाहे जिस पदार्थ का कहलाने लगेगा।

यदि शीत द्रव्य और उष्ण द्रव्य इनमे से एक किसी का विशेषणरूप विरोध को माना जाय तो भी यही उपर्युक्त दोष आता है कि दिखायी नही देना, अर्थात् तुच्छाभाव स्वरूप विरोध शीत आदि द्रव्यो मे से जिसका भी विशेपण होगा वही पदार्थ अदृष्टव्य बन जायगा—अभावरूप होवेगा। क्योकि वह अभाव रूप विरोध से सम्बद्ध हुआ है। तथा यह भी बात होगी कि जिस किसी शीत या उष्ण द्रव्य का यह विरोध विशेपण माना जायगा उसी एक का ही वह विरोधक बनेगा, अन्य का नही। और भी दूषण सुनिये—यदि शीतादि उभय द्रव्यो मे से एक का ही विरोध नामा विशेषण है ऐसा आप कहते है तो भी ठीक नही रहेगा। क्योकि विरोध दो पदार्थो मे हुआ करता है, एक मे काहे का विरोध ! अन्यथा सब जगह हमेशा ही विरोध होता रहेगा।

वैशेषिक—विरुध्यमानत्व और विरोधकत्व की अपेक्षा लेकर कर्त्ता और कर्म मे विरोध स्थित है ऐसा माना जाता है, इस तरह विरोध सामान्य की अपेक्षासे दोनो का (विरुध्य–विरोध करने योग्य शीत द्रव्य और विरोधक–विरोध करने वाला उष्ण द्रव्य इन दोनो का) विशेषण बन जाने से विरोध को द्विष्ठ कहा जाता है।

जैन—यदि ऐसो बात है तो रूपादि को भी द्विष्ठपने की आपत्ति क्यो नही आयेगी ? क्योंकि उनके सामान्य का भी द्विष्ठपना समान रूप से है। तथा विरोध को

षात् ? विरोधस्याभावरूपत्वे सामान्यविशेषत्वाभावानुपपत्तिश्च । गुणरूपत्वे गुणविशेषणत्वाभावानुषग ।

अथ षट्पदार्थव्यतिरिक्तत्वात् पदार्थविशेषो विरोधोऽनेकस्थो विरोध्यविरोधकप्रत्ययविशेषप्रसिद्धः समाश्रीयते; तदाप्यस्यासम्बद्धस्य द्रव्यादौ विशेषणत्वम्, सम्बद्धस्य वा ? न तावदसम्बद्धस्य, अतिप्रसगात्, दण्डादौ तथाऽप्रतीतेश्च । न खलु पुरुषेणासम्बद्धो दण्डस्तस्य विशेषण प्रतीतो येनात्रापि तथाभाव. । अथ सम्बद्धः; किं सयोगेन, समवायेन, विशेषणभावेन वा ? न तावत्सयोगेन, अस्याद्रव्यत्वेन सयोगानाश्रयत्वात् । नापि समवायेन, अस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषव्यतिरिक्तत्वेनासम-

---

अभाव रूप मानते है तो उसमे सामान्य या विशेषपना असभव होने से विशेषणत्व की अनुपपत्ति ही रहेगी । विरोध को गुणस्वभाव वाला मानते हैं तो भी बात नही बनती, क्योकि विरोध यदि गुणरूप है तो उसमे विशेषणरूप गुणपना सभव नही होगा, गुण मे पुन गुण नही होता ।

वैशेषिक—द्रव्य, गुण इत्यादि छह पदार्थो के अतिरिक्त विरोध नामा पदार्थ माना जाता है जो कि अनेकस्थ है और विरोध्य-विरोधक ज्ञान का कारण होने से प्रसिद्ध है ।

जैन—इस तरह का लक्षण वाला विरोध मान लो तो भी प्रश्न होता है कि वह विरोध द्रव्य आदि मे असम्बद्ध रहकर विशेषण बनता है, या सम्बद्ध होकर विशेषण बनता है ? असम्बद्ध रहकर विशेषण बन नही सकता, क्योकि असम्बद्ध विशेषण बनते है तो सह्याचल विन्ध्याचल का विशेषण बन सकेगा, ऐसा अतिप्रसग आता है । तथा दण्ड आदि विशेषण देवदत्त आदि से असम्बद्ध रहकर उसके विशेषणपने को प्राप्त होते हुए देखे नही जाते है, जिससे कि इस विरोधरूप विशेषण मे असम्बद्ध रहकर ही विशेषणपना सिद्ध हो सके । विरोधनामा विशेषण पदार्थ मे सम्बद्ध है ऐसा दूसरा पक्ष स्वीकारे तो सयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध है, या समवाय सम्बन्ध से अथवा विशेषण भाव सम्बन्ध से सम्बद्ध है ? सयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध है ऐसा कहो तो ठीक नही, क्योकि विरोध द्रव्य रूप नही है, आपने दो द्रव्यो मे सयोगनामा सम्बन्ध माना है । विरोध द्रव्यरूप नही होने से सयोग का आश्रय बन नही सकता । समवाय सम्बद्ध से विरोध सम्बद्ध होता है ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योकि विरोध द्रव्यरूप नही है, और न गुण, कर्म, सामान्य, विशेष इन रूप ही है, अत असमवायीरूप ही रहेगा ।

वायित्वात्। नापि विशेषणभावेन, सम्बन्धान्तरेणासम्बद्धे वस्तुनि विशेषणभावस्याप्यसम्भवात्, अन्यथा दण्डपुरुषादौ सयोगादिसम्बन्धाभावेपि स स्यात् इत्यल संयोगादिसम्बन्धकल्पनाप्रयासेन। 'विरोध्यविरोधकप्रत्ययविशेषस्तु विशिष्ट वस्तुधर्ममेवालम्बते' इति वक्ष्यते समवायसम्बन्धनिराकरण-प्रक्रमे। ततो विरोधस्य विचार्यमाणस्यायोगान्नानयोरसौ घटते।

नापि वैयधिकरण्यम्; निर्बाधबोधे भेदाभेदयोः सत्त्वासत्त्वयोर्वा एकाधारतया प्रतीयमान-त्वात्।

नाप्युभयदोषः, चौर [पार]दारिकाभ्यामचौरपारदारिकवत् जैनाभ्युपगतवस्तुनो जात्यन्तर-त्वात्। न खलु भेदाभेदयोः सत्त्वासत्त्वयोर्वाऽन्योन्यनिरपेक्षयोरेकत्व जैनैरभ्युपगम्यते येनाय दोषः,

---

विशेषण भाव रूप सम्बन्ध से विरोध सम्बद्ध है, ऐसा तीसरा पक्ष कहना भी जमता नही, क्योकि सम्बन्धान्तर असम्बद्ध वस्तु मे विशेषणभाव होना भी असम्भव है, यदि असम्बद्ध वस्तुमे विशेषण भाव बनता तो दण्ड और पुरुष आदि मे संयोगादि सम्बन्ध के नही होने पर विशेषण भाव हो सकता था। अतः विरोध के विषय मे संयोगादि सम्बन्ध की कल्पना करने से अब बस हो। विरोध्य-विरोधक का ज्ञान विशेष विरोध कहलाता है ऐसा जो आपका कहना है वह तो विशिष्ट वस्तुधर्मका ही अवलम्बन लेता है, अर्थात् ऐसा लक्षण वाला विरोध वस्तु से अव्यतिरिक्त ही ठहरता है, इस विषय मे समवाय सम्बन्ध का निराकरण करते समय आगे कहने वाले है। इस प्रकार विरोध विचार के अयोग्य है अतः भेद अभेद या सत्व असत्व इत्यादि एकत्र रहने मे विरोध आता है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता है।

भेद और अभेद, या सत्व असत्व इत्यादि धर्मो को एकत्र मानने मे वैयधि-करण्य नामा दोष आता है ऐसा कहना भी ठीक नही, भेद-अभेद या सत्व-असत्व एक ही आधार मे साक्षात् ही प्रतीत हो रहे है।

अभेद-भेद आदि को एकत्र मानने मे उभयदोप भी नही आता, क्योकि भेद और अभेद जिस वस्तु मे रहते है वह वस्तु एक पृथक् ही जाति वाली है जैसे कि चोरी करने वाले और परदारा सेवन करने वाले पुरुष से अचोर अपारदारिक पुरुष पृथक् कहलाता है।

तत्मापेक्षयोरेव तदभ्युपगमात्, तथाप्रतीतेश्च ।

नापि सङ्करव्यतिकरौ, स्वरूपेणैवार्थे तयो प्रतीते ।

नाप्यनवस्था, 'धर्म्मिणो ह्यनेकरूपत्व न धर्माणा कथञ्चन' इति, वस्तुनो ह्यभेदो धर्म्येव, भेदस्तु धर्मा एव, तत्कथमनवस्था ?

भावार्थ—एक वस्तु मे भेदाभेद मानने मे उभय नामा दोष आता है, ऐसा वैशेषिकने कहा था, उभय दोष का स्वरूप इस तरह बतलाया कि वस्तु मे भेद और अभेद सर्वथा एकात्मकपने से रहते है तो उसमे अनेकत्व का अभाव होगा, तथा वे सर्वथा अनेकात्मपने से रहते है तो एकत्व का अभाव होता है, सो यह दोष जैनाभिमत वस्तु मे आना असभव है, क्योकि वस्तु मे जो भेदाभेद रहते है उनके रहने का तरीका ही अलग है, जैसे एक पुरुष चोर है और एक पुरुष पर स्त्री सेवक है सो इन दो प्रकारके पुरुषो मे सदोषता है किन्तु इन दो से न्यारा कोई पुरुष परस्त्री सेवी नही और चोर भी नही तो वह पुरुष उपर्युक्त दोनो पुरुषो से न्यारा ही कहलायेगा, क्योकि उसमे सदोषता नही है, इसी प्रकार भेद और अभेद को या सत्व असत्व इत्यादि धर्मो को एक वस्तु मे सर्वथा एकमेकरूप मानते है या सर्वथा अभिन्नरूप मानते है तो उसमे दोष आते है किन्तु इनसे पृथक् कथचित्रूप से एक वस्तु मे रहना माने तो कोई भी दोष नही आता है, क्योकि यह स्याद्वाद अपेक्षा लेकर कथन करता है और वस्तु मे भी स्वय इसी प्रकार की अनेक धर्मात्मक है, वह स्वय ही अनेक विरोधी धर्मों को अपने मे समाये रखती है, इसीलिये स्याद्वाद उसका वैसा ही वर्णन किया करता है ।

जैन भेद और अभेद या सत्व और असत्व इनको परस्परकी अपेक्षा से रहित नही मानते, अर्थात् ये दोनो धर्म परस्पर निरपेक्ष होकर एकत्व रूप रहते है ऐसा नही मानते है, जिससे कि यह उभय दोष आवे । हम तो सापेक्षभूत सत्वासत्व मे ही एकत्व स्वीकार करते है । तथा वस्तु मे ऐसे सापेक्ष सत्व असत्वादि की प्रतीति भी भली प्रकार से होती है ।

भेद अभेद आदि को एकत्र मानने मे सकर व्यतिकर नामा दोष देना भी अयुक्त है, क्योकि वस्तु मे स्वरूप से ही उन दोनो की प्रतीति आ रही है ।

अनवस्था दोष भी भेदाभेदात्मक वस्तु मे दिखाई नही देता, क्योकि धर्मी पदार्थ के ही अनेक रूपत्व माना है न कि धर्मो के, तथा वस्तु के जो अभेदपना है वह

अभावदोषस्तु दूरोत्सारित एव; अशेषप्राणिनामनेकान्तात्मकार्थस्यानुभवसम्भवात् ।

ननु शरीरेन्द्रियबुद्धिव्यतिरिक्तात्मद्रव्यस्येच्छादिगुणाश्रयस्य नित्यैकरूपत्वात्कथ सर्वस्यानेकान्तात्मकत्वम् ? न च नित्यैकरूपत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वजन्ममरणजीवनहिसकत्वादिव्यपदेशाभाव.; ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाना समवायो हि कर्तृत्वम्, सुखादिसंवित्समवायस्तु भोक्तृत्वम्, अपूर्वै· शरीरेन्द्रियबुद्धयादिभिश्चाभिसम्बन्धो जन्म, प्राणात्तैस्तैस्तु वियोगो मरणम्, जीवन तु सदेहस्यात्मनो धर्माधर्मापेक्षो मनसा सम्बन्ध:, हिंसकत्वं च शरीरचक्षुरादीना वधान्न पुनरात्मनो विनाशात् । तथा च सूत्रम्—

धर्मी ही है, धर्म तो भेदरूप ही है, इस तरह मानने मे किस प्रकार अनवस्था होगी ? अर्थात् नही होगी ।

अभाव नामा दोष तो जैनाभिमत तत्व मे दूर से ही निराकृत हो जाता है, क्योकि प्रत्येक प्राणियो को अनेक धर्मात्मक ही वस्तु प्रतीति मे आ रही है ।

अब यहा पर वैशेषिक अपना एकान्तपने का पक्ष पुन: उपस्थित कर रहा है—

वैशेषिक—शरीर, इन्द्रिया, बुद्धि इन सबसे आत्म द्रव्य सर्वथा पृथक् होता है, यह द्रव्य इच्छा आदि गुणो का आश्रय हुआ करता है, एव सदा सर्वथा नित्य एक रूप रहता है, फिर कैसे कह सकते है कि सभी द्रव्य या पदार्थ अनेकान्तात्मक ही होते है ? जैन का कहना है कि यदि आत्मादि द्रव्य को नित्य एक रूप मानते है तो उसमे कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्म, मरण, जीवन, हिसकत्व इत्यादि नाम किस प्रकार हो पायेगे । सो ऐसी बात नही है, हम आत्मा मे इन कर्त्तापना आदि को घटित करके बतलाते है— ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न इनका आत्मा मे समवाय होना कर्त्तापन है, सुखादि सवेदन का समवाय होना भोक्तृत्व कहलाता है, नवीन शरीर, इन्द्रिया, बुद्धि आदि का आत्मा मे सम्बन्ध होना आत्मा का जन्म कहलाता है. और इन्ही शरीर आदि से आत्मा का वियुक्त होना मरण है, शरीर सहित आत्मा के धर्म-अधर्म की अपेक्षा लेकर मन से सम्बन्ध होना जीवन कहा जाता है, शरीर तथा चक्षु आदि इद्रियो का वध करना हिसकपना है, आत्मा का वध तो होता नही, अर्थात् शरीरादिका घात होने से ही हिसकपना होता है न कि आत्मा के विनाश से हिसकपना होता है (क्योकि आत्मा अविनाशी है) "कार्याश्रयकर्तृवधाद् हिसा" ऐसा न्याय सूत्र है अर्थात् कार्यो का

"कार्याश्रयकर्तृवधाद्धिसा" [न्यायसू० ३।१।६] इति । कार्याश्रय शरीर सुखादे कार्याश्रयत्वात्। कर्तृणीन्द्रियाणि विषयोपलब्धे· कर्तृत्वादिति ।

तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, सर्वथाऽपरित्यक्तपूर्वरूपत्वेनास्याकाशकुशेशयवत् ज्ञानादिसमवायस्यैवासम्भवात् कथ तदपेक्षया कर्तृत्वादिस्वरूपसम्भव: ? पूर्वरूपपरित्यागे वा कथ नानेकान्तात्मकत्वम्, व्यावृत्त्यनुगमात्मकस्यात्मन: स्वसवेदनप्रत्यक्षत प्रसिद्धे । व्यावृत्ति. खलु सुखदु खादिस्वरूपापेक्षया आत्मन। अनुगमश्च चैतन्यद्रव्यत्वसत्त्वादिस्वरूपापेक्षया । तदात्मकत्व चाध्यक्षत एव प्रसिद्धम् ।

ननु चानुवृत्तव्यावृत्तस्वरूपयो परस्पर विरोधात्कथ तदात्मकत्वमात्मनो युक्तम् ? इत्यप्यसत्; प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुस्वरूपे विरोधानवकाशात् । न खलु सर्पस्य कुण्डलेतरावस्थापेक्षया अगुल्यादेर्वा

आश्रय शरीर है, क्योकि इसमे सुखादि के कार्याश्रयपना देखा जाता है, इद्रिया इन कार्यो की कर्त्ता कहलाती है, क्योकि विपयो की उपलब्धि होने मे वही कर्त्तापना का वहन करती है। इस तरह कर्तृत्व आदि धर्म आत्मा मे निजी नही है आत्मा तो सदा नित्य एक रूप है अत. सभी पदार्थ अनेकान्तात्मक है ऐसा जैन का कहना ठीक नही है ?

जैन—यह कथन अविचारपूर्ण है। यदि आत्म द्रव्य सर्वथा पूर्व रूपको नही छोडता है तो वह आकाश पुष्प की तरह असत् कहलायेगा, फिर उसमे ज्ञानादि का समवाय होना असभव होने से उसकी अपेक्षा से आत्मा के कर्तृत्वादिस्वरूप किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? आत्मा पूर्व रूप का परित्याग करता है ऐसा मानते है तो अनेकान्तात्मक कैसे नही सिद्ध हुआ ? व्यावृत्ति और अनुगमस्वरूप आत्मा की स्वसवेदन प्रत्यक्ष से प्रसिद्धि हो रही है। सुख और दु.ख इन विभिन्न स्वरूपो की अपेक्षा से तो आत्मा मे व्यावृत्तपने का (भिन्न-भिन्न अनेकपने का) प्रतिभास होता है, तथा चैतन्य द्रव्यत्व, सत्वादि स्वरूपो की अपेक्षा से अनुगम प्रतिभास होता है, इन अनेक धर्मो का तदात्मकपना आत्मा मे साक्षात् ही सिद्ध है।

वैशेषिक—अनुवृत्त का स्वरूप और व्यावृत्ति का स्वरूप परस्पर मे विरुद्ध है उनसे तदात्मकपना होना आत्मा मे कैसे सभव होगा ?

जैन—यह शका अयुक्त है, जब प्रमाण से वैसा आत्मा का स्वरूप प्रतीत हो रहा है तब उनमे विरोध का कोई भी स्थान नही है, इसी का खुलासा करते हैं—

सङ्कोचितेतरस्वभावापेक्षया व्यावृत्यनुगमात्मकत्व प्रत्यक्षप्रतिपन्न विरोधमध्यास्ते ।

ननु सुखाद्यवस्थानामात्मनोऽत्यन्तभेदात्तद्व्यावृत्तावप्यात्मनः किमायात येनास्यापि व्यावृत्त्यात्मकत्वं स्यात् ? इत्यप्यपेशलम्; सुखाद्यात्मनोरत्यन्तभेदस्य प्रथमपरिच्छेदे प्रतिविहितत्वात् । ननु चाकारवैलक्षण्येप्यात्मसुखादीनामनानात्वे अन्यत्राप्यन्यतोऽन्यस्यान्यत्व न स्यात; तदप्यविचारितरमणीयम्, तद्वत्तादात्म्येनान्यत्रान्यस्य प्रमाणतोऽप्रतीतेः । प्रतीतौ तु भवत्येवाकारनानात्वेप्यनानात्वम् प्रत्यभिज्ञाज्ञानवत्, सामान्यविशेषवत्, सशयज्ञानवत्, मेचकज्ञानवद्वेति ।

जिस प्रकार सर्प की कुण्डलाकार अवस्था और कुण्डलाकार रहित अवस्था इनमे विरोध नही आता, क्योकि प्रत्यक्ष से ऐसा दिखाई देता है, अथवा अगुली आदि का फैलाना और सकुचित होना रूप स्वभाव प्रत्यक्ष से उपलब्ध होने से विरोध को अवकाश नही है उसी प्रकार आत्मा मे व्यावृत्ति और अनुगमात्मकपना प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है । इसमे कोई भी विरुद्ध बात नही है ।

वैशेषिक—सुख, दु ख आदि अवस्थाये आत्मा से अत्यन्त भिन्न है अत' यदि वे सुखादिक व्यावृत्ति स्वरूप हो तो भी उससे आत्मा मे क्या विशेषता आयेगी जिससे कि आत्मा को भी व्यावृत्ति स्वरूप माना जा रहा है ?

जैन—यह कथन असुन्दर है, सुख, दु ख आदि धर्म आत्मा से 'अत्यन्त भिन्न नही है, आप इन्हे सर्वथा भिन्न मानते है किन्तु इसका प्रथम अध्याय मे ही भली प्रकार से निराकरण कर आये है ।

वैशेषिक—आत्मा और सुख दु खादिक इनमे आकारो [झलक] की विलक्षणता [' विसदृशता] होते हुए भी अभिन्नता मानी जाय तो अन्य घट पट आदि पदार्थ भी परस्पर मे अभिन्न मानने पडेगे ? क्योकि आकारो की विलक्षणता होते हुए भी भेद नही होता ऐसा आप कह रहे ।

जैन—यह कथन बिना सोचे किया गया है, जिस प्रकार आत्मा और सुख दु.ख आदि का परस्पर तादात्म्य अनुभव मे आता है, वैसा तादात्म्य घट पटादि पदार्थो मे अनुभव मे नही आता है तथा आकारो की विलक्षणता की जो बात है उस विषय मे यह समझना चाहिए कि सर्वत्र आकारो की विलक्षणता या नानापना होने से वस्तुओ मे भेद ही हो, नानापना ही होवे सो बात नही है, घट पट आदि मे तो आकारों

यच्चोक्तम्–'द्रव्यादय' षडेव पदार्थाः प्रमाणप्रमेया:' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्; द्रव्यादिपदार्थषट्कस्य विचारासहत्वात्; तथाहि–यत्तावच्चतुःसख्य पृथिव्यादिनित्यानित्यविकल्पादिद्विभेदमित्युक्तम्, तदयुक्तम्, एकान्तनित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । तल्लक्षणसत्त्वस्यातो व्यावृत्त्याऽसत्त्वप्रसङ्गात् । यदि हि परमाणवो द्वयणुकादिकार्यद्रव्यजननैकस्वभावा', तर्हि तत्प्रभव-

---

की विलक्षणता से पदार्थो का नानापना सिद्ध होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान, सामान्य-विशेष, सशय ज्ञान, मेचक ज्ञान इत्यादि मे आकारो की विलक्षणता होते हुए भी नानापन सिद्ध नही होता है ।

विशेषार्थ—आत्मा आदि पदार्थो को अनेक धर्मात्मक सिद्ध करने के लिए जैन ने उदाहरण प्रस्तुत किया कि जिस प्रकार एक ही आत्म द्रव्य मे सुख दुःख आदि का व्यावृत्तिरूप प्रतिभास होता है और चैतन्यपना, सत्वपना आदि का अनुगत रूप प्रतिभास भी होता है अत अनेकत्व सिद्ध है, वैसे ही प्रत्येक द्रव्य या पदार्थ मे अनेकत्व-अनेकधर्मात्मकपना है, इस पर वैशेषिक ने कहा कि सुख दु ख आदिक आत्मा से पृथक् है, क्योकि इनमे भिन्न–भिन्न आकार-प्रतिभास हुआ करते है । तब आचार्य ने समझाया कि सर्वत्र आकारो के भेद से पदार्थ भेद नही हुआ करता, इस बात की स्पष्टता करने के लिये चार दृष्टात दिये—प्रत्यभिज्ञान, सामान्यविशेष, सशय ज्ञान, और मेचक ज्ञान । इन चारो दृष्टान्तो का खुलासा इस प्रकार है—प्रत्यभिज्ञान मे दो आकार-प्रतिभास होते है एक तो वर्त्तमान का ग्रहणरूप और दूसरा भूतकाल का स्मरणरूप, जैसे यह वही देवदत्त है जिसको मैने कल देखा था । सो ये दो आकार होते हुए भी इस ज्ञानको एक रूप ही माना है । ऐसे ही यह रोझ गाय के समान है, यह भैस गाय से विलक्षण ही दिखाई देती है, छह पैर वाला भ्रमर होता है, आठ पैर वाला अष्टापद होता है इत्यादि प्रत्यभिज्ञान जोडरूप होने से दो आकार वाले है किन्तु ये एक एक ज्ञान कहलाते है । सामान्य धर्म मे विविधता देखी जाती है जैसे गोपना गायो मे तो सबमे होने से सामान्य है किन्तु वही गोत्व अश्व आदि विभिन्न पशु जातियो की अपेक्षा विशेष बन जाता है अत' सामान्य मे सजातीयता की दृष्टि से समानत्व या साधारण सामान्य है और वही विजातीयता की दृष्टि मे विशेष आकार को धारण कर लेता है अत अनेकपना से युक्त है । सशय ज्ञान मे चलित प्रतिभास होने से दो कोटियाँ रहती है कि क्या यह ठू ट है अथवा पुरुष है ? यह रजत है या सीप है ? इत्यादि एक

कार्याणा सकृदेवोत्पत्तिप्रसङ्गोऽविकलकारणत्वात् । प्रयोग.—येऽविकलकारणास्ते सकृदेवोत्पद्यन्ते यथा समानसमयोत्पादा बहवोऽकुरा·, अविकलकारणाश्चाणुकार्यत्वेनाभिमता भावा इति । तथाभूतानामप्यनुत्पत्तौ सर्वदानुत्पत्तिप्रसक्तिर्विशेषाभावात् ।

।। अर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्ववाद: समाप्त: ।।

ही ज्ञान मे अनेकाकारपना उपलब्ध होता है । आत्मा आदि पदार्थो मे अनेक धर्मत्व सिद्ध करने हेतु चौथा उदाहरण मेचक ज्ञान का है, जैसे मेचक ज्ञान में [चितकबरा ज्ञान] हरा, पीला, लाल आदि रंग स्वरूप आकार प्रतिबिबित होते है, फिर भी वह ज्ञान एक ही है, इस मेचक ज्ञानादि को किसी ने भी अनेक नही माना है, ठीक इसी प्रकार आत्मा, आकाश, घट, पट आदि संपूर्ण चराचर जगत के पदार्थ अनेकान्तात्मक-अनेकधर्मात्मक होते है, समान गुण धर्मो की क्या बात है किन्तु विषम अर्थात् विरोधी धर्म भी एक वस्तु में अबाधपने से निवास करते है, अथवा यो कहिये कि वस्तु स्वयं ही उस रूप है, जैनाचार्य तो जैसी वस्तु ज्ञान मे प्रतिभासित हो रही है वैसी बतलाते है वे मात्र प्रतिपादन करने वाले है, वस्तु जब स्वयं अनेक धर्मो को अपने मे धार रही है तो आचार्य या प्रतिपादक क्या करे ? उसका जैसा स्वरूप है वैसा ही कहना होगा । विपरीत प्रतिपादन तो कर नही सकते । "यदीदं पदार्थेभ्य: स्वयं रोचते तत्र के वयम्" अन्त मे यही निश्चय हुआ कि आत्मा आदि सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक सत्वासत्वात्मक होते हैं ।

।। पदार्थों का सामान्यविशेषात्मकपने का प्रकरण समाप्त ।।

अर्थ के सामान्यविशेषात्मक होने का सारांश

वैशेषिक—प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक मानना ठीक नही, कोई पदार्थ सामान्यात्मक होता है और कोई विशेषात्मक। प्रतिभास के भेद से सामान्य और विशेष मे अत्यन्त भेद सिद्ध होता है अर्थात् सामान्य की झलक अलग है और विशेष की अलग है। तथा सामान्य को जानने वाला प्रमाण पृथक् है और विशेष को जानने वाला पृथक् है इसलिए सामान्य और विशेष मे विरुद्ध धर्मपना भी है। हम अवयव और अवयवी को भी अत्यन्त भिन्न मानते है। तन्तुरूप अवयव तो स्त्री आदि के द्वारा निर्मित है, और वस्त्र रूप अवयवी जुलाहा द्वारा बनाया जाता है इस तरह कर्त्ता भिन्न होने से अवयवों से अवयवी भिन्न है ऐसा समझना चाहिए। तथा अवयव पूर्ववर्ती है भिन्न कार्य करते है उनकी शक्ति भी भिन्न है, तथा अवयवी उत्तर कालवर्ती है उसकी शक्ति और कार्य भिन्न है, तो उन दोनो को पृथक् क्यो न माना जाय ? जैन तन्तु और वस्त्र मे तादात्म्य मानते है किन्तु वह सिद्ध नही होता। जैन अवयव और अवयवी को भेदभेदात्मक मानते है सो उसमे आठ दोप आते है, सशय १ विरोध २ वैयधिकरण ३ सकट ४ व्यतिकर ५ अनवस्था ६ अभाव ७ अप्रतिपत्ति ८। अब इन दोषो को बताते है—अवयव और अवयवी भेदाभेदात्मक है या कोई भी वस्तु दोनो रूप मानते है तो उसमे सबसे पहले सशय होगा कि वह वस्तु ऐसी है कि वैसी। भेद और अभेद एक दूसरे से विरुद्ध होने से विरोध दोष आता है। भेद का आधार और अभेद का आधार पृथक् होने से वैयधिकरण दोष हुआ। उभयदोष भी वैयधिकरण के समान है।

भेदाभेद एक साथ वस्तु मे आने से सकट दोष है और एक दूसरे के विपय होने से व्यतिकर दोष है, किसी अवस्था से भेद होगा वह कथचित् ही रहेगा अत: अनवस्था आती है। इससे फिर वस्तु की अप्रतिपत्ति होगी। अत अवयव, अवयवी, गुण, गुणी, क्रिया, क्रियावान्, भेद, अभेद, सत्व, असत्व इत्यादि सबको पृथक्-पृथक्

मानते है। पदार्थ छः है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, इनमें द्रव्य के नो भेद है गुण के संयोगादि २४ भेद है कर्म के उत्क्षेपणादि ५ भेद है, सामान्य के दो भेद है, विशेप अनेक है, समवाय एक है।

जैन—यह वर्णन वध्या पुत्र के गुणगान सदृश है, प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्म वाले ही होते है न कि एक एक सामान्य या विशेष रूप। यदि वस्तु मे एक ही धर्म होता तो वह अनेक अर्थ क्रियाओ को कैसे करता? आपने कहा कि भिन्न प्रमाण से ग्रहण होने के कारण सामान्य और विशेष सर्वथा पृथक् है किन्तु यह बात असिद्ध है। अवयव और अवयवी भिन्न प्रमाण से ही ग्रहण हो सो भी बात नही, धागे और वस्त्र एक प्रत्यक्ष से ग्रहण हो रहे है, आपने कहा कि भेद और अभेद या अवयवादि मे विरुद्धत्व है सो विरुद्धपना होने से एक जगह न रह सके ऐसी बात नही है, अन्यथा धूम हेतु अग्नि का गमक और जल का अगमक ऐसे दो विरुद्ध धर्मो को धारण करता है अतः उसे सदोप मानना होगा ? तन्तुओ से वस्त्र पृथक् है सो कौन से तन्तुओ से जो वस्त्र मे बुन चुके है उनसे वस्त्र कथमपि पृथक् नही है और जो धागे वस्त्र रूप नही हुए उनसे वस्त्र पृथक् है तो इसको कौन नही मानेगा।

तादात्म्य शब्द का विग्रह आप ध्यान देकर सुनो "तौ आत्मानौ द्रव्यपर्यायौ सत्वासत्वादि धर्मौ तदात्मानौ तयोर्भावस्तादात्म्य।" वस्तु द्रव्यपर्यात्मिक, सत्वासत्वात्मक इत्यादि अनेक विरुद्ध धर्मो से भरपूर है। संशयादि दोष अनेकान्त मत मे नही आते है वस्तु मे भेद और अभेद प्रतीत होता है तो उसमे सशय काहे का? विरोध तीन प्रकार का है सो उनमे से कोई भी विरोध इन भेदाभेदादि मे आता नही क्योकि वे सर्प नेवले की तरह हीनाधिक शक्तिवाले नही है जिससे वध्यघातक विरोध होवे। परस्परपरिहार लक्षण वाला विरोध इन भेद अभेद आदि मे होता है। सहानवस्था विरोध तो तब कहते जबकि वस्तु मे भेद और अभेद नही दिखता भेदाभेदात्मक वस्तु के प्रतीत होने पर काहे का विरोध ? वैयधिकरण भी नही है क्योकि भेद और अभेद एक ही आधार मे प्रतीत हो रहे है। इसलिये सकर व्यतिकर दोष भी नही है। धर्मी अभेदरूप है और धर्म भेदरूप है अत. अनवस्था नही है। अभाव भी नही, क्योकि सभी प्राणी को वस्तु भेदाभेदात्मक प्रतीत होती है। इस प्रकार पदार्थो मे अनेक विरुद्ध धर्मो का रहना सिद्ध

होता है इससे विपरीत नित्य एक धर्म रूप वस्तु को मानने पर अनेक दोष आते है। उदाहरण के लिए देखिये आत्मा यदि एक धर्म वाला ही है तो उसमे कर्तृत्व-भोक्तृत्व जीवत्व, हिसकत्व आदि स्वरूप कैसे प्रतीत होते? अत. प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है न कि एक सामान्य या विशेष रूप। प्रमाण भी ऐसे सामान्यविशेष वाले पदार्थ को जानता है विषय करता है।

"सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय:"

॥ सारांश समाप्त ॥

७

परमाणुरूपनित्यद्रव्यविचारः

ननु समवाय्यऽसमवायिनिमित्तभेदात्त्रिविध कारणम्। यत्र हि कार्यं समवैति तत्समवायिकारणम्, यथा द्वचणुकस्याणुद्वयम्। यच्च कार्यैकार्थसमवेत कार्यकारणैकार्थसमवेतं वा कार्यमुत्पादयति

वैशेषिक मत मे द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थ होते है वे ही प्रमाण द्वारा जानने योग्य हुआ करते है, इत्यादि कहा गया है वह अयुक्त है, क्योकि इन द्रव्यादि छह पदार्थो के बारे मे विचार करे तो वे सिद्ध नही पाते है, अब इसी का खुलासा करते है—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु को पृथक् पृथक् चार द्रव्य मानकर इनमे नित्य और अनित्य ऐसे दो दो भेद किये जाते है वह अयुक्त है, जो पदार्थ सर्वथा नित्य होता है उसमें क्रमशः या युगपत् अर्थ क्रिया नही हो सकती है, जब अर्थ क्रिया नही होगी तो उसका सत्व भी नही रहेगा, क्योकि अर्थ क्रिया युक्त होना सत्व का लक्षण है, और सत्वकी व्यावृत्ति होने से असत्व प्रसंग आता है, अर्थात् एकान्त नित्य पदार्थ का असत्व अभाव ही ठहरता है। वैशेषिक पृथिवी आदि के कारणभूत परमाणुओ को सर्वथा

तदसमवायिकारणम्, यथा पटारम्भे तन्तुसंयोग', पटसमवेतरूपाद्यारम्भे पटोत्पादकतन्तुरूपादि च। शेष तूत्पादक निमित्तकारणम्, यथाऽदृष्टाकाशादिकम् । तत्र सयोगस्याऽपेक्षणीयस्याभावादविकल कारणत्वमसिद्धम्; तदप्यसाम्प्रतम्, सयोगादिनाऽनाधेयातिशयत्वेनाऽणूना तदपेक्षाया अयोगात्।

नित्य द्वचणुक आदि कार्य द्रव्यो के जनकरूप एक स्वभाव वाले मानते है सो उसमे यह आपत्ति आती है कि उनसे होने वाले कार्य एक साथ उत्पन्न हो जायेगे। क्योकि अविकलकारण मौजूद है। अनुमान से सिद्ध होता है कि जिनका अविकल-पूर्ण कारण मौजूद रहता है वे कार्य एक साथ ही उत्पन्न होते है, जैसे समानकाल मे उत्पन्न हुए बहुत से अकुर रूप कार्य अपने अविकल कारणो के मिलने से एक साथ पैदा होते हैं पृथिवी आदि द्रव्यो को अणुओ के कार्यरूप मानने से वे भी अविकल कारणभूत कहलाते है। अर्थात् नित्य परमाणुओ का कार्य होने से पृथिवी आदि पदार्थ अविकल कारणवाले ही सिद्ध होते है। इस तरह अविकल कारण सामग्री युक्त होकर भी यदि इन पृथिवी आदि कार्यो की उत्पत्ति नही होती है तो सर्वदा ही उत्पत्ति नही होगी। क्योकि अविकल कारणपना सर्वदा समानरूप से है सर्वथा नित्य मे विशेषता नही आती जिससे कहा जाय कि पहले कार्य नही हो पाया किन्तु अब विशेषता आने से कार्य सम्पन्न हुआ।

वैशेषिक—कार्य के उत्पत्ति की बात ऐसी है कि कार्य के लिये कारण तीन प्रकार के होते है—समवायी कारण, असमवायी कारण, निमित्त कारण, जहा पर कार्य समवेत होता है वह समवायीकारण कहलाता है, जैसे द्वचणुकरूप कार्य का समवायी कारण दो परमाणु है। जो एक कार्यभूत पदार्थ मे समवेत होकर कार्य को उत्पन्न करे, अथवा कार्य और कारणभूत एकार्थ मे समवेत होकर कार्य को पैदा करे वह असमवायी कारण कहलाता हैं, जैसे वस्त्र के प्रारम्भ मे तन्तुओ का सयोग होना असमवायो कारण है, अथवा पट मे समवेत जो रूपादि है उनके प्रारम्भ मे पटोत्पादक तन्तुओ के रूपादिक है वह भी असमवायी कारण कहलाता है। समवायी और असमवायी कारण को छोड शेप कारण निमित्त कारण कहे जाते है, जैसे अदृष्ट, आकाशादिक निमित्त कारण है। इन तीन कारणो मे से सयोग नामा असमवायी कारण नहीं होने से पृथिवी आदि पदार्थ अविकल कारण वाले नही कहलाते, और इसीलिये इन कार्यो की एक साथ उत्पत्ति नही होती है।

अथ सयोग एवामीषामतिशयः; स कि नित्यः, अनित्यो वा ? नित्यश्चेत्, सर्वदा कार्योत्पत्तिः स्यात्। अनित्यश्चेत्; तदुत्पत्तौ कोऽतिशयः स्यात्सयोग, क्रिया वा ? संयोगश्चेत्कि स एव, संयोगान्तर वा ? न तावत्स एव; अस्याद्याप्यसिद्धेः, स्वोत्पत्तौ स्वस्यैव व्यापारविरोधाच्च। नापि सयोगान्तरम्; तस्यानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा तदुत्पत्तावप्यपरसंयोगातिशयकल्पनायामनवस्था। नापि क्रियातिशयः, तदुत्पत्तावपि पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्।

जैन—यह कहना असत् है, परमाणुओ का परमाणुओं के साथ जो संयोग है वह अनाधेय अतिशय है, परमाणुओ के ऐसे सयोग की अपेक्षा होना असंभव है।

भावार्थ—पृथिवी आदि के परमाणुओ को वैशेषिक सदा सर्वथा कूटस्थ नित्य मानता है, जो कूटस्थ पदार्थ है वह किसी प्रकार के परिवर्त्तन कराने योग्य नही होता, उसमे किसी की अपेक्षा भी सम्भव नही, फिर कैसे कह सकते है कि पृथिवी आदि कार्य को संयोग नामा असमवायी कारण नही मिलने पर वह कार्य नही होता, इत्यादि जो सर्वथा नित्य वस्तु होती है उसमे अतिशयपना भी नही है अतः नित्य परमाणु यदि पृथिवो आदि कार्यों के आरम्भक है तो एक साथ ही सब कार्यो को कर डालने का प्रसग आता हो है इस दोष को हटाने के लिये समवायी आदि तीन प्रकार के कारण बतलाकर सयोगरूप असमवायी कारण हमेशा तथा एक साथ नही मिलने से सब कार्य एक साथ नही होते ऐसा कहना कुछ भी सिद्ध नही होता है।

यदि कहा जाय कि सयोग होना ही परमाणुओ का अतिशय कहलाता है ? तो बताइये कि वह संयोग नित्य है या अनित्य है ? नित्य कहो तो सर्वदा कार्य उत्पन्न होते ही रहेगे। अनित्य कहो तो उस अनित्य सयोग की उत्पत्ति मे क्या अतिशय या कारण होगा ? परमाणुओ का संयोग ही सयोग अतिशय है अथवा परमाणुओ की क्रिया सयोग अतिशय है ? सयोग कहो तो वह कौनसा है वही संयोग है याकि सयोगांतर है ? परमाणुओ का सयोग ही उसके उत्पत्ति मे कारण है ऐसा कहो तो वही अभी तक असिद्ध है तथा स्वय सयोग संयोग की उत्पत्ति मे व्यापार कर नही सकता। परमाणुओ के संयोग की उत्पत्ति मे सयोगान्तर कारण है, ऐसा कहो तो और कोई संयोगान्तर आपने माना नही है। यदि सयोगान्तर स्वीकार करते है तो उसकी उत्पत्ति के लिये भी अन्य सयोग की अतिशयरूप कल्पना करनी पड़ने से अनवस्था आयेगी।

किंच, अदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगात्परमाणुषु क्रियोत्पद्यते इत्यभ्युपगमात् आत्मपरमाणुसंयोगोत्पत्तावप्यपरोतिशयो वाच्यस्तत्र च तदेव दूषणम् ।

किंच, असौ सयोगो द्वयणुकादिनिर्वर्त्तक: किं परमाण्वाद्याश्रित, तदन्याश्रित, अनाश्रितो वा ? प्रथमपक्षे तदुत्पत्तावाश्रय उत्पद्यते, न वा ? यद्युत्पद्यते, तदाणूनामपि कार्यतानुषङ्ग । अथ नोत्पद्यते; तर्हि सयोगस्तदाश्रितो न स्यात्, समवायप्रतिषेधात्, तेषा च त प्रत्यकारकत्वात् । तदकारकत्व चाऽनतिशयत्वात् । अनतिशयानामपि कार्यजनकत्वे सर्वदा कार्यजनकत्वप्रसङ्गोऽविशेषात् ।

परमाणुओ की क्रिया को सयोग का अतिशय या कारण कहते है ऐसा द्वितीय विकल्प कहो तो भी ठीक नही, क्योकि उसकी उत्पत्ति मे भी वही पूर्वोक्त दोष आते है ।

किञ्च, यह सयोग परमाणुओ के समान आत्मा और परमाणुओ मे भी होता है, अदृष्ट की अपेक्षा से आत्मा और परमाणुओ मे सयोग होता है और उससे परमाणुओ मे क्रिया उत्पन्न होती है ऐसा आपने स्वीकार किया है, सो इस आत्मा और परमाणु के सयोग के उत्पत्ति मे भी अन्य कोई कारण या अतिशय बतलाना पडेगा फिर उसमे वही अनवस्था दोष उपस्थित होता है ।

द्विअणुक आदि कार्यो की निष्पत्ति करानेवाला यह सयोग परमाणु आदि के आश्रित रहता है, या इनसे अन्य के आश्रित रहता है, अथवा किसी के आश्रित रहता ही नही ? प्रथम पक्ष कहो तो पुन: प्रश्न होता है कि उस सयोग के उत्पत्ति मे आश्रय भी उत्पन्न होता है कि नही ? उत्पन्न होता है तो परमाणुओं के भी कार्यपना सिद्ध होता है ? [क्योकि वे भी उत्पत्तिमान कहलाने लगे, जो उत्पन्न होता है वह कार्यरूप होगा और कार्यरूप है तो उनमे अनित्यत्व सहज सिद्ध हो जाता है] दूसरा विकल्प कहो कि सयोग के उत्पत्ति होने पर भी परमाणुभूत आश्रय उत्पन्न नही होते है तो उनके आश्रित सयोग रह नही सकता । समवाय से परमाणुओ मे सयोग आश्रित रहना भी अशक्य है, क्योकि समवाय का प्रतिषेध कर चुके है और आगे भी विस्तारपूर्वक प्रतिषेध होने वाला है, कार्यकारण भाव से सयोग उन परमाणुओ के आश्रित रहना भी इसलिए शक्य नही कि परमाणु उस सयोग के प्रति अकारक है । परमाणुओं मे अकारकपना इसलिए बताया कि वे अतिशय रहित अनतिशय स्वभाव वाले हैं । जो अनतिशयरूप है वे भी यदि कार्यो के जनक हो सकते है तो अविशेषता होने से

अतिशयान्तरकल्पने च अनवस्था-तदुत्पत्तावप्यपरातिशयान्तरपरिकल्पनात् । ततस्तेषामसयोगरूपता-परित्यागेन संयोगरूपतया परिणतिरभ्युपगन्तव्या इति सिद्धं तेषा कथञ्चिदनित्यत्वम् । अन्याश्रित-त्वेपि पूर्वोक्तदोषप्रसग: । अनाश्रितत्वे तु निर्हेतुकोत्पत्तिप्रसक्ते· सदा सत्त्वप्रसङ्गत: कार्यस्यापि सर्वदा भावानुषङ्ग: । कथं चासौ गुण स्यादनाश्रितत्वादाकाशादिवत् ?

किञ्च, असौ सयोग: सर्वात्मना, एकदेशेन वा तेषा स्यात् ? सर्वात्मना चेत्; पिण्डोणुमात्र: स्यात् । एकदेशेन चेत्; साशत्वप्रसगोऽमीषाम् । तदेवं सयोगस्य विचार्यमाणस्यायोगात्कथमसौ तेषामतिशय: स्यात् ? निरतिशयाना च कार्यजनकत्वे तु सकृन्निखिलकार्याणामुत्पाद. स्यात् । न

हमेशा कार्योत्पत्ति होने लगेगी यदि परमाणुओ के सयोग होने रूप अतिशय या कारण के लिये अन्य अतिशय की आवश्यकता है तब तो अनवस्था स्पष्ट दिखायी दे रही, क्योकि उस अतिशयान्तर के लिए अन्य अतिशय चाहिए, इत्यादि । इस तरह परमाणुओ का सयोग रूप अतिशय या उस सयोग का आश्रय ये सिद्ध नही होते है अत. असयोग-रूप जो परमाणुओ की अवस्था थी उसका परित्याग करके सयोगरूप परिणति होती है ऐसा मानना चाहिए, इसप्रकार परमाणु कथंचित् अनित्य है यह सिद्ध हो जाता है । द्वि अणुक आदि का निष्पादक संयोग परमाणु से अन्य किसी वस्तु के आश्रित है ऐसा कहो तो वही पूर्वोक्त दोष [समवाय के आश्रित है इत्यादि] आता है । इस सयोग को अनाश्रित माने तो निर्हेतुक उत्पत्ति होने से सयोग सदा विद्यमान रहेगा, और जव संयोग सतत् है तो कार्य भी सतत् विना रुकावट के होता रहेगा । यह वात भी विचारणीय रह जायगी कि संयोग को आपने गुण माना है वह अनाश्रित कैसे रह सकता है जो अनाश्रित है वह गुण नही होता, जैसे आकाशादि अनाश्रित होने से गुण नही है ।

परमाणुओ का संयोग द्वि अणुक आदि का निष्पादक है ऐसा मान भी लेवे तो पुन: शंका होती है कि यह संयोग सर्वात्मना होता है अथवा एक देश से होता है ? सर्वात्मना [सव देश से] होगा तो दोनो परमाणुओ का पिण्ड भी परमाणु मात्र रह जायगा । तथा एक देश से सयोग होना वताओ तो उन परमाणुओ मे सांशत्व सिद्ध होता है । इस प्रकार संयोग के विषय मे विचार करे तो वह सिद्ध नही होता, फिर किस प्रकार वह परमाणुओं का अतिशय [या कारण] कहलायेगा ? यदि विना अतिशय हुए परमाणु कार्यों के निष्पादक माने जाते है तो एक वार मे ही सारे कि

चैवम् । ततोमीषां प्राक्तनाजनकस्वभावपरित्यागेन विशिष्टसंयोगपरिणामपरिणताना जनकस्वभाव-सम्भवात्सिद्ध कथञ्चिदनित्यत्वम् । प्रयोग.–ये क्रमवत्कार्यहेतवस्तेऽनित्या यथा क्रमवदकुरादिनिर्वर्तका बीजादयः, तथा च परमाणव इति ।

ततोऽयुक्तमुक्तम्–'नित्या. परमाणव· सदकारणवत्त्वादाकाशवत् । न चेदमसिद्धमावयोः परमाणुसत्त्वेऽविवादात् । अकारणवत्त्व चातोऽल्पपरिमाणकारणाभावात्तेषा सिद्धम् । कारण हि कार्यादल्पपरिमाणोपेतमेव, तथाहि–द्वचणुकाद्यवयविद्रव्य स्वपरिमाणादल्पपरिमाणोपेतकारणारब्ध कार्यत्वात्पटवत्,' इति, अकारणवत्त्वाऽसिद्धि· (द्धे); परमाणवो हि स्कन्धावयविद्रव्यविनाश-

---

सारे कार्य निष्पन्न हो जायेगे । किन्तु ऐसा देखा नही जाता, अत· मानना पडता है कि इन परमाणुओ मे पहले का अजनक स्वभाव का त्याग होता है और विशिष्ट सयोग परिणाम से वे परिणत होते है, यह विशिष्ट अवस्था ही जनक स्वभाव की द्योतक है, इस तरह स्वभाव परिवर्तन से परमाणु कथचित् अनित्य सिद्ध होते है, अनुमान प्रयोग भी सुनिये—जो पदार्थ क्रम से कार्य के हेतु बनते है वे अनित्य होते है, जैसे क्रम से अकुर आदि का निष्पादन करने वाले बीज आदि पदार्थ अनित्य होते है, परमाणु भी क्रमिक कार्यो के निष्पादक है अत अनित्य है ।

जब परमाणुओ मे अनित्यपना सिद्ध हुआ तब आपका अनुमान वाक्य गलत ठहरता है कि "नित्या. परमाणव सदकारणवत्त्वादाकाशवत्" परमाणु नित्य है, क्योकि सत होकर अकारणभूत हैं, जैसे कि आकाश है, इत्यादि । परमाणु सत्तारूप है इस विषय मे तो आप वैशेषिक और हम जैन का कोई विवाद है नही, किन्तु दूसरा विषय जो अकारणत्व है वह हमे मान्य नही, अब परमाणु के अकारणत्व पर विचार किया जाता है, कार्य से कारण अल्प परिमाण वाला हुआ करता है और परमाणु से अल्प कोई है नही अत परमाणु अकारण है ऐसा आपका कहना है, कारण सदा अल्प परिमाण युक्त ही होता है जैसे कि द्वचणुक आदि अवयवी कार्यभूत द्रव्य अपने परिमाण अर्थात् माप से अल्प माप वाले कारण से बना है, क्योकि इसमे कार्यपना है, जो जो कार्य होगा वह वह अल्प परिमाण वाले कारण से ही निर्मित होगा जैसे अल्प परिमाण वाले तन्तुओं मे पट बना है । इस तरह आप वैशेपिकका सिद्धात है, किन्तु परमाणुओ मे अकारणत्व तो असिद्ध है, अनुमान से सिद्ध होता है कि जो परमाणु रूप द्रव्य है वे स्कन्धरूप अवयवी द्रव्य के विनाश के कारण हैं क्योकि स्कन्ध के विनाश होने पर ही

कारणकाः तद्भावभावित्वाद् घटविनाशपूर्वककपालवत् । न चेदमसिद्धं साधनम्; द्व्यणुकाद्यवयविद्रव्यविनाशे सत्येव परमाणुसद्भावप्रतीतेः । सर्वदा स्वतन्त्रपरमाणूना तद्विनाशमन्तरेणाप्यत्र सम्भवाद् भागासिद्धो हेतुः; इत्यप्यसुन्दरम्; तेषामसिद्धेः । तथाहि–विवादापन्नाः परमाणवः स्कन्धभेदपूर्वका एव तत्त्वाद् द्व्यणुकादिभेदपूर्वकपरमाणुवत् ।

ननु पटोत्तरकालभावितन्तूना पटभेदपूर्वकत्वेपि पटपूर्वकालभाविना तेषामतत्पूर्वकत्ववत् परमाणूनामप्यस्कन्धभेदपूर्वकत्व केषाञ्चित्स्यात्; इत्यप्यनुपपन्नम्, तेषामपिप्रवेणीभेदपूर्वकत्वेन

होते हुए देखे जाते है, जैसे कि घट के विनाशपूर्वक कपाल की उत्पत्ति देखी जाने से कपाल का कारण घट विनाश माना जाता है, यह तद्भाव भावित्व [स्कन्ध के नाश होने पर होना रूप] हेतु असिद्ध नही है, क्योकि द्व्यणुक आदि अवयवी द्रव्य का विनाश होने पर ही परमाणु का सद्भाव देखने मे आता है ।

वैशेषिक—जो परमाणु सर्वदा स्वतन्त्र है अर्थात् अभी तक अवयवी द्रव्यरूप नही बने है ऐसे परमाणु तो अवयवी द्रव्य का नाश होकर उत्पन्न नही हुए ? अतः परमाणु सकारण ही है–स्कन्ध का विघटन या नाश होकर ही उत्पन्न होते है ऐसा हेतु देना भागासिद्ध होता है । जो हेतु पक्ष के एक देश मे रहे वह भागासिद्ध नामा सदोष हेतु कहलाता है, यहां भी कोई परमाणु स्कन्ध विनाशरूप कारण से हुए और कोई बिना कारण के स्वतः सदा से ही परमाणु स्वरूप है अतः स्कन्ध नाश पूर्वक ही परमाणु होते है ऐसा कहना गलत ठहरता है ?

जैन—यह कथन असत् है, आप जिस तरह बता रहे वह सिद्ध नही होता, इसी का खुलासा करते है—विवाद मे आये हुए परमाणु नामा पदार्थ सब स्कन्ध का भेद होकर या नाश करके ही हुए है, क्योकि स्कन्ध के भेद होने पर ही उनकी प्रतीति होती है, जैसे द्व्यणुक आदि स्कन्ध द्रव्य के भेद पूर्वक होने वाले परमाणु ।

वैशेषिक—पट बनने के बाद जो तन्तु पट से निकाले जाते है वे तो पट के भेद से उत्पन्न हुए कहलायेगे, किन्तु पट बनने के पहले जो तन्तु थे वे तो पट के भेद पूर्वक नही हुए है, बिलकुल इसी प्रकार से कोई कोई परमाणु स्कन्ध के भेद बिना हुआ करते है ?

प्रतीत्या स्कन्धभेदपूर्वकत्वसिद्धे. । बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेः अवयव-विभागात्सयोगविनाशाद्विनाशोर्थानाम्' इत्यादि विनाशोत्पादप्रक्रियोद्घोषण तु प्रागेव कृतोत्तरम् । ततो नित्यैकत्वस्वभावाणूना जनकत्वासम्भवात्तदारब्ध तु द्वयणुकाद्यवयविद्रव्यमनित्यमित्यप्ययुक्तमुक्तम् ।

।। परमाणुरूपनित्यद्रव्यविचार समाप्तः ।।

जैन—यह बात भी ठीक नहीं, तन्तुओ का उदाहरण दिया सो जो तन्तु पट बनने के पहले के है वे भी प्रवेणीरूप स्कन्ध का भेद करके उत्पन्न हुए हैं, अतः "स्कन्ध भेद पूर्वकत्वात्" हेतु अबाधित ही है, आप वैशेषिक पदार्थ के उत्पाद और विनाश के विषय मे कथन करते हैं कि बलवान पुरुष द्वारा प्रेरित मुद्गर आदि के चोट से अवयवो मे क्रिया उत्पन्न होती है, उससे अवयवों का विभाग [विभाजन] होता है, उससे सयोग का नाश होता है और घट रूप अवयवी नष्ट होता है इत्यादि नाशोत्पाद की प्रक्रिया बकवास मात्र है, और इसका खण्डन पहले हो भी चुका है, अत' निश्चित होता है कि नित्य एक स्वभाव वाले परमाणु माने तो कार्यो का जनकपना होना असभव है, जब परमाणु ही सिद्ध नही होते तो उन परमाणुओ से प्रारब्ध द्वयणुक आदि अवयवी द्रव्य का अनित्यपना भी कैसे सिद्ध हो ? नहीं हो सकता, इस तरह परमाणुरूप कारणद्रव्य और अवयवीरूप कार्य द्रव्य दोनो के विषय मे वैशेषिक का सिद्धात बाधित हो जाता है । इस प्रकार परमाणु सर्वथा नित्य एक स्वभाववाले हैं, उनकी पृथिवी आदि की जातिया सर्वथा पृथक् पृथक् हैं इत्यादि कहना असत् ठहरता है ।

।। परमाणुरूपनित्यद्रव्यविचार समाप्त ।।

नित्य परमाणु द्रव्य खंडन का सारांश

योग के यहा परमाणुओं को नित्य माना है उनका कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इनके परमाणु नित्य है अर्थात् जिनसे ये पृथ्वी आदि स्कन्ध रूप कार्य बना है वे नित्य है हा जब पृथ्वी आदि स्कन्ध बिखेरकर वापिस अणु बनते है वे तो अनित्य है। आचार्य का कहना है कि सर्वथा अणु नित्य है तो उसके द्वारा स्कन्धादि अवयवी की उत्पत्ति हो नही सकती नित्य एक मे अर्थ क्रिया नही बनती, यदि वे परमाणु कार्य को करते है तो एक बार मे ही सब कार्य कर डालेगे या तो बिल्कुल करेंगे ही नही, क्योकि इनमे स्वभाव परिवर्तन तो होता नही यदि होता है तो वे परमाणु अनित्य बन जायेगे जो योग को इष्ट नही। आपका कहना है कि कारण तीन तरह के होते है समवायी कारण, असमवायी कारण, निमित्त कारण तीनो का संयोग सतत् नहीं मिलता अतः परमाणु सतत् कार्य को नही कर पाते है इत्यादि वह भी कथन गलत है।

परमाणु का संयोग यदि अनित्य है तो वह भी किस कारण से होगा? इत्यादि अनेक प्रश्न होते है, यह सयोग गुण है और गुण किसी ना किसी के आश्रय मे रहता है अतः वह परमाणु मे रहेगा तो परमाणु भी अनित्य बन जायेंगे, तथा परमाणु के साथ जब दूसरे परमाणु मिलते है तब एकदेश से मिलते है या सर्वदेश से? सर्व देश से मिलेगे तो सब मिलकर अणुमात्र हो जायेगे और एक देश से कहो तो परमाणु को साश मानना पड़ेगा, इन सब दोषो को दूर करने के लिये परमाणु द्रव्य को अनित्य मानना चाहिए, वे परमाणु स्कन्ध के भेद पूर्वक ही उत्पन्न होते है कहा भी है—

"भेदादणु."

॥ सारांश समाप्त ॥

८

अवयविस्वरूपविचारः

तन्त्वाद्यवयवेभ्यो भिन्नस्य च पटाद्यवयविद्रव्यस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भेनासत्त्वात्। न चास्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वमसिद्धम्; "महत्यनेकद्रव्यत्वाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धि" [वैशे० सू० ४।१।६] इत्यभ्युपगमात्। न च समानदेशत्वादवयविनोऽवयवेभ्यो भेदेनानुपलब्धिः; वातातपादिभि

वैशेषिक के नित्य परमाणुवाद का निरसन कर अब जैनाचार्य अवयवी द्रव्य के विषय मे वैशेषिक के विपरीत मान्यता का खण्डन करते है—वैशेषिक तन्तु आदि अवयवो से पट आदि अवयवी को सर्वथा पृथक् मानते है किन्तु उनसे भिन्न अवयवी उपलब्ध होने योग्य होकर भी उपलब्ध नही होता है अत ऐसे लक्षण वाले अवयवी का असत्व ही ठहरता है। अवयवी पटादि द्रव्य उपलब्धि होने योग्य नही हो सो तो बात है नही, "महत्यनेक द्रव्यत्वाद् रूप विशेषात् च रूपोपलब्धि." अर्थात् जो महान् अनेक द्रव्यरूप हो, तथा जिसमे रूप विशेष हो, उसमे रूप की उपलब्धि होती है। ऐसा आपके यहा कहा है। अवयव और अवयवी के समान देश होते है अतः इनमे भेद

रूपरसादिभिश्चानेकान्तात्, तेषा समानदेशत्वेपि भेदेनोपलम्भसम्भवात् ।

किञ्च, अवयवावयविनो. शास्त्रीयदेशापेक्षया समानदेशत्वम्, लौकिकदेशापेक्षया वा ? प्रथमपक्षेऽसिद्धो हेतु; पटावयविनो ह्यन्ये एवारम्भकास्तन्त्वादयो देशास्तेषा चान्ये भवद्भिरभ्युपगम्यन्ते । द्वितीयपक्षेप्यनेकान्तः; लोके हि समानदेशत्वमेकभाजनवृत्तिलक्षण भेदेनार्थानामुपलम्भेप्युपलब्धम्, यथा कुण्डे बदरादीनाम् ।

होते हुए भी भेद दिखायी नही देता ऐसा वैशेषिक का कहा हुआ हेतु भी वायु और आतप आदि अथवा रूप और रस आदि के साथ व्यभिचरित होता है क्योकि वायु और आतप आदि पदार्थो के समान देश होते हुए भी इनका भिन्न भिन्न रूप से ग्रहण होता है, इसलिये यह कहना गलत ठहरता है कि एक ही जगह अवयव अवयवी रहते है अत भिन्नता मालूम नही पड़ती, इत्यादि ।

अवयव अवयवी मे समान देशपना है ऐसा आपका कहना है सो वह समान देशपना कौनसा इष्ट है, शास्त्रीय देश की अपेक्षा से समानता है या लौकिक देश की अपेक्षा से समानता है ? प्रथम पक्ष कहो तो हेतु असिद्ध ठहरेगा कैसे सो बताते है— पट रूप अवयवी से अन्य ही उसको उत्पन्न करने वाले तन्तु आदि के देश है, अर्थात् पट अवयवी का देश अलग है और तन्तु आदि अवयवो का देश अलग है ऐसा आप स्वयने माना है । अत अवयवो और अवयवो के देश समान होते है ऐसा कहना आपके लिए असम्भव है । दूसरा पक्ष—लौकिक देशकी अपेक्षा से अवयवी और अवयवो के देश समान है ऐसा कहो तो अनेकान्तिकता होगी, क्योकि लोक मे एक भाजनमे रहना आदि रूप समान देशता मानी है और ऐसी समानदेशता होते हुए भी उन पदार्थो का भेदरूप से उपलब्धि होना स्वीकार किया गया है, जैसेकि कुण्ड में [वर्त्तन विशेष] वेर है सो लोक में कुण्ड और बेरको एक स्थान पर मानते हैं, किन्तु समान देशता होते हुए भी इनका भिन्न भिन्न प्रतिभास होता है अत यह कहना गलत ठहरता है कि जिनमे समान देशता होती है वे पदार्थ भिन्न भिन्न प्रतिभासित नही होते है ।

विशेषार्थ—अवयवो से अवयवी सर्वथा पृथक् रहता है या अवयवी से अवयव सर्वथा पृथक् रहते है ऐसा वैशेषिक का दुराग्रह है तब आचार्य पूछते है कि अवयवी से अवयव सर्वथा पृथक् है तो उन दोनो का पृथक् पृथक् प्रतिभास होना चाहिए, तथा

किञ्च, कतिपयावयवप्रतिभासे सत्यऽवयविन प्रतिभास', निखिलावयवंप्रतिभासे वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्त', जलनिमग्नमहाकायगजादेरुपरितनकतिपयावयवप्रतिभासेप्यखिलावयवव्यापिनो गजाद्यवयविनोऽप्रतिभासनात् । नापि द्वितीयविकल्पो युक्तः; मध्यपरभागवर्त्तिसकलावयवप्रतिभासासम्भवेनावयविनोऽप्रतिभासप्रसंगात् । भूयोऽवयवग्रहणे सत्यवयविनो ग्रहणमित्यप्ययुक्तम्, यतोऽर्वाग-

---

इनकी पृथक् पृथक् उपलब्धि होनी चाहिए सो क्यो नही होती ? इस पर उन्होने कह दिया कि समान देशताके कारण दोनो पृथक् पृथक् दिखायी नही देते अथवा उपलब्ध नही होते । तब उन्हे समझाया कि समानदेशता होने मात्र से पृथक् प्रतिभास न हो सो बात नही है, वायु और सूर्य का घाम, रूप और रस इत्यादि पदार्थ समान देश मे व्यवस्थित होकर भी पृथक् पृथक् प्रतिभासित होते है तथा समान देशता भी दो तरह की है, शास्त्रीय समानदेशता और लौकिक समान-समानदेशता । शास्त्रीय समानदेशता तो यही अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि मे हुआ करती है, किन्तु वैशेषिक इनमे समानदेशता बतला नही सकता क्योकि इनके मत में पट आदि अवयवी का देश और तन्तु आदि अवयवो के देश भिन्न भिन्न माने है । लौकिक समानदेशता आधार आधेय आदि रूप कुण्ड मे बेर है इत्यादि रूप हुआ करती है, सो ऐसी समानदेशता होने से कोई अभिन्न प्रतिभास होता नही, अर्थात् समानदेश होने से अवयव-अवयवी पृथक् पृथक् प्रतीत नही होते ऐसा कहना साक्षात् ही बाधित है–कुण्ड और बेर समानदेश मे होकर भी भिन्न भिन्न प्रतीत हो रहे अत. समान देशता के कारण अवयवी और अवयवो का पृथक् पृथक् प्रतिभास नही होता ऐसा परवादी का मतव्य निराकृत हो जाता है । वास्तविक बात तो यही है कि अवयव और अवयवी परस्पर मे कथचित् भिन्न है और कथचित् अभिन्न है ।

यह भी एक प्रश्न है कि कुछ कुछ अवयवो के प्रतिभामित होने पर अवयवी प्रतीत होता है या सपूर्ण अवयवो के प्रतीत होने पर प्रतीत होता है ? प्रथम विकल्प अयुक्त है । कैसे सो बताते है कुछ ही अवयवो के देखने से अवयवी दिखायी देता तो जल मे डूबा हुआ बडा हाथी है, उसके ऊपर के कुछ कुछ अवयव प्रतिभासित होते हैं किन्तु सपूर्ण अवयवो मे व्याप्त ऐसा हाथी स्वरूप अवयवी तो प्रतीत नही होता । दूसरा विकल्प— संपूर्ण अवयवो के प्रतीत हो जाने पर अवयवी का प्रतिभास होता है ऐसा माने तो भी ठीक नहीं, किसी भी अवयवी के सपूर्ण अवयव प्रतीत हो ही नही सकते,

भागभाव्यवयवग्राहिणा प्रत्यक्षेण परभागभाव्यवयवाग्रहणान्न तेन तद्व्याप्तिरवयविनो ग्रहीतुं शक्या, व्याप्याग्रहणे तद्व्यापकस्थापि ग्रहीतुमशक्तेः। प्रयोगः—यद्येन रूपेण प्रतिभासते तत्तथैव तद्व्यवहार-विषयः यथा नीलं नीलरूपतया प्रतिभासमान तद्रूपतयैव तद्व्यवहारविषयः, अर्वाग्भागभाव्यवयव-सम्बन्धितया प्रतिभासते चावयवीति। न च परभागभाविव्यवहितावयवाप्रतिभासनेप्यव्यवहितोऽवयवी प्रतिभातीत्यभिधातव्यम्; तदप्रतिभासने तद्गतत्वेनास्याऽप्रतिभासनात्। तथाहि—यस्मिन्प्रतिभासमाने यद्रूपं न प्रतिभाति तत्ततो भिन्नम् यथा घटे प्रतिभासमानेऽप्रतिभासमान पटस्वरूपम्, न प्रतिभासते

मध्य के पिछले भाग के बहुत से अवयव प्रतिभासित होते ही नही। जब सारे अवयव प्रतीत नही होते तो आपकी दृष्टि से अवयवी प्रतीत होगा ही नही।

वैशेषिक—बहुत से अवयव ग्रहण हो जाने पर अथवा बार बार अवयवो को ग्रहण करने पर अवयवी प्रतिभासित होता है, ऐसा हम मानते है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, अवयवी के इस तरफ के भाग के अवयव को ग्रहण करने वाला जो प्रत्यक्ष ज्ञान है उसके द्वारा परले तरफ के भाग के अवयव ग्रहण होते नही, अतः उन अवयवो से व्याप्त जो अवयवी है, उसका ग्रहण होना अशक्य है, व्याप्य के ग्रहण किये बिना उसके व्यापक का ग्रहण होना असम्भव है। अनुमान से यही सिद्ध होगा कि जो जिस रूप से प्रतीत होता है वह उसी रूप से व्यवहार का विषय हुआ करता है, जैसे नील पदार्थ नीलरूप से प्रतीत होता है तो नीलरूप ही व्यवहार मे आता है, अवयवी आदि के बारे मे भी यही बात है, इस तरफ के भाग के अवयवो के सम्बन्धरूपसे मात्र अवयवी प्रतीत होता है [परले भाग में स्थित अवयवो के सम्बन्धरूप से तो प्रतीत होता नही] अतः उसको उसी रूप से व्यवहार का विषय मानना चाहिए ?

वैशेषिक—परभाग मे होने वाले व्यवहित अवयव यद्यपि प्रतीत नही होते किन्तु उनसे अव्यवहित ऐसा अवयवी तो प्रतीत होता ही है ?

जैन—ऐसा नही कहना, जब परले भाग मे स्थित अवयव प्रतीत नही हो रहे है तब उसमे रहने वाला अवयवी कैसे प्रतीत होगा ? नही हो सकता। अनुमान प्रयोग—जिसके प्रतीत होने पर जो रूप प्रतीत नही होता वह उससे भिन्न है, जैसे घट के प्रतीत होने पर पटका रूप प्रतीत नही होता अत वह उससे भिन्न माना जाता

चार्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपे प्रतिभासमाने परभागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपम् इति कथं निरंशैकावयविसिद्धिः ? अर्वाग्भागपरभागभाव्यवयवसम्बन्धित्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेप्यस्याभेदेऽसर्वत्र भेदोपरतिप्रसङ्गः, अन्यस्य भेदनिबन्धनस्यासम्भवात् । प्रतिभासभेदो भेदनिबन्धनमित्यप्यपेशलम्; विरुद्धधर्माध्यासभेदकमन्तरेण प्रतिभासस्यापि भेदकत्वासम्भवात् ।

नापि परभागभाव्यवयवावयविग्राहिणा प्रत्यक्षेणार्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्धित्वं तस्य ग्रहीतुं शक्यम्, उक्तदोषानुषंगात् । नापि स्मरणेनार्वाक्परभागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपग्रहः, प्रत्यक्षा

है, इस तरफ के भाग के अवयव सम्बन्धी अवयवी का स्वरूप प्रतीत होने पर भी परले भाग के अवयव सम्बन्धी अवयवी का स्वरूप प्रतीत होता नही, अत वह उससे भिन्न होना चाहिए । इस तरह अवयवी मे भी भेद सिद्ध होता है, फिर अवयवी एक निरंश ही है, ऐसा कहना किस प्रकार सिद्ध होगा ? अर्थात् नही होगा । परला भाग और इस तरफ का भाग दोनो भागो मे होने वाले अवयव सम्बन्धी अवयवी मे व्यवहित रहना और व्यवहित नही रहना रूप विरुद्ध-दो धर्म होते हुए भी अभेद माना जाय तो अन्य घट पट आदि सब पदार्थो मे भेद न मानकर अभेद ही मानना पडेगा । क्योंकि विरुद्ध धर्मत्व को छोड़कर अन्य कोई ऐसी चीज नही है कि जो पदार्थो मे भेद को सिद्ध करे ।

शका—प्रतिभास के भेद से पदार्थो मे भेद सिद्ध होवेगा । अर्थात् जहा प्रतिभास भिन्न है वहा पदार्थ मे भेद माना जाय ?

समाधान—ऐसी बात नही हो सकती, विरुद्ध धर्मपना वस्तु मे हुए बिना प्रतिभास का भेद–भिन्न-भिन्न प्रतिभास का होना भी असिद्ध कोटी मे जाता है ।

परभाग मे होने वाले अवयव और अवयवी इन दोनो को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष द्वारा उस अवयवी के इस तरफ के भाग के अवयवो का सम्बन्धीपना ग्रहण होना भी अशक्य है, ऐसा मानने मे वही व्याप्य के ग्रहण हुए बिना व्यापक का ग्रहण हो नही सकने रूप पूर्वोक्त दोष आता है ।

शका—इधरके भाग के अवयव और उस तरफ के भाग के अवयव इन दोनो सम्बन्धी जो अवयवी का स्वरूप है वह स्मरण द्वारा ग्रहण हो जायगा ।

नुसारेणास्य प्रवृत्ते:, प्रत्यक्षस्य च तद्ग्राहकत्वप्रतिषेधात् । नाप्यात्मा अर्वाक्परभागावयवव्यापित्व-मवयविनो ग्रहीतुं समर्थ:; जडतया तस्य तद्ग्राहकत्वानुपपत्ते:, अन्यथा स्वापमदमूर्च्छाद्यवस्थास्वपि तद्ग्राहित्वानुषग: । प्रत्यक्षादिसहायस्याप्यात्मनोवयविस्वरूपग्राहित्वायोग:; अवयविनो निखिलावय-वव्याप्तिग्राहित्वेनाध्यक्षादे: प्रतिषेधात् ।

ननु चार्वाग्भागदर्शने सत्युत्तरकालं परभागदर्शनानन्तरस्मरणसहकारीन्द्रियजनितं 'स एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञाज्ञानमध्यक्षमवयविन: पूर्वापरावयवव्याप्तिग्राहकम्; तदप्यसाम्प्रतम्, प्रत्यभिज्ञाज्ञानेऽ-

---

समाधान—ऐसा कहना भी शक्य नही, प्रत्यक्ष के अनुसार ही स्मरणज्ञान प्रवृत्त हुआ करता है, अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानगम्य वस्तु मे स्मरण आता है ऐसा नियम है और पर भाग के अवयव एव तद सम्बन्धी अवयवो का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होना निषिद्ध हो चुका है ।

शका—अर्वाक् भाग और परभाग के अवयवो मे अवयवी का व्यापकपना तो आत्मा द्वारा ग्रहण हो जायेगा ?

समाधान—यह भी असभव है, आप वैशेषिक आत्मा को जड मानते है सो वह ग्राहक कैसे बने ? [वैशेषिक आदि परवादी आत्मा मे स्वय चैतन्य नही मानते चैतन्य के समवाय से चैतन्य मानते है, अत: उनके यहा आत्मा जड़ जैसा ही पदार्थ सिद्ध होता है] तथा आत्मा को अवयवी आदि पदार्थ का ग्राहक माना जाय तो, निद्रित अवस्था मे, मदोन्मत्त अवस्था मे, मूर्च्छादि अवस्था मे भी आत्मा उन पदार्थो का ग्राहक बनने लगेगा ?

शंका—आत्मा स्वयं तो पदार्थो का ग्राहक नही हो सकता किन्तु प्रत्यक्ष आदि ज्ञानकी सहायता लेकर उस अवयवी आदिको जानता है ।

समाधान—ऐसा होना भी असम्भव है, क्योंकि अवयवी सपूर्ण अवयवो मे व्याप्त है, उन सम्पूर्ण अवयवो को ग्रहण करने वाला कोई प्रत्यक्षादि ज्ञान नही है, फिर आत्मा भी उनकी सहायता से उन अवयवी आदि को कैसे जान सकता है, नही जान सकता ।

वैशेषिक—पहले तो इस तरफ के भाग का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, फिर उत्तरकाल मे उधर के भाग का दर्शन–प्रत्यक्ष ज्ञान होता है सो इसमे पूर्वका देखा

त्यक्षरूपत्वस्यैवासिद्धेः। अक्षाश्रित विशदस्वभावं हि प्रत्यक्षम्, न चास्यैतल्लक्षणमस्तीति। अक्षाश्रितत्वे चास्याखिलावयवव्याप्यवयविस्वरूपग्राहकत्वासम्भव ; अक्षाणा सकलावयवग्रहणे व्यापारासम्भवात्। न च स्मरणसहायस्यापीन्द्रियस्याविषये व्यापारः सम्भवति। यद्यस्याविषयो न तत्तत्र स्मरणसहायमपि प्रवर्त्तते यथा परिमलस्मरणसहायमपि लोचन गन्धे, अविषयश्च व्यवहितोऽक्षाणा परभागभाव्यवयव-सम्बन्धित्वलक्षणोऽवयविनः स्वभाव इति।

न चानेकावयवव्यापित्वमेकस्वभावस्यावयविनो घटते; तथा हि–यन्निरंशैकस्वभाव द्रव्य तन्न सकृदनेकद्रव्याश्रितम् यथा परमाणु, निरंशैकस्वभावं चावयविद्रव्यमिति। यद्वा, यदनेक द्रव्य तन्न

हुआ भाग स्मरण मे रहने से उस स्मरण की सहायता से उत्पन्न हुआ इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यभिज्ञान नामा ज्ञानको प्राप्त होता है, जिसमे "वही यह है" ऐसा प्रतिभास होता है, सो इस तरह के प्रत्यक्षज्ञान द्वारा अवयवी के पूर्वापर अवयवो का ग्रहण हो जाया करता है ?

जैन—यह कथन असत् है, प्रत्यभिज्ञानको प्रत्यक्षज्ञान मानना अभी तक सिद्ध नही हुआ है, इंद्रियो के आश्रित का जो ज्ञान विशद स्वभाव वाला होता है वह प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है, ऐसा विशदलक्षण प्रत्यभिज्ञान के नही है तथा इस प्रत्यभि-ज्ञानको इन्द्रियाश्रित मानेगे तो सपूर्ण अवयवो मे व्यापक जो अवयवीका स्वरूप है उसे वह ग्रहण नही कर सकेगा। क्योकि इन्द्रिया सपूर्ण अवयवो को ग्रहण करने मे प्रवृत्त नही होती, इसका भी कारण यह है कि सपूर्ण अवयव इन्द्रियो के विषय नही हैं। स्मरण ज्ञानकी सहायता से इन्द्रिया उन अवयवोरूप अविषय मे प्रवृत्त हो जायगी ऐसा कहना भी अशक्य है, क्योकि जो जिसका अविषय है उसमे वह ज्ञान स्मरणकी सहायता लेकर भी प्रवृत्त नही हो सकता है, जैसे सुगन्ध के स्मरणज्ञान की सहायतायुक्त नेत्र भी गन्ध विषय मे प्रवृत्त नही होते है। परभाग मे होने वाले अवयवो सम्बन्धी अवयवी का व्यवहित स्वभाव इन्द्रियो का अविषय ही है [विषय नही है] अत इन्द्रिया उसको जान नही सकती है।

आप वैशेषिक के यहा अवयवी का जो स्वरूप बताया है वह घटित नही होता है, आप अनेक अवयवो मे व्यापक एक स्वभाव वाला अवयवी मानते है, अब इसीको बताते है—जो निरश एक स्वभाव वाला द्रव्य होता है वह एक साथ अनेक द्रव्यो के आश्रित नही रह सकता, जैसे परमाणु निरश एक द्रव्य है तो वह एक साथ

सकृन्निरंशैकद्रव्यान्वितम् यथा कुटकुड्यादि, अनेकद्रव्याणि चावयवा इति ।

अस्तु वानेकत्रावयविनो वृत्ति.; तथाप्यस्यासौ सर्वात्मना, एकदेशेन वा स्यात् ? यदि सर्वात्मना प्रत्येकमवयवेष्ववयवी वर्तेत; तदा यावन्तोऽवयवास्तावन्त एवावयविन. स्यु:, तथा चानेककुण्डादिव्यवस्थितबिल्वादिवदनेकावयव्युपलम्भानुषङ्गः ।

अथैकदेशेन; अत्राप्यस्यानेकत्र वृत्ति किमेकावयवक्रोडीकृतेन स्वभावेन, स्वभावान्तरेण वा स्यात् ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, तस्य तेनैवावयवेन क्रोडीकृतत्वेनान्यत्र वृत्त्ययोगात् । प्रयोग –यदेकक्रोडीकृत वस्तुस्वरूप न तदेवान्यत्र वर्तते यथैकभाजनक्रोडीकृतमाम्रादि न तदेव भाजनान्तरमध्यम-

---

अनेक द्रव्यो के आश्रित नही होता है, आपने अवयवी नामा द्रव्यको निरश एक स्वभाव वाला माना है, अत· वह एक वार मे अनेक द्रव्यो के आश्रित नही रह सकता । दूसरा अनुमान प्रमाण भी इसीको सिद्ध करता है जो अनेक द्रव्य स्वरूप होता है वह एक साथ निरश एक द्रव्य से युक्त नही हो पाता, जैसे घट, भित्ति आदि अनेक द्रव्य है अत: एक बार मे एक निरश द्रव्य से युक्त नही होते है, अवयव भी अनेक द्रव्यरूप है इसलिए निरश एक द्रव्य से अन्वित नही हो सकते । दुर्जन सतोष न्याय से मान भी लेवे कि आपका इष्ट एक ही अवयवी अनेक मे रह जाता है, किन्तु फिर यह बताना चाहिए कि यह अवयवी अवयवो मे सर्वदेश से रहेगा कि एक देशसे रहेगा ? सर्वदेश से रहना माने तो प्रत्येक अवयव अवयव मे अवयवी चाहिए, सो जितने अवयव है उतने अवयवी बन जायेगे । फिर तो जैसे अनेक कुण्डो मे रखे हुए बेल, आम, अमरूद, बेर आदि अनेक पदार्थोकी तरह अनेक अनेक अवयवी दिखायी देने लगेगे ।

यदि दूसरा पक्ष माना जाय कि अवयवो मे अवयवी एक देश से रहता है तो इस पक्ष मे अनेक प्रश्न खडे होते है, अवयवो मे अवयवी एकदेश से वर्त्त रहा है सो एक अवयव को अपने मे लेकर रहना रूप स्वभाव से रहेगा, या अन्य कोई स्वभाव से रहेगा ? प्रथम बात ठीक नही क्योकि अवयवी एक ही अवयव को अपने मे समाये रखेगा तो वह अन्य अन्य अवयवो मे रह नही सकेगा । अनुमान से यही बात सिद्ध होगी–जो वस्तु स्वरूप एक को समाये रखता है वही वस्तु स्वरूप अन्य जगह नही रह सकता, जैसे एक बर्त्तन मे समाये हुए आम, जामून पदार्थ है वे ही अन्य अन्य बर्त्तनो मे रह नही सकते है, इसी तरह का वैशेषिक द्वारा मान्य एक अवयव को समाये रखने वाला अवयवी का स्वरूप है, अत: वह अन्य अवयवो मे नही रह सकता । यदि रहेगा तो

ष्यास्ते, एकावयवक्रोडीकृतं त्वावयविस्वरूपमिति । वृत्तौ वान्यत्र अत्रावयवे वृत्त्यनुपपत्तिरपरस्वभावाभावात् । एकावयवसम्बद्धस्वभावस्याऽतद्देशावयवान्तरसम्बन्धाभ्युपगमे च तदवयवानामेकदेशतापत्तिः, एकदेशताया चैकात्म्यमविभक्तरूपत्वात् । विभक्तरूपावस्थितौ चैकदेशत्व न स्यात् । अथ स्वभावान्तरेणासाववयवान्तरे वर्त्तते, तदास्य निरंशताव्याघातः, कथञ्चिदनेकत्वप्रसङ्गश्च, स्वभावभेदात्मकत्वाद्वस्तुभेदस्य । ते च स्वभावा यद्यतोऽर्थान्तरभूताः, तदा तेष्वप्यसौ स्वभावान्तरेण वर्ततेत्यनवस्था । अथानर्थान्तरभूता., तर्ह्यवयवै किमपराद्ध येनैते तथा नेष्यन्ते ? तदिष्टौ वावयविनोऽनेकत्वमनित्यत्व च स्वशिरस्ताड पूत्कुर्वतोप्यायातम् ।

इस पहले अवयव मे नही रह सकेगा, क्योकि अवयवी मे एक से अधिक स्वभाव नही है तथा केवल एक अवयव मे सम्बद्ध हुआ अवयवी अन्य देश मे नही रह कर ही अवयवातरो से सम्बन्ध करता है ऐसा मानते है तो वे सारे ही अवयव एक देशरूप बन जायेगे, और एक देशरूप बनने पर अविभाज्य होने से एक स्वरूप एकमेक कहलायेगे । कोई कहे कि अवयव तो विभाज्य–विभक्त होने योग्य ही हुआ करते है तो फिर उनमे एकदेशपना नही हो सकेगा । यदि दूसरा पक्ष कहा जाय कि अवयवी भिन्न भिन्न स्वभाव से अन्य अवयवो मे रहता है तो यह अवयवी निरश नही रहा, साश हो गया । तथा कथचित् अनेक भी बन गया । क्योकि जहा स्वभावो मे भेद है वहा वस्तुभेद होता है । अब यह देखना है कि वे भिन्न भिन्न स्वभाव अवयवी से अर्थान्तरभूत-पृथक् है क्या ? यदि हां तो उन भिन्न स्वभावो मे अवयवी स्वभावान्तर से रहेगा सो अनवस्था आती है, तथा वे भिन्न भिन्न स्वभाव अवयवी से अनर्थान्तर-अपृथक् है तो अवयवो ने क्या अपराध किया है कि जिससे उन्हे अवयवी से अनर्थान्तरभूत [अपृथक्भूत] रहना नही मानते ? अर्थात् जैसे अवयवी स्वभावान्तरो मे अपृथक्पनेसे रहता है वैसे अवयव भी उसमे अभिन्न या अपृथक्पने से रहेगे और इस तरह एक अवयवी मे अनेक अवयव अभिन्नपने से रहते है तो अवयवी अनेक स्वभाव वाला तथा अनित्य स्वभाव वाला [कथचित्] सिद्ध होता ही है । अर्थात् वैशेषिक यदि अवयवी को अवयवो मे अभिन्नपने से रहना स्वीकार करते है तो उनके मत मे भी जैन के समान अवयवी के अनेकपना एव अनित्यपना सिद्ध होता है, फिर चाहे वैशेषिक अपना शिर ताडित कर करके रुदन करे, तो भी अवयवी का अनेकत्व और अनित्यपना रुक नही सकता, वह तो अनेक स्वभाव वाला और अनित्य स्वभाव वाला सिद्ध होता ही है । वैशेषिक से हम जैन पूछते है कि आप अवयवी को सर्वथा अविभागी मानते है सो उस अवयवी के एक देश

यदि चावयव्यविभागः स्यात्तदेकदेशस्यावरणे रागे च अखिलस्यावरणं रागश्चानुषज्यते, रक्तारक्तयोरावृतानावृतयोश्चावयविरूपयोरेकत्वेनाभ्युपगमात्। न चैव प्रतीतिः, प्रत्यक्षविरोधात्। न चान्योन्य विरुद्धधर्माध्यासेप्येक युक्तम्, अत एव, अनुमानविरोधाच्च। तथाहि–यद्विरुद्धधर्माध्यासित तन्नैकम् यथा कुटकुडयाद्युपलभ्यानुपलभ्यस्वभावम्, आवृतानावृतादिस्वरूपेण विरुद्धधर्माध्यासित चावयविस्वरूपमिति। तथाप्येकत्वे विश्वस्यैकद्रव्यत्वानुषङ्ग।

ननु वस्त्रादे राग. कुकुमादिद्रव्येण सयोगः; स चाव्याप्यवृत्तिस्तत्कथमेकत्र रागे सर्वत्र राग एकदेशावरणे सर्वस्यावरणम्? तदप्यसारम्, यतो यदि पटादि निरशमेक द्रव्यम्, तदा कुकुमादिना

पर आवरण आया अथवा कोई रग चढा तो सारे ही अवयवी के आवरण और रग लग जायगा। क्योकि आपने रक्त और अरक्त अवस्था, तथा आवृत और अनावृत अवस्था इनमे अवयवी को एक रूप ही मान लिया है किन्तु ऐसी प्रतीति नही होती कि रगा हुआ अवयवी का भाग और नही रगा हुआ भाग एक हो, ऐसा एकत्व बिना प्रतीति के कैसे माने ? प्रत्यक्ष विरोध आता है। तथा परस्पर मे विरुद्ध धर्माध्यास युक्त होते हुए भी उस अवयवी मे निरंश एकरूपता मानना शक्य नही, क्योकि जिसमे विरुद्ध धर्माध्यास हो वह निरश एक हो नही सकता, तथा ऐसा मानने मे अनुमान प्रमाण से बाधा भी आती है आगे इसी को दिखाते है—जो वस्तु विरुद्ध धर्माध्यासित होती है वह एक नही होती, जैसे घट और भित्ति आदि मे उपलभ्य स्वभाव और अनुपलभ्य स्वभावरूप विरुद्ध धर्माध्यासपना होने से एकत्व नहीं है, ऐसे ही अवयवी का स्वरूप आवृत्त और अनावृत्त स्वभावरूप विरुद्ध धर्माध्यास युक्त है अत वह भी एकरूप नही है। इस तरह अनुमान से अवयवी मे एकत्व सिद्ध नहीं होता है अनेकत्व ही सिद्ध होता है, फिर भी यदि उसे एकरूप माना जाय तो सारे विश्व को ही एक द्रव्यरूप मानना होगा।

वैशेषिक—अवयवी के रगा नही रंगा आदि भाग की जो बात कही उसमे हमारा यह कहना है कि वस्त्र आदि अवयवी द्रव्य की जो रक्तिमा है वह तो कुंकुम आदि अन्य द्रव्य के साथ सयोग होना है, सयोग जो होता है वह अव्याप्य वृत्ति वाला हुआ करता है, अत एकदेश मे रगीन होने पर सर्वदेश मे रगीन होना, या एकदेश मे आवरण युक्त होने पर सर्वत्र आवरण युक्त होना किस प्रकार सिद्ध होगा, नही हो सकता ?

किं तत्राव्याप्त येनाऽव्याप्यवृत्तिः सयोगी भवेत् ? अव्याप्तौ वा भेदप्रसङ्गो व्याप्ताव्याप्तस्वरूपयोर्विरुद्धधर्माध्यासेनैकत्वायोगात् ।

किंच, अस्याव्याप्यवृत्तित्व सर्वद्रव्याव्यापकत्वम्, एकदेशवृत्तित्वं वा ? न तावत्प्रथमः पक्षः; द्रव्यस्यैकस्य सर्वशब्दविपयत्वानभ्युपगमात् । अनेकत्र हि सर्वशब्दप्रवृत्तिरिष्टा । नापि द्वितीय; तस्यैकदेशासम्भवात्, अन्यथा सावयवत्वप्रसगात् । ततो नास्त्यवयवी वृत्तिविकल्पाद्यनुपपत्तेरिति ।

ननु चावयविनो निरासे यत्साधन तत्कि स्वतन्त्रम्, प्रसगसाधन वा ? स्वतन्त्र चेत्; धर्मिसाध्यपदयोर्व्याघात, यथा-'इद च नास्ति च' इति । हेतोराश्रयासिद्धत्वञ्च; अवयविनोऽप्रसिद्धेः । न च

जैन—यह कथन असार है, क्योकि यदि वस्त्र आदि द्रव्य निरश एक ही है तो उसकी कु कुम आदि द्रव्यके साथ क्या अव्याप्ति रही जिससे अव्याप्यवृत्ति स्वभाव वाला संयोग उसमे होवेगा ? अभिप्राय यह है कि जब अवयवी निरश एक है तो उसका कौनसा भागाश बचा कि जो रग सयोग युक्त नही हुआ है ? अर्थात् कोई अश अवशेष नही है । यदि कुंकुमादि से अव्याप्त कोई भाग अवशेप है तो उस अवयवी मे भेद मानना ही पड़ेगा । क्योकि व्याप्तस्वरूप और अव्याप्तस्वरूप इस तरह विरुद्ध दो धर्मो से युक्त होकर अनेक हो कहलायेगा, फिर उसमे एकत्व रह नही सकेगा ।

यह भी बताना चाहिए कि वस्त्र मे कु कुमादि द्रव्य का अव्याप्यवृत्ति वाला संयोग रहता है ऐसा आपने कहा सो अव्याप्यवृत्ति किसे कहना, सर्व द्रव्य मे अव्यापक रहना, या एकदेश मे रहना ? प्रथम पक्ष तो बनता नही, एक द्रव्य को सर्व शब्द से कहते ही नही, एक द्रव्य सर्वशब्द का विपय होना आपने स्वीकार किया नही, सर्व शब्द की प्रवृत्ति अनेक द्रव्य मे हुआ करती है ऐसा आपके यहा माना है। दूसरा पक्ष एक देश मे रहना अव्याप्यवृत्तिपना कहलाता है, ऐसा कहो तो भी नही बनता, उस निरश अवयवी के एकदेश होना ही असम्भव है, यदि माने तो उसे सावयव कहना होगा । अनतोगत्वा यही कहना पडता है कि वैशेषिकाभिमत अवयवी पदार्थ नही है, क्योकि वह किस स्वभाव वाला है, अपने अवयवो मे कैसे रहता है इत्यादि कुछ भी सिद्ध नही हो पाता है ।

वैशेषिक—अवयवी का खण्डन करने के लिये आप जैन कौनसा अनुमान प्रमाण उपस्थित करेगे, स्वतन्त्र अर्थात् पक्ष, हेतु, दृष्टान्त आदि जिसमे हो ऐसा अनुमान या

वृत्त्या सत्त्वं व्याप्तम्; समवायवृत्त्यनभ्युपगमेपि भवता रूपादेः सत्त्वाभ्युपगमात् । एकदेशेन सर्वात्मना वावयविनो वृत्तिप्रतिषेधे विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाविषयत्वात् प्रकारान्तरेण वृत्तिरभ्युपगता स्यात्, अन्यथा 'न वर्तते' इत्येवाभिधातव्यम् । वृत्तिश्च समवायः, तस्य सर्वत्रैकत्वान्निरवयवत्वाच्च कात्स्न्यैकदेशशब्दाविषयत्वम् । अथ प्रसगसाधन परस्येष्टयाऽनिष्टापादनात् । ननु परेष्टि. प्रमाणम्, अप्रमाण वा ? यदि प्रमाणम्; तर्हि तयैव बाध्यमानत्वादनुत्थान विपरीतानुमानस्य । न चानेनैवास्या

प्रसंगसाधन वाला अनुमान ? स्वतन्त्र साधन वाला अनुमान कहो तो धर्मी और साध्य पद का व्याघात होगा, अर्थात् "अवयवी" यह तो धर्मी है और "नास्ति-नही" यह हेतु है, सो ये दोनो पद परस्पर विरुद्ध जैसे मालुम पडते है जिस प्रकार "इद च नास्ति च" यह और पुनः नास्ति–नही कहना परस्पर विरुद्ध पड़ता है । तथा "अवयवी नही है" ऐसे साध्य मे बनाया गया हेतु आश्रयासिद्ध भी कहलायेगा, क्योकि हेतु का आश्रयधर्मी जो अवयवो है वह अप्रसिद्ध है । तथा आप जैन के यहां पर समवाय के साथ सत्वकी व्याप्ति नही होने से यह भी नही कह सकते कि समवाय से अययवो मे अवयवी रह जायगा और उसकी सत्ता सिद्ध होगी, क्योकि आप समवाय से अवयवो मे अवयवी का सत्व नही मानकर भी उसमे रूपादि का सत्व स्वीकार किया है, अर्थात् आप समवाय से सत्व होना न मानकर तादात्म्य से सत्व मानते है । दूसरी बात यह भी है कि जब जैन ने एकदेश और सर्वदेश दोनों तरह से अवयवी का रहना निषिद्ध किया है, सो इन एकदेश वृत्ति आदि का निषेध होने पर भी शेष वृत्ति सामान्य किसी रूप से रहना तो निषिद्ध नही होता, वह स्वीकृत ही कहलाया ? अन्यथा आपको इतना ही कहना था कि अवयवी [अवयवो मे] रहता ही नही ! हम तो अवयवों मे अवयवी समवाय से रहता है ऐसा मानते है और यह जो समवाय है वह सर्वत्र एकरूप तथा निरवयव है अत. उसमे एकदेश से रहता है या सर्वदेश से रहता है इत्यादि शब्दों का विपयपना घटित नही होता है । दूसरा विकल्प कहो कि अवयवी का खण्डन करने मे प्रयुक्त अनुमान प्रसग साधनभूत है–पर की इष्टता को लेकर उसी का अनिष्ट सिद्ध कर देना प्रसग साधन कहलाता है, सो इस विषय मे प्रश्न है कि आप जैन को परवादी की परेष्टि इष्ट मान्यता प्रमाण है कि अप्रमाण है ? यदि प्रमाण है तो उस प्रमाणभूत परेष्टि से ही आपका अनुमान बाध्यमान होने से प्रवृत्त नही हो सकेगा । क्योकि इस अनुमान मे "अवयवी नही है" इत्यादि रूप विपरीत साध्य है । तुम कहो कि हमारे इस अनुमान से ही पर की इष्टता मे बाधा आती है । सो भी गलत है, परवादी का इष्ट

बाधा; तामन्तरेणास्याऽपक्षधर्मत्वात्। अथाप्रमाणम्; तर्हि प्रमाणं विना प्रमेयस्यासिद्धिरित्यभिधातव्यम्, किमनुमानोपन्यासेनास्याऽपक्षधर्मतयाऽप्रमाणत्वात् ?

इत्यप्यपरीक्षिताभिधानम्, यतः प्रसंगसाधनमेवेदम्। तच्च 'साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः, व्यापकाभावो वा व्याप्याभावाविनाभावी' इत्येतत्प्रदर्शनफलम्। [व्याप्य] व्यापकभावसिद्धिश्चात्र लोकप्रसिद्धैव। लोको हि कस्यचित्क्वचित्सर्वात्मना वृत्तिमभ्युपगच्छति यथा बिल्वादेः कुण्डादौ, कस्यचित्त्वेकदेशेन यथानेकपीठादिशयितस्य

जो अवयवी है उसे माने विना हेतु मे अपक्षधर्मता कहलायेगी। भावार्थ यह है कि परवादी जो हम वैशेषिक है उसके अवयवी का खण्डन करने मे आप जैन जो अनुमान उपस्थित करते है कि–अवयवी नही है, क्योकि उसका अवयवो मे रहना किस तरह का है यह सिद्ध नही हो पाता है, सो इसमे धर्मी जो अवयवी है उसको न माना जाय तो हेतु अपक्ष धर्मरूप ही वन जाता है। पर की इष्टता आप जैन को अप्रमाण है तो इतना ही कहना चाहिए कि प्रमाण के विना अवयवीरूप प्रमेय की सिद्धि नही होती है अवयवी नही है इत्यादि रूप अनुमान प्रमाण काहे को उपस्थित करना जो कि अपक्ष धर्मवाले हेतु से युक्त होने के कारण अप्रमाणभूत है।

जैन—अब यहा पर वैशेषिक के उपर्युक्त कथन का निराकरण करते है— वैशेपिक ने सबसे पहले पूछा था कि अवयवी का खण्डन करने के लिए जैन जो अनुमान देते है वह प्रसग साधन है क्या ? इत्यादि सो उसका उत्तर यह है कि यह अनुमान प्रसग साधनरूप ही है, प्रसग उसे कहते हैं कि साध्य और साधन मे व्याप्य व्यापक भाव कही सिद्ध हुआ है और कभी किसी ने व्याप्य को स्वीकार किया है तब उसे व्यापक भी स्वीकार करना चाहिए ऐसा नियम बतलाना अथवा व्यापक का जहा अभाव है वहा व्याप्यका अभाव अवश्य है, इत्यादि सिद्ध करके बताना है। इस अवयव और अवयवी के विषय मे व्याप्य व्यापक भाव तो लोक प्रसिद्ध ही है। इस जगत मे किसी स्थान पर किसी पदार्थ की सर्वदेश से वृत्ति होती है जैसे कि बेल आदि फल की कुण्डा–बर्तनादि मे सर्वदेश से वृत्ति हुआ करती है, तथा कोई पदार्थ की वृत्ति तो एकदेश से हुआ करती है, जैसे अनेक पीठ [पलगादि] आदि मे सुप्त हुए चैत्र नामा पुरुष की वृत्ति एकदेश से है। जहा पर ये दोनो प्रकार नही हो वहा तो पदार्थ का रहना [वृत्ति] ही असभव है, इस प्रकार अवयवी का अवयवो मे एकदेश से रहना और

चैत्रादेः। यत्र च प्रकारद्वयं व्यावृत्तं तत्र वृत्तेरभाव एव इति कथ न व्याप्तिर्यतोत्र प्रसंगसाधनस्यावकाशो न स्यात् ? निरस्ता चानेकस्मिन्नेकस्य वृत्ति. प्रागेव।

यच्चोक्तम्- 'परेष्टिः प्रमाणमप्रमाण वा' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; यत: प्रमाणाप्रमाणचिन्ता सवादविसवादाधीना। परेष्टिमात्रेण च प्रतिपन्नेवयविनि सवादकप्रमाणाभावादप्रामाण्यं स्वयमेव भविष्यति। ननु च 'इहेदम्' इति प्रत्ययप्रतीतेः प्रत्यक्षेणैवावयविनो वृत्तिसिद्धे: कथ संवादकप्रमाणाभावो यतोस्या: प्रामाण्य न स्यात् ? इत्यप्यसंगतम्; तन्त्वाद्यवयवेषु व्यतिरिक्तस्य पटाद्यवयविन:

सर्वदेश से रहना, सिद्ध नही होता तो अवयवी की सत्ता का ही अभाव है। अभिप्राय है कि अवयवो मे अवयवी की वृत्ति एकदेश या सर्वदेश से होना सिद्ध होवे तो ही अवयवी का सत्त्व सिद्ध होगा, किन्तु यहा दोनो प्रकार से अवयवो में अवयवी की वृत्ति असिद्ध है अत. उस वृत्ति के अभाव मे अवयवी का अभाव सहज ही हो जाता है। इस तरह हम जैन प्रसग साधनरूप अनुमान द्वारा वैशेपिक के अवयवी का निरसन करे तो वह किस प्रकार गलत होगा ? अर्थात् किसी प्रकार भी गलत नही होता है। सर्वथा एक निरंश ऐसा आपका अवयवी द्रव्य किसी तरह भी अनेक अवयवो मे रहना संभव नही है, इस बात को तो पहले ही भली प्रकार कह चुके है। आपने पूछा कि परेष्टि–[परका इष्ट] अर्थात् हमारे इष्ट अवयवी को प्रमाण मानते हो कि अप्रमाण इत्यादि, सो यह पूछना गलत है क्योंकि प्रमाण अप्रमाण का विचार तो सवाद और विसंवाद के अधीन है, परके इष्टरूप से ज्ञात हुए अवयवी मे संवादक प्रमाण का अभाव होने से उसका अप्रामाण्य स्वत: होगा। अर्थात् जब हम परके इष्ट अवयवी के विपय में कोई तत्त्व होगा ऐसा मानकर विचार करते है तो उस विचार ज्ञानका संवादक कोई प्रमाण दिखाई नही देता है, इस तरह आपके अवयवी द्रव्य का अप्रामाण्य स्वयमेव सिद्ध होगा।

वैशेपिक—अवयवी के लिए सवादक प्रमाण का अभाव होने से अप्रामाण्य सिद्ध होगा ऐसा जो जैन ने कहा वह ठीक नहीं है, अवयवी का संवादक प्रमाण मौजूद है, इह इदं प्रत्यय से अवयवी की अवयवो मे रहने की प्रतीति होती है अर्थात् "इन अवयवो मे अवयवी है" इस तरह का "इहेद" प्रत्यय है इन प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अवयवी की वृत्ति सिद्ध होती है अत: सवादक प्रमाण का अभाव कैसे हुआ ? जिससे कि जैन इस वृत्ति को अप्रमाण कहते है।

समवायवृत्तेः स्वप्नेप्यप्रतीतेः। न च भेदेनाप्रतिभासमानस्य 'इहेद वर्त्तते' इति प्रतीतिर्युक्ता। न हि भेदेनाप्रतिभासमाने कुण्डे 'इह कुण्डे वदराणि' इति प्रत्ययो दृष्टः।

यच्च (द) प्युक्तम्–वृत्तिश्च समवायस्तस्य सर्वत्रैकत्वान्निरवयवत्वाच्च कात्स्न्यैकदेशशब्दाविषयत्वमिति, तदपि स्वमनोरथमात्रम्, समवायस्याग्रे प्रवन्धेन प्रतिपेधात्। ननु तथाप्येकस्मिन्नवयविनि कात्स्न्यैकदेशशब्दाप्रवृत्तेरयुक्तोयं प्रश्नः–'किमेकदेशेनप्रवर्त्तते कात्स्न्येन वा' इति। कृत्स्नमिति ह्येकस्याशेपाभिधानम्, 'एकदेश' इति चानेकत्वे सति कस्यचिदभिधानम्। ताविमौ कात्स्न्यैकदेशशब्दावेकस्मिन्नवयविन्यनुपपन्नौ, इत्यप्यसमीचीनम्; एकत्रैकत्वेनावयविनोऽप्रतिभासमानात् प्रकारा-

---

जैन—यह कथन असगत है–तन्तु आदि अवयवो मे सर्वथा भिन्न ऐसा पट आदि अवयवी समवाय से रहता हो, ऐसा स्वप्न मे भी प्रतीत नही होता है [प्रत्यक्ष की बात दूर रही] जो भेदपने से प्रतिभासित नही होता उसकी "इहेद वर्त्तते" "यहा पर यह रहता है" ऐसी प्रतीति होना अशक्य है जो भेदरूप से प्रतीत नही होता ऐसे ऊकले कुण्डा आदि पात्र विशेप मे "इह कुण्डे बदराणि" इस कुण्ड मे बेर हैं, ऐसा प्रतिभास नही होता है।

वैशेषिक ने कहा कि—समवाय से अवयवी की वृत्ति है, समवाय तो सर्वत्र एक तथा निरश है अत समवाय से सबद्ध होने वाले अवयवी के विषय मे यह प्रश्न नही उठा सकते कि एकदेश से रहता है या सर्वदेश से। इत्यादि सो यह कथन मनोरथ मात्र है, आपके इस समवाय नामा पदार्थ का आगे विस्तार से खण्डन होने वाला है।

वैशेषिक—ठीक है, किन्तु अवयवी को जब हम एक मानते है तब उसमे एकदेश और सर्वदेश यह शब्द ही प्रयुक्त नही हो सकते अत एकदेश से रहता है कि सर्वदेश से रहता है। इत्यादि प्रश्न करना व्यर्थ है. इसी बात का खुलासा करते हैं "कृत्सन-सर्व" यह जो शब्द है वह एक के अशेष को कहता है, तथा "एकदेश" यह शब्द अनेकपना होने पर [अनेक देशत्व होने पर] उनमे से कोई एकदेश को कहता है। इस तरह के ये जो एकदेश और सर्वदेश शब्द है, इन शब्दो का प्रयोग निरश एक अवयवी मे बन ही नही सकता है ?

जैन—यह बात असत् है, एक जगह अर्थात् अवयवो मे आपका इष्ट एक अवयवी प्रतिभासित ही नही हो रहा है, तथा अवयवी और किसी प्रकार से रहता हो

न्तरेण च वृत्तेरसम्भवात् । न खलु कुण्डादौ बदरादेः स्तम्भादौ वा वंशादेः कात्स्न्यैकदेश परित्यज्य प्रकारान्तरेण वृत्तिः प्रतीयते । ततोऽवयवेभ्यो भिन्नस्यावयविनो विचार्यमाणस्यायोगान्नासौ तथाभूतोऽभ्युपगन्तव्यः । किं तर्हि ? तन्त्वाद्यवयवानामेवावस्थाविशेषः स्वात्मभूतः शीतापनोदाद्यर्थक्रियाकारी प्रमाणतः प्रतीयमान. पटाद्यवयवीति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु रूपादिव्यतिरेकेणापरस्यावस्थातु. शीताद्यपनोदसमर्थस्याप्रतीतितोऽसत्त्वात् कस्यावयवित्व भवतापि प्रसाध्यते ? चक्षुःप्रभवप्रत्यये हि रूपमेवावभासते नापरस्तद्वान्, एव रसनादिप्रत्ययेपि

ऐसा सोचे तो कोई प्रकार दिखायी नही देता है । कु ड आदि मे बेर आदि का अथवा स्तंभादि मे बासादिका एकदेश और सर्वदेशपने को छोडकर तीसरा कोई रहने का प्रकार दिखायी नही देता है, अतः अत मे यही सिद्ध होता है कि अवयवों से पृथक् अवयवी प्रतीत नही होता उसका विचार करे तो विचार मे आता नही, अतः ऐसे अवयवो को स्वीकार ही नही करना चाहिए । इस पर परवादी प्रश्न करे कि फिर आप जैन किस तरह के अवयवी को मानते है ? तो हम बताते है "तन्त्वाद्यवयवानामेवावस्थाविशेषः स्वात्मभूतः शीतापनोदाद्यर्थक्रियाकारी प्रमाणत. प्रतीयमान· पटाद्यवयवी इति" तंतु आदि अवयवो का अवस्थाविशेष होना–आतान वितानभूत परिणमन विशेष होना ही पटादि अवयवी द्रव्य है जो कि उन अवयवो से स्वात्मभूत है–कथचित् अभिन्न एव भिन्न है, वही शीतबाधा दूर करना इत्यादि अर्थ क्रिया करने मे समर्थ होता हुआ प्रमाण से प्रतीत हो रहा है "इस प्रकार के पट आदि अवयवी हुआ करते है ऐसा प्रेक्षावानो को स्वीकार करना चाहिए ।

शका—रूप आदि को छोडकर अन्य कोई स्थायी शीत आदि बाधा को दूर करने मे समर्थ ऐसा पदार्थ प्रतीति मे नही आता है, अत. अवयवीपना किस द्रव्य को सिद्ध किया जाय ? अर्थात् आप जैन किसको अवयवी मानते है ? रूप, रसादि से पृथक् कोई चीज दिखायी ही नही देती, हम नेत्र ज्ञान द्वारा देखते है तो रूप मात्र तो प्रतीत होता है किन्तु इससे अन्य रूपादियुक्त–रूपादिमान पदार्थ दिखायी नही देता, ऐसे ही रसत्व तो प्रतीत होता है किन्तु कही पर रसयुक्त अपर पदार्थ प्रतीत नही होता है । कहने का अभिप्राय यह है कि रूपादि अवयव मात्र है इनसे अतिरिक्त अवयवी नामकी कोई वस्तु नही है, जब अवयवी कोई सत्य पदार्थ ही नही है तो आप जैन तथा वैशेषिक व्यर्थ ही उसके विषय मे विवाद क्यो करते है ?

वाच्यम्; इत्यविचारितरमणीयम्, यतः किमेकस्य रूपादिमतोऽसम्भवो विरुद्धधर्माध्यासेनैकत्वानेकत्वयोस्तादात्म्यविरोधात्, तद्ग्रहणोपायासम्भवाद्वा ? प्रथमपक्षे तत्र तयोः कथञ्चित्तादात्म्य विरुद्धयते, सर्वथा वा ? सर्वथा चेत्; सिद्धसाध्यता । कथञ्चिदेकत्व तु रूपादिभिर्विरुद्धधर्माध्यासेप्येकस्याऽविरुद्धम् चित्रज्ञानस्येव नीलाद्याकारैर्विकल्पज्ञानस्येव वा विकल्पेतराकारैरिति । यथा च

समाधान—यह सुगत पक्षीय कथन अविचारपूर्ण है, बताइये कि एक वस्तु मे एकत्वरूप अवयवी और अनेक रूप अवयव या रूपरसादि का विरुद्ध धर्माध्यास के कारण तादात्म्य होना असभव है, अथवा ऐसे एकत्व अनेकत्व रूप अवयवी आदि रूपादिमान को ग्रहण करने वाला प्रमाण नही होने से इस तरह का अवयवी द्रव्य असम्भव है । प्रथम पक्ष कहो तो उन एकत्व अनेकत्व का तादात्म्य होना कथचित् विरुद्ध है या सर्वथा विरुद्ध है ? तादात्म्य होने मे सर्वथा विरोध है ऐसा कहो तो सिद्ध साध्यता है । कथचित् तादात्म्य होने मे विरोध है ऐसा कहना तो गलत होगा, रूपादिका परस्पर विरुद्ध धर्माध्यास होते हुए भी वे एक के होते हैं, जैसे एक चित्र ज्ञान के नील, पीत आदि आकार है वे आकार परस्पर विरुद्ध धर्म वाले होकर भी चित्र ज्ञान मे तो कथचित् एक रूप माने गये है । अथवा एक विकल्प ज्ञान मे विकल्प और निर्विकल्प आकार विरुद्ध होकर भी अविरुद्ध रहते हैं ऐसा आपने माना है ठीक इसी तरह रूप रस आदि परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों का एक ही रूपादिमान पदार्थ मे एकत्वरूप रहना अविरुद्ध है ।

विशेषार्थ— वैशेषिक के अवयवी द्रव्य का जैन खण्डन कर रहे थे और पट, घट, गृह आदि अवयवी द्रव्य का निर्दोष लक्षण बतला रहे थे कि इतने मे बौद्ध ने कहा कि आप लोग अवयवी के विषय मे क्यो विवाद कर रहे अवयवी ही ससार मे नही है, रूप, रस आदि रूप परमाणु या अवयव मात्र द्रव्य है । तब आचार्य ने कहा कि अवयवी द्रव्य को क्यो नही माना जाय, अवयव या रूप आदि अनेक विरुद्ध धर्मों का एक मे रहना असम्भव होने से, नही माना जाय । ऐसा कहना अशक्य है, स्वय बौद्ध एक चित्र मे अनेक नील पीत आदि विरुद्ध धर्मो का तादात्म्य मानते है । तथा पूर्व के सविकल्प ज्ञानरूप उपादान से जिसमे कि निर्विकल्पज्ञान सहकारी है उससे जब सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह उभय–सविकल्प तथा निर्विकल्प दोनो ज्ञानो के आकार को धारण करता है ऐसा सौगत ने माना है ,सो जैसी बात इन ज्ञानो की है

रूपादिरहितं प्रत्यक्षे न प्रतिभासते तथा तद्रहिता रूपादयोपि । न खलु मातुलिङ्गद्रव्यरहितास्तद्रूपादयः स्वप्नेप्युपलभ्यन्ते । वस्तुनश्चेदमेवाध्यक्षत्व यदनात्मस्वरूपपरिहारेण बुद्धौ स्वरूपसमर्पणं नाम । इमे तु रूपादयो द्रव्यरहितास्तत्र स्वरूपं न समर्पयन्ति प्रत्यक्षता च स्वीकर्त्तु मिच्छन्तीत्यमूल्यदानक्रयिण: ।

किञ्च, इद स्तम्भादिव्यपदेशार्हं रूपम्-किमेक प्रत्येकम्, अनेकानशपरमाणुसञ्चयमात्र वा ? प्रथमपक्षे अधोमध्योद्ध्वर्वात्मकैकरूपवत् रसाद्यात्मकैकस्तम्भद्रव्यप्रसङ्ग. । द्वितीयपक्षे तु किमेकमनेक-

---

वैसे ही रूपादिमान पदार्थ या घट पट आदि अवयवी पदार्थ की है, इनमे भी अनेक धर्म या अवयव एकत्वरूप से रहते है, कोई बाधा नही है, साक्षात् प्रतीति मे आने वाले पदार्थो मे बाधा या शका का स्थान नही रहता है ।

जिस प्रकार रूप आदि से रहित कोई वस्तु प्रत्यक्ष मे प्रतिभासित नही होते है उसी प्रकार वस्तु बिना रूप आदिक भी तो प्रतिभासित नही होते है । मातुलिग [बिजौरा] आदि द्रव्य से रहित उसके रूप, रस आदि गुण स्वप्न मे भी प्रतिभासित नही होते है । वस्तु का प्रत्यक्षपना यही कहलाता है कि जो अनात्म-परका स्वरूप है उसका परिहार करके ज्ञान मे स्वस्वरूप अर्पित करना—झलकाना, जब ये रूप, रस आदि धर्म द्रव्य रहित होकर बुद्धि मे स्वस्वरूप अर्पित ही नही कर रहे है तो वे प्रत्यक्ष कैसे हो सकते है ? यह तो इन रूपादिका "अमूल्य दान क्रयीपना है" अर्थात् कोई पुरुष बिना मूल्य दिये चीज खरीदना चाहता हो वैसे यह कार्य हुआ ? यहा पर भी रूप, रस आदि धर्म द्रव्यरहित होकर [बिना द्रव्य के] बुद्धि मे अपना स्वरूप तो समर्पण करते नही और प्रत्यक्ष प्रतीत होना चाहते है, सो ऐसा सिद्ध होना नितरा असभव है ।

किञ्च, जगत् मे जिसे स्तभ, कुंभ आदि नाम के योग्य मानते है ऐसा यह पदार्थ केवल रूप धर्म या अवयव ही है ऐसा बौद्ध ने कहा सो एक एक रूप प्रत्येक को स्तभ, कुभ आदि नाम देते है अथवा अनेक अनेक अनश परमाणुओ के सचय होने मात्र को स्तभादि द्रव्य कहेगे ? प्रथम पक्ष कहो तो ऊपर, नीचे, मध्य मे जैसे एक एक प्रत्येक रूप स्तभादि द्रव्य कहलाया वैसे एक एक प्रत्येक रस, गध आदि भी स्तभ द्रव्य कहलाने लगेगे । अर्थात् एक स्तभ द्रव्य मे भी अनेक रूप स्तभ, अनेक रस स्तभ आदि द्रव्य मानने पड़ेगे । जो किसी को भी इष्ट नही है । द्वितीय पक्ष—अनेक अनश परमाणुओ के सचय को स्तभादि द्रव्य कहते है ऐसा कहे तो पुन· दो प्रश्न होते है कि अनेक परमाणुओ के आकारो से परिणत हुआ एक ज्ञान उस लक्षण वाले स्तभादि द्रव्य

परमाण्वाकार ज्ञानं तद्ग्राहकम्, एकैकपरमाण्वाकारमनेक वा ? प्रथमविकल्पे चित्रैकज्ञानवद्रूपाद्यात्मकैकद्रव्यप्रसिद्धिरनिषेध्या स्यात् । द्वितीयविकल्पे तु परस्परविविक्तज्ञानपरमाणुप्रतिभासस्यासवेदनात्सकलशून्यतानुषगः ।

अथ तद्ग्रहणोपायासम्भवाद्रूपादिमतो द्रव्यस्याभावः, तन्न; 'यमहमद्राक्ष तमेतर्हि स्पृशामि' इत्यनुसन्धानप्रत्ययस्य तद्ग्राहिणः सद्भावात् । न च द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्या रूपस्पर्शाधारैकार्थग्रहणं विना प्रतिसन्धान न्याय्यम् । रूपस्पर्शयोश्च प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वादेतन्न सम्भवति । चेतनत्वाच्चात्मन स्मरणादिपर्यायसहायस्य अर्वाक्परभागावयवव्यापित्वग्रहणमप्यवयविद्रव्यस्योपपन्नम् । प्रसाधित

को जानता है, अथवा एक एक परमाणु के आकार परिणत हुए अनेको ज्ञान उन अनेक अनश परमाणुओ के सचयभूत द्रव्य को जानते है ? प्रथम विकल्प की बात कहो तो आपके चित्र ज्ञान के सदृश रूप, रस, गध आदि अनेक धर्म या अवयव स्वरूप एक द्रव्य सिद्ध होगा, उसका निषेध नही कर सकते है । द्वितीय विकल्प की कहो तो भी गलत है, लोक मे ऐसा देखा नही जाता कि एक ही वस्तु मे परस्पर मे सर्वथा विविक्त [पृथक्] ऐसा ज्ञान परमाणुओ को प्रतिभासित करता हो । जब ऐसे विविक्त परमाणुओ के ग्राहक ज्ञान सिद्ध नही होगे तो वे ज्ञेय पदार्थ भी सिद्ध नही होगे और अंत मे सकल शून्यता छा जायगी ।

शका—दूसरा पक्ष जो शुरू मे कहा था कि रूपादिमान पदार्थ या अवयवी पदार्थ को ग्रहण करने का उपाय असभव है अतः रूपादिमान पदार्थ नही है सो यही पक्ष माना जाय ?

समाधान—यह बात भी गलत है, जिसको मैने देखा था उसीका अब मैं स्पर्श कर रहा हू । इस तरह का अनुसधान करने वाला प्रत्यभिज्ञान उस रूपादिमान द्रव्य का ग्राहक मौजूद ही है । कोई कहे कि चक्षु तथा स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा ही प्रतिसंधान करने वाला प्रत्यभिज्ञान हो जायगा रूप और स्पर्श के आधारभूत एक द्रव्य की क्या आवश्यकता है ? सो ऐसी बात नही है, क्योकि रूप और स्पर्श प्रतिनियत इन्द्रिय के विषय है, अर्थात् रूप को विषय करने वाली चक्षु स्पर्श को विषय नही करती और स्पर्श को विषय करने वाली स्पर्शन इन्द्रिय रूप को विषय नही करती फिर परस्पर सधान–जोड कौन करेगा ? हा यह तो हो सकता है कि आत्मा स्वय चेतन है उसको यदि स्मरण आदि ज्ञानरूप पर्याय की सहायता है तो इधर का और उधर के भागो मे

चानुसन्धानस्य सविषयत्वमित्यलमतिप्रसगेन । तन्न परेषा चतु संख्य द्रव्य यथोपवर्णितस्वरूप घटते, सर्वथा नित्यस्वभावाणूनामनर्थक्रियाकारित्वेनासम्भवत: तदारब्धद्व्यणुकाद्यवयविद्रव्यस्याप्यसभवात् । न हि कारणाभावे कार्य प्रभवत्यतिप्रसगात् । स्वावयवेभ्योर्थान्तरस्यावयविनो ग्राहकप्रमाणाभावाच्चासत्त्वम् ।

व्याप्त होने वाले अवयवो को ग्रहण कर सकते है [अथवा रूप और स्पर्श मे अनुसधान कर सकते है] किन्तु इतनी बात जरूर है कि अवयवी नामा द्रव्य को स्वीकार करना होगा ? अन्यथा यह बात बन नही सकती ।

विशेषार्थ — बौद्ध को प्रश्न किया गया था कि आप रूपादिमान एक अवयवी द्रव्य क्यो नही मानते ? तो उसने उत्तर दिया कि ऐसे द्रव्य का ग्राहक कोई ज्ञान नही है, अत: रूप रस आदि धर्म को ही हम लोक मानते है रूपादियुक्त द्रव्य को नहीं, तब आचार्य ने कहा कि ऐसी बात तो नही है, "जिसको मैने देखा था उसी को इस वक्त स्पर्श कर रहा हू" इत्यादि प्रत्यभिज्ञान रूप स्पर्श आदि से युक्त अवयवी द्रव्य को ग्रहण कर रहा है । इस पर बौद्ध ने कहा कि इस ज्ञान को चक्षु तथा स्पर्शनेन्द्रिय ही कर लेगी । तब जैन ने समझाया है कि यह कार्य असम्भव है, इन्द्रिया परस्पर विषयो का अनुसधान नही कर सकती, जोडरूप ज्ञान किसी भी इन्द्रिय द्वारा हो नही सकता, हां यह बात अवश्य है, आत्मा के वश का यह कार्य हो सकता है, किन्तु वैशेषिक आत्मा को जड मान बैठे है और आप बौद्ध निरन्वय विनाश शील मान बैठे है । ऐसा आत्मा जोडरूप ज्ञानधारी बन नही सकता, अनुसधान करने के लिए तो आत्मा को स्वयं चेतन कथचित् नित्य-नाश रहित स्वीकार करना होगा । तथा इस अनुसंधान के लिए स्पर्शादिमान द्रव्य को पूर्वापर भावो मे व्यापक एक अवयवी स्वरूप मानना होगा, अन्यथा यह प्रतीति सिद्ध प्रतिसधान ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता । इस तरह ज्ञायक-जानने वाला ज्ञानधारी आत्मा और ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थ को अनेक धर्म स्वरूप नित्य (कथचित्) और अवयवो मे व्यापक द्रव्य स्वरूप स्वीकार करना पडता है ।

प्रत्यभिज्ञान का विषय, उसकी सत्यता आदि की सिद्धि पहले ही [दूसरे भाग मे परोक्ष प्रमाणो का वर्णन करते समय] कर चुके हैं, अब अतिप्रसग मे बस हो !

इस प्रकार शुरु में कहा हुआ वैशेषिको का जो पृथिवी आदि चार द्रव्यो का वर्णन है वह घटित नही होता है, परमाणुओ को सर्वथा नित्य मानना, उन परमाणुओ

जातिभेदेन पृथिव्यादिद्रव्याणा भेदोपवर्णन चानुपपन्नम्; स्वरूपासिद्धौ शशशृङ्गवद्भेदोपवर्णनासम्भवात् । जातिभेदेनात्यन्तं तेषा भेदे चान्योन्यमुपादानोपादेयभावो न स्यात् । येषा हि जातिभेदेनात्यन्तिको भेदो न तेषा तद्भाव: यथात्मपृथिव्यादीनाम्, तथा तद्भेदश्च पृथिव्यादिद्रव्याणामिति। तन्तुपटाद्युपादानोपादेयभावेन व्यभिचारपरिहारार्थम् आत्यन्तिकविशेषणम् । न हि तत्रात्यन्तिकस्तद्भेद, पृथिवीत्वादिसामान्यस्याभिन्नस्यापीष्टे । नन्वेवं द्रव्यत्वादिना पृथिव्यादीनामप्यभेदात्तद्रा-

---

से बने हुए पृथिवी आदि अवयवी द्रव्यों को अवयवो से सर्वथा पृथक् मानना इत्यादि बाते सब असत् है, क्योकि सर्वथा नित्य स्वभाव वाले परमाणुओ मे अर्थ क्रिया असभव है, और परमाणुओ के कार्यस्वरूप पृथिवी आदि अवयवी द्रव्य अपने अश-अवयवो से पृथक् होने के कारण असभवनीय ही है । जब परमाणुरूप कारणो का ही अभाव है तो कार्य का होना नितरा असम्भव है, अन्यथा अतिप्रसग होगा । तथा अपने अवयवो से सर्वथा पृथक् माने गये अवयवी को ग्रहण करने वाला प्रमाण नही होने से भी उसका असत्व सिद्ध होता है । आप वैशेषिक का यह भी हटाग्रह है कि पृथिवी, जल आदि द्रव्यो की जाति सर्वथा पृथक् पृथक् ही है सो बात सिद्ध नही होती, जब इन पृथिवी आदि द्रव्यो का स्वरूप ही सिद्ध नही कर पाये तो उनके भेद आदि का वर्णन करना तो शश शृ गवत् [खरगोश के सीग के समान] व्यर्थ है, असभव है । पृथिवो, जल, अग्नि और वायु इन चारो मे यदि सर्वथा जातिभेद मानेगे तो उनमे परस्पर मे उपादान उपादेय भाव बनना शक्य नही रहेगा । क्योकि जिन द्रव्यो मे जातिभेद से अत्यत भेद होता है उनमे उपादान उपादेय भाव नही हुआ करता, जैसे कि आत्मा और पृथिवी आदि मे जातिभेद होने से उपादान-उपादेय भाव नही होता है, आप लोग पृथिवी आदि मे जातिभेद मानते है अत. उनमे उपादान उपादेयपना होना असभव ठहरता है । ततु और वस्त्र इत्यादि पदार्थो मे उपादान उपादेय भाव जाति भेद होते हुए भी बनता है ऐसा कोई जैन के हेतु को व्यभिचरित करना चाहे तो इस व्यभिचार का परिहार करने के लिये ही "जिनमे अत्यत भेद हो" ऐसा विशेषण दिया है मतलब तन्तु और पट आदि मे अत्यत भेद नही होता है इसीलिये उनमे उपादान-उपादेय भाव बनता है । किन्तु पृथिवी, जल आदि मे तो ऐसा घटित नही कर सकते है क्योकि इन चारों द्रव्यो को आप सर्वथा जाति भिन्न-अत्यन्त भिन्न मानते है । तन्तु और वस्त्र में ऐमा अत्यन्त भेद नही है, उनमे तो पृथिवीत्व आदि सामान्य की अपेक्षा अभिन्नपना भी माना गया है ।

बोस्तु; तन्न; आत्मपृथिव्यादीनामप्येवं तद्भेदाभावादुपादानोपादेयभाव· स्यात्, तथा चात्माद्वैत-प्रसंगात्कुतः पृथिव्यादिभेदः स्यात् ? तन्नात्यन्तिकभेदे पृथिव्यादीना तद्भावो घटते। अस्ति चासौ-चन्द्रकान्ताज्जलस्य, जलान्मुक्ताफलादेः काष्ठादनलस्य, व्यजनादेश्चानिलस्योत्पत्तिप्रतीतेः। चन्द्रकांताद्यन्तर्भूताज्जलादेरेव द्रव्याज्जलाद्युत्पत्तिः; इत्यप्यनुपपन्नम्, तत्र तत्सद्भावावेदकप्रमाणाभावात्। तथापि चन्द्रकान्तादौ जलाद्यभ्युपगमे मृत्पिण्डादौ घटाद्यभ्युपगमोपि कर्तव्य इति साख्यदर्शनमेव स्यात्।

वैशेषिक—इस तरह ततु और वस्त्र आदि मे पृथिवीत्व आदि सामान्य की अपेक्षा अभेद होने से उपादान उपादेय बनता है तो पृथिवी जल आदि में भी द्रव्यत्व आदि सामान्य की अपेक्षा अभेद होने से उपादान-उपादेय भाव मानना चाहिए।

जैन—ऐसा कहना गलत है इस तरह माने तो आत्मा और पृथिवी आदि में द्रव्यत्व की अपेक्षा अत्यत भेद का अभाव होने से उपादान उपादेय भाव सिद्ध होगा। और इनमे उपादेय उपादान भाव स्वीकार करने पर आत्माद्वैतवाद का प्रसग आता है, फिर पृथिवी जल आदि का भेद भी किससे सिद्ध करेंगे ? अतः पृथिवी आदि मे अत्यंत भेद मानने पर उपादान-उपादेय भाव घटित नही होता। किन्तु इनमे उपादान-उपादेय भाव साक्षात् दिखायी देता है। अब इसी को बताते है—चन्द्रकान्तमणि पृथिवी कायिक होता है किन्तु उससे जल उत्पन्न होता है, तथा जल से पृथिवी स्वरूप मोती उत्पन्न होते है, काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है, पखे से वायु उत्पन्न होती है। इतने उदाहरणो से स्पष्ट हुआ कि पृथिवी जल आदि मे परस्पर उपादान-उपादेय भाव है ये एक दूसरे से उत्पन होते रहते है।

वैशेषिक—चन्द्रकात मणि से जल बनता है इत्यादि बाते आपने कही सो उसमे यह रहस्य है कि चन्द्रकात आदि मे जलादिक छिपे रहते है उस जल से ही जल उत्पन्न होता है न कि पृथिवी रूप चन्द्रकान्त से ?

जैन—यह कथन गलत है, चन्द्रकान्त आदि में जल आदिक छिपे रहते हैं ऐसा सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है, बिना प्रमाण के उनमे जलादिका सद्भाव मानेंगे तो मिट्टी आदि मे घट आदि पदार्थ मौजूद रहते है, उनका सद्भाव भी हमेशा रहता है, ऐसा स्वीकार करना होगा ? और इस तरह सांख्य मत मे प्रवेश होवेगा। वे ही हर वस्तु मे हर पर्याय मौजूद रहती है, कारण मे कार्य सदा विद्यमान है इत्यादि

ततो मृत्पिण्डादौ घटादिवच्चन्द्रकान्तादौ जलादेरप्यप्रतीतितोऽभावात्, आत्यन्तिकभेदे चोपादानोपादेयभावासम्भवात्, 'पर्यायभेदेनान्योन्य पृथिव्यादीना भेदो रूपरसगन्धस्पर्शात्मकपुद्गलद्रव्यरूपतया चाभेद.' इत्यनवद्यम्। रूपादिसमन्वयश्च गुणपदार्थ परीक्षाया चतुर्णामपि समर्थयिष्यते। तत्र नित्यादिस्वभावमात्यन्तिकभेदभिन्न च पृथिव्यादिद्रव्य घटते।

॥ अवयविस्वरूपविचार समाप्त ॥

मान्यता स्वीकार करते है। इस दोष को दूर करने के लिए जैसे मिट्टी के पिण्ड आदि मे घट आदिक प्रतीत नही होने से उनका वहा अभाव ही माना जाता है वैसे ही चन्द्र कान्त आदि मे जलादिक प्रतीत नही होने से उनका वहा अभाव ही मानना चाहिए, साथ मे यह भी निश्चय करना कि इन पृथिवी आदि मे आत्यतिक भेद नही है, अन्यथा इनका उपादान-उपादेय भाव नही बनता, अत यहा स्याद्वाद की ही शरण लेनी होगी कि पृथिवी, जल आदि द्रव्य परस्पर मे पर्यायदृष्टि से तो भिन्न है अर्थात् जब वस्तु पृथिवी पर्याय रूप है तब उसमे अन्य जल आदि पर्याय नही है, तथा इन्ही पृथिवी आदि मे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श स्वरूप पुद्गल द्रव्य दृष्टि से देखते है तो अभेद सिद्ध होता है, इस तरह ये कथचित् भेदाभेद को लिये हुए है। वैशेषिक पृथिवी मे रूपादि चारो गुण, जल मे तीन गुण इत्यादि रूप से मानते है किन्तु इन चारो ही द्रव्यो मे स्पर्श, रस, गंध और वर्ण रहते है, चारो का समन्वय सबमे है, इस विषय मे गुण नामा वैशेषिक के पदार्थ की परीक्षा करते समय आगे कहने वाले है। इस सब कथन का सार यही हुआ कि वैशेषिक द्वारा मान्य सर्वथा नित्य आदि स्वभाव वाला तथा अत्यन्त भेद स्वभाव वाला पृथिवी आदि द्रव्य सिद्ध नही होता है।

॥ अवयविस्वरूपविचार समाप्त ॥

वैशेषिक के अवयविस्वरूप के खंडन का सारांश

वैशेषिक तन्तु आदि अवयवो से वस्त्र आदि अवयवी को सर्वथा पृथक् मानते है, किन्तु यह मान्यता प्रतीति विरुद्ध है। तन्तु और वस्त्र सर्वथा पृथक् दिखायी नही देते। अवयव और अवयवी मे समान देशता है अतः वे पृथक् नही दिखते ऐसा कहना भी गलत है। समान देशता दो प्रकार की है शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय समान देशता तो इनमे नही है, क्योकि आपने तन्तु आदि अवयव और वस्त्र आदि अवयवी इन दोनो का देश पृथक् माना है, तन्तु का कपास प्रवेणीरूप देश है और वस्त्र का तन्तुरूप देश है। लौकिक समान देशता तो कुडे मे बेर सदृश हुआ करती है।

तथा कुछ अवयव दिखने पर अवयवी प्रतीत होता या सम्पूर्ण अवयव दिखने पर अवयवी प्रतीत होना है? प्रथम पक्ष कहो तो कुछ अवयव प्रतीत होते ही अवयवी दिखायी देना चाहिए, किन्तु दिखायी नही देता। सभी अवयवो के दिखायी देने पर अवयवी की प्रतीति होती है ऐसा कहना अशक्य है क्योकि सपूर्ण अवयवो का ग्रहण हम जैसे असर्वज्ञ को सम्भव नही है।

तथा वैशेषिकाभिमत अवयवी द्रव्य सर्वथा निरंश एव एक है वह अनेक अवयवो मे किस प्रकार रह सकता है? आपका अवयवी निरश है तो एक ही वस्त्रादि रूप अवयवी मे रक्त [रग युक्तता] और अरक्त [रग रहितता] पना दिखाई देता है वह कैसे? यह रक्तारक्तत्व तो अवयवी मे विभाग सिद्ध कर रहा है। आपका कहना है कि वस्त्र मे रक्तत्व [लालिमा] कुंकुमादि द्रव्य के सयोग से आता है, सयोग अव्यापी गुण है अत· उसके निमित्त से रक्तारक्तपना प्रतीत होता है, सो यह कथन असत्य है, जब वस्त्रादि अवयवी निरश है तो वह कही कुकुमादि से व्याप्त और कही अव्याप्त कैसे हो सकेगा।

आपका कहना है कि अवयवो मे अवयवी एकदेश या सर्वदेश से रहने का प्रश्न ही नही करना चाहिए, क्योकि अवयवी एक निरशभूत समवाय सम्वन्ध से

अवयवों मे रहता है। सो यह कथन भी ठीक नही, क्योंकि प्रथम तो समवाय की सिद्धि नही है, दूसरी बात अवयवी के रहने का एक देश और सर्व देश को छोडकर तीसरा प्रकार नही है, अत. जहा दोनो प्रकारो का निषेध किया वहा अवयवी का सर्वथा अभाव ही सिद्ध होगा। फिर तो बौद्धमत का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः अवयवी अवयवों से कथचित् भिन्न एव कथचित् अभिन्न है ऐसा स्वीकार करना चाहिए। वैशेषिक के पृथ्वी आदि द्रव्यो की चार सख्या भी सिद्ध नही होती, क्योकि इनमे सर्वथा भेद नही है। चन्द्रकातमणि से जल उत्पन्न होता है, जल से मोतीरूप पृथिवी उत्पन्न होती है, पृथ्वीरूप सूर्यकातमणि से अग्नि प्रादुर्भूत होती दिखायी देती है, अतः इन पृथ्वी आदि मे अत्यन्त भेद सिद्ध नही हो सकता। इन पृथ्वी आदि सभी मे स्पर्श, रस, गध और वर्ण ये चारो ही गुण रहा करते है अत· इनमे से पृथ्वी मे चारो गुण है, जल मे तीन ही है इत्यादि कथन असत् है।

इस प्रकार अवयवो से सर्वथा पृथक् अवयवी की सिद्धि नही होती है, और पृथ्वी जल आदि मे सर्वथा भेद सिद्ध नही होता है।

॥ सारांश समाप्त ॥

१

आकाशद्रव्यविचारः

नाप्याकाशादि; सर्वथा नित्यनिरंशत्वादिधर्मोपेतस्यास्याप्यप्रतीते.। ननु चाकाशस्य तद्धर्मोपेतत्व शब्दादेव लिङ्गात्प्रतीयते; तथाहि–ये विनाशित्वोत्पत्तिमत्त्वादिधर्माध्यासितास्ते क्वचिदाश्रिता

वैशेषिक दर्शन मे आकाशादि द्रव्य की सिद्धि भी नही होती है, आकाश को वे लोक नित्य, एक निरंश आदि धर्म युक्त मानते है सो यह प्रतीत नहीं होता है।

वैशेषिक—आकाश नित्य निरंशादि धर्म युक्त है इस बात को शब्द रूप हेतु से सिद्ध करते है—जो पदार्थ नष्ट होना, उत्पन्न होना इत्यादि धर्मात्मक होते है वे कही पर आश्रित रहा करते है, जैसे घट आदि पदार्थ अपने अवयवों मे आश्रित रहा करते है, शब्द भी उत्पन्न होना तथा नष्ट होना आदि धर्म वाले है, अत: वे कही पर आश्रित रहते है। तथा शब्द गुण स्वरूप होने से भी कही पर आश्रित रहते हैं, जैसे रूप रस आदि गुण रूप होने से आश्रय मे रहते हुए देखे जाते है। शब्दो को गुण स्वरूप मानना असिद्ध भी नही है, अनुमान से ऐसा ही प्रतीत होता है, शब्द नामा

यथा घटादय, तथा च शब्दा इति। गुणत्वाच्च ते क्वचिदाश्रिता यथा रूपादयः। न च गुणत्वमसिद्धम्; तथाहि–शब्दो गुण प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वाद्रूपादिवत्। न चेद साधनमसिद्धम्, तथाहि–शब्दो द्रव्य न भवत्येकद्रव्यत्वाद्रूपादिवत्। न चेदमप्यसिद्धम्, तथाहि-एकद्रव्य.। शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्तद्वदेव। 'सामान्यविशेषवत्वात्'

पदार्थ गुण है [पक्ष साध्य] क्योकि उसमें द्रव्य तथा कर्मपने का निषेध होकर सत्ता समवाय से सत्व है, [हेतु] जैसे रूप रस आदि मे द्रव्यपना और कर्मपने का निषेध होकर सत्ता समवाय से सत्व है, अतः वे गुण रूप ही सिद्ध होते है। हमारा हेतु असिद्ध भी नही है, कैसे सो ही बताते है—शब्द द्रव्य नही है, क्योकि वह एक द्रव्यत्वरूप है जैसे रूप रसादिक एक द्रव्यत्वरूप है इस अनुमान का एक द्रव्यत्वात् हेतु असिद्ध नही है, सो ही कहते है—एक द्रव्य जो आकाश है उसी के आश्रय मे रहने का है स्वभाव जिसका ऐसा यह शब्द है [साध्य] क्योकि वह सामान्य विशेषवान होकर बाह्य एक इन्द्रिय [कर्ण] द्वारा प्रत्यक्ष होता है [हेतु] रूपादि के समान [दृष्टात] इस अनुमान मे सामान्य विशेषवान होकर "इतना ही हेतु देते तो परमाणुओ के साथ व्यभिचार आता, इसलिए इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है" ऐसा कहा है। "सामान्यविशेषवत्वे सति इन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्" इतना हेतु भी घटादि के साथ अनैकान्तिक होता है अत. एक इद्रिय-प्रत्यक्षत्वात् ऐसा "एक" पद बढाया है। तथा एक इन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात् कहने से भी हेतु की सदोषता हट नही पाती आत्मा के साथ व्यभिचार आता है अत "बाह्य" विशेषण जोड दिया है, इसी प्रकार रूपत्व आदि से होने वाली अनैकान्तिकता को हटाने के लिए "सामान्यविशेषवत्वे सति" विशेषण प्रयुक्त हुआ है, इस तरह हमारा यह अनुमान शब्द को आकाश द्रव्य का गुण रूप सिद्ध करा देता है।

विशेषार्थ—हम वैशेषिक जैन के समान शब्द को द्रव्य की पर्यायरूप नही मानते किन्तु आकाश का गुण मानते हैं, और यह मान्यता अनुमान प्रमाण से भली प्रकार से सिद्ध भी होती है, जैसा कि "एकद्रव्य, शब्द सामान्यविशेषवत्त्वे, सति बाह्यैकेन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात्" यह अनुमान कह रहा है, इस अनुमान मे सामान्यविशेषवत्व, बाह्य, एक, ऐसे तीन विशेषणो से युक्त इन्द्रिय प्रत्यक्षत्व हेतु प्रस्तुत किया गया है, सो इन विशेषणो की सार्थकता बताते है–सामान्य विशेषवान होने से शब्द एक [आकाश] द्रव्य रूप है ऐसा कहने से परमाणुओ से व्यभिचार आता है क्योकि परमाणु सामान्य

इत्युच्यमाने हि परमाणुभिर्व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थम् 'इन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युक्तम्। तथापि घटादिना व्यभिचारः, तन्निरासार्थमेकविशेषणम्। 'एकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युच्यमाने आत्मना व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं बाह्यविशेषणम्। रूपत्वादिना व्यभिचारपरिहारार्थं च 'सामान्यविशेषवत्त्वे सति' इति विशेषणम्।

तथा, कर्मापि न भवत्यसौ सयोगविभागाकारणत्वाद्रूपादिवदेवेति। तस्मात्सिद्ध प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्व शब्दस्य। 'सत्तासम्बन्धित्वात्' इत्युच्यमाने च द्रव्यकर्मभ्यामनेकान्तः, तन्निवृत्त्यर्थं

विशेषवानतया एक द्रव्यरूप है किन्तु गुणरूप तो नही है सो इस व्यभिचार को दूर करने के लिये इन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात्–जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो–इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता हो वह शब्द है ऐसा कहा है। सामान्य विशेषवान होकर इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो वह एक द्रव्य है ऐसा कहने से भी दोष आता है, क्योकि घट पट आदि पदार्थ सामान्य विशेषवान तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष है किन्तु एक द्रव्यरूप तो नही है अतः जो एक ही इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हो सके घटादि के समान अनेक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष न हो सके वह शब्द है ऐसा खुलासा करने के लिए "एक इन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात्" ऐसा हेतु मे एक पद का कलेवर बढाया गया है। जो एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष है वह शब्द है ऐसा कहना भी ठीक नही होता, क्योकि आत्मा भी एक ही इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष है, अत· इस दोष को दूर करने के लिए "बाह्य" विशेषण दिया है अर्थात् आत्मा एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो है किन्तु बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नही होता, अन्तरंग मनरूप इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है। इसप्रकार परमाणु, आत्मा आदि के साथ व्यभिचार नही होवे इस कारण से हेतु के विशेपण बढाये गये है और इस तरह यह सामान्य विशेषवत्वे सति बाह्य एक इन्द्रिय-प्रत्यक्षत्वात् हेतु अपने साध्य को [शब्द आकाश द्रव्य का गुण है इस बात को] सिद्ध करा देता है।

शब्द को छहो पदार्थो मे से कर्म पदार्थरूप भी नही मान सकते है, क्योकि यह सयोग और विभाग का कारण नही है, जैसे कि रूपादिक नही है, अर्थात् जैसे रूपादिक गुणरूप होने से सयोग आदि के कारण नहीं होते वैसे शब्द गुणरूप है अतः सयोगादि क्रिया के हेतु नही है। इसतरह से निश्चित होता है कि शब्द मे द्रव्यपना तथा कर्मपना प्रतिषिध्य है "शब्दो गुण प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावत्वे सति सत्ता-सम्बन्धित्वात्" ऐसा पहले अनुमान दिया था, इस अनुमान मे "सत्तासम्बन्धित्वात्" इतना ही हेतु देते तो द्रव्य और कर्म के साथ व्यभिचार होता अर्थात् सत्ता का सम्बन्ध

'प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वे सति' इति विशेषणम् । 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वात्' इत्युच्यमानेपि सामान्यादिना व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं 'सत्तासम्बन्धित्वात्' इत्यभिधानम् । तत्सिद्धं गुणत्वेन क्वचिदाश्रितत्वं शब्दानाम् ।

यश्चैषामाश्रयस्तत्पारिशेष्यादाकाशम्, तथाहि–न तावत्स्पर्शवतां परमाणूनां विशेषगुणः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्कार्यद्रव्यरूपादिवत् । नापि कार्यद्रव्याणां पृथिव्यादीनां विशेषगुणोसौ; कार्यद्रव्यान्तराप्रादुर्भावेप्युपजायमानत्वात्सुखादिवत्, अकारणगुणपूर्वकत्वादिच्छादिवत्, अयावद्द्रव्य-

---

जिसमे हो वह गुण है ऐसा कहना बाधित है, क्योकि द्रव्य तथा कर्मनामा पदार्थ सत्ता सम्बन्धी होकर भी गुणरूप नही है, अतः इस दोष को दूर करने के लिए "प्रतिषिध्यमान द्रव्यकर्मभावत्वे सति" इतना वाक्य बढाया है अर्थात् जो द्रव्य तथा कर्म नही होकर फिर सत्ता सम्बन्धी पदार्थ है तो वह गुण ही है । प्रतिषिध्यमान द्रव्यकर्मभावत्वात्– द्रव्य और कर्मपने का जिसमे प्रतिषेध हो वह गुण है ऐसा कहने मात्र से भी सामान्य आदि पदार्थो के साथ व्यभिचार आता था अत. "सत्तासम्बन्धित्वात्" इतना पद बढाया गया, अर्थात् जो द्रव्य एव कर्मरूप भी न हो और सत्तासयुक्त तो अवश्य हो ऐसा पदार्थ तो गुण ही होता है । इसतरह शब्द गुणरूप ही सिद्ध होते है अन्य किसी पदार्थ रूप नही, और जब वे गुणरूप ही है तो कही पर उनका आश्रित रहना अपने आप सिद्ध होता है ।

इन शब्दो का जो भी आश्रयभूत है वह तो पारिशेष्य न्याय से आकाश ही है, अब इसी पारिशेष्य का खुलासा करते है—शब्द नामा वस्तु गुण है इतनी बात तो निश्चित हो चुकी है, अब यह देखना है कि वह गुण नौ प्रकार के द्रव्यो मे से कौन से द्रव्य मे रहता है । पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु इन चार द्रव्यो के जो कारण है ऐसे कारण द्रव्य स्वरूप स्पर्शादिमान परमाणुओ का शब्द विशेष गुण है ऐसा कह नही सकते, क्योकि शब्द हम जैसे सामान्य जन के प्रत्यक्ष होता है जैसे कि कार्य द्रव्य के रूपादि गुण प्रत्यक्ष होते है, शब्द यदि परमाणुओ का गुण होता तो परमाणु की तरह वह भी हमारे प्रत्यक्ष गम्य नही होता । पृथिवी आदि कार्य द्रव्यो का विशेष गुण शब्द हो सो भी वात नही है, क्योकि कार्य द्रव्यातर के उत्पन्न नही होने पर भी यह उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, जैसा कि सुखदु खादिक कार्य द्रव्यातर की उत्पत्ति के विना भी उत्पन्न हुआ ही करते है । तथा शब्द मे इच्छा आदि के समान अकारण गुण-

भावित्वात्, अस्मदादिपुरुषान्तरप्रत्यक्षत्वे सति पुरुषान्तराप्रत्यक्षत्वाच्च तद्वत्, आश्रयाद्भेर्यादेरन्यत्रोपलब्धेश्च। स्पर्शवतां हि पृथिव्यादीना यथोक्तविपरीता गुणाः प्रतीयन्ते। नाप्यात्मविशेषगुणः; अहङ्कारेण विभक्तग्रहणात्, बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, आत्मान्तरग्राह्यत्वाच्च। बुद्धयादीना चात्मगुणाना तद्वैपरीत्योपलब्धेः। नापि मनोगुणः; अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवत्। नापि दिक्कालविशेषगुणः, तयोः पूर्वापरादिप्रत्ययहेतुत्वात्। अत पारिशेष्याद्गुणो भूत्वाकाशस्यैव लिङ्गम्।

पूर्वकपना है अर्थात् पृथिवी आदि का विशेप गुण तो परमाणु के गुणरूप कारण गुण पूर्वक होता है किन्तु शब्द ऐसा नही है वह तो इच्छादि गुणो के समान है, जैसे इच्छादि गुण परमाणु के कारण गुण पूर्वक नही होते अपितु अकारण गुणपूर्वक ही [आत्मा से] हुआ करते है वैसा ही शब्द नामा गुण है, तथा जैसे इच्छादि गुण अयावत्द्रव्य भावी हुआ करते है अर्थात् द्रव्य मे सर्वत्र नही रहते वैसे ही शब्दनामा गुण आकाशद्रव्य मे सर्वत्र नही रहता है। हम जैसे निकटवर्ती अनेक पुरुषो द्वारा प्रत्यक्ष होने पर भी दूरवर्ती पुरुषातरो द्वारा शब्द प्रत्यक्ष नही हो पाता है, जैसे इच्छादि गुण दूरवर्ती पुरुपो द्वारा प्रत्यक्ष नही होते है। शब्द की उपलब्धि भेरी आदि आश्रयभूत पदार्थ मे जैसी होती है वैसे अन्य स्थान पर भी होती है अतः सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का ही गुण है। स्पर्शगुणवाले पृथिवी आदि द्रव्यो मे इन उपर्युक्त विशेषो से विपरीत ही गुण प्रतीत होते है अत. शब्द इनका गुण नही हो सकता। शब्द आत्मा का विशेप गुण भी नही है, क्योकि शब्द का ग्रहण अहकाररूप से नही होता अर्थात् जैसे मैं सुखी हूँ इत्यादि मे "अह मै" ऐसा प्रतिभास होता है वैसा "मै शब्द वाला हूँ" ऐसा प्रतिभास नही देखा जाता, इससे मालूम होता है कि शब्द आत्मद्रव्य का गुण नही है। तथा शब्द बाह्य मे स्थित जो कर्णेन्द्रिय है उसके द्वारा प्रत्यक्ष होता है इसलिए अतीन्द्रिय आत्मा का विशेप गुण शब्द है ऐसा कहना असत् है। शब्द अन्य आत्माओं द्वारा भी ग्राह्य होता है इसलिए भी आत्मद्रव्य का विशेष गुण नही कहला सकता, बुद्धि आदिक जो आत्मा के विशेप गुण होते हैं वे ऐसे नही हुआ करते किन्तु इनसे विपरीत ही रहते है, अर्थात् शब्द के समान बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होना इत्यादि रूप नही रहते है। शब्द मन नामा द्रव्य का गुण है ऐसा भी सिद्ध नही होगा, क्योकि शब्द तो हम जैसे सामान्य व्यक्तियो के प्रत्यक्ष होता है, जिस तरह कि रूपरसादिक होते है किन्तु मनोद्रव्य का गुण ऐसा नही होता वह तो अप्रत्यक्ष रहता है।

तच्च शब्दलिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैकम् । विभु च सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्, नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वाच्चात्मादिवत् । नित्य शब्दाधिकरण द्रव्य सामान्यविशेषवत्त्वे सत्यनाश्रितत्वादात्मादिवत् । अनाश्रितं शब्दाधिकरण द्रव्य गुणवत्त्वे सत्यस्पर्शवत्त्वात्तद्वत् । असमवायवत्त्वे सत्यऽनाश्रितत्वाच्चास्य द्रव्यत्वमिति ।

शब्द दिशाद्रव्य, एव कालद्रव्य का गुण है ऐसा कहना भी अशक्य है क्योकि दिशादिद्रव्य तो पूर्व अपर आदि प्रत्ययो का [प्रतीतिका] निमित्त हुआ करते है । इसतरह पृथिवी आदि आठो ही द्रव्यो मे शब्द गुण की उपलब्धि नही देखी जाती अत· परिशेष द्रव्य जो आकाश है उसी का यह गुण है ऐसा निश्चय होता है । इस तरह शब्द यदि गुण है तो वह अन्य द्रव्यो का न होकर पारिशेष्य न्याय से आकाश द्रव्य का गुण है और उसी का ज्ञापक लिग है यह सिद्ध हुआ । शब्दरूप लिंग की विशेषता [एकता] के कारण तथा अन्य विशेष लिग का अभाव होने के कारण वह आकाश द्रव्य एक द्रव्यरूप ही सिद्ध होता है, अर्थात् आकाश द्रव्य एक ही है, परमाणु आदि के समान अनेक नही है । उस आकाश का गुण [शब्द] सर्वत्र उपलब्ध होता है अत. यह व्यापक कहलाता है । आकाश सदा नित्य रहता है, क्योकि हम जैसे व्यक्ति के द्वारा उसका गुण उपलब्ध होता है, ऐसे गुण का ही वह आधार है, जिस तरह आत्मादि द्रव्य नित्य तथा व्यापक माने जाते है वैसा ही आकाश द्रव्य है । आकाश द्रव्य नित्य कैसे है, ऐसी आशका भी नही करना । अब इसी को बतलाते है—शब्दगुण का अधिकरण भूत जो द्रव्य है वह नित्य है । [प्रतिज्ञा] क्योकि सामान्य विशेषवान होकर अनाश्रित रहता है, जैसे कि आत्मा आदि द्रव्य सामान्यादि युक्त होकर अनाश्रित रहते है । शब्द गुण का आधारभूत द्रव्य अनाश्रित कैसे है इस बात का भी निर्णय करते है—शब्द का अधिकरण भूत द्रव्य अनाश्रित होना चाहिए, क्योकि यह द्रव्य गुण वाला होकर स्पर्शवान नही है, जैसे कि आत्म द्रव्य स्पर्शवान नही है अत अनाश्रित है । तथा आकाश समवायवान नही होकर भी अनाश्रित रहता है इसलिए भी इसका अनाश्रितपना सिद्ध होता है, अर्थात् आकाश को अनाश्रित कहने से उसे कोई समवायरूप माने तो वैसी बात नही है आकाश समवायवान नही होकर भी अनाश्रित है ।

इसतरह आकाश द्रव्य नित्य तथा व्यापक सिद्ध होता है, उसका अस्तित्व शब्द द्वारा निश्चित किया जाता है ऐसा हम वैशेषिक का आकाश द्रव्य के विषय मे सिद्धान्त है ।

अत्र प्रतिविधीयते । शब्दाना सामान्येनाश्रितत्वं किमत. साध्यते, नित्यैकामूर्तविभुद्रव्याश्रितत्व वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता; तेषा पुद्गलकार्यतया तदाश्रितत्वाभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु सन्दिग्ध-विपक्षव्यावृत्तिकत्वेनानैकान्तिको हेतु ; तथाभूतसाध्यान्वितत्वेनास्य क्वचिद्दृष्टान्तेऽप्रसिद्धेः । प्रतिषिध्यमानकर्मभावत्वे सत्यपि च प्रतिषिध्यमानद्रव्यभावत्वमसिद्धम्, द्रव्यत्वाच्छब्दस्य । तथा हि-द्रव्यं शब्दः, स्पर्शाल्पत्वमहत्त्वपरिमाणसंख्यासयोगगुणाश्रयत्वात्, यद्यदेवविध तत्तद्द्रव्यम् यथा बदरामलकबिल्वादि, तथा चाय शब्द , तस्माद्द्रव्यम् ।

जैन—आकाश द्रव्य का जो भी आपने वर्णन किया है वह सर्व गलत है, आप जो शब्दो का आश्रय हो वह आकाश द्रव्य है ऐसा कहते है, सो शब्द को गुण बतलाकर उस गुणरूप हेतु द्वारा सामान्य रूप से शब्दो का कोई आश्रय होना चाहिए ऐसा सामान्य से आश्रितपना सिद्ध करना है अथवा नित्य, व्यापक, एक, अमूर्त्त ऐसे द्रव्य के आश्रित ही शब्द रहता है इस तरह का आश्रितपना सिद्ध करना है ? प्रथम पक्ष की वात कहो तो ठीक ही है, क्योकि शब्द पुद्गल द्रव्य का कार्य होने से उसके आश्रित रहते है ऐसा हम जैन मानते है । दूसरा पक्ष–गुणत्व हेतु द्वारा शब्द का नित्य, एक, व्यापक द्रव्य का आश्रितपना सिद्ध किया जाता है, ऐसा माने तो यह गुणत्वहेतु सदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाला होने से अनैकान्तिक बन जाता है, अर्थात् आपका जो अनुमान वाक्य था कि "शब्दः कवचित् आश्रितः गुणत्वात् रूपादिवत्" शब्द कही पर आश्रित रहता है, क्योकि वह गुण है, जैसे कि रूप रसादि गुण होने से आश्रित रहते है, सो इस गुणत्व हेतु द्वारा शब्द का आश्रयपना तो सिद्ध होवे किन्तु वह आश्रय नित्य, व्यापी, एक अमूर्त्त ऐसा द्रव्य ही होवे ऐसा तो कथमपि सिद्ध नही हो सकता, क्योकि जो भी गुण हो वह सब ही नित्य, व्यापक, एक द्रव्य के आश्रित हो सो बात नही है तथा इस तरह के साध्य के साथ उस हेतु का अविनाभाव भी दृष्टांत मे कही देखा नही जाता, अर्थात् रूप रस आदि गुण होने से कही आश्रित है ऐसा कहना तो ठीक है किन्तु ये रूप आदिक गुण नित्य, व्यापी, एक, अमूर्त्त द्रव्य मे आश्रित नही रहते, अतः गुणत्व हेतु द्वारा शब्द मे नित्य, अमूर्त्त व्यापक द्रव्य का आश्रयपना सिद्ध करना अशक्य है । आपने कहा कि शब्द मे द्रव्यपने तथा कर्मपने का प्रतिषेध है, इस पर हम जैन का सिद्धात है कि शब्द मे कर्मपने का भले ही निपेध हो जाय किन्तु द्रव्यपने का निषेध करना असिद्ध है, शब्द तो द्रव्य स्वरूप ही है, अनुमान से शब्द को द्रव्यरूप सिद्ध करके

तत्र न तावत्स्पर्शाश्रयत्वमस्यासिद्धम्; तथाहि-स्पर्शवाञ्छब्दः स्वसम्बद्धार्थान्तराभिघातहेतुत्वात् मुद्गरादिवत् । सुप्रतीतो हि कसपात्र्यादिध्वानाभिसम्बन्धेन श्रोत्राद्यभिघातस्तत्कार्यस्य बाधिर्यादेः प्रतीतेः । स चास्याऽस्पर्शवत्त्वे न स्यात् । न ह्यस्पर्शवता कालादिनाभिसम्बन्धेऽसौ दृष्ट । न च शब्दसहचरितेन वायुना तदभिघातः इत्यभिधातव्यम्, शब्दाभिसम्बन्धान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तस्य, तथाभूतेपि तदभिघातेऽन्यस्यैव हेतुकल्पने तत्रापि क· समाश्वासः ? शक्य हि वक्तुम्-न

बताते है—द्रव्य शब्द·, स्पर्शाल्पमहत्व परिमाण सख्या सयोग गुणाश्रयत्वात्" शब्द द्रव्य नामा पदार्थ स्वरूप ही है, क्योकि उसमे स्पर्श गुण का आश्रयपना देखा जाता है, तथा अल्प एवं महान परिमाण का आश्रयपना पाया जाता है, सख्या गुण का और सयोग गुण का आश्रयपना भी उसमे उपलब्ध होता है, जो जो वस्तु इस प्रकार की हो वह वह द्रव्य ही है, जैसे बेर, आवला, बेल आदि फल स्पर्श अल्प, महान आदि गुण के आश्रय होने से द्रव्यरूप है, शब्द भी इन बेर आदि वस्तु के समान है अत द्रव्य ही कहलाता है ।

शब्द को जो स्पर्शगुणका आश्रयभूत माना है वह असिद्ध भी नही है, आगे इसी को कहते हैं—शब्द नामा पदार्थ स्पर्शवाला है, क्योकि वह अपने से सम्बद्ध अन्य पदार्थ के अभिघात का कारण है, जैसे लाठी आदि पदार्थ अपने से सम्बद्ध हुए घट आदि पदार्थ का घात करने वाले देखे जाते है । सुप्रसिद्ध बात है कि कासे के बर्त्तन आदि के ध्वनि-शब्द से सम्बन्धित होने के कारण कर्ण का अभिघात होता है तथा उससे बहिरापना आ जाता है । यदि शब्द स्पर्शवान् नही होता तो कर्ण का अभिघात होना आदि कार्य नही हो सकता था । जो पदार्थ स्पर्शवान् नही है उसका किसी से सम्बन्ध नही देखा गया है, जैसे कि काल द्रव्य स्पर्श रहित है तो उसके साथ किसी का अभिसम्बन्ध नही होता है ।

शका—शब्द किसी से सम्बन्धित नही होता और न वह किसी का घात ही करता है, किन्तु शब्द के सहचारी वायु द्वारा कर्ण का अभिघात होना आदि कार्य होता है ?

समाधान—ऐसा नही कह सकते, कर्ण का अभिघात तो शब्द के साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है, अर्थात् जब शब्द का सम्बन्ध कर्ण से होता है तभी उसका अभिघात होता है और वह सम्बन्ध नही होता है तो अभिघात भी नही होता है अत· कर्ण के

वाय्वाद्यभिसम्बन्धात्तदभिघात. किन्त्वन्येन, इत्यनवस्थान हेतूनाम । गुणत्वेनास्य निर्गुणत्वात्स्पर्शाभावात्तदभिघाताहेतुत्वे चक्रकप्रसग:—गुणत्व ह्यद्रव्यत्वे, तदप्यस्पर्शवत्त्वे, तदपि गुणत्वे इति । स्पर्शवतार्थेनाभिहन्यमानत्वाच्च स्पर्शवानसौ । न चानेनाभिहन्यमानत्वमस्यासिद्धम्; प्रतिवातभित्त्यादिभि: शब्दस्याभिहन्यमानतया सकलजनसाक्षिकत्वात् मूर्तेन चामूर्त्तस्याविरोधेनाऽप्रतिघाताद्गगनभित्त्यादिवत् । तन्नास्य स्पर्शाश्रयत्वमसिद्धम् ।

घात का निमित्त शब्द सम्बन्ध ही है, इस प्रकार से कर्णाभिघात का कारण शब्द सम्बन्ध सिद्ध होते हुए भी उसे कारण न मानकर अन्य कोई कारण की कल्पना करेगे तो उस कारण मे शका होवेगी कि शब्द सहचारी वायु से कर्ण का घात हुआ है या अन्य कारण से हुआ है ? कोई कह सकता है कि वायु के अभिसम्बन्ध होने से कान का अभिघात नही हुआ है किन्तु अन्य ही किसी कारण से हुआ है, फिर उस कारण के विषय मे विश्वास नही होकर पुन अन्य कारण की कल्पना होवेगी, इस तरह तो कारणो की अनवस्था सी बन जायगी ।

शका—शब्द स्वय एक गुण है अत: उसमे स्पर्शनामा गुण नही रह सकता, क्योकि गुण मे अन्य गुण नही रहते वह निर्गुण होता है, अत. शब्द मे स्पर्शनामा गुण है उसके अभिसम्बन्ध से कर्ण का घात होता है ऐसा कहना ठीक नही ?

समाधान—यह बात गलत है, इस तरह चक्रक दोष होवेगा, प्रथम तो शब्द को अद्रव्यरूप सिद्ध करना, वह अद्रव्यपना भी अस्पर्शवत्व हेतु से सिद्ध होगा, पुनश्च अस्पर्शवत्व गुणत्व हेतु से सिद्ध होगा और गुणत्व से अद्रव्यपना सिद्ध होगा इस तरह चक्रक दोष आता है ।

स्पर्श वाले पदार्थ द्वारा अभिहत होने से भी शब्द मे स्पर्श गुण का सद्भाव सिद्ध होता है । स्पर्शमान पदार्थ शब्द को अभिहत न करे सो भी बात नही है, स्पर्श वाले प्रतिकूल वायु द्वारा दीवाल आदि से शब्द अभिहत होते हुए अनुभव मे आते है, यह सभी को प्रतीति में आता है । यदि शब्द स्पर्श रहित अमूर्त्त होता तो मूर्त्तिक दीवाल आदि से उसका अभिघात नही होता, क्योकि मूर्त्तिक से अमूर्त्तका अविरोध होने से उनका परस्पर मे अप्रतिघात है, जैसे आकाश और दीवाल का परस्पर में अविरोध होने से अप्रतिघात है अर्थात् मूर्त्तिक दीवाल और अमूर्त्त आकाश इनका अविरोध होने से दीवाल द्वारा आकाश अभिहत नही होता, वैसे ही शब्द को अमूर्त्त

नाप्यल्पमहत्त्वपरिमाणाश्रयत्वम्; अल्पमहत्त्वप्रतीतिविषयत्वाद्बदरादिवत्। ननु च 'अल्पः शब्दो मन्दः' इत्यादिप्रतीत्या मन्दत्वमेव धर्मो गृह्यते, 'महान् पटुस्तीव्रः' इत्यादिप्रतीत्या च तीव्रत्वम्; न पुनः परिमाणमियत्तानवधारणात्। नहि 'अयं महाञ्छब्दः' इति व्यवस्यन् 'इयान्' इत्यवधारयति, यथा द्रव्याणि बदरामलकबिल्वादीनि। मन्दतीव्रता चावान्तरो जातिविशेषो गुणवृत्तित्वाच्छब्दत्ववत्; तदप्यपेशलम्, यतः कथं शब्दस्य गुणत्वं सिद्धं यतस्तद्वृत्तित्वान्मन्दत्वादेर्जातिविशेषत्वं सिद्ध्येत्? अद्रव्यत्वाच्चेत्, तदपि कथम्? अल्पमहत्त्वपरिमाणानधिकरणत्वाच्चेत्; तदपि कुतः? गुणत्वात्; चक्रकप्रसङ्गः।

माना जाय, स्पर्श रहित माना जाय तो उसका स्पर्शवान भित्ति आदि से प्रतिघात होना असिद्ध होता है, अतः शब्द का स्पर्शगुण का आश्रयपना असिद्ध नही है।

शब्द को द्रव्यरूप सिद्ध करने के लिए दूसरा कारण यह भी बताया था कि शब्द मे अल्प तथा महान परिमाण रहता है अतः शब्द द्रव्य ही है, गुण नही है, सो यह अल्प महत्व परिमाणाश्रयत्व हेतु भी असिद्ध नही है, क्योकि बेर, आवला आदि फलो के समान शब्द मे भी अल्प तथा महान-छोटे बडेपन रूप मापकी प्रतीति आती है।

वैशेषिक—शब्द मे अल्प तथा महानपने की जो प्रतीति होती है उसमे ऐसी बात है कि यह शब्द अल्प है मद है इत्यादि प्रतीति से मदपना रूप धर्म ही ग्रहण होता है, तथा यह शब्द महान है, पटु है, तीव्र है इत्यादि प्रतीति से तीव्ररूप धर्म ही ग्रहण होता है किन्तु इससे परिमाण–[माप] ग्रहण नही होता क्योकि इयत्तारूप से निश्चय नही होता, किसी भी व्यक्ति को यह शब्द महान है, बडा भारी है इत्यादि रूप से निश्चय होते हुए भी उसकी इयत्ता इतनापना तो निश्चित नही होता, जैसे बेर आवला बिल्व आदि मे अल्प तथा महानपना अर्थात् छोटे बडे का इयत्ता–इतनापना बिलकुल निश्चित हो जाता है। तथा शब्द मे जो मद या तीव्रता प्रतीत होती है वह एक अवातर जाति विशेष है, क्योकि वह गुणवृत्ति वाली है जैसे शब्द मे शब्दत्व रहता है।

जैन—यह कथन असत् है, शब्द का गुणपना सिद्ध किये बिना यह नही कह सकते है कि तीव्र मदता गुणवृत्ति वाली होने से जाति विशेष है। आप शब्द मे गुणपना किसप्रकार सिद्ध करते है। शब्द गुणरूप है क्योकि वह अद्रव्य है, इस तरह अद्रव्यत्व हेतु से गुणत्व सिद्ध करे तो वह अद्रव्यत्व भी किस हेतु से सिद्ध होवेगा? शब्द अद्रव्य है, क्योकि वह अल्प तथा महान परिमाण का अधिकरण नही है, इस

द्रव्यान्तरवदियत्तानवधारणाच्चेत्; न; वायुनानेकान्तात्। न खलु बिल्वबदरादेरिव वायोरियत्तावधार्यते। वायोरप्रत्यक्षत्वादियत्ता सत्यपि नावधार्यते, न शब्दस्य विपर्ययात्; इत्यप्ययुक्तम्; गुणगुणिनो: कथञ्चिदेकत्वे गुणप्रतिभासे गुणिनोपि प्रतिभाससम्भवात्। वायुगतस्पर्शविशेषस्यैवाध्यक्षत्वाभ्युपगमे च 'स्पर्शोत्र शीत: खरो वा' इति प्रतीति: स्यान्न वायुरिति। न खलु रूपावभासिनि प्रत्यये सोवभासते। स्पर्शविशेषपरिणामस्यैव च वायुत्वात्कथ नास्य प्रत्यक्षत्वम् ?

तरह के हेतु से शब्द में अद्रव्यपना सिद्ध करे तो पुन: प्रश्न होता है कि अल्प तथा महत्व परिमाण का अधिकरण नही होना भी किस हेतु से सिद्ध होगा ? गुणत्व हेतु द्वारा कहो तो चक्रक दोष का प्रसग आता है।

शका—चक्रक दोष नही आयेगा, क्योकि शब्द अल्प तथा महत्वधर्म का अधिकरण नही है इस बात की सिद्धि गुणत्व हेतु द्वारा न करके "द्रव्यातरवत् इयत्ता-अनवधारणात्–अन्य द्रव्य के समान शब्द के परिमाण की इयत्ता (इतना पना) निश्चित नही होता इस हेतु द्वारा सिद्धि करते है ?

समाधान— यह कथन ठीक नही होगा, यह हेतु भी वायु के साथ अनेकान्तिक होता है, इसी को बताते है—बेल, बेर आदि फलो का परिमाण का जिसतरह "यह इतना छोटा परिमाण वाला है" इत्यादिरूप से निश्चय हो जाया करता है, उसतरह वायु का "यह इतने परिमाण में है" ऐसा अवधारण नही हो पाता है, अत: यह नही कह सकते कि इतनापनका अवधारण नही होने के कारण शब्द गुणरूप पदार्थ है।

वैशेपिक—वायु नामा पदार्थ अप्रत्यक्ष है अत: उसमे परिमाण की इयत्ता होते हुए भी प्रतीत नही हो पाती, किन्तु शब्द के विषय में ऐसी बात नही है, शब्द तो प्रत्यक्ष होता है, अत: उसमे यदि परिमाण की इयत्ता होती तो अवश्य ही प्रतीत हो जाती ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, आपने यह कहा कि वायु अप्रत्यक्ष है सो बात ठीक नही, गुण और गुणी मे कथंचित् एकत्व हुआ करता है, अत: जहा गुण प्रतीत हुआ वहा गुणी भी प्रतीत होता है, वायु एक गुणी पदार्थ है और उसमें स्पर्श आदि गुण रहते है, वायुके स्पर्शका प्रतिभास होता ही है अत' उससे कथंचित् अभिन्न ऐसा वायु गुणी भी प्रतीत हुआ माना जायगा। यदि केवल वायुगत स्पर्श को ही प्रत्यक्ष

इयत्ता चेय यदि परिमाणादन्या; कथमन्यस्यानवधारणेऽन्यस्याभाव ? न खलु घटानवधारणे पटाभावो युक्त। परिमाण चेत्; तर्हि 'इयत्तानवधारणात्परिमाण नास्ति' इत्यत्र 'परिमाण नास्ति परिमाणानवधारणात्' इत्येतावदेवोक्त स्यात्। अल्पत्वमहत्त्वप्रत्ययतस्तत्परिमाणावधारणे च कथ तदनवधारण नामामलकादावपि तत्प्रसगात् ? मन्दतीव्रताभिसम्बन्धात्तत्प्रत्ययसम्भवे च मन्दवाहिनि

होना स्वीकार करो तो "यहा पर शीत स्पर्श है, यहा उष्ण स्पर्श है" ऐसा प्रतिभास होना चाहिए, न कि शीत वायु है उष्ण वायु है, ऐसा प्रतिभास होना चाहिए ? वायु का प्रतिभास रूप की प्रतीति कराने वाले ज्ञान मे नही होता, अपितु स्पर्श की प्रतीति वाले ज्ञान मे होता है। शीत आदि स्पर्श विशेष जो परिणाम है वही वायु नामा पदार्थ है, और वह स्पर्श विशेष इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है, अत: वायु को किस प्रकार प्रत्यक्ष नही माना जाय ? अर्थात् उसे प्रत्यक्ष ही स्वीकार करना होगा।

वैशेषिक का कहना है कि शब्द के मापका यह अवधारण नही होता कि यह शब्द इतने परिमाण वाला है, अत उसमे अल्प और महान परिमाण स्वरूप गुण नही है इत्यादि, सो यह इयत्ता (इतनापना) परिमाण से यदि अन्य है तो इयत्ता का अवधारण अर्थात् निश्चय नही होने से परिमाण का अवधारण भी नही होता ऐसा किस प्रकार कह सकते है ? क्योकि दोनो पृथक्-पृथक् है, ऐसे पृथक् दो वस्तु मे से एक का अवधारण न हो तो दूसरे का अभाव है ऐसा नही कह सकते, घट का अवधारण नही होने पर पट का अभाव करना तो युक्त नही। यदि कहा जाय कि इयत्ता और परिमाण अन्य अन्य नही है एक ही है तो "इयत्ता का निश्चय नही होने से परिमाण नही है" ऐसा जो पहले कहा था उसका अर्थ यही निकला कि परिमाण [माप] नही क्योकि परिमाण का अवधारण नही होता है किन्तु ऐसा कहना बनता नही, क्योकि यह शब्द अल्प है, यह महान है इत्यादि प्रतिभास से शब्द के परिमाण का [मापका] अवधारण हो रहा है तब कैसे कह सकते हैं कि शब्द का परिमाण अवधारित नही होता, शब्द के अल्प-महत्व का निश्चय होते हुए भी यदि उसका शब्द मे अस्तित्व न माना जाय तथा उसका अवधारण न माना जाय तो आवला, बेल आदि फलो के परिमाण का [अल्प-महत्वरूप छोटे बड़े का] अवधारण नही मानने का प्रसग आयेगा।

शका—शब्द मे मंद और तीव्रता का अभिसम्बन्ध होता है अत: यह शब्द अल्प है यह महान है, ऐसा प्रतिभास हो जाया करता है ?

नर्मदानीरे 'अल्पमेतत्' तीव्रवाहिनि च कुल्याजले 'महदेतत्' इति प्रत्यय: स्यात् । न चैवम् । तस्मान्न मन्दतीव्रतानिबन्धनोयं प्रत्ययः, अपि त्वल्पमहत्त्वपरिमाणनिबन्धनः, अन्यथा बदरामलकादावपि तन्निबन्धनोसौ न स्यात् । बदरादीना द्रव्यत्वेन तत्परिमाणसम्भवात्तस्य तन्निबन्धनत्वे शब्देप्यत एवासौ तन्निबन्धनोस्तु विशेषाभावात् । कारणगतस्य चाल्पमहत्त्वपरिमाणस्य शब्दे उपचारात्तथा प्रत्यये बदरादावप्यसौ तथानुषज्येत । तन्नाल्पमहत्त्वपरिमाणाश्रयत्वमप्यस्यासिद्धम् ।

समाधान—यदि ऐसा कहेगे तो मंद मंद बहने वाले नर्मदा नदी के जल मे "यह जल अल्प है" ऐसा ज्ञान होना चाहिए तथा तीव्रता से बहने वाले नहर या छोटी नदी के जल मे "यह जल महान है" ऐसा ज्ञान होना था । किन्तु ऐसा ज्ञान नही होता इसलिये मानना होगा कि शब्द मे अल्प और महानपने का जो प्रतिभास होता है उसका कारण मंदता और तीव्रता नही है किन्तु अल्प और महान परिमाण ही है और उसीके कारण वैसा प्रतिभास हुआ करता है । यदि शब्द मे इसतरह की व्यवस्था नहीं मानी जाय तो बेर और आवला आदि वस्तु मे भी अल्प और महानपने के परिमाण के कारण वैसी प्रतीति नही आकर मद और तीव्रता के कारण आती है ऐसा स्वीकार करना होगा ।

वैशेषिक—बेर, आवले आदि फल द्रव्यरूप है अत: उनमे अल्प और महान परिमाणरूप गुण रहता है और उसके निमित्त से वैसा प्रतिभास भी हो जाता है ।

जैन—तो फिर शब्द मे भी ऐसी बात मान लेना चाहिए, उसमें भी अल्प और महान परिमाणरूप गुण रहते हैं और उसके निमित्त से वैसा प्रतिभास होता है ऐसा मानना होगा, कोई विशेषता नही है ।

वैशेषिक—शब्द का कारण जो आकाश है उस आकाश द्रव्य के कारण उसके गुण स्वरूप शब्द मे भी अल्प तथा महान परिमाण का उपचार होता है और उसके कारण ही अल्प आदि परिमाण की प्रतीति शब्द मे भी होती है ।

जैन—ऐसा कहो तो बेर, आंवला आदि पदार्थो मे भी अल्प एव महानपने की प्रतीति उपचार से आरोपित अल्प आदि गुण से होती है ऐसा मानना पडेगा । किंतु इस तरह की बात किसी को भी इष्ट नही है इसलिये कहना होगा कि बेर, आंवले आदि के समान शब्द में भी अल्प तथा महान परिमाणरूप गुण रहते हैं । इसप्रकार शब्द अल्प महत्व परिमाण के आश्रयभूत है ऐसा जो हेतु दिया था वह असिद्ध नही है

नापि सङ्ख्याश्रयत्वम्; 'एक. शब्दो द्वौ शब्दौ बहव: शब्दा'' इति सख्यावत्त्वप्रतीतेर्घटादिवत्। अथोपचाराच्छब्दे सख्यावत्त्वप्रतीति', ननु किं कारणगता, विषयगता वा, शब्दे सख्योपचर्येत? कारणगता चेत्, किं समवायिकारणगता, कारणमात्रगता वा? आद्यपक्षे 'एक' शब्द.' इति सर्वदा व्यपदेशप्रसङ्गस्तस्यैकत्वात्। द्वितीयपक्षे तु 'बहव' शब्दा' इति व्यपदेशः स्यात्तस्य बहुत्वात्। विषय-संख्योपचारे तु गगनाकाशव्योमादिशब्दा बहुव्यपदेशभाजो न स्युर्गगनलक्षणविषयस्यैकत्वात्। पश्वादीना च बहुत्वात् 'एको गोशब्दः' इति स्वप्नेपि दुर्लभम्। यथाऽविरोध सख्योपचार, इत्यप्ययुक्तम्,

---

शब्द मे सख्या का आश्रयपना भी असिद्ध नही है, शब्द मे भी घट पट आदि पदार्थो के समान यह एक शब्द है, ये दो शब्द है, ये बहुत से शब्द है, इत्यादि सख्यावान की प्रतीति होती ही है।

वैशेषिक—शब्द मे एक दो आदि सख्या की जो प्रतीति होती है वह औपचारिक है?

जैन—अच्छा तो शब्द मे सख्या का जो उपचार होता है वह किस संख्या का होता है, कारण मे होने वाली सख्या का अथवा विषय मे होने वाली सख्या का? शब्द का जो कारण है उसकी सख्या का शब्द मे उपचार होता है ऐसा कहो तो उसमें पुन. प्रश्न होता है कि समवायी कारण की सख्या का उपचार होगा या कारण मात्र की सख्या का उपचार होगा? प्रथम पक्ष कहो तो "एक शब्द" एक शब्द है, ऐसा हमेशा शब्द का नाम रहेगा, क्योंकि शब्द का समवायी कारण जो आकाश माना है वह एक ही है अतः उसकी सख्या का आरोप शब्द मे होगा तो शब्द भी सदा एक सख्यारूप रहेगा। दूसरा पक्ष—शब्द के जो जो कारण है उन सभी की सख्या का शब्द मे उपचार किया जाता है, ऐसा कहे तो "बहव शब्दा." बहुत शब्द है ऐसा नाम रहेगा, क्योंकि शब्द के कारण तो तालु आदि बहुत प्रकार के है। शब्द का जो विषय है अर्थात् शब्द द्वारा जो पदार्थ कहे जाते है उनकी सख्या का शब्द मे उपचार करते है ऐसा द्वितीय विकल्प कहा जाय तो गगन; आकाश, व्योम इत्यादि शब्द बहु वचन वाले नही हो सकेंगे, क्योंकि इन गगन आदि शब्दो का विषय जो आकाश द्रव्य है वह एक ही है। तथा विषय की सख्या शब्द मे उपचरित होती है तो पशु, वाणी, चन्द्र, किरण, राजा आदि बहुत से अर्थो मे एक गो शब्दका प्रयोग स्वप्न मे भी दुर्लभ होगा। क्योंकि पशु आदि विषय तो बहुत है और गो शब्द एक है।

स्वय संख्यावत्त्वमन्तरेणाविरोधाऽसम्भवात् ।

किञ्च, विपरीतोपलम्भस्य बाधकस्य सद्भावे सत्युपचारकल्पना स्यात्, न चाग्नित्वरहित-पुरुषस्येवैकत्वादिसंख्यारहितस्य शब्दस्योपलम्भोस्तीति कथमुपचारकल्पना ? तथापि तत्कल्पने अनुप-चरितमेव न किञ्चित्स्यात् । तन्न सख्याश्रयत्वमप्यसिद्धम् ।

नापि सयोगाश्रयत्वम्; वाय्वादिनाभिहन्यमानत्वात् पांश्वादिवत् । सयुक्ता एव हि पांश्वादयो वायुनान्येन वाऽभिहन्यमाना दृष्टाः । तेन तदभिघातश्च देवदत्तं प्रत्यागच्छतः प्रतिवातेन प्रतिनिवर्त्त-

---

शंका—एक दो आदि पदार्थों के अनुसार अविरोधपने से उन विषयो की सख्या का शब्द में उपचार हो जायगा ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, स्वय शब्द संख्यावान नही है अतः परकी सख्या से उसमे सख्या की अविरोधपनेरूप प्रवृत्ति होना असम्भव ही है ।

किञ्च, शब्द मे सख्यावानपने से विपरीत जो असंख्यावानपना है उसका सद्भाव यदि होता तो कह सकते थे कि शब्द मे जो एक दो आदि सख्या की प्रतीति आ रही है वह उपचरित है, किन्तु एकत्व आदि संख्या से रहित शब्द कभी उपलब्ध नही होते, फिर कैसे कहे कि शब्द मे सख्या का उपचार होता है, जैसे कोई पुरुष है वह अग्नि रहित प्रतीत होता है फिर उसमे कदाचित् क्रोधावेश देखकर अग्नि का उपचार कर लेते है कि यह पुरुष तो अग्नि है । इसतरह शब्द मे संख्या का उपचार होना अशक्य है, शब्द तो स्वयं ही सख्यायुक्त है । शब्द मे स्वय सख्या प्रतिभासित हो रही है तो भी उसे उपचरित बताया जाय तो अनुपचरित कोई वस्तु नही रहेगी सभी को उपचरित ही मानना पडेगा। अतः कहना होगा कि शब्द मे स्वय सख्या रहती है । इस तरह शब्द सख्या का आश्रय है ऐसा हमारा कहा हुआ हेतु असिद्ध नही है ।

शब्द सयोग का आश्रय है, यह बात भी असिद्ध नही है, क्योकि शब्द वायु आदि से अभिहत होते हुए देखे जाते है जैसे कि धूल, कागज आदि पदार्थ वायु आदि से अभिहत होने से उसका धूलादि के साथ संयोग स्वीकार किया जाता है, जब धूल, पत्ते आदि पदार्थ वायु या हस्तादि से सयुक्त होते है तभी अभिहत—ताडित होते हुए देखे जाते है । शब्द का अभिघात भी होता है, कोई शब्द देवदत्त के पास आता हुआ बीच में ही प्रतिकूल हवा के चलने से रुक जाता है जैसे मिट्टी धूलि आदि प्रतिकूल

नात्पाश्वादिवदेवावसीयते, तदप्यन्यदिगवस्थितेन श्रवणात् । ननु गन्धादयो देवदत्तं प्रत्यागच्छन्तस्तेन निवर्त्यन्ते, न च तेषा तेन संयोगो निर्गुणत्वाद्गुणानाम्, तन्न, तद्वतो द्रव्यस्यैवानेन प्रतिनिवर्त्तनात्, केवलाना तेषा निष्क्रियत्वेनागमननिवर्त्तनायोगात् । ततः सिद्ध गुणवत्त्वाद्द्रव्यत्व शब्दस्य ।

क्रियावत्त्वाच्च बाणादिवत् । निष्क्रियत्वे तस्य श्रोत्रेणाऽग्रहणमनभिसम्बन्धात् । तथापि ग्रहणे श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्व स्यात् । तथा च, 'प्राप्यकारि चक्षुर्बाह्येन्द्रियत्वात्त्वगिन्द्रियवत्' इत्यस्यानै-

---

वायु से उड़ते हुए बीच मे ही रुक जाते हैं, उल्टी दिशा में उडने लग जाते हैं उससे मालूम होता है कि इन पदार्थो का वायु आदि से सयोग होने के कारण अभिघात हुआ है, तथा शब्द भी वायु के कारण अन्य दिशा मे स्थित पुरुष द्वारा सुनाई देते हैं अतः उनका वायु से सयोग हुआ है ऐसा सिद्ध होता है ।

शका—गन्ध आदि गुण भी देवदत्त के प्रति आते हुए वायु से रुक जाते हैं अथवा लौट जाते है किन्तु उन गधादि का वायु के साथ सयोग तो नही माना जाता, क्योकि गन्ध आदिक स्वय ही गुण है, गुण मे अन्य गुण नही होते, वे तो निर्गुण हुआ करते है ।

समाधान—ऐसी आशका नही करना, गन्धादिका जो निवर्त्तन होता है वह गन्धादिमान द्रव्य का ही निवर्त्तन है, वायु द्वारा गन्ध आदि गुणवाला द्रव्य ही निवृत्त होता है, द्रव्य रहित केवल गुण तो निष्क्रिय हुआ करते है वे न आते है और न निवृत्त होते है, गमन लौटना आदि क्रिया का उनमे अयोग है । इसप्रकार शब्द मे सख्यावान पना, सयोग पना आदि गुण पाये जाने से वह द्रव्य रूप सिद्ध होता है, गुण रूप नही, अतः शब्द गुण नही अपितु गुणवाला या गुणवान द्रव्य यह निश्चित हुआ ।

शब्द मे बाण आदि की तरह क्रियावानपना भी है, यदि शब्द क्रियावान नही होता, निष्क्रिय होता तो कर्ण से उसका सम्बन्ध नही हो सकने से कर्ण द्वारा शब्द का ग्रहण नही होता । शब्द का सम्बन्ध हुए बिना ही कर्ण उसे ग्रहण करता है ऐसा कहो तो कर्ण को अप्राप्यकारी मानना होगा, फिर "प्राप्यकारि-चक्षु, बाह्येन्द्रियत्वात् त्वग् इन्द्रियवत्" चक्षु प्राप्यकारी है, क्योकि वह बाह्य इन्द्रिय है, जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय है ऐसा कथन अनैकान्तिक होता है । अर्थात् स्पर्शन आदि पाचो ही इन्द्रिया प्राप्यकारी है क्योकि वे बाह्येन्द्रिया है ऐसा आप वैशेषिक मानते है किन्तु यहां कर्ण शब्द को बिना

कान्तिकत्वम् । सम्बन्धकल्पने श्रोत्रं वा शब्दोत्पत्तिप्रदेश गत्वा शब्देनाभिसम्बध्येत, शब्दो वा स्वोत्पत्तिदेशादागत्य श्रोत्रेणाभिसम्बध्येत ? न तावद्धर्माधर्माभ्या सस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धनभोदेशलक्षणश्रोत्रस्य शब्दोत्पत्तिदेशे गतिः, तथा प्रतीत्यभावात्, निष्क्रियत्वाच्च । गतौ वा विवक्षितशब्दान्तरालवर्तिनामल्पशब्दानामपि ग्रहणप्रसङ्गः; सम्बन्धाविशेषात् । अनुवातप्रतिवाततिर्यग्वातेषु प्रतिपत्त्यप्रतिपत्तीषत्प्रतिपत्तिभेदाभावश्च, श्रोत्रस्य गच्छतस्तत्कृतोपकाराद्ययोगात् । नापि शब्दस्य श्रोत्रप्रदेशागमनम्, निष्क्रियत्वोपगमात् । आगमने वा सक्रियत्वम् ।

सम्बद्ध किये–प्राप्त किये ग्रहण करता है ऐसा कहा अत. उक्त कथन व्यभिचरित होता है । तथा शब्द को अभिसम्बन्धित माना जाय तो सम्बन्ध करने के लिए गमनादि क्रिया कौन करेगा । कर्ण शब्द के उत्पत्ति स्थान पर जाकर शब्द से सम्बन्ध करेगे, अथवा शब्द अपने उत्पत्ति स्थान [तालु, ओठ आदि] से आकर कर्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित करेगे ? शब्दोत्पत्ति स्थान पर कर्ण तो जा नही सकता, क्योकि धर्म और अधर्मनामा आत्मा का जो अदृष्ट गुण है उसके द्वारा सस्कारित किया गया जो कर्ण पुट है उससे अवरुद्ध जो आकाश प्रदेश है उन्हे आप कर्ण सज्ञा देते हैं । उस कर्ण का शब्दोत्पत्ति स्थान के पास जाना प्रतीत नही होता है, तथा उक्त कर्ण निष्क्रिय होने से गमन भी नही कर सकता है । यदि कर्ण गमन करता है तो उस विवक्षित शब्द के अतरालवर्त्ती अन्य अन्य जो शब्द रहेगे उनका भी ग्रहण करने का प्रसग आता है, क्योकि उनके साथ भी सम्बन्ध हो गया है । यदि कर्ण शब्द स्थान पर आता है तो अनुकूल वायु के कारण भली प्रकार सुनाई देना–प्रतीति होना, प्रतिकूल हवा के चलने से शब्दो का सुनाई नही देना–प्रतीति नही होना, तिरछी हवा के कारण कुछ कुछ सुनाई देना इत्यादि रूप से शब्द के ग्रहण होने मे जो भेद होता है वह किस प्रकार सम्भव होगा । क्योकि कर्ण स्वय ही शब्दके पास आया है । कर्ण ही शब्दोत्पत्ति प्रदेश पर जा रहा है तो वायु द्वारा उसका उपकार आदि होने का भी अयोग होगा ।

दूसरा पक्ष कहे कि शब्द के पास कर्ण नही आता किन्तु शब्द ही कर्ण के पास आते है सो भी बात नही बनती, क्योकि आप वैशेपिक ने शब्द को भी निष्क्रिय माना है । यदि शब्द कर्ण के पास आते है तो इसका मतलब क्रियावान है और क्रियावान है तो शब्द द्रव्यरूप ही सिद्ध हुआ । फिर उसे गुणरूप सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है ।

ननु नाद्य एवाकाशतच्छङ्खमुखसयोगेश्वरादे समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणाज्जात: शब्द: श्रोत्रेणागत्य सम्बध्यते येनाय दोष, अपि तु वीचीतरङ्गन्यायेनापरापर एवाकाशशब्दादिलक्षणात् समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणाज्जात: तेनाभिसम्बध्यते, तदप्यसमीचीनम्; सर्वत्र क्रियोच्छेदानुषङ्गात्। 'बाणादयोपि हि पूर्वपूर्वसमानजातीयलक्षणप्रभवा लक्ष्यप्रदेशव्यापिनो न पुनस्ते एव' इति कल्पयितु शक्यत्वात्। तत्र प्रत्यभिज्ञानान्नित्यत्वसिद्धेर्नैव कल्पना चेत्; नन्विद प्रत्यभिज्ञानं शब्देपि समानम् 'उपाध्यायोक्त शृणोमि शिष्योक्तं वा शृणोमि' इति प्रतीते:।

वैशेषिक—उक्त प्रयास व्यर्थ नही होगा, शब्द के विषय मे ऐसी मान्यता है कि आकाश, तथा शख्य और मुखका सयोग एव ईश्वर आदि समवायी असमवायी कारणो से पहला शब्द उत्पन्न होता है वह शब्द आकर कर्ण से सम्बद्ध नही होता किन्तु वीची तरग न्याय के समान जिसके आकाश, शब्द, ईश्वर आदि समवायी तथा असमवायी कारण होते है ऐसे अपर अपर ही शब्द कर्ण से सम्बद्ध होता है, अर्थात् जैसे समुद्र मे लहरे उठती है वे एक न होकर अनेक हुआ करती हैं, प्रथम एक लहर उठती है, फिर उससे आगे आगे दूर तक दूसरी दूसरी लहरे बनती जाती है, वैसे शब्द पहले तो आकाश आदि कारणो से उत्पन्न होता है पुन: उससे आगे आगे कर्ण प्रदेश तक अन्य अन्य शब्द आकाश आदि से उत्पन्न होते है, अतिम कर्ण प्रदेश के पास जो शब्द उत्पन्न होता है उससे कर्ण का सम्बन्ध होता है।

जैन—यह कथन असत्य है, इस तरह मानेगे तो सब जगह सब वस्तु मे क्रियाशीलता का अभाव हो जायगा, कोई कह सकता है कि बाण आदि पदार्थ भी वैशेषिक के शब्द के समान वीची तरग न्याय से लक्ष्य स्थान पर पहुचते है अर्थात् जो वाण धनुष से छूटा है वह लक्ष्य स्थान पर नही पहुचता अपितु बीच मे अन्य अन्य ही बाण पूर्व पूर्व बाण से उत्पन्न होते है अन्त मे लक्ष्य स्थान के निकट जो वाण उत्पन्न होगा वही लक्ष्य को वेधेगा।

वैशेषिक—बाण आदि पदार्थ के विषय मे वीची तरंग की कल्पना नही होवेगी क्योकि प्रत्यभिज्ञान द्वारा [यह वही बाण है जो धनुष से निकला था] बाण की नित्यता मालूम होती है।

जैन—यही प्रत्यभिज्ञान शब्द मे भी सम्भव है, इसमे भी उपाध्याय के कहे हुए शब्द को मैं सुन रहा हूँ, शिष्य के कहे शब्द को सुन रहा हूँ इत्यादि प्रत्यभिज्ञान से

ननु प्रत्यभिज्ञानस्य, भवद्दर्शने दर्शनस्मरणकारणकत्वादत्र च तदभावात्कथ तदुत्पत्तिः ? न खलूपाध्यायोक्ते शब्दे दर्शनवत्स्मरणं भवति; अस्य पूर्वदर्शनाद्याहितसस्कारप्रबोधनिबन्धनत्वात्। न च कारणाभावे कार्यं भवत्यतिप्रसंगात्; इत्यप्यनुपपन्नम्; सम्बन्धिताप्रतिपत्तिद्वारेणात्रैकत्वस्य प्रतीतेः। सम्बन्धितायां च दर्शनस्मरणयो. सद्भावसम्भवात्प्रत्यभिज्ञानस्योत्पत्तिरविरुद्धा। तथाहि-प्रत्यक्षानुपलम्भतोऽनुमानतो वा तत्कार्यतया तत्सबन्धिन शब्द प्रतिपद्येदानी तत्स्मृत्युपलम्भोद्भूतं

शब्द की नित्यता सिद्ध होती है।

वैशेषिक—आपके जैनमत मे दर्शन और स्मरण द्वारा प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति मानी है वह दर्शनादिरूप कारण शब्द मे होना सम्भव नही, फिर किस प्रकार वह ज्ञान उत्पन्न होवे ? उपाध्याय के कहे हुए शब्द मे जैसे दर्शन अर्थात् श्रवणेन्द्रियज प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वैसे स्मरण ज्ञान नही होता क्योकि स्मरण ज्ञान पूर्व मे देखे हुए वस्तु के सस्कार के जाग्रत होने पर होता है। कारण के अभाव मे कार्य नही होता है, यदि माना जाय तो अतिप्रसग आयेगा।

जैन—यह कथन गलत है, शब्द का सम्बन्धीपना जानने से उसमे एकत्व की प्रतीनि हो जाया करती है, अर्थात् मेरे द्वारा यह जो शब्द सुना जा रहा है वह उपाध्याय का कहा हुआ है, इस तरह शब्द मे एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है। जब सबधिता दर्शन और स्मरण के सद्भाव मे ही सम्भव है तब यहां शब्द के विषय मे प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति होना अविरुद्ध ही होगा। अब इसी को कहते है—प्रत्यक्ष और अनुपलभ प्रमाण से अर्थात् अन्वय व्यतिरेक से या अनुमान प्रमाण से यह उपाध्याय का कार्य स्वरूप शब्द है—उपाध्याय का कहा हुआ है इस तरह उपाध्याय सम्बन्धी शब्द को जानकर वर्त्तमान मे उस शब्द की स्मृति होने से उत्पन्न हुआ जो प्रत्यभिज्ञान है वह उपाध्याय तथा शब्द के सम्बन्धीपने को जानता हुआ शब्द के एकत्व विशिष्ट को ही जानना है यदि ऐसी बात नही होती तो उपाध्याय का कहा हुआ शब्द सुन रहा हू इसतरह का प्रतिभास नही होता अपितु उपाध्याय के कहे हुए शब्द से उत्पन्न हुआ उसके समान अन्य कोई शब्दान्तर को सुन रहा हू ऐसा प्रतिभास होना चाहिए था ? किन्तु होता नही। आपने शब्द का वीचीतरंग न्याय से उत्पन्न होना बताया सो उसका आगे इसी ग्रन्थ मे निषेध करनेवाले हैं।

प्रत्यभिज्ञान तत्सम्बन्धितया तं प्रतिपद्यमानमेकत्वविशिष्टमेव प्रतिपद्यते; अन्यथा 'उपाध्यायोक्त शृणोमि' इति प्रतीतिर्न स्यात्, किन्तु 'तदुक्तोद्भूत तत्सदृश शब्दान्तर शृणोमि' इति प्रतीतिः स्यात्। वीचीतरगन्यायेन तदुत्पत्तिश्चात्रैव निषेत्स्यते।

यदि पुनर्लूनपुनर्जातनखकेशादिवत्सदृशापरापरोत्पत्तिनिबन्धनमेतत्प्रत्यभिज्ञान न कालान्तर-स्थायित्वनिबन्धनम्, तद्बाणादावपि समानम्। न समानमत्र बाधकसद्भावात् तथा कल्पना, नान्यत्र

वैशेषिक—जिस प्रकार नख और केश पुन पुन काटकर पुनः पुन तत्सदृश अन्य अन्य उत्पन्न होते है और उनमे सदृश निमित्तक प्रत्यभिज्ञान होता है, उसीप्रकार शब्द कर्ण प्रदेश तक अन्य अन्य तत्सदृश उत्पन्न होता है और उसमे सदृश निमित्तक प्रत्यभिज्ञान होता है, किन्तु कालान्तर स्थायी शब्द निमित्तक अर्थात् एकत्व निमित्त प्रत्यभिज्ञान नही होता, अभिप्राय यह है कि शब्द मे जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह सदृश-मूलक है एकत्वमूलक नही है।

जैन—यही कथन बाणादि मे भी घटित कर सकते है, अर्थात् धनुष से निर्गत बाण लक्ष्य तक नही जाता अपितु तत्सदृश उत्पन्न हुआ अन्य बाण ही जाता है तथा उसमे जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह सदृशमूलक है एकत्वमूलक नही ऐसा कहना होगा। [जो सर्वथा विरुद्ध होगा]

वैशेषिक—बाण के समान शब्द की बात नही है, शब्द को कालातर स्थायी मानने मे एव उसमे एकत्वमूलक प्रत्यभिज्ञान मानने मे बाधा आती है, अत शब्द को क्षणिक मानते है। बाणादि पदार्थों को कालान्तर स्थायी मानने मे बाधक प्रमाण नही है अत. उनको उस रूप माना जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि शब्द मे प्रत्यभिज्ञान होने से कालान्तर स्थायित्व एवं एकत्व है ऐसा जैन का कहना सिद्ध नही होता।

जैन—अच्छा तो बताइये कि शब्द को अक्षणिक बतलानेवाले प्रत्यभिज्ञान मे अर्थात् यह वही उपाध्याय का कहा हुआ शब्द है इत्यादिरूप जो ज्ञान होता है उसमे बाधा आती है ऐसा जो कहा सो इस प्रत्यभिज्ञान को बाधा देनेवाला कौनसा प्रमाण होगा, प्रत्यक्ष या अनुमान, प्रत्यक्ष कहो तो वह भी कौनसा एकत्व विषयवाला या क्षणिकत्व विषयवाला, एकत्व विषयवाला प्रत्यक्ष प्रमाण एकत्व विषयवाले ही प्रत्यभि-

विपर्ययात् । नन्वत्र प्रत्यक्षम्, अनुमान वा बाधक कल्प्येत ? प्रत्यक्ष चेत्, किमेकत्वविपयम्, क्षणिकत्वविषयं वा ? न तावदेकत्वविषयम्; समविषयत्वेन तदनुकूलत्वात् । नापि क्षणिकत्वविषयम्; शब्देऽन्यत्र वा तस्य विवादगोचरापन्नत्वात् । नाप्यनुमानम्; प्रत्यभिज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षं भवन्मते तस्य कथमनुमानं बाधकम् ? प्रत्यक्षमेव हि बाधकम् आमताम्राह्येकशाखाप्रभवत्वानुमानस्य, न पुनस्तदनुमान प्रत्यक्षस्य । अथाध्यक्षाभासत्वादस्यानुमानं बाधकम्, यथा स्थिरचन्द्रार्कादिविज्ञानस्य

ज्ञान मे बाधक बन नही सकता, क्योकि समान विषयवाला होने से वह तो उसके अनुकूल ही रहेगा । क्षणिकत्व विपयवाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान का बाधक नही है, क्योकि शब्द हो चाहे अन्य कोई पदार्थ हो उसकी क्षणिकता अभी तक विवाद की कोटि मे ही है अर्थात् किसी भी वस्तु का सर्वथा क्षणिकपना आज तक भो सिद्ध नही हुआ है ।

अनुमान प्रमाण भी शब्द के कालान्तर स्थायित्व के ग्राहक प्रत्यभिज्ञान का बाधक होना अशक्य है, क्योकि आप वैशेपिक ने प्रत्यभिज्ञान को मानस प्रत्यक्षरूप माना है सो ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानको अनुमान प्रमाण कैसे बाधित कर सकता है ? बाधक तो प्रत्यक्ष ही बनता है, जैसेकि ये सब फल पके है, क्योकि एक ही शाखा मे लगे है, ऐसा किसी ने अनुमान प्रमाण उपस्थित किया सो इस अनुमान मे प्रत्यक्ष से बाधा आयेगी अर्थात् प्रत्यक्ष से उन फलो मे से बहुत से फल कच्चे दिखायी देते है, सो पूर्वोक्त अनुमान को यह प्रत्यक्ष ज्ञान बाधित करेगा, अतः निश्चित होता है कि प्रत्यक्ष अनुमान का बाधक होता है, अनुमान प्रत्यक्ष को बाधित नहीं कर सकता ।

वैशेषिक—ठीक है, किन्तु शब्द को कालातर स्थायी बतलानेवाला प्रत्यभिज्ञान स्वरूप प्रत्यक्षज्ञान तो प्रत्यक्षाभास है, अत ऐसे प्रत्यक्षाभास को अनुमान बाधित कर देता है,[1] जैसे चन्द्र, सूर्य आदि अस्थिर पदार्थो को स्थिर रूप से प्रतिभासित करने वाले ज्ञानको देश से देशातर गमनरूप हेतु वाला अनुमान प्रमाण बाधित कर देता है । अर्थात् किसी को सूर्य और चन्द्रादिक स्थिर है ऐसा साक्षात् ज्ञान होता है, क्योकि सामान्य व्यक्ति को जल्दी से यह नही मालूम पडता है कि सूर्यादि पदार्थ अस्थिर है सो उस व्यक्ति के प्रत्यक्ष ज्ञानको जो वास्तविक प्रत्यक्ष नही है, अनुमान बाधित कर देता है कि सूर्यादि ज्योतिपी स्थिर नही है ये तो पूर्व से पश्चिम दिशा तक गमन कर रहे है इत्यादि ।

देशान्तरप्राप्तिलिङ्गजनितं गत्यनुमानम्, कथं पुनरस्याध्यक्षाभासत्वम् ? अनुमानेन बाधनाच्चेत्; अनेनानुमानस्य बाधनादनुमानाभासता किन्न स्यात् ? अथानुमानबाधितविषयत्वान्नेदमनुमानस्य बाधकम्; अनुमानमप्येतद्बाधितविषयत्वान्नास्य बाधकं स्यात्। न च तदनुमानमस्ति।

नन्विदमस्ति–क्षणिकः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् सुखादिवत्। सत्यमस्ति, किन्त्वेकशाखाप्रभवत्ववदेतत्साधनं प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वान्न

अतः जैन ने जो कहा कि प्रत्यक्ष को अनुमान बाधित नहीं करता। सो बात नहीं। प्रत्यक्षाभास को तो अनुमान बाधित करता ही है।

जैन—अच्छा यह तो ठीक कहा किन्तु शब्द के एकत्व का ग्राहक प्रत्यभिज्ञान स्वरूप मानस प्रत्यक्षज्ञान प्रत्यक्षाभास क्यों कर कहलायेगा ? यदि कहो कि अनुमान द्वारा बाधित होने से प्रत्यक्षाभास कहलाता है तो इससे विपरीत हम कहते हैं कि एकत्व ग्राही मानस प्रत्यक्ष द्वारा क्षणिकत्वग्राही अनुमान में बाधा आने से अनुमान ही अनुमानाभास है, ऐसा क्यों न माना जाय ?

वैशेषिक—यह जो शब्द के एकत्व का प्रतिपादक ज्ञान है उसका विषय अनुमान द्वारा बाधित होता है, जैसा कि चन्द्रादि को स्थिररूप बतलानेवाला प्रत्यक्ष-प्रमाण अनुमान से बाधित होता है अतः वह प्रत्यक्ष अनुमान का बाधक नहीं बनता है।

जैन—शब्द को क्षणिक बतलानेवाला अनुमान भी बाधित विषयवाला है अतः वह भी प्रत्यभिज्ञान का बाधक नहीं बन सकता। तथा आपके पास ऐसा कोई सत्य अनुमान भी नहीं है जो कि शब्द की क्षणिकता को ठीक से सिद्ध कर देवे।

वैशेषिक—शब्द की क्षणिकता को सिद्ध करनेवाला अनुमान मौजूद है, हम आपको बतलाते हैं–"क्षणिकः शब्दः अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् सुखादिवत्" शब्द क्षणिक होता है, क्योंकि हमारे प्रत्यक्ष होकर व्यापक द्रव्यका विशेष गुण है, जैसे सुखादिगुण आत्मा के विशेष गुण हैं।

जैन—यह अनुमान आपने दिया तो सही किन्तु एक शाखा प्रभव हेतु की तरह यह भी प्रत्यभिज्ञान तथा प्रत्यक्ष द्वारा बाधित प्रतिज्ञा वाला होने से अपने साध्य को सिद्ध करने वाला नहीं है, अर्थात् इस वृक्ष के इस शाखा के सारे फल पके हैं,

साध्यसिद्धिनिबन्धनम् । विभुद्रव्यविशेषगुणत्व चासिद्धम्, शब्दस्य द्रव्यत्वप्रसाधनात् । धर्मादिना व्यभिचारश्च; अस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वेपि क्षणिकत्वाभावात् । तस्यापि पक्षीकरणादव्यभिचारे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी, सर्वत्र व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणात् । 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति च

क्योकि ये सभी एक ही शाखा से पैदा हुए है, ऐसा किसी ने अनुमान वाक्य कहा सो यह अनुमान प्रत्यक्ष से बाधित होता है—जब हम उस शाखा के एक एक फलको देखते है तो कुछ फल कच्चे दिखायी देते है, अतः इस अनुमान का एक शाखा प्रभवत्वात् हेतु प्रत्यक्ष बाधित कहलाता है, इसीप्रकार शब्द विभुद्रव्य का विशेष गुण होने से क्षणिक है ऐसा शब्द की क्षणिकता को सिद्ध करनेवाला अनुमान प्रत्यभिज्ञानरूप मानस प्रत्यक्ष से बाधित होता है, और इसीलिये स्वसाध्य को सिद्ध करनेवाला नही हो सकता। आपने शब्दको विभुद्रव्य का विशेष गुण बतलाया किन्तु वह असिद्ध है, शब्द को तो द्रव्यरूप सिद्ध कर चुके है । तथा विभुद्रव्य का विशेष गुण होने से शब्द क्षणिक है ऐसा कहना धर्म अधर्म के साथ व्यभिचरित होता है, क्योकि आपके यहा धर्म अधर्म को विभुद्रव्य [आत्मा] के विशेप गुण माने है, किन्तु उनमे क्षणिकपना नही स्वीकारा अतः क्षणिकत्व साध्य नही है । तुम कहो कि धर्माधर्म को पक्षकी कोटि मे लिया है अर्थात् उन्हे भी क्षणिक मानने से व्यभिचार नही आता । सो यह बात युक्त नही है, इसतरह से तो कोई भी हेतु व्यभिचारी—अनैकान्तिक नही रहेगा, जहां भी व्यभिचार आता देखेगे वहां सर्वत्र ही उसको पक्षकी कोटि मे ले जाया करेगे । तथा "अस्मदादि-प्रत्यक्षत्वे सति" इस तरह का हेतुमे विशेपण दिया है वह व्यर्थ ठहरता है, क्योकि व्यवच्छेद्य का अभाव है अर्थात् विशेपण अन्य का व्यवच्छेदक होता है, यहा व्यवच्छेदही नही है अत· विशेषण की आवश्यकता नही है । कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द क्षणिक है, क्योकि वह हमारे जैसे व्यक्ति के प्रत्यक्ष हुआ करता है एव विभु-व्यापक द्रव्य का विशेष गुण है, "विभुद्रव्यविशेपगुणत्वात्" ऐसा जो हेतु है उसका विशेपण "हमारे जैसे पुरुषो के प्रत्यक्ष होकर" है सो यह विशेषण हमारे अप्रत्यक्ष रहनेवाले धर्म अधर्म नामा अदृष्ट का व्यवच्छेद करता है, क्योकि धर्मादिक विभुद्रव्य का गुण तो है किन्तु हमारे प्रत्यक्ष होना रूप स्वभाव उसमे नही है, यदि विभुद्रव्य का विशेप गुण होने से शब्द क्षणिक है ऐसा इतना हेतुवाला वाक्य कहते तो यह हेतु व्यभिचरित होता था। किन्तु अब यहा पर धर्मादिको भी पक्ष मे लिया अतः उक्त विशेपण [अस्मदादि-

विशेषणमनर्थकम्; व्यवच्छेद्याभावात्। धर्मादेश्च क्षणिकत्वे स्वोत्पत्तिसमयानन्तरमेव विनष्टत्वात्ततो जन्मान्तरे फल न स्यात्।

शब्दाच्छब्दोत्पत्तिवद्धर्मादेर्धर्माद्युत्पत्ति; इत्यप्ययुक्तम्; तथाभ्युपगमाभावात्, तद्वदपरापरतत्कार्योत्पत्तिप्रसङ्गाच्च। 'परस्यानुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनितोभिलाष अभिलषितुरर्थाभिमुखक्रियाकारणमात्मविशेषगुणमारास्नोति अनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलाषत्वात् 'आत्मनोनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलाषवत्' इत्यस्य च विरोध, यस्माद्योऽसौ परस्यानुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिता-

---

प्रत्यक्षत्वे सति] व्यर्थ होता है। तथा यह भी बात है कि आप वैशेषिक धर्म अधर्म को भी क्षणिक मानेंगे तो, वे क्षणिक स्वभावी धर्म अधर्म [पुण्य-पाप] अपने उत्पत्ति के समय के अनन्तर ही नष्ट होने से अन्य जन्म मे उन धर्मादि से फल मिलता है वह नही रहेगा।

वैशेषिक—अन्य जन्म मे फल मिलने की बात बन जायगी, इस जन्म मे जो धर्मादिक सचित हुए हैं वे क्षणिकत्व के कारण नष्ट हो जाने पर भी अन्य अन्य धर्मादिक उत्पन्न होते रहते है जैसेकि शब्द से अन्य अन्य शब्द उत्पन्न होता जाता है?

जैन—यह कथन अयुक्त है आपके सिद्धांत मे ऐसा धर्म से धर्म उत्पन्न होना माना नही है। दूसरी बात यह है कि यदि धर्मसे दूसरे दूसरे धर्म की उत्पत्ति होती रहती है ऐसा मानेंगे तो उस धर्मादिका कार्य या फल जो स्त्री चदन आदि वस्तु की प्राप्ति होना रूप है वह भी अन्य अन्य उत्पन्न होता है ऐसा मानना पडेगा, किन्तु ऐसा नही है। अनुष्ठायक किसी पुरुष के अनुकूल वस्तुओ मे यह अनुकूल है इसतरह के अभिमान [प्रतीति] के कारण अभिलाष होता है और उस अभिलाषी पुरुष के इच्छित पदार्थ के अभिमुख करने का जो निमित्त है वह आत्मा के विशेष गुण को उत्पन्न करता है [सिद्ध करता है] क्योकि यह अनुकूल मे अनुकूलता के अभिमान से जन्य अभिलाष है, जैसे स्वय को इष्ट या अनुकूल पदार्थों मे अनुकूलपने का अभिमान होकर उससे अभिलाषा हुआ करती है। इसप्रकार वैशेषिक धर्मादि के विषय मे अनुमान उपस्थित करते है वह अनुमान गलत ठहरेगा, क्योकि यह जो पर के अनुकूल वस्तु मे अनुकूलता के अभिमान से जनित अभिलाषा और उससे जन्य आत्मविशेषगुण है, वह अभिलाषी

भिलाषजनित आत्मविशेषगुणो नासावभिलषितुरर्थाभिमुखक्रियाकारणम्, तत्समानस्य तत्कारणत्वात्, यश्च तत्क्रियाकारणं नासौ यथोक्ताभिलाषजनित इति ।

'इच्छाद्वेषनिमित्तौ प्रवर्त्तकनिवर्त्तकौ धर्माधर्मौ, अव्यवधानेन हिताहितविषयप्राप्तिपरिहार-हेतोः कर्मणः कारणत्वे सत्यात्मविशेषगुणत्वात्, प्रवर्त्तकनिवर्त्तकप्रयत्नवत्' इत्यत्र हेतोर्व्यभिचारश्च–जन्मान्तरफलोदययोर्धर्माधर्मयोः अव्यवधानेन हिताहितविषयप्राप्तिपरिहारहेतोः कर्मणः कारणत्वे

पुरुष को पदार्थ के अभिमुख कराने मे कारणरूप सिद्ध न होकर उसके समान दूसरा ही धर्मादिरूप गुण कारणरूप सिद्ध होता है । तथा जो धर्म से धर्म इत्यादि परम्परा से उत्पन्न हुआ अन्तिम धर्म अर्थाभिमुख कराता है वह पूर्वोक्त अभिलाषा से तो उत्पन्न नही हुआ है ।

धर्मादिक के विषय मे वैशेषिक दूसरा और भी एक अनुमान प्रयुक्त करते है कि "इच्छा और द्वेष है निमित्त जिनका ऐसे ये धर्म तथा अधर्म नामा गुण हुआ करते है ये क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति को कराने वाले होते है, क्योंकि अव्यवधानपने से ये हित की प्राप्ति और अहित का परिहार के हेतु है अर्थात् धर्म तो हित प्राप्ति और अहित परिहार का कारण है तथा अधर्म अहित की प्राप्ति और हित को हटानेवाला है, एवं कर्मका कारण होकर आत्माका विशेषगुण है, जैसे प्रवर्त्तक निवर्त्तक प्रयत्न है" इस अनुमान मे धर्मादिको क्षणिक मानने से व्यभिचार [अनैकान्तिकता] आता है, कैसे सो ही बताते है—जो हिताहित प्राप्ति परिहार मे निमित्त है वह इच्छा द्वेष से जन्य है ऐसा इस अनुमान का जो कहना है वह असिद्ध ठहरता है क्योकि जन्मातर मे फलोदय वाले जो धर्म तथा अधर्म हैं उनमें अव्यवधानपने से हिताहित की प्राप्ति परिहार का कारणपना एव कर्मका कारणपना होकर आत्मा का विशेष गुणत्व तो मौजूद है किन्तु ये धर्म अधर्म इच्छा और द्वेष से जनित नही है [अपितु पूर्व पूर्व के धर्मादि से जनित है] अतः निश्चित होता है कि शब्द से शब्दकी उत्पत्ति होना सिद्ध नहीं होता तथा उसी के समान धर्म से धर्मकी उत्पत्ति होना भी सिद्ध नही होता है । धर्म अधर्म को क्षणिक मानेगे तो अन्य जन्म में इनसे फलकी प्राप्ति होना असम्भव हो जाता है इसलिये भी आप वैशेषिक को धर्माधर्मरूप अदृष्ट को अक्षणिक स्वीकार करना होगा, और जब आप इन्हे उपर्युक्त सदोषता के कारण अक्षणिक स्वीकार करेगे

सत्यात्मविशेषगुणत्वेपीच्छाद्वेषजनितत्वाभावात् । तत. शब्दाच्छब्दोत्पत्तिवद्धर्मादिर्धर्माद्युत्पत्त्यभावात् । क्षणिकत्वे चातो जन्मान्तरे फलासम्भवादक्षणिकत्व तस्याभ्युपगन्तव्यमित्यनेनानैकान्तिको हेतु ।

तो पूर्वोक्त विभुद्रव्य विशेष गुणत्वात् हेतु अनैकान्तिक ठहरता है । क्योकि जो विभुद्रव्य का विशेषगुण हो वह क्षणिक हो ऐसा अविनाभाव सिद्ध नही हुआ है ।

विशेपार्थ—शब्द आकाशद्रव्यका गुण है ऐसा वैशेषिक का कहना है, ये परवादी शब्द को द्रव्यरूप न मानकर गुणरूप मानते है और आकाश का गुण होना बतलाते है । आचार्य ने समझाया है कि शब्द गुणरूप तो है ही नही और आकाश गुण होना तो बिलकुल मूर्खता भरा कहना है, आकाश अमूर्त्त अखड एक पदार्थ है उसका कर्णद्वारा ग्रहण मे आनेवाला यह शब्द गुण कैसे हो सकता है नही हो सकता शब्द तो पुद्गल–जड द्रव्य मूर्तिक द्रव्य है, द्रव्य मे गुण रहा करते हैं, शब्द रूप द्रव्य मे स्पर्श,अल्प महत्व परिमाण, सख्या आदि गुण रहते है अत· यह द्रव्य रूप ही सिद्ध होता है गुणरूप नही, क्योकि गुणरूप होता उसमे ये स्पर्शादि गुण नही पाये जाते, गुण मे पुन अन्य गुण नही रहते वे तो निर्गुण हुआ करते है । शब्द मे स्पर्श गुण का सद्भाव इसलिए सिद्ध होता है कि अधिक जोरदार शब्द हो तो उससे कर्ण का घात होता है। शब्द मे क्रियाशीलता देखी जाती है इसलिए भी वह द्रव्यरूप सिद्ध होता है, शब्द वक्ता के मुख से निकलकर श्रोता के कर्ण प्रदेश तक गमन कर जाता है इसीसे उसकी क्रियाशीलता सिद्ध होती है । इस क्रियाशीलता पर वैशेषिक ने कहा कि शब्द क्रियाशील नही, जो शब्द तालु आदि से उत्पन्न हुआ है वह कर्ण तक नही जाता किन्तु जलकी लहरो के समान अन्य अन्य शब्द कर्ण प्रदेश तक उत्पन्न होते जाते है, तब जैन ने इस वीचीतरग–जल लहरी के समान शब्द से शब्द की उत्पत्ति होना असम्भव बतलाते हुए कहा है कि इसतरह शब्द को उत्पत्ति मानेंगे तो वह क्षणिक ठहरेगा, किन्तु शब्द क्षणिक हो नही सकता जो गुरुजन कह रहे है उसीको मैं सुन रहा हू इत्यादि प्रत्यभिज्ञान से शब्द मे अक्षणिकता सिद्ध होती है । यह भी एक बात है कि वैशेषिक शब्दको व्यापकद्रव्य जो आकाश है उसका विशेषगुण मानते हैं सो उसे क्षणिक मानेंगे तो धर्म अधर्म नामा आत्मा के विशेषगुण के साथ व्यभिचार होवेगा । क्योकि धर्मादिक व्यापक आत्मा के विशेषगुण होकर क्षणिक नही है । इस पर जैन का खडन करने के लिए वैशेषिक कहते है कि हम धर्मादिको भी क्षणिक मान लेगे । सो ऐसा

अथास्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्टस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्यात्रासम्भवान्न व्यभिचार:। ननु मा भूद्व्यभिचार:; तथापि साकल्येन हेतोर्विपक्षाद्व्यावृत्त्यसिद्धि.। विपक्षविरुद्ध हि विशषणं ततो हेतु निवर्त्तयति। यथा सहेतुकत्वमहेतुकत्वविरुद्ध ततः कादाचित्कत्वम्। न चास्मदादिप्रत्यक्षत्वमक्षणिकत्वविरुद्धम्; अक्षणिकेष्वपि सामान्यादिषु भावात्। ततो यथास्मदादिप्रत्यक्षा अपि

मानना उन्ही के सिद्धान्त से गलत होता है, यदि धर्म अधर्म [पुण्य-पाप] क्षणिक हैं तो उनसे अन्य जन्म मे फल की प्राप्ति हो नही सकती। इसतरह शब्दसे शब्दकी उत्पत्ति होना, उसमे क्षणिकता होना आदि बाते सिद्ध नही होती है।

वैशेषिक—शब्द: क्षणिक: अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्य विशेष गुणत्वात् ऐसा अनुमान दिया था सो इसतरह का अस्मदादि प्रत्यक्ष होकर विभुद्रव्य का विशेष गुण होना रूप हेतु धर्म अधर्म में नही पाया जाता, अत व्यभिचार नही आता है। अभिप्राय यह है कि जो हम जैसे सामान्य व्यक्ति के प्रत्यक्ष हो ऐसा विभुद्रव्य का विशेष गुण हो वह क्षणिक होता है, शब्द हमारे प्रत्यक्ष होकर विभुद्रव्य का विशेष गुण है अत: क्षणिक है किन्तु धर्मादिक हमारे प्रत्यक्ष नही है अत: उनसे हेतु व्यभिचरित नही होता। शब्द गुण की बात पृथक् और धर्मादिगुण की बात पृथक् है।

जैन—ठीक है, धर्मादि के साथ व्यभिचार मत होवे, किन्तु अस्मदादि प्रत्यक्षत्व विशेषण वाला यह विभुद्रव्य का विशेप गुणरूप हेतु अपना साध्य जो क्षणिकत्व है उसका विपक्ष जो अक्षणिकत्व है उससे पूर्णरूप से व्यावृत्त होता ही नही, विशेषण तो इसलिये दिया जाता है कि विपक्ष से हेतु को व्यावृत्त करे, विपक्ष से विरुद्ध होने से ही वह उससे हेतु को हटाता है, जैसे सहेतुक विशेषण अहेतुक विपक्ष से हेतु को हटाता है अत: उसके द्वारा कादाचित्करूप हेतु स्वसाध्य को [अनित्यत्व को] सिद्ध कर सकता है, किन्तु ऐसा विशेपण वाला आपका हेतु नही है।

भावार्थ—हेतु का प्रयोग यदि कोई विशेषण को लिये हुए है तो उसका काम यही है कि वह अपने विशेष्य जो हेतु है उसे विपक्ष से व्यावृत्त करे, जैसे किसी ने कहा कि अनित्य. शब्द:, सहेतुकत्वे सति कादाचित्कत्वात्, घटवत्।। शब्द अनित्य है, क्योकि यह सहेतुक है तालु आदि कारणो से बना है तथा कादाचित्क है–कभी कभी होता है, जिसतरह घट है, इस अनुमान वाक्य मे हेतु कादाचित्कत्व है उसमे यदि "सहेतुकत्वे

केचित्प्रदीपादयो भावा· क्षणिकाः सामान्यादयस्त्वक्षणिकास्तथास्मदादिप्रत्यक्षा अपि विभुद्रव्यविशेषगुणा. 'केचित्क्षणिका· केचिदक्षणिका भविष्यन्ति' इति सन्दिग्धो व्यतिरेक.। अथाक्षणिके क्वचिदस्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्टस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्यादर्शनात्ततो व्यावृत्तिसिद्धि:; न, भवदीयादर्शनस्य साकल्येन भावाभावाप्रसाधकत्वात्, अन्यथा परलोकादेरप्यभावानुषङ्ग.। सर्वस्या-

---

सति" यह विशेषण नही हो तो खनन–खोदने आदि क्रिया से आकाश भी कादाचित्क रूप प्रतीत होता है अत. जो कादाचित्करूप प्रतीत हो वह अनित्य है ऐसा कहना व्यभिचरित होता था उस व्यभिचार को सहेतुकत्वे सति विशेषण व्यावृत्त [हटाता] करता है, इसतरह का विशेषण विशिष्ट हेतु होवे तो ठीक बात है वरना तो विशेषण देना व्यर्थ ही है। यहां वैशेषिक ने शब्द को क्षणिकरूप सिद्ध करने के लिये "शब्द. क्षणिक. अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्य विशेषगुणत्वात्" ऐसा विशेषण सहित हेतु वाला अनुमान प्रस्तुत किया है इस "विभुद्रव्य विशेषगुणत्वात्" हेतु का विशेषण "अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति" है किन्तु यह विशेषण हेतु का विपक्ष जो अक्षणिकत्व है उससे हेतु को पूर्णरूप से व्यावृत्त नही कर पाता है अत. यह विशेषण व्यर्थ ठहरता है। अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति यह विशेषण किसप्रकार व्यर्थ है सो ही बताते हैं—जो अस्मदादि के प्रत्यक्ष हो वह अक्षणिकत्व के विरुद्ध हो ऐसा नही है। हम देखते हैं कि सामान्य आदि पदार्थ अक्षणिक है किन्तु वे अस्मदादि के प्रत्यक्ष होते है। अत जिस तरह प्रदीपादि कोई पदार्थ क्षणिक होकर हमारे प्रत्यक्ष है और कोई सामान्यादि पदार्थ अक्षणिक होकर भी हमारे प्रत्यक्ष हैं, इसीतरह विभुद्रव्य के कोई विशेषगुण क्षणिक और कोई अक्षणिक होगे, इसप्रकार विभुद्रव्य विशेषगुणत्वात् हेतु सन्दिग्धव्यतिरेकी होता है।

वैशेषिक—कही [धर्मादि मे] अक्षणिक वस्तु मे अस्मदादिप्रत्यक्षत्वरूप विशेषण युक्त जो विभुद्रव्य का विशेप गुणरूप हेतु है वह देखा नही जाता अत उस हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति सिद्ध होवेगी। अर्थात् विभुद्रव्य का जो विशेष गुण हमारे जैसे व्यक्ति के प्रत्यक्ष होता है वह अक्षणिक नही रहता बल्कि क्षणिक ही हुआ करता है ऐसा विभुद्रव्य का विशेप गुण नही देखा कि जो हमारे प्रत्यक्ष होकर अक्षणिक हो।

जैन—ऐसी बात नही है आपके नही देखने मात्र से पूर्णरूपेन वस्तु का अभाव सिद्ध करना शक्य नही है, यदि एक व्यक्ति के नही देखने से उसरूप वस्तु

दर्शनं चासिद्धम्; सतोऽपि निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

विपक्षेऽदर्शनमात्राद्वयावृत्तिसिद्धौ—

"यद्वेदाध्ययन किञ्चित्तदध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥"

[मी० श्लो० पृ० ६४९]

इत्यस्यापि गमकत्वप्रसग: । न खलु वेदाध्ययनमतदध्ययनपूर्वक दृष्टम् । तथा चास्यानादित्व-सिद्धेरीश्वरपूर्वकत्वेन प्रामाण्य न स्यात् । न च कृतकत्वादावप्यय दोष. समान ; तत्र विपक्षे हेतोः सद्भावबाधकप्रमाणसम्भवात् ।

व्यवस्था करेंगे तो पर लोक आदि वस्तु का अभाव होकर चार्वाक मत आवेगा क्योंकि परलोकादि बहुत से पदार्थों का आप जैसे को अदर्शन रहता है । सभी व्यक्तियो को जिसका दर्शन न हो ऐसा तो सिद्ध होगा नही, सभी प्राणियो को भले ही किसी का अदर्शन हो किन्तु उसका निश्चय करना अशक्य रहता है । सभी को अमुक वस्तु उपलब्ध नही होती ऐसा निर्णय कोई नही दे सकता ।

तथा विपक्ष मे हेतु के दिखायी नहीं देने मात्र से उसकी उस विपक्ष से व्यावृत्ति होना सिद्ध करेंगे तो अतिप्रसग होगा । आगे इसीका खुलासा करते हैं—

जो कुछ वेद का अध्ययन होता है वह वेदाध्ययन पूर्वक ही हो सकता है, क्योंकि वह वेद का अध्ययन कहलाता है, जैसे कि वर्त्तमान का अध्ययन होता है ।।१।। इसप्रकार मीमासक वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये अनुमान देते है किंतु यह अनुमान सत्य नही कहलाता, क्योंकि इस अनुमान का "वेदाध्ययन वाच्यत्वात्" हेतु भलीप्रकार से विपक्षव्यावृत्ति वाला नही है, सो यदि विपक्ष मे हेतु के नही देखने मात्र से उसकी विपक्षव्यावृत्ति सही मानी जायगी तो वेदाध्ययनवाच्यत्व जैसे सदोष हेतु भी स्वसाध्य के गमक माने जायेंगे । वेद का अध्ययन तो बिना उसके अध्ययन के कराया जाना देखा नही गया है । इसप्रकार आप वैशेषिक इस मीमासक के वेदाध्ययनवाच्यत्व नामा हेतु को सत्य मानते है तब तो वेद का अनादिपना सिद्ध होवेगा । फिर आप जो उसे ईश्वर कृत मानते है, वेद को ईश्वर ने बनाया है अत. वह प्रामाण्य है ऐसा कहते है वह असत् कहलायेगा ।

धर्मादेश्चास्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे 'देवदत्त प्रत्युपसर्पन्त. पश्वादयो देवदत्तगुणाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वाद्वस्त्रादिवत्' इत्यनुमानं न स्यात्; व्याप्तेरग्रहणात्। मानसप्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहणे सिद्धं धर्मादेरस्मदादिप्रत्यक्षत्वम्। अथ 'बाह्येन्द्रियेणास्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति हेतुर्विशेष्यते तदा साधनवैकल्यं दृष्टान्तस्य, सुखादेस्तथा प्रत्यक्षत्वाभावात्।

यदि च वीचीतरगन्यायेन शब्दोत्पत्तिरिष्यते तदा प्रथमतो वक्तृव्यापारादेकः शब्दः प्रादुर्भवति, अनेको वा ? यद्येक , कथ नानादिक्कानेकशब्दोत्पत्तिः सकृदिति चिन्त्यम्। सर्वदिक्कताल्वादिव्यापार-

---

वैशेपिक—इसतरह हमारे "अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्य विशेष गुणत्वात्" हेतु को विपक्ष व्यावृत्ति वाला निश्चित नही होने के कारण सदोष कहेगे तो अनित्यः शब्द. कृतकत्वात् इत्यादि अनुमान का कृतकत्वात् हेतु भी गलत ठहरेगा।

जैन—ऐसी बात नही है, कृतकत्व हेतु विपक्ष से भली प्रकार व्यावृत्त होता है उसका विपक्ष मे रहना प्रमाण से बाधित है, अर्थात् कृतकत्व हेतु का नित्यरूप विपक्ष मे रहना किसी प्रमाण से भी सिद्ध नही है।

यदि आप धर्म अधर्म को [पुण्य-पाप को] अस्मदादि के अप्रत्यक्ष मानते हैं तो उन्हीका निम्नलिखित अनुमान गलत ठहरता है कि देवदत्त के पास आते हुए पशु आदि जीव देवदत्त के गुणो से [धर्मादि से] आकृष्ट होकर आया करते है क्योकि वे पशु उसी के प्रति उत्सर्पणशील है, जैसे वस्त्र आदि पदार्थ। यह अनुमान इसलिये गलत ठहरता है कि इसमे व्याप्ति ग्रहण नही है अर्थात् जो जो देवदत्त के प्रति उत्सर्पणशील है वह वह देवदत्त के गुण से आकृष्ट है ऐसा निश्चय नही होगा क्योकि देवदत्तके गुण स्वरूप धर्मादि को आपने अप्रत्यक्ष माना है। यदि मानस प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होना स्वीकार करेगे तो धर्मादिक अस्मदादि प्रत्यक्ष है ऐसा सिद्ध होता है।

वैशेपिक—क्षणिकः शब्द अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्य विशेषगुणत्वात् सुखादिवत् ऐसा जो पहले अनुमान दिया था उसमे स्थित हेतु अगमक है ऐसा आप जैन का कहना है सो उस हेतु मे "बाह्येन्द्रियेण" इतना विशेषण और बढा देते हैं अर्थात् बाह्येन्द्रियेण अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्य विशेपगुणत्वात् जो बाह्य इन्द्रियो से हमारे द्वारा प्रत्यक्ष हो सके एव विभु [व्यापक] द्रव्य का विशेष गुण होवे वह क्षणिक होता है, इसप्रकार का हेतु देने से धर्मादि के साथ व्यभिचार नही होगा ?

जनितवाय्वाकाशसयोगानामसमवायिकारणाना समवायिकारणस्य चाकाशस्य सर्वगतस्य भावात् सकृत्सर्वदिक्कनानाशब्दोत्पत्त्यविरोधे शब्दस्यारम्भकत्वायोग:। यथैवाद्यः शब्दो न शब्देनारब्धस्ताल्वाद्याकाशसंयोगादेवासमवायिकारणादुत्पत्तेः, तथा सर्वदिक्कशब्दान्तराण्यपि ताल्वादिव्यापारजनितवाय्वाकाशसयोगेभ्य एवासमवायिकारणेभ्यस्तदुत्पत्तिसम्भवात्। तथा च "सयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दोत्पत्तिः" [वैशे० सू० २।२।३१] इति सिद्धान्तव्याघातः।

जैन—यह विशेषण भी कार्यकारी नही है, क्योकि इस विशेषण के बढा देने से आपके अनुमान मे स्थित जो दृष्टात "सुखादिवत्" है वह साधन विकल [हेतु से रहित] हो जायगा। क्योकि इस दृष्टांत मे बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना रूप हेतु का अश नही है अर्थात् सुखादिक बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने योग्य नही होने से यह साधन विकल दृष्टात कहलायेगा।

किञ्च, यदि वीचीतरंग न्याय से, शब्द से शब्द की उत्पत्ति होना आप लोग मानते है सो सबसे पहले वक्ता के व्यापार से जो शब्द उत्पन्न होता है वह एक उत्पन्न होता है अथवा अनेकरूप उत्पन्न होता है ? यदि एक उत्पन्न होता है तो नाना दिशाओ मे एक साथ अनेक शब्दो की उत्पत्ति किसप्रकार होवेगी यह एक विचारणीय प्रश्न रह जाता है।

वैशेषिक—संपूर्ण दिशा सम्बन्धी अर्थात् सर्वगत तालु आदि व्यापार से उत्पन्न हुए वायु और आकाश के सयोगस्वरूप असमवायी कारण तथा सर्वगत आकाशस्वरूप समवायीकारण सर्वत्र सर्वगत है, अतः एक साथ सब दिशाओ में अनेक शब्द उत्पन्न होने मे अविरोध है।

जैन—यह ठीक नही, यदि इसतरह असमवायी आदि कारणो से शब्दो की उत्पत्ति होना स्वीकार करो तो वीचीतरग न्याय से शब्द ही शब्दांतर का आरभक [उत्पन्न करने वाला] है ऐसा नही कह सकेगे ? जिसप्रकार पहला [प्रथम नम्बर का] शब्द, शब्द से उत्पन्न न होकर तालु, आदि के कारण से जन्य आकाश संयोगरूप असमवायी कारण से उत्पन्न हुआ है, इसीप्रकार सर्व दिशासम्बन्धी शब्दांतर भी तालु आदि के व्यापार से उत्पन्न हुए जो वायु और आकाश के संयोग है उन असमवायी कारणो से उत्पन्न हो सकेगे। और इसतरह स्वीकार करने से "संयोगाद् विभागात्

अथ शब्दान्तराणा प्रथमः शब्दोऽसमवायिकारण तत्सदृशत्वात्, अन्यथा तद्विसदृशशब्दान्तरोत्पत्तिप्रसङ्गो नियामकाभावात्, नन्वेव प्रथमस्यापि शब्दस्य शब्दान्तरसदृशस्यान्यशब्दादसमवायिकारणादुत्पत्ति. स्यात् तस्याप्यपरपूर्वशब्दादित्यनादित्वापत्तिः शब्दसन्तानस्य स्यात् । यदि पुन. प्रथमः शब्द. प्रतिनियत प्रतिनियताद्वक्तृव्यापारादेवोत्पन्नः स्वसदृशानि शब्दान्तराण्यारभेत; तर्हि किमाद्येन शब्देनासमवायिकारणेन ? प्रतिनियतवक्तृव्यापारात्तज्जनितप्रतिनियतवाय्वाकाशसयोगेभ्यश्च सदृशापरापरशब्दोत्पत्तिसम्भवात् । तन्नैकः शब्द. शब्दान्तरारम्भकः ।

शब्दात् च शब्दोत्पत्ति" संयोग से, विभाग से एव शब्द से भी शब्द की उत्पत्ति होती है ऐसा आपके सिद्धात का कथन खण्डित हो जाता है ।

वैशेषिक—पहला शब्द अन्य शब्दो का असमवायी कारण होता है, क्योंकि उसके समान है, यदि प्रथम शब्द को शब्दान्तरो का कारण न माना जाय तो उस प्रथम शब्द से विसदृश अन्य अन्य आगे के शब्द उत्पन्न होने लग जायेंगे, कोई नियम नही रहेगा ।

जैन—इसतरह कहो तो पहला शब्द भी सदृश अन्य शब्द रूप असमवायी कारण से उत्पन्न होना चाहिए तथा वह सदृश शब्दातर भी अन्य पहले के शब्द से उत्पन्न होना चाहिए, इसप्रकार शब्दो की सतान परम्परा अनादि की बन जायगी । यदि पहला शब्द प्रतिनियत है, प्रतिनियत वक्ता के व्यापार से ही उत्पन्न होता है और स्वसदृश अन्य शब्दो को उत्पन्न करता है तो प्रथम शब्द को असमवायी कारण रूप मानने से क्या प्रयोजन रहा ? प्रतिनियत वक्ता के व्यापार से हुआ जो वायु और आकाश के सयोग उन सयोगो से ही सदृश अपर अपर शब्दो की उत्पत्ति हो जायगी । अत एकरूप शब्द शब्दातर का आरम्भक होता है ऐसा जो प्रथम विकल्प कहा था वह असिद्ध है । सबसे पहले वक्ता के व्यापार से अनेक रूप शब्द उत्पन्न होता है, ऐसा दूसरा विकल्प भी ठीक नही, तालु आदि से वायु और आकाश का सयोग होना रूप अकेले वक्ता के व्यापार से अनेक रूप शब्द उत्पन्न होना तो असम्भव है । तथा एक वक्ता के एक साथ अनेक तालु आदि से आकाश का सयोग होना अशक्य है, क्योंकि प्रयत्न एक रूप है । अर्थात् प्रयत्न एक साथ एक ही होता है । बिना प्रयत्न के तालु आदि के क्रिया से होनेवाला जो आकाश आदि का सयोग है वह हो नही सकता, जिससे कि अनेक शब्द बन जाय । साराश यह है कि प्रथम तो वक्ता के बोलने के लिए

नाप्यनेकः; तस्यैकस्मात्ताल्वाद्याकाशसयोगादुत्पत्त्यसम्भवात् । न चानेकस्ताल्वाद्याकाशसंयोगः सकृदेकस्य वक्तुः सम्भवति, प्रयत्नस्यैकत्वात् । न च प्रयत्नमन्तरेण ताल्वादिक्रियापूर्वकोऽन्यतरकर्मजस्ताल्वाद्याकाशसयोग· प्रसूते यतोऽनेकशब्दः स्यात् ।

अस्तु वा कुतश्चिदाद्य· शब्दोऽनेक·; तथाप्यसौ स्वदेशे शब्दान्तराण्यारभते, देशान्तरे वा ? न तावत्स्वदेशे; देशान्तरे शब्दोपलम्भाभावप्रसङ्गात् । अथ देशान्तरे; तत्रापि कि तद्देशे गत्वा, स्वदेशस्थ एव वा देशान्तरे तान्यसौ जनयेत् ? यदि स्वदेशस्थ एव; तर्हि लोकान्तेपि तज्जनकत्वप्रसङ्गः । अदृष्टमपि च शरीरदेशस्थमेव देशान्तरवर्त्तिमणिमुक्ताफलाद्याकर्षणं कुर्यात् । तथा च 'धर्माधर्मौ

प्रयत्न हुआ करता है जो कि एक समय मे एक ही हो सकता है, तथा प्रयत्न के अनतर तालु ओठ आदि वक्ताके मुखके भागो का सयोग होता है, फिर वायु तथा आकाश के साथ सयोग होता है यह प्रक्रिया क्रमिक एक एक हुआ करती है अत: अनेक शब्द एक साथ उत्पन्न हो नही सकते ।

दुर्जन सतोष न्याय से मान भी लेवे कि किसी कारण से प्रथम शब्द अनेकरूप उत्पन्न होता है तथापि अपने उत्पत्ति के स्थान जो तालु आदि प्रदेश हैं वहा पर वह प्रथम शब्द शब्दातरो को उत्पन्न करता है, अथवा स्वस्थान से अन्यत्र कही उत्पन्न करता है ? स्वोत्पत्ति प्रदेश में करता है ऐसा कहना शक्य नही, क्योकि वही शब्दान्तरो की उत्पत्ति होगी तो अयन्त्र शब्दो की उपलब्धि होती है वह न हो सकेगी । दूसरा पक्ष—प्रथम शब्दद्वारा जो शब्दान्तर उत्पन्न कराये जाते है वे स्वोत्पत्ति प्रदेश से अन्य प्रदेश मे कराये जाते है ऐसा कहे तो इस पक्ष मे पुन: दो विकल्प उठते है—प्रथम शब्द देशातर मे जाकर शब्दातरो को पैदा करता है अथवा अपने देश मे स्थित होकर ही देशातर मे शब्दांतरो को पैदा करता है ? यदि स्वप्रदेश मे स्थित होकर ही पैदा करता है तो लोक के अन्तभाग मे भी उन शब्दातरो को पैदा कर सकेगा । तथा यदि शब्द अपने जगह रहकर ही अन्य जगह शब्दों को पैदा कर सकता है तो अदृष्ट नामा आत्मा का गुण जिसे धर्माधर्म कहते है वह भी शरीर प्रदेश मे स्थित होकर ही देश देशातरो मे होनेवाले मणि, मोती आदि पदार्थो को आकर्षित कर सकते हैं । और इसतरह स्वीकार करेगे तो "धर्म अधर्म अपने आश्रय मे सयुक्त है इनका अपना आश्रय जो आत्मा है वह सर्वगत है अत. आश्रयातर मे आकर्षण आदि क्रिया को करते है" ऐसा कहना विरोध को प्राप्त होता है [क्योकि इस वाक्य मे तो धर्म अधर्म नामा पदार्थ

स्वाश्रयसयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभेते" [ ] इत्यादिविरोधः। न च वीचीतरङ्गादावप्य प्राप्तकार्यदेशत्वे सत्यारम्भकत्व दृष्टं येनात्रापि तथा तत्कल्प्येताध्यक्षविरोधात्। अथ तद्देशे गत्वा, तर्हि सिद्ध शब्दस्य क्रियावत्त्व द्रव्यत्वप्रसाधकम्।

किञ्च, आकाशगुणत्वे शब्दस्यास्मदादिप्रत्यक्षता न स्यादाकाशस्यात्यन्तपरोक्षत्वात्; तथाहि-येऽत्यन्तपरोक्षगुणिगुणा न तेऽस्मदादिप्रत्यक्षाः यथा परमाणुरूपादयः, तथा च परेणाभ्युपगत शब्द इति। न च वायुस्पर्शेन व्यभिचारः; तस्य प्रत्यक्षत्वप्रसाधनात्।

आश्रयांतर मे क्रिया करते है ऐसा कहा है और पहले कहा कि वे शरीर प्रदेश मे स्थित होकर क्रिया को करते है] शब्द से शब्द की उत्पत्ति होने के लिये आपने वीची तरगो का दृष्टान्त दिया है, किन्तु वे भी कार्यो के प्रदेशो को [आगे आगे के लहरो के प्रदेशो को] प्राप्त हुए बिना उन कार्यो को नही करते हैं, जिससे कि वीची तरगो का दृष्टात देकर यहा शब्द मे भी वैसी कल्पना की जा सके। यदि वैसी कल्पना करेंगे तो प्रत्यक्ष से विरोध आता है। दूसरा विकल्प जो शब्दातरो को उत्पन्न करता है वह उन शब्दो के स्थान पर जाकर करता है, ऐसा माने तो शब्द का क्रियावानपना सिद्ध हुआ। और क्रियावानपना सिद्ध होने पर शब्द को द्रव्यरूप मानना होगा, क्योकि क्रियावान द्रव्य ही होता है। अर्थात् गुण क्रियाशील नही होते किन्तु द्रव्य होता है ऐसा आपका भी कहना है।

किञ्च, शब्द को यदि आकाश का गुण माना जाय तो वह हमारे प्रत्यक्ष नही हो सकेगा, क्योकि आकाश अत्यन्त परोक्ष है, अनुमान सिद्ध बात है कि जो अत्यत परोक्ष गुणी के [द्रव्य के] गुण होते है वे हम जैसे के प्रत्यक्ष नही होते हैं, जिसतरह परमाणु गुणी के परोक्ष होने से उसके रूपादिगुण भी परोक्ष है, परवादी वैशेषिक आदि शब्द को अत्यन्त परोक्ष आकाश का गुण मानते है अत वह शब्द हमारे प्रत्यक्ष नही हो सकता है। इस अनुमानस्थित हेतु को वायुस्पर्श के साथ व्यभिचरित भी नही कर सकते, अर्थात् गुणी परोक्ष है तो गुण भी परोक्ष होने चाहिए ऐसा जैन ने कहा है किंतु वह गलत है क्योकि वायुरूप गुणी परोक्ष है और उसका स्पर्शगुण परोक्ष नही है ऐसा कोई जैन के हेतु को सदोष करना चाहे तो ठीक नही हम जैन न वायु को भी कथचित् प्रत्यक्ष होना माना है।

किञ्च, आकाशगुणत्वेऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे चास्यात्यन्तपरोक्षाकाशविशेषगुणत्वायोगः । प्रयोगः–यदस्मदादिप्रत्यक्षं तन्नात्यन्तपरोक्षगुणिगुणः यथा घटरूपादय , तथा च शब्द इति ।

यच्चोक्तम्–'सत्तासम्बन्धित्वात्' इति; तत्र किं स्वरूपभूतया सत्तया सम्बन्धित्व विवक्षितम्, अर्थान्तरभूतया वा ? प्रथमपक्षे सामान्यादिभिर्व्यभिचार.; तेषा प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वे सति तथाभूतया सत्तया सम्बन्धित्वेपि गुणत्वासिद्धेः । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्त.; न हि शब्दादयः स्वयमसन्त एवार्थान्तरभूतया सत्तया सम्बध्यमाना· सन्तो नामाश्वविषाणादेरपि तथाभावानुषगात् । प्रतिपेत्स्यते चार्थान्तरभूतसत्तासम्बन्धेनार्थाना सत्त्वमित्यलमतिप्रसगेन ।

दूसरी बात यह है कि शब्द मे आकाश का गुणपना माने और फिर हम जैसे सामान्य पुरुपो के प्रत्यक्ष होना भी माने तो गलत ठहरता है, इस तरह शब्द के अत्यत परोक्ष आकाश का विशेप गुण होना असम्भव है, यही बात अनुमान से सिद्ध होती है जो वस्तु हमारे प्रत्यक्ष होती है वह अत्यन्त परोक्ष द्रव्य या गुणी का गुण नही होता है, जैसे घट गुणो अत्यन्त परोक्ष नही है तो उसके रूपादिगुण भी अत्यन्त परोक्ष नही है अथवा घटरूप गुणी हमारे प्रत्यक्ष है तो उसके गुण जो रूप, रस आदिक है वे भी प्रत्यक्ष है, शब्द भी हमारे प्रत्यक्ष होता है अतः वह अत्यन्त परोक्ष आकाश का गुण नही हो सकता है ।

सत्ता सम्बन्धी होने से शब्द आकाश का गुण है ऐसा पहले कहा था सो इस विषय में हम जैन प्रश्न करते है कि शब्द मे सत्ता सम्बन्धीपना है वह सामान्य आदि पदार्थो के समान स्वतः ही स्वरूप सत्ता से सम्बद्ध है या द्रव्य गुणादि पदार्थो के समान अर्थान्तरभूत सत्ता से सम्बद्ध है ? प्रथम पक्ष मानो तो सामान्यादि के साथ व्यभिचार होगा, क्योकि सामान्यादिक पदार्थ द्रव्य और कर्मरूप नही मानकर फिर उसमे उस प्रकार की सत्ता का [स्वरूप सत्ता का] सम्बन्ध कहा गया है किन्तु सामान्यादि को गुण रूप नही माना है । गुण रूप होवे और सामान्य के सदृश स्वरूप सत्ता वाला भी होवे ऐसा आपने नही माना । दूसरा पक्ष—शब्द मे अर्थान्तरभूत सत्ता से सम्बन्धीपना है ऐसा कहो तो अयुक्त है, क्योकि शब्दादि पदार्थ यदि स्वयं असत् होकर अर्थान्तरभूत [पृथक्भूत] सत्ता से सम्बद्ध होते है तो अश्वविपाण, वन्ध्या का पुत्र इत्यादि पदार्थ भी सत्ता से सबद्ध हो सकते है, क्योकि वे भी शब्द के समान स्वय असत् हैं । अर्थान्तरभूत सत्ता से संबद्ध होने का आगे हम खण्डन करने वाले है अर्थात् पदार्थों का सत्व

यच्चोक्तम्-शब्दो द्रव्यं न भवत्येकद्रव्यत्वात्; तत्रैकद्रव्यत्व साधनमसिद्धम्; यतो गुणत्वे, गगने एवैकद्रव्ये समवायेन वर्तने च सिद्धे, तत्सिद्धयेत्, तच्चोक्तया रीत्याऽपास्तमिति कथं तत्सिद्धिः?

यदप्येकद्रव्यत्वे साधनमुक्तम्-'एकद्रव्य शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति, तदपि प्रत्यनुमानबाधितम्, तथाहि-अनेकद्रव्यः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सत्यपि स्पर्शवत्त्वाद् घटादिवत्। वायुनानेकान्तश्च; स हि बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षोपि नैकद्रव्यः, चक्षुषैकेनाऽ-

---

या सत्तापना पृथक् रहता है और समवाय से सम्बन्धित होता है ऐसा कहना सर्वथा गलत है इस विषय मे पहले भी कथन कर आये है और आगे समवाय विचार प्रकरण मे पूर्ण रूप से खण्डन करने वाले है, अत. यहा अधिक नही कहते हैं।

शब्द द्रव्य नही है, क्योकि उसमे एक द्रव्यपना है ऐसा वैशेषिक ने कहा था सो एकद्रव्यत्वात् हेतु असिद्ध है, पहले शब्द मे गुणपना सिद्ध होवे और वह शब्द रूप गुण मात्र आकाश मे ही समवाय से रहता है ऐसा सिद्ध होवे तब यह सिद्ध हो सकता है कि शब्द एक द्रव्यपने से युक्त होने के कारण द्रव्य नही कहलाता। किन्तु शब्द मे गुणपना कथमपि सिद्ध नही हो रहा है फिर किस प्रकार एक द्रव्यत्व सिद्ध होवे? अर्थात् नही हो सकता है।

एक द्रव्य. शब्द. सामान्य विशेषवत्वे सति बाह्य-एक-इन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात्, एक द्रव्य मे रहने वाला शब्द है, क्योकि वह सामान्य विशेषवान होकर बाह्य के एक मात्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहा था वह अनुमान प्रतिपक्षी अनुमान से बाधित है, अब इसीको बताते है—अनेक द्रव्य शब्द, अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सत्यपि स्पर्शवत्वात् घटादिवत्, शब्द अनेक द्रव्य स्वरूप है, क्योकि हमारे प्रत्यक्ष होकर भी स्पर्श गुणवाला है, जैसे घटादि पदार्थ स्पर्शादिमान होकर हमारे प्रत्यक्ष हुआ करते हैं। इस तरह वैशेषिक का शब्द को एक द्रव्यत्व सिद्ध करने वाला अनुमान इस अनुमान से बाधित होता है, क्योकि इसने शब्द का एक द्रव्यत्व खण्डित किया है। तथा जो बाह्य एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो वह एक द्रव्य रूप ही हो ऐसा कहना वायु से व्यभिचरित होता है, वायु बाह्य एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो है किन्तु एक द्रव्य रूप नही है। चन्द्र, सूर्य आदि के साथ भी बाह्यैकेन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात् हेतु अनैकान्तिक होता है, वे चन्द्रादिक बाह्य एक चक्षु इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होकर भी एक द्रव्य रूप नही है। फिर एक द्रव्यपना और बाह्यैकेन्द्रिय प्रत्यक्षपना इन दोनो का अविनाभाव कैसे कर सकते है? अर्थात् नही

स्मदादिभिः प्रतीयमानैश्चन्द्रार्कादिभिश्च । अस्मदादिविलक्षणैर्बाह्येन्द्रियान्तरेण तत्प्रतीतौ शब्देपि तथा प्रतीतिः किन्न स्यात् ? अत्र तथानुपलम्भोऽन्यत्रापि समानः ।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम्–'गुणः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवत्' इति; वाय्वादिभिर्व्यभिचारात्, ते हि सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षा न च गुणाः, अन्यथा द्रव्यसख्याव्याघातः स्यात् । ततः शब्दाना गुणत्वासिद्धेरयुक्तमुक्तम्–'यश्चैषामाश्रयस्तत्पारिशेष्यादाकाशम्' इति ।

यच्चोक्तम्–'न तावत्स्पर्शवता परमाणूनाम्' इत्यादि; तत्सिद्धसाधनम्, तद्गुणत्वस्य तत्रानभ्युपगमात् । यथा चास्मदादिप्रत्यक्षत्वे शब्दस्य परमाणुविशेपगुणत्वस्य विरोधस्तथाकाशविशेष-

---

कर सकते है । यदि कोई कहे कि चन्द्र सूर्य आदि केवल चक्षु इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष हो सो बात नही है योगीजन इन चन्द्रादि को चक्षु के समान अन्य स्पर्शनादि इन्द्रियो से प्रत्यक्ष कर लेते है ? सो यह बात शब्द मे भी है, योगीजन शब्द को चक्षु आदि इद्रिय द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते है । शब्द के विषय मे वैसा प्रत्यक्ष होना स्वीकार न करो तो चन्द्र आदि के विषय मे भी वैसा प्रत्यक्ष होना नही मान सकते, दोनो जगह समान बात है ।

शब्द का एक द्रव्यपना जैसे खण्डित होता है वैसे गुण. शब्दः सामान्य विशेपवत्वे सति बाह्यैकेन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात् रूपादिवत् इत्यादि अनुमान से माना गया गुणपना भी खण्डित होता है, क्योकि इस अनुमान के हेतु का भी वायु, आदि के साथ व्यभिचार होता है । वायु आदि पदार्थ सामान्य विशेषवान होकर बाह्य एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष है किन्तु गुण नही है, यदि इन वायु आदि को गुण मानेगे तो आपकी द्रव्यो की सख्या का व्याघात होवेगा । आप वैशेषिक के यहा पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, दिशा, आकाश, मन, काल और आत्मा इसप्रकार नौ द्रव्य माने है सो जो बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष हो वह गुण है ऐसा कहने से वायु आदि चारो द्रव्य गुण रूप बन जायेगे । इसलिये शब्दो को गुण रूप मानना असिद्ध हो जाता है, इसप्रकार "जो शब्दो का आश्रय है वह पारिशेष्य से आकाश है" इत्यादि कथन अयुक्त होता है ।

वैशेषिक ने कहा था कि शब्द स्पर्शमान परमाणुओ का गुण नही है इत्यादि, सो यह कहना हम जैन के लिए सिद्ध है, क्योकि हम जैन भी शब्दको परमाणुओ का गुण नही मानते है । शब्द हमारे प्रत्यक्ष होते है अत परमाणुओ का विशेप गुण नही

गुणत्वस्यापि । तथा हि–शब्दोऽत्यन्तपरोक्षाकाशविशेषगुणो न भवत्यस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्कार्यद्रव्यरूपादिवत् । न ह्यस्मदादिप्रत्यक्षत्व परमाणुविशेषगुणत्वमेव निराकरोति शब्दस्य नाकाशविशेषगुणत्वम् उभयत्राविशेषात् । यथैव हि परमाणुगुणो रूपादिरस्मदाद्यप्रत्यक्षस्तथाकाशगुणो महत्त्वादिरपि।

यच्चाप्युक्तम्–'नापि कार्यद्रव्याणाम्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; शब्दस्याकाशगुणत्वनिषेधे कार्यद्रव्यान्तराप्रादुर्भावेप्युत्पत्त्यभ्युपगमे शब्दो निराधारो गुण. स्यात् । तथा च 'बुद्धचादयः क्वचिद्वर्त्तन्ते गुणत्वात्' इत्यस्य व्यभिचार. । तत कार्यद्रव्यान्तरोत्पत्तिस्तत्राभ्युपगन्तव्येत्यसिद्धो हेतु ।

है, यदि शब्द को परमाणु का गुण मानेगे तो प्रत्यक्ष विरोध होगा । ऐसा आप वैशेषिक ने स्वीकार किया है ठीक इसीप्रकार शब्द को आकाश का गुण मानने मे प्रत्यक्ष विरोध होता है अत शब्द को आकाश का गुण रूप भी नही मानना चाहिए । अनुमान से सिद्ध करते है—शब्द अत्यन्त परोक्ष ऐसे आकाश का विशेष गुण नही है, क्योकि वह हमारे प्रत्यक्ष होना है, जैसे कार्य द्रव्यस्वरूप पृथिवी आदि है उनके गुण हमारे प्रत्यक्ष होते है । जो वस्तु हम जैसे सामान्य मनुष्यो के प्रत्यक्ष हुआ करती है वह परमाणु का विशेष गुण रूप मात्र ही नही होती हो सो बात नही है, वह वस्तु तो आकाश द्रव्य का विशेष गुण भी नही हो सकती है, क्योकि परमाणु का गुण हो चाहे आकाश का गुण हो दोनो मे भी अस्मदादि प्रत्यक्ष होने का निषेध है, न परमाणु का गुण हमारे ज्ञान के प्रत्यक्ष हो सकता है, और न आकाश का विशेष गुण ही हमारे ज्ञान के प्रत्यक्ष हो सकता है, उभयत्र समानता है । जैसे परमाणु के रूपादि गुणो को हम प्रत्यक्ष नही कर सकते वैसे ही आकाश के महत्वादि गुण प्रत्यक्ष से दिखायी नही देते हैं । पृथिवी आदि कार्य द्रव्यो का गुण भी शब्द नही है इत्यादि जो पहले कहा था वह अयुक्त है शब्द मे आकाश द्रव्य के गुणत्व का निषेध हो चुका है, और कार्य द्रव्यातर मे उस शब्द का प्रादुर्भाव न मानकर उसकी उत्पत्ति होना भी स्वीकार करे तो यह आपका शब्द नामा गुण निराधार बन जायगा । और इसतरह शब्द रूप गुण को निराधार मानोगे तो "बुद्धि आदिक गुण किसी आधार पर रहते है, क्योकि वे गुण स्वरूप है" इस कथन मे बाधा आती है, अत शब्द की उत्पत्ति कार्य द्रव्यातर से होती है ऐसा स्वीकार करना होगा और यह बात स्वीकार करने पर शब्द को गुण रूप सिद्ध करने वाला "कार्य द्रव्यातर अप्रादुर्भावे अपि उपजायमानत्वात्" हेतु असिद्ध ही ठहरता है ।

अकारणगुणपूर्वकत्वं चासिद्धम्; तथा हि–नाकारणगुणपूर्वकः शब्दोऽस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वे सति गुणत्वात्पटरूपादिवत्। न चाणुरूपादिना सुखादिना वा हेतोर्व्यभिचारः, 'बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वे सति' इति विशेषणात्। नापि योगिबाह्येन्द्रियग्राह्येणाणुरूपादिना; अस्मदादिग्रहणात्। नापि सामान्यादिना; गुणग्रहणात्।

अकारण गुण पूर्वकत्व नामा हेतु भी असिद्ध है, अर्थात्–पहले आपने कहा था कि शब्द मे अकारण गुण पूर्वक होना रूप स्वभाव है अतः पृथिवी आदि का विशेष गुण नही है इत्यादि सो बात गलत है, हम अनुमान से शब्द का अकारण पूर्वक होने का निषेध करते है—शब्द अकारण गुण पूर्वक नही होता है [पक्ष] क्योकि हमारे बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होकर गुण रूप है, [हेतु] जैसे पट के रूपादि गुण अकारण गुण पूर्वक नही है [दृष्टात] यद्यपि हम जैन शब्द को गुण स्वरूप नही मानते हैं किंतु पहले उसमे आकाश के गुणत्व का निषेध करने के लिये यह प्रसंग साधन उपस्थित किया है। इस अनुमान से शब्द मे पहले आकाश गुणत्व का निषेध करके फिर गुणत्व मात्र का निषेध कर द्रव्यपना स्थापित करेंगे। अस्मदादि बाह्येन्द्रिय ग्राह्यत्वे सति गुणत्वात् हेतु का अणु के रूपादि के साथ या सुखादि के साथ व्यभिचार भी नही आता है, क्योकि "बाह्येन्द्रिय ग्राह्यत्वे सति" यह जो विशेषण है वह इस दोष को हटाता है अणु के रूपादि गुण बाह्येन्द्रिय ग्राह्य नही होते है और शब्द बाह्येन्द्रियग्राह्य देखे जाते हैं अतः अणु के गुण तो अकारण गुण पूर्वक हो सकते हैं किन्तु शब्द रूप गुण [यहा प्रसग वश शब्द को गुण रूप कहा जा रहा है] अकारण गुण पूर्वक नही हो सकता है। योगी

अयावद्द्रव्यभावित्वं च विरुद्धम्; साध्यविपरीतार्थप्रसाधनत्वात्। तथाहि-स्पर्शवद्द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वात्पटरूपादिवत्। 'अस्मदादिपुरुषान्तरप्रत्यक्षत्वे सति पुरुषान्तराप्रत्यक्षत्वात्' इति चास्वाद्यमानेन रसादिनानैकान्तिक। आश्रयाद्भेर्यादेरन्यत्रोपलब्धे:' इति चासङ्गतम्, भेर्यादे. शब्दाश्रयत्वासिद्धेस्तस्य तन्निमित्तकारणत्वात्। आत्मादिगुणत्वा (त्व) प्रतिषेधस्तु सिद्धसाधनान्न समाधानमर्हति।

शब्द पृथिवी आदि का विशेप गुण नही है ऐसा प्रतिपादन करते हुए वैशेषिक ने "अयावत् द्रव्य भावित्व" हेतु दिया था वह भी विरुद्ध है, अर्थात् आप शब्द को अयावत् द्रव्यभावित्व हेतु से आकाश का गुण सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु इससे विपरीत यह हेतु तो शब्द को स्पर्शवाले द्रव्य का गुण सिद्ध करा देता है। इसी को दिखाते है—शब्द स्पर्श वाले द्रव्य का गुण है [यहा पर भी जैनाचार्य प्रसग वश ही शब्द को गुणरूप कह रहे है] क्योकि वह हमारे बाह्येन्द्रिय [स्पर्शनादि पाचो इन्द्रिया बाह्येन्द्रिय कहलाती है] प्रत्यक्ष होकर अयावत् द्रव्य भावी है, जैसे पट के रूपादि गुण है। तथा शब्द अस्मदादि पुरुषातर के प्रत्यक्ष होकर अन्य पुरुष के प्रत्यक्ष नही अर्थात् दूरवर्ती पुरुप के प्रत्यक्ष नही होता ऐसा शब्द मे पृथिवी आदि के विशेष गुणत्व का निषेध करने के लिये वैशेषिक ने हेतु दिया था वह हेतु भी आस्वाद्यमान हुए रस आदि गुण के साथ अनैकान्तिक हो जाता है, क्योकि जो अन्य पुरुष के अप्रत्यक्ष है वह पृथिवी आदि का विशेष गुण नही होता ऐसा आपको साध्य सिद्ध करना है, किन्तु वह सिद्ध नही हो सकता है, स्वाद मे लिया हुआ रस पुरुषातर के अप्रत्यक्ष तो है किन्तु उसमे पृथिवी आदि के विशेप गुणत्व का अभाव नही है अपितु वह पृथिवी आदि का विशेष गुण ही है सो यह साध्य के अभाव मे हेतु के रहने से अनैकान्तिक दोप हुआ। शब्द अपने आश्रयभूत भेरी पटह आदि से अन्य स्थान पर उपलब्ध होता है अत वह आकाश का गुण है ऐसा वैशेपिक ने कहा था, वह भी असगत है, भेरी पटह आदि पदार्थ शब्द के आश्रय नही है। शब्द के निमित्त कारण है। शब्द को आकाश का गुण सिद्ध करने के लिये अतिम हेतु दिया था यह शब्द आत्मा का विशेष गुण नही है अत आकाश का होना चाहिए, सो हेतु भी व्यर्थ है, कोई भी वादी प्रतिवादी शब्द को आत्मा का गुण नही मानते है। यह प्रसिद्ध बात है' अत' इस विषय मे अधिक नही कहते है।

यच्च 'शब्दलिङ्गाविशेषात्' इत्याद्युक्तम्; तद्वन्ध्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनप्रख्यम्; कार्यद्रव्यस्य व्यापित्वादिधर्मासम्भवात्।

एतेनेदमपि निरस्तम्-'दिवि भुव्यऽन्तरिक्षे च शब्दा श्रूयमाणेनैकार्थसमवायिनः शब्दत्वात् श्रूयमाणाद्यशब्दवत्। श्रूयमाणः शब्दः समानजातीयासमवायिकारणः सामान्यविशेषवत्त्वे सति नियमेनास्मदादिबाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् कार्यद्रव्यरूपादिवत्' इति, प्रतिशब्द पुद्गलद्रव्यस्य

"शब्द रूप हेतु विशेष के कारण आकाश एक है" इत्यादि आकाश सिद्धि के लिये जो कहा था वह भी वन्ध्या पुत्र के सौभाग्य का वर्णन करने के समान व्यर्थ का है, क्योंकि कार्य द्रव्य मे व्यापित्व आदि धर्म असभव है।

इसप्रकार शब्द आकाश का गुण है ऐसा कहना खण्डित होता है इसके खंडन से ही आगे कहा जाने वाला पक्ष भी खण्डित हुआ समझना चाहिये। अब उसी को बताते है—स्वर्ग मे, पृथिवी पर, आकाश मे अधर जो भी शब्द होते है वे सुनने में आये हुए शब्द के साथ एकार्थ समवायी हुआ करते है, अर्थात्—आकाशरूप एक पदार्थ ही उनका समवायी कारण होता है, क्योंकि वे सभी शब्दरूप है, जैसे सुनने मे आ-रहा पहला शब्द उसी समवायी कारण से हुआ है। तथा दूसरा अनुमान भी कहा जाता है कि—यह सुनने मे आने वाला जो शब्द है वह समान जातीय असमवायी कारण वाला है, क्योंकि सामान्य विशेषवान होकर नियम से हमारे बाह्य–एक–इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है, जैसे कार्य द्रव्य जो पृथिवी या वस्त्रादिक है उसके रूपादि गुण समान जातीय असमवायी कारण वाले होते है। इन उपर्युक्त दो अनुमानो द्वारा शब्द को आकाश का गुण रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, इसमे यह बताया है कि शब्द का समवायी कारण एक है और वह आकाश ही है, किन्तु यह प्रतिपादन गलत है, शब्द एक कारण से न बनकर पृथक्-पृथक् पुद्गल द्रव्यरूप उपादान कारण से बनता है अर्थात् प्रत्येक शब्द का पुद्गलरूप उपादान या समवायी कारण भिन्न हैं। तथा अभी बताये हुए अनुमानो मे शब्द का असमवायी कारण समानजातीय शब्द है ऐसा कहा है वह भी गलत है। शब्द से शब्द बनता है, प्रथम शब्द आकाशादि कारण से बनकर आगे के शब्द को उत्पन्न कर नष्ट होता है फिर शब्द से शब्द बनते जाते है, इत्यादि कथन शब्द का क्षणिकत्व खण्डित होने से असिद्ध है। अभिप्राय यह है कि

तत्समवायिकारणस्य भेदात् । शब्दस्य क्षणिकत्वनिषेधाच्च कथ समानजातीयासमवायिकारणत्वम् ?

यदि चाकाशमनवयवं शब्दस्य समवायिकारण स्यात्, तर्हि शब्दस्य नित्यत्व सर्वगतत्व च स्यादाकाशगुणत्वात्तन्महत्त्ववत् । क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वस्य शब्दे प्रमाणतः प्रतिषेधाच्च। तत्त्वे वा कथ न शब्दाधारस्याकाशस्य सावयवत्वम् ? न हि निरवयवत्वे 'तस्यैकदेशे एव शब्दो वर्त्तते न सर्वत्र' इति विभागो घटते ।

किञ्च, सावयवमाकाश हिमवद्विन्ध्यावरुद्धविभिन्नदेशत्वाद्भूमिवत् । अन्यथा तयो रूपरसयोरिवैकदेशाकाशावस्थितिप्रसक्ति । न चैतद् दृष्टमिष्ट वा ।

वैशेषिक शब्द को क्षणिक मानते है उनका कहना है कि वक्ता के मुख से प्रथम शब्द वायु तथा आकाश आदि के सयोग से उत्पन्न होता है किन्तु आगे के शब्द जल मे लहरो के समान उत्पन्न होकर नष्ट होते जाते है श्रोता के कान तक पहुचने वाला अन्तिम शब्द सुनायी देता है बीच के शब्द तो आगे आगे के शब्द को उत्पन्न कर नष्ट होते है । किन्तु यह बात असिद्ध है क्योकि शब्द सर्वथा क्षणिक नही है, इसप्रकार शब्द का समवायी कारण आकाश है और असमवायी कारण तालु आदि का सयोग एव शब्दादि है इत्यादि कहना असिद्ध हुआ ।

आप वैशेषिक आकाश को अवयव रहित मानते है सो ऐसा अनवयव स्वरूप आकाश शब्द का समवायी कारण बताया जाय तो शब्द को नित्य तथा सर्वगत भी मानना होगा क्योकि वह आकाश का गुण है, जैसे आकाश का महत्वगुण आकाश के समान नित्य तथा सर्वगत है । शब्द को आकाश गुण बतलाकर पुनः उसे क्षणिक तथा एक देश मे रहने वाला एव विशेष गुण रूप मानना प्रमाण से बाधित है । आकाश तो नित्य सर्वगत हो और उसका विशेष गुण क्षणिक असर्वगत हो ऐसा हो नही सकता है। यदि शब्द को एक देश मे रहने वाला इत्यादि स्वरूप माना जाय तो उसके आधारभूत आकाश के सावयवपना किस प्रकार नही आवेगा ? अवश्य आवेगा । सहज सिद्ध बात है कि शब्द यदि आकाश के एक देश मे रहता है तो उसके मायने आकाश के देश-अवयव है क्योकि आकाश यदि निरवयव-अवयव रहित है तो उसके एक देश मे शब्द रहता है, सब जगह नही रहता, ऐसा विभाग नही हो सकता ।

आकाश को अवयव रहित मानना अनुमान बाधित भी होता है, आकाश सावयवी है, [साध्य] क्योकि हिमाचल और विध्याचल द्वारा रोके गये उसके प्रदेश

कथं वा तदाधेयस्य शब्दस्य विनाशः ? स हि न तावदाश्रयविनाशाद्घटते; तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् । नापि विरोधिगुणसद्भावात्; तन्महत्त्वादेरेकार्थसमवेतत्वेन रूपरसयोरिव विरोधित्वासिद्धेः । सिद्धौ वा श्रवणसमयेपि तदभावप्रसङ्गः; तदा तन्महत्त्वस्य भावात् । नापि संयोगादिर्विरोधिगुणः; तस्य तत्कारणत्वात् । नापि संस्कारः; तस्याकाशेऽसम्भवात् । सम्भवे वा तस्याभावे आकाशस्याप्यभावानुषङ्गस्तस्य तदव्यतिरेकात् । व्यतिरेके वा 'तस्य' इति सम्बन्धो न स्यात् । नापि शब्दोपलब्धि-

---

भिन्न भिन्न हैं, जैसे उसी हिमाचल तथा विंध्याचल की पृथिवी विभिन्न है । यदि ऐसा नही है तो रूप और रस के समान विंध्याचल और हिमाचल आकाश के एक देश मे स्थित हो जाना चाहिए । अर्थात् दोनो पर्वत रूप और रस के भाति सहचारी एकत्र रहने वाले बन जायेगे । किन्तु ऐसा किसी ने देखा नही है, और न किसी ने ऐसा माना ही है ।

तथा शब्द का आश्रय जब आकाश है तो शब्दरूप आधेय का विनाश किस प्रकार हो सकेगा ? आश्रय का विनाश होने से शब्द नष्ट होता है ऐसा तो कह नही सकते, क्योकि शब्द के आश्रय को आपने नित्य माना है । विरोधी गुण के निमित्त से शब्द रूप आधेय का नाश होता है ऐसा कहना अशक्य है । शब्द के विरोधी गुण कौन है ? महत्व आदि गुण विरोधक नही हो सकते, क्योकि महत्व आदि गुण तथा शब्दरूप गुण इन सबका आकाश रूप एक आधार मे समवेतपना होना आपने स्वीकार किया है, जो एकार्थ समवेतपने से रहते है उनमे परस्पर विरोध नही होता है, जैसे रूप और रस एकार्थ समवेत है तो उनमे विरोध नही है । यदि इनमे विरोध माना जाय तो शब्द सुनने के समय मे भी शब्द के अभाव का प्रसंग आता है, क्योकि उस समय शब्द का विरोधी माना गया महत्व गुण मौजूद है । सयोग आदि गुण भी शब्द के विरोधी नही बन सकते क्योकि सयोग आदि को तो आपने शब्द का कारण माना है । संस्कार नामा गुण भी विरोधक नही है, क्योकि चौवीस गुणो मे से सस्कार नामा जो गुण है उसे आपने आकाश द्रव्य में नही माना है । यदि सस्कार नामा गुण आकाश द्रव्य मे मानोगे तो जब संस्कार का नाश होगा तो उसके साथ उससे अभिन्न आकाश भी नष्ट होगा, क्योकि गुण गुणी अव्यतिरेकी [अपृथक्] होते हैं । यदि आकाश और संस्कार मे व्यतिरेक [भिन्नपना] मानेगे तो "उस आकाश का यह संस्कार है" ऐसा सम्बन्ध जोड़ नही सकते । शब्द की उपलब्धि को प्राप्त कराने वाला जो अदृष्ट [भाग्य] है उसका

प्रापकादृष्टाभावात्तदभावः; तुच्छाभावस्यासामर्थ्यतो विनाशाहेतुत्वात् खरविषाणवत् । तन्न शब्दस्याकाशप्रभवत्वमभ्युपगन्तव्यम् ।

ननु चाऽस्य पौद्गलिकत्वेऽस्मदाद्यनुपलभ्यमानरूपाद्याश्रयत्वं न स्यात्पटादिवत्; तन्न; द्वयणुकादिना हेतोर्व्यभिचारात् । नायनरश्मिषु जलसयुक्तानले चानुद्भूतरूपस्पर्शवत् शब्दाश्रयद्रव्येऽस्मदाद्यनुपलभ्यमानानामप्यनुद्भूततया रूपादीनां वृत्त्यविरोधः । यथा च घ्राणेन्द्रियेणोपलभ्यमाने गन्धद्रव्येऽनुद्भूतानां रूपादीनां वृत्तिस्तथात्रापि । यथा च तैजसत्वात्पार्थिवत्वाच्चात्रानुपलम्भेपि रूपादीनामनुद्भूततयास्तित्वसम्भावना तथा शब्देपि पौद्गलिकत्वात् । न च पौद्गलिकत्वमसिद्धम्,

---

जब अभाव होता है तब शब्द का भी अभाव हो जाता है ऐसा कोई वैशेषिक के पक्ष मे कहे तो वह भी गलत है, क्योंकि परवादी अभाव को तुच्छाभावरूप स्वीकार करते है, अतः तुच्छाभावरूप अदृष्टाभाव सामर्थ्य विहीन होने से शब्द के नाश का हेतु बन नही सकता, जैसे खरविषाण [गधे का सीग] तुच्छाभाव रूप है तो वह किसी को नष्ट करने की सामर्थ्य नही रखता है। इस तरह शब्द आकाश से उत्पन्न होता है ऐसा वैशेषिक आदि का कहना कथमपि सिद्ध नही होता है ।

शका—आप जैन शब्द को पौद्गलिक मानते है, किन्तु यह भी सिद्ध नही होता है, यदि शब्द पौद्गलिक होता तो हमारे द्वारा उसमे रहने वाले रूपादिक अनुपलभ्यमान नही होते, जैसे वस्त्रादि के रूपादि अनुपलभ्य नही होते अर्थात् शब्द पुद्गल से बना है तो वस्त्र आदि के समान उसके रूप आदि गुण उपलब्ध होने चाहिये ?

समाधान—यह कथन गलत है, जो रूपादि का आश्रयभूत हो अर्थात् जिसमे रूप आदि रहते है वह हमारे द्वारा नियम से उपलब्ध होवे ऐसा नही है, यदि ऐसा नियामक हेतु मानेगे तो वह द्वयणुक आदि के साथ व्यभिचरित होगा। क्योंकि द्वयणुक आदि मे रूपादि का आश्रयपना है किन्तु वे हमारे उपलब्ध नही होते है। अत जिसमे रूपादि हो वह हमारे उपलब्ध हो ऐसा नियम नही बनता है। तथा जिसप्रकार वैशेषिक लोग नेत्र की किरणो मे एव जलसयुक्त अग्नि मे [गरम जल मे] क्रमश रूप तथा स्पर्श को अनुद्भूत [अप्रगट] मानते है उसी प्रकार जैन शब्द के आश्रयभूत द्रव्य मे रूपादि को अनुद्भूत मानते हैं जिस कारण कि वे हमारे द्वारा उपलब्ध नही हो पाते

तथाहि–पौद्गलिकः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वेऽचेतनत्वे च सति क्रियावत्त्वाद्बाणादिवत् । न च मनसा व्यभिचारः; 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति विशेषणत्वात् । नाप्यात्मना; 'अचेतनत्वे सति' इति विशेषणात् । नापि सामान्येन; अस्य क्रियावत्त्वाभावात् । ये च 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति स्पर्शवत्त्वात्' इत्यादयो हेतवः प्रागुपन्यस्तास्ते सर्वे पौद्गलिकत्वप्रसाधका द्रष्टव्या. । ततः शब्दस्याकाशगुणत्वासिद्धेर्नासौ तल्लिङ्गम् ।

है । तात्पर्य यह है कि शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय है उसमे रूपादिगुण रहते है किन्तु वे हम जैसे व्यक्ति द्वारा उपलब्ध नही होते । शब्द मे रूपादिक किस प्रकार अप्रगट रहते है इस बात को स्पष्ट करने के लिये और भी उदाहरण है, जैसे कि आपके यहा घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गन्ध द्रव्य मे रूप रसादि को अनुद्भूत–अप्रगट रूप माना गया है । तथा जैसे नयन रश्मि मे एव जल सयुक्त अग्नि मे तैजसपना होने से रूपादिका अस्तित्व अनुपलब्ध होने पर भी मानते है, गन्ध द्रव्य मे पार्थिवपना होने से रूपादि का अस्तित्व मानते है, उनमें अनुद्भूत स्वभाव वाले रूपादिक सभावित करते हैं, उसी प्रकार शब्द मे पौद्गलिकपना होने से रूपादिका अस्तित्व सभावित किया जाता है ।

शब्द का पुद्गलपना असिद्ध भी नही है, अनुमान द्वारा सिद्ध करके बतलाते है—पौद्गलिक शब्दः, अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे अचेतनत्वे च सति क्रियावत्वात्, बाणादिवत् ? शब्द पौद्गलिक है—पुद्गल नामा मूर्त्तिक द्रव्य से बना हुआ है, [साध्य] क्योकि हमारे प्रत्यक्ष एवं अचेतन होकर क्रियाशील है [हेतु] जैसे बाण आदि पदार्थ अचेतन क्रियावान् होने से पौद्गलिक है । इस हमारे हेतु का मनके साथ व्यभिचार भी नही आता है, क्योकि हेतु मे जो "अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति" यह विशेषण दिया है वह इस व्यभिचार दोष को हटाता है । अर्थात् जो क्रियावान है वह पौद्गलिक है ऐसा कहने से मन के साथ अनैकान्तिकपना आता है भाव मन क्रियावान तो है किन्तु वह पौद्गलिक नही है इस तरह कोई व्यभिचार दोष देवे तो वह ठीक नही, इस दोष को हटाने वाला "अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति" यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है । मन क्रियावान तो है किन्तु अस्मदादि प्रत्यक्ष नही है । आत्मा के साथ भी उपर्युक्त हेतु व्यभिचरित नही होगा, क्योकि हेतु मे "अचेतनत्वे सति" विशेषण जोडा है, आत्मा क्रियावान है किन्तु अचेतन नही है, अतः जो अचेतन होकर क्रियावान है वह पौद्गलिक ही है, ऐसा कहना सिद्ध होता है । सामान्य के साथ हेतु को व्यभिचरित करना भी अशक्य है

कुतस्तर्हि तत्सिद्धिरिति चेद् ? 'युगपन्निखिलद्रव्यावगाहकार्यात्' इति ब्रूम ; तथाहि-युगपन्निखिलद्रव्यावगाह' साधारणकारणापेक्षः तथावगाहत्वान्यथाऽनुपपत्तेः । ननु सर्पिषो मधुन्यवगाहो भस्मनि जलस्य जलेऽश्वादेर्यथा तथैवालोकतमसोरशेषार्थावगाहघटनान्नाकाशप्रसिद्धि.; तन्न; अनयोरप्याकाशाभावेऽवगाहानुपपत्ते ।

क्योकि सामान्य क्रियावान नही है इस तरह सब प्रकार के दोपो से रहित उक्त हेतु स्वसाध्य का साधक होता है । शब्द के विपय मे पहले हमने "अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति स्पर्शवत्वात्" हमारे प्रत्यक्ष होकर स्पर्शवाला होने से शब्द अमूर्त्त नही है, इत्यादि रूप से हेतु कहे थे वे सभी हेतु शब्द को पौद्गलिक सिद्ध करने वाले है । इन सब हेतुओ से जब शब्द का पुद्गल द्रव्यपना सिद्ध होता है तो उसका आकाश द्रव्य का गुण होना अपने आप असिद्ध हो जाता है अतः शब्द आकाश का लिंग [आकाश को सिद्ध करने वाला हेतु] नही है, ऐसा निश्चित होता है ।

शका—फिर आकाश द्रव्य को सिद्ध करने वाला कौनसा लिंग [हेतु] हो सकता है ?

समाधान—आकाश को सिद्ध करने वाला तो अवगाह गुण है, जो एक साथ सपूर्ण द्रव्यो को अवकाश देवे वह आकाश द्रव्य है, अवगाह रूप कार्य देखकर अमूर्त आकाश की सिद्धि होती है । इसी का खुलासा करते है–संपूर्ण द्रव्यो का एक साथ जो अवगाह [अवस्थान] देखा जाता है वह कोई साधारण कारण की अपेक्षा लेकर होना चाहिए, क्योकि साधारण कारण के बिना इस तरह की अवगाहना होना असभव है ।

शंका—जिस प्रकार मधु [शहद] मे घी का अवगाह होता है अर्थात् मधु मे घी समा जाता है जितनी जगह मे मधु हो उतने ही पात्र मे डाला हुआ घी समाता है, तथा राख मे जल समाता है, जलाशय मे अश्वादि समाते है, इसी प्रकार प्रकाश और अन्धकार मे सम्पूर्ण पदार्थो का अवगाह हो जाता है, अत अवगाह हेतु से आकाश-द्रव्य की सिद्धि नही होती । अर्थात् अवगाह कार्य को प्रकाशादि ही कर लेते हैं उसके लिये आकाश को मानने की आवश्यकता नही है ?

समाधान—यह शका असत् है, प्रकाश तथा अन्धकार का अवगाह भी आकाश के बिना नही हो सकता है, अर्थात् आकाश न होवे तो प्रकाश आदि का

ननु निखिलार्थाना यथाकाशेवगाहः तथाकाशस्याप्यन्यस्मिन्नधिकरणेऽवगाहेन भवितव्यमित्यनवस्था, तस्य स्वरूपेवगाहे सर्वार्थाना स्वात्मन्येवावगाहप्रसङ्गात्कथमाकाशस्यात: प्रसिद्धिः ? इत्यप्यपेशलम्; आकाशस्य व्यापित्वेन स्वावगाहित्वोपपत्तितोऽनवस्थाऽसम्भवात्, अन्येषामव्यापित्वेन स्वावगाहित्वायोगाच्च । न हि किञ्चिदल्पपरिमाण वस्तु स्वाधिकरण दृष्टम्, अश्वादेर्जलाद्यधिकरणोपलब्धे । कथमेवं दिक्कालात्मनामाकाशेवगाहो व्यापित्वात्, इत्यप्यसाम्प्रतम्, हेतोरसिद्धेः। तदसिद्धिश्च दिग्द्रव्यस्यासत्त्वात्, कालात्मनोश्चासर्वगतद्रव्यत्वेनाग्रे समर्थनात्प्रसिद्धेति । ननु तथाप्य-

---

अवगाह नही हो सकता और न ये किसी को अवगाह दे सकते है, अत अखिल द्रव्यो को अवगाह देना आकाश का ही कार्य सिद्ध होता है ।

शका—सम्पूर्ण द्रव्यो का अवगाह आकाश मे होता है किन्तु आकाश का अवगाह किस मे होगा उसके लिए अन्य कोई आधार चाहिए । अन्य तीसरा भी किसी अन्य के अधिकरण मे रहेगा, इस तरह तो अनवस्था होती है और यदि आकाश स्वय मे अवगाहित है तो सभी पदार्थ भी स्वस्वरूप मे अवगाहित रह सकते है, अत. अवगाह रूप हेतु द्वारा आकाश को सिद्धि करना किस प्रकार शक्य है ?

समाधान—यह बात अयुक्त है, आकाश स्वयं का आधार [अवगाह] देने वाला इसलिये सिद्ध होता है कि वह सर्व व्यापी है, इसी कारण से अनवस्था दोष भी नही आता है । प्रकाश आदि अन्य पदार्थ इस तरह सर्व व्यापक नही है अत: वे स्वय को अवगाह नही दे सकते । ऐसा नही देखा गया है कि अल्प परिमाण वाली वस्तु स्वय का आधार होती हो, अश्वादि पदार्थ अल्प परिमाण वाले होते है तो वे अपने से बृहत् परिमाण वाले जलाशय आदि के अधिकरण मे रहते है ।

शका—अल्प परिमाण वाले अन्य के आधार मे रहते है ऐसा कहेगे तो दिशा काल, आत्मा, इन पदार्थों का आकाश मे अवगाह होना किस प्रकार सिद्ध होगा ? क्योकि ये पदार्थ स्वय व्यापक है ।

समाधान—यह बात समीचीन नही है, हेतु असिद्ध है, अर्थात् दिशा आदि व्यापक होने से आकाश मे नही रह सकते, ऐसा कहना असिद्ध है, दिशा आदि की व्यापकता इसलिये असिद्ध है कि दिशा नामका कोई द्रव्य नही है, तथा काल और आत्मा सर्वगत नही है, ये द्रव्य असर्वगत है, इस विषय का आगे समर्थन करने वाले है ।

मूर्त्तत्वेन कालात्मनोः पाताभावात्कथं तदाधेयता ? इत्यप्ययुक्तम्; अमूर्त्तस्यापि ज्ञानसुखादेरात्मन्याधेयत्वप्रसिद्धेः।

एतेनामूर्त्तत्वान्नाकाशं कस्यचिदधिकरणमित्यपि प्रत्युक्तम्, अमूर्त्तस्याप्यात्मनो ज्ञानाद्यधिकरणत्वप्रतीतेः। समानसमयवर्त्तित्वान्निखिलार्थानां नाधाराधेयभावः, अन्यथाकाशादुत्तरकालं भावस्तेषां स्यात्, इत्यप्यसमीचीनम्, समसमयवर्तिनामप्यात्मामूर्त्तत्वादीनां तद्भावप्रतीतेः। न खलु

शंका—ठीक है, आप जैन आत्मादि को व्यापक नहीं मानते है, किन्तु आत्मा एवं काल द्रव्य अमूर्त्त है अतः उनका पात होना [गिरना] अशक्य है, फिर इनको आधेयरूप कैसे मान सकते है ?

समाधान—यह शंका भी अयुक्त है, अमूर्त्त पदार्थ को भी आधार की आवश्यकता रहती है, ज्ञान, सुख इत्यादि अमूर्त्त हैं किन्तु वे आत्मा के आधार मे रहते है अर्थात् सुख आदिक अमूर्त्त होकर भी आधेयपने को प्राप्त है और आत्मा रूपी अधिकरण मे रहते है ऐसे ही आत्मा तथा काल द्रव्य ये अमूर्त्त है किन्तु इनका आधार अवश्य है और वह आकाश ही है, अन्य कोई पदार्थ नही है।

इस तरह अमूर्त्त को भी आधार की जरूरत पडती है यह सिद्ध हुआ इसके सिद्ध होने से ही "आकाश अमूर्त्त होने से किसी को आधार नही दे सकता" ऐसी शंका का निर्मूलन हुआ समझना चाहिए, अमूर्त्त पदार्थ जैसे किसी के आधार पर रहता है वैसे किसी के लिये अधिकरण भी होता है। ऐसा सिद्ध होता है, जिस प्रकार आत्मा अमूर्त्त है फिर भी वह ज्ञान आदि का अधिकरण होता है।

शंका—संपूर्ण जीवादि पदार्थ समान समयवर्त्ती हैं अतः उनमे आधार आधेयभाव नही बनता, अर्थात् आकाश और अन्य सभी पदार्थ एक साथ के हैं ऐसे समान कालीन पदार्थो मे से कोई आधार और कोई आधेय होवे ऐसा होना अशक्य है, यदि इन आकाश आदि मे आधार आधेयभाव मानना है तो आकाश के उत्तर काल मे आत्मादि पदार्थो का सद्भाव होता है ऐसा मानना पडेगा ?

समाधान—यह कथन गलत है, समान कालीन पदार्थो मे भी आधार-आधेय भाव देखा जाता है, आत्मा और उसका अमूर्त्तपना आदि धर्म ये समान समय वाले होते हैं किन्तु इनमे आधार-आधेय मानते है। आप वैशेषिक ने भी आत्मा तथा

परेणाप्यत्र पौर्वापरीभावोऽभीष्टो नित्यत्वविरोधानुषङ्गात् । क्षणविशरारुतया निखिलार्थाना नाधारा-धेयभाव.; इत्यपि मनोरथमात्रम्, क्षणविशरारुत्वस्यार्थाना प्रागेव प्रतिषेधात् । 'खे पतत्री' इत्याद्यऽबाधितप्रत्ययाच्च तद्भावप्रसिद्धे । तत परेषा निरवद्यलिङ्गाऽभावान्नाकाशद्रव्यस्य प्रसिद्धि. ।

।। आकाशद्रव्यविचार. समाप्त ।।

आकाशादि में पूर्व उत्तरपना नही माना । यदि इनमें पूर्वापरी भाव मानेगे तो वे नित्य नही रहेगे ।

बौद्ध—सम्पूर्ण पदार्थ क्षणभंगुर है, क्षण क्षण मे नष्ट होने वाले है, अत' उनमे आधार आधेयभाव नही हो सकता ।

जैन—यह कथन मनोरथ मात्र है, आपके क्षणभग वाद का पहले भली प्रकार से खण्डन कर आये है, पदार्थो का क्षणिकपना किसी प्रकार भी सिद्ध नही होता है । "आकाश मे पक्षी है" इत्यादि निर्बाध ज्ञान के द्वारा भी आकाश आदि द्रव्य के आधार-आधेयभाव की सिद्धि होती है । तथा कुण्ड मे बेर है, तिलो मे तैल है, हाथ मे ककण है इत्यादि अनगिनती आधार-आधेयपना दिखायी दे रहा है, अत बौद्ध इस अखड आधार-आधेयभाव का खडन नही कर सकते । वैशेषिक को अंत मे यही कहना है कि आपके यहां पर आकाश द्रव्य की सिद्धि नही हो पाती है, क्योकि आप शब्द रूप हेतु द्वारा आकाश को सिद्ध करना चाहते है, किन्तु शब्द आकाश का गुण नही है वह स्पर्श आदि गुण वाला मूर्त्तिक पदार्थ सिद्ध होता है । जब शब्द गुण रूप नही है तो उसके द्वारा आकाश की सिद्धि करना नितरां असम्भव है, यह निश्चित हुआ । अब हम इस प्रकरण को संकोचते है ।

।। आकाशद्रव्यविचार समाप्त ।।

आकाशद्रव्यविचार का सारांश

वैशेषिक—शब्द के द्वारा आकाश द्रव्य जाना जाता है, शब्द गुणरूप पदार्थ है, और गुण कही आश्रित रहता है, शब्द रूप गुण का आश्रय आकाश द्रव्य है। शब्द मे कर्मपना एव द्रव्यपना न होकर भी सत्ता का सम्बन्ध है अतः वह गुण है। शब्द सामान्य पदार्थ रूप भी नही है, क्योंकि सामान्य मे सत्ता का समवाय नही होता। सयोग और विभाव का कारण नही होने से शब्द को कर्मपदार्थ रूप भी नही कह सकते। इस तरह शब्द द्रव्यादि स्वरूप सिद्ध नही होता अत· अततोगत्वा वह आकाश का गुण है ऐसा निर्णय हो जाता है। आकाश सर्वगत होने से उसके गुणस्वरूप शब्द भी यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। इस शब्दलिंग द्वारा ही आकाश द्रव्य की सिद्धि होती है।

जैन—यह कथन गलत है, शब्द द्वारा आकाश की सिद्धि होना सर्वथा अशक्य है। आगे इसी को बताते है—शब्द का आश्रय सामान्य से कोई एक पदार्थ है ऐसा मानना इष्ट है अथवा नित्य सर्वगतरूप ही आश्रय मानना इष्ट है? प्रथम पक्ष मे सिद्ध साध्यता है, क्योकि सामान्य से कोई एक पदार्थ को शब्द का आश्रय हमने भी माना है अर्थात् पुद्गल द्रव्य शब्द का आश्रय है ऐसा हम मानते है। दूसरे पक्ष मे रूपादि के साथ अनैकान्तिकता होगी, क्योकि जो आश्रयभूत हो वह नित्य सर्वगत ही हो ऐसा नियम असम्भव है रूपादिगुण आश्रित तो है किन्तु नित्य सर्वगत के आश्रित नही है।

आप शब्द को गुण रूप सिद्ध करना चाहते है किन्तु उसमे अल्पत्व महत्व, सयोग, सख्या आदि गुण पाये जाते है अत. वह द्रव्य रूप ही सिद्ध होता है, यदि गुण रूप होता तो उसमे उक्त गुण नही होते क्योकि गुण स्वय निर्गुण हुआ करते है। तीव्र और मंद रूप सुनाई देने से शब्द मे महत्व और अल्पत्व सिद्ध होता है। एक शब्द है, अनेक शब्द है इत्यादि रूप से शब्द मे सख्या की प्रतीति भी होती है।

आपका कहना है कि शब्द में स्वयं संख्या नही है, संख्यादिका उसमे उपचार मात्र किया जाता है। किन्तु यह कहना असत् है शब्द मे संख्या का उपचार किया जाता है तो किसकी सख्या का उपचार करे ? पदार्थ की सख्या का उपचार होना अशक्य है, क्योंकि पदार्थ की संख्या अनेक है और उनका वाचक शब्द एक है ऐसा देखा जाता है, जैसे गो, राजा, किरण, पृथ्वी आदि पदार्थ अनेक है और उनका वाचक एक ही गौ शब्द है। दूसरी बात यह है कि शब्द को आकाश का गुण माना जाय तो वह हमारे कर्ण गोचर नही हो सकता, क्योकि आकाश अतीन्द्रिय होने से उसका गुण भी अतीन्द्रिय होवेगा।

तथा शब्द को आकाश का गुणरूप माने तो उसका नाश नही हो सकेगा, किन्तु प्रतिकूल वायु आदि से शब्द नष्ट होते हुए देखे जाते है। इसप्रकार शब्द आकाश का गुण नही है यह निश्चित होता है। शब्द तो पुद्गल द्रव्य स्वरूप है। इसप्रकार शब्द लिंग द्वारा आकाशद्रव्य की सिद्धि करना खडित होता है। आकाशद्रव्य की सिद्धि तो उसके अवगाह गुण द्वारा होती है, एक साथ सपूर्ण पदार्थो को अवगाह (आश्रय) देनारूप कार्य द्वारा आकाशद्रव्य सिद्ध होता है, अर्थात् अखिल पदार्थों का सर्व साधारण आधारभूत कोई एक पदार्थ अवश्य है अवगाह की अन्यथानुपपत्ति होने से, इसप्रकार अवगाह गुण द्वारा आकाशद्रव्य सिद्ध होता है। आकाश मे शब्दरूप विशेष गुण नहा है अपितु अवगाहरूप विशेषगुण है ऐसा निर्बाध सिद्ध होता है।

।। आकाशद्रव्यविचार का सारांश समाप्त ।।

१०

कालद्रव्यवादः

नापि कालद्रव्यस्य । यच्चोच्यते—कालद्रव्य च परापरादिप्रत्ययादेव लिङ्गात्प्रसिद्धम् । काल-द्रव्यस्य च इतरस्माद्भेदे 'काल ' इति व्यवहारें वा साध्ये स एव लिङ्गम् । तथा हि–काल इतरस्माद्भिद्यते 'काल' इति वा व्यतहर्त्तव्य', परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिगत्वात्, यस्तु

आकाशद्रव्य के समान वैशेषिक दर्शन मे कालद्रव्य की सिद्धि भी नही होती है । कालद्रव्य की सिद्धि के लिए पर अपर प्रत्ययरूप हेतु दिया जाता है, अर्थात्–काल एक पृथक् पदार्थ है, क्योकि यह छोटा है, यह बडा है इत्यादि ज्ञान हो रहा है । इस विषय मे वैशेपिक अपना पक्ष उपस्थित करते है—

वैशेषिक—कालद्रव्य की सिद्धि हम लोग परापरप्रत्यय से करते हैं, काल द्रव्य का इतर द्रव्य से भेद बतलाने के लिए अथवा "काल" यह जो नाम व्यवहार लोक मे देखा जाता है वह परापरप्रत्यय से ही हुआ करता है, अब इसी को अनुमान से सिद्ध करते है—काल अन्य द्रव्य से भिन्न है अथवा काल यह नाम व्यवहार जगत मे सत्य मूलक है, क्योकि पर–अपर [छोटा–बडा] का ज्ञान, युगपत होना–क्रम से होना, जल्दी होना, देरी से होना इत्यादि प्रतीति होती है, इस प्रतीति के कारण ही काल द्रव्य की सत्ता सिद्ध है, जो इतर से भेद को प्राप्त नही होता, अथवा काल इस नाम से

नेतरस्माद्भिद्यते 'काल' इति वा न व्यवह्रियते नासावुक्तलिंग: यथा क्षित्यादि:, तथा च काल:, तस्मात्तथेति । ' विशिष्टकार्यतया चैते प्रत्यया: काले एव प्रतिबद्धा: । यद्विशिष्टकार्यं तद्विशिष्टकारणा-दुत्पद्यते यथा घट इति प्रत्यया:, विशिष्टकार्यं च परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्यया इति । परापरयो: खलु दिग्देशकृतयो: व्यतिकरो विपर्यय:-यत्रैव हि दिग्विभागे पितर्युत्पन्न परत्व तत्रैव स्थिते पुत्रेऽपरत्वम्, यत्र चापरत्वं तत्रैव स्थिते पितरि परत्वमुत्पद्यमान दृष्टमिति दिग्देशाभ्यामन्य-न्निमित्तान्तर सिद्धम्, निमित्तान्तरमन्तरेण व्यतिकरासम्भवात् । न च परापरादिप्रत्ययस्य आदित्यादि-

---

व्यवहार में नही आता वह परापरादिज्ञान का हेतु नही होता, जैसे पृथ्वी आदि द्रव्य परापरादि ज्ञान के हेतु नही होने से "काल" इस नाम से व्यवहृत नही होते हैं, काल द्रव्य परापर प्रत्ययवाला है, अत: इतर से भेद को प्राप्त होता है, इसप्रकार पचावयव रूप अनुमान द्वारा कालद्रव्य की सिद्धि होती है । ये जो परापर प्रत्यय होते है वे विशिष्ट कार्यरूप है और इन कार्यों का सम्बन्ध काल से ही है, अर्थात् ये सब काल द्रव्य के ही कार्य है, जो विशिष्ट कार्य होता है वह विशिष्ट कारण से ही होता है, जैसे "घट है" ऐसा ज्ञान होता है वह घट होने पर ही होता है, पर अपर, युगपत् अयुगपत्, चिर-क्षिप्र का जो ज्ञान है यह भी एक विशिष्ट कार्य है अत वह विशिष्ट कारणरूप काल का होना चाहिये । परापर प्रत्यय को दिशा या देश का कार्य माना जाय तो गलत होगा, देशादि के निमित्त से होने वाले परापर प्रत्यय इस परापर प्रत्यय से विलक्षण होते है, अब इसी का खुलासा करते है—एक पिता है उसमे जहां ही परत्व उत्पन्न हुआ वही पर निकट मे स्थित पुत्र मे अपरत्व है, अर्थात् एक ही देश तथा दिशाविभाग मे स्थित पिता में तो परत्व पाया जाता है [कालकी अपेक्षा दूरपना] वही पर स्थित पुत्र मे अपरत्व पाया जाता है [कालकी अपेक्षा निकटपना] तथा जहा अपरत्व है वही पर स्थित पिता में परत्व उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, सो यह कार्य दिशा एवं देशरूप निमित्त से पृथक्भूत जो निमित्त है उसकी सिद्धि करता है, निमित्तातर बिना ऐसा व्यतिकर [भेद] नही हो सकता है । वह जो निमित्तांतर है वही कालद्रव्य है । सूर्य आदि का गमन, अथवा किसी पुरुषादि मे वलि पलितादिक शरीर मे सिकुड़न पड़ना, केश सफेद होना इत्यादि कारणों से परापर प्रत्यय होता है । ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि इन सूर्यगमन आदि क्रिया से होने वाले परापर प्रत्यय से यह प्रत्यय विलक्षण है, जैसे वस्त्रादिके निमित्त से होने वाला परापर प्रत्यय

क्रिया द्रव्य वलिपलितादिकं वा निमित्तम्; तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्पटादिप्रत्ययवत्। तथा च सूत्रम् "अपरस्मिन्परं युगपदयुगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि" [वैशे० सू० २।२।६] आकाशवच्चास्यापि विभुत्वनित्यैकत्वादयो धर्मा प्रतिपत्तव्या इति।

अत्रोच्यते—परापरादिप्रत्ययलिंगानुमेयः कालः किमेकद्रव्यम्, अनेकद्रव्य वा ? न तावदेकद्रव्यम्, मुख्येतरकालभेदेनास्य द्वैविध्यात्। न हि समयावलिकादिर्व्यवहारकालो मुख्यकालद्रव्यमन्तरेणोपपद्यते यथा मुख्यसत्त्वमन्तरेण क्वचिदुपचरितं सत्त्वम्। स च मुख्यः कालोऽनेकद्रव्यम्, प्रत्याकाशप्रदेश व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्ते। प्रत्याकाशप्रदेश विभिन्नो हि व्यवहारकालः कुरुक्षेत्रलङ्काकाशदेशयोर्दिवसादिभेदान्यथानुपपत्तेः। तत. प्रतिलोकाकाशप्रदेशं कालस्याणुरूपतया भेदसिद्धिः।

विलक्षण हुआ करता है। इसी विषय पर हमारे यहा वैशेषिक सिद्धात का सूत्र है—"अपरस्मिन् पर युगपद युगपत् चिर क्षिप्र इति काल लिंगानि" अपर वस्तु मे भी [दिशादेश के अपेक्षा निकट] परत्वप्रत्यय होता है, युगपत् तथा अयुगपत् की प्रतीति होती है, एव चिरकालपना और क्षिप्र–शीघ्रपना प्रतीत होता है, यही कालद्रव्य के लिंग है—कालद्रव्य को सिद्ध करने वाले हेतु हैं। इस कालद्रव्य को हम आकाश के समान ही व्यापक, नित्य, एक इत्यादिरूप मानते है, इसप्रकार कालद्रव्य का वर्णन समझना चाहिये।

जैन—यह कथन अयुक्त है, इस कालद्रव्य के विषय मे सबसे पहले हमारा यह प्रश्न है कि जो परापर प्रत्ययरूप लिंग द्वारा अनुमेय होता है वह कालद्रव्य एक द्रव्यरूप है अथवा अनेक द्रव्यरूप है ? एक द्रव्यरूप नही कह सकते क्योकि मुख्य काल और व्यवहारकाल इसप्रकार काल दो प्रकार का होता है, इस जगत मे समय, आवली, घडी, मुहूर्त्त, प्रहर आदि स्वरूप जो व्यवहारकाल देखा जाता है वह मुख्य काल द्रव्य के बिना नही हो सकता है, जैसे कही पर मुख्य अस्तित्व हुए बिना उपचरित अस्तित्व नही होता, अथवा मुख्य अग्नि के हुए बिना बालकमे उसका उपचरितपना संभव नही होता है।

यह मुख्य काल अनेक द्रव्य रूप है, कालद्रव्य अनेक हुए बिना प्रत्येक आकाश प्रदेशो मे व्यवहारकाल का भेद बन नही सकता है, अनुमान द्वारा यही बात सिद्ध होती है—प्रत्येक आकाश के प्रदेश मे होने वाला व्यवहार काल भिन्न भिन्न कालद्रव्य के निमित्त से होता है [प्रतिज्ञा या पक्ष] क्योकि अन्यथा कुरुक्षेत्र और लका के देश

तदुक्तम्—

"लोयायासपएसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाए रासीविव ते कालाणू मुरोयव्वा ॥१॥"

[द्रव्यस० गा० २२ (?)]

यौगपद्यादिप्रत्ययाविशेषात्तस्यैकत्वम्, इत्यप्यसत्, तत्प्रत्ययाविशेषासिद्धेः । तेषा परस्पर विषिष्टत्वात्कालस्याप्यतो विशिष्टत्वसिद्धिः । सहकारिणामेव विशिष्टत्व न कालस्य; इत्यप्यनुत्तरम्; स्वरूपमभेदयता सहकारित्वप्रतिक्षेपात् ।

में होने वाला दिन आदि का भेद नही हो सकता है । इस अनुमान प्रमाण से लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक काल द्रव्य अणुरूप से सिद्ध होता है । कहा भी है—लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु अवस्थित है, जैसे रत्नो की राशि मे रत्न पृथक्-पृथक् है वैसे कालाणु या कालद्रव्य एक एक पृथक् पृथक् है ।

शका—युगपत् होना क्रमशः होना इत्यादि प्रत्यय तो सर्वत्र समान है अतः काल द्रव्य एक है ?

समाधान—ऐसी बात नही है युगपत् होना इत्यादि प्रत्यय समान नही है, इन प्रत्यय या ज्ञानो में विशिष्टता पायी जाती है, और यह विशिष्टता ही कालद्रव्य की विशिष्टता को–[विभिन्नता को] सिद्ध करती है ।

शंका—सहकारी कारणो के अनेक होने के निमित्त से यौगपद्य आदि प्रत्ययो में विशिष्टता आती है, काल द्रव्य के निमित्त से नही ?

समाधान—यह कथन भी गलत है, मुख्य द्रव्य के स्वरूप में भेद हुए बिना सहकारी कारण भेद नही कर सकता, अथवा कूटस्थ नित्य ऐसे आपके कालद्रव्य का सहकारी हो नही सकता । इस विषय मे पहले खण्डन कर आये हैं कि सहकारी कारण सर्वथा नित्य पदार्थ के सहायक नही हो सकते हैं ।

यदि चास्य निरवयवैकद्रव्यरूपताभ्युपगम्यते कथ तर्ह्यतीतादिकालव्यवहार ? स हि किमतीताद्यर्थक्रियासम्बन्धात्, स्वतो वा स्यात् ? अतीताद्यर्थक्रियासम्बन्धाच्चेत्; कुतस्तासामतीतादित्वम् ? अपरातीताद्यर्थक्रियासम्बन्धाच्चेत्, अनवस्था। अतीतादिकालसम्बन्धाच्चेत्; अन्योन्याश्रय । स्वतस्तस्यातीतादिरूपता चायुक्ता, निरंशत्वभेदरूपत्वयोर्विरोधात् ।

यौगपद्यादिप्रत्ययाभावश्चैववादिन. स्यात्, तथाहि-यत्कार्यजातमेकस्मिन्काले कृत तद्युगपत्कृतमित्युच्यते । कालैकत्वे चाखिलकार्याणामेककालोत्पाद्यत्वेनैकदैवोत्पत्तिप्रसगान्न किञ्चिदयुगपत्कृत स्यात् ।

वैशेषिक कालद्रव्य को अवयव रहित सर्वथा एक रूप मानते हैं सो ऐसे एकत्वरूप कालद्रव्य मे यह अतीतकाल है, यह वर्त्तमानकाल है, इत्यादि व्यवहार किस प्रकार हो सकेगा ? अतीत आदि अर्थक्रिया के सम्बन्ध से अतीतकाल इत्यादि व्यवहार होता है अथवा स्वतः ही यह व्यवहार हो जाता है ? अतीतादि अर्थक्रिया के सम्बन्ध से अतीतादि व्यवहार होता है, ऐसा प्रथम पक्ष लेवे तो अतीत आदि अर्थ क्रियाओ मे अतीत, अनागत इत्यादि सज्ञा किस निमित्त से आयी, अपर अतीतादि अर्थक्रिया सम्बन्ध से आयी ऐसा कहो तो अनवस्था दोष आता है ।

शका—अतीतादिकाल के सम्बन्ध से अतीतादि अर्थक्रिया का व्यवहार हो जायेगा ?

समाधान—तो फिर अन्योन्याश्रय नामा दोष उपस्थित होगा, कैसे सो ही बताते है—क्रियाओ का अतीतादिपना सिद्ध होने पर तो उनके सम्बन्ध से काल का अतीतादिपना सिद्ध होवेगा, और उसके सिद्ध होने पर क्रियाओ का अतीतत्व सिद्ध होगा, इसतरह दोनो असिद्ध की कोटि मे आ जायेगे। कालद्रव्य मे अतीतकाल, अनागतकाल इत्यादि भेद स्वतः ही होता है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो ठीक नही है, निरश–अवयव रहित ऐसे कालद्रव्य मे अतीतपना, वर्त्तमानपना इत्यादि भेद मूलक धर्म होना असभव है । निरशत्व और भेदरूपत्व इनमे विरोध है ।

कालद्रव्य को निरश मानने से यौगपद्य आदि प्रत्यय होना भी सिद्ध नही होगा, इसी को आगे स्पष्ट करते है—जो कार्यसमूह होता है वह यदि एक ही काल मे किया हुआ होता है तो उसको "एक माथ किया" ऐसा कहते हैं, अथवा एक ही काल

चिरक्षिप्रव्यवहाराभावश्चैवंवादिन.। यत्खलु बहुना कालेन कृतं तच्चिरेण कृतम्। यच्च स्वल्पेन कृतं तत्क्षिप्र कृतमित्युच्यते। तच्चैतदुभयं कालैकत्वे दुर्घटम्।

ननु चैकत्वेपि कालस्योपाधिभेदाद्भेदोपपत्तेर्न यौगपद्यादिप्रत्ययाभावः। तदुक्तम्–"मणिवत्पाचकवद्वोपाधिभेदात्कालभेद." [ ] इति; तदप्ययुक्तम्; यतोऽत्रोपाधिभेद: कार्यभेद एव। स च 'युगपत्कृतम्' इत्यत्राप्यस्त्येवेति किमित्ययुगपत्प्रत्ययो न स्यात्? अथ क्रमभावी कार्यभेदः

मे किया ऐसा कहते हैं। जब काल सर्वथा एक रूप है तब निखिलकार्य एक समय मे उत्पन्न करने योग्य हो जाने से एक काल मे ही उत्पन्न हो जायेगे अतः कोई भी कार्य क्रम से करने योग्य नही रहेगा।

जो कालद्रव्य को निरश नित्य मानते है उन वैशेषिक के यहां चिरक्षिप्र काल का व्यवहार भी सिद्ध नही हो पाता है, क्योकि जो बहुत समय द्वारा कार्य होता है उसको चिर काल मे हुआ ऐसा कहते हैं, और जो अल्प समय द्वारा किया जाता है उस कार्य को क्षिप्र किया ऐसा कहते हैं। ये दोनों तरह के कार्य काल को एक रूप मानने पर सिद्ध नही हो सकते है।

वैशेषिक—कालद्रव्य यद्यपि सर्वथा एक रूप है तो भी उपाधियो मे भेद होने के कारण उसमें भेद हो जाता है, अतः यौगपद्यादि प्रत्ययो का अभाव नही होगा। कहा भी है—"मणिवत् पावकवत् वा उपाधिभेदात् काल भेद:" जिसप्रकार स्फटिकमणि एक रहता है किन्तु जपाकुसुम की उपाधि से लाल, तमाल पुष्प को उपाधि से कृष्ण इत्यादि अनेक रूप बन जाता है। अथवा अग्नि एक है किन्तु नाना प्रकार के काष्ठ के सयोग से अनेकरूप कहलाने लगती है कि यह खदिरकी अग्नि है, यह तृण की अग्नि है इत्यादि, इसीप्रकार कालद्रव्य एक है किन्तु पदार्थ के उपाधि से उसमे भेद हो जाता है?

जैन—यह कथन भी अयुक्त है, स्फटिक मणि आदि का उदाहरण दिया है उसमे जो उपाधिभेद कहा वह कार्य का भेद कहलाता है, ऐसा कार्य भेद तो "युगपत् कृत" एक साथ किया ऐसे कथन मे भी होता है, फिर अयुगपत् प्रत्यय क्यो नही होता है?

वैशेषिक—कार्यो का जो भेद होता है वह क्रमभावी होता है अतः उससे अतीतकाल इत्यादि काल भेद का व्यवहार बन जाता है?

कालभेदव्यवहारहेतु । ननु कोस्य क्रमभावः ? युगपदनुत्पादश्चेत्; 'युगपदनुत्पाद.' इत्यस्य भाषितस्य कोर्थः ? एकस्मिन्कालेऽनुत्पादः; सोयमितरेतराश्रयः-यावद्धि कालस्य भेदो न सिद्धयति न तावत्कार्याणा भिन्नकालोत्पादलक्षण क्रमः सिध्यति, यावच्च कार्याणा क्रमभावो न सिध्यति न तावत्कालस्योपाधिभेदाद्भेदः सिध्यतीति । ततः प्रतिक्षण क्षणपर्यायः कालो भिन्नस्तत्समुदायात्मको लवनिमेषादिकालश्च । तथा चैककालमिद चिरोत्पन्नमनन्तरोत्पन्नमित्येवमादिव्यवहार स्यादुपपन्नो नान्यथा।

एतेन परापरव्यतिकरः कालैकत्वे प्रत्युक्तः, तथाहि-भूम्यवयवैरालोकावयवैर्वा बहुभिरन्तरित वस्तु विप्रकृष्ट परमिति चोच्यते स्वल्पैस्त्वन्तरित सन्निकृष्टमपरमिति च । तथा बहुभिः क्षणैरहो-

---

जैन—क्रमभाव किसे कहते हैं ? एक साथ उत्पन्न नही होने को क्रमभाव कहते हैं ऐसा कहो तो पुनः प्रश्न होता है कि "युगपत् अनुत्पाद." एक साथ उत्पन्न नही होना इस वाक्य का अर्थ क्या होगा ? एक काल मे उत्पन्न नही होना अनुत्पाद रहना इस तरह अर्थ करो तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, जब तक काल का भेद सिद्ध नही होता, तब तक कार्यो का भिन्न काल मे उत्पन्न होना रूप क्रम सिद्ध नही होगा, और जब तक कार्यों का क्रमभाव सिद्ध नही होता है, तब तक कालका उपाधि के भेद से होने वाला भेद सिद्ध नही होगा । इसतरह तो दोनो असिद्ध रहेगे । इस तरह के दोष को दूर करने के लिए कालद्रव्य को अनेक रूप ही मानना चाहिए । प्रत्येक क्षण मे जिसमे क्षणिक पर्याय होती है वह कालाणुरूप कालद्रव्य है, यह एक भिन्न काल है और उस क्षण क्षण की पर्यायो का समूह स्वरूप लव, निमेष, मुहूर्त्त आदि काल एक भिन्न काल है ऐसा निश्चय होता है, जब इसतरह मुख्य काल और व्यवहार काल ऐसे काल के भेद स्वीकार करेगे तभी एक काल मे सब कार्य हो गये, यह कार्य अधिक समय मे सम्पन्न हुआ । यह पढना रूप कार्य भोजन के अनन्तर हुआ इत्यादि व्यवहार प्रवृत्त हो सकता है अन्यथा नही हो सकता ।

काल द्रव्य को एक रूप मानने से जैसे यौगपद्य आदि प्रत्यय नही हो पाते वैसे परापर-व्यतिकर भी नही हो सकता है, अर्थात् यह पर-अधिक समय का है, यह अपर-अल्प समय का है इत्यादि ज्ञान सर्वथा एक कालद्रव्य द्वारा होना असम्भव है । आगे इसी विषय का उदाहरण देते हैं—पृथिवी के बहुत से अवयवो से अतरित कोई पदार्थ रखा है, अथवा प्रकाश के बहुत से अवयवो से अतरित पदार्थ रखा है, उस वस्तु को विप्रकृष्ट या पर कहते है । तथा पृथिवी के स्वल्प अवयवादि से अतरित पदार्थ को

रात्रादिभिर्व्यन्तरित विप्रकृष्ट परमिति चोच्यते स्वल्पैस्त्वन्तरितं सन्निकृष्टमपरमिति च। बह्वल्पभावश्च गुरुत्वपरिमाणादिवदपेक्षानिबन्धन कालैकत्वे दुर्घट इति।

यौगपद्यादिप्रत्ययाविशेषात् कालस्यैकत्वे च गुरुत्वपरिमाणादेरप्येकत्वप्रसगस्तुल्याक्षेपसमाधानत्वात्। ततो गुरुत्वपरिमाणादेरनेकगुणरूपतावत्कालस्यानेकद्रव्यरूपताभ्युपगन्तव्या।

सन्निकृष्ट अथवा अपर कहते है, इसी प्रकार बहुत से क्षणो द्वारा, अथवा बहुत से दिन रातो द्वारा अतरित हुए पदार्थ को विप्रकृष्ट या पर कहते है, और स्वल्प क्षणादि से अतरित पदार्थ को सन्निकृष्ट या अपर कहते है, भावार्थ यह हुआ कि जिस वस्तु को उत्पन्न हुए अधिक समय व्यतीत हुआ है उसे अधिक समयवाली, पुरानी इत्यादि रूप से कहते है और जिसको हुए अल्प समय व्यतीत हुआ है उसे नवीन ऐसा कहते है। यह जो अल्प बहुत्वका भाव है वह गुरुत्व लघुत्व आदि के समान अपेक्षणीय होता है, अर्थात्—यह वस्त्र उस चौकी से लघु-हलका है, यह पेन्सिल उस पेन से गुरुतर है इत्यादि व्यवहार वस्तु को एक रूप मानने पर बन नही सकता, ऐसे ही बहुत समय का अल्प समय का इत्यादि व्यवहार काल द्रव्य को सर्वथा एक रूप मानने पर नही बनता है।

यदि कोई शका करे कि युगपत्–एक समय मे होना, अयुगपत् होना इत्यादि प्रतीति मे अविशेषता है अत. काल द्रव्य को एक मानने मे बाधा नही है ? तो फिर गुरुत्व और लघुत्व आदि परिमाण मे अविशेषता है अतः इनमे एकत्व या अभेद मानना चाहिए। आक्षेप और समाधान दोनो जगह समान रहेगे। कहने का अभिप्राय यही है कि यदि आप वैशेषिक गुरुत्वादि परिमाण मे प्रत्येक पदार्थ की अपेक्षा भेद होना मानते हैं तो काल द्रव्य मे भी अतीतादि पदार्थ की अपेक्षा तथा यौगपद्यादि प्रतीति की अपेक्षा भेद होना मानना ही पड़ेगा, अन्यथा गुरुत्व आदि परिमाण मे भी भेद को नही मान सकते। निरश, नित्य एक ऐसे काल द्रव्य मे भूत, भविष्यत वर्त्तमानादि भेद होना असंभव है और जहां काल मे अतीतादि भेद नही है वहा उसके निमित्त मे होने वाला अतीत कालीन पदार्थ, वर्त्तमान कालीन पदार्थ इत्यादि भेद भी सर्वथा असंभव है। अत. जिस तरह गुरुत्व [भारी] आदि परिमाण को अनेक गुणरूप स्वीकार करते है उसी तरह काल द्रव्य को भी अनेक द्रव्य रूप स्वीकार करना चाहिए।

ये तु वास्तवं कालद्रव्य नाभ्युपगच्छन्ति तेषा परापरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययानामभावः स्यात्। न खलु ते निर्निमित्ता., कादाचित्कत्वाद्घटादिवत्। नाप्यविशिष्टनिमित्ता:; विशिष्टप्रत्ययत्वात्। न च दिग्गुणजातिनिमित्तास्ते, तज्जातप्रत्ययवैलक्षण्येनोपपत्ते । तथा हि–अपरदिग्व्यवस्थितेऽप्रशस्तेऽधमजातीये स्थविरपिण्डे 'परोयम्' इति प्रत्ययो दृश्यते। परदिग्व्यवस्थिते चोत्तमजातीये प्रशस्ते यूनि पिण्डे अपरोयम्' इति प्रत्ययो दृश्यते।

अथादित्यादिक्रिया तन्निमित्तम्; जन्मतो हि प्रभृत्येकस्य प्राणिन आदित्यवर्तनानि भूयासीति

मीमामक आदि परवादी तो वास्तविक काल द्रव्य नही मानते है, सो उनके मत मे पर–अपर, यौगपद्य–अयौगपद्य, चिर–क्षिप्र ये प्रत्यय अर्थात् ज्ञान होना असभव है। ये जो प्रतीतिया हुआ करती है वे कारण के बिना नही हो सकती क्योकि ये ज्ञान कभी कभी हुआ करते है, जो कभी कभी होता है उसका निमित्त अवश्य होता है, जैसे घटादि पदार्थ कभी कभी होते हैं अत· मिट्टी कुम्हारादि के निमित्त से होते हैं। ये परापर प्रत्यय अविशिष्ट–साधारण कारणो से भी नही हो सकते क्योकि ये विशिष्ट प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययो का निमित्त दिशा, गुण अथवा जाति भी नही हो सकता, क्योकि दिशा आदि के निमित्त से होने वाले प्रत्ययो से ये परापरादि प्रत्यय विलक्षण हुआ करते है। उसी को उदाहरण देकर समझाते है—निकटवर्त्ती दिशा मे कोई पुरुष बैठा है वह निकृष्ट गुणवाला है और अधम जाति वाला चाडाल है किन्तु वृद्ध है तो उस पुरुष मे "परोऽय" यह अधिक आयु वाला–बडा है ऐसा ज्ञान हुआ करता है, और कोई पुरुष दूर दिशा मे बैठा है उत्कृष्ट गुणवान है तथा उत्तम जाति का है ऐसे युवक मे "अपरोऽय" यह अल्पायु वाला छोटा है ऐसा ज्ञान होता है, सो यह प्रतीति यदि दिशा के निमित्त से होती तो निकट वाले पुरुष मे "पर है" ऐसा ज्ञान नही होना था, तथा गुण के निमित्त से होती तो उक्त पुरुष मे "परोऽय" बडा है ऐसा ज्ञान नही होना चाहिए था, एव जाति निमित्तक यह प्रत्यय होता तो चाडालादि मे "परोय" ऐसा ज्ञान नही होता किन्तु उस दिन निकटवर्ती पुरुष मे परोऽय–बडा है ऐसा ज्ञान होता है अत. इस ज्ञान का निमित्त दिशादि न होकर असाधारण निमित्त स्वरूप काल द्रव्य ही है।

शंका—जो परापर प्रत्यय चाडालादि पुरुष मे होता है उसमें काल द्रव्य निमित्त न होकर सूर्यगमन आदि निमित्त है, जिस किसी एक प्राणी के जन्म से लेकर

परत्वमन्यस्य चाल्पीयासीत्यपरत्वम् । नन्वेवं कथ यौगपद्यादिप्रत्ययप्रादुर्भाव एकस्मिन्नेवादित्यपरिवर्त्तने सर्वेषामुत्पादात् ? तथाव्यपदेशाभावाच्च; 'युगपत्काल:' इति हि व्यपदेशो न पुनः 'युगपदादित्यपरिवर्त्तनम्' इति ।

आज तक सूर्य के गमनागमन रूप परिवर्त्तन बहुत हुए हो उस पुरुष मे "परोऽय" यह बडा है ऐसा प्रत्यय होता है, और जिस पुरुष के वे सूर्य परावर्त्तन अल्प हुए है उस पुरुष मे "अपरोऽयं" यह छोटा है ऐसा प्रत्यय होता है ?

समाधान—यदि ऐसी बात है तो एक ही सूर्य परावर्त्तन मे सभी का उत्पाद होने से अयुगपत् आदि प्रत्यय किस प्रकार हो सकेगे ? तथा उसप्रकार का सज्ञा व्यवहार भी नही होता, युगपत् कालः ऐसी सज्ञा होती न कि युगपत् आदित्य परिवर्त्तनं ऐसी संज्ञा होती है...?

विशेषार्थ—परापर प्रत्यय, युगपत् अयुगपत् होना इत्यादि प्रत्यय काल-द्रव्य को नही मानने पर सिद्ध नही होते है । वैशेषिक काल द्रव्य को मानकर भी उसको एक रूप, नित्य मानता है उस पक्ष का खण्डन करने के अनन्तर जो मीमासकादि परवादी काल द्रव्य का अस्तित्व ही नही मानते है उनका निराकरण करते हुए जैनाचार्य कहते है कि यह पर है इत्यादि प्रतिभास दिशा, गुण या जाति विषयक नही होता है किन्तु काल विषयक होता है, कोई पुरुष निकट मे बैठा है वह चाडाल है, किंतु वृद्ध है—उसमे "परः अय" ऐसा व्यवहार होता है वह दिशा विषयक होता तो निकट मे बैठे पुरुष मे "परोय" ऐसा व्यवहार नही होता, अपितु "अपरोय" ऐसा व्यवहार होता । तथा जाति विषयक होता तो हीन जातीय होने से "अपर है" ऐसा कहते, एव गुण विषयक होता तो वह चाडाल गुण हीन होने के कारण "अपर है" ऐसा व्यवहार होता । इससे निश्चय होता है कि निकट बैठे हुए गुण हीन वृद्ध चांडाल में "परोय-बडा है" इस तरह का प्रतिभास होने का कारण काल द्रव्य ही है । इस पर मीमांसक ने शंका उठाई कि—परापर प्रत्यय [छोटा बडा मनुष्य या दीर्घायु अल्पायु मनुष्य] सूर्य के गमन द्वारा हो जाया करता है, जिस किसी मनुष्यादि के जन्म से लेकर अभी तक बहुत से सूर्य गमन निमित्तक दिन रात हो चुके है उस मनुष्य को परोयं—यह बड़ा है ऐसा कह देते है अथवा उसमे वैसा प्रतिभास या ज्ञान होता है, तथा जिस मनुष्य के जन्म

न च क्रियैव कालः, अस्या. क्रियारूपतयाऽविशेषतो युगपदादिप्रत्ययाभावानुषङ्गात्। तस्य चोक्तकार्यनिर्वर्त्तकस्य कालस्य 'क्रिया' इति नामान्तरकरणे नाममात्र भिद्येत।

न च कर्तृकर्मणी एव यौगपद्यादिप्रत्ययस्य निमित्तम्; यतो यौगपद्यं बहूना कर्तृणा कार्ये व्यापारो 'युगपदेते कुर्वन्ति' इति प्रत्ययसमधिगम्यः। बहूना च कार्याणामात्मलाभो 'युगपदेतानि कृतानि' इति प्रत्ययसमधिगम्य। न चात्र कर्तृमात्र कार्यमात्र वालम्बनमतिप्रसङ्गात्। यत्र हि क्रमेण

से लेकर अभी तक बहुत से सूर्य के गमनागमन नही हुए है उसको "अपरोय यह छोटा है" इस तरह का ज्ञान होता है। तब जैन ने समाधान दिया कि परापर प्रत्यय के लिए तो आपने मार्ग निकाल लिया किंतु यौगपद्य–अयौगपद्य इत्यादि प्रत्यय किस प्रकार सिद्ध हो सकेंगे। सूर्य के गमनागमन एक साथ बहुत से नही हो सकते है, फिर यौग-पद्यादि प्रत्यय किस प्रकार हो सकेंगे। उसके लिए तो काल द्रव्य ही निमित्त हो सकता है। इस प्रकार काल द्रव्य की सिद्धि हो जाती है।

क्रिया ही काल है ऐसा कहना भी शक्य नही, क्रिया तो क्रिया रूप से अविशेष रहती है उससे यौगपद्य आदि प्रत्यय कैसे हो सकते है? अर्थात्—नही हो सकते हैं। यदि कोई यौगपद्यादि प्रत्यय को करने वाले काल को क्रिया ऐसी संज्ञा रखे तो यह केवल नाम का भेद हुआ।

कर्त्ता और कर्म [कार्य] ही यौगपद्य आदि प्रतीति का निमित्त है ऐसा कहना भी युक्त नही, क्योकि बहुत से कर्त्ताओ का कार्य मे व्यापार होना—ये पुरुष युगपत्–एक साथ कर रहे है इस प्रकार की प्रतीति द्वारा यौगपद्य गम्य होता है, एव बहुत से कार्यों का युगपत् होना—ये कार्य युगपत्-एक साथ किये इस प्रकार की प्रतीति द्वारा यौगपद्य गम्य होता है, इस यौगपद्य प्रतिभास का विषय केवल कर्त्ता या कर्म [कार्य] नही हैं यदि ऐसा माने तो अतिप्रसग होगा। क्योकि जहा पर क्रम से कार्य होता है वहा पर भी कर्त्ता कर्म का सद्भाव होने से यह प्रतिभास होना चाहिए किन्तु वहा ऐसा [युगपत् किया ऐसा यौगपद्य] प्रतिभास नही होता है। तथा ये कर्त्तापुरुष अयुगपत्-क्रम क्रम से कार्य करते है, अयुगपत्-क्रम से इस कार्य को किया इत्यादि अयुगपत् क्रमिक प्रतिभास भी केवल कर्त्ता और कर्म विषयक नही है, क्योकि ऐसा मानने मे वही पूर्वोक्त अतिप्रसग

कार्यं तत्रापि कर्तृकर्मणोः सद्भावात्स्यादेतद्विज्ञानम्, न चैवम् । यथाऽ(तथाऽ)यौगपद्यप्रत्ययोप्ययुगपदेते कुर्वन्तीति, अयुगपदेतत्कृतमिति नाविशिष्टं कर्तृकर्ममात्रमालम्बतेऽतिप्रसङ्गादेव । अतस्तद्विशेषणं कालोऽभ्युपगन्तव्यः । कथमन्यथा चिरक्षिप्रव्यवहारोपि स्यात् ? एक एव हि कर्त्ता किञ्चित्कार्यं चिरेण करोति व्यासङ्गादनर्थित्वाद्वा, किञ्चित्तु क्षिप्रमर्थितया । तत्र 'चिरेण कृत क्षिप्र कृतम्' इति प्रत्ययौ विशिष्टत्वाद्विशिष्ट निमित्तमाक्षिपत इति कालसिद्धि ।

लोकव्यवहाराच्च, प्रतीयन्से हि प्रतिनियत एव काले प्रतिनियता वनस्पतय पुष्यन्तीत्यादि

आता है । अतः युगपत् करते है, युगपत् किया इत्यादि प्रतिभासो का विषय काल है ऐसा स्वीकार करना चाहिए । दूसरी बात यह है कि केवल कर्त्ता और कर्म के निमित्त से यौगपद्य का प्रतिभास होता है तो चिर तथा क्षिप्र का व्यवहार किस प्रकार सभव होगा ? क्योकि व्यासगवश या अनिच्छा के कारण एक ही कर्त्तापुरुष किसी कार्य को चिरकाल से [अधिक समय लगाकर] करता है और इच्छा होने से किसी कार्य को शीघ्र करता है । उक्त कार्यो मे, अधिक समय मे किया एवं शीघ्र किया ऐसे दो विशिष्ट प्रतिभास होते है अत· ये प्रतिभास विशिष्ट निमित्त को ही सिद्ध कर रहे है वह विशिष्ट काल ही है इस प्रकार काल द्रव्य की निर्बाध सिद्धि होती है ।

भावार्थ—कोई परवादी यौगपद्य आदि प्रतिभास कालद्रव्य द्वारा न मानकर कर्त्ता कर्म द्वारा मानते है । यह मान्यता सर्वथा असिद्ध है यदि कर्त्ता और कर्म निमित्तक यौगपद्य प्रतिभास होता तो जहा पर क्रम से कार्य हो रहा है वहां पर यौगपद्य प्रतिभास होना चाहिए, क्योकि उसका निमित्त कर्त्ता कर्म वहा पर है । तथा जहा पर अयौगपद्य प्रतिभास होता है वहां पर भी कर्त्ता एव कर्म अवस्थित है जो जब उभयत्र समान रूप से कर्त्ता कर्म मौजूद है तो किस कारण से कही यौगपद्य प्रतिभास और कही अयौगपद्य प्रतिभास होता है ? अतः ज्ञात होता है कि यौगपद्य आदि प्रतिभास केवल कर्त्ता कर्म के निमित्त से नही होते, इन प्रतिभासो का कोई विशिष्ट कारण अवश्य है, जो विशिष्ट कारण है वही काल द्रव्य है ।

काल द्रव्य की सिद्धि लोक व्यवहार से भी भली प्रकार से हो जाती है, अब इसीको कहते है—प्रतिनियत समय मे प्रतिनियत वनस्पतियां फल शाली हो जाया करती हैं, वसत ऋतु मे आम्र पर बौर आता है, इत्यादि व्यवहार को व्यवहारी जन

व्यवहार कुर्वन्तो व्यवहारिणः । यथा वसन्तसमये एव पाटलादिकुसुमानामुद्भवो न कालान्तरे। इत्येवं कार्यान्तरेष्वप्यभ्यूह्यम् 'प्रसवनकालमपेक्षते' इति व्यवहारात् । समयमुहूर्त्तयामाहोरात्रार्द्धमासर्त्वयन-

---

किया ही करते हैं, वसन्त मे ही पाटल आदि वृक्ष के पुष्प उत्पन्न हुआ करते हैं, अन्य समय मे नही आते है, इसी तरह अन्य अन्य ऐसे बहुत से कार्य है जो अपने निश्चित काल मे ही सम्पन्न हुआ करते है, इनका उदाहरण यथा सभव समझ लेना चाहिए। लोक मे भी कहते है कि यह काम उत्पत्ति समय की अपेक्षा कर रहा है, जब समय आवेगा तब हो जावेगा इत्यादि ।

विशेषार्थ—काल द्रव्य की सिद्धि मीमासक को करके दिखाना है, उसके लिये आचार्य अनेक तरह से समझा रहे है, लोक व्यवहार मे काल, समय इत्यादि काल वाचक शब्दो का प्रयोग बहुत ही अधिक रूप से पाया जाता है, वह सहज ही काल द्रव्य का अस्तित्व बता देता है । बहुत सी वनस्पतिया अपने अपने ऋतु मे ही फलती, फूलती हैं । आम वसत मे मजरी युक्त होता है, निंब मे बौर चैत्र मे आता है । शरद ऋतु मे ही सप्तपर्ण नाम के वृक्ष पुष्पित हो जाते है । यहा तक देखने मे आता है कि प्रतिदिन पुष्प का विकसित होना भी अपने निश्चित समय पर ही होता है, दुपहरिया नाम का फूल ठीक दुपहर मे खिलता है, कृष्ण कमल नामक नीला सफेद पुष्प ठीक दिन के दस बजे ही खिलता है इसके पहले खिल नही सकता । निशिगध का पुष्प ठीक श्याम की सध्या खिली कि खिल उठता है । रात रानी तो प्रसिद्ध है यह रात मे ही महकती है । बहुत सी वनस्पतियो का कहा से कब तक पुष्प देना या फल देना है यह भी निश्चित रहता है, इन सब का कहा तक उदाहरण देवे ! हजारो वनस्पति ऐसी हैं जिनका पुष्प फल आने का समय नियत है अतः ये काल द्रव्य की अनुमापक है—काल द्रव्य की सिद्धि करने वाली हैं । वनस्पति के समान और भी जगत के अधिकतर कार्य कालानुसार ही हुआ करते हैं । अतिबाला, अतिवृद्धा स्त्री पुत्र को उत्पन्न नही कर सकती, पुत्रोत्पत्ति का समय भी निर्धारित है । जगत मे बात बात मे कहते रहते हैं कि समय नही है, जब समय आयेगा तब कार्य होगा, इस कार्य का समय निकल चुका इत्यादि, सो इन सब उदाहरणो से काल द्रव्य की सिद्धि हो जाती है । जगत मे काल के भेद भी बहुत से पाये जाते हैं—समय, मुहूर्त्त, प्रहर, अहोरात्र, पक्ष, महिना, ऋतु, अयन, वर्ष इत्यादि काल व्यवहार साक्षात् दिखायी देता है इससे भी काल द्रव्य सिद्ध

संवत्सरादिव्यवहाराच्च तत्सिद्धि । तन्न परपरिकल्पित कालद्रव्यमपि घटते ।

होता है, अतः मीमासकादि परवादी काल द्रव्य का निषेध नही कर सकते । वैशेषिक काल द्रव्य को मानता अवश्य है किंतु निरश, नित्य, व्यापक एक रूप मानता है अतः उस काल द्रव्य की सिद्धि होना अशक्य है । काल द्रव्य तो अनेकरूप—असख्यात कालाणुरूप है, संपूर्ण लोकाकाशों मे एक एक प्रदेश पर एक एक अवस्थित है, अमूर्त्त है, वही निश्चय या मुख्यकाल द्रव्य है, घड़ी, मुहूर्त्त, दिवस, वर्ष, सागर, पल्य इत्यादि उस मुख्य काल की पर्यायों का समूह है, इसे व्यवहार काल कहते है, यह काल सूर्य, चन्द्र आदि के गमनागमन से प्रगट होता है, सूर्य आदि ज्योतिषी देवो के विमानो का भ्रमण केवल ढाई द्वीप मे है अतः यहां पर तो व्यवहार काल अनुभव मे आता है, किंतु अन्यत्र द्वीप समुद्र, या ऊर्ध्वादि लोक मे ज्योतिषी का भ्रमण नही होने से प्रतीत नही होता. किंतु काल द्रव्य सर्वत्र लोक मे होने से परापर प्रत्यय या वर्त्तना आदि होते ही रहते है । इस प्रकार वैशेषिक के अभिमत काल द्रव्य का निराकरण करके वास्तविक कालद्रव्य की सिद्धि की गयी है ।

।। कालद्रव्यवाद समाप्त ।।

यौग के काल द्रव्य के खंडन का सारांश

यौग—यह पर-बहुत काल का पुराना है, यह अपर-नया है इत्यादि चिह्नों से काल द्रव्य की सिद्धि होती है। देश और दिशा निमित्तक परत्व अपरत्व भिन्न जातीय है, अर्थात् देश आदि के निमित्त से होने वाला पर अपर का प्रतिभास पृथक् है और काल के निमित्त से होने वाला पर अपर का प्रतिभास पृथक् है। जैसे एक स्थान मे पिता पुत्र दोनो स्थित है तो भी उनमे पिता मे तो पर-बडा है ऐसा प्रतिभास होता है एव पुत्र मे अपर छोटा है ऐसा प्रतिभास होता है, यदि देश, दिशा के निमित्त से होने वाला परत्व अपरत्व और काल के निमित्त से होने वाला परत्व-अपरत्व एक ही होता तो उक्त पिता पुत्र मे एकरूप प्रतिभास होता। हम इस काल द्रव्य को सर्वथा नित्य, एकरूप एव व्यापक मानते है।

जैन—इस प्रकार का कालद्रव्य सिद्ध नही हो सकता। परत्व अपरत्व आदि चिह्नो से काल द्रव्य सिद्ध होगा किन्तु वह एक रूप न होकर अनेक रूप सिद्ध होगा। क्योकि काल को एकरूप मानने से अतीतकाल, अनागतकाल इत्यादि भेद व्यवहार नही होगा। केवल सूर्यगमन मे अतीतादि काल भेद हो जाना भी शक्य नही। मीमासक आदि तो कालाणुरूप मुख्य काल को नही मानते केवल मुहूर्तादिरूप व्यवहार काल मानते हैं किंतु मुख्य काल के बिना गौणरूप यह काल भी सिद्ध नही होगा। कोई क्रिया को ही काल मानते है, एक साथ किया, क्रम से किया इत्यादि क्रियामूलक ही युगपत् आदि काल व्यवहार होता है ऐसी किसी की जो मान्यता है वह सर्वथा असत्य है। इस प्रकार अमूर्त्त अणुस्वरूप काल द्रव्य के विषय मे विविध मान्यता है जो प्रमाण से सिद्ध नही होती। आगम आदि प्रमाणो द्वारा तो काल द्रव्य असख्यात सख्या वाला एक एक आकाश प्रदेश मे स्थित अणुरूप है, अमूर्त्त है। घडी मुहूर्त्त दिन आदि व्यवहार काल मुख्य काल का द्योतक है।

॥ कालद्रव्यवाद का साराश समाप्त ॥

नापि दिग्द्रव्यम्; तत्सद्भावे प्रमाणाभावात्। यच्च दिश: सद्भावे प्रमाणमुक्तम्–"मूर्तेष्वेव द्रव्येषु मूर्त्तद्रव्यमवधिं कृत्वेदमत: पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेणाऽपरोत्तरेणोत्तरपूर्वेणाधस्तादुपरिष्टादित्यमी दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिग्" [प्रश० भा० पृ० ६६] इति। तथा च सूत्रम्–"अत इदमिति यतस्तद्दिशो लिङ्गम्" [वैशे० सू० २।२।१०] तथा च दिग्द्रव्य-

---

वैशेषिक द्वारा परिकल्पित दिशा नामा द्रव्य भी सिद्ध नही होता है। दिशा वास्तविक पदार्थ है इस बात को बतलाने वाला प्रमाण नही है। वैशेषिक दिशाद्रव्य का आस्तित्व बतलाने के लिए निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित कर अपना पूर्व पक्ष रखते हैं।

वैशेषिक—दिशाद्रव्य की सिद्धि हमारे ग्रन्थ से हो जाती है "मूर्त्तेष्वेव द्रव्येषु मूर्त्तद्रव्यमवधिं कृत्वेदमत. पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण, पूर्व दक्षिणेन, दक्षिणापरेण, अपरोत्तरेण, उत्तरपूर्वेण, अधस्तात्, उपरिष्टात्, इति अमी दश प्रत्यया यतो भवंति सा दिग्" [प्रशस्त भाष्य पृ ६६] तथा च सूत्रं–"अतः इदं इति यत: तद दिशो लिग" केवल मूर्त्तिक द्रव्यो मे मूर्त्तद्रव्य की अवधि करके "यह इसके पूर्व मे है" ऐसा ज्ञान

मितरेभ्यो भिद्यते दिगिति व्यवहर्त्तव्यम्, पूर्वादिप्रत्ययलिङ्गत्वात्, यत्तु न तथा न तत्पूर्वादिप्रत्ययलिंगम् यथा क्षित्यादि, तथा चेदम्, तस्मात्तथेति । न चैते प्रत्यया निर्निमित्ता, कादाचित्कत्वात् । नाप्यविशिष्टनिमित्ताः; विशिष्टप्रत्ययत्वाद्दण्डीतिप्रत्ययवत् । न चान्योन्यापेक्षमूर्तद्रव्यनिमित्ता, परस्पराश्रयत्वेनोभयप्रत्ययाभावानुषङ्गात् । ततोऽन्यनिमित्तोत्पाद्यत्वासम्भवादेते दिश एवानुमापकाः । प्रयोगः-

---

जिससे हो अथवा यह इससे दक्षिण मे है, पश्चिम मे है, उत्तर मे है, या पूर्व तथा दक्षिण की बीच की दिशा आग्नेय मे है, वायव्य मे है, नैऋत्य मे है, ईशान मे है, अथवा यह ऊपर है, यह नीचे है, इस प्रकार दस प्रकार के प्रतिभास जिसके द्वारा हुआ करते है वह दिशाद्रव्य है । तथा वैशेषिक सूत्र मे भी कहा है कि "यहा से यह है" इस प्रकार का ज्ञान जिस हेतु से होता है वही दिशा की सिद्धि करने वाला हेतु है । इसतरह आगम से प्रसिद्ध होने पर वह दिशाद्रव्य अनुमान से भी सिद्ध हो जाता है; अब हम वही अनुमान प्रमाण उपस्थित करते है—दिशा नामा द्रव्य अन्य द्रव्यो से भिन्न है [पक्ष] क्योकि "दिशा इस नाम से व्यवहार मे आने योग्य होकर पूर्व, पश्चिम इत्यादि प्रतिभासो का कारण है [हेतु] जो इसतरह के व्यवहार का कारण नही होता वह पूर्वादि प्रतिभास का कारण नही होता, जैसे पृथ्वी आदि द्रव्य दिशा नाम से व्यवहृत नही होते अतः पूर्वादि प्रतिभास का कारण नही है, [दृष्टात] दिशा इस नाम से व्यवहार मे यह द्रव्य आता है इसलिये पूर्वादिप्रत्यय का कारण हैं । यह पूर्वादिका प्रतिभास बिना निमित्त के हो नही सकता है, यदि बिना निमित्त के होता तो हमेशा होता किंतु यह तो कभी कदाचित् होता है । इन पूर्वादि प्रत्ययो का साधारण कारण आकाशादि हो सो भी बात नही है, क्योकि ये प्रत्यय विशिष्ट है, जैसे कि दण्डी "यह दण्डावाला है" इत्यादि प्रत्यय विशिष्ट कारण से होते है । पूर्वादि-प्रत्ययो का कारण आपस मे एक दूसरे की अपेक्षा से मूर्त्तिक द्रव्य ही हुआ करते हैं, ऐसा कोई कहे तो वह भी ठीक नही, इसतरह से परस्पराश्रय दोष आयेगा और उभयप्रत्ययो का ही अभाव होगा; अर्थात् किसी एक वस्तु के पूर्वत्व सिद्ध होने पर उसकी अपेक्षा से दूसरी वस्तु का पश्चिमत्व सिद्ध होगा, और जब वह पश्चिम की सिद्धि होगी तब पहली वस्तु पूर्व को सिद्ध हो सकेगी, ऐसे दोनो के प्रत्ययो का अभाव होवेगा । इसप्रकार इन पूर्वादि प्रत्ययो का अन्य कारण दिखायी नहीं देता अत वे प्रत्यय दिशा के अनुमापक बनते है, दिशाद्रव्य को ही सिद्ध कर देते है । वही अनुमान प्रस्तुत करते हैं—यह जो

यदेतत्पूर्वापरादिज्ञानं तन्मूर्त्तद्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धन तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्सुखादिप्रत्ययवत् । विभुत्वैकत्वनित्यत्वादयश्चास्या धर्मा , कालवदवगन्तव्या । तस्याश्चैकत्वेपि प्राच्यादिभेदव्यवहारो भगवत: सवितुर्मेरु प्रदक्षिणमावर्त्तमानस्य लोकपालगृहीतदिक्प्रदेशै संयोगाद्घटते ।

तदप्यसमीचीनम्; प्रोक्तप्रत्ययानामाकाशहेतुकत्वेनाकाशाद्दिशोऽर्थान्तरत्वासिद्धे: । तत्प्रदेशश्रेणिष्वेव ह्यादित्योदयादिवशात्प्राच्यादिदिग्व्यवहारोपपत्तेर्न तेषा निर्हेतुकत्व नाप्यविशिष्टपदार्थहेतुकत्वम् । तथाभूतप्राच्यादिदिक्सबन्धाच्च मूर्त्तद्रव्येपु पूर्वापरादिप्रत्ययविशेषस्योत्पत्तेर्न परस्परापेक्षया मूर्त्तद्रव्याण्येव तद्धेतवो येनैकतरस्य पूर्वत्वासिद्धावन्यतरस्यापरत्वासिद्धि, तदसिद्धौ चैकतरस्य पूर्वत्वायोगादितरेतराश्रयत्वेनोभयाभाव स्यात् ।

पूर्व आदि का ज्ञान होता है वह मूर्त्त द्रव्य के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ के कारण से होता है, क्योंकि मूर्त्त पदार्थ के प्रत्यय से यह प्रत्यय विलक्षण है; जैसे सुख दु खादि के प्रत्यय मूर्त्तद्रव्य के प्रत्यय से विलक्षण है । यह दिशाद्रव्य भी कालद्रव्य के समान विभु—व्यापक है, तथा नित्य एकत्व आदि धर्मयुक्त है । इस एक ही दिशाद्रव्य के पूर्व दिशा; पश्चिम दिशा इत्यादि जो भेद होते है वे तो भगवान् सूर्य के मेरु की प्रदक्षिणा रूप से घूमने से लोकपाल द्वारा ग्रहण किये गये दिशा प्रदेशो के सयोग से हुआ करते है । इसतरह दिशा द्रव्य की सिद्धि होती है ।

जैन—यह कथन असत् है, पूर्व, पश्चिम आदि जो प्रतिभास होते है वे आकाश के कारण हुआ करते है, अत: आकाश से दिशा की भिन्न रूप से सिद्धि नही होती है । आकाश के प्रदेशो की श्रेणियो में सूर्य के उदयादि के निमित्त से पूर्व दिशा पश्चिम दिशा इत्यादि व्यवहार हो जाया करता है, इसी कारण से पूर्व आदि प्रत्यय को निर्हेतुकपना या अविशिष्ट पदार्थ कारणपना होने का प्रसग नही आता है । आकाश प्रदेश है लक्षण जिसका ऐसी पूर्वादि दिशा के सबध से ही मूर्त्त पदार्थो मे "यह पूर्व दिशा का पदार्थ है, और यह पश्चिम दिशा का पदार्थ है" इत्यादि प्रत्यय विशेष हो जाया करते है । मूर्त्तिक पदार्थ ही परस्पर मे इस प्रत्यय के कारण नही होते, अत. वैशेषिक ने जो दोष दिया था कि मूर्त्तिक पदार्थ परस्पर मे एक दूसरे पूर्वादि प्रतीति कारण होवेगे तो अन्योन्याश्रय दोप आता है । सो गलत ठहरता है, अर्थात् मूर्त्तिक पदार्थो मे से एक के पूर्वपने के सिद्धि नही है, उसके असिद्ध होने से दूसरे मूर्त्तिक पदार्थ के पश्चिमपने की भी असिद्धि रहेगी, और उसके असिद्ध रहने से उस एक का पूर्वपना

नन्वेवमाकाशप्रदेशश्रेणिष्वपि कुतस्तत्सिद्धिः ? स्वरूपत एव तत्सिद्धौ तस्य परावृत्त्यभाव प्रसगः, अन्योन्यापेक्षया तत्सिद्धौ अन्योन्याश्रयणादुभयाभाव; तदेतद्दिक्प्रदेशेष्वपि पूर्वापरादिप्रत्ययोत्पत्तौ समानम् । यथैव हि मूर्त्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्त्तेष्वेव 'इदमतः पूर्वेण' इत्यादिप्रत्यया दिग्द्रव्यहेतुकास्तथा दिग्भेदमवधि कृत्वा दिग्भेदेष्वेव 'इयमतः पूर्वा' इत्यादिप्रत्यया द्रव्यान्तरहेतुकाः सन्तु विशिष्टप्रत्ययत्वाविशेषात्, तथा चानवस्था । परस्परापेक्षया तत्सिद्धावितरेतराश्रयणादुभयाभावः।

भी असिद्ध ही कहलायेगा, और इसतरह उभय प्रत्ययो का [पूर्वत्व-पश्चिमत्व प्रतिभासो का] अभाव होगा ऐसा वैशेषिक ने कहा था वह असत्य है। क्योकि इन पूर्वादि प्रत्ययो का कारण आकाश प्रदेश है ऐसा सिद्ध किया है।

वैशेषिक—आप जैन दिशाद्रव्य को पृथक् न मानकर आकाशद्रव्य के प्रदेशो की पक्ति मे ही पूर्वादि दिशाओ की कल्पना करते हैं, सो उन प्रदेशो मे भी "यह पूर्व है" इत्यादि प्रत्यय किस कारण से होता है ? यदि स्वरूप से ही इन प्रदेश श्रेणियों में पूर्वादि प्रत्यय होते है तो उन पूर्वादि दिशाओ मे जो परिवर्त्तन होता है, अर्थात्—पूर्व दिशा भी किसी देश की अपेक्षा पश्चिम कहलाने लगती है और पश्चिम दिशा कभी किसी देश की अपेक्षा पूर्व कहलाती है, सो ऐसा परिवर्त्तन होता है वह नही हो सकेगा, और यदि अन्योन्यापेक्षा मात्र से [पूर्व की अपेक्षा पश्चिम, और पश्चिम की अपेक्षा पूर्व] आकाश प्रदेशो मे पूर्वादि प्रत्यय होना स्वीकार करेंगे, अन्योन्याश्रय दोष आकर दोनो का अभाव हो जावेगा ?

जैन—यह दूषण तो आपके दिशा प्रदेशो मे भी आवेगा उसमे भी पूर्व, पश्चिम इत्यादि प्रतिभास उत्पन्न नही हो सकते। इसी को आगे कहते हैं जिसप्रकार मूर्त्तद्रव्य की अवधि [मर्यादा-सीमा] करके मूर्त्तपदार्थों मे ही "इद मत.पूर्वेण" यह यहाँ से पूर्व दिशा मे है, इत्यादि ज्ञान होते हैं वे दिशाद्रव्य के कारण होते हैं ऐसा आप मानते हैं, उसीप्रकार दिशाओ मे भेद की अवधि करके दिशा भेदो मे ही "यह दिशा इस दिशा से पूर्व है" इत्यादि प्रत्यय किसी अन्य द्रव्य के कारण होते हैं, ऐसा मानना चाहिए। क्योकि ये भी विशिष्ट प्रत्यय हैं। इसतरह इन प्रत्ययो का अन्य कारण स्वीकार करने पर उसका भी अन्य कारण होगा इसतरह अनवस्था आती है। यदि मूर्त्तिक पदार्थों मे पूर्वादिप्रत्यय दिशाद्रव्य से और दिशाद्रव्य मे मूर्त्तिकद्रव्य से होते हैं

स्वरूपतस्तत्प्रत्ययप्रसिद्धौ तेनैवानेकान्तात् कुतो दिग्द्रव्यसिद्धिस्तत्प्रत्ययपरावृत्त्यभावश्चानुषज्य: ।

सवितुर्मेरु प्रदक्षिणमावर्त्तमानस्येत्यादिन्यायेन दिग्द्रव्ये प्राच्यादिव्यवहारोपपत्तौ तत्प्रदेश-पंक्तिष्वप्यत एव तद्व्यवहारोपपत्तेरल दिग्द्रव्यकल्पनया, देशद्रव्यस्यापि कल्पनाप्रसगात्–'अयमतः पूर्वदेश.' इत्यादिप्रत्ययस्य देशद्रव्यमन्तरेणानुपपत्तेः । पृथिव्यादिरेव देशद्रव्यम्; इत्यसत्, तत्र पृथिव्यादिप्रत्ययोत्पत्तेः। पूर्वादिदिक्कृत· पृथिव्यादिषु पूर्वदेशादिप्रत्ययश्चेत्; तर्हि पूर्वाद्याकाशकृत-स्तत्रैव पूर्वादिदिक्प्रत्ययोस्त्वऽल दिक्कल्पनाप्रयासेन ।

इसतरह माना जाय तो अन्योन्याश्रय होने से दोनो का ही अभाव होने का प्रसग आता है । वैशेषिक कहे कि अन्योन्याश्रय दोप नही होगा, दिशा भेदो मे पूर्वादिप्रत्यय तो स्वरूप से स्वत. हो होते है, तो यह कथन भी ठीक नही है, क्योकि इसतरह पूर्वोक्त "तत्प्रत्यय विशिष्टत्वात्" हेतु अनैकान्तिक होता है । इसतरह तत् प्रत्यय विशिष्टत्वात् हेतु जब स्वय असिद्ध है तब किससे दिग्द्रव्य की सिद्धि होवेगी ? अर्थात् नही होती है । तथा दिशाओं मे पूर्वादिप्रत्यय स्वरूप से ही होते है ऐसा माने तो उनमे जो परावृत्ति होती है वह नही होगी अर्थात् पूर्व दिशा ही किसी देश की अपेक्षा पश्चिम कहलाने लगती है पश्चिम दिशा भी अपेक्षा से पूर्व कही जाती है इत्यादि दिशापरावृत्ति का होना असंभव होगा ।

आपने कहा कि—सूर्य का मेरु की प्रदक्षिणा रूप से जब भ्रमण होता है तब दिशा नामा द्रव्य मे "यह पूर्व है" इत्यादि व्यवहार बन जाता है । सो इस पर हम जैन का कहना है कि आकाश प्रदेश पक्तियो मे इसी ही कारण से पूर्वादिका व्यवहार होता है इसलिए दिशाद्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ है । तथा दिशाद्रव्य को पृथक् माने तो देश नामा द्रव्य भी मानना होगा क्योकि "यह यहा से पूर्व देश है" इत्यादि प्रत्यय देशद्रव्य को माने बिना बनता नही है । पृथिवी आदि को ही देशद्रव्य कहते हैं ऐसा कहना भी अशक्य है, क्योकि पृथिवी आदि मे तो "पृथिवी है" ऐसा प्रत्यय होता है, यह देश है, यह पूर्व देश है, इसतरह का प्रत्यय नही होता ।

शका—पृथिवी आदि मे पूर्व देश आदि का प्रत्यय पूर्वादि दिशा के निमित्त से होता है ?

नन्वेवमादित्योदयादिवशादेवाकाशप्रदेशपङ्क्तिष्विव पृथिव्यादिष्वपि पूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धेराकाशप्रदेशश्रेणिकल्पनाप्यनर्थिका भवत्विति चेत्, न, 'पूर्वस्यां दिशि पृथिव्यादयः' इत्याद्याधाराधेयव्यवहारोपलम्भात् पृथिव्याद्यधिकरणभूतायास्तत्प्रदेशपङ्क्तेः परिकल्पनस्य सार्थकत्वात्। आकाशस्य च प्रमाणान्तरतः प्रसाधितत्वात्। तन्न परपरिकल्पितं दिग्द्रव्यमप्युपपद्यते।

समाधान—तो फिर पूर्व दिशा है इत्यादि प्रत्यय भी पूर्वादि आकाश प्रदेशो के निमित्त से होता है यह सहज सिद्ध होगा, दिशाद्रव्य को मानने का प्रयास करना व्यर्थ है।

शंका—इसतरह दिशाद्रव्य का अभाव करते है तो आकाश प्रदेशो की श्रेणियो की कल्पना करना भी व्यर्थ है। जिसप्रकार आप आकाश प्रदेशो की पंक्तियो मे सूर्योदयादि के निमित्त से ही पूर्व पश्चिम आदि की प्रतीति होना स्वीकार करते हैं, उसप्रकार पृथिवी आदि मे उसी सूर्योदय आदि के निमित्त से पूर्वादिकी प्रतीति होना संभव है?

समाधान—ऐसी शंका नही करना, "पूर्व दिशा मे पृथिवी है, पश्चिम दिशा मे पृथिवी आदि है" इत्यादि प्रत्ययो मे आधार-आधेय व्यवहार देखा जाता है, अतः पृथिवी आदि आधेयभूत पदार्थो का आधार जो आकाश प्रदेश पंक्ति है उनकी सिद्धि करना सार्थक है। आकाश द्रव्य की सिद्धि तो प्रमाणान्तर से कर चुके हैं, अर्थात् संपूर्ण द्रव्यो के अवगाहन का जो असाधारण निमित्त है वही आकाशद्रव्य है, आकाशद्रव्य का सद्भाव अवगाहना के निमित्त से होता है इत्यादि अनुमान प्रमाण द्वारा अमूर्त, अनेक प्रदेशो का अखंड पिंड स्वरूप आकाश सिद्ध होता है इस जगत प्रसिद्ध आकाशद्रव्य से ही दिशाओ का व्यवहार होता है, अतः परवादी कल्पित दिशा नामा द्रव्य पृथक् पदार्थ सिद्ध नही होता है, उसको सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नही है, ऐसा सुनिश्चित हुआ।

॥ दिशाद्रव्यवाद समाप्त ॥

१२

आत्मद्रव्यवादः

नाप्यात्मद्रव्यम् । तद्धि सर्वगतत्वादिधर्मोपेत परैरभ्युपेयते । न चास्य तदुपेतत्वमुपपद्यते; प्रत्यक्षविरोधात् । प्रत्यक्षेण ह्यात्मा 'सुख्यहं दु.ख्यहं घटादिकमहं वेद्मि' इत्यहमहमिकया स्वदेह एव सुखादिस्वभावतया प्रतीयते, न देहान्तरे परसम्बन्धिनि, नाप्यन्तराले । इतरथा सर्वस्य सर्वत्र तथा प्रतीतिरिति सर्वदर्शित्व भोजनादिव्यवहारसङ्करश्च स्यात् ।

दिशाद्रव्य तथा आकाशादि द्रव्य जैसे विपरीत मान्यता के कारण सिद्ध नही होते वैसे आत्मा द्रव्य भी विपरीतता के कारण सिद्ध नही होता है आगे इसी विषय मे कथन प्रारम्भ होता है । वैशेषिक आत्मा को सर्वव्यापी, नित्य इत्यादि स्वरूप मानते हैं किन्तु यह मान्यता प्रत्यक्ष से विरुद्ध है प्रत्यक्ष से आत्मा मै सुखी हू, मैं दु:खी हूं, मैं घटादि पदार्थ को जानता हूँ, इत्यादि प्रत्ययो द्वारा अहं अह रूप से अपने शरीर मात्र मे प्रतीति मे आता है, दूसरे के शरीर मे या कही अतराल मे आत्मा प्रतीति मे नही आता है यदि अन्य के शरीर मे अतराल मे आत्मा होता तो सभी को सब जगह सुख दुःखादि की प्रतीति होती, सभी आत्माओ का सर्वदर्शित्व प्रसग भी आता है क्योकि आत्मा सर्वव्यापक होने से जगत् के यावन्मात्र पदार्थ उसके विषय होते । भोजनादि व्यवहार का सकट भा होता, इसतरह आत्मा को सर्वव्यापक मानने मे दोष भाते है ।

अनुमानविरोधाच्चास्य तद्धर्मोपेतत्वायोगः; तथाहि–नात्मा परममहापरिमाणाधिकरणो द्रव्यान्तराऽसाधारणसामान्यवत्त्वे सत्यनेकत्वाद्घटादिवत्। 'अनेकत्वात्' इत्युच्यमाने हि सामान्येनानेकान्त., तत्परिहारार्थं 'सामान्यवत्त्वे सति' इति विशेषणम्। तथाकाशादिना व्यभिचार, तत्परिहारार्थं

विशेषार्थ—आत्मा सर्वगत है ऐसा मानेगे तो सभी आत्माओ के शरीरो के साथ हमारा सम्बन्ध रहेगा, और जब सभी के शरीरो मे हमारे आत्मा का अस्तित्व है तो सभी के सुख दु ख हमे भी उसीतरह से अनुभव मे आने चाहिए जिसतरह से अपने स्वय के अनुभव मे आया करते हैं, किसी एक व्यक्ति के भोजन करने से हमे तृप्ति हो जानी चाहिये, देवदत्त ने जल पिया है तो उसी से यज्ञदत्त की प्यास बुझनी चाहिए, जिनदत्त ने पाठ कठस्थ किया है अत: गुरुदत्त को वही पाठ बिना याद किये कठस्थ हो जाना चाहिए ? क्योकि इन यज्ञदत्तादि के शरीरो मे भी देवदत्तादि आत्मा मौजूद है। किन्तु ऐसा कुछ भी होता नही, केवल अपने शरीर मात्र मे ही सुख दु खादि का अनुभव आता है अत. निश्चित होता है कि आत्मा सर्वत्र व्यापक नही है। आत्मा को सर्वगत मानने से सभी को सर्वज्ञपने का भी प्रसंग आता है, जब हमारी आत्मा सर्वत्र है तो सब जगह के पदार्थों का ज्ञान या अनुभव होवेगा ही ? अत. आत्मा को सर्वगत मानना गलत है।

आत्मा को सर्वगत मानने मे अनुमान प्रमाण से भी विरोध आता है अतः उसको सर्वगत एव सर्वथा नित्य एक रूप मानना अशक्य है।

अनुमान प्रमाण द्वारा इसी बात को बतलाते हैं—आत्मा परम महा परिमाण का अधिकरण नही है, क्योकि वह द्रव्यातर से असाधारण सामान्य वाला है एव अनेक है, जैसे घट पट आदि पदार्थ है। इसमे केवल अनेकत्वात् हेतु देते तो सामान्य के [गोत्वादि के] साथ व्यभिचार होता अत· उसका परिहार करने के लिये "सामान्यवान्" विशेषण दिया है अर्थात् आत्मा सामान्य नही है किन्तु सामान्यवान होकर अनेक है अत. व्यापक नही है। "सामान्यवत्त्वे सति अनेकत्वात्" इतना ही विशेषणवाला हेतु देते तो आकाशादि के साथ व्यभिचार आता, अर्थात् जो सामान्यवान होकर अनेक है वह महा परिमाण नही है, ऐसा कहेगे तो आकाशादि द्रव्य से व्यभिचार आता, आकाश सामान्यवान होकर भी महा परिमाण स्वरूप है, अत इस दोष को दूर करने के लिये

'द्रव्यान्तरासाधारणसामान्यवत्त्वे सति' इत्युच्यते। एकस्माद्धि द्रव्यादन्यद्द्रव्य द्रव्यान्तरम्, तदसाधारण-सामान्यवत्त्वे सत्यनेकत्वमाकाशादौ नास्तीति। अत एव परममहापरिमाणलक्षणगुणेनापि नानेकात:।

तथा, नात्मा तत्परिमाणाधिकरणो दिक्कालाकाशान्यत्वे सति द्रव्यत्वाद्घटादिवत्। न सामान्येन परममहापरिमाणेन वानेकान्तः, तयोरद्रव्यत्वात्। नापि दिगादिना, 'तदन्यत्वे सति' इति विशेषणात्।

तथा, नात्मा तत्परिमाणाधिकरण. क्रियावत्त्वाद्बाणादिवत्। न चेदमसिद्धम्; 'योजनमह-मागत: क्रोश वा' इत्यादिप्रतीतितस्तत्सिद्धे:। न च मन शरीर वागतमित्यभिधातव्यम्; तस्याह-

---

"द्रव्यातरासाधारण सामान्यवत्वे सति" ऐसा कहा है। एक द्रव्य से जो अन्य द्रव्य हो उसे द्रव्यांतर कहते है, ऐसा आकाशादि द्रव्यो मे नही पाया जाने वाला असाधारण [विशिष्ट] सामान्यवानपना है एव अनेकत्व है वह आकाशादि मे नही है, इसलिये हम जैन के हेतु मे अनैकान्तिकता नही आती है। जिस तरह यह हेतु आकाशादि से व्यभिचरित नही होता उसी तरह परम महापरिमाण लक्षण वाले गुण के साथ भी व्यभिचरित नही होता है, क्योकि उक्त गुण मे अनेकपना नही है।

आत्मा के व्यापकत्व का खण्डन करनेवाला दूसरा अनुमान इसप्रकार है—आत्मा महापरिमाण का अधिकरण नही है [पक्ष] क्योकि वह दिशाकाल और आकाश से अन्य होकर द्रव्य कहलाता है [हेतु] जैसे घट पट आदि महापरिमाण के अधिकरण नही है एव दिशा आकाशादि से भिन्न होकर द्रव्य है। [दृष्टात] इस अनुमान के हेतु का सामान्य के साथ तथा परम महापरिमाण के साथ व्यभिचार भी नही होता, क्योकि सामान्यादिक द्रव्य नही है। तथा दिशा आदि के साथ भी व्यभिचार नही होगा, इस व्यभिचार को दूर करने के लिये हेतु मे तदन्यत्वे सति दिशा आकाशादि से अन्य द्रव्य होकर ऐसा विशेषण प्रयुक्त हुआ है। आत्मा को अव्यापक वतलाने वाला तीसरा अनुमान—आत्मा परम महापरिमाण वाला नही है, क्योकि यह क्रियाशील द्रव्य है, जैसे बाणादि पदार्थ क्रियाशील होने से महापरिमाण के अधिकरण नही हुआ करते है। यह क्रियावत्व हेतु भी असिद्ध नही है, आत्मा मे क्रियापना देखा ही जाता है "मैं एक योजन चलकर आया हू, मैं एक कोस चलकर गया" इत्यादि प्रतीति से आत्मा के सक्रियत्व की सिद्धि होती है। यह जो एक योजन आदि गमन है वह मन या शरीर

प्रत्ययाऽवेद्यत्वात्, अन्यथा चार्वाकमतप्रसङ्गः स्यात्। प्रसाधयिष्यते चाग्रे विस्तरतोस्य क्रियावत्त्व-मित्यलमतिप्रसगेन।

तथा, आत्माऽणुपरममहत्त्वपरिमाणानधिकरण', चेतनत्वात्, ये तु तत्परिमाणाधिकरणा न ते चेतना यथाकाशपरमाण्वादय, चेतनश्चात्मा, तस्मान्न तत्परिमाणाधिकरण इति।

ननु चात्मा परममहापरिमाणाधिकरणो न भवतीति प्रतिज्ञाऽनुमानबाधिता। तच्चानुमानम्-आत्मा व्यापकोऽणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वादाकाशवत्। अणुपरिमाणानधिकरणोसौ अस्मदादिप्रत्यक्षविशेषगुणाधिकरणत्वाद्घटादिवत्। तथा नित्यद्रव्यमात्माऽस्पर्शवद्द्रव्यत्वादाकाशवदेवेति।

का है ऐसा भी नही कहना, क्योकि मन या शरीर अह (मैं) प्रत्यय से अनुभव मे नही आता, अन्यथा चार्वाक मतका प्रसग आयेगा! अर्थात् मन या शरीर को अह ऐसा कहते है तो आत्म द्रव्य को पृथक् मानने की आवश्यकता नही रहती और आत्मद्रव्य नही मानने पर चार्वाक मत आता है अतः एक कोस चलकर आया हूं इत्यादि प्रतीति द्वारा आत्मा ही सिद्ध होता है। इसी आत्मद्रव्यवाद प्रकरण मे आत्मा के क्रियावानपने की विस्तारपूर्वक सिद्धि करने वाले हैं, अतः यहा अधिक नही कहते हैं।

आत्मा के सर्वगतत्वका प्रतिषेधक चौथा अनुमान आत्मा अणु और परम महापरिमाण का अधिकरण नही है, क्योकि वह चेतन है, जो अणु या महान परिमाण के अधिकरण हुआ करते हैं वे चेतन नही होते है, जैसे परमाणु अणु परिमाण का अधिकरण है और आकाश महान परिमाण का अधिकरण होने से चेतन नही है, आत्मा चैतन्य है अत· वह अणु या महान परिमाण वाला नही हो सकता है।

वैशेषिक—आप जैन ने इस अनुमान मे जो प्रतिज्ञा वाक्य कहा कि आत्मा परम महापरिमाण का अधिकरण नही होता है, सो यह प्रतिज्ञा या पक्ष अनुमान बाधित है, उसी बाधक अनुमान को दिखलाते है—आत्मा व्यापक है, क्योकि अणुपरिमाण का अनधिकरण [आधार नही होकर] एवं नित्य द्रव्यस्वरूप है, जैसे आकाश व्यापक है। आत्मा अणु परिमाण अनधिकरण इसलिये है कि वह हम जैसे पुरुषो द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य गुणो का आधार है, जैसे घटादिक है। तथा आत्मा नित्य द्रव्यरूप है, क्योकि वह अस्पर्शवान द्रव्य है, जैसे आकाश है, इन सब अनुमानो से आत्मा की व्यापकता एव नित्यता सिद्ध होगी?

अत्रोच्यते-अणुपरिमाणप्रतिषेधोत्र पर्युदास., प्रसज्यो वाभिप्रेत: ? यदि पर्युदास:; तदासौ भावान्तरस्वीकारेण प्रवर्त्तते। भावान्तर च किं परममहापरिमाणम्, अवान्तरपरिमाण वा स्यात् ? प्रथमपक्षे साध्याविशिष्टत्वं हेतुविशेषणस्य। यथा 'अनित्य: शब्दोऽनित्यत्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति। द्वितीयपक्षे तु विरुद्धत्वम् यथा 'नित्य' शब्दोऽनित्यत्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति।

जैन—यह कथन ठीक नही है, आपने प्रथम अनुमान मे अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति "अणु परिमाण का अधिकरण नही होकर" ऐसा जो हेतु का विशेषण दिया है उसमे अणु परिमाण का निषेध है, वह निषेध पर्युदास है कि प्रसज्य है ? [पर्युदास सदृक् ग्राही प्रसज्यस्तु निषेध कृत्–जो अभाव एक का निषेध करके अन्य समान का ग्राहक होता है उसे पर्युदास प्रतिषेध या निषेध कहते है, और जो मात्र निषेध ही करता है वह प्रसज्य प्रतिषेध कहलाता है] पर्युदास निषेध करना है तो वह भावांतर के स्वीकार करने रूप हुआ करता है, भावातर यहा क्या है परममहापरिमाण अथवा अवांतर परिमाण ? अर्थात् अणु परिमाणस्य अधिकरण न इति अणु परिमाणानधिकरण ऐसा निषेध वाचक अणु परिमाणानधिकरण शब्द मे परम महापरिमाण का निषेध किया अथवा अवातर परिमाण का निषेध किया ? प्रथम पक्ष कहो तो हेतु का विशेषण साध्यसमान हुआ, साध्य व्यापक है और हेतु मे विशेषण "अणु प्रमाण नही" अर्थात् महापरिमाण है, सो महापरिमाण और व्यापक इन दोनो का अर्थ वही एक सर्वगतपना होता है, अत. साध्य और हेतु समान होने से यह साध्यसम हेतु गमक नही बन सकता जैसे कोई अनुमान बनावे कि "शब्द अनित्य है, क्योकि अनित्य होकर बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है" यहा साध्य अनित्य है और हेतु का विशेषण भी अनित्य है, सो इस तरह के हेतु स्वसाध्य के गमक या प्रसाधक नही हुआ करते है ऐसा आप स्वय ने स्वीकार किया है। दूसरा पक्ष—अणु परिमाण का निषेध है अर्थात् आत्मा मे अणु परिमाण का निषेध है ऐसा कहे तो अवातर परिमाण का निषेध नही होने से उक्त हेतु स्वसाध्य मे विरुद्ध पडेगा। जैसे किसी ने अनुमान वाक्य कहा कि शब्द नित्य है, क्योकि वह अनित्य होकर बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष है, यहा साध्य बनाया नित्यत्व को और हेतु अनित्यत्व दिया अत साध्य से विरुद्ध पडा, ऐसे आपने भी साध्य तो बनाया आत्मा व्यापक है [सर्वगत] और हेतु दिया अणु प्रमाण के निषेध रूप अवातर [किसी एक परिमाण वाला] परिमाण है, सो ऐसा साध्य से विरुद्ध हेतु विपक्ष को [अव्यापकत्व] ही सिद्ध करा देता है।

प्रसज्यपक्षेप्यसिद्धत्वम्; तुच्छस्वभावाभावस्य प्रमाणाविषयत्वेन प्रतिपादनात्। सिद्धो वा किमसौ साध्यस्य स्वभाव:, कार्यं वा? यदि स्वभाव:; तर्हि साध्यस्यापि तद्वत्तुच्छरूपतानुषङ्गः। अथ कार्यम्; तन्न; तुच्छस्वभावाभावस्य कार्यत्वायोगात्। कार्यत्वं हि किं स्वकारणसत्तासमवाय:, कृतमिति बुद्धिविषयत्वं वा? न तावदाद्य पक्ष:, अभावस्य स्वकारणसत्तासमवायानभ्युपगमात्, अन्यथा भावरूपतैवास्य स्यात्। नापि द्वितीयः, तुच्छस्वभावाभावस्य तद्विषयत्वासम्भवात्। तस्य हि प्रमाणागोचरत्वे कथ कृतबुद्धिविषयत्व सम्भवेत्? अनैकान्तिक चैतत्, खननोत्सेचनानन्तरमकार्येप्याकाशे कृतबुद्धिविषयत्वसम्भवात्।

"अणु परिमाण का अधिकरण नही है" इस वाक्य के नकार का अर्थ सर्वथा निषेध रूप प्रसज्य प्रतिषेध करते हैं तो वह विशेषण असिद्ध कहलायेगा, क्योंकि सर्वथा प्रतिषेध रूप तुच्छाभाव प्रमाण का विषय नही हो सकता है ऐसा पहले ही प्रतिपादन कर चुके है। कदाचित् तुच्छ अभाव को मान भी लेवे तो यह तुच्छ अभाव व्यापकत्व विशिष्ट आत्मा रूप साध्य का स्वभाव है या कार्य है। यदि स्वभाव है तो साध्य भी स्वभाव के समान तुच्छाभाव रूप बन जायगा। भावार्थ यह हुआ कि आत्मा व्यापक है क्योंकि वह अणु परिमाण का आधार नही है ऐसा अनुमान का प्रयोग कर इस अणु परिमाण नही का अर्थ सर्वथा किसी भी परिमाण वाला नही है ऐसा तुच्छ अभाव करते है और वह तुच्छाभाव आत्मा का स्वभाव मानते हैं तब आत्मा भी अभाव रूप सिद्ध होता है, अत. तुच्छाभाव आत्मा का स्वभाव है ऐसा कहना ठीक नही रहता है। यदि उस तुच्छ अभाव को आत्मा का कार्य माना जाय तो वह भी बनता नही, क्योंकि तुच्छ अभाव किसी का कार्य नही होता कार्यत्व किसे कहना स्वकारण सत्ता समवाय—अपने कारण की सत्ता का समवाय होना कार्यत्व है अथवा "किया है" ऐसी बुद्धि का विषय होना कार्यत्व है? प्रथम विकल्प ठीक नही है, क्योंकि आप वैशेषिक ने अभाव मे स्व कारण सत्ता समवाय नही माना है, यदि मानेंगे तो उस अभाव को सद्भाव स्वरूप स्वीकार करना पडेगा। द्वितीय विकल्प—कियेपनकी बुद्धि का विषय होना कार्यत्व है, ऐसा कहना भी गलत है, क्योंकि तुच्छाभाव बुद्धि का विषय नही होता। जब तुच्छाभाव प्रमाण का विषय ही नही है तब वह कृत बुद्धि—कियेपनकी बुद्धि का विषय कैसे हो सकता है? अर्थात् नही हो सकता। एक बात यह है कि जिसमे कियेपनकी बुद्धि होवे वह कार्य है ऐसा कहना अनैकान्तिक है, कैसे सो ही बताते हैं—खोदकर मिट्टी आदि को निकालकर गड्ढा बनाते है उस गड्ढे को पोलरूप आकाश मे "किया है" ऐसी किये

नित्यद्रव्यत्व च किं कथञ्चित्, सर्वथा वा विवक्षितम्? कथञ्चिच्चेत्; घटादिनानेकान्त, तस्याणुपरिमाणानधिकरणत्वे कथञ्चिन्नित्यद्रव्यत्वे च सत्यपि व्यापित्वाभावात्। सर्वथा चेत्; असिद्धत्वम्, सर्वथा नित्यस्य वस्तुनोऽर्थक्रियाकारित्वेनाश्वविषाणप्रख्यत्वप्रतिपादनात्। अस्मदादिप्रत्यक्षविशेषगुणाधिकरणत्वाच्चाणुपरिमाणप्रतिषेधमात्रमेव स्याद् घटादिवत्, तस्य चेष्टत्वात्सिद्धसाध्यता। अस्पर्शवद्रव्यत्वाच्चात्मनो यदि कथञ्चिन्नित्यत्व साध्यते; तदा सिद्धसाध्यता। अथ सर्वथा; तर्हि हेतोरनन्वयत्वमाकाशादीनामपि सर्वथा नित्यत्वस्य प्रतिषिद्धत्वात्।

पनकी बुद्धि हुआ करती है किन्तु वह आकाश कार्य नही है। अत जिसमे कियेपनेकी बुद्धि हो वह कार्य है ऐसा कहना गलत ठहरता है। अनैकान्तिक होता है।

"अणु परिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात्" ऐसा हेतु दिया था उसमे अणु परिमाण अनधिकरत्व रूप जो विशेषण है उसका खण्डन हो गया, अब नित्य द्रव्यत्वरूप विशेष्य का विचार करते है—नित्य द्रव्य होने से आत्मा व्यापक है ऐसा वैशेषिक का कहना है सो नित्य द्रव्यत्व कथञ्चित है या सर्वथा? कथंचित् कहो तो घटादि पदार्थो के साथ हेतु अनैकान्तिक होवेगा, क्योकि घटादि पदार्थ अणु परिमाण का अनधिकरण एवं कथचित् नित्य होकर भी व्यापक नही है। अत. जो कथंचित् नित्य हो वह व्यापक है ऐसा अविनाभाव नही होने से हेतु सदोष—अनैकान्तिक ठहरता है। जो सर्वथा नित्य है वह व्यापक होता है ऐसा माने तो वह हेतु असिद्ध दोष का भागी बनेगा, हम जैन इस बात को अच्छी तरह से सिद्ध कर चुके हैं कि सर्वथा नित्य वस्तु अर्थ क्रिया को कर नही सकती, वह तो अश्वविषाण के समान शून्य है। आत्मा व्यापक है इस बात को सिद्ध करने के लिये वैशेषिक ने दूसरा अनुमान दिया कि अणु परिमाण का अधिकरण आत्मा नही है, क्योकि वह हमारे द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य विशेष गुणो का आधार है, सो यह हेतु आत्मा मे केवल अणु परिमाण का निषेध करता है, जैसे घटादि मे अणु प्रमाण का निषेध है, किन्तु इसके निषिद्ध होने मात्र से आत्मा मे महापरिमाण की—व्यापकत्व की सिद्धि नही होती। आत्मा मे अणु परिमाण का निषेध तो हम जैन को इष्ट ही है, हम जैन भी आत्मा को अणु परिमाण नही मानते। अस्पर्शवाला द्रव्य होने से आत्मा नित्य है ऐसा वैशेषिक ने कहा सो यदि कथंचित् नित्यत्व सिद्ध करना है तब तो सिद्ध साध्यता है—कथचित् नित्य होने मे कोई विवाद नही है। यदि सर्वथा नित्यत्व सिद्ध करना है तो वह अस्पर्शवत्व हेतु दृष्टात के अन्वय से रहित

ननु 'देहान्तरे परसम्बन्धिन्यन्तराले चात्मा न प्रतीयते' इत्ययुक्तमुक्तम्; अनुमानात्तत्रास्य सद्भावप्रतीतेः; तथाहि-देवदत्तांगनाद्यग देवदत्तगुणपूर्वक कार्यत्वे तदुपकारकत्वाद्ग्रासादिवत्। कार्यदेशे च सन्निहित कारण तज्जन्मनि व्याप्रियते नान्यथा, अतस्तदगादिकार्यप्रादुर्भावदेशे तत्कारणवत्तद्गुणसिद्धि.। यत्र च गुणाः प्रतीयन्ते तत्र तद्गुण्यप्यनुमीयते एव, तमन्तरेण तेषामसम्भवात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतो देवदत्तागनाद्यगादिकार्यस्य कारणत्वेनाभिप्रेता ज्ञानदर्शनादयो देवदत्तात्मगुणा, धर्माधर्मौ वा ? न तावज्ज्ञानदर्शनसुखादय स्वसवेदनस्वभावास्तज्जन्मनि व्याप्रियमाणाः

होवेगा, क्योकि आकाश जैसे अस्पर्शवान होने से नित्य है वैसे आत्मा नित्य है इस तरह आपने दृष्टात दिया किंतु आकाशादि पदार्थ भी सर्वथा नित्य नही है इनके सर्वथा नित्यत्व का पहले ही निराकरण कर आये हैं। अत. आकाश को दृष्टात बनाकर उससे आत्मा मे नित्यत्व सिद्ध करना असम्भव है।

वैशेषिक—जैन ने कहा था कि—अपने शरीर को छोडकर अन्य के शरीर मे तथा अतराल मे आत्मा की प्रतीति नही होती है, सो यह कथन अयुक्त है, अतराल मे तथा शरीरातर मे आत्मा का रहना अनुमान से सिद्ध होता है, अब इसी अनुमान को उपस्थित करते है—देवदत्त के स्त्री पुत्रादि का शरीर देवदत्त के गुण द्वारा निर्मित है, अथवा देवदत्त के गुण के कारण है, क्योकि वह शरीर कार्य स्वरूप है एव उसी देवदत्त का उपकार करता है, जैसे भोजन के ग्रासादिक है वे देवदत्त के उपकारक कार्य होने से उसी के गुण पूर्वक होते है। कारण जब कार्य के निकट देश मे रहता है तब कार्य को करने मे प्रवृत्त होता है अन्यथा नही ऐसा नियम है, इसलिये देवदत्त द्वारा भोग्य जो उसकी स्त्री है उसके शरीरोत्पत्ति प्रदेश मे जैसे उस शरीर के अन्य कारण रहा करते है वैसे देवदत्त का गुण रूप कारण भी रहा करता है, और जब देवदत्त का गुण [अदृष्ट-भाग्य] उस प्रदेश मे है तो गुणी-देवदत्त की आत्मा भी वहा अवश्य है जहा पर गुण प्रतीत होते है वहा गुणी का अनुमान अवश्य लगा लेना चाहिए, क्योकि गुणी के बिना गुण रहते नही इसतरह अतराल मे भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

जैन—यह कथन असमीचीन है, देवदत्त की स्त्री आदि के शरीरादि कार्य है उसका कारण आप देवदत्त के गुण मानते हैं सो वे गुण कौन से है, ज्ञानदर्शन इत्यादि देवदत्त के आत्मा के गुण हैं, अथवा धर्म-अधर्म-पुण्य-पापरूप गुण है ? ज्ञानदर्शन सुखादि गुण स्त्री शरीर आदि के कारण नही हो सकते, वे तो स्वसवेदन स्वभाव वाले हैं, स्त्री

प्रतीयन्ते । वीर्यं तु शक्ति , सापि तद्देह एवानुमीयते, तत्रैव तल्लिङ्गभूतक्रियाया. प्रतीते. । तज्ज्ञाना-देस्तद्देह एव तत्कार्यकारणविमुखस्याघ्यक्षादिना प्रतीते. तद्बाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्ट 'कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्' इति हेतु: ।

अथ धर्माधर्मौ, तदगादिकार्यं तन्निमित्तमस्माभिरपीष्यते एव । तदात्मगुणत्व तु तयोरसिद्धम्, तथाहि–न धर्माधर्मौ आत्मगुणौ अचेतनत्वाच्छब्दादिवत् । न सुखादिना व्यभिचार ; अत्र हेतोरवर्त्तनात्, तद्विरुद्धेन स्वसवेदनलक्षणचैतन्येनास्याऽव्याप्तत्वासाधनात् । नाप्यसिद्धता; अचेतनौ तौ स्वग्रहण-

---

आदि के शरीरोत्पत्ति मे वे गुण व्यापार करते हुए प्रतीत नही होते है । वीर्य तो शक्ति को कहते हैं और यह शक्ति भी केवल देवदत्त के शरीर मे अनुमानित होती है, क्योकि शक्ति की अनुमापिका क्रिया है [कार्य क्षमता, बोझा ढोना इत्यादि] और वह मात्र देवदत्त के शरीर मे ही उपलब्ध होती है । देवदत्त के आत्मा के ज्ञानादि गुण भी देवदत्त के शरीराधार पर प्रतीत होते है, किंतु देवदत्त की स्त्री के शरीरादि कार्य को करते हुए प्रतीत नही होते प्रत्यक्षादि द्वारा उक्त कार्य से परामुख ही प्रतीत होते है, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित पक्ष निर्देश के अनन्तर प्रयुक्त होने से कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात् हेतु कालात्ययापदिष्ट दोप वाला है । अर्थात्—"देवदत्त के स्त्री आदि के शरीर का कारण देवदत्त के आत्मा का गुण है" ऐसा जो पक्ष कहा था वह पक्ष प्रत्यक्षादि से बाधित हुआ है इसलिये "कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्" हेतु कालात्यया-पदिष्ट दोष युक्त होता है ।

देवदत्त के आत्मा के धर्म-अधर्म नामा गुण देवदत्त के स्त्री के शरीर का कारण है ऐसी दूसरी बात कहो तो हम जैन को मान्य होगा, किन्तु उन धर्मादिको आत्मा का गुण मानना असिद्ध है । आगे इसी को स्पष्ट करते है—धर्म-अधर्म आत्मा के गुण नही है, क्योकि वे अचेतन हैं, जैसे शब्दादिक अचेतन होने से आत्मा के गुण नही है । यह अचेतनत्व हेतु सुखादि के साथ व्यभिचरित भी नही होता है, क्योकि सुखादि मे अचेतनपना है नही, सुखादिक तो अचेतन के विरुद्ध चैतन्य से व्याप्त है, वे स्वसवेदन रूप अनुभव मे आते है अत चेतनत्व के साथ इनकी अव्याप्ति बतलाना असिद्ध है । धर्म-अधर्म का अचेतनपना असिद्ध भी नही है, अब इसी को बताते हैं—धर्म-अधर्म दोनो ही अचेतन है, क्योकि वे स्वय का ग्रहण [जानना] नही कर पाते, जैसे वस्त्रादि पदार्थ स्वयं के ग्राहक नही होते हैं । स्वग्रहणविधुरत्व हेतु बुद्धि के साथ

विधुरत्वात्पटादिवत् । न च बुद्ध्यास्य व्यभिचारः; अस्या स्वग्रहणात्मकत्वप्रसाधनात् । प्रसाधितं च पौद्गलिकत्वं कर्मणः सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे तदलमतिप्रसङ्गेन । तदेवं धर्माधर्मयोस्तदात्मगुणत्वनिषेधात् तन्निषेधानुमानबाधितमेतत्–'देवदत्ताङ्गनाद्यङ्गं देवदत्तगुणपूर्वकम्' इति ।

अस्तु वा तयोर्गुणत्वम्, तथापि न तदङ्गनाङ्गादिप्रादुर्भावदेशे तत्सद्भावसिद्धिः । न खलु सर्वं कारणं कार्यदेशे सदेव तज्जन्मनि व्याप्रियते, अञ्जनतिलकमन्त्राऽयस्कान्तादेराकृष्यमाणाङ्गनादि-

---

व्यभिचरित भी नही होता क्योकि बुद्धि भी स्व को ग्राहक होती है ऐसा हम सिद्ध कर चुके है । धर्म-अधर्म जिसे पुण्य पाप भी कहते है ये कर्म रूप हैं और कर्म पौद्गलिक-अचेतन हुआ करता है इस बात को सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरण मे [दूसरे भाग मे] कह आये है, अब यहा पर अधिक नही कहते है । इसप्रकार धर्म-अधर्म को आत्मा का गुण मानना असिद्ध होता है, जब धर्मादि मे आत्म गुणत्व का निषेध हुआ तो वह पूर्वोक्त कथन अनुमान बाधित होता है कि—देवदत्त के स्त्री आदि का शरीर देवदत्त के गुणपूर्वक होता है इत्यादि ।

वैशेषिक के आग्रह से मान लेवे कि धर्म-अधर्म गुण है किन्तु गुण होने मात्र से उनका उस देवदत्तादि के स्त्री के शरीरोत्पत्ति स्थान पर सद्भाव सिद्ध नही होता है, यह नियम नही है कि सभी कारण कार्य के स्थान पर रहकर ही उसके उत्पत्ति मे प्रवृत्त होते है । देखा जाता है कि—अजन, तिलक, मन्त्र अयस्कान्त [चुम्बक] आदि पदार्थ स्त्री लोहा आदि के स्थान पर मौजूद नही रहते फिर भी उन स्त्री लोहा आदि को आकर्षित करना इत्यादि कार्यो को करते है ।

भावार्थ—वैशेषिक आत्मा को सर्वगत मानते है, उनका कहना है कि देवदत्त आदि मनुष्यो के भोग्य सामग्री आदि का जो भी देवदत्त को लाभ हुआ है वह स्त्री, मुक्ता आदि सामग्री देवदत्त के आत्मा के अदृष्ट-धर्मादि द्वारा मिली है, वे धर्मादिक स्त्री आदि के उत्पत्ति स्थान रहकर देवदत्तादि के भोग्य सामग्री को बनाया करते है, इस पर आचार्य समझा रहे है कि धर्म-अधर्म नामा गुण आत्मा के नही है वे तो पौद्गलिक जड है तथा यह नियमित नही है कि जहां कार्य होना है वही कारण मौजूद रहे, कारण अन्यत्र हो और कार्य अन्यत्र बन जाय ऐसा भी होता है । एक विशेष अजन होता है उसको कोई पुरुष आखो मे डालता है तो स्त्री उसके तरफ आकर्षित हो जाती

देशेऽसतोप्याकर्षणादिकार्यकर्तृत्वोपलम्भात् । 'कार्यत्वे सति' इति च विशेषणमनर्थकम्; यदि हि तद्गुणपूर्वकत्वाभावेपि तदुपकारकत्व दृष्ट स्यात् तदा 'कार्यत्वे सति' इति विशेषरण युज्येत, 'सति सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमुपादीयमानमर्थवद्भवति' इति न्यायात् । कालेश्वरादौ दृष्टमिति चेत्; तर्हि कालेश्वरादिकमतद्गुणपूर्वकमपि यदि तदुपकारकम् कार्यमपि किञ्चिदन्यपूर्वकमपि तदुपकारक

है । ऐसा ही कोई ललाट पर तिलक [विशिष्ट जाति का] लगाकर अनेक प्रकार से वस्तुओ को आकर्षित करता है, मन्त्रवादी मन्त्र कही दूर देश मे कर रहे है और यहा पर विष दूर होना, या कही अग्नि लग जाना या बुझ जाना, घर बैठे किसी दूसरे घर के भोज्य या अन्य अन्य आभूषण आदि को अपने घर पर आकर्षित करना इत्यादि कार्य सम्पन्न होते हुए देखे जाते है । चु बक पाषाण द्वारा दूर रहकर ही लोहा खीचा जाता है, इन सब दृष्टान्तो से निश्चित होता है कि सभी कारण कार्य के स्थान पर ही रहते हो सो बात नही है । इसी तरह आत्मा के व्यापकत्व सिद्ध करनेके लिये देवदत्त के स्त्री आदि का शरीर देवदत्त के गुण पूर्वक होता है इत्यादि अनुमान गलत ठहरता है, इससे देवदत्तादि के आत्मा के सर्वत्र रहने की सिद्धि नही हो पाती है ।

देवदत्तादि के आत्मा को सर्वगत बतलाने के लिये "कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्" हेतु दिया था सो इसमे "कार्यत्वे सति" इतना जो विशेषण है वह भी व्यर्थ है, यदि देवदत्त के गुणपूर्वक हुए बिना भी उसका उपकारक ऐसा कोई कार्य दिखायी देता अर्थात् जो उसका कार्य न होकर भी उपकारक होता तब तो यह कार्यत्वे सति विशेषण उपयुक्त होता । "सति सभवे व्यभिचारे च विशेषणमुपादीयमानमर्थवद्भवति" जब हेतुभूत विशेष्य मे व्यभिचार आना सम्भव रहता है तब विशेषण जोडना सार्थक होता है, ऐसा न्याय है ।

शका—जो उसका कार्य न हो और उसका उपकार करता हो ऐसा देखा जाता है, अर्थात् देवदत्त के गुण का कार्य नही हो और देवदत्त का उपकार करे ऐसा हो सकता है, कालद्रव्य ईश्वर इत्यादि पदार्थ देवदत्त के गुण का कार्य नही है तो भी वे देवदत्त का उपकार करते है [परत्वापरत्व प्रत्यय कराना स्वर्गादिका सुख देना इत्यादि] ?

समाधान—यह कथन गलत है यदि आप कालद्रव्य, ईश्वर इत्यादि को देवदत्त के गुणपूर्वक नही होते हुए भी देवदत्त का उपकार करने वाला मानते है तो

भविष्यतीति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतु, क्वचित्सर्वज्ञत्वाभावे साध्ये वागादिवत्। न च नित्यैकस्वभावात्कालेश्वरादे कस्यचिदुपकार. सम्भवतीत्युक्तम् ।

कोई कार्य भी ऐसा मान लेवे जो अन्य किसी पूर्वक होकर भी उसका उपकारक होवे अभिप्राय यह है कि ऐसे भी पदार्थ है जो किसी का कार्य नही हैं फिर भी अन्य का उपकार करते है अर्थात् स्वय तो अकार्य है किन्तु अन्य कार्य को करते हैं इसीतरह ऐसे भी पदार्थ है । जो कार्य तो किसी वस्तु के है और अन्य किसी के उपकारक बनते हैं, जब दोनो प्रकार के पदार्थ मौजूद हैं तो यह नियम नही बनता कि अमुक वस्तु इसी के द्वारा की गयी होगी तभी उसका उपकार करती है । जब देवदत्त के गुण द्वारा ही की गयी हो तभी उसके भोग्य पदार्थ को एकत्रित करती । इस तरह का नियम असंभव है अत: "कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्" हेतु सदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाला होने से अनैकान्तिक हो जाता है—विपक्ष मे जाने की शका रहती है जैसे कि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने के लिये वक्तृत्वादि हेतु देते हैं वे सदिग्ध रहते है भावार्थ यह हुआ कि किसी ने कहा कि सर्वज्ञ नही है क्योकि वह बोलता है, सो यहा बोलना सर्वज्ञ मे है या नही ऐसा निश्चय नही होने से शकित वृत्ति वाला हेतु कहलाता है, इसीप्रकार देवदत्त के स्त्री आदि भोग्य पदार्थ देवदत्त के गुण से किये गये होने से उसके उपकारक है ऐसा निश्चय नही कर सकते क्योकि ईश्वरादि देवदत्त के गुण से किये गये नही हैं तो भी उसका उपकार करते है, अत· उसका कार्य होने से उसके उपकारक है ऐसा हेतु शकित विपक्ष व्यावृत्ति वाला है । तथा नित्य एक स्वभाव वाले होने से काल ईश्वर आदि से किसो का उपकार होना सम्भव नही है, इस विषय को पहले ईश्वरवाद आदि प्रकरण मे कह आये हैं । यहा पर अभिप्राय यह समझना कि "कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्" इस हेतु में "कार्यत्वे सति" विशेषण अनर्थक है ऐसा जैन ने कहा इस पर वैशेषिक ने कहा था कि काल ईश्वरादिक स्वय किसी के कार्य नही होकर भी उपकारक होते है, अत. हेतु में कार्यत्वेसति विशेषण दिया है । सो यह कथन असिद्ध है, क्योकि प्रथम तो यह बात है कि जो कार्य है वह उसी अपने कारण का ही उपकार करे ऐसा नियम नही बनता तथा दूसरी बात यह है कि ईश्वर आदि· पदार्थ को वैशेषिक ने सर्वथा नित्य एक स्वभाववाला माना है अत: उससे किसी का [देवदत्तादि का] उपकार होना शक्य नही है ।

न च (ननु च) नकुलशरीरप्रध्वसाभावोऽहेरुपकारकोस्ति तस्मिन्सति, सुखावासभ्रमणादि-भावादत: सोपि तद्गुणपूर्वक: स्यात् तथा च कार्यत्वासम्भवेन सविशेषणस्य, हेतोरवर्त्तमानाद्भागा-सिद्धो हेतु: । प्रत्युक्त चाभावस्यानन्तरमेव कार्यत्वम् । अथाऽतद्गुणपूर्वक.; अन्यदप्यतद्गुणपूर्वकमपि तदुपकारक किन्न स्यात् ?

साध्यविकल चेद निदर्शन ग्रासादिवदिति । तत्र ह्यात्मन' को गुणो धर्मादि:, प्रयत्नो वा स्यात् ? धर्मादिश्चेत्, साध्यवत्प्रसग । प्रयत्नश्चेत्; कोय प्रयत्नो नाम ? आत्मन तदवयवाना वा

जो जिसका उपकारक होता है वह उसके गुण द्वारा किया होता है ऐसा मानेगे तो और भी बाधाये आती है, नकुल [नेवला] के शरीर का प्रध्वसाभाव होने से [नेवले के मर जाने से] सर्प का उपकार होता है क्योकि उसके अभाव होने पर सर्प अपने स्थान पर सुख से रहता है, यत्र तत्र भ्रमण कर लेता है, सो यह जो नेवले के शरीर का अभाव हुआ है वह सर्प के गुण द्वारा हुआ है या उसके गुण द्वारा नही हुआ है ? दोनो पक्षों मे दोष है, क्योंकि यदि नेवले के शरीर का अभाव सर्प के गुण द्वारा हुआ मानते हैं और उस अभाव से सर्प का उपकार होना बतलाते है तो हेतु का विशेषण "कार्यत्वे सति" भागासिद्ध होता है [पक्ष के एक देश मे नही रहना] क्योकि अभाव से कोई कार्य सपन्न नही होता है । आपके यहा अभाव को तुच्छाभावरूप माना है अत: उससे कार्य नही हो सकता ऐसा अभी सिद्ध कर दिया है । यदि उस नेवले के प्रध्वंसाभाव को सर्प के गुण द्वारा हुआ नही मानते है और फिर भी उस प्रध्वंसाभाव से सर्प का उपकार होना स्वीकार करते है तो इसी तरह अन्य जो देवदत्त आदि के स्त्री पुत्रादि के शरीर देवदत्त के प्रति उपकारक है वे उसके आत्मा के गुण द्वारा नही होकर भी उसके उपकारक क्यो नही हो सकते ?

आत्मा को सर्वत्र व्यापक सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त हुए अनुमान मे "ग्रासादिवत् जैसे ग्रासादिक देवदत्त के गुण का कार्य होने से देवदत्त के उपकारक होते है" ऐसा दृष्टात दिया था यह दृष्टात साध्य विकल [साध्य से रहित] है, इसी को आगे स्पष्ट करते है, देवदत्त के उपकारक ग्रासादिक [भोजन के ग्रास जिसको कवल, कौल, गासा इत्यादि देशभाषा मे पुकारते हैं] है उसमें देवदत्त का कौनसा गुण कारण है । देवदत्त के आत्मा का धर्मादिगुण कारण है या प्रयत्न नामा गुण कारण है ? धर्मादिगुण कारण है ऐसा कहे तो साध्य सम दृष्टांत हुआ । अर्थात् स्त्री आदि के शरीर

हस्ताद्यवयवप्रविष्टाना परिस्पन्द ,ः स तर्हि चलनलक्षणा क्रिया, कथ गुण ? अन्यथा गमनादेरपि गुणत्वानुषंगात्क्रियावार्त्तोच्छेद· । तथा चायुक्तम्–क्रियावत्त्व द्रव्यलक्षणम् ।

यदप्युक्तम्—'अदृष्ट स्वाश्रयसयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभते एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्प्रयत्नवत् । न चास्य क्रियाहेतुत्वमसिद्धम्, तथाहि–अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणुमन-सोश्चाद्य कर्म देवदत्तविशेषगुणकारित कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात् पाण्यादिपरिस्पन्दवत् । नाप्येक

देवदत्त के आत्मा के गुणपूर्वक कैसे होते हैं इस बात को स्पष्ट करने के लिये ग्रासादिका दृष्टात दिया और वही असिद्ध रहा क्योकि देवदत्त का आत्मा देवदत्त के शरीर के बाहर रहना असिद्ध है उसके स्त्री आदि के स्थान पर जैसे देवदत्त के आत्मा का अस्तित्व असिद्ध है वैसे ही ग्रासादि के स्थान पर उक्त आत्मा का अस्तित्व असिद्ध है । यदि ग्रासादिक आत्मा के धर्मादिगुण का कार्य न होकर प्रयत्न नामा गुण का कार्य है तो पुन प्रश्न होता है कि प्रयत्न किसे कहना ? आत्मा का परिस्पद होना या हाथ पैर आदि शरीर के अवयवो मे प्रविष्ट हुए आत्मा के अवयवो का परिस्पद होना ? उभयरूप भी प्रयत्न हलन चलन रूप क्रिया है, इसको गुण किस प्रकार कह सकते हैं ? यदि क्रिया भी गुण है तो गमनादि क्रिया को भी गुण कहना होगा और इसतरह क्रिया का नाम ही समाप्त हो जायगा । और क्रिया का अस्तित्व समाप्त होने से जो क्रियावान हो वह द्रव्य है ऐसा आपके यहा द्रव्य का लक्षण माना है वह अयुक्त सिद्ध होगा ।

वैशेषिक—हमारे ग्रन्थ मे अनुमान प्रमाण है कि "अदृष्ट स्वाश्रयसयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारंभते एक द्रव्यत्वे सति क्रिया हेतु गुणत्वात्, प्रयत्नवत्" अदृष्ट-धर्म-अधर्म अपने आश्रयभूत आत्मा मे सयुक्त रहकर आश्रयान्तर मे क्रिया को प्रारम्भ करता है, क्योकि एक द्रव्यत्व रूप होकर क्रिया का हेतु रूपगुण है जैसे प्रयत्न नामा गुण है । अदृष्ट का क्रिया हेतुपना असिद्ध भी नही है, अब इसी को सिद्ध करते है—अग्निकी ऊपर होकर जलते रहना रूप जो क्रिया है तथा वायु का तिर्यक् बहना तथा अणु और मन की प्रथम क्रिया ये सब देवदत्त के विशेष गुणद्वारा ही कराये गये है, क्योकि कार्य होकर उसी के उपकारक देखे जाते हैं, जैसे हस्त आदि की परिस्पद रूप क्रिया उसके गुणद्वारा होकर उसी के उपकारक होती है । "एक द्रव्यत्वे सति" यह हेतु का विशेषण असिद्ध भी नही है, अब इसको सिद्ध करते हैं—अदृष्ट एक–आत्म द्रव्यरूप है क्योंकि

द्रव्यत्वम्; तथाहि-एकद्रव्यमदृष्टं विशेषगुणत्वाच्छब्दवत् । 'एकद्रव्यगुणत्वात्' इत्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इति विशेषणम् । 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युच्यमाने हस्तमुसलसयोगेन स्वाश्रयासंयुक्तस्तम्भादिक्रियाहेतुनानेकातः, तन्निवृत्त्यर्थम् 'एकद्रव्यत्वे सति' इति । 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वात्' इत्युच्यमाने स्वाश्रयासयुक्तलोहादिक्रियाहेतुनाऽयस्कान्तेनानेकान्तः तत्परिहारार्थं 'गुणत्वात्' इत्युक्तम् ।'

तदेतदप्यविचारितरमणीयम्, अदृष्टस्य गुणत्वप्रतिषेधात्, अतो विशेष्यासिद्धो हेतुः । विशेषणासिद्धश्च, एकद्रव्यत्वाप्रसिद्धेः । तद्धि किमेकस्मिन्द्रव्ये सयुक्तत्वात्, समवायेन वर्त्तमानात्

विशेषगुण स्वरूप है, जैसे शब्द विशेषगुण होने से एक आकाश मे ही रहता है। "एक द्रव्यगुणत्वात्" इतना ही हेतु बनाते तो रूप आदि गुणो के साथ व्यभिचार होता, क्योकि रूपादिक भी एकद्रव्यरूप है इसलिये "क्रिया हेतु गुणत्वात्" विशेपण जोडा है । क्रिया हेतु गुणत्वात् इतना हेतु प्रयुक्त होता तो हाथ और मूसल के सयोग द्वारा अपने आश्रय मे जो सयुक्त नही है ऐसी स्तम्भादि पदार्थको तोड़नेवाली क्रिया होती है उसके साथ अनेकात आता उस दोष को दूर करने के लिये "एक द्रव्यत्वे सति" ऐसा विशेषण दिया है, अर्थात् हाथ और मूसल ये दो द्रव्य है, एक नहीं है, अतः इनसे जो असंयुक्त है उस स्तम्भादि मे भी क्रिया हो जाती है अर्थात् मूसल से धान्य कूटते समय दूरस्थ स्तम्भादिका पतन हो सकता है, किन्तु एक द्रव्य मे ऐसा नही होता वहां तो अपने आश्रय मे सयुक्त होवे तभी क्रिया होती है । "एक द्रव्यत्वे सति क्रिया हेतुत्वात्" ऐसा हेतु वचन होता तो अपने आश्रय से असयुक्त-दूर रहनेवाला जो लोह आदि पदार्थ उस पदार्थ में क्रिया का हेतु बननेवाले चुम्बक पाषाण के साथ अनेकात आता है, उसका परिहार करने के लिये "गुणत्वात्" यह वचन जोडा है; इसतरह "एक द्रव्यत्वे सति क्रिया हेतु गुणत्वात्" यह निर्दोष हेतु आश्रयान्तर मे क्रिया करना रूप साध्य को सिद्ध करता है । और उसके सिद्ध होने पर आत्मा का सर्वव्यापकत्व सिद्ध होता है ।

जैन—यह कथन बिना सोचे किया गया है, हम जैन ने पहले ही असिद्ध कर दिया है कि अदृष्ट गुण नही हो सकता, अतः यह हेतु विशेष्यासिद्ध है । इस हेतु का विशेषण भी असिद्ध है, एक द्रव्यत्वे सति-एक द्रव्य रूप होना अदृष्ट मे दिखायी नही देता, आप अदृष्ट को एक द्रव्यरूप क्यो मानते है ? एक द्रव्य मे सयुक्त होने से अदृष्ट को एक द्रव्यरूप माना है, अथवा समवाय से एक द्रव्य मे रहने के कारण, या अन्य

अन्यतो वा स्यात् ? न तावत्संयुक्तत्वात्; सयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्, अदृष्टस्य चाद्रव्यत्वात्। अन्यथा गुणवत्त्वेनास्य द्रव्यत्वानुषङ्गात् 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्येतद्विघटते । समवायेन वर्त्तनं च समवाये सिद्धे सिद्धयेत्, स चासिद्ध, अग्रे निषेधात् । तृतीयपक्षस्त्वनभ्युपगमादेव न युक्त ।

क्रियाहेतुत्वं चास्याऽनुपपन्नम् । तथा हि-देवदत्तशरीरसयुक्तात्मप्रदेशे वर्त्तमानमदृष्ट द्वीपातरवर्त्तिषु मणिमुक्ताफलप्रवालादिषु देवदत्त प्रत्युपसर्पणवत्सु क्रियाहेतु, उत द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसयुक्तात्मप्रदेशे, किं वा सर्वत्र ? तत्राद्यपक्षस्यानभ्युपगम एव श्रेयान्, अतिव्यवहितत्वेन द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यैस्तस्यानभिसम्बन्धेन तत्र क्रियाहेतुत्वायोगात् । ननु स्वाश्रयसयोगसम्बन्धसम्भवात्तेषामनभिसबन्धोऽसिद्ध,

---

किसी कारण से ? प्रथम विकल्प-एक द्रव्य मे सयुक्त होने के कारण अदृष्ट को एक द्रव्यरूप मानते हैं ऐसा कहना ठीक नही, क्योंकि संयोग गुणरूप होने से द्रव्य के आश्रय मे रहता है और आपका अदृष्ट तो अद्रव्य है । यदि इसे द्रव्यरूप मानेंगे तो गुणवान कहलायेगा जब वह गुणवाला द्रव्य है तब उसे "क्रियाहेतुगुणत्वात्" क्रिया का हेतु रूप गुण है ऐसा नही कह सकते । समवाय से एक द्रव्य मे रहना एक द्रव्यत्व है ऐसा द्वितीय पक्ष भी गलत है, यह पक्ष तो समवाय नामा पदार्थ के सिद्ध होने पर सिद्ध होगा, किंतु समवाय असिद्ध है, आगे उसका खण्डन होनेवाला है । तीसरा पक्ष-सयोग और समवाय से भिन्न अन्य किसी कारण से अदृष्ट मे एक द्रव्यपना है ऐसा कहना भी शक्य नही, क्योंकि सयोग और समवाय को छोडकर तीसरा सम्बन्ध आपने माना नही ।

आपने अदृष्ट मे क्रियाहेतुत्व सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु वह असिद्ध है अदृष्ट क्रिया को करता है या क्रिया का कारण है ऐसा आप मानते हैं सो देवदत्त के शरीर मे स्थित जो आत्मप्रदेश हैं उनमे रहने वाला अदृष्ट द्वीपातर मे होने वाले मणि, मोती, रत्न, प्रवालो को देवदत्त के प्रति उत्कर्षित [खीचकर लाने मे] करने मे हेतु होता है, अथवा जो अदृष्ट उसी अन्य द्वीपातरवर्त्ती द्रव्य मे रहनेवाले आत्म प्रदेशो मे स्थित है वह देवदत्त के प्रति उन मणि आदि को उत्कर्षित करने मे हेतु होता है ? या कि सर्वत्र रहनेवाले आत्म प्रदेशो का अदृष्ट उस क्रिया का हेतु होता है ? प्रथम पक्ष तो स्वीकार नही करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि द्वीपातर मे होनेवाले द्रव्य अति दूर होने के कारण अदृष्ट से सम्बन्धित नही है अतः वहा क्रिया का हेतु नही हो सकता ।

वैशेषिक—अपने आश्रयभूत आत्मा के साथ उन मणि आदि का सयोग सबध

अमुमेव ह्यात्मानमाश्रित्यादृष्ट वर्त्तते, तेन सयुक्तानि सर्वाण्यप्याकृष्यमाणद्रव्याणि, इत्यप्ययुक्तम्, तस्य सर्वत्राविशेषेण सर्वस्याकर्षणानुषगात् । अथ यददृष्टेन यज्जन्यते तददृष्टेन तदेवाकृष्यते न सर्वम्; तर्हि देवदत्तशरीरारम्भकाणा परमाणूना नित्यत्वेन तददृष्टाजन्यत्वात् कथ तददृष्टेनाकर्षणम् ? तथाप्याकर्षणेऽतिप्रसग: । तन्नाद्य पक्षो युक्त ।

नापि द्वितीय , तथाहि–यथा वायु. स्वय देवदत्त प्रत्युपसर्पणवानन्येषा तृणादीना त प्रत्युपसर्पणहेतुस्तथाऽदृष्टमपि त प्रत्युपसर्पत्स्वयमन्येषा त प्रत्युपसर्पता हेतु , द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसयुक्तात्म-

---

रहता है, अतः वे मणि आदिक अतिदूर है अदृष्ट से सबधित नही है ऐसा कहना असिद्ध है, बात यह है कि–इसी एक आत्मा का आश्रय लेकर अदृष्ट रहता है और उस व्यापक आत्मा मे स्थित अदृष्ट द्वारा आकृष्यमाण सब द्रव्य [मणि मुक्तादि] सयुक्त है अतः उक्त क्रिया संभव है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, जब आत्मा सर्वत्र समान रूप से मौजूद है तब अदृष्ट अमुक रत्नमणि आदि को ही आकर्षित करता है ऐसा सिद्ध नही होता है, वह तो सभी मणि आदि को आकर्षित कर सकता है ।

वैशेषिक—जिस अदृष्ट से जो मणि आदि पैदा होते है वह अदृष्ट उन्ही मणि आदि को आकर्षित करता है सबको नही ?

जैन—तो फिर देवदत्त के शरीर को बनाने वाले परमाणु नित्य होने से अदृष्ट द्वारा अजन्य हैं अतः वे अदृष्ट द्वारा किस प्रकार आकर्षित हो सकते है ? यदि अदृष्ट जन्य नही होकर भी आकर्षित होते है तो जैसे परमाणु आकर्षित हुए वैसे मणि आदिक भी आकर्षित होने का अतिप्रसग आता है, अत. प्रथम पक्ष—देवदत्त के शरीर के आत्मप्रदेशो मे स्थित अदृष्ट द्वीपांतर के मणि आदि को आकर्षित करता है ऐसा कहना सिद्ध नही हुआ ।

दूसरा पक्ष—जो आत्मप्रदेश देवदत्त के शरीर मे सयुक्त नही है द्वीपातर के द्रव्य मे सयुक्त है, उन आत्मप्रदेशो के अदृष्ट द्वारा द्वीपातर के मणि मुक्ता देवदत्त के प्रति आकर्षित होते है,- ऐसा कहना भी सिद्ध नही होता, अब उसी का विचार करते है—जैसे वायु स्वय देवदत्त के प्रति बहकर आती हुई अन्य तृण आदि पदार्थों को उसके प्रति आकर्षित करने मे हेतु है, वैसे देवदत्त का द्वीपांतर जो अदृष्ट है वह स्वय

प्रदेशस्थमेव वा ? प्रथमपक्षे स्वयमेवादृष्ट त प्रत्युपसर्पति, अदृष्टान्तराद्वा ? स्वयमेवास्य त प्रत्युपसर्पणे द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्याणामपि तथैव तत् इत्यदृष्टपरिकल्पनमनर्थकम् । 'यद्देवदत्त' प्रत्युपसर्पति तद्देवदत्तगुणाकृष्ट त प्रत्युपसर्पणात्' इति हेतुश्चानैकान्तिक स्यात् । वायुवच्चादृष्टस्य सक्रियत्वम् गुणत्व बाधेत । शब्दवच्चापरापरस्योत्पत्तौ अपरमदृष्ट निमित्तकारण वाच्यम्, तत्राप्यपरमित्यनवस्था। अन्यथा शब्देऽप्यदृष्टस्य निमित्तत्वकल्पना न स्यात् । अदृष्टान्तरात्तस्य त प्रत्युपसर्पणे तदप्यदृष्टान्तर त प्रत्युपसर्पत्यदृष्टान्तरात्तदपि तदन्तरादिति तदवस्थमनवस्थानम् ।

देवदत्त के प्रति आता हुआ मणि मुक्ता आदि को उसके प्रति आकर्षित करने मे कारण बनता है, याकि द्वीपांतर मे स्थित जो देवदत्त के आत्मप्रदेश है उनमे स्वय तो स्थित रहता है और केवल मणि आदि को देवदत्त के पास पहुचाने मे कारण बनता है ? प्रथम पक्ष कहो तो उक्त अदृष्ट देवदत्त के प्रति—स्वय आता है अथवा अन्य किसी अदृष्ट के निमित्त से आता है ? यदि स्वयमेव आ जाता है तो द्वीपातर के मणि मुक्ता आदि भी स्वय ही देवदत्त के पास आ जायेंगे । फिर तो अदृष्ट की कल्पना करना व्यर्थ है और अदृष्ट की कल्पना व्यर्थ होने से जो देवदत्त के पास आता है वह देवदत्त के गुण से आकृष्ट है क्योंकि उसके प्रति गमन कर आता है, ऐसा हेतु अनेकान्तिक होता है । तथा वायु नामा पदार्थ द्रव्य है अत. वह क्रियाशील हो सकता है, किन्तु आपके मतानुसार अदृष्ट द्रव्य नही, गुण है अत. उसको सक्रिय कहना बाधित होता है । वैशेषिक यदि शब्द के समान अदृष्ट को मानेगे अर्थात् जिस तरह शब्द से अपर अपर शब्द की उत्पत्ति होती जाती है और अतिम शब्द श्रोता के कर्ण तक पहुच जाता है, उसी तरह द्वीपातर का जो अदृष्ट है उससे अपर अपर अदृष्ट की उत्पत्ति होती जाती है और अंतिम अदृष्ट देवदत्त तक पहुच जाता है ऐसा माने तो अदृष्ट से अदृष्ट की उत्पत्ति होने मे निमित्त कारण बताना होगा । यदि इसतरह की उत्पत्ति मे अन्य अदृष्ट निमित्त होता है तो अनवस्था आती है । अदृष्ट से अदृष्ट उत्पन्न होने मे अन्य अदृष्टादि निमित्त की आवश्यकता नही होने से अनवस्था नही आयेगी ऐसा कहो तो शब्द से शब्द उत्पन्न होने मे अदृष्ट रूप निमित्त की आवश्यकता भी नही माननी होगी । [किंतु वैशेषिक ने वहा उक्त निमित्त की कल्पना की है] अदृष्टान्तर से उक्त अदृष्ट देवदत्त के प्रति उत्सर्पित होता है ऐसा माने तो अदृष्टातर भी किसी अन्य अदृष्ट को प्रेरित करेगा और वह तीसरा भी किसी अन्य को इसतरह अनवस्था दूषण तदवस्थ रहता है ।

अथ द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसयुक्तात्मप्रदेशस्थमेव तत्तेषां त प्रत्युपसर्पणहेतुः, न; अन्यत्र प्रयत्नादावात्मगुणे तथानभ्युपगमात् । न खलु प्रयत्नो ग्रासादिसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव हस्तादिसञ्चलनहेतुर्ग्रासादिकं देवदत्तमुखं प्रापयति, अन्तरालप्रयत्नवैफल्यप्रसगात् ।

ननु प्रयत्नस्य विचित्रतोपलभ्यते, कश्चिद्धि प्रयत्न. स्वयमपरापरदेशवानन्यत्र क्रियाहेतुर्यथानन्तरोदितः । अन्यश्चान्यथा यथा शरासनाध्यासपदसयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव शरीरा(शरा) दीना लक्ष्यप्रदेशप्राप्तिक्रियाहेतुरिति । सेय चित्रता एकद्रव्याणा क्रियाहेतुगुणाना स्वाश्रयसयुक्तासयुक्तद्रव्यक्रियाहेतुत्वेन किन्नेष्यते विचित्रशक्तित्वाद्भावानाम् ? दृश्यते हि भ्रामकाख्यस्यायस्कान्तस्य स्पर्शो गुण

द्वीपातर मे होने वाले मणि आदि पदार्थों से सयुक्त आत्मप्रदेशस्थ अदृष्ट देवदत्त के पास उन मणि रत्नादिको भेजने में निमित्त होता है ऐसा पक्ष भी ठीक नही क्योकि आपने प्रयत्न आदि गुणो को छोडकर अन्य किसी आत्मा के गुणो मे इस तरह की क्रिया करने मे निमित्त होना माना नही है । तथा प्रयत्न नामका गुण ग्रासादि से सयुक्त आत्मप्रदेश मे स्थित हुआ ही हस्तादि के सचलन का हेतु है और वही देवदत्त के मुख मे ग्रासादि को प्राप्त कराता है ऐसा नही कह सकते अन्यथा अतरालवर्ती प्रयत्न व्यर्थ होने का प्रसग आता है ।

वैशेषिक—प्रयत्न विचित्र प्रकार के हुआ करते है, कोई प्रयत्न तो स्वय अन्य अन्य प्रदेशवान होकर अन्यत्र क्रिया का निमित्त पडता है जैसे कि अभी ग्रासादिमें प्रयत्न होना बतलाया है, तथा कोई प्रयत्न अन्य प्रकार का होता है, जैसे धनुष पर स्थित जो हाथ है उसमे जो आत्मप्रदेश है उनमे होनेवाला जो प्रयत्न है वह वही रहकर बाणादि को लक्ष्य प्रदेश तक प्राप्त कराने मे निमित्त पडता है ।

जैन—ठीक है ऐसी ही विचित्रता एक द्रव्यभूत क्रिया के हेतुरूप गुण जो अदृष्ट है उनमे क्यो न मानी जाती । अर्थात् उक्त अदृष्ट स्वआश्रय मे सयुक्त द्रव्य के और असयुक्त द्रव्य के दोनो के क्रिया का हेतु क्यो नही माने, पदार्थों के शक्तियो के वैचित्र्य देखा ही जाता है । क्योकि देखा जाता है कि भ्रामक नामके चुंबक पाषाण का स्पर्श गुण एक द्रव्य रूप होकर अपने आश्रय मे सयुक्त लोह द्रव्य के क्रिया का हेतु होता है [लोह को पकडता है] और एक आकर्षक नामका चुम्बक पाषाण होता है वह अपने आश्रय मे सयुक्त नही हुए लोह द्रव्य के क्रिया का हेतु होता है । भावार्थ यह

एकद्रव्य. स्वाश्रयसंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतु', आकर्षकाख्यस्य तु स्वाश्रयासयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुरिति।

अथात्र द्रव्य क्रियाहेतुर्न स्पर्शादिगुणः; कुत एतत् ? द्रव्यरहितस्यास्य तद्धेतुत्वादर्शनाच्चेत्; तर्हि वेगस्य क्रियाहेतुत्व क्रियायाश्च सयोगहेतुत्व सयोगस्य च द्रव्यहेतुत्व न स्यात्, किन्तु द्रव्यमेवात्रापि तत्कारणम् । ननु द्रव्यस्य तत्कारणत्वे वेगादिरहितस्यापि तत्स्यात्; तर्हि स्पर्शस्य तदकारणत्वे

है कि शक्ति की विचित्रता से चु बक के दो भेद हो जाते है एक भ्रामक चुम्बक और एक आकर्षक चुम्बक । भ्रामक चु बक अपने मे स्पर्शित हुए लोह मे क्रिया कराता है [अपने मे चिपकाकर घुमाता है] और आकर्षक चु वक अपने को नही छुये हुए लोह को दूर से आकर्षित करता है, जैसे चु बक दो शक्ति द्वारा दो तरह की क्रिया का हेतु बनता है वैसे प्रयत्न या अदृष्ट नामा गुण भी दो प्रकार की क्रिया—सयुक्त द्रव्य को आकर्षित करना और असयुक्त–दूरवर्ती द्रव्य को आकर्षित करना ऐसी दो क्रिया के हेतु होते है इस तरह मानना होगा ।

वैशेपिक—चुम्बक की बात कही सो उसमे चुम्बक द्रव्य ही उस क्रिया का निमित्त है, न कि उसके स्पर्शादि गुण निमित्त हैं ?

जैन—द्रव्य क्रिया का निमित्त होता है गुण नही यह किससे ज्ञात हुआ ? द्रव्य रहित स्पर्शादिगुण क्रिया के निमित्त होते हुए देखे नही जाते इसलिये द्रव्य को क्रिया का निमित्त मानः है ऐसा कहो तो वेग नामका गुण क्रिया का निमित्त है क्रिया सयोग का निमित्त एव सयोग द्रव्य का निमित्त है ऐसा सिद्ध नही होगा । अपितु क्रिया, सयोग तथा द्रव्य मे केवल द्रव्य ही निमित्त है ऐसा सिद्ध होगा । अभिप्राय यह है कि वैशेषिक ने कहा कि स्पर्शादिगुण को क्रिया का हेतु न मानकर द्रव्य को क्रिया का हेतु मानना चाहिए, किंतु यह बात आपके ही सिद्धात से विरुद्ध पडेगी क्योंकि आपके यहा केवल द्रव्य को क्रिया का निमित्त नही माना अपितु वेग आदि गुण को भी क्रिया का निमित्त माना है ।

वैशेषिक—यदि केवल द्रव्यको क्रियाका कारण माने तो वेग गुण रहित द्रव्य के भी क्रिया हो जाती ?

तद्रहितस्यैवायस्कान्तादेस्तद्धेतुत्व किन्न स्यात् ? तथाविघस्यास्यादर्शनान्नेति चेत्, तर्हि लोहद्रव्य-क्रियोत्पत्तावुभयं दृश्यते उभय कारणमस्तु विशेषाभावात् । तथा च 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्' -इत्यस्यानेकान्तः ।

सर्वत्र चादृष्टस्य वृत्तौ सर्वद्रव्यक्रियाहेतुत्वं स्यात् । 'यददृष्ट यद्द्रव्यमुत्पादयति तददृष्ट तत्रैव क्रिया करोति' इत्यत्रापि शरीरारम्भकाणुषु क्रिया न स्यादित्युक्तम् । अदृष्टस्य चाश्रय आत्मा, स च

जैन—तो फिर चु बक के विषय मे भी स्पर्शगुण को आकर्षण क्रिया का निमित्त न मानकर केवल चुम्बक द्रव्य को माना जाय तो स्पर्शगुण रहित चुम्बकादिक क्रिया के निमित्त है ऐसा मानना होगा ।

वैशेषिक—स्पर्श रहित चु बक आकर्षण क्रिया को करते हुए नही देखे जाते अतः ऐसा नही माना है ।

जैन—तो फिर लोह द्रव्य की क्रिया होने मे स्पर्शगुण और चुम्बक द्रव्य दोनो कारण दिखाई देते है अत· दोनो को कारण मानना चाहिए कोई विशेषता नही है । इस तरह दोनो को कारण स्वीकार करने पर तो "एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्" हेतु अनैकान्तिक ठहरता है । क्योंकि उस हेतु वाले अनुमान मे क्रिया का हेतु गुण को बतलाया है और यहा द्रव्य तथा गुण दोनो को क्रिया का हेतु मान लिया है ।

देवदत्त का अदृष्ट द्वीपांतर के मणि आदि को आकर्षित करता है ऐसा सिद्ध करने के लिये वैशेषिक ने अनुमान दिया था उसमे कौनसा अदृष्ट मणि आदि को आकर्षित करता है यह प्रश्न होकर तीन पक्षो से विचार करना प्रारम्भ किया था उनमे से दो पक्ष देवदत्त के शरीर के आत्मप्रदेशस्थ अदृष्ट आकर्षण करता है, और द्वीपातर स्थित आत्मप्रदेश का अदृष्ट आकर्पण करता है ये तो खण्डित हो चूके, अब तीसरा पक्ष सर्वत्र रहने वाले आत्मप्रदेशो का अदृष्ट द्वीपातरस्थ मणि आदि का आकर्षण करता है ऐसा मानना भी गलत है, क्योकि इस तरह की मान्यता से सब जगह के मणि आदि पदार्थो को आकर्पित करने का प्रसग आता है ।

शका—जो अदृष्ट जिस द्रव्य का निर्माण करता है वह अदृष्ट उसी द्रव्य में क्रिया को करता है ?

हर्षविषादादिविवर्तात्मको द्वीपान्तरवर्तिद्रव्यैर्वियुक्तमेवात्मान स्वसवेदनप्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते इति प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टो हेतुः। तद्वियुक्तत्वेनाऽतस्तत्प्रतीतावप्यात्मनस्तद्द्रव्यैः सयोगाभ्युपगमे पटादीनां मेर्वादिभिस्तेषा वा पटादिभिः सयोग' किन्नेष्यते यतः साङ्ख्य दर्शन न स्यात् ? प्रमाणबाधनमुभयत्र समानम्।

किञ्च, धर्माधर्मयोर्द्रव्यान्तरसयोगस्य चात्मैक आश्रयः, स च भवन्मते निरश। तथा च धर्माधर्माभ्या सर्वात्मनास्यालिङ्गिततनुत्वान्न तत्सयोगस्य तत्रावकाशस्तेन वा न तयोरिति। अथ

समाधान—इस विषय मे भी कह चुके हैं, अर्थात्—जो जिसको निर्माण करता है वही उसी मे ही क्रिया का हेतु होता है ऐसा कहना शरीर के आरम्भक परमाणुओ से व्यभिचरित–बाधित होता है, क्योकि शरीर के आरम्भक परमाणु अदृष्ट से निर्मित नही हैं फिर भी अदृष्ट द्वारा आकर्षित होते हैं। तथा दूसरी बात यह है कि अदृष्ट का आश्रय आत्मा है और वह आत्मा हर्ष-विषाद आदि पर्याय युक्त है, ऐसा आत्मा द्वीप द्वीपातरवर्त्ती पदार्थों से पृथक् रूप अपने आपको स्वसवेदन प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव मे आता है, अतः आत्मा को सर्वत्र व्यापक मानना प्रत्यक्ष बाधित है ऐसे प्रत्यक्ष बाधित पक्ष को जो सिद्ध करता है वह हेतु कालात्ययापदिष्ट कहलाता है। द्वीपातरवर्त्ती पदार्थों से आत्मा पृथक् रूप से प्रतीत होता है तो भी उसका उन द्रव्यो के साथ सयोग है ऐसा माने तो वस्त्र, गृह, चटाई आदि पदार्थों का मेरु आदि के साथ सयोग होना या मेरु कुलाचल, नदी आदि के साथ उन वस्त्रादिका सयोग होना भी क्यो न माना जाय ? क्योकि पृथक् पदार्थों का भी सयोग मान लिया। और इसतरह सब जगह सब पदार्थ है, सब जगह आत्मा है इत्यादि माने तो साख्य मत कैसे नही आवेगा ? प्रमाण बाधा उभयत्र समान है अर्थात् जैसे पट आदि पदार्थों का मेरु आदि के साथ सयोग मानने मे प्रमाण से बाधा आती है वैसे द्वीपातरवर्त्ती पदार्थों के साथ आत्मा का सयोग मानने मे प्रमाण से बाधा आती है।

किञ्च, धर्म और अधर्म का एव द्वीपातरस्थ द्रव्य सयोग का आश्रय एक आत्मा है और आत्मा आपके मतमे निरश है, सो निरश आत्मा मे धर्मादिका और द्रव्य सयोग का आश्रितपना कैसे बन सकता है, यदि धर्म अधर्म द्वारा सब तरफ से आत्मा व्याप्त होगा तो उसमे द्रव्य सयोग का अवकाश नही हो सकेगा और यदि द्रव्य

धर्माधर्मालिङ्गिततत्स्वरूपपरिहारेण तत्संयोगस्तत्स्वरूपान्तरे वर्त्तते; तर्हि घटादिवदात्मन सावयवत्वं स्वारम्भकावयवारभ्यत्वमनित्यत्वं च स्यात् ।

एतेनैतन्निरस्तम्–'देवदत्त प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयो देवदत्तगुणाकृष्टास्त प्रत्युपसर्पणवत्त्वाद्ग्रासादिवत्' इति । यथैव हि तद्विशेषगुणेन प्रयत्नाख्येन समाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पन्त· समुपलभ्यन्ते ग्रासादयः, तथा नयनाञ्जनादिना द्रव्यविशेषेणाप्याकृष्टा· स्त्र्यादयस्त प्रत्युपसर्पन्त समुपलभ्यन्ते एव अत. 'कि

सयोग द्वारा आत्मा व्याप्त होगा तो धर्म अधर्म का अवकाश नही होगा । [क्योकि आत्मा मे अश नही है]

वैशेषिक—धर्म अधर्म से व्याप्त जो आत्मा का स्वरूप है उसका परिहार करके द्रव्य सयोग उस आत्मा के स्वरूपातर मे रहता है अत· कोई दोप नही आता ?

जैन—तो फिर घट पट आदि के समान आत्मा भी अश वाला–अवयव वाला सिद्ध होगा और यदि अवयव युक्त है तो अपने अवयवो के आरभक परमाणुओ से रचा होने से अनित्य भी सिद्ध होगा । अर्थात् आत्मा को सावयव एव अनित्य मानना होगा जो कि वैशेषिक को अनिष्ट है ।

जिसतरह देवदत्त के प्रति द्वीपातरवर्त्ती पदार्थो को आकर्पित करने का अनुमान खडित होता है उसी तरह पशु आदि को देवदत्त के प्रति आकर्षित करने का अनुमान प्रमाण खडित होता है, अब उसी अनुमान के विषय मे विचार करते है— देवदत्त के पास आते हुए पशु आदि देवदत्त के गुणो से आकृष्ट है क्योकि वे उसके प्रति उत्सर्पणशील है, जैसे ग्रास आदिक आते है । इस अनुमान मे यह सिद्ध करना है कि देवदत्त के पास गाय भैसादि पशु आते है वे देवदत्त के अदृष्ट नामा गुण के कारण आते है, किंतु यह सिद्ध नही होता । क्योकि जिसप्रकार देवदत्त के प्रयत्न नामा विशेष गुण से आकृष्ट होकर ग्रासादिक देवदत्त के निकट आते हुए देखे जाते है उसीप्रकार नेत्र के अजन आदि द्रव्य द्वारा भी स्त्री आदि आकृष्ट होकर देवदत्त के पास आते हुए देखे जाते है, अर्थात् गुण द्वारा देवदत्त के पास पदार्थ आते है और द्रव्य जो अजनादिक है उसके द्वारा भी पदार्थ का देवदत्त के प्रति आकृष्ट होना सिद्ध होता है, अत. सदेह हो जाता है कि प्रयत्न के समान किसी गुण द्वारा आकृष्ट होकर ये पशु आदिक देवदत्त

प्रयत्नसधर्मणा केनचिदाकृष्टा· पश्वादय किं वाञ्जनादिसधर्मणा' इति सन्देह· । शक्य हि परेणाप्येव वक्तुम्–विवादापन्ना: पश्वादयोऽञ्जनादिसधर्मणा समाकृष्टास्त प्रत्युपसर्पणवत्त्वात् स्त्र्यादिवत् । अथ तदभावेपि प्रयत्नादपि तद्दृष्टेरनेकात।; र्तीह प्रयत्नसधर्मणो गुणस्याभावेप्यजनादेरपि तद्दृष्टेर्भवदीय-हेतोरप्यनैकान्तिकत्व स्यात् । अत्रानुमीयमानस्य प्रयत्नसधर्मणो हेतुत्वादव्यभिचारे अन्यत्राप्यंजना-दिसधर्मणोनुमीयमानस्य हेतुत्वादव्यभिचार: स्यात् । तत्र प्रयत्नस्यैव सामर्थ्यादस्य वैफल्ये अत्राप्य-ञ्जनादेरेव सामर्थ्यात्तद्वैफल्यं किं न स्यात् ? अथाजनादेरेव तद्धेतुत्वे सर्वस्य तद्वत स्त्र्याद्याकर्षण स्यात्,

---

के पास आये है अथवा अजन समान किसी द्रव्य विशेष के द्वारा आये हैं ? इसतरह सदेह का स्थान होने से पर जो हम जैन है वे आप वैशेषिक के प्रति अनुमान उपस्थित कर सकते हैं कि—विवाद मे स्थित ये पशु आदि पदार्थ अंजन सदृश किसी वस्तु द्वारा समाकृष्ट होते है, क्योकि उस देवदत्त के प्रति उत्सर्पणशील है, जैसे स्त्री आदि ।

वैशेपिक—अजनादि के सदृश द्रव्य विशेष का अभाव होने पर भी प्रयत्न गुण से भी ग्रासादि पदार्थ देवदत्त के पास आकृष्ट हुए देखे जाते है, अत: अजन सदृश द्रव्य द्वारा पशु आदिक आकृष्ट होते है ऐसा कहना अनैकान्तिक होता है ?

जैन–तो फिर प्रयत्न सदृश गुण के अभाव होने पर भी अजन आदि द्रव्य द्वारा भी स्त्री आदि पदार्थ का आकृष्ट होना देखा जाता है, अतः आपका हेतु भी अनैकान्तिक होता है ।

वैशेषिक—पशु या ग्रास आदि के आकृष्ट होने मे अनुमीयमान प्रयत्न सदृश को हेतु बनाया है अत व्यभिचार दोष नही होगा ।

जैन—तो फिर स्त्री आदि के आकृष्ट होने मे अनुमीयमान अजन आदि द्रव्य सदृश को हेतु बनाया है अत व्यभिचार नही आता ऐसा मानना चाहिए ।

वैशेषिक—ग्रास आदि के आकर्षित करने मे प्रयत्न गुण की हो सामर्थ्य देखी जाती है अत अन्य अजनादि द्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ है ?

जैन—इसीतरह स्त्री आदि के आकर्षित करने मे अजनादि द्रव्य की ही सामर्थ्य है अत. उसमे अदृष्टादि गुण को कारण मानना व्यर्थ है ऐसा क्यो न कहा जाय ?

न चाजनादौ सत्यप्यविशिष्टे तद्वत् सर्वान्प्रतिस्त्र्याद्याकर्षणम्, ततोऽवसीयते तदविशेषेपि यद्वैकल्यात्तन्न स्यात्तदपि तत्कारण नाजनादिमात्रम्; इत्यप्यपेशलम्; प्रयत्नकारणेपि समानत्वात् । न खलु सर्व प्रयत्नवन्त प्रति ग्रासादय: समुपसर्पन्ति तदपहारादिदर्शनात् । ततोऽत्राप्यन्यत्कारणमनुमीयताम्, अन्यथा न प्रकृतेप्यविशेषात् ।

अञ्जनादेश्च स्त्र्याद्याकर्षणं प्रत्यकारणत्वे घटादिवत्तदर्थिना तदुपादान न स्यात् । उपादाने वा सिकतासमूहात्तैलवन्न कदाचित्ततस्तत्स्यात् । न च दृष्टसामर्थ्यस्याजनादे कारणत्वपरिहारेणा-

---

वैशेषिक—स्त्री आदि को आकृष्ट करने के लिये मात्र अंजनादि को कारण माना जाय तो अजनादि युक्त सभी पुरुषो के स्त्री आदि का आकर्षण होता । किन्तु ऐसा नही है, अजनादि कारण समान रूप से होते हुए भी अजनधारी सभी पुरुषो के प्रति स्त्री आदि का आकर्षण नही देखा जाता, अत निश्चय होता है कि अन्जनादि साधारण कारण समान रूप से मौजूद होते हुए भी जिसके नही रहने से स्त्री आदि का आकर्षण नही हुआ वह भी आकर्षण का कारण [अदृष्ट] है, मात्र अन्जनादि नही ?

जैन—यह कथन असुन्दर है, प्रयत्न रूप कारण के विषय मे भी इस तरह कह सकते है, सभी प्रयत्नशील व्यक्ति के प्रति ग्रासादिक निकट नही आते, बीच मे भी उनका अपहरण देखा जाता है, अत ग्रासादि के आकर्षण का कारण प्रयत्न मात्र न होकर अन्य भी है ऐसा अनुमान करना होगा यदि ऐसी बात इष्ट नही है तो अजनादि द्रव्य रूप कारण में दूसरे अदृष्ट आदि कारण का अनुमान नही करना चाहिये उभयत्र कोई विशेषता नही है ।

दूसरी बात यह है कि स्त्री आदि को अपने प्रति आकर्षित करने के लिये अंजनादिद्रव्य कारण नही होते तो स्त्री आदि के इच्छुक पुरुष अजनादि का ग्रहण नही करते, घटादि के समान अर्थात् जैसे घटादि के इच्छुक पुरुष घटादि की प्राप्ति के लिये अजनादिका प्रयोग नही करता है, वैसे स्त्री को आकर्षित करने के लिये भी उसका उपयोग नही करते अथवा यदि अंजनादिको ग्रहण करने पर भी उससे स्त्री का आकर्षण कभी भी नही होना चाहिए जैसे–वालु की राशि से कभी भी तेल नही निकलता है । साक्षात् जिस अजनादिकी सामर्थ्य स्त्री आकर्षण मे देखी जाती है उसको कारण नही

त्रान्यकारणत्वकल्पने भवतोऽनवस्थातो मुक्तिः स्यात् । अथाजनादिकमदृष्टसहकारि तत्कारण न केवलम्; हन्तैव सिद्धमदृष्टवदञ्जनादेरपि तत्कारणत्वम् । तत सन्देह एव–'किं ग्रासादिवत्प्रयत्नसधर्मणाकृष्टा पश्वादय किं वा स्त्र्यादिवदञ्जनादिसधर्मणा तत्सयुक्तेन द्रव्येण' इति । परिस्पन्दमानात्मप्रदेशव्यतिरेकेण ग्रासाद्याकर्षणहेतोः प्रयत्नस्यापि तद्विशेषगुणस्य पर प्रत्यसिद्धे साध्यविकलता दृष्टान्तस्य ।

यच्चोक्तम्–'देवदत्त प्रत्युपसर्पन्त' इति; तत्र देवदत्तशब्दवाच्यः कोर्थ–शरीरम्, आत्मा, तत्सयोगो वा, आत्मसयोगविशिष्ट शरीर वा, शरीरसयोगविशिष्ट आत्मा वा, शरीरसयुक्त आत्मप्रदेशो

माने और अन्य किसी कारण की कल्पना करे तो आप वैशेषिक के अनवस्था दोष से छुटकारा नही होवेगा । अर्थात् अजन साक्षात् कारण दिखाई देता है तो भी दूसरे कारण की कल्पना करते है तो उसके आगे अन्य कारण की कल्पना भी संभव है और इस तरह पूर्व पूर्व कारण का परिहार करके अन्य अन्य कारण की कल्पना बढती ही जायगी ।

वैशेषिक—स्त्री आकर्षण मे जो अजनादि कारण देखा जाता है वह अदृष्ट का सहकारी कारण है केवल अजनमात्र कारण नही है ।

जैन—आपने तो अदृष्ट के समान अजनादिको भी आकर्षित होने का कारण मान लिया ? और इसतरह जब उभय कारण माने तब सदेह होगा कि देवदत्त के प्रति पशु आदिक जो आकृष्ट हुए वे ग्रासादि के समान प्रयत्न सदृश गुण द्वारा आकृष्ट हुए है या कि स्त्री आदि के समान नेत्राजन सदृश द्रव्य से सयुक्त हुए द्रव्य द्वारा आकृष्ट हुए हैं । आप वैशेषिक आत्मा मे प्रयत्न नामा विशेष गुण को मानते है किन्तु हम जैन के प्रति यह असिद्ध है, क्योकि हलन चलन रूप आत्म प्रदेशो की क्रिया को छोडकर अन्य कोई प्रयत्न नामा गुण नही है जो ग्रासादि के आकर्षण का हेतु हो । अतः ग्रासादि का दृष्टात साध्यविकल है ।

"देवदत्त के पास पशु आदि आते है" इस वाक्य मे देवदत्त शब्द से कौनसा पदार्थ लेना शरीर या आत्मा, अथवा उसका सयोग, आत्मसयोग से विशिष्ट शरीर, शरीरसयोग से विशिष्ट आत्मा अथवा शरीर से सयुक्त आत्मा के प्रदेश । इन छहो

वा ? यदि शरीरम्, तर्हि शरीर प्रत्युपसर्पणाच्छरीरगुणाकृष्टाः पश्वादय इत्यात्मविशेषगुणाकृष्टत्वे साध्ये शरीरगुणाकृष्टत्वसाधनाद्विरुद्धो हेतुः ।

अथात्मा; तस्य समाकृष्यमाणार्थदेशकालाभ्या सदाभिसम्बन्धान्न त प्रति किञ्चिदुपसर्पेत् । न ह्यत्यन्ताश्लिष्टकण्ठकामिनी कामुकमुपसर्पति । अन्यदेशो ह्यर्थोऽन्यदेश प्रत्युपसर्पति, यथा लक्ष्य-देशार्थं प्रति बाणादि। । अन्यकाल वा प्रत्यन्यकालः, यथाकुर प्रत्यपरापरशक्तिपरिणामलाभेन बीजादि । न चैतदुभयं नित्यव्यापित्वाभ्यामात्मनि सर्वत्र सर्वदा सन्निहिते सम्भवति, अतो 'देवदत्त प्रत्युपसर्पन्त ' इति धर्मिविशेषण 'देवदत्तगुणाकृष्टाः' इति साध्यधर्मः 'त प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्' इति साधनधर्म परस्य स्वरुचिविरचित एव स्यात् ।

विकल्पो मे से कौनसा विकल्प इष्ट है ? यदि शरीर देवदत्त शब्द का अर्थ है तो शरीर के प्रति उत्सर्पण होने स पशु आदि शरीर के गुण से आकर्षित हुए है । अत आत्मा के गुण से आकर्षित होनेरूप साध्य मे शरीर के गुण से आकर्षित होनेरूप हेतु साध्य से विपरीत होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास होता है ।

दूसरा विकल्प—देवदत्त शब्द का वाच्य आत्मा है, ऐसा कहना भी ठीक नही, आत्मा के निकट आकृष्ट होने योग्य कोई पदार्थ अवशेष नही है, सपूर्ण देश तथा काल के साथ उसका सदा सम्बन्ध रहने से उसके निकट कोई वस्तु आकर्षित नही होगी । जिसके अत्यत गाढरूप से कामिनी आलिगन कर रही है उसका कामुक के प्रति आकृष्ट होना क्या अवशेष है ? वह तो आकृष्ट ही है । जो अन्य स्थान पर पदार्थ है वह अन्य स्थान के प्रति जाता है, जैसे बाण पहले धनुष पर था और फिर लक्ष्य के स्थान पर जाता है । अथवा अन्यकाल का पदार्थ अन्यकाल के प्रति पहुचता है, जैसे अपर अपर शक्ति परिणमन द्वारा बीज अकुर के प्रति प्राप्त होता है । इसतरह की देश और काल के निमित्त से होनेवाली आकर्षण रूप क्रिया आत्मा के प्रति होना अशक्य है, क्योकि आत्मा नित्य एवं सर्वगत होने के कारण सब जगह सतत सन्निहित [निकट] ही रहता है । इसलिये "देवदत्त के पास आकृष्ट होते हैं" ऐसा पक्ष का विशेषण और "देवदत्त के गुण के कारण ही आकृष्ट होते हैं" यह साध्य धर्म, एव "उसके प्रति आकृष्ट होने वाले होने से" यह साधनधर्म ये सबके सब वैशेषिक के स्वकपोल कल्पित मात्र सिद्ध होते हैं ।

अथ शरीरात्मसयोगो देवदत्तशब्दवाच्य॰, न, अस्य तच्छब्दवाच्यत्वे त प्रति चैषामुपसर्पणे 'तद्गुणाकृष्टास्ते' इत्यायातम् । न च गुणेषु गुणा सन्ति, निर्गुणत्वात्तेषाम् ।

'आत्मसयोगविशिष्ट शरीर तच्छब्दवाच्यम्' इत्यत्रापि पूर्ववद्विरुद्धत्व द्रष्टव्यम् ।

'शरीरसयोगविशिष्ट आत्मा तच्छब्दवाच्य.' इत्यत्रापि प्राक्तन एव दोष. नित्यव्यापित्वेनास्य सर्वत्र सर्वदा सन्निधानानिवारणात्। न खलु घटसयुक्तमाकाश मेर्वादौ न सन्निहितम्।

अथ शरीरसयुक्त आत्मप्रदेशस्तच्छब्देनोच्यते, स काल्पनिक, पारमार्थिको वा ? काल्पनिकत्वे काल्पनिकात्मप्रदेशगुणाकृष्टा. पश्वादयस्तथाभूतात्मप्रदेश प्रत्युपसर्पणवत्त्वादिति तद्गुणानामपि

शरीर और आत्माका सयोग देवदत्त-शब्द का वाच्यार्थ है ऐसा तीसरा विकल्प भी ठीक नही है क्योकि वैशेषिक ने सयोग को गुणरूप माना है अतः सयोग को देवदत्त शब्द का वाच्यार्थ मानकर उस संयोग के प्रति पशु आदि का उत्सर्पण स्वीकार करने का अर्थ यह हुआ कि उक्त शरीरात्म सयोगरूप गुण मे पशु आदि को आकृष्ट करने का गुण है, किन्तु यह अशक्य है, क्योकि गुणो मे गुण नही होते। वे स्वय निर्गुण रहते हैं ।

आत्मा के सयोग से विशिष्ट जो शरीर है वह देवदत्त शब्दका अर्थ है ऐसा चौथा विकल्प भी पहले के समान विरुद्ध है ।

शरीर के सयोग से विशिष्ट जो आत्मा है वह देवदत्त शब्दका वाच्य है ऐसा पाचवा विकल्प भी नही बनता इसमे भी वही पूर्वोक्त दोष आता है कि आत्मा नित्य सर्वगत है वह सदा सर्वत्र रहता है, अतः उसके प्रति आकृष्ट होना असभव है वह तो सर्वदा सभी पदार्थो के सन्निधान मे-ही है । इसीका उदाहरण देकर खुलासा करते हैं कि घट से सयुक्त आकाश है वह मेरु आदि- दूरवर्त्ती पदार्थो के निकट नही हो सो वात नही, क्योकि आकाश सर्वगत है, इसीप्रकार आत्मा सर्वगत है वह जैसे शरीर मे है वैसे दूरवर्त्ती पशु आदि के सन्निधान मे भी है, अत उसके प्रति पशु आदि के आकृष्ट होने की बात कहना असत् है ।

शरीर मे सयुक्त हुए जो आत्मा के प्रदेश है वे देवदत्त शब्द का वाच्यार्थ है, ऐसा छठा विकल्प माने तो वह आत्मा का प्रदेश काल्पनिक है या पारमार्थिक है ? काल्पनिक माने तो काल्पनिक आत्मप्रदेशका गुण भी काल्पनिक कहलायेगा । फिर उस

काल्पनिकत्व साधयेत् । तथा च सौगतस्येव तद्गुणाकृत' प्रेत्यभावोपि न पारमार्थिकः स्यात् । न हि कल्पितस्य पावकस्य रूपादयस्तत्कार्यं वा दाहादिकं पारमार्थिकं दृष्टम् ।

पारमार्थिकाश्चेदात्मप्रदेशा. ते ततोऽभिन्ना, भिन्ना वा ? यद्यभिन्ना', तदात्मैव ते इति नोक्तदोषपरिहारः। भिन्नाश्चेत्; तद्विशेषगुणाकृष्टाः पश्वादय इत्येतत्तेषामेवात्मत्व प्रसाधयतीत्यन्यात्मकल्पनानर्थक्यम् । कल्पने वा सावयवत्वेन कार्यत्वमनित्यत्वं चास्य स्यादित्युक्तम् ।

गुणसे आकृष्ट हुए पशु आदि उसके पास आते है इत्यादि हेतु आत्मगुणो को काल्पनिक ही सिद्ध करेगा, आत्मा के प्रदेश काल्पनिक सिद्ध होते हैं तो अदृष्ट नामा आत्मा का गुण भी काल्पनिक और उस गुण निमित्तक होनेवाला परलोक भी काल्पनिक होगा जैसे सौगत परलोक को काल्पनिक मानते है ।

विशेषार्थ—वैशेषिक आत्मा को निरश मानते है अत आचार्य ने पूछा कि शरीर से सयुक्त आत्माके प्रदेशको देवदत्त शब्द का वाच्यार्थ मानते है तो वे वास्तविक है या काल्पनिक ? काल्पनिक है तो उसमे होने वाले अदृष्टादि गुण भी काल्पनिक होगे, किंतु अदृष्टादिको असत् गुणरूप मानना खुद वैशेषिक को इष्ट नही होगा क्योकि अदृष्ट जो धर्म-अधर्म है उसी के द्वारा परलोक होना, वहा सुखादिका भोगना आदि कार्य होता है वह कार्य परमार्थभूत नही रहेगा, काल्पनिक ही होवेगा जैसे बौद्ध आत्मा को क्षणिक मानकर उसमे सवृति से परलोक गमन आदि कल्पना किया करते है वैसे ही वैशेषिक के यहा कल्पना मात्र का परलोक सिद्ध होगा । क्योकि परलोक का हेतु जो अदृष्ट गुण है उसे काल्पनिक मान लिया । जो पदार्थ स्वय काल्पनिक है उससे वास्तविक कार्य सिद्ध नही होता बालक मे कल्पना से अग्नि का आरोप करने पर उससे दाह आदि वास्तविक कार्य होता देखा नही जाता ।

शरीर से सयुक्त जो आत्मप्रदेश है उन्हे काल्पनिक न मानकर पारमार्थिक माना जाय तो पुन. प्रश्न होता है कि वे प्रदेश आत्मा से भिन्न है कि अभिन्न है ? यदि अभिन्न है तो आत्मा ही प्रदेश कहलाया फिर वही पहले का दोप आयेगा अर्थात् आत्मा सर्वगत है उसकी तरफ किसी पदार्थ का आकृष्ट होना शक्य नही रहेगा । यदि पारमार्थिक प्रदेश आत्मा से भिन्न मानते है तो "उसके विशेषगुण से आकृष्ट हुए पशु आदि आते है" इत्यादि अनुमान उन आत्मप्रदेशो को ही आत्मत्व सिद्ध कर देता है इसतरह

यच्चान्यदुक्तम्–'सर्वगत आत्मा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादाकाशवत्' इति, तत्र किं स्वशरीर एव सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्व हेतु, उत स्वशरीरवत्परशरीरेऽन्यत्र च ? तत्र प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतु', तत्रैव ततस्तस्य सर्वगतत्वसिद्धेः। द्वितीयपक्षे त्वसिद्धः, तथोपलम्भाभावात्। न खलु बुद्धयादयस्तद्गुणा· सर्वत्रोपलभ्यन्ते, अन्यथा प्रतिप्राणि सर्वज्ञत्वादिप्रसङ्ग।

अन्य कोई आत्माको मानने की कल्पना व्यर्थ होती है, यदि आत्माको माने तो अवयव सहित मानना होगा, और सावयवी पदार्थ कार्यरूप एव अनित्य होता है ऐसा आपका ही सिद्धात होने से आत्माको अनित्य स्वीकार करना होगा।

वैशेषिक का कहना है कि आत्मा के गुण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं अत· हम उसको आकाश की तरह सर्वगत मानते है, इसपर प्रश्न होता है कि सर्वत्र गुण उपलब्ध होने का क्या अर्थ है अपने शरीर मात्र मे सर्वत्र उपलब्ध होना, या अपने शरीर के समान पराये शरीर मे एव अन्यत्र–अतराल मे भी गुणो का उपलब्ध होना ? प्रथम पक्ष कहो तो विरुद्ध पडेगा, क्योकि स्वशरीर मात्र मे गुणो का उपलब्ध होना स्वीकार किया इससे गुणो का शरीर मे ही सर्वगतत्व सिद्ध होगा न कि सर्व जगत मे होने वाला सर्वगतत्व सिद्ध होगा, दूसरा पक्ष कहे तो हेतु असिद्ध होता है, क्योकि अपने शरीर के समान पराये शरीर एव अन्यत्र आत्मा के गुणो की उपलब्धि होना असिद्ध है, बुद्धि आदि आत्मा के गुण सर्वत्र उपलब्ध नही होते है, यदि पराये शरीरादि मे भी अपने आत्मा के गुण उपलब्ध होते तो प्रत्येक प्राणी सर्वज्ञ बन जाता, एव पराये दु.ख सुख, हर्ष शोक आदि से स्वय दु खी आदि बन जाता।

भावार्थ—आत्मा को सर्वगत मानते है तो जैसे हमारे शरीर मे हमारी आत्मा है वैसे पराये शरीर मे भी है तथा अन्यत्र सब जगह है, और सब जगह आत्मा है तो जैसे अपने शरीर का अनुभव होता है वैसे पराये शरीर तथा सब ससार के सपूर्ण पदार्थो का अनुभव होवेगा, फिर तो प्रत्येक प्राणी सर्वज्ञ कहलायेगा, क्योकि उसका आत्मा सब जगह होने से सबको जान रहा है। तथा अपने शरीर के समान पराये शरीर मे हमारी आत्मा है तो पराये दुःख सुख से हमे भी दु खी, सुखी बनना पड़ेगा, किंतु ऐसा नही देखा जाता है। अत आत्मा सर्वगत नही है।

अथ मन्याखेटवत्खेटान्तरे मनुष्यजन्मवज्जन्मान्तरे चोपलभ्यमानगुणत्व विवक्षितम्; तत्कि युगपत्, क्रमेण वा ? युगपच्चेत्, असिद्धो हेतु· । क्रमेण चेत्; सर्वे सर्वगताः स्यु·, घटादीनामपि तथा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वसम्भवात् । तेषा देशान्तरगमनात्तत्सम्भवे आत्मनोपि ततस्तत्सम्भवोस्तु तद्वत्तस्यापि सक्रियत्वात् । प्रत्यक्षेण हि सर्वो देशाद्देशान्तरमायातमात्मान प्रतिपद्यते, तथा च वदत्यहमद्य योजनमेकमागत । मन शरीर वागतमिति चेत्; किं पुनस्तदहम्प्रत्ययवेद्यम् ? तथा चेत्, चार्वाकमतानुषङ्गः ।

शका—जिसप्रकार कोई व्यक्ति है वह मान्यखेट नगर मे जैसे उपलब्ध होता है वैसे अन्य नगर मे भी उपलब्ध होता है, तथा मनुष्य पर्याय मे जैसे उपलब्ध होता है वैसे अन्य जन्म मे भी उपलब्ध होता है, सो इसतरह का उपलब्ध होनारूप जो गुण है उसे उपलभ्यमानगुणत्व कहते है, ऐसे गुणत्व की यहा पर विवक्षा है ?

समाधान—अच्छा तो इसतरह का उपलभ्यमानगुणत्व एकसाथ सर्वत्र होता है या क्रम से होता है ? एक साथ सर्वत्र उपलब्ध होना असिद्ध है, क्योकि ऐसी प्रतीति नही होती । क्रम से सर्वत्र उपलब्ध होने को उपलभ्यमान गुणत्व कहते है ऐसा कहो तो सम्पूर्ण पदार्थ सर्वगत बन जायेगे, क्योकि घटादि भी क्रम से उसतरह के [एक देश, नगर आदि से अन्य देशादि मे उपलब्ध होने को सर्वत्र उपलभ्यमान गुणत्व कहते है उसतरह के] उपलभ्यमान गुणत्ववाले हुआ करते है ?

शका—घटादि पदार्थ देश से देशातर चले जाते है अतः सर्वत्र उपलब्ध होते हैं ?

समाधान—तो फिर आत्मा भी देशांतर मे चला जाता है अत: वह सर्वत्र उपलभ्यमान गुणवाला कहलाता है, ऐसा मानना चाहिए, क्योकि घटादि पदार्थों के समान आत्मा भी सक्रिय–क्रियाशील पदार्थ है सभी प्राणी प्रत्यक्ष से अनुभव करते हैं कि देश से देशांतर मे आया हूं तथा कहते भी है कि आज मैं एक योजन चलकर आया हू इत्यादि ।

वैशेषिक—योजन आदि चलने की बात तो ऐसी है कि मन या शरीर चलकर आया करता है ?

ननु चास्य सक्रियत्वे लोष्टादिवन्मूर्त्तिभिः सम्बन्धः स्यात्। तत्र केयं मूर्तिर्नाम–असर्वगतद्रव्य परिमाणम्, रूपादिमत्त्वं वा स्यात्? तत्राद्यपक्षो न दोषावहः; अभीष्टत्वात्। न हीष्टमेव दोषाय जायते। रूपादिमती मूर्त्तिः स्यादिति चेत्, न; व्याप्त्यभावात्। रूपादिमन्मूर्त्तिमानात्मा सक्रियत्वाद्-बाणादिवत्, इत्यप्यसुन्दरम्; मनसाऽनैकान्तिकत्वात्। न चास्य पक्षीकरणम्, 'रूपादिविशेषगुणान-धिकरणं सन्मनोऽर्थं प्रकाशयति शरीरादर्थान्तरत्वे सति सर्वत्र ज्ञानकारणत्वादात्मवत्' इत्यनुमान-विरोधानुषङ्गात्।

जैन—तो क्या मन या शरीर अहं प्रत्यय द्वारा वेद्य होता है? अर्थात् "अहं" ऐसा मैं पना का ज्ञान मनको या शरीर को होता है ऐसा माने तो चार्वाक मत मे प्रवेश होवेगा।

वैशेषिक—आत्मा को क्रियावान मानेंगे तो लोष्ट–मिट्टी का ढेला आदि के समान मूर्त्तिक पदार्थो के साथ इसका सम्बन्ध मानना होगा।

जैन—मूर्त्ति किसे कहते हैं असर्वगत द्रव्य [शरीर] के परिमाण को या रूपादिमानपने को? प्रथम बात कहो तो कोई दोष नही आता, क्योकि असर्वगत द्रव्य परिमाण को मूर्त्ति कहना हमे भी इष्ट है। जो इष्ट होता है वह दोष के लिये नही हुआ करता। रूपादिमानपने को मूर्त्ति कहते हैं तो ठीक नही, क्योकि ऐसी व्याप्ति नही है कि जो जो सक्रिय हो वह वह रूपादियुक्त मूर्त्तिक ही हो।

शका—ऐसी व्याप्ति अनुमान द्वारा सिद्ध होती है, आत्मा रूपादियुक्त मूर्त्ति-मान है, क्योकि वह क्रियाशील है, जैसे बाणादिक क्रियाशील होने से मूर्तिमान हैं?

समाधान—यह अनुमान गलत है, इसमे "सक्रियत्वात्" हेतु मनके साथ अनैकान्तिक होता है अर्थात् मन सक्रिय तो है किन्तु रूपादियुक्त मूर्त्तिमान नही है। यदि कहा जाय कि मनको भी हम पक्ष मे लेते हैं यानी मूर्त्तिमान मानते हैं तो यह बात भी ठीक नही, इसमे अनुमान प्रमाण से विरोध आता है–मन रूपादि विशेष गुणो का अनधिकरण होकर पदार्थ को प्रकाशित करता है [साध्य] क्योकि यह शरीर से अर्थान्तर-भिन्न है एव सर्वत्र ज्ञानका कारण है, जैसे आत्मा सर्वत्र ज्ञानका कारण है।

ननु, सक्रियत्वे सत्यात्मनोऽनित्यत्व स्याद्घटादिवत्, इत्यपि वार्त्तम्, परमाणुभिर्मनसा चानेकान्तात् ।

किंच, अस्यात: कथञ्चिदनित्यत्व साध्येत, सर्वथा वा ? कथञ्चिच्चेत्, सिद्धसाधनम् । सर्वथा चानित्यत्वस्य घटादावप्यसिद्धत्वात्साध्यविकलता दृष्टान्तस्य ।

किंच, आत्मनो निष्क्रियत्वे ससाराभावो भवेत् । ससारो हि शरीरस्य, मनस:, आत्मनो वा स्यात् ? न तावच्छरीरस्य; मनुष्यलोके भस्मीभूतस्यामरपुराऽगमनात् ।

नापि मनस ; निष्क्रियस्यास्यापि तद्विरहात् । सक्रियत्वेपि तत्क्रियायास्ततोऽभेदे तद्वत्तदनित्यत्वप्रसङ्गान्नास्य क्वचित्क्षणमात्रमवस्थान स्यात् । भेदे सम्बन्धासिद्धि:, समवायनिषेधात् ।

शका—आत्मा को सक्रिय मानेंगे तो अनित्य भी मानना होगा, जैसे घट आदि पदार्थ सक्रिय होने से अनित्य दिखायी देते हैं ?

समाधान—यह शका भी व्यर्थ है, क्योकि सक्रियत्व और अनित्यत्व का अविनाभाव स्वीकार करेंगे तो परमाणु तथा मनके साथ व्यभिचार आयेगा, अर्थात्–मन तथा परमाणु सक्रिय है किन्तु अनित्य नही है ।

तथा सक्रिय होने से आत्मा घटादि की तरह अनित्य है, ऐसा कहा सो 'सक्रियत्वात्' हेतु से आत्मा को कथचित् अनित्य सिद्ध करना है या सर्वथा अनित्य सिद्ध करना है ? कथचित् कहो तो सिद्ध साधन है, क्योकि आत्मा को कथचित् अनित्य तो हम जैन मानते ही है । सर्वथा अनित्य सिद्ध करना अशक्य है, सर्वथा अनित्यपना घट आदि पदार्थो में भी नही होता अत घटादि के समान आत्मा अनित्य है ऐसा दृष्टात देना साध्य विकल ठहरता है ।

दूसरी बात यह है कि आप वैशेपिक आत्माको निष्क्रिय मानते है किन्तु इससे ससार का अभाव होने का प्रसग आता है, ससार किसके होता है, शरीर के, मनके या आत्माके ? शरीर के हो नही सकता, क्योकि शरीर तो यही मनुष्य लोक मे भस्मीभूत हो जाता है वह देवलोक मे नही जाता। [फिर ससार काहे का ? ससार तो चतुर्गतियो मे भ्रमण करने का नाम है ?]

मनके ससार होता है ऐसा कहना भी गलत है, मन भी निष्क्रिय है अत. उसके ससार होना शक्य नही । मनको सक्रिय माने तो मनकी क्रिया मनसे भिन्न है कि

अचेतन च तदनिष्टनरकादिपरिहारेणेष्टे स्वर्गादौ कथ प्रवर्त्तेतस्वभावत , ईश्वरात्, तदात्मन , अदृष्टाद्वा ? प्रथमपक्षे दत्त. सर्वत्र ज्ञानाय जलाजलि । अथेश्वरप्रेरणात्; न, तन्निषेधात् । को वायमीश्वरस्याग्रहो यतस्तत्प्रेरयति, न तदात्मानम् ? अस्य प्रेरणे चेदमनुगृहीत भवति—

"अज्ञो जन्तुरनीशोयमात्मन: सुखदु:खयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।।"

[महाभा० वनपर्व० ३०।२८] इति ।

अभिन्न है, यदि क्रिया मनसे अभिन्न है तो जैसे क्रिया अनित्य है वैसे मन भी अनित्य होवेगा, फिर इस मनका कही पर क्षणमात्र का अवस्थान सिद्ध नही होगा । मनकी क्रिया मन से भिन्न है ऐसा माने तो उनका सम्बन्ध सिद्ध नही होगा । समवाय से सबध होना भी अशक्य है, समवाय का निषेध कर आये है और आगे भी निषेध करने वाले है ।

तथा मनके ससार होता है ऐसा माने तो वह अचेतन है, अचेतन मन अनिष्ट ऐसे नरक आदि का परिहार करके इष्टभूत स्वर्ग आदि मे जाने के लिये किसप्रकार प्रवृत्ति करेगा ? स्वभाव से ही स्वर्ग आदि मे जायेगा या ईश्वर के निमित्त से अथवा मन जिसमे सम्वद्ध है उस आत्मा के निमित्त से, अथवा अदृष्ट के निमित्त से ? स्वभाव से जाने की वात कहो तो ज्ञान के लिये जलाजलि देनी होगी, क्योकि ज्ञान के विना अचेतन मन ही इष्टानिष्ट की प्रवृत्ति निवृत्तिरूप कार्य करता है, तो ज्ञानको मानने की आवश्यकता ही नही रहती । ईश्वर की प्रेरणा से [निमित्त से] मन अनिष्ट का परिहार कर इष्ट स्वर्गादिमे गमन करता है ऐसा कहो तो भी ठीक नही हम जैन ने ईश्वर का निराकरण पहले ही कर दिया है, [द्वितीय भाग मे] तथा ईश्वर का यह कौनसा आग्रह है कि वह मनको ही प्रेरित करता है उसके आत्माको नही ? यदि ईश्वर इस मनको प्रेरित करता है ऐसा माने तो आपके शास्त्र का कथन अनुगृहीत कैसे होगा, आपके यहां लिखा है कि—यह ससारी आत्मा अज्ञ है अपने सुख दु ख की प्राप्ति परिहार मे असमर्थ है जव उस आत्मा को ईश्वर की प्रेरणा होती है तव स्वर्ग या नरक चला जाता है ।।१।। इस श्लोक मे ईश्वर आत्मा को प्रेरित करता है मनको नही, ऐसा सिद्ध होता है ।

'तदात्मप्रेरणात्' इत्यत्रापि ज्ञातम्, अज्ञात वा तत्तेन प्रेर्येत ? न तावदाद्यो विकल्पः; जन्तुमात्रस्य तत्परिज्ञानाभावात् । नापि द्वितीयः, अज्ञातस्य बाणादिवत्प्रेरणासम्भवात् । ननु स्वप्ने स्वहस्तादयोऽज्ञाता एव प्रेर्यन्ते; न; अहितपरिहारेण हिते प्रेरणा(ऽ)सम्भवात्, ज्वलज्वलनज्वालाजालेपि तत्प्रेरणोपलम्भात् ।

अदृष्टप्रेरणात्; इत्यप्यसारम्; अचेतनस्यापि (स्यास्यापि) तत्प्रेरकत्वायोगात् । तत्प्रेरितस्यात्मन एव वर प्रवृत्तिरस्तु चेतनत्वात्तस्य । दृश्यते हि वशीकरणौषधसयुक्तस्य चेतनस्यानिष्टगृहगमनपरिहारेण विशिष्टगृहगमनम् । तन्न मनसोपि ससारः ।

मन सम्बन्धी आत्मा की प्रेरणा से (निमित्त से) मन स्वर्गादि गमन मे प्रवृत्ति करता है ऐसा कहे तो प्रश्न होगा कि ज्ञात हुए मनको आत्मा प्रेरित करता है या अज्ञात हुए मनको प्रेरित करता है ? प्रथम पक्ष ठीक नही है, क्योकि जीव मात्र को आपके उस [अणुरूप, अचेतन अतीन्द्रिय ऐसे] मनका परिज्ञान होना अशक्य है । दूसरा पक्ष भी ठीक नही, क्योकि जो आत्माके अज्ञात है उस मनको आत्मा प्रेरित नही कर सकता, जैसे जो पुरुप बाण विद्याको नही जानता वह बाणको प्रेरित नही करता ।

शंका—अज्ञातको भी प्रेरित कर सकते है, स्पप्न मे अपने हाथ पैरादिको अज्ञात होकर प्रेरित किया जाता है ?

समाधान—यह कथन ठीक नही, स्वप्न मे अहितका परिहार करके हित में प्रवृत्ति कराना रूप प्रेरणा नही हो सकती है । स्वप्न अवस्था मे जलती हुई अग्नि की ज्वाला मे भी हाथ आदि को प्रेरित किया जाना देखा जाता है । अतः आत्मा द्वारा अज्ञात मन प्रेरित किया जाता है ऐसा तीसरा पक्ष मानना भी गलत ठहरता है ।

अदृष्ट की प्रेरणा पाकर मन अहितका परिहार करके स्वर्गादिगमनरूप ससार करता है ऐसा चौथा पक्ष स्वीकार करना भी उचित नही होगा, क्योकि मनके समान अदृष्ट भी अचेतन होने से उसमे प्रेरकपने का अयोग है । इससे अच्छा तो यह है कि आत्मा ही उस अदृष्ट द्वारा प्रेरित होकर अहितका परिहार कर स्वर्गादि गमनरूप प्रवृत्ति करता है, क्योकि आत्मा चेतन है अतः वह प्रेरणानुसार कार्य की क्षमता रखता है । देखा भी जाता है कि वशीकरण औषधि संयुक्त पुरुष अनिष्ट गृहके गमनका परिहार करते हुए अपने को इष्ट ऐसे विशिष्ट गृह मे प्रवेश कर जाता है । अत. मनके ससार होता है, मन संसार परिभ्रमण को करता है ऐसा कहना असिद्ध होता है ।

आत्मनस्तु स्यात् यद्येकदेहपरित्यागेन देहान्तरमसौ व्रजेत्, तथा च घटादिवत्तस्य सर्वत्रो-पलभ्यमानगुणत्वमित्युभयो॰ सर्वगतत्व न वा कस्यचिदविशेषात् ।

यच्चाकाशवदित्युक्तम्, तत्राकाशस्य को गुणः सर्वत्रोपलभ्यते-शब्दः, महत्त्व वा ? न ताव-च्छब्द, अस्याकाशगुणत्वनिषेधात् । नापि महत्त्वम्, अस्यातीन्द्रियत्वेनोपलम्भासम्भवात् ।

एतेन 'बुद्धयधिकरण द्रव्य विभु नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वादाकाशवत्' इत्यपि प्रत्युक्तम्; साधनविकलत्वाद्दृष्टान्तस्य । हेतोश्चानैकान्तिकत्वम्, परमाणूना नित्यत्वे सत्य-

---

यदि वैशेषिक आत्माके संसार होना मानते है तब तो ठीक है किन्तु फिर वह एक शरीरका त्याग कर दूसरे शरीर मे गमन करेगा अत. सर्वत्र उपलभ्यमान गुणत्व उसमे कैसे सम्भव होगा ? अर्थात् नही होगा । इसलिये घट और आत्मा में अविशेपता होने से किसी के भी सर्वत्र उपलभ्यमान गुणत्व और सर्वगतत्व सिद्ध नही होता अर्थात् जैसे घट के गुण सर्वत्र उपलभ्यमान नही है और न घट सर्वगत है, वैसे आत्मा के गुण सर्वत्र उपलब्ध नही होते और न वह सर्वगत ही है ।

आकाश के समान आत्माके गुण सर्वत्र उपलब्ध होते है ऐसा वैशेषिक ने कहा था सो आकाश का कौनसा गुण सर्वत्र उपलब्ध होता है शब्दनामा गुण या महत्व-नामा गुण ? शब्द तो हो नही सकता, शब्द आकाश का गुण नही है ऐसा हम प्रतिपादन कर चुके है । महत्वनामा गुण भी सर्वत्र उपलब्ध होना अशक्य है, क्योंकि वह गुण अतीन्द्रिय है ।

जैसे सर्वत्र उपलभ्यमानगुणत्वनामा हेतु असिद्ध है वैसे ही अग्रिम कहा जाने वाला हेतु तथा पूरा अनुमान ही असिद्ध है, अब उसीको बताते है—जो द्रव्य बुद्धिका अधिकरण होता है वह व्यापक [सर्वगत] होता है, क्योकि नित्य होकर हमारे द्वारा उपलब्ध होने योग्य गुणका अधिष्ठान है, जैसे आकाश हमारे द्वारा उपलभ्यमान गुणका अधिष्ठान होने से व्यापक है । इस अनुमान मे आकाश का दृष्टात दिया है वह साधन विकल है [हेतु से रहित है क्योकि शब्द आकाश का गुण नही है तथा महत्वनामा गुण अतीन्द्रिय होने से उपलब्ध नही होता है इसलिये आकाश के समान आत्माका गुण सर्वत्र उपलभ्यमान है ऐसा कहना साधन विकल ठहरता है] तथा हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त

स्मदाद्युपलभ्यमानपाकजगुणाधिष्ठानत्वेपि विभुत्वाभावात् । तत्पाकजगुणानामस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे हि 'विवादाध्यासितं क्षित्यादिकमुपलब्धिमत्कारणं कार्यत्वाद्घटादिवत्' इत्यत्र प्रयोगे व्याप्तिर्न स्यात् । अथ 'नित्यत्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियोपलभ्यमानगुणत्वात्' इत्युच्यते; तर्हि बाह्येन्द्रियोपलभ्यमानत्वस्य बुद्धावसिद्धेर्विशेषणासिद्धो हेतु ।

है आगे इसीको कहते है—जो नित्य होकर हमारे उपलब्ध होने योग्य गुणवाला है वह व्यापक है ऐसा हेतु और साध्यका अविनाभाव नही बनता, ऐसा अविनाभाव करने से परमाणु के साथ व्यभिचार होगा । परमाणु नित्य होकर हमारे उपलब्ध होने योग्य पाकज गुणका अधिष्ठान तो है किन्तु व्यापक नही है । यदि कहो कि परमाणु के पाकज गुण हमारे उपलब्ध होने योग्य नही है, तो आप वैशेषिक के ऊपर ही आपत्ति आयेगी, इसीका खुलासा करते है—विवाद मे आये हुए पृथिवी, पर्वतादि पदार्थ उपलब्धि होने योग्य कारण वाले हैं, क्योकि वे कार्य हैं, जैसे घटादिक कार्य है ऐसा आपके यहा अनुमान प्रयोग है, इसमे साध्य–साधन की व्याप्ति सिद्ध नही हो सकेगी, क्योकि परमाणुओ के पाकज गुणोंको जो कि एक कार्यरूप हैं, हमारे अप्रत्यक्ष मान लिया, अत. जो कार्य होता है वह उपलब्धि कारणवाला होता है, [प्रत्यक्ष होता है] ऐसा घटित नही कर सकते ।

वैशेषिक—जो द्रव्य बुद्धिका अधिकरण होता है वह व्यापक होता है, इत्यादि अनुमानको थोड़ासा सुधारा जाय, नित्यत्वे सति अस्मदादि उपलभ्यमान गुणाधिष्ठानात् इस हेतु मे "बाह्येन्द्रिय" इतना शब्द जोडकर कहा जाय अर्थात् बुद्धिका अधिकरणभूत द्रव्य व्यापक होता है [साध्य] क्योकि नित्य होकर हमारे बाह्यइन्द्रिय द्वारा उपलब्ध होने योग्य गुणोका अधिष्ठान है, ऐसा हेतु देने से साध्य–साधनकी [पृथिवी आदि को उपलब्धि कारणवाला सिद्ध करने वाले अनुमान के साध्य–साधन की] व्याप्ति घटित हो जायगी ।

जैन—ऐसा "बाह्येन्द्रिय" शब्द हेतु मे बढाने पर दूसरे दोषका प्रसग आयेगा, बुद्धि बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष तो नही है किन्तु व्यापक द्रव्य के अधिकरण मे रहती है अत: यह हेतु असिद्ध विशेषण वाला कहा जायगा ।

नित्यत्व च सर्वथा, कथञ्चिद्वा विवक्षितम् ? सर्वथा चेत्, पुनरपि विशेषणासिद्धत्वम्। कथञ्चिच्चेत्; घटादिनानेकान्त, तस्य कथञ्चिन्नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वेपि विभुत्वाभावात्।

यदप्युक्तम्-सर्वगत आत्मा द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वादाकाशवत्। 'द्रव्यात्' (द्रव्यत्वात्) इत्युच्यमाने हि घटादिना व्यभिचार, तत्परिहारार्थम् 'अमूर्त्तत्वात्' इत्युक्तम्। 'अमूर्त्तत्वात्' इत्युच्यमाने च रूपादिगुणेन गमनादिकर्मणा वानेकान्त, तन्निवृत्त्यर्थं 'द्रव्यत्वे सति' इत्युक्तम्।

तदप्यसमीचीनम्, यतोऽमूर्त्तत्व मूर्त्तत्वाभाव, तत्र किमिद मूर्त्तत्व नाम यत्प्रतिषेधोऽमूर्त्तत्व स्यात् ? रूपादिमत्त्वम्, असर्वगतद्रव्यपरिमाण वा ? प्रथमपक्षे मनसानेकान्तः; तस्य द्रव्यत्वे सत्य-

---

बुद्धिका अधिकरणभूत जो द्रव्य है उसे आप नित्य कह रहे हैं सो नित्यपना कौनसा विवक्षित है सर्वथा नित्यत्व या कथचित् नित्यत्व ? सर्वथा कहो तो वही विशेषण असिद्ध होने का दोष आयेगा, क्योकि सर्वथा नित्यपना सिद्ध नही है। कथचित् नित्यत्व विवक्षित है ऐसा कहो तो घटादि के साथ व्यभिचार आयेगा, क्योकि घटादि पदार्थ कथचित् नित्य होकर हमारे द्वारा उपलब्ध होने योग्य गुणका अधिष्ठान हैं किंतु उनमे साध्य जो व्यापकत्व है वह है नही, अत. साध्य के अभाव मे हेतु के रह जाने से हेतु अनैकान्तिक होगा।

वैशेषिक—आत्माको व्यापक सिद्ध करनेवाला और भी अनुमान है, 'सर्वगतः आत्मा द्रव्यत्वे सति अमूर्त्तत्वात्' आकाशवत्, आत्मा सर्वगत है, क्योकि वह द्रव्य होकर अमूर्त्त है, जैसे आकाश सर्वगत है। "द्रव्यत्वात्" इतना मात्र हेतु देते तो घटादि के साथ व्यभिचार होता अत उसके परिहार के लिये "अमूर्त्तत्वात्" ऐसा कहा है। तथा "अमूर्त्तत्वात्" इतना हेतु का कलेवर रखते तो रूपादिगुण एव गमनादि कर्म के साथ व्यभिचार होता [क्योकि हम वैशेषिक रूपादिगुण आदि को अमूर्त्त मानते हैं] अत. उसके परिहार के लिये "द्रव्यत्वे सति" ऐसा विशेषण प्रयुक्त किया है, इस तरह निर्दोष अनुमान से आत्मा सर्वगत सिद्ध होता है ?

जैन—यह कथन असमीचीन है, मूर्त्तत्व के अभाव को अमूर्त्तत्व कहते हैं उसमे मूर्त्तत्व किसे कहना जिसके कि प्रतिषेधरूप अमूर्त्तत्व होता है। रूपादिमानपना मूर्त्तत्व है अथवा असर्वगत द्रव्य का परिमाण मूर्त्तत्व है ? प्रथम पक्ष मे मनके साथ

मूर्त्तत्वेपि सर्वगतत्वाभावात् । द्वितीयपक्षे तु किमसर्वगतद्रव्य भवतां प्रसिद्ध यत्परिमाण मूर्त्तिर्वर्ण्यते ? घटादिकमिति चेत्; कुतस्तत्तथा ? तथोपलम्भाच्चेत्; किं पुनरसौ भवत· प्रमाणम् ? तथा चेत्, तद्वदात्मनोपि स एवासर्वगतत्व प्रसाधयतीति मूर्त्तत्वम्, अत· 'अमूर्त्तत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः । तदसाधने न प्रमाणम्–"लक्षणयुक्ते बाधासम्भवे तल्लक्षणमेव दूषित स्यात्" [प्रमाणवार्तिकाल०] इति न्यायात् । तथा चातो घटादावप्यसर्वगतत्वमतिदुर्लभम् । शक्य हि वक्तुम्–'घटादय सर्वगता द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वादाकाशवत्' इति । पक्षस्य प्रत्यक्षबाधन हेतोश्चासिद्धिः उभयत्र समाना ।

अनैकान्तिकता होगी, क्योकि मन द्रव्य एव रूपादिमान रहित अमूर्त्त होकर भी सर्वगत नही है, अत· अमूर्त्त द्रव्य होने से आत्मा सर्वगन है ऐसा अनुमान गलत होता है । द्वितीय पक्ष कहो तो आपके सिद्धांत मे असर्वगत द्रव्य कौनसा है जिसके कि परिमाण रूप मूर्ति कही जाती है ? घटादि को असर्वगत द्रव्य कहते है ऐसा कहो तो पुन· प्रश्न होता है कि घटादि असर्वगत क्यो है ? आप कहो कि असर्वगतपने से ही इनकी उपलब्धि हुआ करती है अत वैसा मानते है, इस पर हम जैन पूछते है कि आप वैशेषिक को वैसी उपलब्धि होना क्या प्रमाणभूत है ? यदि प्रमाणभूत है तो जैसे घटादि की असर्वगतत्व की उपलब्धि घटादिको असर्वगत सिद्ध कर देती है, वैसे आत्मा भी असर्वगतरूप उपलब्ध होता है अत· उसे प्रमाणभूत मानकर उस हेतु से आत्माको असर्वगत स्वीकार करना चाहिए, और आत्मा असर्वगत है तो मूर्त्त भी कहलायेगा इसतरह "अमूर्त्तत्वात्" हेतु असिद्ध होता है । यदि कहा जाय कि आत्मा मे जो असर्वगतपने की उपलब्धि हो रही है वह आत्मा को असर्वगतरूप सिद्ध नही करती, तो उस उपलब्धि को प्रमाणभूत नही मान सकेंगे क्योकि "लक्षणयुक्ते वाधासभवे तत् लक्षण मेव दूपित स्यात्" प्रमाण का लक्षण जिसमे मौजूद है ऐसे प्रमाण मे यदि बाधा आती है तो समझ लेना चाहिए कि वह लक्षण ही सदोप है, ऐसा न्याय है । तथा यदि आत्मा मे उपलब्धि के अनुसार असर्वगतपना स्वीकार नही किया तो घट आदि पदार्थो का असर्वगतपना भी सिद्ध नही होवेगा, कोई कह सकता है कि घटादि पदार्थ सर्वगत– व्यापक हैं, क्योकि द्रव्य होकर अमूर्त्त हैं, जैसे आकाश अमूर्त्त है । पक्ष में प्रत्यक्ष बाधा आना एव हेतु असिद्ध होना इत्यादि दूषण तो दोनो जगह घटादि और आत्मा में समान हो आयेंगे । भावार्थ यह है कि जैसे घट आदि पदार्थों मे असर्वगतत्व की प्रतीति होती है वैसे आत्मा मे भी होती है, फिर घटादिको तो असर्वगत मानना और आत्माको

ननु चात्मनः सर्वगतत्वात्तत्रास्त्यमूर्त्तत्वमसर्वगतद्रव्यपरिमाणसम्बन्धाभावलक्षणं न, घटादौ विपर्ययात् । ननु चास्य कुतः सर्वगतत्व सिद्धम्–साधनान्तरात्, अत एव वा ? साधनान्तराच्चेत्; तदेव (तत एव) समीहितसिद्धेः 'द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वात्' इत्यस्य वैयर्थ्यम् । अत एव चेदन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि तस्य सर्वगतत्वेऽसर्वगतद्रव्या (व्य) परिमाणसम्बन्धरूपमूर्त्तत्वाभावोऽमूर्त्तत्व सिध्यति, अतश्च तत्सर्वगतत्वमिति ।

किञ्च 'अमूर्त्तत्वात्' इति किमय प्रसज्यप्रतिषेधो मूर्त्तत्वाभावमात्रममूर्त्तत्वम्, पर्युदासो वा मूर्त्तत्वादन्यद्भावान्तरमिति ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; तुच्छाभावस्य प्राक्प्रबन्धेन प्रतिषेधात् । सतोपि

असर्वगत नही मानना यह असभव है । कोई कहे कि घट पट आदि को सर्वगत कैसे माने ? वे तो साक्षात् असर्वगत दिखाई देते हैं, तो आत्मा के पक्ष मे यही बात है, आत्मा भी साक्षात् असर्वगत प्रतीत हो रहा है उसको किसप्रकार सर्वगत माना जाय ? अर्थात् नही माना जा सकता ।

वैशेषिक—आत्मा के सर्वगतपना है अतः उसमें असर्वगत द्रव्य परिमाण सम्बन्ध का अभाव होना रूप अमूर्त्तत्व सिद्ध होता है किंतु घट आदि मे ऐसा अमूर्त्तत्व सिद्ध नही होता, क्योकि घटादि असर्वगत है ?

जैन—आत्मा के सर्वगतपना किस हेतु से सिद्ध होगा, अन्य हेतु से या इसी (अमूर्त्तत्व) हेतु से ? अन्य हेतु से आत्मा का सर्वगतत्व सिद्ध होता है ऐसा कहो तो उसीसे हमारा समीहित सिद्ध होगा, अर्थात् हम पहले ही कह रहे है कि "द्रव्यत्वे सति अमूर्त्तत्वात्" हेतु व्यर्थ है, उससे आत्मा का सर्वगतपना सिद्ध नही होता । इसी अमूर्त्तत्व हेतु से आत्मा का सर्वगतपना सिद्ध करते हैं, ऐसा कहो तो अन्योन्याश्रय दोष होगा–जब आत्मा के सर्वगतपना सिद्ध होवे तब उसके असर्वगत द्रव्य परिमाणरूप मूर्त्त का अभाव अमूर्त्तपना सिद्ध होवेगा, और जब वह सिद्ध होगा तब उसके द्वारा आत्मा का सर्वगतपना सिद्ध होगा इसतरह दोनो ही असिद्ध कहलायेगे ।

तथा "अमूर्त्तत्वात्" इस हेतु पद मे नकारात्मक नञ समास मे अभाव अर्थ है वह अभाव कौनसा है, मूर्त्तत्व का अभाव मात्र अमूर्त्तत्व है ऐसा प्रसज्यप्रतिषेध है, या कि मूर्त्त का भावातर अमूर्त्त है ऐसा पर्युदास प्रतिषेध है ? प्रथम अभाव अयुक्त है, तुच्छ अभाव का निराकरण पहले ही कर आये है [दूसरे भाग मे] यदि इस अभाव

चास्य ग्रहणोपायाभावादज्ञातासिद्धो हेतु । न हि प्रत्यक्षस्तद्ग्रहणोपायं , तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्, तुच्छाभावेन सह मनसोऽन्यस्य चेन्द्रियस्य सन्निकर्षाभावात् ।

ननु मन आत्मना सम्बद्धमात्मविशेषणं च तदभाव:; तत सम्बद्धविशेषणीभावस्तेन मनस इति । युक्तमिदं यद्यसावात्मनो विशेषण भवेत् । न चास्यैतदुपपन्नम् । विशेष्ये हि विशिष्टप्रत्यय-हेतुर्विशेषण यथा दण्ड पुरुषे । न च तुच्छाभावस्तत्प्रत्ययहेतुर्घटते; सकलशक्तिविरहलक्षणत्वादस्य, अन्यथा भाव एव स्यादर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात् परमार्थसतो लक्षणान्तराभावात् । सत्तासम्बन्धस्य तल्लक्षणस्य कृतोत्तरत्वात् ।

को माने तो इसको ग्रहण करने का [जानने का] कोई नही दिखता, अत "अमूर्त्तत्वात्" हेतु अज्ञात नामा असिद्ध हेत्वाभास है इस तुच्छाभावरूप अमूर्त्तत्वको प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नही कर सकते, क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है ऐसा आपने माना है, और तुच्छाभाव के साथ मन या इन्द्रियो का सन्निकर्ष हो नहीं सकता ।

वैशेषिक—सन्निकर्ष होने की बात ऐसी है कि मन आत्मा के साथ सम्बद्ध है और मूर्त्तत्व का अभावरूप जो अमूर्त्तत्व है वह आत्मा का विशेषण होने से आत्मा में सम्बद्ध है, इसतरह सम्बद्ध विशेषणीभाव युक्त आत्मा द्वारा मन सम्बन्धित होने से अमूर्त्तत्व को प्रत्यक्ष ग्रहण कर सकता है ।

जैन—यह कथन तब युक्त हो सकता है जब मूर्त्तत्व का अभावरूप अमूर्त्तत्व विशेषण आत्मा के सिद्ध होवे, किन्तु यह विशेपण सिद्ध नही होता । विशेष्य मे विशिष्ट ज्ञान कराना विशेषण कहलाता है, जैसे पुरुष रूप विशेष्य मे दण्डा रूप विशेषण "यह दण्डावाला है" ऐसा ज्ञान कराता है, किन्तु ऐसा विशिष्ट ज्ञान कराना तुच्छ भाव के वश का नही है, क्योकि तुच्छाभाव सपूर्ण शक्तियो से रहित होता है, यदि शक्ति रहित नही है या विशिष्ट ज्ञान कराता है तो इसे भाव स्वभाववाला मानना होगा क्योकि परमार्थभूत सत्ता स्वभाववाले पदार्थ का लक्षण यही है कि अर्थक्रिया मे समर्थ होना भावरूप पदार्थ का अन्य लक्षण नही है, सत्ताका सम्बन्ध जिसमे हो वह भावरूप पदार्थ है ऐसा लक्षण गलत है, इस सत्ता सम्बन्ध के विषय मे पहले वहुत कह आये है [घटादि पदार्थ का अस्तित्व या सत् सत्ता समवाय से होता है पहले ये घटादि पदार्थ

किञ्च, गृहीत विशेषण भवति, "नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इत्यभिधानात् । ग्रहणे चेतरेतराश्रयः । तथाहि–आत्मसम्बद्धेनेन्द्रियेणासौ गृहीतः सिद्धः सन्नात्मनो विशेषण सिध्यति, तत आत्मसम्बद्धेनेन्द्रियेण ग्रहणमिति । यदि चात्मा स्वयमसर्वगतद्रव्यपरिमाणसम्बन्धविकलः सिद्धस्तर्हि तावतैव समीहितार्थसिद्धेः किमपरेण तदभावेनेति कथं विशेषणम् ? अथ विपरीतः; कथं तदभावो यतो विशेषणम् ?

किञ्च, आत्मतदभावाभ्या सह विशेषणीभाव सम्बद्ध, असम्बद्धो वा ? सम्बद्धश्चेत्, तर्हि यथात्मनि विशिष्टविज्ञानविधानादात्मनस्तदभावो विशेषणम्, तथा विशेषणीभावोपि 'आत्मा विशेष्य-

---

असत् रहते है फिर इनमे समवाय से सत्ता आती है इत्यादि वैशेषिक की मान्यता पहले यथा प्रसग निराकृत हो चुकी है ।]

पदार्थ का विशेषण वही होता है जो ज्ञात–जाना हुआ हो "ना गृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" विशेषण को जाने बिना विशेष्य का ज्ञान नही होता, ऐसा नियम है । अब यह देखना कि आत्मारूप विशेष्य का अमूर्त्तत्वरूप विशेषण ग्रहण–ज्ञात होता है या नही, ग्रहण होना माने तो अन्योन्याश्रय होवेगा, कैसे सो बताते हैं–आत्मा से सम्बद्ध जो मनरूप इद्रिय है उसके द्वारा मूर्त्तत्व का अभावरूप अमूर्त्तत्व गृहीत सिद्ध होगा तो वह आत्मा का विशेषण होना सिद्ध होगा, और जब यह विशेषण सिद्ध होगा तब उससे आत्मा मे सम्बद्ध मन इन्द्रिय द्वारा मूर्त्तत्वाभावरूप अमूर्त्तत्व गृहीत होगा । उपर्युक्त दोषो से बचने के लिये आप वैशेषिक आत्मा स्वय ही असर्वगत द्रव्य परिमाण के सबध से रहित है ऐसा मानते हैं तो उतने मात्र से ही इष्ट तत्व सिद्ध हो जायगा, फिर मूर्त्तत्वाभाव नामा अभाव से क्या प्रयोजन रहता है ? अर्थात् कुछ भी नही, अत वह आत्मा का विशेषण भी नही बनता है । अभिप्राय यह है कि जब आत्मा स्वय ही असर्वगत द्रव्य के सम्बन्ध से रहित है तो उसको अमूर्त्तत्व विशेषण देकर सिद्ध करने की आवश्यकता नही रहती है । यदि आप आत्मा को स्वय उस असर्वगत द्रव्य सबध से रहित नही मानते हैं तो उस द्रव्य सबध का अभाव कैसे कर सकते है जिससे कि असर्वगत द्रव्य परिमाणरूप मूर्त्त का अभाव जो अमूर्त्तत्व है वह आत्मा का विशेषण बन सके ।

आत्मा और मूर्त्तत्वका अभाव [वैशेषिकके अभिप्राय के अनुसार असर्वगत द्रव्य परिमाण मूर्त्तत्व है और उसका अभाव ही मूर्त्तत्व का अभाव है] इन दोनो के साथ

स्तदभावो विशेषणम्' इति विशिष्टप्रत्ययजननात् विशेषणं समवायवत्प्रसक्तम्, तथा च तत्राप्यपरेण तत्सम्बन्धेन भवितव्यमित्यनवस्था। अथासम्बद्धः; कथं विशेषणविशेष्याभिमतयोः स भवेत् यतस्तत्र विशिष्टप्रत्ययप्रादुर्भावः सम्बन्धो वा? विशिष्टप्रत्ययहेतुत्वाच्चेत्; ईश्वरादौ प्रसङ्गः। तथापि स 'तयोः' इति कल्पने भावस्याभावः समवायिनोऽस (नोः स) मवायस्तथैव स्यादित्यलं तत्र विशेषणीभावसम्बन्धकल्पनया। तन्न प्रत्यक्ष तद्ग्रहणोपायः।

नाप्यनुमानम्; परस्य प्रत्यक्षाभावे तदभावात्, तन्मूलत्वात्तस्य। नन्विदमस्ति–आत्माऽमूर्त्त इति बुद्धिर्भिन्नाभावनिमित्ता, अभावविशेषणभावविषयबुद्धित्वात्, अघटं भूतलमित्यादिबुद्धिवत्;

विशेषणीभाव है वह उन दोनों से सम्बद्ध है कि असम्बद्ध है, सम्बद्ध है तो जैसें आत्मा मे विशिष्ट ज्ञान कराने से [आत्मा अमूर्त्त है ऐसा ज्ञान कराने से] वह मूर्त्तत्वका अभाव आत्मा का विशेपण बना वैसे विशेषणीभाव भी होगा अर्थात् आत्मा विशेष्य है और मूर्त्तत्वाभाव विशेषण है इसप्रकार के विशिष्ट ज्ञान का हेतु विशेषणीभाव भी बन सकता है अतः वह समवाय के समान विशेषणरूप होगा और जब विशेषणीभाव विशेषण बनेगा तो उसके लिये दूसरा कोई सम्बन्ध चाहिए, इसतरह अनवस्था आती है। आत्मा और मूर्त्तत्वाभाव इनमे जो विशेषणीभाव है वह असम्बद्ध है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो विशेषण-विशेष्यरूप माने गये इन आत्मादि में वह विशेषणीभाव किस प्रकार होवेगा जिससे कि उनमे विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हो सके या सम्बन्ध हो सके? यदि कहा जाय कि इन आत्मादि मे विशिष्ट ज्ञानको कराने मे हेतु होने से विशेपणीभाव मानते है तो ऐसा विशेषणीभाव ईश्वर, काल आदि पदार्थो मे भी मानना होगा, क्योकि ये भी विशिष्टज्ञान को कराने मे हेतु होते है। इसप्रकार आत्मा और मूर्त्तत्वाभाव मे सम्बन्ध सिद्ध नही होता है फिर भी उसे माने तो भावका अभाव, दो समवायी द्रव्यों का समवाय ये भी बिना किसी सम्बन्ध के सम्बद्ध हो जायेगे। फिर इनमे विशेषणी भाव सम्बन्ध की कल्पना करना व्यर्थ होगा। इसप्रकार तुच्छाभावरूप अमूर्त्तत्व ग्रहण करने का उपाय प्रत्यक्ष प्रमाण नही हो सकता है यह निश्चत हो गया।

अनुमान प्रमाण उस अभावरूप अमूर्त्तत्व को ग्रहण करता है ऐसा कहना भी असत् है, क्योकि आपके यहा प्रत्यक्ष के अभाव मे अनुमान प्रवृत्त नही हो सकता, अनुमान का मूल कारण प्रत्यक्ष है।

इत्यप्यसारम्; तथाविधाभावस्य विशेषणत्वासिद्धिप्रतिपादनात्। अभावविचारे चानयोर्हेतूदाहरणयोः प्रतिहतत्वान्न साध्यसाधकत्वम्।

पर्युदासपक्षेऽप्यसर्वगतद्रव्यपरिमाणसम्बन्धभावान्मूर्त्तत्वादन्यदमूर्त्तत्व सर्वगतद्रव्यपरिमाणेन परममहत्त्वेन सम्बन्धा(न्ध)भावः, स च न कुतश्चित्प्रमाणात्प्रसिद्ध इति हेतोरसिद्धिः।

यच्चान्यदुक्तम्-आत्मा व्यापको मनोऽन्यत्वे सत्यस्पर्शवद्द्रव्यत्वादाकाशवदिति; तदप्येतेनैव प्रत्युक्तम्, स्पर्शवद्द्रव्यप्रतिषेधेऽत्रापि प्रागुक्ताशेषदोषानुषङ्गात्। सन्दिग्धानैकान्तिकश्चाय हेतुः;

शका—अनुमान प्रमाण का अभाव नही है, हम आत्मा के अमूर्त्तत्व को ग्रहण करने वाले अनुमान को उपस्थित करते हैं—आत्मा अमूर्त्त है इसप्रकार की जो बुद्धि है वह भिन्न जाति के अभाव के निमित्त से होती है [साध्य] क्योंकि अभाव विशेषण रूप भावको विषय करने वाली यह बुद्धि है [हेतु] जैसे "अघटं भूतल" यह भूतल अघटरूप है इत्यादि बुद्धि अभाव विशेषणरूप भावको विषय करती है।

समाधान—यह कथन असार है, यह अभावरूप विशेषण तुच्छाभावरूप होने से विशेषण बन ही नही सकता ऐसा पहले ही सिद्ध कर दिया है। जब हम जैन ने अभाव प्रमाण का विचार किया था तब उसी प्रकरण मे [दूसरे भाग मे] आपके इस अनुमान के हेतु तथा उदाहरण का खण्डन कर दिया था, अत. इसके द्वारा आत्माका अमूर्त्त विशेषण आदि सिद्ध होना अशक्य है। तुच्छाभावरूप अभाव मे साध्य-साधकपना बनता नही।

न मूर्त्तत्व अमूर्त्तत्व इसप्रकार के नञसमास का पर्युदास प्रतिषेध अर्थ करते हैं तो भी ठीक नहीं है, मूर्त्तत्व का अर्थ असर्वगत द्रव्य परिमाण का सम्बन्ध होना है उसका निषेध यानी मूर्त्त से अन्य अमूर्त्त है, यह अमूर्त्तत्व सर्वगत द्रव्य परिमाणरूप परममहत्व के साथ सम्बद्ध है ऐसा आपके यहां माना है किंतु ऐसा किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही होता है अर्थात् अमूर्त्तत्व सर्वगत द्रव्य परिमाण से ही सम्बद्ध है ऐसा अविनाभाव नही है। अतः अमूर्त्त होने से आत्मा सर्वगत है ऐसा हेतु वाक्य असिद्ध कोटि मे जाता है।

अमूर्त्तत्व हेतु के समान ही "अस्पर्शवत् द्रव्यत्वात्" हेतु असिद्ध है अर्थात् आत्मा व्यापक है, क्योंकि मन से पृथक् होकर अस्पर्शवान द्रव्य है, जैसे आकाश है, इस

तथाहि-अस्पर्शवद्द्रव्यत्वमाकाशादौ व्यापित्वे सत्युपलब्धं मनसि चाऽव्यापित्वे, तदिदानीमात्मन्यु-पलभ्यमान किं 'व्यापित्व प्रसाधयत्वव्यापित्व वा' इति सन्देहः। ननु मनोद्रव्यत्व (मनोऽन्यत्व) विशिष्ट-स्यास्पर्शवद्द्रव्यत्वस्य मनस्यनुपलम्भात्कथ सन्देहोऽत्रेतिचेत् ? अत एव। यदि हि तद्विशिष्टं तत्रो-पलभ्येत तदा निश्चितानैकान्तिकत्वमेवास्य स्यान्न तु सन्दिग्धानैकान्तिकत्वमिति। तन्नात्मनः कुतश्चित्प्रमाणात्सर्वगतत्वसिद्धिरित्यसर्वगत एवासौ यथाप्रतीत्यभ्युपगन्तव्यः।

ननु चात्मनोऽसर्वगतत्वे दिग्देशान्तरवर्त्तिभिः परमाणुभिर्युगपत्सयोगाभावोऽतश्चाद्यकर्माभावः, तदभावादन्त्यसयोगस्य तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्सम्बन्धस्य चाभावादनुपायसिद्ध. सर्वदात्मनो मोक्षः

अनुमान का हेतु भी सदोष है, इसमें न स्पर्शवत् इति अस्पर्शवत् ऐसा नञ समास है, स्पर्शवान का अभाव अस्पर्शवान् है इसमे प्रसज्य प्रतिषेधरूप अर्थ है कि पर्युदास प्रतिषेध है इत्यादि पहले के प्रश्न होते है और वही पहले के दोष आते है। तथा यह हेतु सदिग्ध अनैकान्तिक दोप युक्त भी है आगे इसी को स्पष्ट करते है—आत्मा व्यापक है, क्योकि मन से अन्य होकर अस्पर्शमान द्रव्य है, यह अनुमान है, इसमें अस्पर्शवान द्रव्यत्व हेतु है, अस्पर्शमान द्रव्यपना आकाश मे रहता है वह तो व्यापक के साथ रहता है किंतु मन मे अस्पर्शमान द्रव्यपना अव्यापक के साथ रहता है, अतः सदेह हो जाता है कि आत्मा मे जो अस्पर्शवानपना है वह व्यापकत्व सिद्ध कर रहा है या अव्यापकत्व को सिद्ध कर रहा है।

वैशेषिक—हमने "अस्पर्शवत् द्रव्यत्व हेतु का विशेषण दिया है कि मन से अन्य होकर अस्पर्शवत् द्रव्य है, ऐसा विशिष्ट अस्पर्शवत् द्रव्यत्व मन मे अनुपलब्ध है अतः हेतु का उसमे जाने का सदेह किसप्रकार होगा ?

जैन—मन मे उस विशिष्ट अस्पर्शवत् द्रव्यकी अनुपलब्धि होने से ही सदेह हो रहा है, यदि वैसा विशिष्ट अस्पर्शवत् द्रव्यत्व मन में उपलब्ध होता तो यह हेतु सदिग्ध अनैकान्तिक न होकर निश्चित अनैकान्तिक ही बन जाता। इसतरह आत्मा का सर्वगतपना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही होता है अतः इसको असर्वगत मानना चाहिए, प्रतीति भी असर्वगतरूप आ रही है।

वैशेषिक—आत्माको असर्वगत मानते है तो दिशा तथा देश में रहने वाले परमाणुओ के साथ एक साथ संयोग नही बनेगा और उनके सयोग के अभाव मे आद्य

स्यात्; स्यादेवं यदि 'यद्येन संयुक्तं तं प्रति तदेवोपसर्पति' इत्यय नियमः स्यात् । न चास्ति-अयस्कांत प्रत्ययसस्तेनाऽसयुक्तस्याप्युपसर्पणोपलम्भात् ।

यस्य चात्मा सर्वगत। तस्यारब्धकार्यैरन्यैश्च परमाणुभिर्युगपत्सयोगात्तथैव तच्छरीरारम्भ प्रत्येकमभिमुखीभूताना तेषामुपसर्पणमिति न जाने कियत्परिमाण तच्छरीर स्यात् ।

कर्म जो शरीरारंभक परमाणुओं का शरीर के उत्पत्ति स्थान पर गमन करना है वह भी नही होवेगा, उसके अभाव होने से अन्त्य संयोग का अर्थात् शरीर निष्पत्ति का समाप्तिकाल और उसके बाद बना जो शरीर है उस शरीर का आत्माके साथ सम्बन्ध होना यह सब कार्य नही हो सकेगा और जब शरीर का सम्बन्ध ही आत्मा मे नही रहेगा तो वह आत्मा अनुपाय सिद्ध—बिना उपाय के सिद्ध हुआ, फिर तो सर्वदा आत्मा मुक्त रहेगा ।

जैन—आत्माके सर्वदा मोक्ष स्वरूप रहने का प्रसग तब आता जब ऐसा नियम बनाते कि जो जिससे सयुक्त है उसके प्रति वही आकृष्ट होता है या निकट आता है अर्थात् जिसके साथ सम्बन्ध होना है वह निकटवर्त्ती सयुक्त हो ऐसा नियम नही है अतः सर्वगत नही होकर भी आत्मा के साथ शरीर योग्य परमाणु आदि सम्बद्ध होते हैं । आत्माके साथ परमाणु सयुक्त नही होकर भी सबध को कैसे प्राप्त होते है उसके लिये चुम्बक का उदाहरण है कि चुम्बक लोहे से असयुक्त है, तो भी लोहा उसके प्रति आकृष्ट होता है ।

जिस वैशेषिक मतमे आत्माको सर्वगत माना है उसके यहा शरीर का सबध होना आदि कुछ भी सिद्ध नही होगा, जिन परमाणुओ से शरीर निर्माण होना है वे तथा अन्य बहुत से परमाणु इन सबका एक साथ आत्माके साथ सयोग रहेगा, तथा उस आत्माके शरीर को बनाने के समुख हुए जो परमाणु है वे भी पहले जिन्होने शरीर निर्माण का प्रारंभ किया है उनके निकट पहुच जायेंगे और इसतरह न जाने कितना परिमाणवाला वह शरीर बनेगा । अभिप्राय यह है कि आत्मा सर्वत्र है तो उसके साथ सब तरह के परमाणुको संयुक्तपना होने से उस आत्माका जो शरीर बनेगा उसके परिमाणका कोई अवस्थान नही रहेगा ।

ननु ये तत्संयोगास्तदऽदृष्टापेक्षास्त एव स्वसंयोगिनां परमाणूनामाद्य कर्म रचयन्तीति चेत्; अथ केयं तददृष्टापेक्षा नामएकार्थसमवायः, उपकारो वा, सहाद्यकर्मजननं वा ? तत्राद्य पक्षोऽयुक्तः; सर्वपरमाणुसयोगाना तददृष्टैकार्थसमवायसद्भावात् । उपकारः, इत्यप्ययुक्तम्; अपेक्ष्यादपेक्षकस्यासम्बन्धानवस्थानुषगेणोपकारस्यैवासम्भवात् । सहाद्यकर्मजननम्; इत्यप्यसत्; तयोरन्यतरस्यापि केवलस्य तज्जननसामर्थ्ये परापेक्षायोगात् । यदि पुनः स्वहेतोरेवादृष्टसंयोगयोः सहितयोरेव कार्य-

---

वैशेषिक—आत्माके अदृष्ट की अपेक्षा लेकर शरीर बनता है अतः परमाणुओं का संयोग भी अदृष्ट की अपेक्षा से होता है अपने अपने अदृष्ट संबंधी जो परमाणु है वे ही शरीरकी उत्पत्ति जहां होती है वहां पर आते है, इसलिये महत् शरीर बन जानें का प्रसग नही आता है ?

जैन—अदृष्ट की अपेक्षा किसे कहते है, एकार्थ समवाय–एक आत्मामे अदृष्ट का समवाय होना, उपकार होना या साथ में आद्यकर्म उत्पन्न होना ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि आत्मा व्यापक है अत आत्मामे एकार्थ समवाय से सबद्ध हुआ जो अदृष्ट है उसके साथ सम्पूर्ण परमाणुओ का सयोग रहेगा फिर वही पहले का दोष होगा कि शरीर के माप का कोई अवस्थान नही रहता। उपकार को अदृष्टकी अपेक्षा कहते हैं ऐसा पक्ष भी अयुक्त है, क्योकि यहां जिसको अपेक्षा है वह और अपेक्षा करने वाला इन दोनो मे सबंध नही होने से अनवस्था दोष आता है अतः उपकार होना असभव है । इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–जिसकी अपेक्षा होती है ऐसा अदृष्ट तो अपेक्ष्य है और अपेक्षाको जो करता है वह अपेक्षक यहां पर परमाणुओका सयोग है, अदृष्टरूप अपेक्ष्य द्वारा अपेक्षक परमाणु सयोगका जो उपकार किया जायगा वह उससे भिन्न है कि अभिन्न है, अभिन्न है तो उपकार भी अदृष्ट जन्य मानना होगा । तथा वह उपकार भिन्न है तो सवध नही रहता, उसके सवंध के लिये अन्य की अपेक्षा होगी, इसतरह अनवस्था आ जायगी । अतः उपकार होनेको अदृष्टापेक्षा कहते है ऐसा पक्ष असत् ठहरता है ।

सह आद्यकर्म जनन—अदृष्ट और परमाणुसयोग दोनो साथ ही आद्यकर्म को पैदा करने को अदृष्ट की अपेक्षा कहते है ऐसा पक्ष भी ठीक नही है, क्योकि इन दोनो मे से किसी एक मे आद्यकर्म को उत्पन्न करने की सामर्थ्य स्वीकार करने पर दूसरे की अपेक्षा होना अशक्य है ।

जननसामर्थ्यमिष्यते; तर्हि तत एवाहृष्टस्यैव तत्संयोगनिरपेक्षस्य तत्सामर्थ्यमस्तु । दृश्यते हि हस्ताश्रयेणायस्कान्तादिना स्वाश्रयासंयुक्तस्य भूभागस्थितस्य लोहादेराकर्षणमित्यलमतिप्रसंगेन ।

यदप्युक्तम्–सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशंस्तदात्मा सावयवः स्यात्, तथा च घटादिवत्समानजातीयावयवारभ्यत्वम्, समानजातीयत्वं चावयवानामात्मत्वाभिसम्बन्धादित्येकत्रात्मन्यनन्तात्मसिद्धिः, यथा चावयवक्रियातो विभागात्संयोगविनाशाद्घटविनाशः तथात्मविनाशोपि स्यात्, इत्यप्य-

---

वैशेषिक—अपने अपने हेतु से बने हुए जो अदृष्ट तथा परमाणु संयोग है इन दोनो मे ऐसी ही सामर्थ्य है कि वे दोनो साथ रहकर ही कार्य को पैदा करते है ?

जैन—तो फिर उसी कारण से परमाणुसंयोग की अपेक्षा के बिना अदृष्ट ही आद्यकर्म को उत्पन्न करने की सामर्थ्य युक्त है ऐसा मानना चाहिए । ऐसा उदाहरण भी देखा जाता है कि–हाथ के आश्रय युक्त अयस्कात [चुम्बक] अपने आश्रय मे जो संयुक्त नही है [अलग है] ऐसे भूमि पर स्थित लोह का आकर्षण कर लेता है । इन हेतु तथा उदाहरणो से सिद्ध होता है कि अपने मे संयुक्त नही हुए पदार्थ का आकर्षण भी हो सकता है अतः आत्माको सर्वगत नही मानेंगे तो द्वीप द्वीपातरवर्त्ती पदार्थों को आत्मा कैसे प्राप्त कर सकेगा । इत्यादि शंकाओका समाधान उपर्युक्त रीत्या हो जाता है, इससे विपरीत आत्माको सर्वगत मानने से उक्त कार्य की व्यवस्था सिद्ध नही होती अतः आत्माको सर्वगत मानने का पक्ष छोड देना चाहिए ।

वैशेषिक—जैन आत्माको अव्यापक बतलाते है, आत्मा शरीर मे प्रवेश करता है तथा निकल भी जाता है सो यह कथन सदोष है कैसे सो बताते है—शरीर अवयव सहित होता है जब आत्मा शरीर मे प्रवेश करेगा तो उसके एक एक प्रदेश मे प्रवेश करेगा अत स्वयं भी सावयव बन जायगा, फिर उस आत्माके अवयवो का निर्माण होने के लिये घटादिके समान अपने सजातीय अवयव चाहिए, अवयवोमे सजातीयपना भी आत्मत्वके अभिसबध से ही हो सकेगा, इसतरह तो एक ही आत्मामे अनत आत्मा की सिद्धि हो जायगी ? तथा दूसरी बात यह होगी कि जैसे घटके अवयवोमे क्रिया होने से विभाग, विभाग से संयोगका विनाश और संयोगके विनाशसे घटका नाश हो जाता है वैसे आत्मामे भी यह सब संयोग विभाग, विनाश की प्रक्रिया होवेगी और आत्माका भी नाश हो जायगा ।

परीक्षिताभिधानम्; सावयवत्वेन भिन्नावयवारब्धत्वस्य घटादावप्यसिद्धेः। न खलु घटादिः सावयवोपि प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगपूर्वको दृष्टः, मृत्पिण्डात् प्रथममेव स्वावयवरूपाद्यात्मनोस्य प्रादुर्भावप्रतीतेः। न चैकत्र पटादौ स्वावयवतन्तुसंयोगपूर्वकत्वोपलम्भात्सर्वत्र तद्भावो युक्तः, अन्यथा काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भाद्वज्रे पि तथाभावः स्यात्। प्रमाणबाधनमुभयत्र समानम्।

किञ्च, अस्य तथाभूतावयवारब्धत्वम्–आदौ, मध्यावस्थायां वा साध्येत ? न तावदादौ; स्तनादौ प्रवृत्त्यभावानुषङ्गात्, तद्धेत्वभिलाषप्रत्यभिज्ञानस्मरणदर्शनादेरभावात्। तदारम्भकावयवाना

जैन—यह कथन बिना सोचे किया है, सावयवपना भिन्न अवयवो से ही प्रारम्भ होता है ऐसा घट आदि मे भी सिद्ध नही है, घटादि पदार्थ सावयव होने पर भी पहले ही प्रसिद्ध ऐसे समान जातीय कपाल के संयोग से सावयव नही कहलाते। किन्तु अपने उपादान कारणभूत मिट्टी के पिड से उत्पन्न होते हुए स्वावयव स्वरूप ही उत्पन्न होते है। यदि कही वस्त्र आदि पदार्थ मे ऐसा देखा जाता है कि अपने अवयव स्वरूप तन्तुओ का सयोग होकर वस्त्र बनता है, अतः वहां पर तो कह सकते है कि स्वावयव के संयोगपूर्वक अवयवी पदार्थ की उत्पत्ति हुई, किन्तु ऐसा सर्वत्र घट आत्मा आदि मे घटित नही कर सकते, अन्यथा काष्ट मे लोह लेख्य–कुल्हाडी से टूटना देखकर वज्र मे भी यह घटित करना होगा अर्थात् काठ लोहे से टूट जाता है तो वज्र को टूट जाना चाहिए ऐसा मानना होगा ? तुम कहो कि ऐसा मानने मे प्रत्यक्ष से बाधा आती है, तो आत्मा मे भी संयोगपूर्वक अवयवीपना मानने मे बाधा आती है अतः उसमे ऐसा सावयवपना नही मानना चाहिए।

तथा दूसरी बात यह है कि वैशेषिक ने कहा कि आत्मा सावयवी शरीर मे प्रवेश करेगा तो स्वय ही सावयवी बन जायगा और सावयवी होगा तो उसके अवयवो की किसी अन्य सजातीय अवयवो से उत्पत्ति होगी इत्यादि। इस पर जैन वैशेषिक से प्रश्न करते है कि समान जातीय भिन्न अवयवो से आत्माके अवयव बनने का प्रसग आयेगा इत्यादि आपने कहा सो उक्त अवयव शुरु अवस्था मे बनते है, या मध्य अवस्था मे, यदि शुरु अवस्था मे [गर्भावस्था मे] आत्मा सावयव बनता है ऐसा कहो तो इसका अर्थ पहले उसका अस्तित्व नही था, किंतु ऐसा मानने से जन्मे हुए बालक की स्तनपान आदि मे प्रवृत्ति नही हो सकेगी क्योकि स्तनपानका कारण इच्छा प्रत्यभिज्ञान स्मृति दर्शन आदि है और ये इच्छा आदिक पूर्व मे आत्मा का अस्तित्व हुए बिना सभव नही।

प्राक् सता विषयदर्शनादिसम्भवे तेषामेवाहर्जातवेलाया सत्त्वान्तराणामिव प्रवृत्ति· स्यात्। मध्याव-स्थाया तु तत्साधने प्रत्यक्षविरोधः। अन्त्यावस्थाया चास्यात्यन्तविनाशे स्मरणाद्यभावात्स्तनादौ प्रवृत्त्यभाव एव स्यात्। न चेय वित्ताशोत्पादप्रक्रिया क्वचिद् दृश्यते। न खलु कटकस्य केयूरीभावे कुतश्चिद्भागेषु क्रिया विभागः संयोगविनाशो द्रव्यविनाश पुनस्तदवयवाः केवलास्तदनन्तर तेषु कर्म-सयोगक्रमेण केयूरीभाव इति, केवल सुवर्णकारका (कारकरा) दिव्यापारे कटकस्य केयूरीभाव पश्याम.। अन्यथा कल्पने च प्रत्यक्षविरोध ।

यदि कहा जाय कि आत्मा के आरंभक अवयव पहले सत् स्वरूप थे उनके विषयदर्शन, अभिलाषा आदि सभव हो जायगी तो यह भी ठीक नही, क्योकि ऐसा मानने से अन्य जीवो के समान वे आरभक अवयव ही जन्म वेला में प्रवृत्ति कर सकेंगे।

मध्य अवस्था मे आत्मा सावयव बनता है ऐसा सिद्ध करना तो प्रत्यक्षविरुद्ध है अर्थात् जन्म के कुछ समय के अनतर आत्मा के अवयव बनते हुए प्रतीत नही होते यदि ऐसा होता तो साक्षात् सावयव शरीर मे उसकी प्रतीति कैसे होती। अत्य अवस्था मे आत्मा के अवयव बनते है ऐसा माने तो उसका अत्यन्त नाश भी मानना होगा और ऐसा मानने पर आगामीभव मे स्मृति आना स्तनपानादि मे प्रवृत्ति होना आदि कुछ भी कार्य नही हो सकेंगे। हम जैन आत्माको सावयव मानते है किंतु पहले अवयवरहित पीछे सजातीय अवयवो से सावयवी ऐसा नही मानते अपितु अनादिकाल से सावयव बहुप्रदेशी मानते है। स्वभाव से ही उसमे अवयव [प्रदेश] हैं ऐसा हम स्याद्वादी मानते है ऐसा सावयवत्व मानने से उपर्युक्त दोष नही आते हैं।

वैशेषिक की नाश और उत्पाद की प्रक्रिया भी विचित्र है। ऐसी प्रक्रिया कही पर भी दिखायी नही देती है। सुवर्णमय कटक [कडा] जब केयूररूप होता है अर्थात् जब सुनार कडानामा आभूषण को तोडकर केयूर–बाजुबद नामा आभूषण बनाता है तब किसी कारण द्वारा उक्त कड़े के भागो मे क्रिया होना, पुन. विभाग होना, सयोगका नाश, द्रव्यका नाश, फिर उस द्रव्यके केवल अवयव रहना तदनन्तर उन अवयवो मे क्रिया होना, क्रिया से सयोग, और सयोग से केयूर बनना ऐसी इतनी प्रक्रिया होती हुई दिखायी नही देती। केवल सुवर्ण जो कड़े के आकार मे था वह सुनार के हाथ आदि के व्यापार से केयूर के आकार मे परिवर्तित हो जाता है इस कार्य को अन्यथा कल्पित करना प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

न च सावयवशरीरव्यापित्वे सत्यात्मनस्तच्छेदे छेदप्रसङ्गो दोषाय; कथञ्चित्तच्छेदस्येष्टत्वात् । शरीरसम्बद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि तत्प्रदेशानां छिन्नशरीरप्रदेशेऽवस्थानमात्मनश्छेदः, स चात्रास्त्येव, अन्यथा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात् । न च छिन्नावयप्रतिष्ठस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वानुषगः; तत्रैवानुप्रवेशात् । कथमन्यथा छिन्ने हस्तादौ कम्पादितल्लिङ्गोपलम्भाभावः स्यात् ?

ननु कथ छिन्नाच्छिन्नयोः संघटन पश्चात् ? न; एकान्तेन छेदानभ्युपगमात्, पद्मनालतन्तुवद-

---

वैशेषिक का कहना है कि—सावयव शरीर मे यदि आत्मा व्याप्त होकर रहेगा तो शरीर के छेद होने पर या उसके अवयव के छेद होने पर आत्मा का भी छेद हो जायगा ? सो यह बात सदोष नही है, अर्थात् अवयवों की अपेक्षा कथंचित् आत्मा मे छेद होना जैन को इष्ट है किन्तु वह छेद भिन्न जातीय है, अब उसीको बताते है—आत्मप्रदेशो का शरीर मे सबद्ध आत्मप्रदेशो द्वारा छिन्न शरीर प्रदेश मे रहना आत्मा का छेद कहलाता है, ऐसा छेद तो आत्मा मे होता ही है अर्थात् आत्मा स्वशरीर में सर्वाग व्याप्त होकर रहता है जब कदाचित् उसके शरीर का अवयव–हस्तादि शस्त्रादि द्वारा कटकर भिन्न होता है तब शरीर से पृथक् हुए उस अवयव मे आत्मप्रदेश कुछ काल तक रहते हैं, यदि उसमे आत्मप्रदेश नही होते तो शरीर से पृथक्भूत अवयव कपित नही हो सकता था । तथा यह बात भी है कि शरीर के कटे हुए अवयव मे जो आत्मप्रदेश हैं वे उस अवयव के समान आत्मा से पृथक् नही होते हैं अतः पृथक् पृथक् आत्माये बनने का प्रसग नही आता । कटे हुए शरीरके भागके आत्मप्रदेश उसी शरीर में स्थित आत्मा मे प्रविष्ट हो जाते है । यदि वे प्रदेश शरीरस्थ आत्मा मे अनुप्रविष्ट नही होते तो कटे हुए हस्तादि अवयव मे कपन होना आदि रूप आत्मा के चिह्न का अभाव किसप्रकार होता ।

शंका—छिन्न हुए प्रदेश और नही छिन्न हुए प्रदेश इन दोनो का पीछे सघटन किसप्रकार हो सकेगा ?

समाधान—ऐसी शका नही करना, हम जैन आत्मप्रदेशो का एकांत से छिन्न होना नही मानते है किन्तु कमल की नाल जिसप्रकार टूट जाने पर भी कमल से सबधित रहती है अर्थात् कमल और नाल के अंतराल मे ततु लगा रहता है उसीप्रकार आत्मप्रदेश शरीर के अवयव के टूट जाने पर टूटे अवयव मे तथा इधर शरीर मे दोनो

विच्छेदस्याप्यभ्युपगमात्। तथाभूतादृष्टवशाच्च तदविरुद्धमेव। ततो यद्यथा निर्बाधबोधे प्रतिभाति तत्तथैव सद्व्यवहारमवतरति यथा स्वारम्भकतन्तुषु प्रतिनियतदेशकालाकारतया प्रतिभासमान पटः, शरीरे एव प्रतिनियतदेशकालाकारतया निर्बाधबोधे प्रतिभासते चात्मेति। न चायमसिद्धो हेतुः;

जगह रहते है और अतराल मे भी प्रदेशो का ताता लगा रहता है, यह कार्य उस तरह के अदृष्ट के कारण हो जाता है इसमे कोई विरोध वाली बात नही है।

विशेषार्थ—आत्मा को अवयव या प्रदेश रहित निरश मानने वाले परवादी वैशेषिक ने पूछा था कि जैन आत्मा के बहुत से प्रदेश मानते है एव उन प्रदेशो का विघटन–छिन्न होना भी बतलाते है सो वे विघटित हुए आत्मप्रदेश वापिस आत्मा मे किसप्रकार आ सकेगे? इस प्रश्न का समाधान जैनाचार्य ने बहुत ही सुन्दर ढग से दिया है, अथवा इस विषयक वास्तविक सिद्धात बतलाया है कि शरीर मे आत्मा रहता है और कदाचित् शरीर का अवयव कट जाता है तो कटा अवयव और शरीर इन दोनो मे स्थित आत्मप्रदेश आपस मे बराबर सबधित रहते है, जैसे कमल का डठल छिन्न होने पर भी कमल से सबधित रहता है। साक्षात् दिखायी देता है कि शरीर का कोई भाग शस्त्रादि से कट जाता है और उस कटे भाग मे कपन होता रहता है युद्ध मे सैनिक का मस्तक कट जाने पर धड नाचता रहता है, छिपकली की पूछ कट जाने पर वह पूंछ हिलती रहती है, इत्यादि उदाहरणो से दो जैन सिद्धांत सिद्ध होते है कि आत्मा के अवयव या प्रदेश बहुत है आत्मा निरश निरवयवी नही है, क्योकि आत्मा के अवयव या प्रदेश नही होते तो शरीर मे और शरीर के तत्काल कटे हुए भाग मे चैतन्य के चिह्न–कपनादि नही दिखायी देते। तथा वे आत्मप्रदेश सर्वथा विघटित नही होते है, सकोच और विस्तार को प्राप्त होते हैं। शरीर के कटे अवयव मे स्थित आत्मप्रदेश और शरीर स्थित आत्मप्रदेश इनका वापिस सघटन किस कारण से होता है इसका उत्तर प्रभाचन्द्राचार्य देते है कि उसप्रकार के अदृष्ट के वश से पुनः सघटन होता है, टिप्पणीकार अदृष्ट का अर्थ सघटनकारी कर्म करते है। इन कारणो से तथा आत्मा स्वय ही सकोच विस्तार प्रदेश स्वभाववाला होने से छिन्न अवयव के प्रदेश वापिस शरीर स्थित आत्मप्रदेशो मे शामिल हो जाते हैं, इसी सिद्धात पर समुद्घात क्रिया अवलंबित है, विक्रिया, कषाय, तैजस, वेदना, आदि समुद्घात मे आत्मा के प्रदेश फैलते है और मूल शरीर का सम्बन्ध विना छोड़े वापिस

शरीराद्बहिस्तत्प्रतिभासाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। उक्तप्रकारेण चानवद्यस्य बाधकप्रमाणस्य कस्यचिदसम्भवान्न विशेषणासिद्धत्वमिति। तन्न परेषा यथाभ्युपगतस्वभावमात्मद्रव्यमपि घटते।

नापि मनोद्रव्यम्, तस्य प्रागेव स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे निराकृतत्वात्। ततः पृथिव्यादेर्द्रव्यस्य यथोपवर्णितस्वरूपस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धेः 'पृथिव्यादीनि द्रव्याणीतरेभ्यो भिद्यन्ते द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात्'

लौटते है। स्वर्ग मे देव देविया तथा भोग भूमियां, चक्रवर्त्ती आदि हजारो शरीरों को एक साथ निर्माण करते है उनमे एक हो आत्मा के प्रदेश फैले रहते है इत्यादि, यह विषय तो आश्चर्य एवं रुचिकर है, इसका विस्तृत विवेचन सिद्धात ग्रन्थो मे [राजवार्त्तिक, धवला आदि] पाया जाता है। यहां पर इतना ही कहना कि आत्मा निरवयव नही है और न सर्वगत ही है, अवयव सहित होकर भी उसके अवयवो का निर्माण होना और अवयवो का निर्माण होने से आत्मा उत्पत्ति नाशवाला बनना इत्यादि कुछ भी दूषण नही आते है, इन दूषणो का निराकरण मूल मे कर दिया ही है, अतः निश्चित हुआ कि आत्मा सावयव असर्वगत है।

इसप्रकार वैशेषिक की आत्मा सम्बन्धी मान्यता बाधित होती है इसलिए ऐसा मानना होगा कि जो जिसप्रकार निर्बाध ज्ञानमे प्रतिभासित होता है वह उसप्रकार व्यवहार मे अवतरित होता है, जैसे स्व आरंभक तन्तुओ में प्रतिनियत देश, काल आकार से वस्त्र प्रतिभासित होता है अतः उसी रूप व्यवहार मे अवतरित होता है, आत्मा भी शरीर मे ही प्रतिनियत देश-काल, आकार से निर्बाध ज्ञान मे प्रतिभासित होता है अत. उसको शरीर मे ही स्वीकार करना चाहिए न कि सर्वत्र। शरीर मे ही प्रतिनियत देशादि से प्रतीत होना रूप हेतु असिद्ध भी नही है, क्योकि शरीर के बाहर आत्मा का प्रतिभास नही होता ऐसा हम सिद्ध कर चुके हैं। आत्मा को शरीर के बाहर सर्वत्र सिद्ध करनेवाला कोई भी निर्दोष प्रमाण नही है, वैशेषिक के सभी अनुमान पूर्वोक्त प्रकार से खंडित हो चुके है। इसप्रकार आत्मा परममहापरिमाण का अधिकरण नही है ऐसा प्रारभ मे जैन ने कहा था वह परममहापरिमाण अधिकरण नही होना रूप विशेषण असिद्ध नही है ऐसा निश्चित हुआ। इसतरह वैशेषिक के यहां सर्वगत आदि स्वभाववाला आत्मद्रव्य भी अन्य द्रव्यो के सदृश सिद्ध नही होता है।

वैशेषिक के सिद्धांत का मनोद्रव्य भी सिद्ध नही होता, स्वसंवेदनज्ञानवाद के प्रकरण [पहले भाग मे] इस मनोद्रव्य का खण्डन हो चुका है, इसप्रकार पृथिवी, जल,

इत्यादिहेतूपन्यासोऽविचारितरमणीय., तत्स्वरूपासिद्धौ हेतोराश्रयासिद्धत्वात् । स्वरूपासिद्धत्वाच्च; द्रव्यत्वाभिसम्बन्धो हि समवायलक्षणो भवताभ्युपगम्यते, न चासौ प्रमाणतः प्रसिद्ध इति । विशेषणासिद्धत्व च; द्रव्यत्वसामान्यस्य यथाभ्युपगतस्वभावस्यासम्भवात् । तन्न परपरिकल्पितो द्रव्यपदार्थो घटते ।

वायु, अग्नि, दिशा, काल, आकाश, आत्मा और मन इन नौ द्रव्यो का वैशेषिक ने जैसा वर्णन किया है वैसा प्रमाण द्वारा सिद्ध नही होता है, जब ये द्रव्य प्रमाण बाधित है इनका स्वरूप तथा सख्या प्रतीत नही होती है तो पृथ्वी आदि द्रव्य इतर पदार्थों से भेद को प्राप्त होते है, क्योकि इनमे द्रव्यत्व का समवाय है, इत्यादि हेतु उपस्थित करना अयुक्त है, इन द्रव्यो का स्वरूप ही सिद्ध नही है तो इनके सिद्धि के लिये प्रदत्त हेतु आश्रय रहित होने से आश्रयासिद्ध कहलायेगा, तथा स्वरूपासिद्ध भी होगा, अर्थात् द्रव्यत्व हेतु द्वारा पृथ्वी आदि को इतर गुणादि पदार्थों से पृथक् करते है किंतु इन द्रव्यो मे द्रव्यत्व का सम्बन्ध करनेवाला समवाय नामा पदार्थ आपने माना है वह किसी प्रमाण से सिद्ध नही होता, अतः द्रव्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध होता है। इसका विशेषण भी असिद्ध है, क्योकि जिसप्रकार का निरश एक नित्य द्रव्यत्व सामान्य का स्वरूप कहा है वह असंभव है। इसतरह 'द्रव्यत्वात्' हेतु आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और विशेषणासिद्ध दोप युक्त है। इसप्रकार आप वैशेषिक का द्रव्यनामा पदार्थ सिद्ध नही होता है।

॥ आत्मद्रव्यवाद विचार समाप्त ॥

आत्मद्रव्यवादविचार का सारांश

वैशेषिक आत्मा को सर्वगत, एक एवं नित्य मानते है। उनका कहना है कि आत्मा व्यापक नही होवे तो उसके उपभोग्य पदार्थ शरीर आरंभक परमाणु आदि का देशांतर से आकर्षण नही हो सकता। अतः आत्मा व्यापक है एवं आकाश सदृश परम महापरिमाण गुणका अधिकरण है। वैशेषिक ने उक्त आत्मा के स्वरूप को सिद्ध करने के लिये अनेक अनुमान उपस्थित किये हैं, जैन ने उनका क्रमश. सयुक्तिक निरसन किया है और आत्मा को अव्यापक कथचित् नित्यनित्यात्मक सिद्ध किया है। यह शरीरधारी प्रत्येक आत्मा स्व स्व शरीर मे ही प्रतिभासित होता है, आकाशवत् महापरिमाण वाला प्रतिभासित नही होता। आकाश एक द्रव्यरूप है किन्तु आत्मा अनेक द्रव्य है। आत्मा व्यापक होता तो हलन चलनरूप क्रियाशील नहीं होता। वैशेषिक का मंतव्य है कि आत्मा अणु प्रमाण नही है अतः सर्वव्यापक है किन्तु यह नियम नही है, कि जो अणु प्रमाण नही वह अवश्य सर्वव्यापक होवे।

नित्यत्व और सर्वगतत्व के साथ अविनाभाव स्थापन करना भी असभव है, क्योकि परमाणु द्रव्य नित्य होकर भी सर्वगत नही है। देवदत्त आदि पुरुषो के निकट द्वीपातरो से मणि मुक्ता आदि पदार्थ आ जाते हैं अतः देवदत्तादिका आत्मा व्यापक है ऐसा वैशेषिक कथन भी अयुक्त है द्वीपांतर के मणि मुक्ता आदि को देवदत्त के प्रति आकृष्ट करनेवाला कौनसा गुण है यह एक प्रश्न है यदि देवदत्त के ज्ञानादिगुण उक्त पदार्थो को आकृष्ट करते है तो सर्वथा प्रतीतिविरुद्ध है। अदृष्ट पुण्य पापरूप गुण आकृष्ट करते है ऐसा मानना भी अशक्य है, क्योकि अदृष्ट [धर्म–अधर्म–पुण्य पाप] अचेतन है तथा आत्मा को सर्वगत माने तो ससार का अभाव होगा, सर्वव्यापक होने से गति से दूसरी गति मे गमनरूप क्रिया अशक्य होगी। आत्मा को संसार न होकर मन को होता है ऐसा कथन भी असत् है मन पृथक् द्रव्य नही है।

वैशेषिक के यहा कहा है कि यह अज्ञजीव अपने सुख दु:ख मे असमर्थ है ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग या नरक मे गमन करता है, इससे सिद्ध होता है कि

आत्मा क्रियावान् है और क्रियावान् है तो अव्यापक स्वतः सिद्ध हुआ। आत्मा का निरंश या अवयव रहित मानना भी असिद्ध है। जैन भिन्न भिन्न अवयव से बनना रूप अवयव आत्मा मे नही मानते किन्तु प्रदेशरूप अवयव मानते हैं। आत्मा के अवयव स्वीकार करेंगे तो उसके छेद का प्रसंग आता है ऐसी आशका भी नही करना। छेद दो प्रकार का है सर्वथा पृथक् होना रूप छेद और कमल नालवत् छेद। प्रथम छेद तो आत्मा मे असंभव है, उसमे तो कमलनाल के टूट जाने पर जैसे परस्पर मे तन्तु संबंध रहता है वैसा छेद आत्मा मे सम्भव है शरीर के हस्त आदि अवयव कट जाने पर कटे अवयव मे कंपन होता है वह कम्पन आत्मप्रदेशो का द्योतक है, इतना अवश्य है कि वे आत्मप्रदेश तत्काल उसी शरीर मे प्रविष्ट हो जाते है।

इसप्रकार वैशेषिक का सर्वथा नित्य, सर्वगत, निरंश, क्रियारहित आत्मा सिद्ध नही होता किन्तु कथंचित् नित्य-अनित्य स्वशरीर प्रमाण, असंख्य प्रदेशी सक्रिय आत्मा सिद्ध होता है।

॥ आत्मद्रव्यवादविचार का सारांश समाप्त ॥

१३

गुणपदार्थवादः

नापि गुणपदार्थः । स हि चतुर्विंशतिप्रकारः परैरिष्टः । तथाहि–"रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च तु गुणाः" [वैशे० सू० १।१।६] इति सूत्रसंगृहीताः सप्तदश, चशब्दसमुच्चिताः गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारधर्माधर्मशब्दाश्च सप्तेति । तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यं पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति । रसो रसनेन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकवृत्तिः । गन्धो घ्राणग्राह्यः पृथिवीवृत्तिः । स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकज्वलनपवनवृत्तिः ।

वैशेषिक के द्रव्यनामा पदार्थ का खण्डन करने के अनंतर अब प्रभाचंद्राचार्य उनके गुणनामा पदार्थ का खण्डन करते है । सर्व प्रथम प्रतिवादी अपना पक्ष रखते है ।

वैशेषिक—गुणनामा पदार्थ के चौबीस भेद हैं–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये सतरह गुण तो मूल सूत्र मे ग्रहण किये गये हैं शेष सात गुण च शब्द से ग्रहण मे आ जाते है, वे इसप्रसार है–गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द । अब इनका विशेष विवरण देते हैं–रूपनामा गुण चक्षु द्वारा जाना जाता है और पृथिवी, जल, अग्नि इन तीन द्रव्यो मे रहता है । रस गुण रसनेन्द्रियद्वारा ग्राह्य है और पृथिवी तथा जल में रहता है । गंध घ्राणेन्द्रियग्राह्य है एवं केवल पृथिवी द्रव्य मे रहता है । स्पर्शगुण स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य है यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारो द्रव्यो में रहता है ।

सख्या त्वेकादिव्यवहारहेतुरेकत्वादिलक्षणा, एकद्रव्या चानेकद्रव्या च । तत्रैकसख्या एकद्रव्या । अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिसख्या । सा च प्रत्यक्षत एव सिद्धा, विशेषबुद्धेश्च निमित्तान्तरापेक्षत्वादनुमानतोपि ।

परिमाणव्यवहारकारण परिमाणम्, महदणु दीर्घं ह्रस्वमिति चतुर्विधम् । तत्र महद्द्विविध नित्यमनित्य च । नित्यमाकाशकालदिगात्मसु परममहत्त्वम् । अनित्य द्व्यणुकादिद्रव्येषु । अण्वपि नित्यानित्यभेदाद्द्विविधम् । परमाणुमनस्सु पारिमाण्डल्यलक्षण नित्यम् । अनित्य द्व्यणुके एव । बदरामलकबिल्वादिषु तु महत्त्वपि तत्प्रकर्षाभावमपेक्ष्य भाक्तोऽणुव्यवहार: ।

सख्या नामा गुण एक, दो इत्यादि सख्या–गिनती का कारण होता है और इसका लक्षण एकत्व आदि है । संख्या के दो भेद हैं, एक द्रव्यसंख्या और अनेक द्रव्य सख्या, एकद्रव्य मे रहनेवाली एक संख्या है और दो तीन आदि सख्या अनेक द्रव्य मे होती है । यह सख्या गुण प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होती है । विशेष या भेद की बुद्धि का कारण यह सख्या ही है यह संख्या द्रव्यादि निमित्त की अपेक्षा रखती है अत. अनुमान द्वारा भी इसकी सिद्धि होती है ।

विशेषार्थ—सख्यानामा गुणका सद्भाव अनुमान से होता है–एक, दो इत्यादि रूप जो ज्ञान होता है वह विशेषण की अपेक्षा लेकर होता है, क्योकि यह विशिष्ट ज्ञान है, जैसे "यह दण्डावाला है" ऐसा ज्ञान होता है वह विशेषण–दण्डे की अपेक्षा लेकर होता है, एक है, दो है, अथवा एक आम है, दस अनार है इत्यादि द्रव्यो मे जो एक दस आदि विशेषण जुडते है और उससे हमे जो एक दस आदि का ज्ञान होता है वह सख्यागुण के कारण होता है इसतरह अनुमान से सख्या की सिद्धि होती है । सख्या गुण होने से अकेली प्रतीत न होकर किसी निमित्तकी–वस्तुकी अपेक्षा लेकर प्रतीत होती है ।

परिमाण–माप का व्यवहार जिसके द्वारा होता है वह परिमाण नामा गुण है उसके चार भेद है, महत्, अणु, दीर्घ और ह्रस्व, महद् के दो प्रभेद हैं नित्य और अनित्य । आकाश, काल, आत्मा और दिशा मे नित्य परम महत् रहता है और अनित्य महत् द्व्यणुक आदि द्रव्यो मे रहता है । अणु नामा परिमाण भी नित्य अनित्य ऐसे दो प्रकार का है, परमाणु और मन इन दो द्रव्यो मे रहनेवाला अणु परिमाण नित्य है जो परिमडलाकार [गोल] है । अनित्य अणु परिमाण वास्तविक तो द्व्यणुक मे ही रहता है,

ननु महद्दीर्घत्वयोस्त्र्यणुकादिषु प्रवर्त्तमानयोर्द्व्यणुके चाणुत्वह्रस्वत्वयोः को विशेष. ? 'महत्सु दीर्घमानीयता दीर्घेषु महदानीयताम्' इति व्यवहारभेदप्रतीतेरस्त्यनयो. परस्परतो भेदः। अणुत्व-ह्रस्वत्वयोस्तु विशेषो योगिना तद्दर्शिना प्रत्यक्ष एव। महदादि च परिमाण रूपादिभ्योऽर्थान्तर तत्प्रत्ययविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात्सुखादिवत्।

सयुक्तमपि द्रव्य यद्वशात् 'अत्रेद पृथक्' इत्यपोद्ध्रियते तदपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्व घटादिभ्योऽर्थान्तर तत्प्रत्ययविलक्षणज्ञानग्राह्यत्वात्सुखादिवत्।

और बेर आवला, बिल्व इत्यादि महत् परिमाण वाले पदार्थो मे जो अणु परिमाण की प्रतीति होती है वह उपचरित है, उसमे प्रकर्षभाव की अपेक्षा अर्थात् आपस मे छोटे बड़े की कल्पना लेकर अणुपने का व्यवहार किया जाता है।

शका—त्र्यणुक आदि मे प्रवर्त्तमान महत् और दीर्घत्व तथा द्व्यणुक मे प्रवर्तमान अणुत्व और ह्रस्वत्व इनमे क्या विशेष भेद है ?

समाधान—महत् और दीर्घ मे यह विशेषता है कि महान पदार्थो मे से दीर्घ को लाना, दीर्घ पदार्थो मे से महान को लाना [अर्थात् बड़े मे से जो लम्बा हो उसको लाना या लबाई वाले मे जो बडा हो उसे लाना] इसप्रकार का भेद व्यवहार देखा जाता है अत इनमे परस्पर मे भेद है। अणु परिमाण और ह्रस्व परिमाण इनकी परस्पर की विशेषता तो उन परिमाणो को देखने वाले योगियो के प्रत्यक्ष ही है। यह महत्, दीर्घ, आदि परिमाण नामा गुण रूप रस आदि गुणो से पृथक् है, क्योकि उन गुणो से विलक्षण ही प्रतिभास कराने वाला है [अर्थात् विलक्षण बुद्धि द्वारा ग्राह्य होता है] जैसे सुख, दु:खादि का प्रतिभास विलक्षण होने से रूपादि गुण से सुखादि गुण पृथक् माने जाते है। पृथक्त्व गुण का लक्षण–सयुक्त हुआ द्रव्य भी जिसके निमित्त से "यहा पर यह पृथक् है" इसप्रकार पृथक् किया जाता है वह पृथक्पने के व्यवहार का कारणभूत पृथक्त्वनामा गुण कहलाता है, यह गुण घट आदि पदार्थो से अर्थातरभूत है क्योकि घट के प्रत्यय से विलक्षण प्रत्यय द्वारा ग्राह्य होता है जैसे सुखादि गुणो का प्रतिभास विलक्षण है।

अप्राप्तिपूर्विका प्राप्ति सयोग । प्राप्तिपूर्विका चाप्राप्तिर्विभाग । तौ च द्रव्येषु यथाक्रम सयुक्तविभक्तप्रत्ययहेतू ।

'इद परमिदमपरम्' इति यतोऽभिधानप्रत्ययौ भवतस्तद्यथाक्रम परत्वमपरत्व च । बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्ताश्च गुणा सुप्रसिद्धा एव ।

गुरुत्व च पृथिव्युदकवृत्ति पतनक्रियानिवन्धनम् । द्रवत्व तु पृथिव्युदकज्वलनवृत्तिः स्प(स्य) न्दनहेतु. । पृथिव्यनलयोर्नैमित्तिकम् । अपा सासिद्धिकम् । स्नेहस्त्वऽम्भस्येव स्निग्धप्रत्ययहेतु ।

सस्कारस्तु त्रिविधो वेगो भावना स्थितस्थापकश्चेति । तत्र वेगाख्य पृथिव्यप्तेजोवायुमनस्सु मूर्त्तद्रव्येषु प्रयत्नाभिघातविशेषापेक्षात्कर्मण· समुत्पद्यते । नियतदिक्क्रियाप्रतिव(प्रब)न्धहेतु· स्पर्श-

---

अप्राप्तिपूर्वक होनेवाली प्राप्ति को सयोग कहते है । प्राप्त होकर अप्राप्त हो जाने को विभाग कहते है, ये दोनो सयोग–विभाग गुण द्रव्यो मे क्रम से सयुक्त और विभक्त ज्ञान के कारण है ।

यह पर है, यह अपर है ऐसा अभिधान तथा ज्ञान जिससे हो वह क्रमश परत्व और अपरत्व गुण कहलाता है । बुद्धि से लेकर प्रयत्न तक के छह गुण सुप्रसिद्ध ही हैं ।

गुरुत्वनामा गुण पृथिवी और जल मे रहता है, यह गुण पतन [गिरना] क्रिया का कारण है । द्रवत्वनामा गुण पृथिवी, जल और अग्नि मे रहता है, और स्यन्दन–[झरना] का कारण है । पृथिवी और अग्नि मे जो द्रवत्व देखने मे आता है वह किसी निमित्त से होता है अत अनित्य है और जल मे जो द्रवत्व है वह सासिद्धिक है [स्वत ही है] अत नित्य है । स्नेह गुण केवल जल मे है और यह स्निग्धता का ज्ञान कराता है ।

सस्कारनामा गुण तीन प्रकार का है, वेग, भावना, स्थित स्थापक । वेग नामका गुण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन जो कि मूर्त्त अर्थात् असर्वगत द्रव्य है उनमे प्रयत्न की अभिघात विशेष की अपेक्षा से होने वाली जो क्रिया या कर्म है उससे उत्पन्न होता है । यह वेग नियत दिशा मे क्रिया का प्रबध कराता है तथा स्पर्शवान्

वद्द्रव्यसंयोगविरोधी च । भावनाख्यः पुनरात्मगुणो ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च, दृष्टानुभूतश्रुतेष्वप्यर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञाकार्योन्नीयमानसद्भावः। मूर्त्तिमद्द्रव्यगुण· स्थितस्थापक, घनावयवसन्निवेशविशिष्टं स्वमाश्रय कालान्तरस्थायिनमन्यथाव्यवस्थितमपि प्रयत्नतः पूर्ववद्यथावस्थित स्थापयतीति कृत्वा, दृश्यते च तालपत्रादे प्रभूततरकालसवेष्टितस्य प्रसार्यमुक्तस्य पुनस्तथैवावस्थान सस्कारवशात्। एव धनु.शाखाशृङ्गदन्तादिषु भग्नापवर्तितेषु वस्त्रादौ चास्य कार्यं परिस्फुटमुपलभ्यत एव। धर्मादयस्तु सुप्रसिद्धा एवेति।

तदेतत्स्वगृहमान्य परेषाम्, रूपादिगुणाना यथोपवर्णितस्वरूपेणावस्थानासम्भवात्। न खलु रूपं पृथिव्युदकज्वलनवृत्त्येव, वायोरपि तद्वत्तासम्भवात्। तथाहि–रूपादिमान्वायु. पौद्गलिकत्वात्

द्रव्य के सयोग का विरोधी है, अर्थात् वृक्ष आदि द्रव्य के साथ बाणादि का सयोग होने पर बाण का वेग नामा सस्कार स्वय नष्ट हो जाता है। भावना नामका गुण तो आत्मा का है यह ज्ञान से उत्पन्न होता है और ज्ञानका कारण भी है। यह भावना दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पदार्थो मे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान को कराने मे कारण है, इन स्मृति आदि कार्यो को देखकर भावना गुण का सद्भाव जाना जाता है, स्थित स्थापक नामा सस्कार मूर्त्तमान द्रव्य का गुण है, यह घने अवयवो से रचे हुए विशिष्ट ऐसे अपने आश्रय को जो कि कालांतर स्थायी है, उसको अन्यथा रूप से व्यवस्थित होने पर पुन प्रयत्न करके पहले के समान स्थापित कर देता है, इसका उदाहरण देते है— बहुत काल से वेष्ठित रखे हुये ताड पत्र आदि पदार्थ है उनको फैलाकर छोड दो तो पुन· वैसे ही बन जाते है, क्योकि सस्कार वैसा ही पडा है, इसीप्रकार खीचकर छोडा हुआ धनुष पुन वैसे ही मुड जाता है, वृक्ष की डाली, सीग, दात आदि खीचकर छोड देने पर पूर्ववत् रहते है, वस्त्रादि पदार्थ भी बहुत दिन तक जैसे रखे हो वैसे अवस्थित रहते है ऐसा स्पष्ट दिखायी देता है, यह स्थित स्थापकनामा सस्कार का कार्य है। धर्म, अधर्म और शब्द ये गुण तो जगत प्रसिद्ध हैं, इनका अधिक विवरण आवश्यक नही है, अर्थात् धर्म अधर्म ये गुण आत्मा मे ही रहते है, ये अनित्य है, तथा शब्द आकाश का गुण है यह भी अनित्य है। इसप्रकार चौबीस गुणो का हमारे यहां वर्णन पाया जाता है।

जैन—यह वर्णन परवादियों के अपने घर का मात्र है, प्रमाणभूत नही है, क्योकि जैसा इनका स्वरूप बताया वैसा सिद्ध नही होता है, रूपगुण पृथिवी, जल, अग्नि

स्पर्शवत्त्वाद्वा पृथिव्यादिवत् । एव जलानलयोरपि गन्धरसादिमत्ता प्रतिपत्तव्या । रूपरसगन्धस्पर्शमतो हि पुद्गलास्तत्कथ तद्विकाराणा प्रतिनियम. ? रूपाद्याविर्भावतिरोभावमात्र तु तत्राविरुद्धम्, जलकनकादिसप्रयुक्तानले भासुररूपोष्णस्पर्शयोस्तिरोभावाविर्भाववत् ।

सख्यापि सख्येयार्थव्यतिरेकेणोपलब्धिलक्षणप्राप्ता नोपलभ्यते इत्यसती खरविषाणवत् । न च विशेषणमसिद्धम्, तस्या द्रव्यत्वेनेष्टे: । तथा च सूत्रम्–"सख्या परिमाणानि पृथक्त्व सयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि" [वैशे० सू० ४।१।११] इति ।

इन तीन द्रव्यो मे ही रहता है ऐसा आपने कहा किन्तु ऐसा नही है रूपगुण वायु मे भी रहता है, अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि वायु रूपादियुक्त है, क्योकि पौद्गलिक है, स्पर्शादिमान होने से भी वायु मे रूप की सिद्धि होती है, जैसे पृथिवी आदि मे स्पर्शादिमानपना होने से रूप का अस्तित्व सिद्ध होता है । इसीप्रकार जल और अग्नि मे गन्ध तथा रसादि गुण की सिद्धि होती है क्योकि पुद्गल द्रव्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन चारो ही गुणो से युक्त हुआ करते है अत पुद्गलो के विकार से बने हुए जल आदि मे गुणो का नियम कैसे कर सकते है कि पृथिवी मे गन्ध है इत्यादि अर्थात् पृथिवी आदि चारो पदार्थो मे एक एक मे चारो चारो गुण नियम से पाये जाते हैं कोई भेद नही है । किन्तु किसी मे रूपादिका आविर्भाव होता है, और किसी मे तिरोभाव होता है, ऐसा आविर्भाव तिरोभाव आप भी तो मानते है, जल सुवर्ण आदि मे जब अग्नि सयुक्त होती है तब उसमे भासुरता–चमकीलापन रूप का तिरोभाव होता है और उष्ण का आविर्भाव होता है, जैसे यहा पर जल मे अग्नि के सयुक्त होने पर उस अग्नि का भासुरत्व तिरोधान हो जाता है वैसे ही वायु मे रूपादिगुण रहते अवश्य है किन्तु स्पर्श आविर्भावरूप और शेष तीन तिरोभूत रहते है । इसीतरह गन्ध केवल पृथिवी मे नही रहता किन्तु पृथिवी आदि चारो मे रहता है इसलिये रूपादि गुणो का स्वरूप तथा आश्रय ये दोनो ही वैशेषिक के सिद्ध नही होते है ।

सख्यानामा गुण भी सिद्ध नही होता, अब इसको बताते है—सख्या सख्येयभूत पदार्थो से पृथक् नही है यदि पृथक् होती तो उपलब्ध होने योग्य होने से पदार्थो से पृथक् दिखायी देती किन्तु वह उपलब्ध नही होती अत निश्चित होता है कि गधे के सीग की तरह असत् है । हमने जो विशेषण दिया वह असिद्ध भी नही है, अर्थात्

'एकादिप्रत्यया विशेष(ण)ग्रहणापेक्षा विशिष्टप्रत्ययत्वाद्दण्डीत्यादिप्रत्ययवत्' इत्यनुमानतोपि न सख्यासिद्धि; यतो यथा 'एको गुणोपि(णः) बहवो गुणाः' इत्यादौ सख्यामन्तरेणाप्येकादिबुद्धि-स्तथा घटादिष्वप्यसहायादिस्वभावेष्वेकादिबुद्धिर्भविष्यतीत्यलमर्थान्तरभूतयैकादिसख्यया । न च गुणेषु सख्या सम्भवति, अद्रव्यत्वात्तेषा तस्याश्च गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । न च गुणेषूपचरितमेकत्वादि-

---

उपलब्ध होने योग्य है । ऐसा सख्या का विशेषण असिद्ध नही है, क्योकि सख्या को दृश्य उपलब्ध होने योग्य मानते है । आपका सिद्धात सूत्र है कि सख्या परिमाणानि पृथक्त्व सयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपि समवायाच्चाक्षुषाणि अर्थात् सख्या, परिमाण, पृथक्त्व सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, और कर्म ये सब रूपिका समवाय होने से चाक्षुष है–नेत्र द्वारा दृश्य है । इससे सिद्ध हुआ कि सख्या दृश्य है, फिर सख्येय के अतिरिक्त क्यो नही उपलब्ध होती । अतः उपलब्ध नही होने से सख्या नामका गुण सिद्ध नही होता है ।

सख्यानामा गुण को सिद्ध करने के लिए अनुमान दिया कि–एक है, दो है इत्यादि जो ज्ञान होता है वह विशेषण के ग्रहण की अपेक्षा लेकर होता है, क्योकि यह विशिष्ट ज्ञान है, जैसे दण्डावाला है इत्यादि ज्ञान विशेषण की अपेक्षा लेकर होते है । किन्तु इस अनुमान से सख्या की सिद्धि नही होती है, कारण यह है कि–"एक गुण है, बहुत से गुण है" इत्यादि ज्ञान बिना सख्या के होते है इनमे जैसे सख्या गुण की अपेक्षा किये बिना सख्या का ज्ञान होना मानते है वैसे घट पट आदि पदार्थो मे भी एक घट है इत्यादि सख्या का ज्ञान बिना सख्या गुण के हो सकता है, अर्थात् गुणो की सख्या करने का जहा प्रसग हो वहा बिना सख्या के गुणो की सख्या हो जाती है क्योकि गुण मे गुण नही रह सकता जैसे गुणो मे सख्या का बोध बिना सख्या गुण के होता है वैसा घटादि पदार्थो मे हो जायगा, अत. उसके लिये सख्या गुण को कल्पना करना व्यर्थ है । गुणो मे सख्या सभव नही, क्योकि गुण अद्रव्य है और सख्या गुणरूप होने से द्रव्य के आश्रित रहती है ।

वैशेपिक—गुणो मे जो सख्या का ज्ञान होता है वह उपचरित है वास्तविक नही ?

ज्ञानम्, अस्खलद्‌वृत्तित्वात् । यदि चाश्रयगता सख्यैकार्थसमवायाद्‌गुणेपूपचर्येत, तर्हि 'एकस्मिन्द्रव्ये रूपादयो बहवो गुणा:' इति प्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्, तदाश्रयद्रव्ये बहुत्वसख्याया अभावात् । 'षट् पदार्था ' इत्यादिव्यपदेशे च किं निमित्तमित्यभिधातव्यम् ? न ह्यत्रैकार्थसमवायिनी सख्या सम्भवति, तया सह षट्‌पदार्थाना क्वचित्समवायाभावात् । अस्तु वा सख्या, तथाप्यस्याः कथ गुणत्वसिद्धि: सत्वादिवत् षट्‌स्वपि पदार्थेषु प्रवृत्ते ?

जैन — यह कथन असत् है, गुणो मे होने वाला सख्या का बोध बाधा रहित है, जैसे द्रव्य की सख्या करने मे सख्या की प्रतीति अस्खलितरूप से होती है वैसे गुण की सख्या करने मे सख्या की प्रतीति होती है, कोई अन्तर नही है ।

वैशेषिक -- गुणो की सख्या की बात ऐसी है कि--गुण स्व आश्रयभूत द्रव्य मे एकार्थ समवाय से रहते है, सख्या भी द्रव्य मे एकार्थ समवाय से रहती है उसके कारण गुणो मे उपचार करके सख्या का ज्ञान प्रवृत्त होता है ?

जैन — तो फिर एक द्रव्य मे रूपादि बहुत से गुण है ऐसी प्रतीति उत्पन्न नही हो सकेगी क्योकि उसके आश्रयभूत द्रव्य मे बहुत्व सख्या का अभाव है ऐसा आप स्वीकार करते है । इसीप्रकार छह पदार्थ है इत्यादि नाम व्यवहार मे क्या निमित्त है यह भी वैशेषिक को बतलाना होगा, अर्थात् ये छह पदार्थ हैं ऐसा नाम तथा ज्ञान का व्यवहार करते है इसमे छ सख्या है वह कौनसी सख्या है ? केवल एक द्रव्य नामा पदार्थ मे समवायिनी सख्या तो हो नही सकती, क्योकि उसके साथ छहो पदार्थो के समवाय का अभाव है अभिप्राय यह है कि सख्या को गुण माना, गुण केवल द्रव्य मे रहता है, कर्म, सामान्य, विशेप, समवाय इनमे नही रहता फिर इन गुण, कर्म आदि की सख्या या ये द्रव्यादि छह पदार्थ है ऐसा कहना, इनमे छह सख्या का प्रतिभास होना कैसे सम्भव है ? अर्थात् नही है । वैशेषिक के विशेष आग्रह से मान लेवे कि सख्या नामा पदार्थ है किन्तु उसे गुण कैसे कह सकते हैं ? क्योकि इसकी सत्वादि के समान छहो पदार्थो मे प्रवृत्ति होती है । अर्थात् सख्या को गुणरूप नही मानो तब तो सत्वादि की तरह छहो पदार्थों मे उसकी प्रवृत्ति होवेगी अन्यथा नही हो सकती ।

ननु यदि संख्या गुणो न स्यात्तर्ह्यनित्यत्वमसमवायिकारणत्वं चास्या न स्यात्। अस्ति च तदुभयम्। तथा चोक्तम्-"एकादिव्यवहारहेतुः संख्या:। सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च। तत्रैक-द्रव्यायाः सलिलादिपरमाणुरूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तय.। सलिलादयश्चादिपरमाणवश्चेति विग्रहः। अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्द्धान्ता। तस्याः खल्वेकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः, अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च विनाशः क्वचिदाश्रयविनाशादुभयविनाशाच्चेति चार्थ.। असमवायि-कारणत्वं च द्वित्वबहुत्वसंख्याया. द्वचणुकादिपरिमाणं प्रति" [प्रश० भा० पृ० १११-११३] इति, एतदपि मनोरथमात्रम्; भेदवदस्याः कारणत्वाभावात्। यथैव हि कार्यभिन्नताया कारणभिन्नताया

वैशेषिक—संख्या को यदि गुण नही माना जाय तो वह अनित्य और असमवायीकारणरूप नही हो सकती, किंतु संख्या मे अनित्यपना और असमवायी कारणपना दोनो ही दिखायी देते है, कहा भी है "एक है, दो है" इत्यादि व्यवहार का हेतु संख्या ही हुआ करती है, वह संख्या एक द्रव्यरूप तथा अनेक द्रव्यरूप भी होती है। उनमे जो एक द्रव्यरूप संख्या है उससे नित्य और अनित्यत्व की निष्पत्ति होती है, जैसे जल आदि के रूपादि गुण और परमाणुओ के रूपादि गुणो की नित्य अनित्यरूप निष्पत्ति होती है अर्थात् जल आदि के रूपादिगुण अनित्य और परमाणु के रूपादिगुण नित्य होते है, जैसे रूपादिगुण एक रूप होकर भी उसके नित्यपना तथा अनित्यपना हुआ वैसे ही संख्यागुण एक द्रव्यरूप होकर भी उसके नित्यपना तथा अनित्यपना होता है। "सलिलादिपरमाणुरूपादीना" इस पद का विग्रह सलिलादयश्च आदि परमाणवश्च ऐसा है। अनेक द्रव्यरूप जो संख्या है वह दो से लेकर परार्द्ध संख्या तक है, इस अनेक द्रव्यरूप द्वित्वादि संख्या की निष्पत्ति अनेक विषय सम्बन्धी बुद्धि से युक्त ऐसे एकत्वो से हुआ करती है, अर्थात् द्वित्वादि संख्या आपेक्षिक हुआ करती है, जहां दो संख्या का प्रतिभास हो वहां द्वित्व और जहा अन्य तीन आदि संख्या का प्रतिभास हो वहा वही तीन आदि संख्या निष्पन्न हो जाती है और अपेक्षाबुद्धि के विनाश होते ही वह संख्या भी नष्ट हो जाती है, कभी कही पर आश्रयभूत संख्येय के विनाश होने से वह संख्या नष्ट हो जाती है, अर्थात् संख्या और संख्येय इन दोनो का भी नाश होता है, इसतरह यह अनेक द्रव्यरूप द्वित्वादि संख्या अनित्य है। संख्यागुण असमवायीकारणरूप भी होता है, कैसे सो बताते है—"द्वचणुक आदि के परिमाण के प्रति द्वित्व बहुत्व आदि संख्या असमवायी कारण हुआ करती है," ऐसा हमारे यहां कहा गया है, इसका अर्थ यह है कि दो अणु का स्कन्ध द्वचणुक है, यह त्र्यणुक है इत्यादि पदार्थो के माप का

असमवायिकारणत्वं भवता नेष्यते तथैकत्वस्यापि तन्नेष्टव्यं तस्याऽभेदपर्यायत्वात् । अभेदभेदौ च स्वात्मपरात्मापेक्षौ रूपादिष्वपि भवतः । यथा चैकमभिन्नमिति पर्यायस्तथानेकं भिन्नमित्यपि । तथा च द्वित्वादिरप्यनेकत्वपर्यायः, तस्योत्पत्त्यादिकल्पना न कार्या ।

कारण सख्या है, इस सख्या को नही माना जाय तो पदार्थो का परिमाण किस प्रकार होगा एव उन पदार्थो का परिमाण बदलता रहता है वह भी किस प्रकार सिद्ध होगा ?

जैन—यह कथन मनोरथ मात्र है, द्वित्वादि सख्या की बात ऐसी है कि जिस प्रकार भेद होने मे कारण नही होता वैसे सख्या होने मे कारण नही है । जैसे आप वैशेषिक कार्यो के भिन्नता मे कारण की भिन्नता का असमवायीकारण नही मानते है अर्थात् भिन्न भिन्न कार्यो का एक ही असमवायीकारण मानते है वैसे ही द्वित्वादि सख्या के प्रति एकत्व सख्या को असमवायीकारणरूप नही मानना चाहिये क्योकि यह एकत्व अभेद पर्याय स्वरूप है ।

एकत्व सख्या अभेद पर्यायरूप होकर भी अन्य सख्या के लिये असमवायी बन जायगी ऐसा भी नही कहना क्योकि भेद अभेद स्वमे और परमे अपेक्षा लेकर हुआ करते है जैसे रूप रस आदि मे स्व और पर की अपेक्षा भेद और अभेद होता है अर्थात् रूप का अपने स्वय के स्वरूप की अपेक्षा अभेद है और परकी अपेक्षा भेद है, रस का स्वरूप की अपेक्षा अभेद और परकी अपेक्षा भेद है । एकत्व यह एक अभिन्नरूप पर्याय है, ऐसे ही अनेकत्व भिन्नरूप पर्याय है, द्वित्वादि सख्या भी अनेकत्वरूप पर्याय ही है, अत द्वित्वादि सख्या अनेक विषय वाली बुद्धि की अपेक्षा लेकर एकत्वरूप असमवायीकारण से निष्पन्न होती है इत्यादि कहना असत् है, द्वित्वादि तो पर्यायस्वरूप पदार्थ है और पदार्थ या पर्याय अपने कारण कलाप से स्वय उत्पन्न हुआ है उसके लिये एकत्वरूप कारण की आवश्यकता नही है । अभिप्राय यह हुआ कि कोई वस्तु एक सख्या स्वरूप है कोई अनेक सख्यास्वरूप है यह तो वस्तु का निजी स्वरूप है पर्याय अथवा अवस्था है, यह अवस्था स्वतः परिवर्तित होती रहती है उसमे सख्यानामा कोई पदार्थ हो वह उसको एक अनेकरूप करता हो या एक अनेक, दो चार इत्यादि विशेषण जोडता हो याकि एक, दो आदि वस्तुओ मे यह एक है, ये दो है इत्यादि प्रतिभास करानेवाला हो सो बात नही है ये कार्य वस्तु के निजी शक्ति से या स्वभाव से हुआ करते हैं, वस्तु की जैसी अवस्था या पर्याय भेद अथवा अभेद होता है उसमे वह स्वय समर्थ है । आप

नन्वेवं सर्वत्र 'द्वे त्रीणि' इत्यादिप्रतिभासप्रसङ्गात् प्रतिभासप्रविभागो न स्यादऽनेकत्वस्याविशिष्टत्वात्; तन्न; अपेक्षाबुद्धिविशेषवत्तत्सिद्धेरप्रतिबन्धात्। यथैव ह्यनेकविषयत्वाविशेषेपि काचिदपेक्षाबुद्धिः द्वित्वस्योत्पादिका काचित्त्रित्वस्य। न ह्यपेक्षाबुद्धेः पूर्वं द्वित्वादिगुणोस्ति; अनवस्थाप्रसगात् अपेक्षाबुद्धिजनितस्य वा द्वित्वादेरानर्थक्यानुषङ्गात्। तथा द्वित्वादिप्रत्ययविभागोपि भविष्यति। यत एव चाभिन्नभिन्नत्वलक्षणाद्विशेषादपेक्षाबुद्धिविशेषस्तत एवैकत्वादिव्यवहारभेदोपि भविष्यति इत्यलमन्तर्गडुनैकत्वादिगुणेन।

वैशेषिक स्वयं मात्र द्रव्य की गणना के लिये सख्या गुण को कारणरूप स्वीकार करते है गुणो की गणना करने के लिये कोई कारण नही मानते जैसे गुणों की गणना या संख्या स्वय हो जाती है अथवा गुणो में एकत्व द्वित्वादिका ज्ञान बिना सख्या गुण के स्वयं होता है वैसे द्रव्यों में स्वयं होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

वैशेषिक—इसतरह स्वय ही द्वित्वादि की निष्पत्ति होना मानेगे या एकत्व, द्वित्वादि सख्या को पर्यायरूप मानेंगे तो दो है, तीन है इत्यादि प्रतिभास सर्वत्र समान होगा क्योकि दो हो तो भी अनेक है और चार पांच आदि भी अनेक है फिर प्रतिभास का विभाजन नही हो सकेगा ?

जैन—यह कथन ठीक नही, सर्वत्र समान प्रतिभास नही होगा, एक द्वित्व आदि सख्या का भिन्न भिन्न प्रतिभास जो होता है वह अपेक्षा बुद्धि विशेष के समान सिद्ध होता है, अर्थात् सर्वत्र अनेकत्व समानरूप से होते हुए भी कोई अपेक्षा बुद्धि द्वित्व की उत्पादक होती है, कोई अपेक्षा बुद्धि त्रित्व–तीनपने की उत्पादक होती है। इस अपेक्षा बुद्धि के पहले द्वित्वादि गुण होता है ऐसा भी नही कह सकते, यदि ऐसा मानेंगे तो अनवस्था आती है। अथवा अपेक्षा बुद्धि से जनित होने से द्वित्वादिक मानना व्यर्थ सिद्ध होता है। तथा द्वित्व आदि के प्रतिभास का विभाग भी सम्भव है। अर्थात् जिस कारण अभिन्नत्व और भिन्नत्वरूप विशेष से अपेक्षा बुद्धि का विशेप सम्भव है उसी कारण से एकत्व आदि रूप व्यवहार भेद भी होवेगा, अंतर्गडुसदृश [भीतरी फोड़े के समान] एकत्वादि सख्या गुण की कल्पना से बस हो।

यदि संख्या गुण को न मानकर केवल वस्तुओ के भिन्नत्व अभिन्नत्वरूप विशेष से द्वित्वादिका प्रतिभास स्वीकार करते हैं तो गुणो में भी एकत्वादिका व्यवहार सुगम

एवं च गुणेष्वप्येकत्वादिव्यवहारोऽकष्टकल्पनः स्यात् । गणितव्यवहारश्च 'षट्पञ्चविंशतिभिः सार्धं शतम्' इत्यादि सुगम । तस्मादभिन्न तावदेकमित्युच्यते, तदपरेणाभिन्नेन सह द्वे इति, ते त्वपरेणाभिन्नेन सह त्रीणीत्येवमादिः समयो लोके प्रसिद्धो गणितप्रसिद्धश्चैकत्वादिव्यवहारहेतुर्द्रष्टव्य इति ।

अथ द्वित्वबहुत्वसख्याया द्वयणुकादिपरिमाण प्रत्यसमवायिकारणत्वोपपत्ते सद्भावसिद्धिः; तन्न; अस्यास्तदसमवायिकारणत्वे प्रमाणाभावात् । परिशेषोस्तीति चेत्; न; कारणपरिमाणस्यैवा-समवायिकारणत्वसम्भवाद्रूपादिवत् ।

हो जायगा । तथा गणित व्यवहार भी सुगम होगा कि पच्चीस को छह से गुणा करने पर डेढ़ सौ होता है इत्यादि ।

अत. अभिन्न सख्येय [वस्तु] को 'एक' इसप्रकार कहते है वही अभिन्न एक अपर अभिन्न सख्येय के साथ जुडकर 'दो' इस पर व्यवहृत होता है वे ही दो अपर सख्येय वस्तु के साथ जुडकर तीन कहे जाते है इस तरह लोक मे यह सकेत प्रसिद्ध है। तथा गणित प्रसिद्ध एकत्व आदि के व्यवहार का हेतु भी यही है ।

शंका—द्वचणुक आदि के परिमाण के प्रति द्वित्व, बहुत्व संख्या असमवायी कारण है, अतः सख्या गुण का सद्भाव सिद्ध होता है ?

समाधान—यह कथन असत् है, सख्या द्वचणुक आदि के परिमाण के प्रति असमवायी कारण है ऐसा सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नही है ।

वैशेपिक—द्वचणुकादि परिमाण असमवायी कारणपूर्वक होते है क्योकि ये सत्‌रूप कार्य है, जैसे घटादि कार्य है इनका असमवायीकारण तो सख्या ही हो सकती है। इस परिशेष अनुमान प्रमाण से सख्या का असमवायी कारणपना सिद्ध होता है ।

जैन—यह अयुक्त है, कारण का परिमाण ही असमवायीकारण हुआ करता है अन्य नही जैसे कारण के रूपादिक कार्य के रूपादि के प्रति असमवायीकारणत्व है ।

वैशेषिक—यदि द्वचणुक आदि के परिमाण का असमवायीकारणपना कारण का परिमाण ही है तो इसका अर्थ यह हुआ कि द्वचणुक का परिमाण परमाणु के परिमाण से उत्पन्न होता है, फिर द्वचणुक तो परमाणु जितना रह जायगा।

ननु परमाणुपरिमाणजन्यत्वे द्व्यणुकेपि परमाणुत्वप्रसङ्गः स्यात्; तन्न; कार्यकारणयोस्तुल्यपरिमाणत्वे दृष्टान्ताभावात्। सर्वत्र हि कारणपरिमाणादधिकमेव कार्यपरिमाणं दृश्यते। परिमाणवच्च कर्मण्यप्यसमवायिकारणत्वमस्याः स्यात्। दृश्यते हि द्वाभ्यां बहुभिर्वा पाषाणाद्युत्थापनम्। न चात्र सख्याया कारणत्वं भवद्भिरिष्टम्। अथास्यास्तत्रापि निमित्तत्वमिष्यते; को वै निमित्तत्वे विप्रतिपद्यते? सामान्यादीनामपि तदभ्युपगमात्। असमवायिकारणत्व तु तस्याः परिमाणवदुत्थापनादिकर्मण्यभ्युपगन्तव्यम्, न चान्यत्रापीत्यलमतिप्रसगेन।

जैन—यह गलत है, कार्य और कारण सर्वथा समान परिमाण वाले होवे ऐसा कही पर देखा नही गया है, सब जगह कारण के परिमाण से अधिक परिमाण वाला कार्य देखा जाता है। एक बात और भी है कि परिमाण का असमवायीकारण यदि द्वित्वादि संख्या है तो उसे कर्म का [क्रिया का] असमवायीकारण भी मानना चाहिये? देखा भी जाता है कि दो पुरुष अथवा बहुत से पुरुषो द्वारा पाषाण आदि को उठाया जाता है, किन्तु इस कर्म मे आपने सख्या को कारण नही माना है।

वैशेषिक—हम लोग उस क्रिया में भी सख्या को निमित्त मानते है ?

जैन—निमित्त मानने मे कौन विवाद करता है ? उक्त क्रिया मे तो सामान्यादिको भी निमित्त कारण माना है किन्तु आप उक्त सख्या को असमवायी कारण मानते है वह सिद्ध नही होता क्योकि यदि सख्या परिमाण के प्रति असमवायीकारण हैं तो उत्थापन [उठाना] आदि क्रिया मे भी उसे असमवायीकारण मानना होगा केवल परिमाण के प्रति नही। अब इस विषय मे अधिक नही कहते।

विशेषार्थ—घट आदि पदार्थ रूप कार्यो को तीन कारण होते हैं ऐसा वैशेषिक का कहना है, समवायीकारण, असमवायीकारण और निमित्त कारण। घट का समवायीकारण मिट्टी है, असमवायीकारण पानी, चाक आदि है और निमित्त कारण कुम्हार है, ये कारण उपादान, सहकारी और निमित्त के समान हैं। यहा पर चर्चा है सख्या की, वैशेषिक संख्या को गुणरूप मानता है, इसे द्व्यणुक आदि द्रव्य के परिमाण का असमवायीकारण बतलाया इस पर जैन ने कहा कि यदि सख्या द्व्यणुकादि के परिमाण के असमवायीकारण होती है तो उसे कर्म अर्थात् क्रिया के प्रति भी असमवायी कारण होना चाहिये। किन्तु वैशेषिक ऐसा मानते नही, संख्या को गुणरूप मानना

यदप्युक्तम्-महदादिपरिमाण रूपादिभ्योर्थान्तर तत्प्रत्ययविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात्सुखादिवत्; तदप्ययुक्तम्, हेतोरसिद्धे, घटाद्यर्थव्यतिरेकेण महदादिपरिमाणस्याध्यक्षप्रत्ययग्राह्यत्वेनासवेदनात्।

असत्यपि महदादौ प्रासादमालादिषु महदादिप्रत्ययप्रादुर्भावप्रतीतेरनैकान्तिकश्चायम्। न च यत्रैव प्रासादादौ समवेतो मालाख्यो गुणस्तत्रैव महत्त्वादिकमपि इत्येकार्थसमवायवशात् 'महती प्रासादमाला' इतिप्रत्ययोत्पत्तेर्नानैकान्तिकत्वम्; स्वसमयविरोधात्। न खलु प्रासादो भवद्भिरवयवि-

---

उसके एकत्वादि भेद करना इत्यादि विषय का मूल मे भली प्रकार खण्डन कर दिया है।

जो पहले कहा था कि–महत् आदि परिमाण, रूप आदि गुण तथा गुणी से अर्थान्तरभूत है, क्योकि इसकी प्रतीति विलक्षण बुद्धि द्वारा ग्राह्य होती है, अथवा इसका प्रतिभास रूपादि से विलक्षण हुआ करता है, जैसा सुखादिका हुआ करता है इत्यादि, सो यह कथन भी अयुक्त है, इसका हेतु असिद्ध है, क्योकि रूपादिस्वरूप घटादि पदार्थो से अतिरिक्त कोई भी महत् आदि परिमाण [माप] नामावस्तु [गुण] प्रतीति मे नही आता है, महदादि परिमाण प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ग्राह्य होता हुआ दिखायी नही देता है।

तथा जहा पर महदादि परिमाण स्वीकार नही किया है वहा प्रासादो की माला–पक्तियो मे भी "ये महलो की पक्तिया महान् विशाल है इत्यादि रूप महदादि परिमाण का ज्ञान उत्पन्न होता है अत हेतु अनैकान्तिक होता है अर्थात् जो महदादि परिमाण की प्रतीति करता है वह महदादि परिमाण नामा गुण है ऐसा कहना व्यभिचरित होता है।

शका—जहां प्रासाद आदि मे माला नामका गुण समवेत हुआ वही पर महदादि परिमाण गुण भी समवेत है अतः एकार्थ समवेत [एक ही अर्थ मे मिलने से] होने के कारण "यह महलो की पक्ति महान है" ऐसा प्रतिभास होता है, इसलिये हेतु व्यभिचरित नही होता।

समाधान—ऐसा नही कहना अन्यथा स्वय वैशेषिक के सिद्धात से विरुद्ध पड़ेगा इसीको आगे बता रहे हैं कि–आपने 'प्रासाद को अवयवी द्रव्य नही माना है

द्रव्यमभ्युपगम्यते विजातीयाना द्रव्यानारम्भकत्वात् । किं तर्हि ?-सयोगात्मको गुण । न च गुण· परिमाणवान्, "निर्गुणा गुणाः" [ ] इत्यभिधानात् । ततो मालाख्यस्य गुणस्य प्रासादादिष्वभावात् 'प्रासादमाला' इत्ययमेव प्रत्ययस्तावदयुक्त·, दूरत एव सा 'महती ह्रस्वा वा' इति प्रत्ययः, मालाया. सख्यात्वेन प्रासादाना संयोगत्वेन महदादेश्च परिमाणत्वेन परैरभ्युपगमात् ।

अथ माला द्रव्यस्वभावेष्यते; तथापि द्रव्यस्य द्रव्याश्रयत्वान्नास्या: सयोगस्वरूपप्रासादाश्रयत्वं युक्तम् । अथासौ जातिस्वभावेष्यते; तर्हि प्रत्याश्रय जाते समवेतत्वादेकस्मिन्नपि प्रासादे 'माला' इति प्रत्ययोत्पत्तिः स्यात् । 'एका प्रासादमाला महती दीर्घा ह्रस्वा वा' इत्यादिप्रत्ययानुपपत्तिश्च तदवस्थैव; मालाया तदाश्रये च प्रासादादावेकत्वादेर्गुणस्याऽसम्भवात् । बह्वीषु च प्रासादमालासु

क्योकि प्रासाद विजातीय काष्ठ आदि अनेक द्रव्यो से निर्मित है, अतः यह अवयवी द्रव्य नही होकर सयोगात्मक गुण है, गुण परिमाणवान् हो नही सकता, क्योकि "निर्गुणा गुणा." ऐसा वचन है । इससे सिद्ध हुआ कि प्रासाद आदि मे माला नामका गुण नहीं है । "प्रासाद माला" यही प्रतिभास अयुक्त है केवल दूर से ही यह प्रासादो की पंक्ति बडी है अथवा छोटी है ऐसा प्रतिभास होता है । आप माला को संख्यारूप स्वीकार करते है, प्रासादो को संयोग गुणरूप, एव महदादि को परिमाण नामा गुणस्वरूप स्वीकार करते है । इसलिये सयोग गुणरूप प्रासाद पक्ति मे माला गुण है ऐसा नही कह सकते ।

वैशेषिक—माला [पक्ति] को द्रव्य का स्वभाव माना जाय ?

जैन—तो भी ठीक नही रहेगा क्योकि द्रव्य स्वभाव द्रव्य के आश्रय मे ही रहता है सयोग स्वरूप प्रासादो के आश्रय मे नही ।

वैशेषिक—माला जाति स्वभाव है ?

जैन—जाति तो प्रत्येक आश्रय मे समवेत होती है, अत एक-एक आश्रयभूत प्रासाद मे रहनेवाली उस जाति के निमित्त से एक प्रासाद मे भी "माला–पंक्ति है" ऐसा ज्ञान होने लगेगा । फिर एक प्रासाद माला बड़ी है, यह लम्बी है, यह छोटी है इत्यादि प्रतिभास पूर्ववत् असम्भव ही रहेगा । क्योकि माला और माला के आश्रयभूत प्रासादादि मे एकत्वादिगुण का असम्भव है [इसका भी कारण यह कि उक्त माला आदि

'माला माला' इत्यनुगतप्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्, जातावऽपरापरजातेरनुपपत्तेः। न चौपचारिकोयं प्रत्ययोऽस्खलद्वृत्तित्वात्। न हि मुख्यप्रत्ययाविशिष्टस्यौपचारिकत्व युक्तमतिप्रसङ्गात्। अत एव मालादिषु महत्त्वादिप्रत्ययोपि नौपचारिकः। ततो यथा स्वकारणकलापात्प्रासादादयो महदादिरूपतयोत्पन्नास्तत्प्रत्ययगोचरास्तथा घटादयोपीत्यलमर्थान्तरभूतपरिमाणपरिकल्पनया।

यदप्युक्तम्—'बदरामलकादिषु भाक्तोऽणुव्यवहार' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; मुख्यगौण प्रविभागस्यात्राप्रमाणत्वात्। न खलु यथा सिंहमाणवकादिषु मुख्यगौणविवेकप्रतिपत्ति. सर्वेषामविगाने-

---

स्वयं गुणरूप है] तथा बहुतसी प्रासाद माला जहा खड़ी हो वहां "माला है यह भी माला है" [महलो की अनेक पक्तिया] ऐसा अनुगत प्रत्यय नही हो सकेगा ? क्योकि माला को जाति स्वभाव रूप माना, अब उस जाति मे दूसरी जाति तो हो नही सकती ? यदि कहा जाय कि बहुतसी प्रासाद मालाओं मे जो अनुगतप्रत्यय होता है वह औपचारिक है, तो भी ठीक नही क्योकि यह प्रत्यय भी सत्यप्रत्यय के समान अस्खलतरूप से होता है [बाधारहित होता है] जो अनुमत प्रत्यय मुख्य के समान ही हो रहा है उपको औपचारिक कहना अयुक्त है, अन्यथा अतिप्रसग आयेगा [मुख्य अनुगत प्रत्यय— गौ है यह भी गौ है, इत्यादि को भी औपचारिक मानना होगा] इसलिये माला आदि मे होने वाला महान् दीर्घ आदि प्रत्यय [ज्ञान] औपचारिक नही कहला सकता। अतः जिसप्रकार प्रासादादि वस्तु अपने कारण सामग्री से उत्पन्न होती हुई महान् दीर्घ इत्यादि रूप ही उत्पन्न होती है वही दीर्घता या महत्व का ज्ञान कराती है, ऐसा मानते है, उसीप्रकार घट पट इत्यादि पदार्थ स्वकारण से उत्पन्न होते हुए महत्, दीर्घ, ह्रस्व इत्यादि परिमाण वाले स्वय उत्पन्न होते है उनमे महत् आदि का प्रत्यय स्वनिमित्तक ही है ऐसा सिद्ध होता है, इस प्रत्यय के लिये परिमाण गुण की कोई आवश्यकता नही है।

परिमाण गुण का कथन करते हुए वैशेपिक ने कहा था कि आकाश, परमाणु आदि में जो महान्, अणु आदि का प्रतिभास होता है वह तो मुख्य है और वेर आवला आदि मे जो अणु महत् का प्रतिभास है वह तो औपचारिक है इत्यादि, सो यह सब अयुक्त है, क्योकि आपका यह मुख्य और गौण का विभाग प्रामाणिक नही है। जिस प्रकार सिंह और माणवक आदि मे मुख्य सिंह और गौण सिंह का विभाग विना विवाद

नास्ति तथा 'द्वयणुके एवाणुत्वह्रस्वत्वे मुख्येऽन्यत्र भाक्ते' इति कस्यचित्प्रतिपत्तिः। प्रक्रियामात्रस्य च सर्वशास्त्रेषु सुलभत्वान्नातो विवादनिवृत्ति.।

आपेक्षिकत्वाच्च परिमाणस्यागुणत्वम्। न हि रूपादेः सुखादेर्वा गुणस्यापेक्षिकी सिद्धिः। योपि नीलनीलतरादे सुखसुखतरादेर्वाऽऽपेक्षिको व्यवहार· सोऽपि तत्प्रकर्षापकर्षनिबन्धनो न पुनर्गुण-स्वरूपनिबन्धन। ततो ह्रस्वदीर्घत्वादे· सस्थानविशेषाद्व्यतिरेकाभावात्कथ गुणरूपता? तद्विशेष-स्यापि कथञ्चिद्भेदाभिधाने त्र्यस्रचतुरस्रादेरपि भेदेनाभिधानानुषङ्गात्कथ तच्चतुर्विधत्वोपवर्णनं सशोभेतेति?

यच्चोक्तम्-पृथक्त्वं घटादिभ्योर्थान्तर तत्प्रत्ययविलक्षणज्ञानग्राह्यत्वात्सुखादिवत्; तदप्युक्ति-

---

के सभी को हो रहा है, उसप्रकार द्वयणुक मे ही अणुत्व ह्रस्वत्व मुख्य है, बेर आदि में गौण है ऐसी मुख्य गौण की प्रतीति किसी को भी नही आ रही है। अपनी प्रक्रिया मात्र बताना तो वह सभी के शास्त्रो मे सुलभ है किन्तु उससे विवाद समाप्त नहीं होता है।

परिमाण अपेक्षा से हुआ करता है अर्थात् यह छोटा है यह बड़ा है इत्यादि प्रतीति एक दूसरे पदार्थो की अपेक्षा लेकर होती है, यह अपेक्षा जनित है अत. अगुण है गुण नही। रूप रस इत्यादि गुण या सुखादि गुण इस तरह अपेक्षा जनित नही हुआ करते है, रूपादि गुणो मे यह नील है यह इससे अधिक नीलतर है इत्यादि अपेक्षा लेकर व्यवहार होता है एव यह भोजन का सुखानुभव विशेष है इससे अधिक मिष्ठान्न भोजन का सुखानुभव है इत्यादि अथवा विषयजन्य सुखानुभव से वैराग्यजन्य सुखानुभव अधिक है इत्यादि आपेक्षिक व्यवहार होता है वह तो प्रकर्षता और अपकर्षता के कारण होता है, गुण के स्वरूप के कारण नही होता है। अतः यह निश्चय होता है कि ह्रस्व दीर्घत्वादि सस्थान विशेष मात्र है इससे अतिरिक्त कुछ नही है, फिर इसको गुणपना किसप्रकार सिद्ध हो सकता है? यदि इस सस्थान विशेष को ही किसी प्रकार से भेद करके पृथक् नामा धरा जाय तो त्रिकोण, चौकोण इत्यादि संस्थान विशेषो को भी भिन्न भिन्न गुणरूप मानना होगा फिर परिमाणके चार भेद बताना किसतरह सिद्ध होगा?

पृथक्त्व नामा गुण घट पट आदि से अतिरिक्त है, क्योकि घटादि के ज्ञान से विलक्षण ज्ञान द्वारा ग्राह्य है, जैसे सुखादि विलक्षण ज्ञान द्वारा ग्राह्य है। ऐसा वैशेषिक

मात्रम्; हेतोरसिद्धत्वात् । न खलु स्वहेतोरुत्पन्नाऽन्योन्यव्यावृत्तार्थव्यतिरेकेणार्थान्तरभूतस्य पृथक्त्वस्याध्यक्षे प्रतिभासोस्ति, अत एवोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यास्यानुपलम्भादसत्त्वम् ।

रूपादिगुणेषु च 'पृथक्' इतिप्रत्ययप्रतीतेरनेकात: । न हि तत्र पृथक्त्वमस्ति गुणेषु गुणासम्भवात् । न च गुणेषु 'पृथक्' इति प्रत्ययो भाक्त'; मुख्यप्रत्ययाविशिष्टत्वात् । न च स्वरूपेणा (ण) व्यावृत्तानामर्थाना पृथक्त्वादिवशात्पृथग्रूपता घटते; भिन्नाभिन्नपृथग्रूपताकरणेऽकिञ्चित्करत्वात् । भेदपक्षे हि सम्बन्धासिद्धिः । अभेदपक्षे तु पृथग्रूपस्यार्थस्यैवोत्पत्तेरर्थान्तरभूतपृथक्त्वगुणकल्पनावैयर्थ्यम् । प्रयोगः-ये परस्परव्यावृत्तात्मानस्ते स्वव्यतिरिक्तपृथक्त्वानाधारा: यथा रूपादयः, परस्परव्यावृत्तात्मानश्च घटादयोर्था इति ।

का अनुमान वाक्य भी अयुक्त है, इस अनुमान का हेतु असिद्ध दोष युक्त है, इसी का खुलासा करते है-"पृथक्त्व गुण घट आदि के ज्ञान से ग्राह्य न होकर दूसरे विलक्षण ज्ञान से ग्राह्य होता है" ऐसा जो हेतु दिया है वह गलत है, घट पट आदि पदार्थ अपने अपने कारण कलाप से उत्पन्न होकर स्वय ही परस्पर से व्यावृत्त हो जाया करते है, यही इनका पृथक्त्वपना है इससे अतिरिक्त पृथक्त्व प्रत्यक्ष ज्ञान मे प्रतिभासित नही होता, अत. उपलब्ध होने योग्य होकर भी अनुपलब्ध होने से इसका अभाव ही है । रूप रस आदि गुणो मे भी "यह पृथक् है" [यह रूप इससे पृथक् है] इसतरह प्रतीति होने से उपर्युक्त हेतु अनैकान्तिक भी है । इस ज्ञान मे पृथक्त्व कारण नही है क्योकि गुणो मे गुण नही रहते है । गुणों मे होने वाला पृथक्पने का प्रतिभास गौण है ऐसा भी नही कहना, क्योकि यह प्रतिभास भी मुख्य के समान अस्खलित है ।

वैशेषिक—घट, पट आदि पदार्थ यद्यपि अपने स्वरूप से व्यावृत्त हैं फिर भी पृथक्त्व गुण के कारण इनमे पृथकपने का व्यवहार एव ज्ञान होता है ?

जैन—इसतरह नही कहना, इसमे फिर प्रश्न होता है कि घट पट आदि को पृथक्त्व गुण पृथक् करता है वह भिन्न रहकर या अभिन्न रहकर करता है ? भिन्न रहकर करना अशक्य है क्योकि उसका घटादि से सम्बन्ध ही नही है । अभिन्न रहकर करता है तो इसका अर्थ यह निकला कि पदार्थ स्वय ही पृथक्रूप उत्पन्न हुआ है, उसमे फिर से पृथक्त्व गुण की कल्पना करना व्यर्थ है । अनुमान प्रयोग जो परस्पर मे व्यावृत्त स्वरूप वाले होते हैं वे पदार्थ अपने से अतिरिक्त किसी पृथक्त्व गुण के आधारभूत नही होते हैं, जैसे रूपादि गुण पृथक्त्व के आधार नही हैं, घट, पट, गृह, वृक्षादि पदार्थ

ततो विभिन्नस्वभावतयोत्पन्नार्थस्यैव 'पृथक्' इतिप्रत्ययविषयत्वप्रसिद्धेरल पृथक्त्वगुण-कल्पनया। पृथक्प्रत्ययस्याप्यसाधारणधर्मादेवोपपत्तेः यदा ह्येकं वस्त्वितरेभ्यो भिन्नं पश्यति प्रतिपत्ता तदा 'एकं पृथक्' इति प्रतिपद्यते। यदा तु द्वे वस्तुनीतरेभ्यो विलक्षणैकधर्मयोगाद्विभिन्ने पश्यति तदा 'द्वे पृथक्' इति मन्यते। यदा त्वेकदेशत्वादिना धर्मेणेतरेभ्यो बहूनि भिन्नानि पश्यति तदा 'एतान्येतेभ्यः पृथक्' इति प्रतिपद्यते, यथा रूपादयो द्रव्यात्पृथगिति।

सयोगस्तु समवायनिराकरणप्रघट्टके प्रतिषेत्स्यते। तदभावात् 'प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिर्विभागः' इत्यपि निरस्तम्। न हि प्राग्भाविसान्तररूपतापरित्यागेन निरन्तररूपतयोत्पन्नवस्तुव्यतिरेकेणान्यः

भी परस्पर व्यावृत्त स्वरूप वाले है अतः इनमे पृथक्त्व गुण का आधारपना नही है।

घटादि पदार्थो मे पृथक्त्व का आधारपना सिद्ध नही होने से ऐसा मानना चाहिए कि–भिन्न भिन्न स्वभावपने से उत्पन्न होने के कारण ही "पृथक् है" ऐसा प्रतिभास होता है अत' पृथक्त्व गुण की कल्पना व्यर्थ है। वस्तुओ मे जो असाधारण धर्म होता है उसीसे पृथक्त्वपने की प्रतीति हुआ करती है, जब कोई पुरुष एक वस्तु को इतर वस्तुओ से भिन्नरूप देखता है तब "एक पृथक् है" ऐसा जानता है, तथा जब दो वस्तुओ को इतर वस्तुओ से विलक्षण एक धर्म के योग से विभिन्न देखता है तब दो वस्तु पृथक् है" ऐसा जानता है। इसीप्रकार जब एक देश मे रहना इत्यादि धर्म द्वारा इतर वस्तुओ से बहुतसी वस्तुओ को भिन्नता देखता है तब ये वस्तु इन वस्तुओ से पृथक् है ऐसा जानता है जिसप्रकार रूप, रस इत्यादि को द्रव्य से पृथक्रूप जानता है" अर्थात् जैसे रूपादि वस्तु से अलग नही है तो भी यह घट का रूप है इत्यादि पृथक् व्यपदेश या प्रतीति होती है, वैसे ही घट पट आदि पदार्थ का स्वरूप स्वय ही असाधारण या पृथक् है अत. उसीसे पृथक्पने का प्रतिभास होता है, उसके लिए पृथक्त्व गुण की कोई आवश्यकता नही है।

वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित सयोग नामा गुण का खण्डन तो आगे समवाय निराकरण के प्रकरण मे होने वाला है। सयोग गुण के निषेध से "प्राप्त होकर अप्राप्त होना विभाग है" ऐसा विभाग का लक्षण भी खण्डित हुआ समझना चाहिए। वस्तु की पहले की जो सातररूपता [भिन्नरूपता] थी उसका त्याग होकर निरतररूपता से [अभिन्नरूपता से] उत्पन्न होना यही संयोग है, इससे अन्य सयोग संयुक्त प्रतीति का

संयोग' सयुक्तप्रत्ययविषयोनुभूयते। अविच्छिन्नोत्पत्तिकमेव हि वस्तु निरन्तरप्रत्ययविषय' निरन्तरोपरचितदेवदत्तयज्ञदत्तगृहवत्। न खलु गृहयो परेणापि सयोगगुणाश्रयत्वमिष्टम्, निर्गुणत्वाद्गुणानाम्, तयोश्च सयोगात्मकत्वेन गुणत्वात्। नापि विच्छिन्नोत्पन्नवस्तुव्यतिरेकेणान्यो विभागो विभक्तप्रत्ययविषयो हिमवद्विन्ध्यवत्। न हि तयोर्विभागाश्रयत्व प्राप्तिपूर्विकाया अप्राप्तेर्विभागलक्षणायास्तयोरभावात्।

प्रयोग –या सयुक्ताकारा बुद्धि' सा भवत्परिकल्पितसयोगानास्पदवस्तुविशेषमात्रप्रभवा यथा 'सयुक्तौ प्रासादौ' इति बुद्धि, सयुक्ताकारा च 'चैत्र कुण्डली' इत्यादिबुद्धिरिति। यद्वा, याऽनेकवस्तुसन्निपाते सति समुत्पद्यते सा भवत्परिकल्पितसंयोगविकलानेकवस्तुविशेषमात्रभाविनी यथाऽविरलाऽवस्थिताऽनेकतन्तुविषया बुद्धि, तथा च विमत्यधिकरणभावापन्ना सयुक्तबुद्धिरिति।

विषय अनुभव मे नही आता है। अविच्छिन्नरूप से उत्पन्न हुई वस्तु निरतर ज्ञान का विषय हुआ करती है, जैसे निरतर–अन्तराल रहित बनाये गये देवदत्त और यज्ञदत्त के गृह निरन्तर ज्ञान के विषय होते है, इन निरतररूप दो गृहो मे सयोग नामा गुण का आश्रय मानना वैशेषिक को भी इष्ट नही है क्योकि गुण निर्गुण होते हैं, और उक्त गृह सयोगात्मक होने से गुणरूप है। विच्छिन्नरूप से उत्पन्न हुई वस्तु ही विभागस्वरूप है, इससे अन्य विभाग नही है, विभक्त ज्ञानका विषय भी यही है, जैसे विन्ध्याचल और हिमाचल विच्छिन्नरूप से स्थित एव विभक्त ज्ञानका विषय है। उक्त पर्वतो मे विभाग गुणका आश्रय सभव नही है क्योकि इनमे प्राप्ति होकर अप्राप्त होना रूप विभाग गुणका लक्षण नही पाया जाता है। जिसप्रकार विन्ध्याचल और हिमाचल मे विभाग गुण नही होकर भी विभक्त का ज्ञान होता है वैसे घट पटादि मे भी होता है।

सयोग गुणका निरसन करने वाला अनुमान संयुक्ताकार जो बुद्धि होती है वह आप वैशेषिक द्वारा कल्पित सयोग के कारण न होकर वस्तु विशेष मात्र से ही होती है, जैसे "ये दो महल मिले हुए है सयुक्त हैं इसप्रकार की बुद्धि उन महलो के विशिष्ट स्थित होने के कारण ही होती है, "चैत्र कुण्डली कुण्डल से युक्त है" इत्यादि बुद्धि भी सयुक्ताकार स्वरूप है अतः सयोग गुण निमित्तक न होकर वस्तु विशेप से ही होती है, दूसरा अनुमान–जो बुद्धि अनेक वस्तुओ के सन्निपात के होने पर उत्पन्न होती है वह आप वैशेषिक द्वारा परिकल्पित सयोग गुण से न होकर अनेक वस्तु विशेष मात्र से होती है, जैसे अविरलरूप से अवस्थित अनेक तन्तुओ को विषय करने वाली बुद्धि अनेक

तथा मेषादिषु विभक्तबुद्धिर्विभागरहितपदार्थमात्रनिबन्धना विभक्तत्वादनेकपदार्थसन्निधानायत्तोदयत्वाद्वा देवदत्तयज्ञदत्तगृहविभागबुद्धिवद् हिमवद्विन्ध्यविभागबुद्धिवद्वा।

सत्यपि वा सयोगे विभागस्य तदभावलक्षणत्वान्न गुणरूपता। कथमन्यथा पुत्रादौ चिरनिवृत्तेपि सयोगे विभक्तप्रत्ययः स्यात्? न खलु तत्र विभागः सभवति, अस्य कियत्कालस्थायिगुणत्वेनाभ्युपगमात्। कथ वा हिमवद्विन्ध्यादौ सयोगेऽनुत्पन्नेपि विभक्तप्रत्ययः स्यात् संयोगाभावात्? व्यतिरिक्तविभागस्वरूपस्य क्वचिदप्यनुपलम्भान्नोपचारकल्पनापि साध्वी।

वस्तुओ के सन्निधान से होती है, विवादग्रस्त अनेक वस्तुओं के सन्निपात में होने वाली सयुक्त बुद्धि भी परकल्पित सयोग गुण के बिना ही होती है।

विभाग गुणका निषेधक अनुमान—मेष आदि पशुओ में "यह मेष इस मेष से विभिन्न है" इत्यादि विभक्तपने की जो बुद्धि होती है वह विभाग गुण रहित मात्र उस पदार्थ के निमित्त से ही होती है, क्योकि यह विभक्त स्वभाव वाली है, अथवा अनेक पदार्थो के सन्निधान के अधीनता से उदित हुई है [अनेक पदार्थो के साथ इद्रियों का सन्निकर्ष होना और उस सन्निकर्ष के निमित्त से उत्पन्न होना] जैसे देवदत्त के घर और यज्ञदत्त के घर मे विभागरूप बुद्धि होती है, अर्थात् यह घर उस घर से विभक्त है–विभिन्न है ऐसा ज्ञान होता है, अथवा हिमाचल और विन्ध्याचल में विभाग रूप बुद्धि होती है।

सयोग को कदाचित् स्वीकार करने पर भी विभाग का गुणपनातो असम्भव है क्योकि संयोग का अभाव होना ही विभाग है [विभाग गुणरूप नही अपितु सयोगाभाव ही है] यदि ऐसी बात नही होती तो चिरकाल से जिसका संयोग निवृत्त [हटा] हुआ है ऐसे पुत्रादि मे विभक्तपने का ज्ञान कैसे होता? सयोग के अभाव के कारण ही तो होता है। उस विभक्तपने के ज्ञानका कारण विभाग है ऐसा भी नही कहना, क्योकि आपने विभाग को कुछ काल तक का स्थायी गुण माना है [चिरकाल स्थायी नही] हिमाचल तथा विन्ध्याचल आदि मे संयोग के उत्पन्न नही होने पर भी विभक्तपने का ज्ञान किसप्रकार होगा, क्योकि सयोग का अभाव है? आप प्राप्तिपूर्वक अप्राप्ति होने को अर्थात् पहले सयोग पश्चात् विभाग होने को विभाग गुण मानते हैं ऐसा विभाग विन्ध्याचल हिमाचल मे नही है। वस्तु के भिन्न स्वरूप के अतिरिक्त विभाग कही भी

विभागाभावे कुतः सयोगनिवृत्तिरिति चेत् ? 'कर्मण एव' इति ब्रूमः । 'कर्ममात्रादपि तन्निवृत्ति' स्यात्' इत्यप्यदोष', सयोगमात्रनिवृत्तेरिष्टत्वात् । सयोगविशेषनिवृत्तिस्तु कर्मविशेषात्, त्वन्मते ततो विभागविशेषोत्पत्तिवत् । कर्मण. सयोगोत्पादकत्वात्कथ तन्निवर्तकत्वमिति चेत् ? तर्हि हस्तबाणादिसयोगस्य कर्मोत्पादकत्वोपलम्भात् कथ वृक्षादौ बाणादिसयोगस्य तन्निवर्तकत्व स्यात् ? अन्यस्य तन्निवर्तकत्वमन्यत्रापि समानम् । न खलु येनैव कर्मणा यः संयोगो जनितः स तेनैव निवर्त्यते इति ।

उपलब्ध नही होता है अतः उपचार की कल्पना भी अयुक्त है अर्थात् हिमाचल विन्ध्याचल मे होने वाला विभाग एव उसका ज्ञान औपचारिक है और मेष आदि मे होने वाला विभाग एव उसका ज्ञान सत्य है ऐसा कहना असत् है ।

वैशेषिक—विभाग गुण को नही मानेंगे तो सयोग की निवृत्ति–हटना कैसे होगी ?

जैन—क्रिया से होगी ऐसा हम बतलाते है ।

वैशेषिक—कर्म से सयोग की निवृत्ति होती है तो किसी भी कर्म से क्रिया मात्र से सयोग निवृत्ति सभव होगी ?

जैन—यह कोई दोष की बात नही है, क्रिया मात्र से सयोग मात्र की निवृत्ति होना माना ही है, किन्तु सयोग विशेष की निवृत्ति तो क्रिया विशेष से होगी, जैसे कि आपके मत मे संयोग विशेष की निवृत्ति से अर्थात् सयोग के हटने से विभाग विशेष की उत्पत्ति होना बताया है ।

वैशेषिक—क्रिया सयोग को उत्पन्न करती है, वह सयोग की निवर्त्तक किस प्रकार हो सकती है ?

जैन—तो फिर हाथ और बाणादि के सयोग का उत्पादक कर्म [क्रिया] है फिर वह वृक्षादि मे बाणादि के सयोग का निवर्त्तक [अर्थात् वृक्षादि मे सयुक्त हुए बाणादि आगे नही जाते उक्त सयोग वही समाप्त होता है] वह किसप्रकार है ? यदि कहा जाय कि हाथ और बाण के सयोग को उत्पन्न करने वाली क्रिया अन्य है और वृक्षादि मे बाण के सयोग को समाप्त करने वाली क्रिया अर्थात् आगे बाण का नही

एतेन विभागजविभागोपि चिन्तितः। तस्यापि सयोगाभावरूपस्य क्रियात एवोत्पत्तिप्रसिद्धेः। ननु यदि विभागजविभागो न स्यात्तर्हि हस्तकुड्यसंयोगविनाशेपि शरीरकुडचसयोगविनाशो न प्राप्नोति; तन्न; हस्तकुडचसयोगव्यतिरेकेण शरीरकुडचसयोगस्यैवासभवात्। हस्तकुडचसयोगादेवासौ कल्प्यते इति चेत्, तर्हि हस्तकर्मदर्शनाच्छरीरेपि कर्म कस्मान्न कल्प्यते तुल्याक्षेपसमाधानत्वात्?

यच्चोच्यते तत्प्रसिद्धयेऽनुमानम्—विवक्षितावयवक्रियाऽऽकाशादिदेशेभ्यो विभागं न करोति, द्रव्यारम्भकसयोगविरोधिविभागोत्पादकत्वात्, या पुनराकाशादिदेशविभागकर्त्री सा सयोगविशेष-

---

जाना रूप क्रिया अन्य है तो यही बात अन्यत्र भी घटित करनी चाहिए, क्योकि हमने ऐसा तो नही कहा है कि जिस क्रिया से सयोग उत्पन्न हुआ है उसी क्रिया द्वारा संयोग हटाया जाता है।

विभाग के विषय मे जैसे विचार किया वैसे ही विभाग से होने वाले विभाग का विचार है अर्थात् विभाग के खण्डन से विभागज विभाग भी खण्डित होता है, क्योकि यह विभाग भी सयोग के अभावरूप है और क्रिया से ही उत्पन्न होता है।

वैशेषिक—यदि विभागज विभाग न माना जाय तो हाथ और भित्ति के सयोग का विनाश होने पर भी शरीर और भित्ति के सयोग का विनाश नही हो सकेगा?

जैन—ऐसा नही कहना, हाथ और भित्ति का संयोग ही शरीर और भित्ति का संयोग कहलाता है, इसके अतिरिक्त शरीर और भित्ति का सयोग ही असम्भव है।

वैशेषिक—भित्ति और शरीर के सयोग की कल्पना तो हस्त और भित्ति के संयोग से की जाती है?

जैन—तो फिर हस्त मे होने वाली क्रिया को देखकर शरीर मे क्रिया की कल्पना क्यो न की जाय शका और समाधान तो बराबर ही है। अब वैशेषिक विभागज विभाग की सिद्धि के लिये अनुमान प्रस्तुत करते है—

वैशेषिक—जैन ने विभागज विभाग का खण्डन किया किन्तु यह विभागज विभाग अनुमान से सिद्ध होता है-विवक्षित किसी अवयव की जो क्रिया होती है वह

निवर्त्तकविभागजनिकापि न भवति यथांगुलिक्रियेति। यदि भिद्यमानवंशाद्यवयविद्रव्यस्यावयवक्रिया आकाशादिदेशेभ्यो विभाग कुर्यात् तर्हि वंशादिद्रव्यारम्भकसयोगविरोधिविभागोत्पादकमेवास्या न स्यादगुल्याद्यवयविद्रव्यक्रियावत्। ततोऽवयविद्रव्यस्याकाशादिदेशविभागोत्पादको विभागोऽभ्युपगन्तव्यः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; अवश्य विभागोत्पादकत्वस्यासिद्धत्वात्। क्रियात एव सयोगनिवृत्तेरुक्तत्वात्। अथ 'अवयविनस्तत्क्रियाऽऽकाशादिदेशसयोग न निवर्त्तयति द्रव्यारम्भकसयोगनिवर्त्तकत्वात्' इतीदमत्र विवक्षितम्; तथाप्यसाधारणो हेतुः; सपक्षेप्याकाशादिदेशसयोगानिवर्त्तके रूपादौ वृत्तेर-

---

आकाशादि के देशों से विभाग को नही करती है, क्योकि यह क्रिया बांस आदि द्रव्य के आरंभक जो परमाणु हैं उनके संयोगक विरोधी जो विभाग है उसको उत्पन्न करती है किन्तु जो क्रिया आकाशादि देश के विभाग को करने वाली है वह सयोग विशेष का निवर्त्तक विभाग की भी जनिका नही होती जैसे अंगुली की क्रिया विभाग को नही करती है। यदि भेद को प्राप्त हो रहे वास आदि अवयवी द्रव्य के अवयवो की क्रिया आकाशादि के प्रदेशो से विभाग को करे तो वह बांस के आरंभक परमाणुओ के सयोग के विरोधी विभाग की उत्पादिका नही होती, जैसे अगुली आदि अवयवी द्रव्य की क्रिया विभाग की उत्पादिका नही है। इसलिये जैन को अवयवी द्रव्य का आकाशादि देश के विभाग को उत्पन्न करने वाला विभाग अवश्य स्वीकार करना चाहिये ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, विभाग के उत्पादकपना असिद्ध है, क्रिया से ही सयोग की निवृत्तिरूप विभाग होता है ऐसा हमने सिद्ध कर दिया है।

वैशेषिक—अवयवी के अवयव की क्रिया आकाशादि के देश के सयोग की निवर्त्तक नही है, क्योकि वह द्रव्य के आरभक [परमाणुओ] के सयोग की निवर्त्तक है ऐसी उपर्युक्त कथन मे विवक्षा थी ?

जैन—ऐसा कहने पर भी हेतु असाधारण अनैकान्तिक होता है, जो हेतु सपक्ष विपक्ष दोनो से व्यावृत्त हो वह असाधारण अनैकान्तिक कहलाता है, यहा आपके अनुमान मे विवक्षित अवयव की क्रिया तो पक्ष है, आकाशादि के देश [अवयव] सपक्ष है, तथा अवयवी विपक्ष है सो "द्रव्यारभक सयोग विरोधिविभागोत्पादकत्वात्" हेतु इन सपक्ष विपक्षो से व्यावृत्त है, अर्थात् सपक्षभूत आकाश के देश संयोग अनिवर्त्तक रूपादि मे इस हेतु का अभाव है। अवयव के सयोग से अवयवी का संयोग अन्य है

भावात् । न चावयवसयोगादवयविन सयोगोऽन्यः; तद्भेदैकान्तस्य प्रागेवं प्रतिक्षेपात्, विनाशोत्पाद-प्रक्रियायाश्च कृतोत्तरत्वात् । तन्न विभागो घटते ।

नापि परत्वापरत्वे, परापरप्रत्ययाभिधानयोस्तदन्तरेणापि रूपादौ सम्भवात् । तथाहि—क्रमोत्पन्ननीलादिगुणेषु 'पर नीलमपर च' इति प्रत्ययोत्पत्तिः असत्यपि परत्वापरत्वलक्षणे गुणे दृष्टा गुणाना निर्गुणतयोपगमात्, तथा घटादिष्वपि स्यात् । अथात्र दिक्कालकृत परापरप्रत्यय., ननु घटादिष्वप्यसौ तत्कृतोऽस्तु विशेषाभावात् । तथा च प्रयोग:—योय परापरादिप्रत्यय॰ स परपरिकल्पित-गुणरहितार्थमात्रकृतक्रमोत्पादव्यवस्थानिबन्धन:, परापरप्रत्ययत्वात्, रूपादिषु परापरप्रत्ययवत् ।

ऐसा कहना भी गलत है, क्योकि अवयव और अवयवी मे सर्वथा भेद मानने का पहले ही निराकरण कर चुके है । तथा वैशेषिक के विनाश उत्पत्ति की प्रक्रिया का पहले ही खडन कर दिया है, इसप्रकार विभागनामा गुण सिद्ध नही होता है ।

परत्व और अपरत्व गुण भी घटित नही होते है, "यह पर है, यह अपर है" ऐसा ज्ञान तथा नाम होता है वह परत्व अपरत्व गुण के बिना भी रूप आदि वस्तु मे देखा जाता है । अब इसीको बताते है—क्रम से उत्पन्न हुए नील पीत आदि गुणो मे यह पर नील है [पुराना है] और यह अपर नील है [पीछे उत्पन्न हुआ है अर्थात् नया है] इत्यादि प्रतीति होती है [ज्ञान तथा नाम होता है] वह परत्व-अपरत्व गुण के बिना ही होता है, क्योकि इन नीलादि गुणो मे गुण निर्गुण होने के कारण परत्वादि गुण रह नही सकते । जैसे नील आदि गुणो मे बिना परत्व-अपरत्व गुण के पर-अपर का ज्ञान होना स्वीकार किया है, वैसे घट, पट आदि पदार्थो मे भी बिना परत्व-अपरत्व गुण के पर-अपर का ज्ञान होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

वैशेषिक—रूप आदि गुणो मे पर-अपर ज्ञान दिशा तथा काल द्रव्य के निमित्त से होता है ?

जैन-तो घट पट आदि पदार्थो मे भी दिशा और काल के निमित्त से पर-अपर का ज्ञान होवे ? कोई भेद नही । अनुमान प्रयोग परापर का जो ज्ञान होता है वह पर [वैशेषिक] कल्पित परत्वादि गुणो से रहित केवल दिशा और कालकृत क्रमिक उत्पाद के कारण ही होता है क्योकि ये परत्व-अपरत्व प्रतिभासरूप है, जैसे रूपादि गुणो मे पर-अपर ज्ञान परत्वापरत्व गुण से रहित होता है । तथा पर और विप्रकृष्ट

'विप्रकृष्टं पर संनिकृष्टमपरम्' इति चानयोरेकार्थत्वान्न भेद पश्यामः। ततश्चायुक्तमुक्तम्–'विप्रकृष्ट-सन्निकृष्टबुद्धिभ्या परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः' इति। न हि घटबुद्धिमपेक्ष्य कुम्भ उत्पद्यते इति युक्तम्। नापि पर्यायशब्दभेदादर्थो भिद्यते इति।

किञ्च, सामान्येषु महापरिमाणाल्पपरिमाणगुणेषु च महदल्पाधारत्वबुद्ध्यपेक्षयोः परत्वा-परत्वयोरुत्पत्तिः कल्प्यतामविशेषात्।

किञ्च, परत्वापरत्वयोर्गुणत्वमभ्युपगच्छता मध्यत्व च गुणोभ्युपगन्तव्य., कालदिक्कृतमध्य-व्यवहारस्याप्यत्र समानत्वात्।

मे तथा अपर और सन्निकृष्ट मे एक अर्थ होने से कुछ भी अतर नही है। अत आप के यहा अयुक्त कहा है कि–विप्रकृष्ट बुद्धि द्वारा परत्व की उत्पत्ति होती है और सन्निकृष्ट बुद्धि द्वारा अपरत्व की उत्पत्ति होती है। बुद्धि द्वारा भी पदार्थ उत्पन्न होता है क्या ? घट बुद्धि की अपेक्षा लेकर कुभ उत्पन्न होता है ऐसा कहना तो सर्वथा अयुक्त है। तथा यह भी बात है कि पर्यायवाची नाम पृथक् होने से अर्थ मे भेद नही होता है। कहने का अभिप्राय यही है कि विप्रकृष्ट और पर ये दोनो पर्यायवाची शब्द हैं अर्थ दोनो का एक ही है अतः विप्रकृष्ट बुद्धि से परत्व उत्पन्न होता है ऐसा कहना कपोल कल्पित ही ठहरता है।

दूसरी बात यह है कि गोत्व, द्रव्यत्व सत्व आदि सामान्यो मे एव महा-परिमाण, अल्प परिमाण गुणो मे महान और अल्पपने का आधार स्वरूप बुद्धि की अपेक्षा वाले परत्व–अपरत्व की उत्पत्ति होती है ऐसा वैशेषिक को मानना चाहिये। अर्थात् सामान्यादि मे भी परत्व अपरत्व को स्वीकार करना चाहिये, क्योकि सामान्यादि मे भी अपेक्षा बुद्धि [परत्वापरत्वकी] हुआ ही करती है, परसामान्य, अपरसामान्य ऐसा सामान्य मे व्यवहार होता ही है तथा महानपरिमाण मे "यह पर–बडा है" एव अल्प परिमाण मे "यह-अपर [छोटा] है" ऐसा व्यवहार होता है अत इनमे भी परत्वापरत्व गुणो को मानने का प्रसग आता है, किंतु वैशेषिक ने इनमे परत्वादिका अस्तित्व स्वीकार नही किया है।

तथा जब आपने परत्व और अपरत्व को गुण माना तो मध्यत्व नामका गुण भी मानना चाहिये। क्योकि काल और दिशा के निमित्त से मध्यपने का व्यवहार भी

सुखदु खेच्छादीना चाबुद्धिरूपत्वे रूपादिवन्नात्मगुणता युक्ता, बुद्धिरूपत्वे चातो भेदेनाभिधान-मयुक्तम् । कंचिद्विशेषमादाय बुद्ध्यात्मकानामप्यतो भेदेनाभिधाने अभिधाना(धादी)दीनामपि भेदेना-भिधान कार्यम् । इत्यलमतिप्रसगेन ।

गुरुत्वादीना तु पुद्गलगुणत्व युक्तमेव । 'अतीन्द्रियं गुरुत्व पातोपलम्भेनानुमेयत्वात्' इत्येतन्न युक्तम्; करतलाद्युपरिस्थिते द्रव्यविशेषे पातानुपलम्भेपि गुरुत्वस्य प्रतिभासनात् । रजःप्रभृतीनामपि

होता है । अर्थात् यह पर–बडा सौ वर्षीय पुरुष है, यह अपर–दस वर्षीय है और यह पुरुष मध्यम वय वाला–पचास वर्षीय इसतरह कालकृत परत्व, अपरत्व और मध्यत्व देखा जाता है, दिशा के निमित्त से परत्वापरत्व–जैसे यह पुरुष पर है–दूर दिशा मे स्थित है, यह पुरुष अपर है–निकट दिशा मे स्थित है, एव यह पुरुष मध्य मे है इसप्रकार परत्वा-परत्व के साथ मध्यपने का व्यवहार देखा जाता है, इसलिये परत्व अपरत्व गुण के समान मध्यत्व नामा गुण भी आपको स्वीकार करना होगा किन्तु यह स्वीकृत नही अतः निश्चय होता है कि परत्व–अपरत्व नामके गुण असिद्ध है ।

सुख, दु ख, इच्छा इत्यादि गुणो को यदि अबुद्धि स्वरूप माने तो वे आत्मा के गुण नही सिद्ध होते, जैसे रूप रस आदि अबुद्धि स्वरूप होने से आतमा के गुण नही है । यदि इन सुखादिको बुद्धिस्वरूप मानते है तो इनका बुद्धि से भिन्न कथन अयुक्त है । यदि कुछ विशेषता को लेकर इन सुख आदि मे भेद करेगे तो नाम आदि का भी भेद रूप कथन करना होगा । इसतरह वैशेषिक के अभिमत सुखादि गुण भी सदोष लक्षण के कारण सिद्ध नही होते है, अब इस विषय मे अधिक नही कहते है ।

गुरुत्व आदि गुण माने है वे पुद्गल द्रव्य के गुण हो तो ठीक है, किन्तु गुरुत्व गुण अतीन्द्रिय है पातसे [गिरने से] अनुमेय है–पातको देखकर उसका अनुमान हो जाता है कि इस वस्तु मे गुरुत्व होगा, क्योकि यह गिर पडी इत्यादि कथन अयुक्त है, केवल गिरने से गुरुत्व की प्रतीति नही होती । हाथ, मस्तकादि के ऊपर रखी हुई वस्तु नही गिरने पर भी उसका गुरुत्व प्रतिभासित होता है ।

शका—धूली आदि का गुरुत्व क्यो नही प्रतीत होता ?

गुरुत्व कस्मान्न गृह्यते इति चेत् ? ग्रहणायोग्यत्वात् । तावतैवातीन्द्रियत्वे गन्धरसादीनामप्यतीन्द्रियत्व स्यात् । क्वचिद्दूरेतदाश्रयस्याम्रफलादेः प्रत्यक्षत्वेपि तेषा ग्रहणाभावादिति ।

पृथिव्यनलयोरप्यस्ति द्रवत्वम्, इत्यनुपपन्नम्; सुवर्णादीनाम् "अग्नेरपत्यं प्रथम सुवर्णम्" [ ] इत्यागमत. प्रसिद्धतैजसत्वाना जतुप्रभृतिपार्थिवद्रव्याणा चाप्यस्यैव द्रवत्वस्य सयुक्तसमवायवशात्प्रतीतिसम्भवात् ।

अथ 'सर्वं पार्थिवं तैजस च द्रव्य द्रवत्वसयुक्त रूपित्वात्तोयवत्' इत्यनुमानात्तस्य द्रवत्वसिद्धि'; तन्न; प्रत्यक्षेण स्प (स्य-) न्दनकर्मानुपलम्भेन च बाधितविषयत्वात् । अथेत्यन्धर्मकं तत्र द्रवत्व जात

समाधान—उसका गुरुत्व ग्रहण के अयोग्य है । यदि ग्रहण के अयोग्य होने मात्र से गुरुत्व को अतीन्द्रिय स्वीकार किया जाय तो गन्ध, रसादि को भी अतीन्द्रिय स्वीकार करना पड़ेगा क्योकि कही दूर मे रूप रसादि के आश्रयभूत आम्र फलादि के प्रत्यक्ष होने पर भी उनके रस, गन्धादिका ग्रहण नही होता अत. जो ग्रहण योग्य नही है वह अतीन्द्रिय है ऐसा कहना अयुक्त है ।

पृथ्वी और अग्नि मे भी द्रवत्व गुण है ऐसा वैशेषिक ने कहा था वह असिद्ध है । आगे इसी को स्पष्ट करते है–'अग्नेरपत्य प्रथमसुवर्ण' अग्नि का प्रथम अपत्य सुवर्ण है इत्यादि परवादी के आगम से प्रसिद्ध तैजसरूप सुवर्णादि द्रव्य और लाख आदि पृथ्वीरूप द्रव्यो मे जल का ही द्रवत्व सयुक्त समवाय के वश से प्रतीत होता है, अर्थात् पृथ्वी आदि मे स्वय द्रवत्व गुण नही है अपितु जल का ही द्रवत्व है सयुक्त समवाय के कारण पृथ्वी आदि मे उसकी प्रतीति होती है ।

वैशेषिक—सभी पार्थिव और तैजस द्रव्य द्रवत्व से सयुक्त है क्योकि रूपी है, जैसे जलरूपी होने से द्रवत्व से सयुक्त हैं । इस अनुमान द्वारा पृथ्वी आदि मे द्रवत्व की सिद्धि होती है ।

जैन—यह कथन असत् है, पृथ्वी आदि मे स्यन्दन क्रिया होती हुई प्रत्यक्ष से उपलब्ध नही होती है अत. आपका अनुमान प्रत्यक्ष बाधित है ।

वैशेषिक—इन पार्थिव तथा तैजस पदार्थों मे इस तरह का स्वभाव वाला द्रवत्व है कि जो प्रत्यक्ष नही होता है और स्यदन [बहना] क्रिया को नही करता है

यत्प्रत्यक्षं न भवति स्प (स्य) न्दनक्रिया च न करोतीत्युच्यते; तर्हि गुरुत्वरसावप्येवधर्मकौ रूपित्वादेव किन्न तेजसोभ्युपगम्येते तुल्याक्षेपसमाधानत्वात् ? तथा चाऽस्योर्द्धवगतिस्वभावता न स्यात्, 'रसः पृथिव्युदकवृत्तिः' इत्यस्य च विरोध इति।

'स्नेहोऽम्भस्येव' इत्यप्ययुक्तम्, घृतादेरपि लोके वैद्यकादिशास्त्रे च स्निग्धत्वेन प्रसिद्धत्वात्। घृताद्यावन्यनिमित्तत्वेनौपचारिक· स्निग्धप्रत्यय·; इत्यप्यसाम्प्रतम्; विपर्ययस्यापि कल्पयितु शक्यत्वात्। तथा हि—तोयसम्पर्केप्योदनादौ च स्निग्धप्रत्ययो नास्ति घृतादिसम्पर्के तु स्निग्धप्रत्ययः

जैन—यदि ऐसा है तो तैजस में रूपीपना होने से [अग्नि मे] गुरुत्व और रसत्व गुण का सद्भाव क्यो नही मानते है, उसमे भी इस तरह का स्वभाव वाला· गुरुत्व और रसत्व है कि जो पतन क्रिया तथा स्वाद क्रिया को नही करता है। इस प्रकार सुवर्णादि पार्थिव द्रव्य मे द्रवत्व मानना और अग्नि मे गुरुत्व एव रसत्व मानना इन दोनो पक्षो मे आक्षेप, समाधान समान है। इसतरह तेजो द्रव्य मे जब गुरुत्व और रसत्व गुण की सिद्धि होती है तब उसमे [तेजो द्रव्य मे] ऊर्ध्वगति स्वभाव सिद्ध नही हो सकेगा, क्योकि उसमे पतनक्रिया लक्षण वाला गुरुत्व गुण है। तथा रस गुण पृथिवी और जल मे ही रहता है ऐसा आपका सिद्धांत भी बाधित होगा, क्योकि तेजो द्रव्य में भी रसत्वगुण को स्वीकार किया है।

स्नेह गुण जल मे ही होता है ऐसा कहना भी अयुक्त है, घृत, तेल आदि पदार्थ भी स्नेह गुण युक्त देखे जाते है, वैद्यक ग्रन्थ मे भी घृतादिका स्नेहपना प्रसिद्ध है।

वैशेपिक—घृत आदि मे जो स्नेहपना दिखायी देता है वह अन्य निमित्त से आया है अत औपचारिक है ?

जैन—यह कथन असत् है, इससे विपरीत भी कल्पना कर सकते है। आगे इसीको स्पष्ट करते है—ओदन आदि मे जल के सपर्क होने पर भी स्निग्ध प्रतिभास नही होता, किन्तु उसमे घृतादि का सपर्क होने पर सभी को स्निग्धता का प्रतिभास होता है।

वैशेषिक—गेहू का आटा आदि मे जल के निमित्त से बंध होता [आटे को ओसन कर एकट्ठा करना] हुआ देखा जाता है, अतः जल में ही विशेप स्नेह गुण माना जाता है ?

सर्वेषामस्त्येवेति । कणिकादौ तोयस्य बन्धहेतुत्वोपलम्भात्तस्यैव स्नेहो विशेषगुणः; इत्यप्यसारम्; भवता स्नेहरहितत्वेनाभ्युपगतस्यापि क्षीरजतुप्रभृतेर्बन्धहेतुत्वेन प्रतीतेः ।

स्नेहस्य गुणत्वाभ्युपगमे च काठिन्यमार्दवादेरपि गुणत्वाभ्युपगमः कर्त्तव्यः, तथा च तत्संख्याव्याघातः स्यात् । ननु काठिन्यादेः संयोगविशेषरूपत्वात्कथं गुणसंख्याव्याघातहेतुत्वम् ? तथा चोक्तम्-"अवयवानां प्रशिथिलसंयोगो मृदुत्वम्" [ ] इत्यादि; तदप्यसङ्गतम्, चक्षुषा संयोगेषु प्रतीयमानेष्वपि मार्दवादेरप्रतिभासनात् । 'यो हि यद्विशेषः स तस्मिन्प्रतीयमाने प्रतीयत एव यथा रूपे प्रतीयमाने तद्विशेषो नीलादिः; न प्रतीयते च संयोगेषु प्रतीयमानेष्वपि काठिन्यादिः, तस्मान्नासौ तद्विशेष इति । कटाद्यवयवानां प्रशिथिलसंयोगेपि मृदुत्वाप्रतीतेश्च, विशिष्टचर्माद्यवयवानामप्यप्रशिथिलसंयोगित्वेपि मृदुत्वोपलब्धेश्चेति ।

जैन—यह कथन असार है, बंध हेतु होने से जल मे स्नेहगुण है ऐसा कहेंगे तो क्षीर, लाख, रस आदि बहुत से ऐसे पदार्थ है जिनसे आटे आदि का बंध [गूंदना ओसनना] होता है, अतः उनमें भी स्नेह गुण सिद्ध होगा । किन्तु आपने इन क्षीरादिको स्नेह गुण रहित माना है ।

तथा यह भी बात है कि यदि वैशेषिक स्नेह नामागुण स्वीकार करते हैं तो कठोर, मृदु इत्यादि गुण भी स्वीकार करने चाहिये, और इनको माने तो गुणो की सख्या का व्याघात हो जाता है ।

वैशेषिक—कठोरता आदि सयोग विशेषरूप हुआ करती है उससे हमारी गुणो की सख्या किसप्रकार बाधित हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती । कहा भी है—"अवयवाना प्रशिथिल सयोगः मृदुत्वम्" अवयवो का शिथिल सयोग होना मृदुत्व कहलाता है, इसीतरह घनिष्ट सयोग को काठिन्य कहते है, अत कठोरतादि गुण नही है और उनसे गुणो की सख्या का व्याघात भी नही होता है ?

जैन—यह कथन असगत है, नेत्र द्वारा सयोग के प्रतीत होने पर भी मृदुता आदि की प्रतीति नही होती है, जो जिसका विशेष होता है वह उसके प्रतीत होने पर अवश्य प्रतीत होता है, जैसे रूप के प्रतीत होने पर उसका विशेष नील भी प्रतीत होता है, सयोग के प्रतीत होने पर भी काठिन्य आदि स्वभाव प्रतीत नही होते अत

ननु काठिन्यादेः संयोगविशेषरूपत्वाभावे कथं कठिनमेव कणिकादिद्रव्यं मर्दनादिना मृदुत्वमापाद्यते ? इत्यप्यसुन्दरम्; न हि तदेव द्रव्य मृदु भवति । किं तर्हि ? पूर्वकठिनपर्यायनिवृत्तौ मृदुपर्यायोपेत द्रव्यान्तरमुत्पद्यते । सयोगविशेषमृदुत्ववादिनापि पूर्वद्रव्यनिवृत्तिरत्राभ्युपगतैव । ततः स्पर्शविशेषो मृदुत्वादिरभ्युपगन्तव्य: 'कठिन' स्पर्शो मृदु: स्पर्श.' इति प्रतीतिदर्शनात् । तथा च पाकजत्वमपि स्पर्शस्योपपन्नं घटादिषु रूपादिवत् विलक्षणस्पर्शोपलम्भात् नान्यथा । न च काठिन्यादिव्यतिरेकेण स्पर्शस्यान्यद्वैलक्षण्य व्यवस्थापयितु शक्यमिति ।

काठिन्यादिक संयोग विशेष नही है । तथा चटाई आदि के अवयव प्रशिथिल सयोगरूप होते है किन्तु उनमे मृदुत्व प्रतीत होता नही और विशिष्ट चर्म आदि के अशिथिल सयोग होने पर भी मृदुत्व प्रतीत होता है, अत: सिद्ध होता है कि सयोग विशेष मात्र मृदुत्वादि नही है अपितु पृथक् ही गुण है ।

वैशेषिक—यदि काठिन्य, मृदुत्वादि संयोग विशेषरूप नही होते तो कठिन स्वरूप आटा आदि पदार्थ मर्दन–कूटनादि क्रिया द्वारा किसप्रकार मृदुभाव को प्राप्त होते ?

जैन—यह कथन असुन्दर है, मर्दन द्वारा वही द्रव्य मृदु नही होता किन्तु पूर्व की कठिन पर्याय निवृत्त होकर मृदुता पर्यायरूप द्रव्यातर उत्पन्न होता है । आप स्वय ही सयोग विशेष को मृदुत्व मान रहे हैं सो पूर्व द्रव्य की निवृत्ति होना आपको भी इष्ट है ऐसा सिद्ध होता है, अत स्पर्शगुण का भेद विशेष मृदुत्व, काठिन्यादि है ऐसा मानना चाहिये, यह कठोर स्पर्श है, यह मृदु है इत्यादि प्रतीति होने से भी मृदुत्वादि गुणो की सिद्धि होती है । मृदुत्वादिको स्पर्श विशेषरूप मानने पर इस स्पर्श का पाकजपना भी घटित होता है, जैसे घट आदि पदार्थो मे रूपादिका पाकजपना देखा जाता है । यदि, मृदुत्वादिको स्पर्श विशेषरूप नही माने तो स्पर्शगुण का पाकजपना सिद्ध नही होगा, क्योकि फिर उसमे विलक्षण स्पर्शत्व उपलब्ध नही हो सकेगा, स्पर्श की विलक्षणता तो कठोरता, मृदुता ही है, अन्य कोई विलक्षणता व्यवस्थापित नही होती है ।

वेगाख्यस्तु संस्कारो न केवल पृथिव्यादावेवास्ति आत्मन्यप्यस्य सम्भवात्, तस्यापि सक्रियत्वेन प्रसाधितत्वात्। न च क्रियातोऽर्थान्तरं वेगः; अस्याः शीघ्रोत्पादमात्रे वेगव्यवहारप्रसिद्धेः। 'वेगेन गच्छति' इति प्रतीते. क्रियातोर्थान्तर वेगः; इत्यप्ययुक्तम्, 'वेगेन गच्छति, शीघ्र गच्छति' इत्यनयोरेकत्वात्। न च कर्मणः कर्मारम्भकत्वेऽनुपरमप्रसङ्ग, शब्दवत्तदुपरमोपपत्तेः। यथैव हि शब्दस्य-शब्दान्तरारम्भकत्वेप्युपरमस्तथात्रापि। "कर्म कर्मसाध्य न विद्यते" [वैशे० सू० १।१।११] इत्यपि वचनमात्रत्वादविरोधकम्।

संस्कार नामा गुण को पृथक् मानकर उसके तीन भेद बताये थे, उनमें वेग नामा संस्कार को केवल पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन मे माना किन्तु यह ठीक नही, आत्मा मे भी वेग नामा संस्कार का अस्तित्व है, यदि कोई शका करे कि—आत्मा निष्क्रिय होने से उसमे वेग कैसे सिद्ध होगा ? सो ऐसी शका असत् है, आत्मा सक्रिय है इस बात को हम सिद्ध कर आये हैं। तथा क्रिया से न्यारा वेग नामा गुण सिद्ध भी नही होता है, जो क्रिया शीघ्रता से हो उसे ही वेग कहते हैं।

वैशेषिक—वेग से जा रहा है ऐसा प्रतीत होने से वेग को क्रिया से पृथक् मानना चाहिये ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, वेगेन गच्छति कहो चाहे शीघ्रं गच्छति कहो दोनो का अर्थ एक ही है।

वैशेषिक—वेग को गुणरूप न मानकर क्रियारूप माने तो क्रिया से वेगरूप क्रिया उत्पन्न होती है ऐसा अर्थ हुआ। और क्रिया से क्रिया उत्पन्न होगी तो वह कभी रुकेगी नही ?

जैन—ऐसी बात नही है, शब्द के समान उसका भी रुकना हो सकता है, जिसप्रकार शब्द की उत्पत्ति शब्दातर से होती है तो भी उसका उत्पन्न होना रुक जाता है उसीप्रकार क्रिया से क्रिया उत्पन्न होने पर वह रुक जाती है, आपके यहा "कर्म कर्मसाध्य न विद्यते" क्रिया क्रियाद्वारा साध्य नही होती ऐसा कहा है वह तो प्रलापमात्र है, उससे प्रतीति सिद्ध वस्तु व्यवस्था मे बाधा नही आती है।

न च विभिन्नः संस्कारो बाणादीनामपातहेतु प्रतीयते, अन्यथा कदाचिदपि तेषां पातो न स्यात्, तत्प्रतिबन्धकस्य वेगस्य सर्वदावस्थानात् । न च मूर्त्तिमद्वाय्वादिसंयोगोपहतशक्तित्वाद्वेगस्य तेषां पतनम्, प्रथममेव पातप्रसक्तेः, तत्संयोगस्य तद्विरोधिनस्तदापि सम्भवात् । न च प्राग्वेगस्य बलीयस्त्वाद्विरोधिनमपि मूर्त्तद्रव्यसंयोगमपास्य शरं देशान्तरं प्रापयति, इत्यभिधातव्यम्, पश्चादप्यस्य बलीयस्त्वात्तथैव तत्प्रापकत्वप्रसक्तेः । न खलु वेगस्य पश्चादन्यथात्वम्; तथोत्पत्तिकारणाभावात्, तत्समवायिकारणत्वस्येष्वादेः सर्वदाऽविशिष्टत्वात् । न च कर्माख्यं कारणं पश्चाद्विशिष्यते, तस्यापि तुल्यपर्यनुयोगत्वात् । न च प्रभूताकाशप्रदेशसंयोगोत्पादनात् संस्कारप्रक्षयादिषोः पातः; संस्कारस्यै-

---

वैशेषिक का कहना है कि बाणादि पदार्थों को लक्ष्य स्थान में पहुचने तक नही गिरने देना सस्कार गुण का कार्य है । किन्तु ऐसा सिद्ध नही होता । यदि ऐसा माना जाय तो उन बाणादिका कभी भी पात नही हो सकेगा क्योकि पात का प्रति-बधक वेग नामा सस्कार सदा मौजूद रहता है ।

वैशेषिक—मूर्तिमान वायु आदि के सयोग हो जाने से वेग की शक्ति समाप्त होती है अत बाणादिका पात [गिरना] हो जाता है ?

जैन—ऐसा कहो तो लक्ष्य स्थान के पहले ही बाणादि को गिर जाने का प्रसग होगा, क्योकि वेगका विरोधी जो वायु आदिका सयोग है वह उस समय भी सम्भव है ।

वैशेषिक—बात यह है कि बाणादिका वेग पहले बलवान रहता है अतः विरोधी मूर्त्तद्रव्य के सयोग को हटाकर वह वेग बाण को देशांतर में पहुचा देता है ?

जैन—यह कथन असत् है, बाणका वेग जैसे पहले बलवान रहता है वैसे पीछे भी बलवान रहता है अत. उसे बाणादिको देशातर मे आगे आगे पहुचा देने का प्रसग आता है ऐसा भी नही कि पीछे अन्य प्रकार का वेग होता है । क्योंकि वैसे वेग को उत्पन्न करने का कारण नही दिखायी देता है । वेगका समवायी कारण बाणादि में हमेशा समानरूप से मौजूद रहता है, अतः ऐसा नही कहना कि उसका विशिष्ट कारण नहीं होने से पीछे वेग अन्यथारूप हो जाता है । कर्म [क्रिया] नामा कारण पीछे मिल जाने से वेग मे अन्यथापन आता है ऐसा कहो तो वही पहले के प्रश्नोत्तर

कस्वभावत्वेनावस्थितस्य प्रागिव पश्चादपि प्रक्षयानुपपत्तेः। न चाकाशस्य प्रदेशाः परैरिष्यन्ते, येन तत्संयोगानां भूयस्त्वं संस्कारप्रक्षयहेतुत्वं वा युक्तियुक्तं भवेत्। कल्पनाशिल्पिकल्पितानां संयोगभेदकत्वं तदायत्तभेदानां च संयोगानां संस्कारप्रक्षयहेतुत्वं दूरोत्सारितमेव।

भावनाख्यस्तु संस्कारो धारणापरनामा नानिष्टः; पूर्वपूर्वानुभवाहितसामर्थ्यलक्षणस्यात्मनोऽनर्थान्तरभूतस्य स्मृत्यादिहेतुत्वेनास्यास्माभिरपीष्टत्वात्।

स्थितस्थापकरूपस्तु संस्कारोऽसम्भाव्य एव। स हि किं स्वयमस्थिरस्वभावं भावं स्थापयति, स्थिरस्वभावं वा? न तावदस्थिरस्वभावम्, तत्स्वभावानतिक्रमात्। तथाविधस्यापि स्थापनेऽति-

---

आयेंगे, अर्थात्–कर्म नामा कारण भी पहले मौजूद था उसमे पीछे अन्यथापन क्यो आया इत्यादि प्रश्न का सही समाधान नही मिलता है। बहुत से आकाश प्रदेशो के सयोगो का उत्पाद होता है और उससे सस्कार का क्षय होकर बाण गिर जाता है, ऐसा कहना भी अशक्य है, क्योकि सस्कार हमेशा एक स्वभावरूप से अवस्थित है [सस्कार एक गुण है और गुण जो होते है वे नित्य होते है] पहले के समान पीछे भी उसका क्षय हो नही सकता। आपने बहुत से आकाश प्रदेश की बात कही किन्तु आपके यहा पर आकाश के प्रदेश नही माने, अत· आकाश प्रदेशो के सयोगो की बहुलता होना या सस्कार के क्षय होने मे कारण होना युक्ति युक्त नही है। आकाश द्रव्य मे काल्पनिक प्रदेश मानकर उनसे सयोग मे नानापना स्वीकार करे तथा प्रदेश भेदो के निमित्त से हुए सयोगो को सस्कार के [वेग का] नाश का कारण माने तो वह भी असत्य है, क्योकि काल्पनिक वस्तु अर्थ क्रियाकारी नही होती अत. इस तरह का कथन दूरसे खण्डित हुआ समझना चाहिये।

संस्कार का भावना नामा भेद तो हमारे धारणा नामा ज्ञान सदृश होने से अनिष्ट नही है, भावना अर्थात् धारणा तो पूर्व पूर्व के अनुभव के निमित्त से उत्पन्न हुई सामर्थ्य से युक्त आत्मा से अभिन्न है ऐसा सस्कार हम जैन ने भी माना है जो कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानो का हेतु हुआ करता है।

सस्कार का तीसरा भेद स्थित स्थापक है वह तो असम्भव है, इस सस्कार के विषय मे विचार करे कि–स्थित स्थापक सस्कार स्वय अस्थिर स्वभाव वाले पदार्थ को स्थापित करता है या स्थिर स्वभाव वाले पदार्थ को स्थापित करता है? अस्थिर

प्रसङ्ग । क्षणादूर्ध्वं चार्थस्य स्वयमेवाभावात्कस्यासौ स्थापक स्यात् ? भावे वाऽस्थिरस्वभावता-विरोध: । अथ द्वितीयः पक्षः, तदा स्थिरस्वभावेऽवस्थितानामर्थाना स्वयमेवावस्थानात्किमकिंचित्कर-स्थापकप्रकल्पनया ? ततः स्वहेतुवशात्तथा तथा परिणतिरेवार्थाना स्थितस्थापक सस्कारो नान्य ।

धर्माधर्मशब्दानां तु गुणत्व प्रागेव प्रतिविहितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । तत "कर्तु फलदाय्यात्मगुण आत्ममनः सयोगजः स्वकार्यविरोधी धर्माधर्मरूपतया भेदवानदृष्टाख्यो गुणः" [ ] इत्ययुक्तमुक्तम् । इद तु युक्तम् "कर्तु प्रियहितमोक्षहेतुर्धर्म, अधर्मस्त्वप्रियप्रत्ययहेतु" [प्रश० भा० पृ० २७२–२८०] इति । तन्न गुणपदार्थोपि श्रेयान् ।

स्वभाव वाले को स्थापित करना तो अशक्य है, क्योकि वह अस्थिर स्वभावी पदार्थ अपने स्वभाव का उल्लंघन नही कर सकता । यदि अस्थिर स्वभावी वस्तु को भी स्थित स्थापक सस्कार स्थापित करता है तो अतिप्रसग प्राप्त होगा, फिर तो विद्युत आदि चचल पदार्थ को भी वह स्थापित कर देगा । तथा अस्थिर स्वभावी पदार्थ एक क्षण के आगे स्वयमेव नष्ट हो जाता है अत यह संस्कार किसका स्थापक होगा ? यदि एक क्षण के बाद वह स्वय नष्ट नही होता है तब उसे अस्थिर स्वभाव वाला नही कह सकते है । दूसरा पक्ष–स्थिर स्वभावी पदार्थ को स्थित स्थापक संस्कार स्थापित कर देता है ऐसा कहो तो यह व्यर्थ है, जब पदार्थ स्वयं स्थिर स्वभाव मे अवस्थित हैं तब अकिंचित्कर स्थित स्थापक सस्कार की कल्पना से क्या प्रयोजन है । अत. पदार्थ अपने कारण द्वारा स्वयं उस उसप्रकार से परिणत है, यही स्थित स्थापक नामा संस्कार है अन्य कुछ भी नही है ऐसा सिद्ध होता है ।

धर्म, अधर्म और शब्द इन तीनो को गुणरूप मानना पहले ही निराकृत हो चुका है, अब यहां अधिक कथन से बस हो । वैशेषिक के यहा कहा है कि–जो कर्त्ता को फल देता है, आत्मा का गुण है, आत्मा और मनके सयोग से उत्पन्न होता है, स्वकार्य का विरोधी है, धर्म–अधर्मरूप भेदवाला है ऐसे विशेषणों वाला अदृष्ट नामा गुण है, सो यह धर्मादि के गुणत्व का निषेध करने से ही खण्डित हुआ माना जायगा । हा अदृष्ट या धर्माधर्म के विषय मे प्रशस्तपाद भाष्य मे कुछ ठीक कहा है कि–जो कर्त्ता को प्रिय, हितकर हो एव मोक्ष का कारण हो वह धर्म है, और जो अप्रिय हो अहितकारी है, वह अधर्म है, इत्यादि । इसप्रकार वैशेषिक द्वारा मान्य चौवीस प्रकार के गुण सिद्ध नही होते हैं । अतः गुण पदार्थ को पृथक्रूप मानना श्रेयस्कर नही है ।

।। गुणपदार्थविचार समाप्त ।।

वैशेषिक अभिमत गुणपदार्थ के खंडन का सारांश

जिसप्रकार वैशेषिक के द्रव्यपदार्थ की सिद्धि नही होती उस प्रकार गुण पदार्थ की भी सिद्धि नही होती है । उनके दर्शन मे गुणो के चौवीस भेद माने जाते है—रूप, रस, गध, स्पर्श, सख्या परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेप, प्रयत्न गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, सस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द । पृथ्वी जल और अग्नि मे रूपगुण रहता है । और वह चक्षु द्वारा ग्राह्य है । पृथ्वी और जल मे रस गुण होता है और वह रसना द्वारा ग्र ह्य है । गध गुण केवल पृथ्वी में है और वह नासिका द्वारा ग्राह्य है । स्पर्श पृथ्वी आदि चारो द्रव्यो मे है और वह स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है । सख्या गुण एक तथा अनेक द्रव्य मे रहता है, परिमाण गुण नित्य अनित्य दोनो प्रकार का है और अणु एव स्कधो मे रहता है । पृथक्त्व गुण एक द्रव्य को अन्य द्रव्य से भिन्न करता है । अप्राप्त का प्राप्त होना सयोग है । प्राप्त का अप्राप्त भिन्न होना विभाग गुण है परत्व आदि अन्य गुणो के लक्षण सुप्रसिद्ध ही है ।

इसप्रकार का वैशेषिक के गुणो का वर्णन तर्क सगत नही है । रूप रस आदि गुणो को पृथ्वी आदि मे से किसी मे चारो किसी मे तीन इत्यादि मानना भी असभव है, पहले भी सिद्ध कर आये हैं कि पृथ्वी आदि सबमे रूपादि चारो गुण विद्यमान रहते है । तथा इन गुणो को पृथ्वी आदि द्रव्य से भिन्न मानकर समवाय से सबद्ध करना भी शक्य नही है । द्रव्यो मे गुण स्वय स्वभाव से रहते है । सख्या, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, धर्म, अधर्म, परिमाण, शब्द ये गुण नही हैं अपितु द्रव्य का परिणमन मात्र है । प्रयत्न और सस्कार ये साक्षात् ही क्रिया स्वरूप है । शब्द द्रव्य की पर्याय है । धर्म अधर्म पुण्य पापरूप पुद्गल द्रव्य की पर्याय है । द्रवत्व, गुरुत्व स्नेह ये पुद्गल द्रव्य के गुण है किन्तु इनका लक्षण एव आश्रय का वर्णन असत्य है । इच्छा द्वेष दु ख इत्यादि जीव के वैभाविक स्वभाव है । इसप्रकार गुण को पृथग्भूत पदार्थ मानना इत्यादि सिद्ध नही होता ।

परिमाण भी वस्तु का स्वतः सिद्ध धर्म है अर्थात् लम्बा, चौडा, छोटा, बडा इत्यादि माप वस्तु मे स्वयं है गुण के कारण नही है । स्नेह गुण केवल जल में मानना हास्यास्पद है घृतादि मे स्पष्टरूप से स्नेहत्व का अस्तित्व देखा जाता है । सस्कार के तीन भेद का व्यावर्णन भी अज्ञानता द्योतक है क्योकि यह तो प्रत्यक्ष ही क्रियारूप सिद्ध है । इसप्रकार परवादी का गुण पदार्थ सिद्ध नही है ।

॥ गुणपदार्थवाद का सारांश समाप्त ॥

१४

कर्मपदार्थवादः

नापि कर्मपदार्थः । स हि पञ्चप्रकार एवं प्रतिपाद्यते-"उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि" [वैशे० सू० १।१।७] इत्यभिधानात् । तत्रोत्क्षेपणं यदूर्ध्वाधः प्रदेशाभ्यां संयोग-विभागकारणं कर्मोत्पद्यते, यथा शरीरावयवे तत्सम्बद्धे वा मूर्तिमद्द्रव्ये ऊर्ध्वदिग्भाविभिराकाशदेशाद्यैः संयोगकारणमधोदिग्भागावच्छिन्नैश्च तैर्विभागकारणम् । तद्विपरीतसंयोगकारणं च कर्मावक्षेपणम् ।

वैशेषिक का कर्म पदार्थ भी सिद्ध नहीं होता है, कर्मपदार्थ के पांच भेद माने हैं, अब उसी पर विचार किया जाता है—

वैशेषिक—"उत्क्षेपणमवक्षेपण माकुंचन प्रसारण गमन मिति कर्माणि" कर्म के पांच भेद हैं उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, और गमन, ऊपर के प्रदेश और नीचे के प्रदेश द्वारा संयोग तथा विभाग को करने वाली क्रिया उत्क्षेपण कहलाती है, जैसे शरीर के अवयव में अथवा शरीर में सम्बद्ध मूर्तिमान द्रव्य में ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी आकाश प्रदेशों के साथ संयोग का कारण होना तथा अधोदिशा सम्बन्धी आकाश प्रदेशों से विभाग का कारण होना [अर्थात् शरीर का अवयव हाथ को ऊपर की ओर उठाया तो ऊपर के आकाश प्रदेशों से तो संयोग हुआ और नीचे के प्रदेशों से वियोग हुआ इत्यादि सर्वत्र समझना] उत्क्षेपण कर्म से विपरीत क्रिया होने को अवक्षेपण कहते हैं, अर्थात्—उत्क्षेपण में ऊपर की ओर शरीरादि अवयवों का आकाश प्रदेशों के साथ संयोग के कारणभूत क्रिया हुई थी और अवक्षेपण में नीचे की ओर शरीर के अवयव का आकाश

ऋजुद्रव्यस्य कुटिलत्वकारणं च कर्माकुञ्चनम्, यथा ऋजुनोगुल्यादिद्रव्यस्य येऽग्रावयवास्तेषामाकाशादिभि: स्वययोगिभिर्विभागे सति मूलप्रदेशैश्च सयोगे सति येन कर्मणागुल्यादिरवयवी कुटिल: सपद्यते तदाकुञ्चनम् । तद्विपर्ययेण संयोगविभागोत्पत्तौ येनावयवी ऋजु. सम्पद्यते तत्कर्म प्रसारणम् । अनियतदिग्देशैर्यत्सयोगविभागकारणं तद्गमनम् । उत्क्षेपणादिक तु चतु:प्रकारमपि कर्म नियतदिग्देशसंयोगविभागकारणमिति ।

तदेतत्पञ्चप्रकारतोपवर्णन कर्मपदार्थस्याविचारितरमणीयम्, देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतु परिस्पन्दात्मको हि परिणामोऽर्थस्य कर्मोच्यते । उत्क्षेपणादीना चात्रैवान्तर्भाव· । अत्रान्तर्भूतानामपि कश्चिद्विशेषमादाय भेदेनाभिधाने भ्रमणस्प(स्य)न्दनादीनामप्यतो भेदेनाभिधानानुषङ्गात्कथं पञ्चप्रकारतैवास्य ?

प्रदेश से सयोग के कारणभूत क्रिया होती है [ऊपर की तरफ कोई चीज फेकना तथा नीचे की तरफ कोई चोज गिराना, गिर जाना भी क्रमश उत्क्षेपण और अवक्षेपण कहलाता है] सरल अवस्था मे स्थित द्रव्य को कुटिल करने वाली क्रिया आकुचन कहलाती है, जैसे अगुली आदि सीधी है उसके ऊपर के अवयवो का आकाश प्रदेशो के साथ स्वय सयोग है उन प्रदेशो से विभाग होने पर और मूल प्रदेशो से सयोग होने पर जिस क्रिया से अगुली आदि अवयवी कुटिल [टेढा] हो जाता है वह आकुंचन कर्म है । आकुंचन से विपरीत सयोग विभाग उत्पन्न होने पर जिस क्रिया से अवयवी सरल हो जाता है वह प्रसारण नामा कर्म है, [अर्थात् अंगुली आदिका ढेढा होना या सिकुड जाना किसी वस्तु का सकोचना आकुचन है और फैलना प्रसारण है] अनियत दिशा तथा देश द्वारा जो सयोग एव विभाग का कारण वह गमन नामा कर्म है, उत्क्षेपण आदि चार प्रकार का कर्म तो नियत दिशा तथा आकाश प्रदेश के सयोग विभाग का कारण है और गमन कर्म अनियत दिशा तथा देश के सयोग विभाग का कारण है । इसतरह पाच प्रकार का कर्म है ।

जैन—यह पाच प्रकार का कर्मो का वर्णन अविचार पूर्ण है, देश से देशातर प्राप्ति रूप पदार्थ का जो परिस्पदात्मक [चलनात्मक] परिणाम है वह कर्म या क्रिया कहलाती है और इसी मे उत्क्षेपण आदि कर्म का अन्तर्भाव हो जाता है, जब परिस्पदात्मक परिणाम मे सर्व क्रिया अन्तर्भूत है तब उसमे कुछ भेद विशेष को करके पृथक् नाम धर देना ठीक नही, अन्यथा भ्रमण, स्यदन आदि को पृथक् कर्म मानना पड़ेगा । फिर कर्म के पांच ही भेद है यह कथन गलत ठहरेगा ।

न चैकरूपस्यार्थस्य क्रियासमावेशो युक्तः, सर्वदाऽविशिष्टत्वात् । यत्सर्वदाऽविशिष्टं न तस्य क्रियासम्भवो यथाकाशस्य, अविशिष्टं चैकरूपं वस्त्विति । न चैकरूपत्वेप्यर्थानां गन्तृस्वभावता युक्ता; निश्चलत्वाभावप्रसङ्गात्, सर्वदा गन्तृत्वैकरूपत्वात् । अथाऽगन्तृत्वरूपताप्येषामङ्गीक्रियते, तथा सत्याकाशवदगन्तृतैव स्यात् । एवं च गत्यवस्थायामप्यचलत्वमेषां प्रसक्तं तदपरित्यक्ताऽगतिरूपत्वान्निश्चलावस्थावत् । न चोभयरूपत्वादेषामयमदोषः, गन्तृत्वागन्तृत्वविरुद्धधर्माध्यासेनैकत्वव्याघातानुषङ्गादचलाऽनिलवत् ।

यथा चाक्षणिकैकरूपस्यार्थस्य क्रिया नोपपद्यते तथा क्षणिकैकरूपस्यापि, उत्पत्तिप्रदेश एवास्य प्रध्वंसेन प्रदेशान्तरप्राप्त्यसम्भवात् । यो ह्युत्पत्तिप्रदेश एव ध्वंसमुपगच्छति न सोन्यदेशमाक्रामति यथा

तथा आपके यहां जीवादि पदार्थ एक रूप मे ही अवस्थित है उसमे क्रिया का समावेश करना युक्त नही, जो सर्वदा समानरूप से स्थित है उसमे क्रिया नही होती, जैसे आकाश मे नही होती, वस्तु सदा एकरूप मे अविशिष्ट है अतः उसमे क्रिया नही होती, इसप्रकार अनुमान द्वारा आपके मान्य पदार्थ मे क्रिया का निषेध होता है । एक रूप मे अवस्थित पदार्थो मे भी गमन स्वभावरूप क्रिया है ऐसा मानना युक्त नही होगा, अन्यथा उन पदार्थों का निश्चलपना समाप्त होवेगा, क्योकि वह एकरूप पदार्थ सर्वदा गमन क्रिया मे जुट जायगा । इन पदार्थो मे अगमनरूपता भी मानी जाती है, ऐसा कहना भी गलत है, यदि अगमन स्वभाव मानते है तो सर्वदा अगमनरूपता ही रहेगी, जैसे आकाश मे अगमनरूपता सर्वदा रहती है । और इसतरह इन पदार्थो मे फिर गमन अवस्थामे भी अचलपना मानना होगा, क्योकि इन्होने अगतिरूपता को छोडा नही है । जैसे निश्चलावस्था मे नही छोडता ऐसा भी नही कह सकते कि–गमन और अगमन दोनो रूप पदार्थ है अत. कोई दोष नही आता, क्योकि गमन और अगमन इनमे विरुद्धपना है, दोनो को एकत्र मानने से उन पदार्थों मे एकरूपता का व्याघात होता है, जैसे पर्वत और वायु मे विरुद्ध धर्म होने से एकरूपता नही है ।

जिसप्रकार सर्वथा अक्षणिक [नित्य] एकरूप पदार्थ मे क्रिया उत्पन्न नही होती है, उसीप्रकार सर्वथा क्षणिक एकरूप पदार्थ मे भी क्रिया होना असम्भव है, क्योकि क्षणिक पदार्थ जहा पर उत्पन्न हुआ वही पर नष्ट हो जाता है, अत देशातर मे गमनरूप क्रिया नही कर सकता, अनुमान सिद्ध बात है कि–जो पदार्थ उत्पत्ति के स्थान पर ही नष्ट होता है वह अन्य स्थान पर नही जाता है, जैसे बौद्धमतानुसार

प्रदीप , उत्पत्तिप्रदेश(शे)ध्वसमुपगच्छति च क्षणिको भाव इति । न चार्थस्य क्षणिकत्वाद्देशाद्देशान्तर-प्राप्तिर्भ्रान्ता; क्षणिकवादस्य प्रतिषिद्धत्वात् । तत परिणामिन्येवार्थे यथोक्त कर्मोपपद्यते ।

न चेदमर्थादर्थान्तरम्, तथाभूतस्यास्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भेनासत्वात् । प्रयोग — यदुपलब्धिलक्षणप्राप्त सन्नोपलभ्यते तन्नास्ति यथा क्वचित्प्रदेशे घट; नोपलभ्यते च विशिष्टार्थस्वरूप-व्यतिरेकेण कर्मेति । न चोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वमस्याऽसिद्धम्, "सख्या परिमाणानि पृथक्त्व सयोग-विभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि" [वैशे० सू० ४।१।११] इत्यभिधानात् । तन्न कर्मपदार्थोपि परेषा घटते ।

उत्पत्ति प्रदेश मे दीपक नष्ट होता है अत अन्य स्थान पर नही जाता । क्षणिक पदार्थ भी उत्पत्ति स्थान पर नष्ट होता है अत देशातर मे गमन नही कर सकता है ।

बौद्ध—पदार्थ तो क्षणिक ही है और वह देशांतर मे जाता भी नही किन्तु भ्रान्तिवश ऐसा मालूम पडता है कि देशातर मे गमन कर गया ?

जैन—आपके क्षणिक पदार्थ का पहले ही [क्षण भंगवाद प्रकरण में] खण्डन हो चुका है । इसप्रकार क्षणिक और अक्षणिक दोनो प्रकार के पदार्थो मे क्रिया उत्पन्न होना सिद्ध नही होता अतः परिणमनशील–कथचित् क्षणिक अक्षणिक पदार्थ मे ही यह पूर्वोक्त उत्क्षेपण आदि क्रिया या कर्म उत्पन्न होता है ऐसा नियम सिद्ध होता है ।

किन्तु यह उत्क्षेपणादि कर्म पदार्थ से पृथक् नही है, क्योकि पदार्थ से पृथक् भूत कर्म की उपलब्ध होने योग्य होते हुए भी उपलब्धि नही होती अतः उसका अभाव ही है, अनुमान प्रमाण सिद्ध बात है कि–जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य होकर भी उपलब्ध नही होती वह वस्तु नही है, जैसे किसी प्रदेश मे घट उपलब्ध नही होता तो उसका वहा अभाव ही है । कर्मरूप से परिणत वस्तु को छोडकर अन्य कर्म प्रतीत नही होता, अत. वह नही है । कर्म की उपलब्ध होने की योग्यता असिद्ध भी नही है, क्योंकि आप स्वय मानते है कि सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, और कर्म ये सब रूपी द्रव्य मे समवाय को प्राप्त होने से चाक्षुष हैं–चक्षु द्वारा उपलब्ध होने योग्य हैं । अत. कर्म [क्रिया] उपलब्ध होने योग्य नही है ऐसा कहना अशक्य है । इसतरह वैशेषिक का कर्मनामा पदार्थ सिद्ध नही होता है ।

नापि सामान्यपदार्थः, तस्य पराभ्युपगतस्वभावस्य प्रागेव प्रतिषिद्धत्वादिति ।

सामान्य नामा पदार्थ भी असिद्ध है, वैशेषिक जिस तरह का सामान्य का स्वभावादि मानते है उस सामान्य का अभी सामान्यस्वरूपविचार नामा प्रकरण निराकरण कर आये हैं अतः इसके विषय मे कुछ कहने की आवश्यकता नही है ।

॥ कर्मपदार्थविचार समाप्त ॥

कर्मपदार्थविचार का सारांश

वैशेषिक के यहा कर्म–क्रिया के पाच भेद बताये है, उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकु चन, प्रसारण, गमन, इनमे से पहले के चार कर्म नियत स्थान मे क्रिया हेतुक है और गमन अनियत स्थान मे क्रियाशील है। नीचे से ऊपर जाना या फेंकना उत्क्षेपण है, अर्थात् मूर्तिमान वस्तु का नीचे के प्रदेशो से विभाग होकर ऊपर के प्रदेशो मे संयोग होना उत्क्षेपण कर्म है। ऊपर से नीचे वस्तु का आना अवक्षेपण कर्म है। सरल सीधी स्थित वस्तु को वक्र टेढी करने वाली क्रिया आकु चन क्रिया है जैसे सीधी अगुली को टेढी करना। टेढी अगुली आदि द्रव्य को सरल करने वाली क्रिया प्रसारण कर्म है, और गमन तो प्रसिद्ध ही है। इसप्रकार कर्मपदार्थ का वर्णन है। किन्तु यह बिलकुल हास्यास्पद है। कर्म तो क्रिया–परिस्पंद हलन है और वह द्रव्य ही है पृथक् पदार्थ नही है, जब गमनशील पदार्थ देश से देशान्तर, सक्रमण करता है तब उसी को कर्म या क्रिया कहते है। यदि वस्तु की क्रिया आदि मे भेद देखकर उनको पृथक् पदार्थ माना जायेगा तो भ्रमणादि क्रिया को भी कर्मपदार्थ मानना होगा फिर उसके पाच ही भेद नही रहेगे। अतः कर्म पृथक् पदार्थ नही है किन्तु क्रिया परिणत द्रव्य ही है ऐसा मानना चाहिये सामान्य नाम का पदार्थ भी पृथक् नही है, क्योकि सामान्य द्रव्य ही है इस बात को सामान्यवाद मे सिद्ध कर आये हैं।

।। कर्मपदार्थवाद का सारांश समाप्त ।।

१५

विशेषपदार्थविचार:

विशेपपदार्थोऽप्यनुपपन्न । विशेषा हि नित्यद्रव्यवृत्तय: परमाण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु वृत्तेरत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतव: । ते च जगद्विनाशारम्भकोटिभूतेषु परमाणुषु मुक्तात्मसु मुक्तमनस्सु चान्तेषु भवा 'अन्त्या:' इत्युच्यन्ते, तेषु स्फुटतरमालक्ष्यमाणत्वात् । वृत्तिस्तेषा सर्वस्मिन्नेव परमाण्वादौ नित्ये द्रव्ये विद्यते एव । अत एव 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या·' इत्युभयपदोपादानम् ।

वैशेषिक का विशेप पदार्थ भी असिद्ध है, अब इसी का विवेचन करते है—

वैशेषिक—जो नित्य द्रव्यो मे रहते है अर्थात् परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मनमे रहते है, तथा अत्यन्त व्यावृत्ति बुद्धि को–यह इससे सर्वथा भिन्न है इस तरह की बुद्धि को उत्पन्न करते है वे विशेष कहलाते है । इन विशेषो को अन्त्य भी कहते है, क्योकि जगत विनाश के कारणभूत अतिम परमाणुओ मे, मुक्तात्माओ मे, मुक्त मन मे अन्त मे होते है, इन परमाणु आदि मे स्पष्टरूप से वे विशेप परिलक्षित होते हैं, सभी परमाणु आदि नित्य द्रव्य मे इन अन्त्य विशेषो की वृत्ति हुआ ही करती है इसीलिये नित्यद्रव्यवृत्तय और अन्त्या ये दो विशेषणो को ग्रहण किया है ।

व्यावृत्तिबुद्धिविषयत्व च विशेषाणा सद्भावसाधक प्रमाणम् । यथा ह्यस्मदादीना गवादिषु आकृतिगुणक्रियावयवसयोगनिमित्तोऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तः प्रत्ययो दृष्ट', तद्यथा– गौः, शुक्ल , शीघ्रगतिः, पीनककुद', महाघण्ट.' इति यथाक्रमम् । तथास्मद्विशिष्टाना योगिना नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्ताभावे प्रत्याधार यद्बलात् 'विलक्षणोय विलक्षणोयम्' इति प्रत्ययप्रवृत्तिस्ते योगिना विशेषप्रत्ययोन्नीतसत्त्वा अन्त्या विशेषा' सिद्धाः ।

इत्यपि स्वाभिप्रायप्रकाशनमात्रम्, तेषा लक्षणासम्भवतोऽसत्त्वात् । तथाहि–यदेतेषा नित्यद्रव्यवृत्तित्वादिक लक्षणमभिहित तदसम्भवदोषदुष्टत्वादलक्षणमेव; यतो न किञ्चित्सर्वथा नित्य द्रव्यमस्ति, तस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात् । तदभावे च तद्वृत्तित्व लक्षणमेषा दूरोत्सारितमेव ।

विशेषो के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला प्रमाण व्यावृत्ति बुद्धि का विषय होना रूप है, अर्थात् पदार्थो मे व्यावृत्तपने का जो ज्ञान होता है उसी से विशेष पदार्थ की सिद्धि होती है । इसी का खुलासा करते हैं–जिसप्रकार हम लोगो को गो आदि पदार्थो मे आकृति–जाति के निमित्त से [गोत्व जाति से] गुण–श्वेतादि से, क्रिया से, ककुदादि अवयव से, घटादि के संयोग स व्यावृत्तपने की बुद्धि होती है अर्थात् अश्व आदि अन्य पशुओ से यह गो पृथक् है, क्योकि इसकी जाति गुण, अवयव आदिक भिन्न है इत्यादिरूप भिन्नपने का जो ज्ञान होता है वह विशेष पदार्थ के कारण ही होता है, आकृति, गुण, क्रिया, अवयव और सयोग इन पाच विशेषो के निमित्त से गो आदि पदार्थ मे व्यावृत्त बुद्धि उत्पन्न होती है, जैसे–यह गौ शुक्ल वर्णयुक्त, शीघ्रगामी, स्थूलककुद एवं महाघटा युक्त है ये क्रम से पाच विशेष गो को अश्वादि से व्यावृत्त करते है । जैसे गो की अश्वादि से जाति आदि द्वारा व्यावृत्ति होती है वैसे ही हमारे से विशिष्ट जो योगीजन है वे समान आकृति, गुण, क्रिया वाले परमाणुओ मे तथा मुक्तात्मा एव मन मे अन्य निमित्त के बिना जिसके बल से प्रत्येक मे यह विलक्षण है, यह विलक्षण है इत्यादि ज्ञान द्वारा उन परमाणु आदि के विशेषो को जानते है, उन योगीजनो के ज्ञान द्वारा जिनका सत्व जाना हुआ है ऐसे ये अन्त्य विशेष होते है, अर्थात् योगी ज्ञान द्वारा परमाणु आदि के अन्त्य विशेषो की सिद्धि होती है ।

जैन—यह कथन अपने मनका है, क्योकि उन विशेषो का लक्षण असम्भव है । विशेषो का लक्षण किया है कि जो नित्य द्रव्यो में रहे व्यावृत्तबुद्धि का हेतु हो

यच्चायो(च्च-यो)गिप्रभवविशेषप्रत्ययबलादेषा सत्त्वं साध्यते; तदप्ययुक्तम्, यतोऽण्वादीना स्वस्वभावव्यवस्थित स्वरूप परस्परासङ्कीर्णरूप वा भवेत्, सङ्कीर्णस्वभाव वा ? प्रथमे विकल्पे स्वत एवासङ्कीर्णाण्वादिरूपोपलम्भाद्योगिना तेषु वैलक्षण्यप्रतिपत्तिर्भविष्यतीति व्यर्थमपरविशेषपदार्थपरिकल्पनम् । द्वितीये विशेषाख्यपदार्थान्तरसन्निधानेपि परस्परातिमिश्रितेषु परमाण्वादिषु तद्बलाद्व्यावृत्तप्रत्ययो योगिना प्रवर्त्तमान कथमभ्रान्त ? स्वरूपतोऽव्यावृत्तरूपेष्वण्वादिषु व्यावृत्ताकारतया प्रवर्त्तमानस्यास्याऽतस्मिंस्तद्ग्रहणरूपतया भ्रान्तत्वानतिक्रमात् ? तथा चैतत्प्रत्यययोगिनस्तेऽयोगिन एव स्यु ।

वह विशेष है, यह लक्षण असम्भव दोष युक्त होने से अलक्षण ही कहलाता है क्योंकि सर्वथा नित्य कोई द्रव्य नहीं है सर्वथा नित्य वस्तु का निराकरण पहले ही कर चुके हैं, नित्य द्रव्य के अभाव में उसमे वृत्तिवाला विशेष का लक्षण भी दूर से निराकृत हुआ समझना चाहिये ।

आपने उन विशेषो की सत्ता योगीजन से उत्पन्न हुए विशेष ज्ञान के बल से सिद्ध की वह भी अयुक्त है । इन परमाणु आदि मे रहने वाले विशेषो के विषय में हमारा प्रश्न है कि परमाणु आदि पदार्थो का स्वस्वभाव में व्यवस्थित जो स्वरूप है वह परस्पर मे असकीर्णरूप है अथवा सकीर्णरूप है ? प्रथम पक्ष कहो तो जब वे परमाणु स्वय ही अपने स्वभाव मे व्यवस्थित एव परस्पर मे असंकीर्ण है तब योगीजनो को उनमे विलक्षणता ज्ञान अपने आप हो जायगा, अन्य विशेष पदार्थ की कल्पना करना व्यर्थ है । दूसरा पक्ष—परस्पर मे सकीर्ण स्वभाव वाले परमाणु आदि है और उनमें व्यावृत्ति कराने वाले विशेष रहते हैं, ऐसा कहना भी ठीक नही होगा जब वे परमाणु आदि परस्पर मे सकीर्ण—अत्यन्त मिले हुए है तब उनमे विशेष नामा पदार्थो के सन्निधान होने पर भी व्यावृत्ति नही हो सकती जब वे परमाणु आदि स्वय व्यावृत्त नही है तब विशेषो की सामर्थ्य से उनमे होने वाला योगीजनो का व्यावृत्त ज्ञान भी अभ्रान्त—सत्य कैसे कहला सकता है ? स्वरूप से अव्यावृत्त स्वभाव वाले परमाणु आदि मे व्यावृत्तिरूप से प्रतिभास कराने वाला यह योगी का ज्ञान जो उस रूप नही है उसको उस रूप अर्थात् सकीर्ण को असकीर्णरूप ग्रहण करने से भ्रान्त है और यदि यह व्यावृत्ताकार ज्ञान भ्रान्त है तो इस ज्ञान के धारक योगीजन भी अयोगी ही कहलायेंगे क्योंकि भ्रान्तज्ञानी अयोगी ही होते हैं ।

यदि च विशेषाख्यपदार्थान्तरव्यतिरेकेण विलक्षणप्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्; कथं तर्हि विशेषेषु तस्योत्पत्तिस्तत्रापरविशेषाभावात् ? भावे वा अनवस्था; नित्यद्रव्यवृत्तय.' इत्यभ्युपगमक्षतिश्च स्यात्। अथ स्वत एवात्रा-योन्यवैलक्षण्यप्रतिपत्ति ; तर्हि परमाण्वादीनामप्यत एव तत्प्रत्ययप्रवृत्तिर्भविष्यतीति कृत विशेषाख्यपदार्थपरिकल्पनया।

अथ ' विशेषेष्वपरविशेषयोगाद्व्यावृत्तबुद्धिपरिकल्पनायामनवस्थादिबाधकोपपत्तेरुपचारात्तेषु तद्बुद्धि' । ननु कोयं तद्बुद्धेरुपचारो नाम ? असतो वस्तुस्वभावस्य विषयत्वेनाक्षेपश्चेत्, कथं नास्या' मिथ्यात्वं तद्योगिना चायोगित्वम् ?

दूसरी बात यह है कि–यदि विशेषनामा पदार्थ के बिना विलक्षण प्रतिभास की उत्पत्ति नही होगी तो स्वयं विशेषो मे विलक्षण प्रतिभास की उत्पत्ति किसप्रकार होवेगी। विशेषों मे अन्य विशेष का तो अभाव है ? यदि विशेषों मे अन्य विशेष स्वीकार करेंगे तो अनवस्था आयेगी, तथा नित्य द्रव्यो मे विशेष रहते है, ऐसा आपका स्वीकृत पक्ष भी नष्ट होगा [क्योकि विशेषो मे भी विशेष रहते है ऐसा कहा]

वैशेषिक—विशेषो मे स्वत: ही अन्योन्य वैलक्षण्य की प्रतीति होती है ?

जैन—तो फिर परमाणु आदि द्रव्यो मे भी स्वय ही विलक्षण प्रतिभास हो जायेगा इस विशेष पदार्थ की कल्पना से कुछ प्रयोजन नही रहता है। अभिप्राय यह है कि द्रव्य स्वयं ही अपनी विशेषता के कारण विलक्षण प्रतीति का कारण हो रहा है, जिस किसी भी वस्तु का स्वय का गुण या स्वभाव ही उक्त प्रतीति मे कारण है।

वैशेषिक—विशेषो मे अपर विशेषो के योग से व्यावृत्त बुद्धि होती है ऐसा मानने पर अनवस्थादि बाधाये उपस्थित होती है अत. विशेषो मे जो व्यावृत्ति की बुद्धि होती है वह उपचार से होती है, ऐसा हम मानते है।

जैन—उस बुद्धि का उपचार क्या है ? असत् वस्तु स्वभाव का विषयपने से आक्षेप करना, ऐसा कहो तो असत् वस्तु स्वभाव को विषय करने वाली वह बुद्धि मिथ्या कैसे नही और उस बुद्धि के धारक योगी लोग भी अयोगी कैसे नही हुए ? अर्थात् हुए ही।

किञ्च, असौ वस्तुस्वभावो विषयत्वेनाक्षिप्यमाण संशयत्वेनाक्षिप्यते, विपर्यस्तत्वेन वा ? तत्राद्ये पक्षे व्यावृत्तरूपतया चलितप्रतिपत्तिविषयाणा विशेषाणा यथावत्प्रतिपत्त्यसम्भवात्तद्योगिनोऽयोगित्वमेव । द्वितीयेप्येतदेव दूषणम्, विशेषरूपविकलानपि तान् विशेषरूपतया प्रतिपद्यमानस्याऽयोगित्वप्रसङ्गाविशेषात् ।

यदि च बाधकोपपत्तेर्विशेषेषु व्यावृत्तबुद्धिर्नापरविशेषनिबन्धना, तर्हि परमाण्वादिष्वसौ तन्निबन्धना नाभ्युपगन्तव्या तदविशेषात् । परमाण्वादौ हि विशेषेभ्योऽन्योन्य व्यावृत्तबुद्ध्युत्पत्तौ सकलविशेषेभ्य परमाणूना व्यावृत्तबुद्धिर्विशेषान्तरात्स्यादित्यनवस्था । स्वतस्तेषा ततो व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वेऽन्योन्यमपि तद्धेतुत्व स्वत एव स्यादिति व्यर्थमर्थान्तरविशेषपरिकल्पनम् ।

ननु यथाऽमेध्यादीना स्वत एवाशुचित्वमन्येषा तु भावाना तद्योगात्तथेहापि तत्स्वभावत्वाद्विशेषेषु, स्वत एव व्यावृत्तप्रत्ययहेतुत्व परमाण्वादिषु तु तद्योगात् ।

दूसरी बात यह है कि—असत् वस्तु स्वभाव विषयपने से आक्षिप्यमाण है वह संशयपने से आक्षिप्यमाण है अथवा विपर्ययपने से आक्षिप्यमाण है ? प्रथम पक्ष कहो तो चलितप्रतिपत्ति का विषय होने वाले उन विशेषो का व्यावृत्तरूप से जो ज्ञान हुआ है वह यथावत् ज्ञान नही है अत उस ज्ञान के धारक योगीजन तो अयोगी कहलायेंगे । दूसरे विपर्ययपक्ष मे भी यही दोप है, क्योकि विशेषरूप रहित को भी विशेषरूप से जानने वाले के अयोगीपना आता ही है ।

यदि बाधा आने से विशेषो मे व्यावृत्ति बुद्धि अपर विशेष के निमित्त से नही होती ऐसा माना जाय तो परमाणु आदि मे भी वह बुद्धि अपर विशेष के निमित्त से नही होती ऐसा मानना चाहिए । उभयत्र समानता है । क्योकि परमाणु आदि मे विशेषो के द्वारा अन्योन्य व्यावृत्त बुद्धि की उत्पत्ति होने पर तो परमाणुओ की सकल विशेषो से व्यावृत्तबुद्धि अन्य विशेष से होगी । इसतरह अनवस्था आती है । यदि कहा जाय कि परमाणुओ की सकल विशेषो से व्यावृत्तबुद्धि विशेषातर से न होकर स्वतः ही होती है तो परमाणु आदि मे भी स्वतः अन्योन्य व्यावृत्तबुद्धि होना स्वीकार करे, अर्थान्तर स्वरूप विशेष पदार्थ की कल्पना व्यर्थ ही है ।

वैशेपिक—जिसप्रकार अमेध्य मल आदि पदार्थो मे अशुचिपना स्वत रहता है और अन्य पदार्थो मे अशुचिपना उस अमेध्य की अशुचिता से आता है उसीप्रकार

किञ्च, अतदात्मकेष्वप्यन्यनिमित्तः प्रत्ययो भवत्येव, यथा प्रदीपात्पटादिषु, न पुनः पटादिभ्यः प्रदीपे, एवं विशेषेभ्य एवाण्वादौ विशिष्टः प्रत्ययो नाण्वादिभ्यस्तत्र; इत्यप्यसमीचीनम्; यतोऽमेध्याद्यशुचिद्रव्यसंसर्गान्मोदकादयो भावा प्रच्युतप्राक्तनशुचिस्वभावा अन्ये एवाऽशुचिरूपतयोत्पद्यन्ते इति युक्तमेषामन्यसंसर्गादशुचित्वम् । न चाण्वादिष्वेतत्सम्भवति, तेषां नित्यत्वादेव प्राक्तनाविविक्तरूपपरित्यागेनापरविविक्तरूपतयानुपप(नुत्प)त्तेः । प्रदीपदृष्टान्तोप्यत एवासङ्गतः; पटादीनां प्रदीपादिपदार्थान्तरोपाधिकस्य रूपान्तरस्योत्पत्तेः, प्रकृते च तदसम्भवात् ।

अनुमानबाधितश्च विशेषसद्भावाभ्युपगमः; तथाहि-विवादाधिकरणेषु भावेषु विलक्षणप्रत्य-

---

विशेषों मे स्वतः व्यावृत्तबुद्धि का हेतुपना होता है और परमाणु आदि मे तो व्यावृत्त बुद्धि का हेतुपना विशेषपदार्थ से होता है । दूसरी बात यह है कि जो वस्तु अतदात्मक होती है उनमे अन्य निमित्त से प्रतिभास होता ही है यथा पट आदि पदार्थो मे दीपक के निमित्त से प्रतिभास होता है, किन्तु ऐसा तो नही होता कि पटादिनिमित्त से दीपक मे प्रतिभास होवे । इसीप्रकार की बात विशेषों मे है अर्थात् अणु आदि मे विशिष्ट प्रतिभास तो विशेषनामा पदार्थ के कारण होता है किन्तु विशेषो मे अणु आदि से विशिष्ट प्रत्यय नही होता, स्वतः ही होता है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, आपने अमेध्य मल आदि का दृष्टान्त दिया उसकी बात यह है कि अमेध्य आदि अशुचि द्रव्य के संसर्ग हो जाने से मोदकादिपदार्थ अपने पहले के शुचि–पवित्र स्वभाव को छोडकर अशुचिरूप से अन्य ही उत्पन्न होते है अत. इन पदार्थों का अशुचिपना अन्य के ससर्ग से होना युक्ति सगत है, किन्तु परमाणु आदि मे ऐसी बात नही है, क्योकि परमाणु आदि द्रव्य नित्य है वे अपनी पहले की अविविक्तरूप अवस्था को छोड़कर दूसरी विविक्तरूप अवस्था से उत्पन्न हो नही सकते, दीपक का दृष्टान्त भी इसीलिये असगत होता है, पट आदि पदार्थ का दीपकादि अन्य पदार्थ की उपाधि से रूपांतर हो जाता है अर्थात् दीपक के निमित्त से पटादि प्रकाश रूप हो जाते है, ऐसा होना परमाणुओ मे सम्भव नही क्योकि वे नित्य हैं उनमे रूपातर हो नही सकता ।

आपका विशेष पदार्थ का मानना अनुमान प्रमाण से बाधित भी होता है, अब उसी अनुमान प्रमाण को उपस्थित करते है–विवाद मे स्थित परमाणु आदि पदार्थों

यस्तद्व्यतिरिक्तविशेषनिबन्धनो न भवति, व्यावृत्तप्रत्ययत्वात्, विशेषेषु व्यावृत्तप्रत्ययवदिति। विशेषपदार्थोपि श्रेयान् साधकाभावाद्बाधकोपपत्तेश्च।

मे होनेवाला विलक्षण प्रत्यय [प्रतिभास] उन पदार्थों के अतिरिक्त विशेष के निमित्त से नही होता है, क्योकि यह व्यावृत्त प्रत्यय है, जैसे विशेषो मे व्यावृत्तप्रत्यय होते हैं वे अपने से अतिरिक्त विशेष से नही होते है। इस अनुमान द्वारा विशेषपदार्थ बाधित होता है अतः उसको मानना श्रेयस्कर नही है, जिसको मानने से बाधा आती है एव जिसको सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नही है उसको नही मानना ही कल्याणकारी है। अल विस्तरेण।

॥ विशेषपदार्थविचार समाप्त ॥

विशेषपदार्थविचार के खंडन का सारांश

विशेष पदार्थ भी सिद्ध नही है, वैशेषिक इसका नित्य द्रव्य मे अस्तित्व मानते है, किन्तु सर्वथा नित्य द्रव्य किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही होता । प्रत्येक पदार्थ परस्पर में विशिष्ट प्रतीत होता है वह विशेष पदार्थ द्वारा होता है ऐसा कहना अयुक्त है, पदार्थ किसी भिन्न विशेप से विशिष्ट प्रतीत न होकर स्वतः ही विशिष्टरूप प्रतीत होता है । वैशेपिक द्रव्य आदि में व्यावृत्त प्रत्यय विशेष द्वारा होता है और विशेष मे उक्त प्रत्यय स्वतः होता है ऐसा मानते है । किन्तु यह प्रमाण द्वारा सिद्ध नही होता । अनवस्था दोष आता है क्योंकि यदि द्रव्य मे विशेष द्वारा व्यावृत्त प्रत्यय होता है तो विशेष पदार्थ मे भी अन्य विशेव द्वारा व्यावृत्त प्रत्यय होना चाहिए इसप्रकार अनवस्था आती है । तथा विशेप पदार्थ मे स्वत· व्यावृत्त प्रत्यय होता है तो अन्य द्रव्य मे भी स्वत. होना चाहिए ।

विशेष मे व्यावृत्त प्रत्यय स्वतः होता है और अन्य द्रव्य मे व्यावृत्त प्रत्यय पर से होता है जैसे अशुचि विष्ठा आदि मे अशुचिपना स्वत. होता है और अन्य पदार्थ मे अशुचिपना विष्ठादि मल सपर्क से होता है ऐसा कहना भी असत् है, अशुचि विष्ठादि के सपर्क से मोदक आदि पदार्थ जो अशुचि होते है वे शुचिरूप पूर्व अवस्था का त्याग कर अशुचिरूप होते हैं, ऐसा परिवर्त्तन आपके द्रव्यो में सम्भव नही क्योकि नित्य द्रव्य मे विशेष पदार्थ रहता है अतः उक्त परिवर्त्तन होना अशक्य है । इसतरह विशेष पदार्थ की सिद्धि नही होती है ।

॥ सारांश समाप्त ॥

१६

समवायपदार्थविचारः

नापि समवायपदार्थोऽनवद्यतल्लक्षणाभावात् । ननु च "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदम्प्रत्ययहेतुर्य सम्बन्ध. स समवाय ।" [प्रश० भा० पृ० १४] इत्यनवद्यतल्लक्षणसद्भावात्तदभावोऽसिद्ध । न चान्तरालाभावेन 'इह ग्रामे वृक्षा' इतीहेदम्प्रत्ययहेतुना व्यभिचार ; सम्बन्धग्रह-

---

वैशेषिक का अभिमत समवाय नामा पदार्थ भी निर्दोष लक्षण के अभाव मे सिद्ध नही होता है । अब यहा पर उसी का सुविस्तृत पूर्व पक्ष रखा जाता है—

वैशेषिक—"अयुत सिद्धाना माधार्याधारभूतानामिहेदप्रत्यय हेतुर्य: सम्बन्ध. स समवाय." आधार और आधेयभूत अयुत सिद्ध पदार्थो मे "यहा पर यह है" इस प्रकार के ज्ञान को कराने मे जो सम्बन्ध निमित्त होता है वह समवाय कहलाता है, इसप्रकार समवाय पदार्थ का निर्दोष लक्षण पाया जाता है अत: उसका अभाव नही कर सकते, अतराल का अभाव होने से "यहा पर ग्राम मे वृक्ष हैं" इत्यादि स्थान पर भी इहेद प्रत्यय हेतु देखा जाता है अत समवाय का लक्षण व्यभिचरित है ऐसा नही कहना, क्योकि सम्बन्ध शब्द का ग्रहण किया है । अर्थात् जहा पर इहेद प्रत्यय हो वहा समवाय है ऐसा लक्षण करते तो दोष आता, किन्तु इहेद प्रत्यय के साथ सम्बन्ध शब्द जोडा है अत अतराल के अभावरूप से [निरन्तररूप से] यहा ग्राम मे वृक्ष हैं "इस तरह कहने मे जो इहेद प्रत्यय हुआ है उसमे सम्बन्ध नही है अत: उससे समवाय का

णात्। न चासौ सम्बन्धोऽभावरूपत्वात्। नापि 'इहाकाशे शकुनि' इति प्रत्ययहेतुनासयोगेन, 'आधाराधेयभूतानाम्' इत्युक्तेः। न ह्याकाशस्य व्यापित्वेनाधस्तादेव भावोस्ति शकुनेरुपर्यपि भावात्। नापि 'इह कुण्डे दधि' इतिप्रत्ययहेतुना; 'अयुतसिद्धानाम्' इत्यभिधानात्। न खलु तन्तुपटादिवद्दधि-कुण्डादयोऽयुतसिद्धाः, तेषा युतसिद्धे सद्भावात्। युतसिद्धिश्च पृथगाश्रयवृत्तित्व पृथग्गतिमत्त्व चोच्यते। न चासौ तन्तुपटादिष्वप्यस्ति, तन्तून्विहाय पटस्यान्यत्रावृत्ते।

तथापि 'इहाकाशे वाच्ये वाचक आकाशशब्द' इति वाच्यवाचकभावेन 'इहात्मनि ज्ञानम्' इति विषयविषयिभावेन वा व्यभिचारोऽत्रायुतसिद्धेराधाराधेयभावस्य च भावात्, इत्यप्यसाम्प्रतम्,

---

लक्षण सदोष नही होता। अन्तराल का अभाव सम्बन्ध नही है क्योकि अभावरूप है [सम्बन्ध सद्भावरूप हुआ करता है] यहा आकाश मे पक्षी है" इस सयोगरूप ज्ञान के निमित्त से भी समवाय का लक्षण बाधित नही होता क्योकि उस लक्षण मे हमने "आधार–आधेयभूतो का सम्बन्ध" ऐसा वाक्य जोड़ा है, आकाश और पक्षी का ऐसा आधार आधेय सम्बन्ध नही होता, क्योकि आधार आधेय के नीचे होता है और आकाश व्यापक होने से पक्षी के नीचे के ओर ही होवे सो बात नही, ऊपर की ओर भी होता है। इस कुण्डा मे दही है इत्यादि प्रतीति द्वारा भी व्यभिचार नही होगा, क्योकि कुण्डा में दही आधार आधेयभूत तो है किन्तु अयुत सिद्ध नही है [अपृथक् नही है] जिसप्रकार तन्तु और पट मे अयुतपना है उसप्रकार दही और कुण्डा में नही है, वे तो युतसिद्ध है– पृथक् पृथक् सिद्ध है युतसिद्ध का अर्थ यही है कि पृथक् आश्रय मे रहना जैसे कि दो मल्लो मे पृथक् पृथक् आश्रय है, पृथक् पृथक् गतिमान होना भी युतसिद्धत्व है, जैसे दो मेढा मे है, ऐसा पृथक् पृथक् आश्रयपना तन्तु और वस्त्र मे नही है, क्योकि ततुओं को छोडकर अन्यत्र वस्त्र नही रहता।

शंका—आधार–आधेयभूत एव अयुत सिद्ध इन दोनो विशेषणो को लेने पर भी व्यभिचार आता है क्योकि यहा पर आकाशरूप वाच्य मे वाचक आकाश शब्द रहता है इसतरह वाच्य–वाचक सबध से इहेद प्रत्यय होता है, तथा "इस आत्मा मे ज्ञान है" इसतरह विषय विषयी भाव सबंध से इहेद प्रत्यय होता है, इसमे आधार–आधेय तथा अयुत सिद्धपना दोनो है किंतु समवाय सबध न होकर वाच्यवाचक संबंध तथा विपयविषयी सबंध है, अतः समवाय का लक्षण गलत है ?

उभयत्रावधारणाऽऽश्रयणात् । एतयोश्च युतसिद्धेष्वप्यनाधाराधेयभूतेष्वपि च भावात्, घटतच्छब्द-ज्ञानवत् । नन्वेवम् 'अयुतसिद्धानामेव' इत्यवधारणेप्यव्यभिचारात् 'आधाराधेयभूतानाम्' इति वचन-मनर्थकम्, 'आधाराधेयभूतानामेव' इत्यवधारणे 'अयुतसिद्धनाम्' इतिवचनवत्, ताभ्यामव्यभिचारात्; इत्यप्यसारम्, एकद्रव्यसमवायिना रूपरसादीनामयुतसिद्धानामेव परस्पर समवायाभावात् एकार्थसम-वायसम्बन्धव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमुत्तरावधारणम् । न ह्यय वाच्यवाचकभावादिवद्युतसिद्धानामपि सम्भवति । तथोत्तरावधारणे सत्यपि आधाराधेयभावेन सयोगविशेषेण सर्वदाऽनाधाराधेयभूतानाम-सम्भवता व्यभिचारो मा भूदित्येवमर्थं पूर्वावधारणम् ।

समाधान— ऐसा नही कहना, दोनो जगह अवधारण करना है, अर्थात् अयुत सिद्धो के ही आधार–आधेय के ही समवाय है इसतरह एवकार लगाना चाहिए। ऐसा दोनो जगह का एवकार वाच्य–वाचक सम्बन्ध तथा विषयविषयी सबध मे नही लगता है, क्योकि वाच्य वाचक सबध तो युतसिद्ध पदार्थो मे भी होता है तथा अनाधार अनाधेय पदार्थो मे भी होता है, जैसे घट वाच्य और उसका वाचक शब्द ये दोनो युत सिद्ध [पृथक् सिद्ध] है तथा आधार–आधेयभूत भी नही है तथा घट पदार्थ और घट का ज्ञान ये युतसिद्ध तथा अनाधेय अनाधार होकर विषय–विषयीभाव सबंधरूप है, अत समवाय का लक्षण इनसे बाधित नही हो सकता ।

शका—अयुतसिद्धो के ही समवाय सबध होता है ऐसा अवधारण करने पर भी व्यभिचार नही आता, अत. आधार–आधेयभूताना इसतरह का विशेषण देना व्यर्थ है, तथा आधार–आधेयभूताना एव "ऐसा अवधारण होने पर भी व्यभिचार दूर होता है अत. इस अवधारण मे "अयुतसिद्धाना एव" यह विशेषण व्यर्थ ठहरता है, अर्थात् दोनों मे से एक द्वारा भी व्यभिचार दूर होता है, अत. एक कोई भी पद के साथ एव-कार देना ठीक है ।

समाधान—यह कथन असार है, एक एक पद मात्र से व्यभिचार नही हटता, एक द्रव्य मे समवायी ऐसे रूप रस आदि गुण अयुत सिद्ध तो है किन्तु इनका परस्पर मे समवाय सवध तो नही है । अत "अयुतसिद्धानामेव समवाय" ऐसा पूर्व पद में अवधारण करने मात्र से काम नही चलता है । इन एकार्थ समवाय सम्बन्ध का व्यभिचार दूर करने के लिये उत्तर पद के साथ भी एवकार दिया है जैसे वाच्य–वाचक सबध युतसिद्ध और अयुतसिद्ध दोनो तरह के पदार्थो मे होता है वैसे एकार्थसमवाय

इति भेदकलक्षणस्याशेषदोषरहितत्वादिदमुच्यते–तन्तुपटादय' सामान्यतद्वदादयो वा 'सयुक्ता न भवन्ति' इति व्यवहर्तव्यम्, नियमेनायुतसिद्धत्वादाधाराधेयभूतत्वाच्च, ये तु सयुक्ता न ते तथा यथा कुण्डबदरादयः, तथा चैते, तस्मात्संयोगिनो न भवन्तीति। यद्वा तन्तुपटादिसम्बन्धः सयोगो न भवति, नियमेनायुतसिद्धसम्बन्धत्वाद्, ज्ञानात्मनोर्विषयविषयिभाववदिति।

ननु समवायस्य प्रमाणत प्रतीतौ सयोगाद्वैलक्षण्यसाधन युक्तम्, न चासौ तस्यास्ति; इत्यप्य-

---

सबध नही होता वह तो अयुतसिद्ध मे ही होता है फिर भी इनमें आधार–आधेयपना तो नही है अत. जिनमे आधार–आधेयपना ही हो ऐसा अवधारण किया है।

सयोग विशेष के कारण होनेवाला जो आधार आधेयभाव है उसमे भी इह इद प्रत्यय होता है जैसे "इस पर्वत पर वृक्ष है" यह प्रत्यय भी सर्वदा अनाधार अनाधेय में असम्भव है अर्थात् आधार–आधेयभाव के बिना नही होता है, किन्तु यह समवाय सम्बन्ध नही है अतः इसके साथ आने वाले व्यभिचार को दूर करने के लिये पूर्व का अवधारण किया है, अर्थात् अयुतसिद्धानामेव–अयुतसिद्धो मे ही जो इहेद प्रत्यय होता है वह समवाय सबध का द्योतक है।

इसप्रकार समवाय नामा पदार्थ का यह लक्षण अन्य जो द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थो से सर्वथा भिन्न लक्षणभूत है अत सम्पूर्ण दोषो से रहित है, अब अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते है कि–"तन्तु पटादिक अथवा सामान्य–सामान्यवान इत्यादि पदार्थ सयुक्त नही होते हैं" ऐसा मानना चाहिये, क्योकि नियम से अयुतसिद्ध तथा आधार–आधेयभूत है, जो सयुक्त हुआ करते है वे नियम से अयुतसिद्ध आदिरूप नही होते हैं, जैसे कुण्ड बेर आदि पदार्थ सयुक्त होने से नियमितपने से अयुतसिद्ध आदिरूप नही कहलाते है, तन्तु–पट आदिक नियम से आधार–आधेय एव अयुतसिद्ध है अत. सयोगी नही है। दूसरा अनुमान भी है कि–तन्तु वस्त्र आदि पदार्थो का जो सबध है वह सयोग नही कहलाता, [साध्य] क्योकि यह सबध नियम से अयुतसिद्ध सबधरूप है, जैसे ज्ञान और आत्मा मे विषयविषयी भावरूप नियमित अयुतसिद्ध संबध रहता है।

शका—समवाय की प्रमाण से प्रतीति होती तब आप इसको सयोग से विलक्षण सिद्ध करने का प्रयत्न करते, किन्तु समवाय प्रमाण द्वारा प्रतीत नही होता ?

सत्, प्रत्यक्षत एवास्य प्रतीतेः । तथाहि-तन्तुसम्बद्ध एव पट प्रतिभासते तद्रूपादयश्च पटादिसम्बद्धाः, सम्बन्धाभावे सह्यविन्ध्यवद्विश्लेषप्रतिभास स्यात् ।

अनुमानाच्चासौ प्रतीयते, तथाहि-'इह तन्तुषु' पट ' इत्यादीहप्रत्यय सम्बन्धकार्योऽबाध्यमानेहप्रत्ययत्वात् इह कुण्डे दधीत्यादिप्रत्ययवत् । न तावदय प्रत्ययो निर्हेतुक , कादाचित्कत्वात् । नापि तन्तुहेतुक पटहेतुको वा, तत्र 'तन्तव , पट ' इति वा प्रत्ययप्रसङ्गात् । नापि वासनाहेतुक , तस्या. कारणरहितायाः सम्भवाभावात् । पूर्वज्ञानस्य तत्कारणत्वे तदपि कुत स्यात् ? तत्पूर्ववासना-

---

समाधान—यह शका गलत है, समवाय तो प्रत्यक्ष से प्रतीत हो रहा है, साक्षात् ही तन्तुओ से सम्बद्ध हुआ पट प्रतिभासित होता है, तथा उनके रूपादिक पट से सम्बद्ध हुए प्रतीत होते है, यदि इनमे सम्बन्ध नही होता तो सह्याचल और विन्ध्याचल मे जैसे विश्लेषपना प्रतीत होता है वैसे इनमे भी विश्लेषपना प्रतीत होता ।

प्रत्यक्ष प्रमाण के समान अनुमान प्रमाण से भी समवाय की प्रतीति आती है, अब इसीको कहते है-यहा तन्तुओ मे पट है इत्यादिरूप जो इह प्रत्यय है वह सबध का कार्य है, क्योकि अबाध्यमान इह प्रत्यय स्वरूप है, जैसे इह कुण्डेदधि-इस कुण्डे मे दही है, इत्यादि इह प्रत्यय अबाध्यमान हुआ करते है । इह प्रत्यय निर्हेतुक भी नही है क्योकि कदाचित्-कभी होता है, इहप्रत्यय न तंतु हेतुक है और न पट हेतुक है, यदि ततु हेतुक होता तो "ततु हैं" ऐसा प्रत्यय होता अथवा पट हेतुक होता तो "पट है" ऐसा प्रत्यय होता । इह प्रत्यय वासना हेतुक है ऐसा कहना भी शक्य नही है वासना कारण रहित है उसका यहां सम्भव नही । वासना का कारण पूर्व ज्ञान है ऐसा कहना भी ठीक नही है, अर्थात् वासना पूर्व ज्ञान से हुई है ऐसा कहने पर पुन प्रश्न होगा कि पूर्वज्ञान भी किस कारण से हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जाय कि वह पूर्वज्ञान भी अपनी पूर्व की वासना के निमित्त से हुआ है, तब तो अनवस्था स्पष्ट दिखायी दे रही हैं ।

शका—ज्ञान और वासना इनका वीजाकुर के समान अनादि प्रवाह चला आता है अत कोई दोष नही है, कहने का अभिप्राय यह है कि तन्तुओ मे वस्त्र है इत्यादिरूप जो इह प्रत्यय होता है उसका कारण तो वासना है और वासना का कारण पूर्व ज्ञान है, पुन· उस पूर्व ज्ञान का कारण वासना है, इसतरह पूर्व ज्ञान और वासना इनका अनादि प्रवाह चला है अत. अनवस्था दोष नही होता ?

तश्चेत्; अनवस्था। ज्ञानवासनयोरनादित्वादयमदोपश्चेत्, न; एव नीलादिसन्तानान्तरस्वसन्तान-सविदद्वैतादिसिद्धेरप्यभावानुषङ्गात्, अनादिवासनावशादेव नीलादिप्रत्ययस्य स्वतोऽवभासस्य च सम्भवात्। नापि तादात्म्यहेतुकोयम्; तादात्म्य ह्येकत्वम्, तत्र च सम्बन्धाभाव एव स्यात् द्विष्ट(ष्ठ)त्वात्तस्य। न च तन्तुपटयोरेकत्वम्; प्रतिभासभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासात् परिमाणसख्याजातिभेदाच्च घटपटवत्। नापि संयोगहेतुक ; युतसिद्धेष्वेवार्थेपु संयोगस्य सम्भवात्। न चात्र समवायपूर्वकत्व

समाधान—यह कथन गलत है, इसतरह मानने से आप बौद्ध के यहा ही वाधा आती है, नील, पीत इत्यादि अन्य सतान तथा स्वसंतान एवं ज्ञानाद्वैत इत्यादि तत्वो का अभाव होवेगा, क्योकि अनादि की वासना के वश से ही नीलादि सतानान्तर तथा स्वत: अवभासमान ज्ञानाद्वैत इत्यादि की सिद्धि होना सभव है। अर्थात् इहेद प्रत्यय वासना के निमित्त से होता है ऐसा बौद्ध का कहना स्वीकार करे तो उन्ही के मत मे बाधा आती है अर्थात् इहेदं ज्ञान यदि वासना से होता है तो नील पीतादिज्ञान या स्वय ज्ञानाद्वैत वे सबके सब वासना से हो जायेगे। फिर विज्ञानाद्वैत इत्यादि का अभाव ही ठहरता है, अत इहेद प्रत्यय वासना हेतुक है, ऐसा कहना गलत है।

जैन इहेद प्रत्यय का कारण तादात्म्य है ऐसा बतलाते है किन्तु वह भी ठीक नही, क्योकिं एकत्व को तादात्म्य कहते हैं ऐसे एकत्वरूप तादात्म्य मे सम्बन्ध का अभाव ही रहेगा। क्योकि सम्बन्ध होता है द्वित्व—दो मे। जैन तन्तु और वस्त्र मे एकत्वरूप तादात्म्य मानते है किन्तु यह सर्वथा गलत है, तन्तु और वस्त्र इनमे तो विरुद्ध धर्म देखे जाते है, अर्थात् तन्तुओ का लबा पतला अनेक धागे रूप धर्म है और वस्त्र का बडा एक एव पहनने आदि के काम मे आना इत्यादिरूप धर्म है अर्थात् तन्तु और वस्त्र मे परिमाण की अपेक्षा, सख्या की अपेक्षा एव जाति की अपेक्षा भी भेद देखा जाता है—तन्तुओ का परिमाण—माप तो छोटासा रहता है और वस्त्र का अधिक, ततुओ की संख्या हजारो रहती है तो उन सबका मिलकर वस्त्र एक ही तैयार होता है, तन्तुओ की जाति अलग है वस्त्र की अलग है अत तन्तु और वस्त्र मे तादात्म्य हो नही सकता जैसे कि घट और वस्त्र मे नही होता है।

इहेद प्रत्यय सयोग के कारण होता है ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योकि संयोग युतसिद्ध पदार्थो मे ही होता है [न कि अयुतसिद्धो में] "इह ततुषु पट." इत्यादि अनुमान प्रयुक्त किया है उससे तो पहले सबधमात्र सिद्ध किया जा रहा है, न

साध्यते येन दृष्टान्तः साध्यविकलो हेतुश्च विरुद्धः स्यात्। नापि सयोगपूर्वकत्व येनाभ्युपगमविरोधः स्यात्। किं तर्हि ? सम्बन्धमात्रपूर्वकत्वम्। तस्मिश्च सिद्धे परिशेषात्समवाय एव तज्जनको भविष्यति।

त(य)च्चेदम्–'विवादास्पदमिदमिहेति ज्ञान न समवायपूर्वकमबाधितेहज्ञानत्वात् इह कुण्डे दधीतिज्ञानवत्' इति विशेषे(ष)विरुद्धानुमानम्, तत्सकलानुमानोच्छेदकत्वादनुमानवादिना न प्रयोक्तव्यम्।

कि समवाय पूर्वकपना सिद्ध किया जा रहा, जिससे कि कोई परवादी हमारे अनुमान मे स्थित दृष्टात को साध्यविकल कहे या हेतु को विरुद्ध बतलावे। कहने का अभिप्राय यह है कि "यहा पर तन्तुओ मे वस्त्र है इत्यादिरूप जो इहेद प्रत्यय होता है वह सबध का कार्य है–सबध के कारण से होता है, क्योकि यह अबाधित इहेद प्रत्यय है, जैसे कि "इस कुण्डे मे दही है" इत्यादि प्रत्यय अबाध्यमान हुआ करते हैं" इस अनुमान द्वारा हम वैशेषिक सामान्य से सबध को सिद्ध कर रहे है न कि विशेष सबधरूप समवाय को सिद्ध कर रहे, तथा इस अनुमान द्वारा सयोगनामा सबध भी सिद्ध नही किया जाता, जिससे कि हमारी मान्य बात मे बाधा आवे। अर्थात् "इह तन्तुषु पटः" इत्यादि अनुमान द्वारा संयोग सबंध को सिद्ध नही करते, क्योकि इसतरह सिद्ध करने मे तो तन्तु और वस्त्र मे सयोग सम्बन्ध मानना पडेगा, और ऐसा मानना हम वैशेषिक के विरुद्ध पडेगा, अत. इस अनुमान प्रमाण से सयोग सबध को सिद्ध नही करना है किंतु सबध मात्र को सिद्ध करना है, जब सामान्य सबध सिद्ध होवेगा तो परिशेष न्याय से समवाय अपने आप सिद्ध होवेगा।

यहा कोई जैनादि परवादी कहे कि "इह तन्तुषु पटः" इत्यादि अनुमान प्रमाण तो विशेष विरुद्ध अनुमान कहलाता है, "विवाद मे स्थित इह प्रत्ययरूप जो ज्ञान है वह समवायपूर्वक नही होता [अपितु सयोगपूर्वक होता है] क्योकि अबाधित इह प्रत्ययस्वरूप है, जैसे "इस कुण्डे मे दही है" इत्यादि इह प्रत्यय अबाधित होने से समवायपूर्वक नही होता, इस अनुमान द्वारा हमारे सामान्य से सम्बन्धमात्र को सिद्ध करने वाले अनुमान मे बाधा देवे तो ठीक नही क्योकि ऐसा कहने से जगत् के सकल प्रसिद्ध अनुमान भी बाधित होकर समाप्त हो जायेंगे, अभिप्राय यह है कि सामान्यरूप से किसी पदार्थ को सिद्ध करने वाले अनुमान मे विशेष की अपेक्षा लगाकर उसे बाधित करना अशक्य है।

यच्चोच्यते–इदमिहेति ज्ञान न समवायालम्बनम्; तत्सत्यम्; विशिष्टाधारविषयत्वात्। न हि 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादीहप्रत्ययः केवलं समवायमालम्बते; समवायविशिष्टतन्तुपटालम्बनत्वात्। वैशिष्ट्यं चानयोः सम्बन्ध इति।

न चास्य सयोगवन्नानात्वम्; इहेति प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च सत्तावत्। न च सम्बन्धत्वमेव विशेषलिङ्गम्, अस्यान्यथासिद्धत्वात्। न हि सयोगस्य सम्बन्धत्वेन नानात्व साध्यतेऽपि तु प्रत्यक्षेण भिन्नाश्रयसमवेतस्य क्रमेणोत्पादोपलब्धे। सम-

---

जैनादिका कहना है कि 'यह यहां पर है' ऐसा जो ज्ञान है वह समवाय के अवलंबन से नही होता, सो यह कहना सत्य है, क्योंकि विशिष्ट आधार को विषय करता है।

"इह तन्तुषु पट." इत्यादि जो इह प्रत्यय होता है वह केवल समवाय का अवलबन लेकर नही होता वह तो समवाय विशिष्ट तन्तु और पट का अवलंबन लेकर होता है, तन्तु और पट का जो सबंध है उसीको वैशिष्ट कहते है [और यही इह प्रत्यय का विषय या अवलबन है]

यह समवाय सयोग के समान नाना प्रकार का नही होता किन्तु सत्ता के समान एकरूप ही होता है, इसीका खुलासा करते हैं—इहेद प्रत्यय की अविशेषता होने से एवं विशेष लिग का अभाव होने से समवाय सबध नानारूप नही है, जिसप्रकार का कि सत्ता सत्प्रत्यय की अविशेषता के कारण और विशेष लिग का अभाव होने से नानारूप नही है अर्थात् सर्वत्र समानरूप से ही इहेदं ज्ञान होता है, उस ज्ञान में कोई विभिन्नता नही होती इससे सिद्ध होता है कि इस इहेद प्रत्यय का कारण जो समवाय है वह एक ही रहता है, तथा विशेष लिग–हेतु का अभाव होने के कारण भी समवाय मे नानापने का अभाव सिद्ध होता है। कोई शका करे कि सबधपना होना ही समवाय का नानापना है, अर्थात् सबधरूप होने के नाते समवाय मे नानात्व सिद्ध होता है, संबंधत्व ही विशेप लिग है? सो यह शका ठीक नही है, क्योकि सयोग को संबंधत्व हेतु से सिद्ध न करके अन्य ही प्रकार से सिद्ध करते है–हम लोग सयोग का नानापना सबधत्व हेतु द्वारा नहीं साधते अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा साधते हैं, क्योकि भिन्न भिन्न आश्रय मे. समवेत हुए संयोग का साक्षात् ही क्रम से उत्पाद होना देखा जाता है

वायस्य चानेकत्वे सति अनुगतप्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात् । सयोगे तु सयोगत्वबलान्नानात्वेपि स्यात् । न चैतत्समवाये सम्भवति, समवायत्वस्य समवाये समवायाभावात्, अन्यथानवस्था स्यात् । सयोगस्य गुणत्वेन द्रव्यवृत्तित्वात्, संयोगत्व पुन. सयोगे समवेतमिति ।

न चैकत्वे समवायस्य द्रव्यत्ववद्गुणत्वस्याप्यभिव्यञ्जक, द्रव्य कुतो न भवतीति वाच्यम् ? आधारशक्तेर्नियामकत्वात् । द्रव्याणा हि द्रव्यत्वाधारशक्तिरेव, गुणादेस्तु गुणत्वाद्याधारशक्तिरिति । न

[अभिप्राय यह है कि सयोग अनेक प्रकार का होता है इस बात को सिद्ध करने के लिये सबधत्वरूप हेतु वाले अनुमान की आवश्यकता नही पडती, सयोग तो अनेक प्रकार का साक्षात् ही उपलब्ध होता है] संयोग के समान समवाय अनेकरूप होता तो अनुगत प्रत्यय–यह समवाय है, यह समवाय है, इसप्रकार का ज्ञान नही होता । सयोग मे भी अनुगत प्रत्यय होता है किन्तु वह एकत्व के कारण नही होता, उसमे नानापना होते हुए भी सयोगत्वरूप सामान्य के बल से अनुगत की प्रतीति होती है, ऐसा समवाय मे शक्य नही, क्योकि जैसे सयोग मे सयोगत्व है वैसे समवाय मे समवायत्व नही माना है, यदि मानेगे तो अनवस्था हो जायगी । सयोग में सयोगत्व मानने मे ऐसी अनवस्था नही आती, क्योकि सयोग गुणरूप है और गुण जो होता है वह द्रव्य मे रहने वाला होता है, अतः सयोग में सयोगत्व समवेत हो जाता है ।

शका—समवाय को एकरूप मानेगे तो द्रव्यत्व के समान गुणत्व को भी अभिव्यजक करने वाला क्यो नही होवेगा, अर्थात् समवायनामा पदार्थ यदि एक ही है तो जिस समवाय से द्रव्य मे द्रव्यपना समवेत हुआ है उसी समवाय से गुण मे गुणपना भी समवेत होवेगा, और इसतरह तो अपने मे समवेत हुए द्रव्यपने को, जैसे द्रव्य अभिव्यक्त करता है वैसे गुणपने को भी अभिव्यक्त करेगा ? क्योकि द्रव्य मे एक ही समवाय द्वारा द्रव्यपना और गुणपना समवेत हुआ है ?

समाधान—ऐसा नही कहना, यद्यपि समवाय एक है किन्तु आधार की शक्ति का प्रतिनियम विभिन्न होने के कारण द्रव्यो के द्रव्यपने का ही अभिव्यजक होता है, घट पट आदि द्रव्यो मे द्रव्यत्व के आधार की ही शक्ति रहती है, और गुणादि मे गुणत्वादि के आधार की ही शक्ति रहती है, इस आधार शक्ति के नियम से ही अभिव्यजकपने का नियम बन जाता है, अर्थात् द्रव्य मात्र द्रव्यत्व का अभिव्यजक है और

चानुगतप्रत्ययजनकत्वेन सामान्यादस्याऽभेद:; भिन्नलक्षणयोगित्वात् ।

यद्वा, 'समवायीनि द्रव्याणि' इत्यादिप्रत्ययो विशेषणपूर्वको विशेष्यप्रत्ययत्वाद्दण्डीत्यादिप्रत्ययवत्' इत्यतः समवायसिद्धि:। न चान्येषामत्रानुराग. सम्भवति । किन्तर्हि ? समवायस्यैव । अतः स एव विशेषणम् । अप्रतिपन्नसमयस्य 'समवायी' इतिप्रतिभासाभावादस्याऽविशेषणत्वम्, दण्डादावपि

गुण मात्र गुणत्व का अभिव्यजक है ऐसा सिद्ध होता है । सामान्य भी अनुगत प्रत्यय को उत्पन्न करता है और समवाय भी अनुगत प्रत्यय को उत्पन्न करता है, अतः सामान्य और समवाय मे भेद नही है ऐसी आशंका भी नही करना, अनुगतप्रत्यय को समान रूप से उत्पन्न करते हुए भी इनमे लक्षण भेद पाया जाता है, अबाधित अनुगत प्रत्यय को उत्पन्न करना सामान्य का लक्षण है, और अयुतसिद्ध एव आधार-आधेयभूत पदार्थों मे इहेद प्रत्यय को उत्पन्न करनेवाला जो सम्बन्ध है वह समवाय का लक्षण है, इस प्रकार पृथक् लक्षण होने के कारण समवायनामा पदार्थ पृथक् है और सामान्यनामा पदार्थ पृथक् है ऐसा हम मानते है ।

समवाय को सिद्ध करनेवाला और भी अनुमान प्रमाण है कि द्रव्य समवायी होते है, ऐसा जो ज्ञान होता है वह विशेषणपूर्वक होता है, क्योकि इसमे विशेष्य का प्रत्ययपना है [विशेष्य का ज्ञान है] जैसे "दण्डावाला है इत्यादि ज्ञान दण्ड विशेषण पूर्वक होते हैं । इस तरह द्रव्य के समवायी विशेषण से समवायनामा पदार्थ की सिद्धि होती है । यह जो द्रव्यो का विशेषण है वह अन्य किसी कारण से नही होता किन्तु समवाय के कारण से ही होता है अर्थात् कोई कहे कि समवायीनि द्रव्याणि इस वचन प्रयोग मे तादात्म्यादि सबंध के कारण समवायी विशेषण का प्रयोग हो जायगा सो बात नही, यह विशेषण तो समवाय के कारण ही होता है, इसप्रकार समवाय - सबध की सिद्धि होती है ।

शका—जिसने सकेत को नही जाना है ऐसे पुरुष को "द्रव्य समवायी है" ऐसा प्रतिभास नही होता है अत. समवाय का विशेषणपना असिद्ध है ।

समाधान—ऐसी बात तो दण्डादि विशेषण मे भी है, जिसने संकेत को नहीं जाना है कि "जिसके हाथ मे दण्डा हो उस पुरुष को दण्डी कहना" वह व्यक्ति दण्डा वाला है ऐसा विशेषणपूर्वक प्रत्यय को नही समझ सकता, किन्तु इतने मात्र से दण्डे

समान तस्य दण्डाद्युल्लेखेन 'दण्डी' इत्यादिप्रत्ययानुत्पत्ते । दण्डादेरभिधानयोजनाभावेपि 'अनेन वस्तुना तद्वानयम्' इत्यनुरागप्रतीति. 'संसृष्टा एते तन्तुपटादय' इति सम्बन्धमात्रेपि तुल्या। केवल सङ्केताभावात् 'अय समवाय' इति व्यपदेशाभाव:। प्रतिपन्नसमयस्तु दण्डादेरिव समवायस्यापि विशेषणतामभिधानयोजनाद्वारेण प्रतिपद्यते ।

यच्चान्यत्समवाये बाधकमुच्यते—नानिष्पन्नयो समवाय सम्बन्धिनोरनुत्पादे सम्बन्धाभावात् । निष्पन्नयोश्च सयोग एव । असम्बन्धे चास्य 'समवायिनो समवाय:' इति व्यपदेशानुपपत्ति. ।

का विशेषणपना समाप्त नही होता, अर्थात् सकेत को जानने वाले को तो "दण्डी है" ऐसा ज्ञान होता है इसी तरह सकेत को नही जानने वाले "द्रव्य समवायी होते है" ऐसा ज्ञान नही कर पाते किन्तु सकेत के जानकार तो करते ही है ।

शका—दण्ड मे विशेषणपना इसलिये सिद्ध है कि सकेत को नही जानने वाले व्यक्ति दण्डी पुरुष को देखकर "यह दण्डी है" ऐसा नामपूर्वक उल्लेख नही करे किन्तु "इस वस्तु के कारण यह तद्वान है" ऐसा प्रतिभास तो हो जाता है ?

समाधान—इसीप्रकार "यह तन्तु वस्त्र इत्यादि पदार्थ ससृष्ट हैं" इत्यादि प्रतिभास सबधमात्र मे बिना सकेत के भी हो सकता है, दण्ड और समवाय मे इसतरह समान ही प्रश्नोत्तर समझना चाहिये । सकेत के अभाव मे तो केवल "यह समवाय है" ऐसा नामपूर्वक व्यवहार नही होता । [किन्तु उसकी प्रतीति अवश्य होती है] जो पुरुष सकेत को जानता है वह जिसप्रकार दण्डे के विशेषणपने को "दण्डी है" इत्यादि नाम योजना करके जानता है, उसीप्रकार समवाय के विशेषणपने को समवाय के सकेत को जानने वाला पुरुष "समवायी द्रव्य है" इत्यादि नाम योजनापूर्वक जानता है । अत. सिद्ध होता है कि "समवायी द्रव्य है" इत्यादि प्रत्यय समवायरूप विशेषण का अस्तित्व निश्चित करता है ।

जैनादि परवादी की शका—अनिष्पन्न [अभी जो बने नही हैं] ऐसे दो पदार्थों मे समवाय होना अशक्य है, क्योकि जिसका सम्बन्ध होना हैं ऐसे सम्बन्धी पदार्थो के हुए बिना सम्बन्ध का अभाव ही रहता है । यदि निष्पन्न पदार्थो मे समवाय होता है ऐसा कहे तो सयोग ही कहलायेगा । तथा यह समवाय समवायी दो द्रव्यो से यदि असम्बद्ध है तो "समवायी का समवाय है" ऐसी सज्ञा नही हो सकती । समवायी से समवाय सम्बद्ध रहता है

सम्बन्धे वा न स्वतोसौ; सयोगादीनामपि तथा तत्प्रसङ्गात् । परतश्चेदनवस्था । न च गुणादीना-माधेयत्व निष्क्रियत्वात् । गतिप्रतिबन्धकश्राधारो जलादेर्घटादिवत् । तथा न स्वरूपसंश्लेष. समवायो यतस्तस्मिन्सत्येकत्वमेव न सम्बन्धः । नापि पारतन्त्र्यम्; अनिष्पन्नयोराधारस्यैवासत्त्वात् । 'स्वतन्त्रेण निष्पन्नयोश्च न पारतन्त्र्यम्', इत्यप्यसमोचीनम्; यतो न निष्पन्नयोरनिष्पन्नयोर्वा समवाय ; स्वकारणसत्तासम्बन्धस्यैव निष्पत्तिरूपत्वात् । न हि निष्पत्तिरन्या समवायश्चान्यो येन पौर्वापर्यम् ।

एतेन 'रूपसंश्लेषः पारतन्त्र्य वा' इत्याद्यपास्तम् । नापि समवायस्य सम्बन्धान्तरेण सम्बन्धो युक्तो येनानवस्था स्यात्, सम्बन्धस्य समानलक्षणसम्बन्धेन सम्बन्धस्यान्यत्रादृष्टे सयोगवत् । अग्ने-

---

ऐसा माने तो पुन: प्रश्न होगा कि वह समवायी मे स्वतः [अपने आप] सम्बद्ध है कि पर से संबद्ध है । स्वत: है तो सयोग आदि सबंध भी अपने आप सबद्ध हो जायेगे । तथा यदि पर से संबद्ध होता है तो अनवस्था आती है । गुण आदि पदार्थ आधेयस्वरूप है ऐसा कहना भी बनता नही, क्योकि गुण निष्क्रिय हुआ करते है, निष्क्रिय वस्तु आधेय नही होती । तथा आधारभूत वस्तु गति की प्रतिबधक [रोकने वाली] होती है, जैसे घट आदि आधारभूत पदार्थ जल, दूध आदि के प्रवाहरूप गति को रोकता है । स्वरूपो का सश्लेष होना समवाय कहलाता है, ऐसा भी नही कह सकते, क्योकि उसके होने पर तो एकत्व होगा न कि सबध । पारतन्त्र्य को समवाय कहना भी शक्य नही, क्योकि दो अनिष्पन्न पदार्थो मे आधार का हो असम्भव है, स्वतन्त्रता से निष्पन्न दो वस्तुओ मे तो पारतन्त्र होता ही नही । वैशेषिक द्वारा समाधान–निष्पन्न अनिष्पन्नो के समवाय होता है ऐसा नही मानते, निष्पत्ति तो स्वकारण सत्ता के सम्बन्ध को कहते है । निष्पत्ति अन्य और समवाय अन्य है ऐसा नही है जिससे कि पौर्वापर्य होवे ।

विशेपार्थ—जैनादि वादियो ने समवाय के विषय में पूछा कि दो संबंधी पदार्थो मे समवाय रहता है ऐसा वैशेषिक मानते है सो वे दो सम्बन्धी पदार्थ अनिष्पन्न है कि निष्पन्न है ? किन्तु यह प्रश्न व्यर्थ है, पदार्थो की अपने कारणो के मिलने पर जो निष्पत्ति होती है वही समवाय है, निष्पत्ति से अन्य समवाय नही है, पदार्थ मे सत्ता का समवाय होना ही निष्पत्ति है अथवा जो निष्पत्ति है वही समवाय है, अतः समवाय कब होता है इत्यादि प्रश्न गलत है ।

परवादी समवाय के विषय मे शंका करते है कि रूपका सश्लेष होने को समवाय कहना या पदार्थो की परस्पर की परतन्त्रता को समवाय कहते है इत्यादि, सो

रुष्णतावत्तु स्वत एवास्य सम्बन्धो युक्तः स्वत एव सम्बन्धरूपत्वात्, न, संयोगादीनां तदभावात्। न ह्य ेकस्य स्वभावोऽन्यस्यापि, अन्यथा स्वतोऽग्नेरुष्णत्वदर्शनाज्जलादीनामपि तस्यात्।

यच्चोक्तम्–'निष्क्रियत्वात्तेषां नाधेयत्वम्' इति; तदप्यसत्, सयोगिद्रव्यविलक्षणत्वाद्गुणादीनाम्, सयोगिना सक्रियत्वेनेव तेषा निष्क्रियत्वेप्याधाराधेयभावस्य प्रत्यक्षेण प्रतीतेश्चेति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तमयुतसिद्धेत्यादि; तत्रेदमयुतसिद्धत्व शास्त्रीयम्, लौकिक वा? तत्राद्य पक्षोऽयुक्त.; तन्तुपटादीना शास्त्रीयायुतसिद्धत्वस्यासम्भवात्। वैशेषिकशास्त्रे हि प्रसिद्धम्–

यह शका भी पूर्वोक्त निष्पन्न के होता है या अनिष्पन्न के होता है इत्यादि शका के समान खण्डित हुई समझना चाहिए।

समवाय का संबंधी पदार्थों के साथ जो सबध होता है वह अन्य सबध द्वारा नही होता जिससे कि अनवस्था हो जाय, क्योकि सबध का अपने समान अन्य सबध द्वारा सबध होता हुआ अन्यत्र देखा नही गया है। सयोग के समान, अर्थात् सयोगी दो पदार्थों मे सयोग का सबंध समवाय से होता है, किन्तु समवाय मे किसी अन्य सबध से समवायी के साथ सबध नही होता, वह स्वय सम्बद्ध होता है। समवाय सबध तो अग्नि की उष्णता के समान स्वत. ही है। सयोगादिका इसतरह स्वत सबध नही होता, जो एक वस्तु का स्वभाव होता है वह अन्य वस्तु का भी हो ऐसा नही है, यदि एक का स्वभाव अन्य मे अवश्य होता है तो अग्नि का स्वभाव स्वतः उष्ण रहना है अत जलादिक भी स्वतः उष्ण स्वभाव युक्त है ऐसा मानना होगा।

गुणादि पदार्थ निष्क्रिय होने से आधेय नही हो सकते ऐसा जैन ने कहा वह असत् है, क्योकि संयोगी द्रव्यो से विलक्षण ही गुणादि पदार्थ हुआ करते हैं, सयोगी द्रव्य सक्रिय होते है, उनके सक्रिय होने के कारण गुणादिक निष्क्रिय होते हुए भी आधार–आधेयभाव युक्त हो जाते है यह गुणादिका आधेयादिपना प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है। इसप्रकार समवायनामा पदार्थ सिद्ध होता है।

जैन—अब यहा पर वैशेपिक के समवाय विषयक पूर्व पक्ष का निरसन किया जाता है–सबसे पहले समवाय का लक्षण करते हुए कहा था कि अयुत सिद्ध पदार्थो मे समवाय होता है सो अयुतसिद्धपना कौनसा है शास्त्रीय या लौकिक ? प्रथम पक्ष अयुक्त

अपृथगाश्रयवृत्तित्वमयुतसिद्धत्वम्, तच्चेह नास्त्येव, 'तन्तूनां स्वावयवांशुषु वृत्तेः पटस्य च तन्तुषु' इति पृथगाश्रयवृत्तित्वसिद्धेरपृथगाश्रयवृत्तित्वमसदेव। एवं गुणकर्मसामान्यानामप्यपृथगाश्रयवृत्तित्वाभावः प्रतिपत्तव्यः। लोकप्रसिद्धैकभाजनवृत्तिरूपं त्वयुतसिद्धत्वम् दुग्धाम्भसोर्युतसिद्धयोरप्यस्तीति।

ननु यथा कुण्डदध्यवयवाख्यौ पृथग्भूतावाश्रयौ तयोश्च कुण्डस्य दध्नश्च वृत्तिर्न तथात्र चत्वारोर्थाः प्रतीयन्ते-द्वावाश्रयौ पृथग्भूतौ द्वौ चाश्रयिणौ, तन्तोरेव स्वावयवापेक्षयाश्रयित्वात् पटापेक्षया चाश्रयत्वात्त्रयाणामेवार्थाना प्रसिद्धेः, 'पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिः' इत्यस्य युतसिद्धिलक्षण-

---

है क्योंकि तन्तु और वस्त्र इत्यादि पदार्थों मे शास्त्रीय अयुत सिद्धत्व असभव है, आप वैशेषिक के शास्त्र मे अयुतसिद्धत्व का लक्षण किया है कि अपृथगाश्रय वृत्तित्व अयुतसिद्धत्व—अपृथक् आश्रय मे रहना अयुतसिद्धत्व है, सो इसप्रकार का अयुतसिद्धपना ततु और वस्त्र मे देखने मे नही आता है, तन्तुओ का आश्रय अपने अपने अशु [कार्पास] है और वस्त्र का आश्रय तन्तु है इसप्रकार इनका पृथक् आश्रय सिद्ध होने से अपृथक् आश्रय मे रहना अयुतसिद्धत्व है और वह तन्तु आदि मे पाया जाता है इत्यादि कहना गलत ठहरता है। जैसे तन्तु और पट मे अपृथक् आश्रयवृत्ति का अभाव है वैसे ही गुण, कर्म सामान्यो मे भी अपृथक् आश्रयवृत्ति का अभाव है। लौकिक अयुतसिद्धत्व एक भाजन मे रहना इत्यादि स्वरूप है, ऐसा अयुतसिद्धत्व तो युतसिद्धरूप दूध और जल मे भी पाया जाता है।

वैशेषिक—जिसप्रकार कुण्डा और दही है उसप्रकार तन्तु और वस्त्र नही है, कुण्डा और दही इत्यादि पदार्थो के सम्बन्ध मे तो चार वस्तुए होती है-कुण्डा और दही ये दो तो पृथक्भूत आश्रय है जो कि अवयव स्वरूप है, तथा कुण्डे की और दही की वृत्ति ये दो वस्तु है, इनमे कुण्डा और दही तो आश्रय है तथा दो आश्रयवान् है। इसप्रकार के चार पदार्थ तन्तु और वस्त्र आदि मे नही है यहा तो तन्तु अपने अवयवो की अपेक्षा से आश्रयी और पटकी अपेक्षा आश्रयरूप होता है अत. यहां तीन ही वस्तुए हैं। अतः पृथक् आश्रय और पृथक् आश्रयीपना जिसमे हो वह युतसिद्धत्व है, ऐसा युतसिद्धि का लक्षण उन तन्तु आदि मे नही पाया जाता अतः उनको अयुतसिद्धरूप मानते हैं?

इसप्रकार युतसिद्धि का अर्थ करेगे तो आकाश, दिशा आत्मादि पदार्थो मे युतसिद्धत्व किस प्रकार रह सकेगा? क्योंकि आकाशादि द्रव्य नित्य एवं व्यापक हैं

स्याभावादयुतसिद्धत्व तेषामिति चेत्; कथमेवमाकाशादीना युतसिद्धि: स्यात् ? तेषामन्याश्रयविवेकत: पृथगाश्रयाश्रयित्वाभावात् ।

'नित्याना च पृथग्गतिमत्त्वम्' इत्यपि तत्रासम्भाव्यम्, न खलु विभुद्रव्यपरमाणुवद्विभुद्रव्याणामन्यतरपृथग्गतिमत्त्वं परमाणुद्वयवदुभयपृथग्गतिमत्त्व वा सम्भवति, अविभुत्वप्रसङ्गात् । तथैकद्रव्याश्रयाणा गुणकर्मसामान्याना परस्पर पृथगाश्रयवृत्तेरभावादयुतसिद्धिप्रसङ्गतोऽन्योन्य समवाय: स्यात् । स च नेष्टस्तेषामाश्रयाश्रयिसमवाय(यिभावा)भावात् । इतरेतराश्रयभावा(यश्चसमवाय) सिद्धौ हि पृथगाश्रयसमवायित्वलक्षणा युतसिद्धि:; तत्सिद्धौ च तन्निषेधेन समवायसिद्धिरिति ।

इनमे अन्य अन्य आश्रय का अभाव होने से पृथक् आश्रय और पृथक् आश्रयीपनारूप युतसिद्धत्व का लक्षण कथमपि घटित नही होता, किन्तु इन पदार्थो को सभी मतो में युतसिद्धरूप [भिन्न स्वरूप] माना है इसलिये युतसिद्धि का लक्षण एव उसके अभावरूप अयुतसिद्धि का लक्षण ये दोनो ही घटित नही होते ।

यदि कहा जाय कि–आत्मादि नित्य पदार्थो मे पृथक् आश्रय–आश्रयीपनारूप युतसिद्धत्व नही है किन्तु पृथग्गतिमत्वरूप युतसिद्धत्व है सो यह भी असभव है, विभु–व्यापक द्रव्य और परमाणु द्रव्य मे जिसप्रकार दोनो मे से एक का पृथक्गतिमत्व देखा जाता है तथा दो परमाणु द्रव्यो मे दोनो का ही पृथक्गतिमत्व देखा जाता है ऐसा पृथग्गतिमानपना केवल विभु–द्रव्यरूप आत्मा आदि मे नही देखा जाता । यदि यह लक्षण आत्मादि मे मानेगे तो वे अविभु–अव्यापक कहलायेंगे । दूसरी बात यह है कि पृथक् आश्रय–आश्रयीपना युतसिद्धि का लक्षण करेंगे तो एक द्रव्य के आश्रयभूत गुण, कर्म एव सामान्य मे पृथक् आश्रयवृत्ति का अभाव होने से परस्पर मे अयुतसिद्धपना ठहरेगा और अयुतसिद्धि होने से इनका आपस मे समवाय सम्बन्ध हो जायगा । किन्तु यह इन्हे इष्ट नही है, क्योकि उन पदार्थों के आश्रय आश्रयीभूत समवायीभाव का अभाव है । तथा पृथगाश्रयो मे रहना युतसिद्धि है ऐसा लक्षण करने से अन्योन्याश्रय नामा दोष भी आता है, समवाय के सिद्ध होने पर तो पृथगाश्रय समवायीत्व लक्षण वाली युतसिद्धि की सिद्धि होगी, और उसके सिद्ध होने पर उसके निषेध द्वारा समवाय की सिद्धि होवेगी ।

ननु लक्षणं विद्यमानस्यार्थस्यान्यतो भेदेनावस्थापकं न तु सद्भावकारकम्, तेनायमदोषश्चेत्; ननु ज्ञापकपक्षे सुतरामितरेतराश्रयत्वम्। तथाहि–नाऽज्ञातया युतसिद्धया समवायो ज्ञातुं शक्यते, अनधिगतश्चासौ न युतसिद्धिमवस्थापयितुमुत्सहते इति। न चातो लक्षणात्समवायः सिद्धयति व्यभि-

---

वैशेषिक—लक्षण उसे कहते हैं कि जो विद्यमान पदार्थ का अन्य से भेद स्थापित करे, लक्षण का कार्य यह नही है कि वह लक्ष्य के सद्भाव को करे, अतः अन्योन्याश्रय दोष नही आता।

जैन—यदि आपको लक्षण के विषय में ज्ञापक पक्ष मात्र रखना है अर्थात् लक्षण वस्तु का ज्ञापक मात्र है ऐसा कहना है तो अन्योन्याश्रय दोष और भी विशेष रूप से आता है। आगे इसी को स्पष्ट करते है–अज्ञात युतसिद्धि द्वारा समवाय ज्ञात होना अशक्य है, और यह अज्ञात समवाय युतसिद्धि को स्थापित करने के लिये समर्थ नही हो सकता है।

भावार्थ—वैशेषिक के यहा युतसिद्धि का लक्षण पृथगाश्रयवृत्तित्व किया है और अपृथक् आश्रयवृत्तित्व अयुतसिद्धि का लक्षण किया है, अर्थात् पृथक्–पृथक् जिनका आश्रय है ऐसे पृथक् आश्रयो मे रहने वाले दो पदार्थो को युतसिद्ध कहते है जैसे घट और पट हैं इनका भिन्न भिन्न आश्रय या आधार है अतः इन्हें युतसिद्ध पदार्थ कहते है, युतसिद्ध पदार्थो मे समवाय सम्बन्ध नहीं होता। अयुतसिद्ध पदार्थ वे है जिनका अपृथक्–अभिन्न–एक ही आश्रय हो, ऐसे अयुतसिद्ध पदार्थो मे समवाय सबध होता है जैसे तन्तु और वस्त्र इनको अयुतसिद्ध बतलाकर उनमें समवाय संबंध होता है ऐसा वैशेषिक का कहना है किन्तु यह कथन उन्हीके सिद्धात से बाधित होता है, क्योकि इन्होने तन्तु और वस्त्र का अपृथक् आश्रय नही माना है अपितु तन्तुओ का आश्रय तो तन्तुओ के छोटे छोटे अवयव जो कि तन्तु बनने के पहले कपास के रोये होते है उन्हे माना है, और वस्त्र का आश्रय तन्तु है ऐसा माना है, अतः अपृथक् आश्रयपना होना अयुतसिद्धत्व है और अयुतसिद्धो मे समवाय सम्बन्ध होता है ऐसा समवाय का लक्षण बाधित होता है। तथा अपृथक् अर्थात् एक ही आश्रय मे जो हो उन्हें अयुतसिद्ध कहते है ऐसा अयुतसिद्धत्व का लक्षण करने पर गुण, कर्म और सामान्य इनको अयुतसिद्ध कहना होगा। क्योकि ये तीनो एक द्रव्य के आश्रय में रहते हैं, और यदि ये अयुतसिद्ध हैं तो इनका परस्पर मे समवाय सम्बन्ध भी स्वीकार करना होगा। किन्तु यह परवादी को इष्ट नही है। पृथगाश्रयवृत्ति स्वरूप युतसिद्धि है और ऐसी युत

चारात्। तथाहि-नियमेनायुतसिद्धसम्बन्धत्वमाधाराधेयभूतसम्बन्धत्वं च 'आकाशे वाच्ये वाचक-स्तच्छब्दः' इति वाच्यवाचकभावे 'आत्मनि विषयभूते अहमिति ज्ञानं विषयि' इति विषयविषयिभावे

सिद्धि का जहा निषेध हो वह अयुतसिद्धि है उनमे समवाय सम्बन्ध होता ऐसा कहना अन्योन्याश्रय दोष युक्त भी है, क्योकि युतसिद्धत्व प्रसिद्ध हुए बिना समवाय की प्रसिद्धि नही हो पाती और समवाय के प्रसिद्ध हुए बिना युतसिद्धत्व असिद्ध के कोटि मे ही रह जाता है। इस पर वैशेषिक ने कहा कि पृथगाश्रयवृत्तित्वादि तो युतसिद्धि के लक्षण हैं, और लक्षण का कार्य इतना ही कि उस लक्ष्यभूत वस्तु का अन्य से भेद स्थापित कर देवे, लक्षण का कार्य यह नही कि उस वस्तु का अस्तित्व स्थापित करे, अर्थात् जो पदार्थ अपने कारण कलाप से निर्मित है पहले ही मौजूद है उसका लक्षण पहिचान करा देता है कि अमुक पदार्थ इस तरह का है, जैसे गाय का लक्षण सास्नादिमान है, जल का लक्षण द्रव्यत्वादि है, यह लक्षण वस्तु का ज्ञापक है–जतलाने वाला है न कि कारक है–बनाने वाला है। अत: हमने युतसिद्धि आदि का जो लक्षण कहा है उसमे इतरेतराश्रय दोष शक्य नही, क्योकि युतसिद्धि का लक्षण युतसिद्धिभूत वस्तु को निर्माण तो कराता नही। सिद्धि या सद्भाव तो पहले से है लक्षण तो मात्र चिह्न या अन्य वस्तु से पृथक् करना है। तब जैनाचार्य ने कहा कि ठीक है लक्षण का कार्य तो वस्तु का ज्ञापक बनना है किन्तु ऐसा मानने पर भी अन्योन्याश्रय दोष से आपका छुटकारा नही होता, युतसिद्धि जब तक अज्ञात है तब तक समवाय को हम पहिचान नही सकते और समवाय को जब तक नही जाना तब तक युतसिद्धि का निर्णय नही होता, इस तरह युतसिद्धि और समवाय ये दोनो ही अज्ञात रह जाते है। अर्थात् एक कोई वस्तु और उसकी प्रतिपक्षीभूत अन्य वस्तु है, सो उस एक वस्तु को जाने बिना उसके प्रतिपक्षीभूत अन्य वस्तु को कैसे जाने ? इस तरह समवायनामा पदार्थ सिद्ध नही हो पाता।

दूसरी बात यह है कि "अयुतसिद्धाना माधाराधेयभूताना" इत्यादि समवाय का लक्षण किया है उसमे व्यभिचार दोष होने से समवाय पदार्थ सिद्ध नही होता आगे इसी को स्पष्ट करते है–जिसमे नियम से अयुतसिद्धत्व और आधार–आधेयत्व हो उसमे समवाय सम्बन्ध होता है ऐसा आपका कहना है, किंतु यह कथन व्यभिचरित होता है–आकाश और उसका वाचक शब्द इन वाच्य–वाचकभूत पदार्थो मे अयुतसिद्धत्व और आधाराधेयत्व मौजूद है [क्योकि वैशेषिक मत मे शब्द को आकाश का गुण माना है]

च विद्यते इति । ननु सर्वस्य वाच्यवाचकवर्गस्य विषयविषयिवर्गस्य च नियमेनायुतसिद्धसम्बन्धत्वासम्भवो युतसिद्धेष्वप्यस्य सम्भवाद्घटतच्छब्दज्ञानवत्, अतो न व्यभिचारः; इत्यप्यसारम्; वर्गापेक्षयापि लक्षणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्व्यभिचारित्वात् । इष्टं च विपक्षैकदेशादव्यावृत्तस्य सर्वैरप्यनैकान्तिकत्वम् ।

यच्चोक्तम्–तन्तुपटादयः सयोगिनो न भवन्तीत्यादि, तत्सत्यम्; तत्र तादात्म्योपगमात् ।

फिर भी इनका परस्पर में समवाय सम्बन्ध नही माना, तथा विषयभूत आत्मा और "अहं–मैं" इस रूप विषयी ज्ञान मे अयुतसिद्धत्वादि मौजूद है तो भी समवाय सबधपना नही माना । अर्थात् वाच्य वाचक पदार्थों मे और विषयविषयीभूत पदार्थो मे आपने समवाय होना स्वीकार नही किया किंतु इनमें समवाय लक्षण अवश्य है ।

वैशेषिक—जितने वाच्य–वाचक पदार्थ है और विषय–विषयीभूत पदार्थ है उन सबमे नियम से अयुतसिद्धपना नही है वाच्य–वाचकपना तो युतसिद्ध पदार्थो मे भी रहता है, इसीतरह विषयविषयीभाव भी युतसिद्ध पदार्थो में देखा जाता है, जैसे घट पदार्थ और उसका वाचक घट शब्द ये दोनों युतसिद्ध है, एवं घटरूप विषय और उसका ज्ञानरूप विषयी ये दोनो युतसिद्ध हैं, इसलिये समवाय के लक्षण मे व्यभिचार नही आता है ?

जैन—यह कथन असार है सभी वाच्य वाचक वर्ग और विपय विषयी वर्ग में यह समवाय का लक्षण न जाय किंतु उसके एक देश मे जाता ही है । अतः विपक्ष के एक देश मे लक्षण के चले जाने से वह लक्षण व्यभिचरित ही कहलायेगा सभी वादी परवादियों ने स्वीकार किया है कि जो लक्षण विपक्ष [अलक्ष्य] के देश मे चला जाता है–उससे व्यावृत्त नही होता वह अनैकान्तिक [अतिव्याप्ति] दोष युक्त होता है ।

तन्तु और वस्त्रादि पदार्थ सयोगी नही होते [सयोग सबध युक्त नही होते] इत्यादि जो कहा था वह कथन ठीक ही है, क्योकि इन तन्तु वस्त्रादि पदार्थो में तादात्म्य स्वीकार किया गया है, संयोग नही ।

यत्तूक्तम्–प्रत्यक्षत एव समवाय प्रतीयत इत्यादि; तदयुक्तम्; असाधारणस्वरूपत्वे हि सिद्धे सिध्येदर्थाना प्रत्यक्षता पृथुबुध्नोदराद्याकारघटादिवत् । न चास्य तत्सिद्धम् । तद्धि किमयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्, सम्बन्धमात्र वा ? न तावदयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्, सर्वैरप्रतीयमानत्वात् । यत्पुनर्यस्य स्वरूप तत्तेनैव स्वरूपेण सर्वस्यापि प्रतिभासते यथा पृथुबुध्नोदराद्याकारतया घट इति । न चैकस्य सामान्यात्मक स्वरूप युक्तम्, समानानामभावे सामान्याभावाद्गगने गगनत्ववत् । नापि सम्बन्धमात्र समवायस्यासाधारण स्वरूपम्; सयोगादावपि सम्भवात् ।

किञ्च, तद्रूपतयासौ सम्बन्धबुद्धौ प्रतिभासेत, इहेति प्रत्यये वा, समवाय इत्यनुभवे वा ? यदि सम्बन्धबुद्धौ, कोय सम्बन्धो नाम–किं सम्बन्धत्वजातियुक्त सम्बन्ध , अनेकोपादानजनिता वा, अनेका-

---

वैशेपिक ने कहा कि समवाय की प्रत्यक्ष से प्रतीति होती है, इत्यादि, वह कथन तो अयुक्त है, जब तक पदार्थो का असाधारण स्वरूप सिद्ध नही हो जाता तब तक उसको प्रत्यक्ष प्रतीति हो नही सकती, असाधारण स्वरूप सिद्ध होने पर ही वस्तु की प्रत्यक्षता सिद्ध होगी, जैसे पृथु–मोटा बुध्न–गोल मटोल, फैला हुआ, नीचे से समत्व रहित, ऊपर की ओर उठा हुआ इत्यादि घट का आकार या असाधारण स्वरूप सिद्ध होने पर ही घट की प्रत्यक्षता हुआ करती है, ऐसा असाधारण स्वरूप समवाय का सिद्ध नही होता । समवाय का असाधारण स्वरूप क्या है अयुतसिद्ध सबधत्व समवाय का असाधारण स्वरूप है अथवा सम्बन्ध मात्र है ? अयुतसिद्ध सम्बन्धत्व समवाय का असाधारण स्वरूप है ऐसा कहना ठीक नही क्योकि यह स्वरूप सभी को प्रतिभासित नही होता है, जो जिसका स्वरूप होता है वह उसी स्वरूप द्वारा सभी वादी प्रतिवादी को प्रतिभासित हो जाता है, जैसे पृथु बुध्नादि आकार घट का असाधारण स्वरूप है अत वह सभी को उस स्वरूप से प्रतीति होता है, तथा समवाय को आप लोग एकरूप ही मानते है, जो एक है उसमे सामान्यात्मक स्वरूप नही रह सकता, क्योकि समान वस्तुओ के अभाव मे सामान्य नही होता, जैसे आकाश के अभाव मे आकाशत्व नही होता है । सम्बन्धमात्र समवाय का असाधारण स्वरूप है ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योकि यह स्वरूप सयोग आदि मे भी रहता है ।

किञ्च, सबधमात्र समवाय का स्वरूप माना जाय तो सबधत्व की रूपता से सबध बुद्धि मे प्रतिभासित होगा कि "इह इति" प्रत्यय मे प्रतिभासित होगा, अथवा "समवाय" इसप्रकार के अनुभव मे प्रतिभासित होगा ? सबंधबुद्धि मे प्रतिभासित होता

श्रितो वा, सम्बन्धबुद्ध्युत्पादको वा, सम्बन्धबुद्धिविषयो वा ? न तावत्सम्बन्धत्वजातियुक्तः, समवायस्यासम्बन्धत्वप्रसङ्गात् । द्रव्यादित्रयान्यतमरूपत्वाभावेन समवायान्तरासत्त्वेन चात्र सम्बन्धत्वजातेरप्रवर्त्तनात् । अथ सयोगवदनेकोपादानजनितः; तर्हि घटादेरपि सम्बन्धत्वप्रसङ्गः । नाप्यनेकाश्रितः; घटत्वादे. सम्बन्धत्वानुषङ्गात् । नापि सम्बन्धबुद्ध्युत्पादकः लोचनादेरपि तत्त्वप्रसक्तेः । नापि सम्बन्धबुद्धिविषयः, सम्बन्धसम्बन्धिनोरेकज्ञानविषयत्वे सम्बन्धिनोपि तद्रूपतानुषङ्गात् । न च प्रतिविषयं ज्ञानभेदः; मेचकज्ञानाभावप्रसङ्गात् ।

है ऐसा कहो तो पुनः प्रश्न होता है कि किसको सम्बन्ध कहते है सम्बन्धत्व शब्द के पाच अर्थ हो सकते है–सबंधत्व की जाति से युक्त होना, अनेक उपादानो से उत्पन्न होना, अनेको के आश्रित रहना, सबधबुद्धि को उत्पन्न करना [सबध है इसप्रकार की बुद्धि का उत्पादक] और सबध बुद्धि का विषय होना, इतने सबंधत्व शब्द के अर्थ है, इनमे प्रथम विकल्प संबधत्व जातियुक्त होने को सबध कहते हैं ऐसा मानना ठीक नही, इस तरह सबध का लक्षण करेगे तो समवाय असबधरूप बन जायगा, कैसे सो ही बताते है–समवाय को आप लोग न द्रव्य मानते है और न गुण या कर्मरूप मानते है अत उसमे सबधत्व जाति की वृत्ति नही हो सकती तथा मान भी लेवे कि समवाय मे सबधत्व जाति रहती है किंतु उसका सबध जोडने के लिये अन्य समवाय नही होने से उक्त जाति उसमे नही रह सकती । दूसरा विकल्प–संयोग के समान अनेक उपादानो से उत्पन्न होना सबध है, ऐसा कहो तो घटादि पदार्थ भी सबधत्व स्वरूप बन जायेंगे, क्योकि घटादिक भी अनेक उपादानो से उत्पन्न हुए हैं । अनेको के आश्रित होने को सबध कहते है, ऐसा तीसरा विकल्प भी गलत है, इसमे घटत्वादि को सबधरूप मानने का प्रसंग आता है । सबध की बुद्धि के उत्पादक को सबधत्व कहते है ऐसा चौथा विकल्प कहे तो नेत्रादि को सम्बन्धत्वरूप मानना होगा क्योकि नेत्र, प्रदीपादिक वस्तुओ मे सबंध की बुद्धि को उत्पन्न करते है । सबधबुद्धि के विषय को सम्बन्धत्व कहते हैं ऐसा अतिम विकल्प भी ठीक नही, सबध और सबधी को एक ज्ञान का विषय मानने पर संबधी पदार्थ को भी संबंधपना प्राप्त होगा । अर्थात् सम्बन्ध और सम्बन्धी पदार्थ इन दोनो को ही सबंधरूपता आती है, [जिसमे सबधत्व रहता है या समवाय रहता है उस संबधवान पदार्थ को भी सम्बन्ध या समवाय मानना होगा जो कि परवादी को इष्ट नही है] कोई कहे कि सबंध को विषय करने वाला ज्ञान पृथक् है और सबध युक्त सबधी को विषय करने वाला ज्ञान पृथक् है, सो यह भी युक्त नही इसमे मेचक ज्ञान

अथेहबुद्धौ समवायः प्रतिभासते; न; इहबुद्धेरधिकरणाध्यवसायरूपत्वात्। न चान्यस्मिन्नाकारे प्रतीयमानेऽन्याकारोर्थः कल्पयितु युक्तोतिप्रसङ्गात्।

अथ समवायबुद्ध्यासौ प्रतीयते; तन्न; समवायबुद्धेरसम्भवात्। नहि 'एते तन्तव', अयं पटः, अयं च समवाय' इत्यन्योन्यविविक्तं त्रितयं बहिर्ग्राह्याकारतया कस्याञ्चित्प्रतीतौ प्रतीयते तथानुभवाभावात्।

सर्वसमवाय्यनुगतैकस्वभावो ह्यसौ तत्र प्रतिभासेत, तद्व्यावृत्तस्वभावो वा ? न तावत्तद्व्यावृत्तस्वभावः; सर्वतो व्यावृत्तस्वभावस्यान्यासम्बन्धित्वेन गगनाम्भोजवत्समवायत्वानुपपत्तेः। नापि

के अभाव का प्रसग आयेगा। अर्थात् प्रति विषय मे ज्ञान का भेद है और पृथक् पृथक् एक एक विषय का पृथक् पृथक् ही ज्ञान है ऐसा माने तो मेचक ज्ञान [चित्र का ज्ञान] का अभाव होगा, क्योकि मेचक ज्ञान का विषय नील, पीत, हरित आदि अनेक वस्तु रूप होता है। इसप्रकार समवाय का स्वरूप सबधमात्र है और वह सबधबुद्धि मे प्रतिभासित होता है ऐसा प्रथम पक्ष खण्डित हुआ।

"इह इति" इसप्रकार के प्रत्यय–अर्थात् ज्ञान मे समवाय प्रतिभासित होता है ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योकि "इह–यहा पर" ऐसा ज्ञान तो अधिकरण का अध्यवसाय–निश्चय कर रहा है, इस ज्ञान में अधिकरण प्रतीत हो रहा है न कि सबधत्व प्रतीत हो रहा, अन्य आकार प्रतीत होने पर उसमे अन्य आकार की कल्पना करना अयुक्त है, अन्यथा अतिप्रसंग उपस्थित होगा–पट के प्रतिभास मे गृह घटादिका प्रतिभास होना भी स्वीकार करना होगा।

"समवाय" इसप्रकार की बुद्धि द्वारा संबंधत्वरूप समवाय प्रतिभासित होता है ऐसा तृतीय पक्ष भी असभव है, क्योकि समवाय बुद्धि होना असम्भव है। ये तन्तु [धागे] हैं "यह वस्त्र है" और "यह समवाय है" इसप्रकार परस्पर से भिन्न तीन वस्तु बाह्य ग्राह्याकारपने से किसी ज्ञान मे प्रतीत होती हुई अनुभव मे नही आती। तीन वस्तुओ के अनुभवन का अभाव है।

तथा यह विचारणीय है कि समवाय समवायबुद्धि मे प्रतिभासित होता है वह किस स्वभाव से प्रतिभासित होता है–सर्वसमवायी द्रव्यो मे अनुगत एक स्वभाव से या व्यावृत्त स्वभाव से ? सर्व द्रव्यो से व्यावृत्त स्वभाव से समवायबुद्धि मे समवाय प्रतीत

तदनुगतैकस्वभावः; सामान्यादेरपि समवायत्वानुषङ्गात् । न चाखिलसमवाय्यऽप्रतिभासे तदनुगत-स्वभावतयासौ प्रत्यक्षेण प्रत्येतुं शक्यः । अथानुगतव्यावृत्तरूपव्यतिरेकेण सम्बन्धरूपतयासौ प्रतीयते; तन्न; सम्बन्धरूपतायाः प्रागेव कृतोत्तरत्वात् ।

यदप्युक्तम्-'इह तन्तुषु पटः' इत्यादीहप्रत्ययः सम्बन्धकार्योऽबाध्यमानेहप्रत्ययत्वादिह कुण्डे दधीत्यादिप्रत्ययवदित्यनुमानाच्चासौ प्रतीयते' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; हेतोराश्रयासिद्ध-त्वात् । तदसिद्धत्व च 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययस्य धर्मिणोऽसिद्धेः । अप्रसिद्धविशेषणश्चाय हेतुः;

होता है ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि जो सभी से व्यावृत्त स्वभावभूत है उसका अन्य के साथ संबधीपना नही होने के कारण आकाश पुष्प की तरह अभाव हो रहेगा उसमें समवायपना हो नही सकता, जो वस्तु सबसे व्यावृत्त है तो इसका अर्थ यही है कि उसका अस्तित्व नही है । सर्व समवायी द्रव्यो मे अनुगत एक स्वभावभूत समवाय समवायबुद्धि में प्रतीत होता है ऐसा पक्ष भी युक्त नही, क्योकि अनुगतस्वभावरूप समवाय को मानेगे तो सामान्यादि पदार्थ के भी समवायपना होवेगा । तथा अखिल समवायी द्रव्यो के प्रतिभासित हुए बिना उनके अनुगत स्वभावपने से यह समवाय प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत होना अशक्य है ।

शका—समवायबुद्धि मे समवाय प्रतीत होता है वह अनुगतरूप से या व्यावृत्त रूप से प्रतीत नही होता, किन्तु इनसे अतिरिक्त सवधरूपता से प्रतीत होता है ।

समाधान—ऐसा नही कहना, इस सम्बन्धरूपता के विषय मे पहले ही उत्तर दिया है ।

वैशेषिक ने अपने पूर्व पक्ष में कहा था कि—"इह तन्तुषु पट." इत्यादि स्थान पर जो "इह–यहा पर" ऐसा जो प्रत्यय [ज्ञान] होता है वह सवध [समवाय] का कार्य है क्योकि यह अबाध्यमान इह प्रत्यय स्वरूप है, जैसे इस कुण्डा मे दही है इत्यादि प्रत्यय अबाध्यमान है "इस अनुमान प्रमाण से समवाय पदार्थ प्रतिभासित होता है इत्यादि, सो उक्त कथन भी अविचार पूर्ण है क्योकि इस अनुमान का हेतु [अबाध्यमान इह प्रत्ययत्वात्] आश्रयासिद्ध है, इसका असिद्धपना भी इसलिये है कि "इह तंतुषु पटः" इत्यादि प्रत्यय धर्मी हम प्रतिवादी के प्रति असिद्ध हैं । [अर्थात्–इन तन्तुओं मे पट है

'पटे तन्तवो वृक्षे शाखा।' इत्यादिरूपतया प्रतीयमानप्रत्ययेन 'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययस्य बाध्यमानत्वात्। स्वरूपासिद्धश्चायम्; तन्तुपटप्रत्यये इहप्रत्ययत्वस्यानुभवाभावात्, 'पटोयम्' इत्यादिरूपतया हि प्रत्ययोनुभूयते।

अनैकान्तिकश्च; 'इह प्रागभावेऽनादित्वम्, इह प्रध्वंसाभावे प्रध्वंसाभावाभाव.' इत्यबाध्यमानेहप्रत्ययस्य सम्बन्धपूर्वकत्वाभावात्। न चात्र विशेषणविशेष्यभाव: सम्बन्धो वाच्यः, सम्बन्धमन्तरेण विशेषणविशेष्यभावस्याऽसम्भवात्, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषण विशेष्य च स्यात्। सम्बन्धे

इत्यादि ज्ञान का विषय समवाय है, ऐसा जैन के यहां माना ही नही] "अबाध्यमान इह प्रत्ययत्वात्" हेतु अप्रसिद्ध विशेषण वाला भी है, अर्थात् इसका अबाध्यमानत्व विशेषण सिद्ध नही है, "इस वस्त्र मे तन्तु हैं" इस वृक्ष पर शाखाये हैं इत्यादि विपरीत क्रम से अर्थात् तन्तुओ मे वस्त्र है ऐसा प्रत्यय न होकर वस्त्र मे तन्तु है ऐसा भी प्रत्यय होता हुआ देखा जाता है, जैसे अवयवो मे अवयवी प्रतीत होता है वैसे अवयवी मे अवयव भी प्रतीत होते है। अतः "इह प्रत्यय" बाधित ठहरता है। यह हेतु स्वरूपासिद्ध दोष युक्त भी है, कैसे सो ही बताते है–तन्तु और वस्त्र के ज्ञान मे "इह प्रत्यय" अनुभव मे आता नही, वहा तो "पटोऽय" "यह वस्त्र है" इत्यादि स्वरूप से प्रतिभास होता है।

इह प्रत्ययत्वात् हेतु अनैकान्तिक भी है, क्योकि जहा जहा अबाध्यमान इह प्रत्यय है वहा वहां वह सबध का ही कार्य है ऐसा साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव नही है, इस प्रागभाव मे अनादिपना है "यहां प्रध्वसाभाव मे प्रध्वसाभाव का अभाव है" इत्यादि स्थानो पर अबाध्यमान इह प्रत्यय तो हो रहा है किन्तु वह संबंध का कार्य नही है अत. यह हेतु अनैकान्तिक है, "विपक्षेप्यविरुद्धवृत्तिः अनैकान्तिक" विपक्ष मे जो हेतु अविरुद्धपने से रहता है वह अनैकान्तिक है ऐसा सभी ने स्वीकार किया है।

शंका—यहां प्रागभाव मे अनादिपना है इत्यादि स्थान पर जो इह प्रत्यय होता है वह विशेष्य–विशेषण सबध का कार्य है, अर्थात् विशेषण–विशेष्य सबध होने के कारण यहा पर इह प्रत्यय होता है?

समाधान—ऐसा भी नही कह सकते, संबध के बिना विशेषण विशेष्यभाव होना असभव है। यदि ऐसा नही है तो सब पदार्थ सभी के विशेषण और विशेष्य

सत्येव हि द्रव्यगुणकर्मादावेकस्य विशेषणत्वमपरस्य विशेष्यत्वं दृष्टम् । तदभावेपि विशेषणविशेष्यभाव-कल्पनायामतिप्रसङ्गः स्यात् ।

न चात्रादृष्टलक्षणः सम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावनिबन्धनम् इत्यभिधातव्यम्; षोढासम्बन्ध-वादित्वव्याघातानुषङ्गात् । न चास्य सम्बन्धरूपता । सम्बन्धो हि द्विष्ठो भवताभ्युपेतः । अदृष्टश्चा-त्मवृत्तितया प्रागभावाऽनादित्वयोरतिष्ठन्कथं द्विष्ठो भवतीति चिन्त्यमेतत् ? यदि चात्रादृष्टः सम्बन्धः; तर्हि गुणगुण्यादयोप्यत एव सम्बद्धा भविष्यन्तीत्यलं समवायादिसम्बन्धकल्पनया ।

होगे । जब सम्बन्ध होता है तभी पदार्थो मे से–द्रव्य, गुण, कर्मादि मे से कोई एकके विशेषणपना और दूसरे के विशेष्यपना देखा जाता है, सम्बन्ध के अभाव मे भी विशेषण विशेष्य की कल्पना करेगे तो अतिप्रसंग होगा–फिर तो सह्याचल और विध्याचल में विशेष्य–विशेषणपना हो सकेगा ।

वैशेषिक—"यहां प्रागभाव मे अनादिपना है" इत्यादि इह प्रत्यय मे अदृष्ट नाम के संबंध के कारण विशेष्य विशेषणभाव होता है । अर्थात् अदृष्ट के कारण प्राग-भावादि मे विशेष्य विशेषणभाव सबध बनता है ?

जैन—ऐसा नही कहना, इस तरह तो आपके ही "षोढा संबधवाद में व्याघात होगा" अर्थात् आपके सिद्धात में छह प्रकार का सम्बन्ध माना है–सयोग सबध, संयुक्त समवाय संबध, संयुक्त समवेत समवाय सबंध, समवाय सबध, समवेत संबध और विशेषण विशेष्यभाव सबध, अब यदि अदृष्ट विशेष्य–विशेषण सबध भी मानेगे तो छः सख्या का व्याघात होगा । तथा दूसरी बात यह है कि अदृष्ट लक्षण विशेष्य विशेषण भाव को संबधपना बनता ही नही, क्योकि संबध दो मे होता है ऐसा आपने माना है, अदृष्ट केवल आत्मा में रहता है, प्रागभाव और अनादित्व मे नही रहता अतः उक्त अदृष्ट द्विष्ठ किसप्रकार होगा यह विचार कोटी मे ही रहेगा । तथा यदि प्रागभावादि मे अदृष्ट लक्षण संबंध होता है तो गुण–गुणी इत्यादि में भी अदृष्ट लक्षण–अदृष्ट निमित्तक सबध हो जायगा फिर समवाय आदि अनेक प्रकार के संबध की कल्पना करने में कुछ प्रयोजन नही रहता है ।

किञ्च, अतोनुमानात्सम्बन्धमात्रं साध्यते, तद्विशेषो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, तादात्म्यलक्षणसम्बन्धस्येष्टत्वात्तन्तुपटादीनाम् । ननु तेषा तादात्म्ये सति तन्तवः पटो वा स्यात्, तथा च सम्बन्धिनोरेकत्वे कथ सम्बन्धो नामास्य द्विष्ठत्वात् ? तदप्ययुक्तम्, यो हि द्विष्ठः सम्बन्धस्तस्येत्थमभावो युक्तः, यस्तु तत्स्वभावतालक्षणः कथ तस्याभावो युक्तः ? तन्तुस्वभाव एव हि पटो नार्थान्तरम्, आतानवितानीभूततन्तुव्यतिरेकेण देशभेदादिना पटस्यानुपलभ्यमानत्वात् ।

अथ सम्बन्धविशेष. साध्यते, स किं संयोग', समवायो वा ? सयोगश्चेत्, अभ्युपगमबाधा । समवायश्चेत्; दृष्टान्तस्य साध्यविकलता ।

वैशेषिक को "इह तन्तुषु पट." इत्यादि अनुमान द्वारा सबधमात्र को सिद्ध करना है अथवा सबधविशेष सिद्ध करना है प्रथम पक्ष कहो तो सिद्ध साध्यता है, क्योकि हम जैन भी तन्तु और वस्त्र इत्यादि में तादात्म्य नामका सम्बन्ध मानते हैं ।

वैशेपिक—तन्तु और वस्त्र इत्यादि पदार्थो मे तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर या तो तन्तु ही रहेगे या वस्त्र ही रहेगा इसतरह सम्बन्धी पदार्थो के एकरूप होने पर उसे सम्बन्ध कैसे कह सकते है, सम्बन्ध तो दो मे होता है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, जो वादी "सम्बन्ध दो मे होता है" ऐसा हठाग्रह रखते है, उनके यहा सम्बन्ध का अभाव होना रूप दोष दे सकते हैं, किन्तु जो वादी तन्तु और वस्त्र इत्यादि का ऐसा स्वभावपना ही मानते है उनको सम्बन्ध का अभाव होना रूप दूषण किसप्रकार दे सकते है, हम जैन वादो के यहा तो ततु स्वभावरूप ही पट है अर्थान्तर नही है, अर्थात् आतान–वितान रूप तन्तुओ का बनना ही पट हैं इनसे पृथक् देश या स्वभावादि के भेद से भिन्न कोई भी पट पदार्थ उपलब्ध नही होता जो तन्तुओ के क्षेत्र, द्रव्य स्वभावादिक है वे ही वस्त्र के हैं ।

"इह तन्तुषु पटः", इत्यादि अनुमान द्वारा सम्बन्ध विशेष को सिद्ध किया जाता है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो प्रश्न होता है कि वह सम्बन्ध विशेष कौन है, सयोग सम्बन्ध या समवाय सम्बन्ध ? सयोग सम्बन्ध तो कह नही सकते, क्योकि तन्तु वस्त्रादि मे आपने सयोग सम्बन्ध माना ही नही । समवाय सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है ऐसा कहो तो दृष्टांत साध्य विकल होगा, अर्थात् यहा तन्तुओ मे वस्त्र है, इत्यादि इहप्रत्यय

अथोच्यते-न संयोग समवायो वा साध्यते किन्तु सम्बन्धमात्रम्, तत्सिद्धौ च परिशेषात् समवाय: सिध्यतीति; तदप्युक्तिमात्रम्; परिशेषन्यायेन समवायस्य सिद्धेरसंभवात्, तस्यानेकदोषदुष्टत्वेन प्रतिपादितत्वात्। यदि हि सबन्धान्तरमनेकदोषदुष्टं समवायस्तु निर्दोष: स्यात्, तदासौ तन्न्यायात् सिध्येत्। न चैवमित्युक्तम्।

कश्चाय परिशेषो नाम? प्रसक्तप्रतिषेधे विशि(षे शि)ष्यमाणसंप्रत्ययहेतु: स इति चेत्; स किं प्रमाणम्, अप्रमाणं वा? न तावदप्रमाणमभिप्रेतसिद्धौ समर्थम्, अतिप्रसङ्गात्। प्रमाणं

सम्बन्ध का कार्य है, क्योंकि यह अबाध्यमान इह प्रत्यय स्वरूप है, जैसे "यहा कुण्डा में दही है" इत्यादि इह प्रत्यय अबाध्यमान है, इसप्रकार पहले अनुमान प्रयुक्त हुआ था, उसमें "कुण्डा में दही है" ऐसा दृष्टांत दिया है वह साध्य जो समवाय सम्बन्ध है उससे रहित है, क्योंकि कुण्डा और दही में समवाय सम्बन्ध नही होता, इसतरह दृष्टांत साध्य रहित होने के कारण अनुमान दूषित होता है।

वैशेषिक—"इह तन्तुषु पट:" इत्यादि अनुमान द्वारा न संयोग सिद्ध करते हैं और न समवाय ही, किन्तु सम्बन्धमात्र सिद्ध करते है, जब इससे सम्बन्धमात्र सिद्ध होगा तब परिशेष से [तन्तु और वस्त्र का सम्बन्ध सयोगादि रूप नही है अत: समवाय रूप ही है। इत्यादि परिशेष अनुमान से] समवाय सिद्ध करते है?

जैन—यह भी कहना मात्र है, परिशेष न्याय से समवाय की सिद्धि होना असम्भव है, आपके समवाय पदार्थ के मानने मे अनेक दोष आते हैं वह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही होता है ऐसा बता आये है। तथा यदि तन्तु आदि में अन्य संबध मानने मे अनेक दोष आते हो और समवाय सबध मानने मे निर्दोषता हो तब तो परिशेष न्याय से उनमे समवाय सिद्ध होता, किन्तु उलटे समवाय मानने मे ही अनेक दोष आते है।

तथा परिशेप किसे कहते है—जिसका प्रसंग प्राप्त था ऐसे संयोगादिका प्रतिषेध होने पर अवशेष जो समवाय है उसके प्रतीति का कारण परिशेष कहलाता है ऐसा परिशेष स्वरूप या लक्षण करते हैं तो वह परिशेष आपको प्रमाणभूत है कि अप्रमाणभूत है? अप्रमाण है ऐसा कहो तो वह आपके इष्ट ऐसे समवाय को सिद्ध करने

चेत्कि प्रत्यक्षम्, अनुमान वा ? न तावत्प्रत्यक्षम्, तस्य प्रसक्तप्रतिषेधद्वारेणाभिप्रेतसिद्धावसमर्थत्वात्। अथ केवलव्यतिरेक्यनुमान परिशेष., तर्हि प्रकृतानुमानोपन्यासवैयर्थ्यम्, तस्योपन्यासेपि परिशेषमन्तरेणाभिप्रेतसिद्धेरभावात्। परिशेषस्तु प्रमाणान्तरमन्तरेणापि तत्सिद्धौ समर्थ इति स एवोच्यताम्, न चासावुक्त., तत् कथ समवाय. सिध्येत्।

ननु चेहप्रत्ययस्य समवायाहेतुकत्वे निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात् कादाचित्कत्वविरोध., तदसत्; तादात्म्यहेतुकतयास्य प्रतिपादितत्वात्। महेश्वरहेतुकत्वाद्वा कादाचित्कत्वाविरोध। तस्य तदहेतुकत्वे

मे समर्थ नही हो सकेगा, अप्रमाण द्वारा साध्यसिद्ध होना माने तो अतिप्रसग होगा—किसी का भी सिद्धात विना प्रमाण के सिद्ध होने लगेगा। परिशेष न्याय प्रमाणभूत है ऐसा कहो तो वह कौनसा प्रमाण है प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमान–प्रमाण ? प्रत्यक्ष तो हो नही सकता, क्योकि प्रसक्त का निषेध करके अपने अभिप्रेत को सिद्ध करने की सामर्थ्य प्रत्यक्ष मे नही है वह तो केवल निकटवर्ती रूपादि को सिद्ध कर सकता है।

वैशेषिक—समवाय को सिद्ध करने वाला केवल व्यतिरेकी अनुमान परिशेष है।

जैन—तो फिर आपका "इह तन्तुषु पट." इत्यादि अनुमान प्रयोग व्यर्थ ठहरता है ? क्योकि उसका प्रयोग होने पर भी परिशेष अनुमान के बिना अभिप्रेत समवाय की सिद्धि नही हो पाती। परिशेषरूप केवल व्यतिरेकी अनुमान अन्य प्रमाण के बिना ही समवाय को सिद्ध करने मे समर्थ है तो उसीको कहना चाहिये किन्तु उसे कहा नही फिर किस प्रकार समवाय की सिद्धि होगी ?

वैशेषिक—यदि इह प्रत्यय को समवाय द्वारा होना नही स्वीकार करते है [समवायरूप हेतु के बिना होना मानते है] तो उक्त प्रत्यय निर्हेतुक होगा और निर्हेतुक होने से कदाचित् न होकर सतत् होने का प्रसग आता है, किन्तु इह प्रत्यय तो कदाचित् होता है, जो प्रतिभास कभी कभी होता है वह निर्हेतुक नही होता उसका कारण अवश्य होता है ऐसा सभी स्वीकार करते है।

जैन—यह कथन असत् है, हम कहा कह रहे हैं कि इह प्रत्यय निर्हेतुक है, यह प्रत्यय तादात्म्य सबध के कारण होता है ऐसा पहले ही प्रतिपादन कर दिया है।

वा तेनैव कार्यत्वादिहेतोर्व्यभिचार.। ननु महेश्वरोऽसम्बन्धत्वात्कथं सम्बन्धबुद्धेः कारणमिति चेत् ? प्रभुशक्तेरचिन्त्यत्वात्। यो हीश्वरस्त्रैलोक्यकार्यकरणसमर्थः स कथं 'पटे रूपादयः' इति बुद्धि न विदध्यात् ? प्रभु खलु यदेवेच्छति तत्करोति, अन्यथा प्रभुत्वमेवास्य हीयते। नच 'इह कुण्डे दधि' इत्यादिप्रत्यये सम्बन्धपूर्वकत्वोपलम्भादत्रापि तत्पूर्वकत्वस्यैव सिद्धि.; तत्रापीश्वरहेतुकत्व कार्यस्येच्छतस्तच्चोद्यानिवृत्ते.। सयोगश्चार्थान्तरभूतस्तन्निमित्तत्वेनात्राप्यसिद्ध , तस्यासिद्धस्वरूपत्वात्।

अथवा आप वैशेषिक को इह प्रत्यय का कारण महेश्वर मानना होगा, महेश्वर हेतुक मानने पर कदाचित् होने मे अविरोध है। यदि इहेदं प्रत्यय-ईश्वर हेतुक नही माने तो ईश्वर सिद्धि मे दिये गये कार्यत्व, सन्निवेश विशिष्टत्वादि हेतु उसीसे व्यभिचारी बन जायेंगे, अर्थात् जो कदाचित् होता है—कार्यरूप होता है वह ईश्वर कृत होता है ऐसा आपका हटाग्रह है, पृथ्वी, पर्वत आदि कार्य होने से बुद्धिमान द्वारा निर्मित है ऐसा कार्यत्व का सबध महेश्वर से ही स्थापित किया है, जो भी कार्य हो वह महेश्वर कृत है अत· यहा प्रकरण मे इहेद प्रत्यय भी कदाचित् होने से कार्य है इसलिये महेश्वर द्वारा ही होना चाहिये, किन्तु इहेद प्रत्यय का हेतु समवाय है ऐसा आप कह रहे सो कार्य होकर भी ईश्वर कृत नही होने से कार्यत्व हेतु व्यभिचरित ठहरता है।

वैशेषिक—कार्यत्व हेतु व्यभिचरित नही होगा, महेश्वर सबधरूप पदार्थ नही है फिर वह सबध बुद्धि का—इहेद प्रत्यय का कारण किस प्रकार हो सकता है। अर्थात् नही हो सकता।

जैन—प्रभु की शक्ति तो अचिन्त्य है। जो तीन लोक के कार्यो को करने मे समर्थ है वह "यहां वस्त्र मे रूपादिगुण है" इत्यादि बुद्धि को कैसे नही करा सकता, अवश्य करा सकता है, प्रभु तो प्रभु ही [समर्थ] है वह जो चाहे उसे कर सकता है अन्यथा तो उसका प्रभुपना ही समाप्त होता है। यहां कुण्डे मे दही है इत्यादि प्रत्यय मात्र सयोग सबध के कारण होते है ऐसे ही "यहा तन्तुओ मे पट है" इत्यादि प्रत्यय समवाय सबध के कारण होते है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, "यहां कुण्डे मे दही है" इत्यादि इह प्रत्यय भी ईश्वर हेतुक मानने होगे, क्योकि वे कार्य है, जो कदाचित् होता है वह कार्य कहलाता है और कार्य ईश्वर कृत होता है इत्यादि वही पूर्वोक्त प्रश्नोत्तर यहा भी समझ लेना चाहिए। अभिप्राय यह है कि आप वैशेषिक कार्यत्व हेतु से सृष्टिकर्त्ता

"ननु सयोगो नामार्थान्तरं न स्यात्तदा क्षेत्रे बीजादयो निर्विशिष्टत्वात् सर्वदैवाङ्कुरादिकार्यं कुर्यु:, न चैवम् । तस्मात्सर्वदा कार्यानारम्भात् तेऽङ्कुरादिकार्योत्पत्तौ कारणान्तरसापेक्षा:, यथा मृत्पिण्डदण्डादयो घटकरणे कुम्भकारादिसापेक्षा: । योसावपेक्ष्य: स सयोग इति ।

किञ्च, द्रव्ययोर्विशेषणभावेनाध्यक्षत एवासौ प्रतीयते; तथाहि–कश्चित्केनचित् 'सयुक्ते द्रव्ये आहर' इत्युक्ते ययोरेव द्रव्ययो संयोगमुपलभते ते एवाहरति, न द्रव्यमात्रम् ।

ईश्वर सिद्ध करते है अत इह प्रत्यय को ईश्वर कृत मानना चाहिये न कि समवाय कृत, अन्यथा कार्यत्व हेतु द्वारा ईश्वर कर्तृत्व को सिद्ध करना अशक्य होगा । और यदि इहेद प्रत्यय को ईश्वर निमित्तक मानेगे तो समवाय पदार्थ व्यर्थ ठहरता है । तथा "इह कुण्डे दधि" इत्यादि इह प्रत्यय मे अर्थान्तरभूत सयोग संबध कारण है ऐसा कहना भी असिद्ध है, क्योकि सयोग का स्वरूप ही सिद्ध नही है ।

वैशेषिक—यदि सयोग को अर्थान्तरभूत न माना जाय तो खेत में डाले गये गेहूँ आदि बीज निर्विशेष होने से सर्वदा अकुरादि कार्यों को करने लगेगे, अर्थात्–मिट्टी पानी आदि का सयोग होवे चाहे मत होवे गेहू आदि बीज घर मे हो चाहे खेत मे डाले वे सतत ही अकुरादि को उत्पन्न कर सकते है, क्योकि सयोग की अपेक्षा नही है, किन्तु ऐसा देखा नही जाता, अत: सर्वदा कार्य का अनारभ देखकर निश्चित होता है कि गेहू आदि बीज अकुरादि कार्य को करने मे कारणातर जो सयोग है उसकी अपेक्षा रखते है–[मिट्टी, हवा, पानी इत्यादि के सयोग की अपेक्षा रखते हैं] जिसप्रकार मिट्टी का पिण्ड, दण्डा इत्यादि पदार्थ घट को उत्पन्न करते समय कुंभकार आदि की अपेक्षा रखते है, जिसकी अपेक्षा पडती है वही सयोग है ।

तथा दो द्रव्यो के विशेषण भाव द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण से सयोग गुण प्रतीति में आता है, अब इसी को बतलाते है–किसी पुरुष ने अपने पास बैठे हुये व्यक्ति को प्रेरित किया कि सयुक्त पदार्थ ले आओ इसप्रकार कहने पर वह प्रेरित हुआ व्यक्ति जिसमे दो द्रव्यो का सयोग उपलब्ध होता है उन्ही पदार्थों को ले आता है, न कि द्रव्यमात्र को इससे सयोग सिद्ध होता है ।

किञ्च, 'कुण्डली देवदत्त' इत्यादिमतिरुपजायमाना किन्निबन्धनेत्यभिधातव्यम् ? न तावत्पुरुषकुण्डलमात्रनिबन्धना; सर्वदा तस्या: सद्भावप्रसङ्गात्।

किञ्च, यदेव केनचित्क्वचिदुपलब्धसत्त्व तस्यैवान्यत्र विधिप्रतिषेधमुखेन लोके व्यवहारप्रवृत्ति र्दृष्टा। यदि तु सयोगो न कदाचिदुपलब्धस्तत्कथमस्य 'चैत्रोऽकुण्डली कुण्डली' वा इत्येव विभागेन व्यवहारो भवेत् ? 'चैत्रोऽकुण्डली' इत्यत्र हि न कुण्डल चैत्रो वा प्रतिषिध्यते देशादिभेदेनानयो: सतो: प्रतिषेधायोगात्। तस्माच्चैत्रस्य कुण्डलसयोग· प्रतिषिध्यते। तथा 'चैत्र: कुण्डली' इत्यनेनापि विधिवाक्येन चैत्रकुण्डलयोर्नान्यतरस्य विधान तयो: सिद्धत्वात्। पारिशेष्यात्सयोगस्यैव विधिर्विज्ञायते।" [-न्यायवा० पृ० २१८-२२२]

किञ्च, "कुण्डली देवदत्त:" यह देवदत्त कुण्डलयुक्त है इत्यादि जो प्रतीति हुआ करती है इसमे कौन कारण है यह कहना चाहिये ? केवल देवदत्त पुरुष या केवल कुण्डल [कान के आभूषण] तो कारण हो नही सकते। क्योकि ये कारण होते तो सर्वदा [देवदत्त और कुण्डल के अलग अलग रहने पर उस अकेले देवदत्तादि मे भी] उक्त प्रतीति के सद्भाव का प्रसग आता है।

दूसरी बात यह है कि किसी पुरुष द्वारा कही पर जो कुछ उपलब्ध होता है उसी उपलब्ध वस्तु का अन्य स्थान पर विधि या निषेध होता हुआ देखा जाता है। यदि सयोग कभी कदाचित् उपलब्ध नही हुआ है तो यह चैत्र कुण्डल वाला नही है अथवा यह कुण्डल वाला है इत्यादि विभागरूप से व्यवहार किसप्रकार होगा ? चैत्र कुण्डल वाला नही है इत्यादि व्यवहार मे न कुण्डल का निषेध किया गया है, और न चैत्र का निषेध किया गया है, क्योकि कुण्डल और चैत्र अपने अपने स्थान पर मौजूद ही है, उनका निषेध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता, इसलिये "चैत्र कुण्डल वाला नही है" इत्यादि प्रतीति मे चैत्र का कुण्डल के साथ होने वाला जो सयोग है उसका निषेध करते हैं। इसीप्रकार "चैत्र कुण्डल वाला है" इत्यादि विधि वाक्य द्वारा न चैत्र की विधि होती है और न कुण्डल की विधि होती है, क्योकि यदि अकेले चैत्रादि की विधि होती तो कुण्डल रहित चैत्र मे या चैत्र रहित कुण्डल में भी ऐसी विधि होती। अत: परिशेष न्याय से प्रमाणभूत सिद्ध होता है कि "चैत्र कुण्डल वाला है" इत्यादि वाक्य द्वारा सयोग का ही कथन होता है-सयोग का ही प्रतिभास होता है।

इत्यप्युद्द्योतकरस्य मनोरथमात्रम्; तथाहि–यत्तावदुक्तम्–निर्विशिष्टत्वाद्वीजादयः सर्वदैवाङ्कुरं कुर्यु, तदयुक्तम्, तेषा निर्विशिष्टत्वासिद्धे, सकलभावानां परिणामित्वात्। ततो विशिष्टपरिणामापन्नानामेव तेषा जनकत्व नान्यथा।

यच्चोक्तम्–'सर्वदा कार्यानारम्भात्' इत्यादि; तत्रापि कारणमात्रसापेक्षत्वसाधने सिद्धसाध्यतां, अस्माभिरपि विशिष्टपरिणामापेक्षाणा तेषा कार्यकारित्वाभ्युपगमात्। अथाभिमतसयोगाख्यपदार्थान्तरसापेक्षत्व साध्यते; तदानेन हेतोरन्वयासिद्धेरनैकान्तिकता, तमन्तरेणापि सभवाविरोधात्। दृष्टा-

---

जैन–यह उद्योतकर ग्रन्थकार का कथन मनोरथ मात्र है। सबसे प्रथम जो कहा कि गेहू आदि बीज सदा निर्विशिष्ट रहते हैं तो हमेशा ही अकुर आदि कार्यों को करेंगे इत्यादि, सो यह कथन गलत है, गेहू आदि बीजो की निर्विशिष्टता असिद्ध है, क्योंकि हमारे यहां संपूर्ण पदार्थों को परिणमन युक्त माना है। अत. विशिष्ट परिणाम युक्त ही गेहू आदि बीज अंकुरादि कार्यों को उत्पन्न करते हैं अन्यथा नही करते ऐसा सिद्ध होता है।

और भी जो कहा कि कार्य का अनारभ देखकर कारणान्तर की अपेक्षा सिद्ध होती है, इत्यादि, सो उस अनुमान द्वारा यदि आप कारण मात्र की अपेक्षा सिद्ध करते हैं तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि हम जैन भी विशिष्ट परिणाम की अपेक्षा लेकर गेहू आदि बीज अकुरादि कार्यों को करते है ऐसा मानते है। और यदि आप वैशेषिक अपने इष्ट सयोग नामा पदार्थान्तर की अपेक्षा अकुरादि कार्य की उत्पत्ति मे हुआ करती है ऐसा उस अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहते है तब हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव सिद्ध नही होने से, अनैकान्तिक दोष आता है। अर्थात्–सयोग पृथक् पदार्थ है [साध्य] क्योंकि यह पृथक् पदार्थ नही होता तो बीजादिक निर्विशिष्ट होकर सदा ही अकुरादि कार्य को करते किन्तु सदा कार्य नही होता अतः सयोगरूप कारण की अपेक्षा से अकुरादि कार्य होता है ऐसा सिद्ध होता है, [हेतु] सो इस अनुमान का हेतु साध्य के बिना भी रहता है। उक्त अनुमान मे जो दृष्टांत दिया था कि–जिसप्रकार घट के करने मे मिट्टी, दण्ड आदि पदार्थ कुम्भकार के सयोगरूप कारण की अपेक्षा रखते है उसप्रकार गेहू आदि बीज अकुर की उत्पत्ति मे सयोगरूप कारण की अपेक्षा रखते हैं, यह दृष्टात साध्य से रहित है, क्योंकि यद्यपि मिट्टी आदिक घट के करने मे कुंभकार

न्तस्य च साध्यविकलता । यदि च सयोगमात्रसापेक्षा एव ते तज्जनकाः; तर्हि प्रथमोपनिपाते एव क्षित्यादिभ्योऽङ्कुरादिकार्योदयप्रसङ्गः पश्चादिवाविकलकारणत्वात् । तदा तदनुत्पत्तौ वा पश्चादप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गो विशेषाभावात् ।

यदप्युक्तम्-द्रव्ययोर्विशेषणभावेनेत्यादि; तदप्ययुक्तम्; यतो न द्रव्याभ्यामर्थान्तरभूतः संयोगः प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षे प्रतिभाति यतस्तद्दर्शनाद्विशिष्टे द्रव्ये आहरेत् । किं तर्हि ? प्रागभाविसान्तरावस्थापरित्यागेन निरन्तरावस्थारूपतयोत्पन्ने वस्तुनी एव संयुक्तशब्दवाच्ये, अवस्थाविशेषे प्रभावितत्वात् सयोगशब्दस्य । तेन यत्र तथाविधे वस्तुनी सयोगशब्दविषयभावापन्ने पश्यति ते एवाहरति, नान्ये ।

यदप्युक्तम्-कुण्डलीत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्; यतो यथैव हि चैत्रकुण्डलयोर्विशिष्टावस्थाप्राप्तिः सयोगः सर्वदा न भवति, तद्वत् 'कुण्डली' इति मतिरप्यवस्थाविशेषनिबन्धना कथ तदभावे भवेत् ?

की अपेक्षा रखते है किन्तु वह कुभकार संयोगस्वरूप नही है । यदि गेहूं आदि बीज संयोगमात्र की अपेक्षा लेकर ही अकुरादिकार्य को उत्पन्न करने वाले माने जांय तो सयोग के प्रथम क्षण मे ही पृथिवी आदि से अंकुरादिकार्य होने का प्रसग आता है, क्योकि जैसे पीछे सयोगरूप अविकल कारण मौजूद है वैसे प्रथम क्षण मे भी मौजूद है । यदि प्रथम क्षण मे वह कार्य उत्पन्न नहीं होता तो पीछे भी उत्पन्न नही होने का प्रसंग होगा, क्योकि सयोगरूप कारण समानरूप है ।

वैशेषिक ने कहा कि दो द्रव्यो के विशेषण भाव से संयोग तो साक्षात् प्रतीत होता है, इत्यादि वह भी अयुक्त है, क्योकि दो द्रव्यो से पृथग्भूत संयोग किसी प्रतिपत्ता पुरुष के प्रत्यक्ष ज्ञान मे प्रतिभासित नही होता, जिससे कि वह पुरुष उस सयोग को देखकर सयोगयुक्त द्रव्यों को उठा लेवे । प्रश्न–तो फिर क्या है ? उत्तर–पहले की अतरालरूप अवस्था को छोड़ निरंतराल–मिली हुई अवस्थारूप से उत्पन्न हुई दो वस्तु ही सयुक्त शब्द का वाच्य है क्योकि अवस्था विशेष मे सयोग शब्द की प्रवृत्ति होती है । अतः सयोग शब्द द्वारा जो कहे जाते हैं ऐसे निरंतरालरूप अवस्था वाले दो पदार्थो को देखता है और उन्ही को ले आता है अन्य को नही ।

"कुण्डली देवदत्त." इत्यादि जो ज्ञान होता है उसका कारण संयोग है ऐसा वैशेषिक का मतव्य है किन्तु वह असत् है, देवदत्त और कुण्डल या चैत्र और कुण्डल इन दो पदार्थो का विशिष्ट अवस्था की प्राप्ति होना रूप संयोग जैसे सर्वदा नही होता

विधिप्रतिषेधावपि न केवलयोश्चैत्रकुण्डलयो', किन्त्ववस्थाविशेपस्यैवेत्युक्तदोषानवकाश'। ततो ये अनेकवस्तुसन्निपाते सत्युपजायन्ते प्रत्यया न ते परपरिकल्पितसयोगविपया: यथा प्रविरलावस्थितानेकतन्तुविषयाः प्रत्यया, तथा चैते सयुक्तप्रत्यया इति।

यच्चान्यदुक्तम्–'विशेपविरुद्धानुमान सकलानुमानोच्छेदकत्वान्न वक्तव्यमिति; तत्किमनुमानाभासोच्छेदकत्वान्न वाच्यम्, सम्यगनुमानोच्छेदकत्वाद्वा ? तत्राद्य' पक्षोऽयुक्त; न हि कालात्ययापदिष्टहेतूत्थानुमानोच्छेदकस्य प्रत्यक्षादेरनुमानवादिनोपन्यासो न कर्तव्योऽतिप्रसक्ते। द्वितीयपक्षोप्ययुक्त',

---

[अर्थात् देवदत्त हमेशा कुण्डल को पहने ही नही रहता, बिना कुण्डल के भी रहता है] वैसे ही "कुण्डलवाला है' इसप्रकार का ज्ञान भी हमेशा नही होकर संयुक्त अवस्था विशेष के होने पर ही होता है इसलिये उक्त ज्ञान सयुक्त अवस्था के अभाव मे किस प्रकार होवेगा ? चैत्र और कुण्डल के विधि–निपेध की बात कही थी, अर्थात्–चैत्र कुण्डली, चैत्र' अकुण्डली, चैत्र कुण्डल वाला है, अथवा चैत्र कुण्डलवाला नही है इत्यादि विधि निषेधरूप वाक्य मे केवल चैत्र या केवल कुण्डल का विधि निषेध नही हुआ करता अपितु अवस्था विशेप का ही विधि निषेध हुआ करता है अतः आपके कहे दोष नही होते है। इसलिये अनुमान द्वारा निश्चित होता है कि–जो प्रतिभास अनेक वस्तुओ के सयुक्त अवस्था विशेष होने पर उत्पन्न होते है वे परवादी–वैशेषिक द्वारा कल्पित सयोग को विषय करने वाले नही होते, जिसप्रकार विकल अवस्था मे अवस्थित अनेक ततुओ को विषय करने वाले [जानने वाले] प्रतिभास सयोग विषयक नही होते, ये विवक्षित संयुक्त प्रतिभास भी अनेक वस्तुओ के सन्निपात मे होते हैं, अत. परकल्पित सयोग विषयक नही हैं।

वैशेषिक के समवायविषयक अनुमान का निरसन करने के लिये जैन ने कहा था कि–विवाद मे स्थित "इह इति ज्ञान" समवायपूर्वक नही होता, क्योकि यह अबाधित इह प्रत्ययवाला है, इत्यादि इस अनुमान से समवाय का खण्डन हो चुकता है अत "अयुत सिद्धाना इत्यादि अनुमान वाक्य विशेष विरुद्ध नामा अनुमानाभास बन जाता है" इस जैन के कथन पर वैशेषिक ने कहा था कि इसतरह विशेषविरुद्ध अनुमान को बाधा देगे तो जगत्प्रसिद्ध सकल अनुमान नष्ट होगे ? अत ऐसा अनुमान नही कहना चाहिये। अब हम जैन आपसे पूछते है कि ऐसा अनुमान अनुमानाभास को बाधित करता है इसलिये नही कहना, कि–सत्य अनुमान को नष्ट करता है इसलिये नही

न हि धूमादिसम्यगनुमानस्य विशेषविरुद्धानुमानसहस्रेणापि प्रत्यक्षादिभिरपहृतविषयेण बाधा विधातुं पार्यते। न च विशेषविरुद्धानुमानत्वादेवेदमवाच्यम्; यतो न विशेषविरुद्धानुमानत्वमसिद्धत्वादिवद्धेत्वाभासनिरूपणप्रकरणे दोषो निरूपितो येनानुमानवादिभिस्तदसिद्धत्वादिवन्न प्रयुज्यते। ततो यद्दुष्टमनुमानं तदेव विशेषविघाताय न प्रयोक्तव्यम्–यथा 'अयं प्रदेशोऽत्रत्येनाग्निनाग्निमान्न भवति

कहना ? प्रथम पक्ष अयुक्त है–क्योंकि कालात्ययपदिष्ट हेतु से [प्रत्यक्ष बाधित हेतु से] उत्पन्न हुए अनुमान का खडन करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण का अनुमान वादी द्वारा उपन्यास प्रयोग नही करने का अतिप्रसंग आता है। अतः ऐसा नही कहना चाहिए।

भावार्थ—वैशेषिक का समवाय को सिद्ध करनेवाला अनुमान जैन के अनुमान द्वारा बाधित होता था तब वैशेषिक ने कहा कि हमारे अनुमान को विशेष विरुद्ध अनुमान है, इत्यादि रूप बाधा देगे तो जगत के धूम अग्नि सम्बन्धी सकल अनुमान गलत ठहरेंगे। तब जैनाचार्य ने कहा कि इसतरह सदोष अनुमान को सदोष न बताया जाय तो बहुत ही बडा अनर्थ होगा, प्रत्यक्ष प्रमाण से जिसमे बाधा आ रही है उसे यदि दोष युक्त नही बतावे तो क्या प्रत्यक्ष को दोष युक्त बतावे ? सदोष को दोषी नही कहे तो क्या निर्दोष को दोषी कहे ? अर्थात् सदोष को ही सदोष कहना होगा न कि निर्दोष को। इसप्रकार अनुमानाभास का उच्छेद [नाश] करने वाला अनुमान नही कहना ऐसा वैशेषिक का पक्ष असत् है।

सम्यक्–सत्य अनुमान का उच्छेद करनेवाला जैन का अनुमान प्रयोग है अतः हमारे समवाय विषयक अनुमान को विशेषविरुद्धानुमान ठहराने वाले इस अनुमान को नही कहना, इसतरह दूसरा पक्ष कहो तो भी अयुक्त है। धूमादि हेतु वाले सत्य अनुमान हजारो विशेषविरुद्ध अनुमान जो कि प्रत्यक्षादि से खण्डित विषय वाले है उनसे बाधित नही हो सकते। अर्थात् अनुमानाभासो द्वारा सत्य अनुमान का निरसन नही किया जा सकता। तथा समवाय को खण्डित करने वाला अनुमान विशेषविरुद्धानुमान है अतः उसे नही कहना ऐसा वैशेषिक ने कहा वह असत् है, क्योंकि विशेष विरुद्धानुमान असिद्ध आदि हेत्वाभासो के समान सदोष होता है ऐसा हेत्वाभासो का प्रतिपादन करने वाले प्रकरण मे निरूपण नही किया है [अर्थात् विशेषविरुद्धानुमान नामका दोष है ऐसा नही बताया है] जिससे कि अनुमान प्रमाणवादी जैनादि लोग असिद्धादि के समान उसका

धूमवत्त्वान्महानसवत्' इत्यादिकम्। यतस्तेन यो विशेषो निराक्रियते स प्रत्यक्षेणैव तद्देशोपसर्पणे सति प्रतीयते। न चैतत् समवाये सभवति, प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेनास्य प्रतिपादितत्वात्। न चातद्विषय बाधकमतिप्रसङ्गात्।

यत्पुनरुक्तम्–न चास्य संयोगवन्नानात्वमित्यादि, तदप्यसमीचीनम्, तदेकत्वस्यानुमानबाधितत्वात्। तथाहि–अनेक· समवायो विभिन्नदेशकालाकारार्थेषु सम्बन्धबुद्धिहेतुत्वात्। यो य इत्थभूत. स सोनेक· यथा सयोगः, तथा च समवाय·, तस्मादनेक इति। प्रसिद्धो हि दण्डपुरुषसयोगात् कटकुड्यादि-

---

प्रयोग करे। इसलिये जो दुष्ट–सदोष अनुमान है उसीको विशेषविघात के लिये नही कहना चाहिये, जैसे यह प्रदेश यहा के अग्नि द्वारा अग्निमान नही होता, क्योकि धूम वाला है, जिसतरह रसोई घर यहां के अग्नि से अग्निमान नही होता। इसप्रकार के अनुमान ही विशेपविघातक होने से कहने योग्य नही हुआ करते। क्योकि ऐसे अनुमान द्वारा जो विशेष निराकृत किया जाता है वह उस अग्नि के स्थान पर जाने से साक्षात्–प्रत्यक्ष द्वारा ही प्रतीत होता है किन्तु समवाय में यह सम्भव नही अर्थात् जिस तरह अग्नि का साक्षात्कार हुआ और विशेष विघातक अनुमान असत्य हुआ उस तरह समवाय मे नही हो सकता, क्योकि समवाय प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से जानने मे नही आता, इस बात का पहले प्रतिपादन कर आये है। जब समवाय किसी प्रमाण के गोचर ही नही तब बाधक कैसे हो सकता है, नातद् विषय बाधक नाम–जिसका जो विषय नही होता उसका वह बाधक भी नही होता, यदि माना जाय तो अतिप्रसग होगा–फिर आकाश पुष्प भी बाधक बन सकेगा।

समवाय का वर्णन करते हुए कहा था कि–सयोग के समान समवाय नानारूप नही होता इत्यादि, वह कथन असमीचीन है, समवाय सबध को एक रूप मानना अनुमान से बाधित होता है, अब उसी बाधक अनुमान को उपस्थित करते है–समवाय अनेक होते है, क्योकि वे भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकार वाले पदार्थो मे सबध ज्ञान के हेतु हैं, [सबध ज्ञान को उत्पन्न कराते है] जो जो संबध इसतरह विभिन्न देशादिवर्ती पदार्थो मे सम्बन्धबुद्धि को कराता है वह वह अनेकरूप ही होता है, जैसे संयोग अनेक है, समवाय भी सयोग के समान नानादेशादि मे सम्बन्ध प्रतिभास का हेतु है अत. अवश्यमेव अनेक है। प्रसिद्ध बात है कि दण्ड और पुरुप के सयोग से चटाई

सयोगस्य भेदः । 'निविडः सयोगः शिथिलः सयोगः' इति प्रत्ययभेदात्सयोगस्य भेदाभ्युपगमे 'नित्य समवायः कदाचित्समवायः' इति प्रत्ययभेदात्समवायस्यापि भेदोस्तु । समवायिनोर्नित्यकादाचित्कत्वाभ्या समवाये तत्प्रत्ययोत्पत्तौ सयोगिनोर्निबिडत्वशिथिलत्वाभ्या सयोगे तथा प्रत्ययोत्पत्तिः स्यान्न पुनः सयोगस्य निबिडत्वादिस्वभावभेदात्, इत्येक सधित्सोरन्यत् प्रच्यवते ।

तथा, 'नाना समवायोऽयुतसिद्धावयविद्रव्याश्रितत्वात् सख्यावत्' इत्यतोप्यस्यानेकत्वसिद्धिः ।

दिवाल आदि का सयोग भिन्न है । ऐसे ऐसे अनगिनती सयोग देखने में आते है–पुस्तक चौकी, स्लेट पेन्सिल, दवात कलम, कुण्डा बेर इत्यादि पदार्थों के सयोग भिन्न भिन्न है, इसीतरह समवाय भी भिन्न भिन्न अनेक सिद्ध होते है । कोई कहे कि–सयोग के अनेक प्रकार इसलिये होते है कि यह घनिष्ट सयोग है, यह सयोग शिथिल है–विरल है इत्यादि भिन्न भिन्न प्रतिभास होने के कारण सयोग नानारूप सिद्ध होते है । तो नित्य समवाय है, कदाचित् होने वाला समवाय है इत्यादि भिन्न भिन्न प्रतिभास होने से समवाय मे भी भेद मानना चाहिये ।

शंका—समवायी पदार्थो के निमित्त से नित्य इत्यादि प्रतिभास की उत्पत्ति हुआ करती है, अर्थात् नित्य समवायी दो द्रव्य नित्यरूप से समवाय की प्रतीति कराते है और अनित्य–कादाचित्क सम्बन्ध वाले दो द्रव्य कदाचित्रूप से समवाय की प्रतीति कराते है किन्तु समवाय स्वय भिन्न भिन्न नही है ?

समाधान—तो फिर सयोग भी सयोगी द्रव्यो के निबिड और शिथिलपने के कारण ही नाना प्रतिभासो को कराता है, सयोग स्वय निबिडादि स्वभाव भेद से नाना प्रतिभास नही कराता ऐसा मानना होगा । इसतरह आप समवाय को एक सिद्ध करना चाहते हैं तो सयोग भी एकरूप सिद्ध हो जाता है, एक को सुधारने चले तो अन्य का विगाड हुआ, एक को जोडने चले तो दूसरा छिन्न हुआ, कुए से बचने चले तो खाई मे आ गिरे, इसतरह की आप वैशेषिक की दशा हुई ।

समवाय को नानारूप सिद्ध करने वाला और भी अनुमान है समवाय अनेक है, क्योंकि अयुतसिद्ध अवयवी द्रव्यो के आश्रयो मे रहते है, जिस तरह सख्या अनेक आश्रयो मे रहने से अनेक हैं । इस अनुमान प्रमाण द्वारा भी समवाय अनेक रूप सिद्ध

न चेदमसिद्धम्; अनाश्रितत्वे हि समवायस्य "षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य" [प्रश० भा० पृ. १६] इत्यस्य विरोधः। अथ न परमार्थतः समवायस्याश्रितत्व नाम धर्मो येनानेकत्व स्यात् किन्तूपचारात्। निमित्त तूपचारस्य समवायिषु सत्सु समवायज्ञानम्। तत्त्वतो ह्याश्रितत्वेस्य स्वाश्रयविनाशे विनाशप्रसगो गुणादिवत्; इत्यप्ययुक्तम्, विशेषपरित्यागेनाश्रितत्वसामान्यस्य हेतुत्वात्, दिगादीनामाश्रितत्वापत्तेश्च, मूर्त्तद्रव्येषूपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु दिग्लिङ्गस्य 'इदमत पूर्वेण' इत्यादिप्रत्ययस्य काललिङ्गस्य च परत्वापरत्वादिप्रत्ययस्य सद्भावात्। तथा च 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' इति विरुध्यते। सामान्यस्यानाश्रितत्वप्रसङ्गश्च, आश्रयविनाशेप्यविनाशात् समवायवत्।

होता है, अयुतसिद्ध अवयवी द्रव्य द्रव्याश्रितत्व हेतु असिद्ध भी नही है, क्योकि यदि समवाय को अनाश्रित बतायेगे तो "षण्णामाश्रितत्व मन्यत्र नित्य द्रव्येभ्य." नित्य द्रव्यो को छोड़कर छह द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थो के आश्रितपना है इत्यादि आपके ग्रन्थ से ही सिद्ध होता है कि समवाय अनाश्रित नही आश्रित ही है। अत यहा समवाय को अनाश्रित बताना सिद्धात से विरुद्ध होता है।

वैशेषिक—सिद्धात मे समवाय का आश्रितपना कहा है वह मात्र उपचार से कहा है, परमार्थ से देखा जाय तो समवाय का स्वभाव आश्रित नही है, अत. समवाय को अनेकरूप मानना ठीक नही, समवाय को उपचार से नानारूप बताने का कारण तो यह है कि–समवायी द्रव्यो के होने पर "समवाय है" ऐसा समवाय का प्रतिभास होता है। यदि समवाय के वास्तविक आश्रितपना माने तो स्वआश्रय के नष्ट होने पर समवाय के विनाश का प्रसग आयेगा। जैसे गुण आश्रय के नष्ट होने पर नष्ट होते हैं ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, विशेष का परित्याग करके आश्रितत्व सामान्य को हेतु मानने पर उक्त दोष नही आता। अभिप्राय यह है कि गुण गुणी के आश्रित है, अवयव अवयवी के आश्रित है इत्यादि विशेष नियम न करके आश्रितत्व सामान्य को स्वीकारते है तो आश्रय के नष्ट होने पर भी आश्रितत्व सामान्य का नाश नही होता क्योकि सामान्य नित्य होता है। तथा 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य' नित्य द्रव्यो को छोड़कर अन्य द्रव्य, गुण, कर्मादि मे आश्रितपना होता है ऐसा वैशेषिक ने कहा था वह विरुद्ध है, दिशा आदि नित्य द्रव्यो मे भी आश्रितपना पाया जाता है, अब यही बताते हैं–उपलब्ध होने योग्य मूर्त्तद्रव्यो मे ही दिशा का लिंग प्रतीति मे आता है कि "यह यहा से पूर्व दिशा मे है" तथा परत्व–अपरत्वादि काल द्रव्य का लिंग [लक्षण या चिह्न विशेष]

अस्तु वानाश्रितत्वं समवायस्य, तथाप्यनेकत्वमनिवार्यम्, तथाहि-अनेक समवायोऽनाश्रितत्वात्परमाणुवत् । नाकाशादिभिर्व्यभिचार ; तेषामपि कथंचिन्नानात्वसाधनात् । ततोऽयुक्तमुक्तम्-'इहेति प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैकः समवाय.' इति । विशेषलिङ्गाभात्रस्यानन्तरप्रतिपादितलिङ्गसद्भावतोऽसिद्धत्वात् । इहेति प्रत्ययाविशेषोप्यसिद्धः; 'इहात्मनि ज्ञानमिह पटे रूपादिकम्' इतीहेति प्रत्ययस्य विशेषात् । विशेषणानुरागो हि प्रत्ययस्य विशिष्टत्वम् । न चानुगतप्रत्ययप्रतीतितः

-भी मूर्त्तद्रव्यो के आश्रयपने से प्रसिद्ध है अतः नित्य द्रव्य को छोड़कर अन्य द्रव्य आश्रित हैं ऐसा कहना भी बाधित होता है, आपने कहा था कि समवाय को आश्रित मानेंगे तो आश्रय के नष्ट होने पर वह भी नष्ट होवेगा, सो यह दोष सामान्य में भी होगा—सामान्य को भी यदि आश्रित मानते है तो स्वाश्रय के नष्ट होने पर सामान्य के नाश का प्रसग आता है अतः समवाय के समान सामान्य को भी आश्रय रहित मानने का अतिप्रसग आता है ।

वैशेषिक के आग्रह से मान लेवे कि समवाय के आश्रितपना नही है, अनाश्रित है, तो भी उसे अनेकरूप तो अवश्य मानना होगा । आगे इसी को स्पष्ट करते है—समवाय अनेक है, क्योकि वह अनाश्रित होता है, जैसे परमाणु अनाश्रित होने से अनेक है । इस अनाश्रितत्व हेतु का आकाशादि के साथ व्यभिचार भी नही आता, क्योकि हम जैन ने आकाश आदि को भी कथञ्चित्—प्रदेश भेद की अपेक्षा नाना—अनेकरूप सिद्ध किया है । इसप्रकार समवाय मे अनेकपना सिद्ध हुआ । समवाय जब अनेक है तब आपका पूर्वोक्त कथन गलत ठहरता है कि—इहेद प्रत्यय की अविशेषता के कारण और विशेष लिग का अभाव होने से समवाय एक है, इत्यादि, विशेष लिग का अभाव है नही सद्भाव है, अभी हमने बताया था कि नित्यरूप समवाय है "कदाचित् स्वभावरूप समवाय है" इत्यादि प्रतीतिरूप उस समवाय का विशेष लिग हुआ ही करता है, अतः विशेष लिंग का अभाव असिद्ध है । "इह" इसप्रकार का प्रत्यय सर्वत्र अविशेष [समान] ही है ऐसा कहा वह भी गलत है, "इह आत्मनि ज्ञान, पटे रूपादिकं" यहा आत्मा में ज्ञान है, यहा वस्त्र मे रूपादिक है, इत्यादि इह प्रत्यय विशेष प्रतीतिरूप ही है । भिन्न भिन्न विशेपण युक्त होना ही प्रतीति का विशिष्टपना कहलाता है । अनुगतप्रत्यय की प्रतीति होने से समवाय मे एकत्व है ऐसा भी सिद्ध नही होता । गोत्व, घटत्व इत्यादि सामान्यो मे और द्रव्यादि छहो पदार्थो मे अनुगत के एकत्व का अभाव होने पर अनुगत

समवायस्यैकत्वं सिध्यति, गोत्वादिसामान्येषु षट्पदार्थेषु चानुगतस्यैकत्वस्याभावेप्यनुगतप्रत्यय-प्रतीतेः।

'सत्तावत्' इति दृष्टान्तोपि साध्यसाधनविकल; सर्वथैकत्वस्य सत्प्रत्ययाविशेषस्य चासिद्धत्वात्। सर्वथैकत्वे हि सत्ताया. 'पटः सन्' इति प्रत्ययोत्पत्तौ सर्वथा सत्तायाः प्रतीत्यनुषङ्गात् क्वचित् सत्तासंदेहो न स्यात्। तस्याः सर्वथा प्रतीतावपि तद्विशेष्यार्थानामप्रतीते क्वचित्सत्तासदेहे पटविशेषणत्वम् तस्या अन्यदन्यदर्थान्तरविशेषणत्वम् इत्यायातमनेकरूपत्व तस्या.।

प्रत्यय की प्रतीति होती है। अर्थात् घटो मे घटत्वरूप होने वाला अनुगत प्रत्यय और गायो मे गोत्वरूप होने वाला अनुगतप्रत्यय भिन्न भिन्न है, एकरूप नही तो भी अनुगत की इनमे प्रतीति होती है, इसीतरह समवाय अनुगत प्रत्यय कराता है तो भी अनेक है। इसप्रकार अनुगत प्रत्यय का कारण होने से समवाय एक पदार्थ है ऐसा कहना अशक्य है।

जिसतरह सत्ता एक होती है उसतरह समवाय की सख्या एक है, ऐसा दृष्टात दिया था वह साध्य और साधन दोनो से विकल है, क्योकि सत्ता और सत्प्रत्यय सर्वथा एकरूप हो ऐसा सिद्ध नही होता, यदि सत्ता सर्वथा एक है तो "पटः सन्" पट सत् है ऐसा प्रतिभास उत्पन्न होते ही सब प्रकार की सत्ता प्रतीति मे आने से किसी स्थान पर भी सत्ता [अस्तित्व] का संशय नही रहेगा। [एक की सत्ता जानते ही सबकी सत्ता निश्चित होवेगी और फिर किसी पदार्थ के अस्तित्व मे सशय नही रहेगा कि अमुक पदार्थ है या नही इत्यादि]।

वैशेषिक—सत्ता एक होने से एकत्र प्रतीत होने पर सब प्रकार की सत्ता तो प्रतीत हो जाती है किन्तु सत्ता के विशेष्यभूत पदार्थों के प्रतीत नही होने से कही पर सत्ता के विषय मे संदेह हो जाया करता है?

जैन—ठीक है, इसतरह प्रतिपादन करे तो भी सत्ता या सत्ता के समान समवाय इन दोनो मे अनेकपना ही सिद्ध होता है, "पटः सन्" वस्त्र सत् है इसप्रकार का सत्ता का जो पट सबंधी विशेषण है वह अन्य है और अन्य घट आदि पदार्थ सबधी विशेषण हैं वे अन्य हैं इसतरह अनेक विशेषणो के निमित्त से उस सत्ता के अनेकपना ही सिद्ध होता है।

यदप्युक्तम्-समवायीनि द्रव्याणीत्यादिप्रत्ययो विशेषणपूर्वको विशेष्यप्रत्ययत्वादित्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्; हेतोर्विशेषणासिद्धत्वात्। तदसिद्धत्व च समवायानुरागस्याप्रतीतेः। प्रतीतौ वानुमानानर्थक्यम्। को हि नाम समवायानुरक्तं द्रव्यादिकं मन्यमानः समवायं न मन्येत? तदनुरागाभावेपि तेनास्य विशेष्यत्वे खरश्रृङ्गेणापि तस्स्यादविशेषात्। ननु सम्बन्धानुरक्तं द्रव्यादिकं प्रतिभाति। सत्य प्रतिभाति, समवाये तु किमायातम्? न च स एव स इति वाच्यम्; तादात्म्यादपि

समवाय सिद्धि में कहा था कि "समवायीनि द्रव्याणि" द्रव्य समवायी होते हैं इत्यादि प्रत्यय विशेषण पूर्वक होता है, क्योकि विशेष्य प्रत्ययरूप है, इत्यादि वर्णन तो अज्ञान का विलास मात्र है। इस अनुमान का हेतु असिद्ध विशेषण वाला है, क्योंकि समवायरूप संबंध या अनुराग [उपाधि या विशेषण] की प्रतीति नही होती, अभिप्राय यह है कि "द्रव्य समवायी है" ऐसा द्रव्य का समवायीपना तब प्रतीत होता जब कि समवायरूप विशेषण सिद्ध होता, जैसे कि देवदत्त दण्डी या दण्डा वाला है ऐसा प्रत्यय दण्ड प्रतीत होने पर ही होता है, इसतरह द्रव्य समवायी-समवाय वाला है ऐसा प्रत्यय और कथन तभी शक्य होता जब समवाय का प्रतिभास होता। समवाय साक्षात् ज्ञान मे प्रतीत होता है तो उसको सिद्ध करने वाला अनुमान व्यर्थ होगा। कौन ऐसा व्यक्ति है कि जो समवाय से युक्त द्रव्यादि को मानता हुआ समवाय को नही माने। अतः कहना होगा कि समवायरूप अनुराग की प्रतीति ही नही होती, अब यदि समवायरूप उपाधि के अभाव में भी उसे द्रव्यरूप विशेष्य का विशेषण बनायेगे तो खर शृंग के साथ भी उसे जोड सकते हैं, कोई विशेषता नही क्योकि जैसा खर शृंग अभावरूप है वैसे समवाय अभावरूप है।

वैशेषिक—संबध से अनुरक्त अर्थात् सहित ही द्रव्यादि पदार्थ प्रतिभासित हुआ करते हैं।

जैन—सत्य है कि संबध युक्त द्रव्यादि प्रतीत होते हैं किन्तु उससे समवाय में क्या आया! [समवाय कैसे सिद्ध हुआ]।

वैशेषिक—सबंध युक्त द्रव्य प्रतीत होते है उनमें जो संबंध है वही तो समवाय कहलाता है।

तत्संभवात् संयोगवत् । तथाप्यत्रैवाग्रहे खरविषाणेप्याग्रहः किन्न स्यात् ? 'खरविषाणी पट इति प्रत्ययो विशेषणपूर्वको विशेष्यप्रत्ययत्वात्' इति । अत्राश्रयासिद्धतान्यत्रापि समाना । न खलु 'समवायी पटः' इति प्रत्ययः केनाप्यनुभूयते ।

अथाप्रतिपन्नसमयस्य सश्लेषमात्रं प्रतिपन्नसमयस्य तु 'समवायी' इति प्रतिभातीति चेत्; न; ज्ञानाद्वयादे प्रसङ्गात् । शक्यते हि तत्राप्येव वक्तुम्-अप्रतिपन्नसमयस्य वस्तुमात्रमभिधानयोजनारहितं प्रतिभाति, सकेतवशाच्चैतत्सर्वं ज्ञानाद्वयादि । स्वशास्त्रजनितसस्कारवशाद्विज्ञानाद्वयादिप्रतिभासोऽप्र-

---

जैन—ऐसा नही कह सकते सबध से अनुरक्त पदार्थ तो तादात्म्य के कारण भी प्रतीत हो सकते है, जिस तरह संयोग के कारण सबंध से अनुरक्त पदार्थ प्रतीत होते हैं । जब सबंध से युक्त पदार्थ का प्रतीत होना तादात्म्यादि के कारण भी सम्भव है तो इसी समवाय के लिये आग्रह क्यो किया जा रहा ? अन्यथा खर विषाण मे भी आग्रह क्यो न किया जाय ? ऐसा कह सकते है कि–खर विषाणी [गधे के सीग युक्त] पट है "इसतरह का प्रत्यय विशेषणपूर्वक होता है, क्योकि विशेष्य प्रत्ययरूप है इत्यादि । कोई कहे कि खर विषाणी पट है इत्यादि अनुमान का विशेष्य प्रत्ययत्वात् हेतु आश्रयासिद्ध है [इसका आश्रय खर विषाण नही है] सो यही बात समवाय मे है, समवाय नामा पदार्थ भी गधे के सीग के समान असिद्ध है, "पट समवायी है" ऐसा प्रत्यय भी किसी भी पुरुष द्वारा अनुभव मे नही आता । इसप्रकार समवाय किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्ध नही होता है ।

वैशेषिक—जैन ने कहा कि "समवायी द्रव्य है" इसतरह का प्रतिभास किसी को नही होता, उसमे बात ऐसी है कि जिस पुरुष ने सकेत को नही जाना है उसे तो समवायी–समवाय युक्त द्रव्य मे मात्र सबध है, मिला हुआ पदार्थ है, इतना ही प्रतिभास होता है किन्तु जिस पुरुष ने सकेत समझा है उसे तो "समवायी द्रव्य है" ऐसा ही प्रतिभास होता है । अर्थ यह हुआ कि जिस पुरुष को समवाय और समवायी द्रव्य का विशेषण–विशेष्यभाव, एव समवाय पदार्थ और समवाय शब्द इनका परस्पर का वाच्य–वाचक भाव समझाया है वह पुरुष द्रव्य को देखते ही समवायी है ऐसी प्रतीति कर लेता है, किन्तु इससे विपरीत जिसने इन वाच्य–वाचकादिका ज्ञान नही प्राप्त किया वह सश्लेषमात्र को प्रतीत करता है ।

माणम्; इत्यन्यत्रापि समानम् । न हि तत्रापि स्वशास्त्रसंस्काराद्दते 'समवायी' इति ज्ञानमनुभवत्यन्यजनः । न चैतच्छास्त्रमप्रमाणमेतच्च प्रमाणमिति प्रेक्षावता वक्तुं युक्तमविशेषात् ।

'समवाय इति प्रत्ययेनानैकान्तिकश्चायं हेतुः; स हि विशेष्यप्रत्ययो न च विशेषणमपेक्षते । अथात्र समवायिनो विशेषणम् । नन्वस्तु तेषां विशेषणत्वं यत्र 'समवायिनां समवायः' इति प्रतिभासते,

---

जैन—ऐसा नही कह सकते, इसतरह संकेत को ग्रहण करने मात्र से तत्व व्यवस्था करेंगे तो विज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत आदि मत भी सत्य कहलायेंगे । कोई अद्वैत वादी कह सकता है कि जिसने संकेत को नही जाना उस पुरुष को शब्द की योजना से रहित वस्तुमात्र ही प्रतीत होती है, और जब संकेत हो जाता है तब यह विश्व मात्र विज्ञानरूप प्रतीत होता है ।

वैशेषिक—"विज्ञान मात्र तत्व है" इत्यादि प्रतिभास विज्ञानाद्वैत वादी को होता है वह उनके अपने शास्त्र के संस्कार के कारण से होता है, अत. वह प्रतिभास प्रामाणिक नही कहा जा सकता ।

जैन—यही बात समवाय मे घटित होगी, द्रव्य समवायी है, ऐसा जो प्रतिभास होता है वह आपको ही होता है और उसका कारण अपने शास्त्र का संस्कार मात्र है, अतः ऐसा प्रतिभास प्रमाणभूत नही हो सकता । आपको समवायी द्रव्य है ऐसी प्रतीति होती है वह स्वशास्त्र के संस्कार के बिना नही होती । आप यदि कहे कि हमारे शास्त्र तो प्रमाणभूत हैं अतः उनके संस्कार से होने वाला संकेत पूर्वक समवाय का प्रतिभास सत्य है । तो यह असत् है जब दोनो के शास्त्रो मे समानता है तब बुद्धिमान जन ऐसा नही कह सकते कि यह शास्त्र प्रमाण है, और यह अप्रमाण है । वैशेषिक द्वारा प्रयुक्त विशेष्य प्रत्ययत्वात् हेतु 'समवाय है' इस प्रत्यय से अनैकान्तिक भी होता है । क्योकि वह विशेष्य प्रत्यय विशेषण की अपेक्षा नही करता ।

वैशेषिक—"समवाय है" इस प्रतिभास मे तो समवायी द्रव्य विशेषण भाव को प्राप्त होते हैं ।

जैन—यह तो ठीक है कि जहां "समवायी द्रव्यों का समवाय है" ऐसा प्रतिभास होता हो वहां समवायी द्रव्य विशेषणत्व को प्राप्त होते है, किन्तु जहां "समवाय है" ऐसा इतना मात्र प्रतिभास हो वहां क्या विशेषण होगा यह विचारिये ।

यत्र तु 'समवाय:' इत्येतावाननुभवस्तत्र किं विशेषणमिति चिन्त्यताम् ? अथ विशेषणाभावान्नेद विशेष्यज्ञानम्; तर्ह्यन्यस्य विशेष्यस्यात्रासभवाद्विशेषणज्ञानमपि तन्मा भूत् । न चैतद्युक्तम् । कथं चैव 'पट:' इति प्रत्ययो विशेष्य: स्यात् विशेषणाभावाविशेषात् ? अथात्र पटत्व विशेषणम्, तर्हि 'समवाय.' इति प्रत्यये किं विशेषणम् ? न तावत्समवायत्वम्, अनभ्युपगमात् ।

अथ येन सता विशिष्ट प्रत्ययो जायते तद्विशेषणम्, तत्र 'समवाय:' इति प्रत्ययोत्पादे समवायत्वसामान्यस्यानभ्युपगमात्, द्रव्यादेश्चाप्रतिभासनाददृष्टस्यैव विशेषणत्वमिति, तन्न; यत: किं येन सता

वैशेषिक— "समवाय है" इस तरह का जो ज्ञान होता है उसमे विशेषण का अभाव होने से यह विशेष्य ज्ञान नही है । अर्थात् 'समवाय है' इस ज्ञान मे विशेषण नही होने से विशेष्य प्रत्यय का अभाव है ऐसा मानना चाहिये ।

जैन—तो फिर यहा समवायी प्रकरण मे अन्य विशेष्य का अभाव होने से विशेषण ज्ञान भी मत होवे । अर्थात् विशेषण नही होने से विशेष्य ज्ञान का अभाव कर सकते हैं तो विशेष्य के नही होने से विशेषण [समवाय] के ज्ञान का भी अभाव कर सकते हैं । किन्तु यह अयुक्त है । विशेषण रहित विशेष्य और विशेष्य रहित विशेषण प्रतीत नही होता ऐसा भी नही कहना । यदि ऐसा माने तो "पट है" इस प्रकार का विशेष्य प्रत्यय किसप्रकार हो सकेगा ? क्योकि यहा पर भी समानरूप से विशेषण का अभाव है ?

वैशेषिक—"पट है" इसप्रकार के प्रतिभास में पटत्व को विशेषण मानते है ।

जैन—तो फिर "समवाय है" इस प्रतिभास मे किसको विशेषणपना माना जाय ? समवायत्व को मानना तो शक्य नही, क्योकि आपने समवाय मे समवायत्व नही माना है ।

वैशेषिक—जिसके होने पर या जिसके द्वारा विशिष्ट प्रतिभास होता है वह विशेषण कहलाता है, अब जो "समवाय है" ऐसे प्रत्यय का उत्पाद होता है उसमे प्रथम तो बात यह है कि हम लोग समवाय मे समवायत्व सामान्य को स्वीकार नही करते, तथा दूसरो बात यह है कि उपर्युक्त प्रत्यय मे द्रव्यादिक तो प्रतीत होते नही, अत. इस प्रत्यय मे अदृष्ट को ही विशेषणपना सिद्ध होता है । अर्थात् "समवाय है" इस प्रत्यय का विशेषण अदृष्ट है, ऐसा हमारा कहना है ।

विशेष्यज्ञानमुत्पद्यते तद्विशेषणम्, किं वा यस्यानुरागः प्रतिभासते तदिति ? प्रथमपक्षे चक्षुरालोकादेरपि तदनिवार्यम् । अथ यस्यानुरागस्तद्विशेषणम्; न तर्हि 'दण्डी' इति प्रत्यये दण्डवद्दण्डशब्दोल्लेखेन 'समवायः' इति प्रत्ययेप्यदृष्टस्य तच्छब्दयोजनाद्वारेणानुरागं जनो मन्यते । तथाप्यदृष्टस्य विशेषणत्वकल्पनायाम् 'दण्डी' इत्यादिप्रत्ययेप्यस्यैव तत्कल्पनास्तु किं द्रव्यादेर्विशेषणभावकल्पनया ?

यच्चोक्तम्—स्वकारणसत्तासबन्ध एवात्मलाभ इत्यादि, तन्न, आत्मलाभस्य स्वकारणसत्तासमवायपर्यायताया नित्यत्वप्रसङ्गात्, तन्नित्यत्वे च कार्यस्याविनाशित्व स्यात् ।

जैन—इसतरह नही कह सकते, जिसके होने पर विशेष्य का ज्ञान उत्पन्न होता है उसको विशेषण कहते है, अथवा विशेष्य मे जिसका अनुराग [सबध] प्रतीत होता है उसे विशेषण कहते है ? प्रथम पक्ष कहो तो नेत्र, प्रकाशादि को भी विशेषणपना आयेगा । क्योकि नेत्रादि के मौजूदगी से भी "यह विशेष्य है" ऐसा विशेष्य का ज्ञान होता है । जिसका अनुराग [सबध] प्रतीत होता है वह विशेषण है, ऐसा द्वितीय पक्ष भी ठीक नही, कैसे सो ही बताते है-जिसप्रकार "दण्डावाला है" इस ज्ञान मे दंड शब्द द्वारा उस दण्डवाले पुरुष का दण्ड के साथ होने वाले सबध को सभी लोग मानते है, [अर्थात् देवदत्त दंडवाला है ऐसा दण्ड शब्द द्वारा उल्लेख करते है] उसप्रकार "समवाय है" इस प्रत्यय मे अदृष्ट का "यह अदृष्ट युक्त है अथवा अदृष्ट विशेषण है" इत्यादि शब्द द्वारा उल्लेख करके उसके सबध को नही जानते है अतः समवाय का विशेषण अदृष्ट है ऐसा कहना सिद्ध नही होता । इसप्रकार अदृष्ट समवाय का विशेपण नही होने पर भी उसमे विशेपणत्व की कल्पना करेगे तो "दण्डो है" इत्यादि प्रत्यय मे भी इसी अदृष्ट को विशेषण मानना होगा । दण्डा आदि पदार्थों में विशेषण भाव की कल्पना से क्या प्रयोजन ? अभिप्राय यही हुआ कि अदृष्ट को समवाय का विशेषण बताना कथमपि सिद्ध नही होता ।

स्वकारण सत्ता का सबध होना ही वस्तु का आत्म लाभ या स्वरूप निष्पत्ति है इत्यादि पहले वैशेषिक ने प्रतिपादन किया था वह ठीक नही, क्योकि वस्तु के स्वरूप निष्पत्ति को यदि स्वकारण सत्ता समवाय के पर्यायरूप मानेगे तो वह नित्य वन जायगा, क्योकि सत्ता और समवाय दोनो ही नित्य है । और यदि वस्तु की स्वरूपनिष्पत्ति नित्य हुई तो कार्य को अविनाशी मानना होगा । किन्तु किसी भी वादी प्रतिवादी ने कार्य

किञ्च, असौ सतां सत्तासमवाय., असता वा स्यात् ? न. तावदसताम्; व्योमोत्पलादीनामपि तत्प्रसङ्गात् । अथात्यन्तासत्त्वात्तेषां न तत्प्रसङ्गः, गुणगुण्यादीनामत्यन्तासत्त्वाभावः कुतः ? समवायाच्चेत्; इतरेतराश्रय.–सिद्धे हि समवाये तेषामत्यन्तासत्त्वाभावः; तदभावाच्च समवाय । नापि सताम्, समवायात्पूर्वं हि सत्त्व तेषा समवायान्तरात्, स्वतो वा ? समवायान्तराच्चेत्; न अस्यैकत्वाभ्युपगमात् । अनेकत्वेपि अतोपि पूर्व(र्वं)समवायन्तरात्तेषा सत्त्वमित्यनवस्था । स्वतः सत्त्वाभ्युपगमे

को विनाश रहित नही माना, सभी वादी प्रतिवादी कार्य को विनाशयुक्त मानते है, अतः स्वकारणसत्ता समवाय होना ही वस्तु का आत्म लाभ है ऐसा कहना अशक्य है ।

दूसरी बात यह है कि–यह सत्ता समवाय असत् वस्तुओ मे होता है या सत् वस्तुओ मे होता है ? असत् के तो हो नही सकता क्योकि असत् मे सत्ता समवाय हो सकता है तो आकाश पुष्प खरगोश के सीग आदि मे भी सत्ता समवाय हो सकता है ।

वैशेषिक—आकाश पुष्पादि मे सत्ता का समवाय मानने का प्रसंग नही आयेगा, क्योकि वे अत्यन्त असत् हैं ।

जैन—गुण–गुणी आदि पदार्थ अत्यन्त असत् क्यो नही, उनमे अत्यन्त असत्व का अभाव किस कारण से माना जाय ।

वैशेषिक—गुण गुणी आदि मे समवाय रहता है, अतः उनका अत्यन्त असत्व नही होता ।

जैन—इसतरह कहो तो इतरेतराश्रय दोष होगा पहले समवाय सिद्ध होवे तो उन गुण–गुणी आदि का अत्यन्त असत्व का अभाव सिद्ध होवे, और इस अभाव के सिद्ध होने पर उससे समवाय सिद्ध होवे, अर्थात् गुण गुणी का अत्यन्त असत्व क्यो नही तो उनमे समवाय है इसलिये नही, और गुण गुणी मे समवाय सबध क्यो होता है तो उनका अत्यन्त असत्व नही होने से होता है, इसप्रकार का परस्पराश्रित कथन अन्योन्याश्रय दोष युक्त होता है । सत् वस्तुओ मे सत्ता का समवाय सबध होता हैं ऐसा द्वितीय विकल्प भी ठीक नही, आगे इसी विषय को कहते है–सत् वस्तु मे सत्ता का समवाय होता है तो समवाय होने के पहले उसमे सत् अन्य समवाय से आया कि स्वत आया ? अन्य समवाय से शक्य नही क्योकि आपने समवाय नामा पदार्थ एक ही

तु समवायपरिकल्पनानर्थक्यम् । ननु न समवायात् पूर्वं तेषा सत्त्वमसत्त्वं वा, सत्तासमवायात्सत्त्वाभ्युपगमात्; इत्यप्यसङ्गतम्; परस्परव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधस्यापरविधाननान्तरीयकत्वेनोभयनिषेधविरोधात् । न चानुपकारिणोः सत्तासमवाययोः परस्परसम्बन्धो युक्तोतिप्रसङ्गात् ।

अव्यापि चेद सत्त्वलक्षणम् सत्तासमवायान्त्यविशेषेषु तस्या सभवात् । "त्रिषु पदार्थेषु सत्करी सत्ता" [ ] इत्यभिधानात् । अतिव्यापि चाकाशकुशेशयादिष्वपि भावात् । न च तेषाम-

---

माना है, यदि यहा पर उसे अनेकरूप मानो तो अनवस्था दूषण प्राप्त होगा, क्योकि विवक्षित समवाय के पहले उस वस्तु का सत्व किससे हुआ अन्य समवाय से हुआ तो पुन. वह अन्य समवाय भी सत् वस्तु मे हुआ कि असत् वस्तु मे ? सत् मे हुआ तो वह सत् किसी अन्य तीसरे समवाय से होगा, इत्यादिरूप से अनवस्था आती है । तथा यदि समवाय के पहले वस्तुओं मे सत् स्वत ही था ऐसा दूसरा विकल्प स्वीकार किया जाय तो समवाय नामा पदार्थ की कल्पना करना व्यर्थ ही ठहरता है ।

वैशेषिक—समवाय के पहले वस्तुओ मे न सत्व था और न असत्व ही था, जब सत्ता का समवाय हुआ तब उनमे सत्व आया ऐसा हमने स्वीकार किया है ।

जैन—यह असगत है जिन दो धर्मो का परस्पर मे व्यवच्छेद है उन दो धर्मों मे से एक का निषेध करने पर अन्य की विधि होने का नियम है अतः सत्व और असत्व दोनों का एक मे एक साथ निषेध करना विरुद्ध है । स्वकारण सत्ता का समवाय होना स्वरूप निष्पत्ति है इत्यादि आपने कहा वह अयुक्त है, क्योकि सत्ता और समवाय ये दोनो परस्पर में अनुपकारि हैं—अत. इनका आपसमे सम्बन्ध युक्त नही, अन्यथा अति प्रसंग होगा ।

सत्ता का समवाय होने के पूर्व पदार्थो का न सत्व है और न असत्व है इत्यादि सत्व का लक्षण अव्यापि है क्योंकि यह लक्षण सत्ता मे, समवाय मे और अन्त्य विशेष मे नही पाया जाता, आपने इनको स्वरूप से हो सत्वरूप माना है । "त्रिषुपदार्थेषु सत्करी सत्ता" द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन पदार्थो मे सत्ता के समवाय से सत्व होता है । अर्थात् सत्ता, समवाय और अन्त्य विशेषो मे स्वतः सत्व है और द्रव्य, गुण तथा कर्म मे सत्ता समवाय से सत्व है ऐसी आपकी मान्यता है अतः सत्ता समवाय के पूर्व सब पदार्थो मे न सत्व है न असत्व है ऐसा कहना अव्यापि है । तथा यह सत्व का लक्षण

सत्त्वान्न सत्तासमवायः, अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्-असत्त्वे हि तेषा सत्तासमवायविरह', तद्विरहाच्चा सत्त्वमिति । न च सत्तासमवायः सत्त्वलक्षण युक्तमर्थान्तरत्वात् । न ह्यर्थान्तरमर्थान्तरस्य स्वरूपम्; अतिप्रसङ्गादर्थान्तरत्वहानिप्रसङ्गाच्च ।

किञ्च, सत्तासमवायात्पदार्थाना सत्त्वे तयोः कुत' सत्त्वम् ? असत्सम्बन्धात्सत्त्वे अतिप्रसङ्गात् । सत्तासमवायान्तराच्चेत्, अनवस्था । स्वतश्चेत्; पदार्थानामपि तत्स्वत एवास्तु किं सत्तासमवायेन ?

यदप्यभिहितम्-अग्नेरुष्णतावदित्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्, यतः प्रत्यक्षसिद्धे पदार्थस्वभावे स्वभावैरुत्तरं वक्तु युक्तम् । न च 'समवायस्य स्वतः सम्बन्धत्व सयोगादीना तु तस्मात्' इत्यध्यक्ष-

---

अतिव्यापि दोष युक्त भी है, क्योकि यह लक्षण आकाश पुष्पादि मे भी पाया जाता है तुम कहो कि-आकाश पुष्पादि असत्वरूप है अतः उनमे सत्ता का समवाय नही होता, सो यह कथन अन्योन्याश्रय दोष युक्त है-आकाश पुष्पादिका असत्व होने से सत्ता समवाय नही होता और सत्ता समवाय नही होने से असत्व होता है इसतरह एक की भी सिद्धि नही होती । सत्ता का समवाय सत्व है ऐसा सत्व का लक्षण युक्त नही, क्योकि यह पदार्थ से भिन्न है । अर्थान्तर अर्थान्तर का स्वरूप नही हो सकता, अन्यथा अतिप्रसग होगा-घट का स्वरूप पट भी होवेगा । तथा अर्थान्तरत्वके हानि का प्रसग भी होगा, [भिन्न अर्थ भिन्न अर्थ का स्वरूप है तो दोनो एक स्वरूप वाले बन जायेगे और इसतरह भिन्न भिन्न अर्थों का अस्तित्व ही समाप्त होवेगा] ।

तथा यह प्रश्न होता है कि-द्रव्यादि पदार्थो का सत्व तो सत्ता समवाय से होता है किन्तु सत्ता मे और समवाय मे सत्व किससे होता है ? असत् सम्बन्ध से सत्व होना माने तो अतिप्रसग होगा, अर्थात् असत्रूप सत्ता सम्बन्ध से सत्ता मे सत्व आता है तो आकाश पुष्पादि मे भी सत्व आयेगा । अन्य किसी सत्ता समवाय से सत्तादि मे सत्व आना माने तो अनवस्था है । सत्ता और समवाय मे स्वतः सत्व है ऐसा कहो तो द्रव्य गुणादि पदार्थो मे भी स्वत. सत्व होवे फिर सत्ता समवाय से क्या प्रयोजन है ?

समवाय की सिद्धि करते समय वैशेषिक ने कहा था कि अग्नि की उष्णता के समान समवाय सम्बन्ध होता है, इत्यादि यह अयुक्त है क्योकि प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ के स्वभाव मे स्वभाव द्वारा उत्तर कहना युक्त है किन्तु समवाय मे स्वतः सम्बन्धपना

प्रसिद्धम्, तत्स्वरूपस्याध्यक्षाद्यगोचरत्वप्रतिपादनात्। 'समवायोऽन्येन सबध्यमानो न स्वत' सबध्यते सबध्यमानात्वाद्रूपादिवत्' इत्यनुमानविरोधाच्च। यदि चाग्निप्रदीपगङ्गोदकादीनामुष्णप्रकाशपवित्रतावत्समवाय: स्वपरयो: सम्बन्धहेतु; तर्हि तद्दृष्टान्तावष्टम्भेनैव ज्ञानं स्वपरयो: प्रकाशहेतु: किन्न स्यात्? तथाच "ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य प्रमेयत्वात्" [ ] इति प्लवते।

यच्चोच्यते–'समवाय: सम्बन्धान्तरं नापेक्षते, स्वत: सम्बन्धत्वात्, ये तु सम्बन्धान्तरमपेक्षन्ते

और सयोगादि में उस सम्बन्ध द्वारा सबंधपना होता हो ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नही होता, क्योकि आपके उस समवाय का स्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा ग्रहण मे नही आता ऐसा प्रतिपादन कर चुके है, तथा समवाय स्वत' सबंधरूप है ऐसा आपका कहना अनुमान से विरुद्ध भी है, समवाय अन्य सबधी पदार्थ द्वारा सबद्ध होता हुआ स्वत: सबध को प्राप्त नही होता, क्योकि यह सबध्यमानरूप है, जैसे रूपादिगुण सबध्यमान स्वरूप होने से स्वत: सबंध को प्राप्त नही होते। तथा आप वैशेषिक यदि अग्नि में उष्णता, दीपक में प्रकाश, गगा जल मे पवित्रता स्व और परके लिये हुआ करती है अर्थात्–अग्नि मे स्वय मे उष्णता है और परको भी उष्ण करने मे निमित्त है स्वत: को उष्ण करना और परको उष्ण करना उसका स्वयं का स्वभाव है, दीपक स्वय को प्रकाश देता है और परको भी, गगाजल स्वय पवित्र है और परको भी पवित्र करता है। इसीप्रकार समवाय स्व और परके सम्बन्ध का कारण है ऐसा कहो तो इसी दृष्टांत के अवलबन से ज्ञान मे स्व पर प्रकाशकपना क्यो न माना जाय! और इसतरह ज्ञान का स्व परका प्रकाशकपना सिद्ध होने पर आपका सिद्धांत "ज्ञानं ज्ञानान्तर वेद्य प्रमेयत्वात्" यह खण्डित होता है। अभिप्राय यही है कि वैशेषिक यदि समवाय मे सम्बन्धपना स्वत: मानते है, समवाय स्व और पर दोनो के सम्बन्ध का कारण है ऐसा इनको इष्ट है तो ज्ञान मे भी स्व और परको प्रकाशित करने का स्वभाव है वह भी स्वयं को और परको जानता है ऐसा क्यो न इष्ट किया जाय? समवाय स्व परके सम्बन्ध का हेतु है तो ज्ञान भी स्व परके जानने का हेतु है ऐसा समान न्याय होवे फिर ज्ञान स्वय को नही जानता उसको जानने के लिये दूसरे ज्ञान की आवश्यकता है इत्यादि कथन बाधित होता है।

वैशेषिक का आनुमानिक कथन है कि–समवाय अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नही करता, क्योकि स्वत ही सम्बन्धस्वरूप है, जो पदार्थ अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं

न ते स्वत. सम्बन्धा यथा घटादय:, न चाय न स्वत सम्बन्धः, तस्मात्सम्बन्धान्तर नापेक्षते इति; तदपि मनोरथमात्रम्; हेतोरसिद्धे:। न हि समवायस्य स्वरूपासिद्धौ स्वत: सम्बन्धत्व तत्र सिध्यति। सयोगेनानेकान्ताच्च, स हि स्वत: सम्बन्धः सम्बन्धान्तर चापेक्षते। न हि स्वतोऽसम्बन्धस्वभावत्वे सयोगादेः परतस्तद्युक्तम्; अतिप्रसङ्गात्। घटादीना च सम्बन्धित्वान्न परतोपि सम्बन्धत्वम्। इत्ययुक्तमुक्तम्–'न ते स्वत.सम्बन्धा.' इति। तन्नास्य स्वत. सम्बन्धो युक्तः।

परतश्चेत्कि सयोगात्, समवायान्तरात्, विशेषणभावात्, अदृष्टाद्वा? न तावत्सयोगात्; तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्, समवायस्य चाद्रव्यत्वात्। नापि समवायान्तरात्; तस्यैकरूपतयाभ्युपगमात्, "तत्त्व भावेन" व्याख्यातम् [वैशे० सू० ७।२।२८] इत्यभिधानात्।

वे स्वत सम्बन्धस्वरूप नही हुआ करते, जैसे घट, गृह आदि पदार्थ सम्बन्धातर की अपेक्षा रखने वाले होने से स्वत. सम्बन्धरूप नही है, समवाय स्वत: सम्बन्धरूप न हो सो बात नही अत: यह सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नही रखता है। इत्यादि कहना मनोरथ मात्र है। इसमे स्वत सम्बन्धत्वात् हेतु असिद्ध है, आगे यही बताते है–समवाय का स्वरूप जब तक सिद्ध नही होता तब तक उसमे स्वत: सम्बन्धपना सिद्ध नही होता है। अत: समवाय स्वत: सम्बन्धरूप है ऐसा कहना स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास दोष युक्त है। तथा स्वत. सम्बन्धत्व हेतु सयोग के साथ अनैकान्तिक भी होता है क्योकि सयोग स्वत: सम्बन्धरूप भी है और सम्बन्धान्तर की अपेक्षा भी रखता है। सयोग आदि मे स्वत. सम्बन्धपना न होकर परसे सम्बन्धपना आता है ऐसा आपका कहना है किन्तु यह युक्ति युक्त नही है, क्योकि सयोगादि के स्वत असम्बन्ध स्वभाव मानकर परसे सम्बन्धपना स्वीकार करना भी अतिप्रसङ्ग आने से युक्त नही है। तथा घटादि पदार्थ सबधी रूप होने से उनके सम्बन्धपना भी अशक्य है। अत: वे पदार्थ स्वत: सम्बन्धरूप नही इत्यादि पूर्वोक्त कथन अयुक्त है। इसप्रकार समवाय का स्वत: सबधपना असिद्ध हुआ।

समवाय मे सम्बन्धपना परसे होता है ऐसा पक्ष माना जाय तो प्रश्न होते है कि परसे सम्बन्धपना है तो सयोग से या समवायान्तर से, अथवा विशेषण भाव से, या कि अदृष्ट से सम्बन्धपना है? सयोग से समवाय मे संवधपना होना अशक्य है, क्योकि सयोग गुणरूप होने से मात्र द्रव्य के आश्रय में रहता है और समवाय अद्रव्यरूप है। समवाय मे सबंधपना अन्य समवाय से आता है ऐसा द्वितीय विकल्प भी गलत है,

नापि विशेषणभावात्; सम्बन्धान्तराभिसम्बद्धार्थेष्वेवास्य प्रवृत्तिप्रतीतेर्दण्डविशिष्टः पुरुष इत्यादिवत्, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यं च स्यात्। समवायादिसम्बन्धानर्थक्यं च, तदभावेपि गुणगुण्यादिभावोपपत्तेः। समवायस्य समवायिविशेषणतानुपपत्तिश्च, अत्यन्तमर्थान्तरत्वेनातद्धर्मत्वादाकाशवत्। न खलु 'सयुक्ताविमौ' इत्यत्र सयोगिधर्मतामन्तरेण सयोगस्य तद्विशेषणता दृष्टा। न च समवायसमवायिना सम्बन्धान्तराभिसम्बद्धत्वम्; अनभ्युपगमात्।

किञ्च, विशेषणभावोप्येतेभ्योत्यन्तं भिन्नस्तत्रैव कुतो नियाम्येत ? समवायाच्चेत्; इतरेतरा-

---

क्योकि आपके सिद्धांत मे समवाय एक ही माना है। "तत्व भावेन व्याख्यात" भाव या सत्तारूप पदार्थ एक ही होता है ऐसी आपकी मान्यता है।

विशेषण भाव से समवाय मे सम्बन्धपना होता है ऐसा तीसरा विकल्प भी असत् है, विशेषण भाव की प्रवृत्ति तो सम्बन्धान्तर से अभिसबद्ध हुए पदार्थो मे ही हुआ करती है, अर्थात् जिसमे पहले से ही संयोगादि कोई सबंध है ऐसे पदार्थों का ही विशेषणभाव देखा जाता है, जैसे "दण्ड विशिष्ट पुरुष है" इत्यादि कथन मे दण्ड और पुरुष सयोग युक्त होने पर दण्ड पुरुष का विशेषण बनता है, सयोग के बिना विशेषण-भाव माना जाय तो सभी पदार्थो के सभी विशेषण और विशष्य बन जायेगे। तथा बिना सयोगादि के विशेषण–विशेष्यभाव हो सकता है तो समवायादि सबध मानना व्यर्थ ही है। उसके अभाव मे भी गुण–गुणी, अवयव–अवयवी इत्यादि भाव बन सकते है। समवाय के समवायीका विशेषणपना भी नही हो सकता, क्योकि अत्यन्त भिन्न होने से अतद्धर्मस्वरूप है। अर्थात् समवाय विशेषण है और समवायी विशेष्य है ऐसा नही कह सकते क्योकि ये सर्वथा भिन्न है। जैसे आकाश अत्यन्त भिन्न होने के कारण विशेषण नही बनता। ये दो पदार्थ संयुक्त है–परस्पर में मिले है इसतरह का जो विशेषणपना देखा जाता है वह सयोग के सयोगी द्रव्य का धर्मपना प्राप्त हुए बिना नही हो सकता। तथा समवाय और समवायी के संबधान्तर से अभिसम्बन्धपना होना आपने स्वीकार नही किया अत. वे सम्बन्धान्तर से अभिसम्बद्ध हुए हैं ऐसा कहना अशक्य है।

तथा समवाय का विशेषण भाव जब इन समवायी द्रव्यो से अत्यंत भिन्न है तब समवायो द्रव्यो में ही समवाय का विशेषण भाव रहता है ऐसा नियम किस

अय'–समवायस्य नियमसिद्धौ हि ततो विशेषणभावस्य नियमसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च समवायस्य तत्सिद्धि-रिति ।

किञ्च, अयं विशेषणभावः षट्पदार्थेभ्यो भिन्नः, अभिन्नो वा ? भिन्नश्चेत्; किं भावरूप, अभावरूपो वा ? न तावद्भावरूपः, 'षडेव पदार्थाः' इति नियमविरोधात् । नाप्यभावरूप , अनभ्यु-पगमात् । अभेदेपि न तावद्द्रव्यम्; गुणाश्रितत्वाभावप्रसङ्गात् । अत एव न गुणोपि । नापि कर्म; कर्माश्रितत्वाभावानुषङ्गात् । "अकर्म कर्म" [ ] इत्यभिधानात् । नापि सामान्यम्;

तरह कर सकते है ? समवाय से नियम बन जायगा ऐसा कहो तो अन्योन्याश्रय होगा– समवाय का नियम सिद्ध होवे तो उससे विशेषण भाव का नियम सिद्ध होवे, और विशेषण भाव जब सिद्ध होवे तब समवाय का नियम सिद्ध होवे कि इसी समवायी मे समवाय है । इस तरह दोनो असिद्ध होते है ।

दूसरी बात यह है कि आप वैशेषिक के छहो पदार्थों से (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय) यह विशेषण भाव भिन्न है या अभिन्न है ? भिन्न है तो भाव रूप है अथवा अभावरूप है ? भावरूप भिन्न विशेषण भाव हो नही सकता, क्योकि इसतरह विशेषण भाव को पृथक् सद्भावरूप पदार्थ मानेगे तो छह पदार्थो के नियम मे विरोध आता है । विशेषण भाव अभावरूप है ऐसा कहना भी अशक्य है क्योकि आपने विशेषण भाव को अभावरूप नही माना । अब दूसरे विकल्प पर सोचे कि छह पदार्थो से विशेषण भाव अभिन्न है, सो इसका अर्थ तो यही होगा कि छहो पदार्थो मे से कोई एक पदार्थ विशेषण भावरूप है ? अब यदि द्रव्य को विशेषण भाव-रूप माना जाय तो ठीक नही रहता, क्योकि द्रव्य विशेषण भावरूप बन जाने से उसमे गुण का आश्रयपना नही रहेगा, जो द्रव्य होता है वही गुण का आश्रयभूत होता है, और द्रव्य तो विशेषण भाव बन चुका है. गुण विशेषण रूप है, ऐसे पक्ष मे भी वही पूर्वोक्त दोष [गुणो के आश्रितपने का अभाव] आता है, क्योकि गुण विशेषण भाव को प्राप्त हुआ है उसमे आश्रितपने का अभाव ही रहेगा । कर्म विशेषण भाव रूप है ऐसा मानना भी अशक्य है, क्योकि कर्म यदि विशेषण भाव बना तो उसमे कर्म के आश्रितत्व का अभाव होगा । कर्म स्वय अकर्म रूप होता है ऐसा वचन है । सामा-न्य नाम का पदार्थ विशेषण भाव को प्राप्त होता है ऐसा कहना भी असभव है, क्योकि सामान्य से विशेषण भाव अभिन्न है तो समवाय मे विशेषण भाव का अभाव होगा

समवाये तदनुपपत्तेः, पदार्थत्रयवृत्तित्वात्तस्य । नापि विशेष ; विशेषाणां नित्यद्रव्याश्रितत्वात् । अनित्यद्रव्ये चास्योपलम्भात् समवाये चाभावानुषङ्गात् । नापिसमवायः युगपदनेकसमवायिविशेषणत्वे चास्यानेकत्वप्राप्तिः । यदिह युगपदनेकार्थविशेषण तदनेक प्रतिपन्नम् यथा दण्डकुण्डलादि, तथा च समवायः, तस्मादनेक इति । न च सत्त्वादिनाऽनेकान्त ; तस्यानेकस्वभावत्वप्रसाधनात् । तन्न विशेषणभावेनाप्यसौ सम्बद्धः ।

नाप्यऽदृष्टेन; अस्य सम्बन्धरूपत्वासम्भवात् । सम्बन्धो हि द्विष्ठो भवताभ्युपगतः, अदृष्टश्चा-

---

[समवाय किसी का विशेषण नही बन सकेगा] इसका कारण भी यह है कि सामान्य तीन पदार्थो मे–द्रव्य, गुण और कर्म मे रहता है समवाय आदि मे नही रहता ऐसा आपका सिद्धात है । विशेष पदार्थ विशेषण भाव रूप होता है ऐसा कहना भी ठीक नही, इसका कारण यह है कि विशेष नामा पदार्थ केवल नित्य द्रव्यो के आश्रित रहते है ऐसा आपने माना है । और यह विशेषण भाव तो अनित्य द्रव्य मे उपलब्ध होता है ।

तथा विशेषण भाव यदि विशेष पदार्थ रूप है तो समवाय मे विशेष भाव का अभाव ठहरेगा । विशेषण भाव समवाय रूप है ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योकि एक साथ अनेक समवायी द्रव्यो में विशेषण भाव देखे जाते है अत. समवाय द्वारा युगपत् अनेक द्रव्यो मे विशेषण भाव स्वीकार करने पर समवाय के अनेकपना प्राप्त होगा । अनुमान प्रसिद्ध बात है कि–जो एक साथ अनेक पदार्थो का विशेषण होता है वह अनेक सख्यारूप ही होता है, जैसे दण्ड, कुण्डल इत्यादि विशेषण एक साथ अनेक देवदत्तादि पुरुषो के विशेषण बनते है अतः वे अनेक हुआ करते है, समवाय भी युगपत् अनेको का विशेषण है अत. अनेक है । यह कथन सत्त्व आदि के साथ व्यभिचरित भी नही होता अर्थात् सत्त्व एक रूप होकर भी अनेको का विशेषण बनता है अतः जो अनेको का विशेषण है वह अनेक ही है ऐसा हेतु अनैकातिक होगा ऐसा वैशेषिक कहे तो वह भी ठीक नही क्योकि हम जैन ने सत्त्वादि को भी अनेक स्वभाव रूप माना है एव सिद्ध किया है [सामान्य विचार प्रकरण मे] इसप्रकार विशेषण भाव से समवाय का स्वसमवायी मे सबध होता है ऐसा तीसरा पक्ष सिद्ध नही होता ।

चौथा विकल्प अदृष्ट का है—अदृष्ट द्वारा समवाय का स्वसमवायी में संबंध होता है ऐसा कहना भी असिद्ध है, क्योकि अदृष्ट संबध रूप नही है । अब यही बताते

त्मवृत्तितया समवायसमवायिनोरतिष्ठन् कथं द्विष्ठो भवेत् ? षोढा सम्बन्धवादित्वव्याघातश्च । यदि चाऽदृष्टेन समवायः सम्बध्यते; तर्हि गुणगुण्यादयोप्यत एव सम्बद्धा भविष्यन्तीत्यलं समवायादिकल्पनया । न चादृष्टोप्यसम्बद्धः समवायसम्बन्धहेतुः अतिप्रसङ्गात् । सम्बद्धश्चेत्; कुतोस्य सम्बन्धः ? समवायाच्चेत्; अन्योन्यसश्रयः । अन्यतश्चेत्, अभ्युपगमव्याघातः । तन्न सम्बद्धः समवायः ।

नाप्यसम्बद्धः, 'षण्णामाश्रितत्वम्' इति विरोधानुषगात् । कथं चासम्बद्धस्य सम्बन्धरूपतार्थान्तरवत् ? सम्बन्धबुद्धिहेतुत्वाच्चेत्; महेश्वरादेरपि तत्प्रसगः । कथं चासम्बद्धोसौ समवायिनोः

है–संबध द्विष्ठ–दो मे रहने वाला होता है ऐसा आपका सिद्धान्त है और अदृष्ट तो मात्र आत्मा मे रहता है, वह समवाय और समवायी मे नही रहता फिर द्विष्ठ किस प्रकार कहलायेगा अर्थात् नही कहला सकता तथा आपके यहा सबध छः प्रकार का ही माना है, उन समवाय, सयोग इत्यादि छहो सबधो मे अदृष्ट नामा कोई भी सबध नही है । अत. अदृष्ट नाम का सबध मानेंगे तो सबध के छह सख्या का व्याघात होगा । दूसरी बात यह है कि यदि अदृष्ट द्वारा समवाय समवायी मे सबध को प्राप्त होता है तो गुण गुणी आदि भी अदृष्ट द्वारा संबद्ध होवेंगे । फिर तो समवाय आदि सबधो की कल्पना करना निष्प्रयोजन है तथा अदृष्ट भी स्वय असबद्ध रहकर समवाय के सबध का हेतु नही हो सकता, अन्यथा अतिप्रसग आता है । यदि अदृष्ट सबद्ध होकर समवाय के सबध का हेतु है ऐसा माने तो इस अदृष्ट का किससे सबंध हुआ अर्थात् अदृष्ट सबद्ध है तो किस सबध से सबद्ध हुआ है ? समवाय से सबद्ध है ऐसा कहे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है–समवाय के सिद्ध होने पर समवाय द्वारा अदृष्ट का सबधपना सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर सबद्ध अदृष्ट का समवाय हेतुत्व सिद्ध होगा । अदृष्ट जो समवाय से सबद्ध हुआ है वह किसी अन्य सबध से हुआ है ऐसा कहने पर तो तुम्हारी स्वत. की मान्यता मे बाधा आती है, क्योकि तुम्हारा सिद्धात है कि समवाय किसी के द्वारा सबद्ध नही होता वह स्वतः ही सबद्ध होता है । इसप्रकार समवायी मे समवाय पर से सबद्ध होता है ऐसा कहना खण्डित होता है ।

समवायी मे् समवाय असबद्ध है, सबद्ध नही ऐसा कहना भी दोष युक्त है, "षण्णा माश्रितत्वम्" द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये छहो पदार्थ आश्रित रहते है–सबद्ध रहते हैं ऐसा आपके प्रशस्त पाद भाष्य नामा ग्रन्थ मे लिखा है उसमे बाधा आयेगी । तथा यह भी बात है कि यदि समवाय समवायी से असबद्ध है तो उसको

सम्बन्धबुद्धिनिबन्धनम् ? न ह्य गुल्यो सयोगो घटपटयोरप्रवर्त्तमानस्तयोः सम्बन्धबुद्धिनिबन्धनं दृष्टः। तथा, 'इहात्मनि ज्ञानमित्यादिसम्बन्धबुद्धिर्न सम्बन्ध्यऽसम्बद्धसम्बन्धपूर्विका सम्बन्धबुद्धित्वात् दण्ड-पुरुषसम्बन्धबुद्धिवत्' इत्यनुमानविरोधश्च।

किञ्च, अयं समवायः समवायिनो परिकल्प्यते, असमवायिनोर्वा ? यद्यसमवायिनो:, घट-

---

सबधरूप कैसे मान सकते है ? वह तो भिन्न पदार्थ के समान असबध रूप ही कहलायेगा।

वैशेषिक—समवाय संबध के ज्ञान का हेतु है अतः उसे सबधरूप मानते है ?

जैन—इसतरह मानेंगे तो महेश्वर आदि को भी संबंध रूप मानना पड़ेगा। क्योकि सबध ज्ञान के हेतु महेश्वरादि भी माने गये हैं। दूसरी बात यह है कि–जब समवाय असंबद्ध है तब "दो समवायी द्रव्यो का सबंध है" इसतरह संबंध का ज्ञान किसप्रकार करा सकता है ? सम्बन्ध जिसमे स्वयं सम्बद्ध नही हुआ है वह उसके सम्बन्ध का ज्ञान नही करा सकता, दो अगुली का सयोग घट और पट मे नही रहना हुआ उनमे सम्बन्ध ज्ञान को कराने मे हेतु नही होता। कहने का अभिप्राय यह है कि–हमारे हाथ की दो अगुलिया परस्पर मे मिलने पर इनका सयोग है ऐसा ज्ञान उन अगुलियो मे तो होता है किन्तु जो अन्य घट और पट हैं जिनमे उक्त अगुलि सयोग नही है वह उन घटादि मे ये परस्पर सम्बद्ध है, "इन दोनो का सयोग है" इस तरह का सम्बन्ध ज्ञान नही करा सकते, इसीप्रकार समवायी द्रव्यो मे सम्बद्ध नही हुआ समवाय "ये समवायी द्रव्य है" ऐमा सम्बन्ध ज्ञान उन समवायी द्रव्यो मे नही करा सकता। असबद्ध समवाय से सम्बन्ध का ज्ञान होता है ऐसा मानना अनुमान प्रमाण से बाधित भी होता है, अब उसी अनुमान को बताते हैं–"यहा आत्मा मे ज्ञान है" इस प्रकार की सम्बन्ध बुद्धि सम्बन्धी द्रव्य मे असम्बद्ध सम्बन्ध के हेतु से नही हुआ करती, क्योकि वह सम्बन्ध बुद्धि स्वरूप है, जिस तरह दण्ड और पुरुष मे होने वाली सम्बन्ध बुद्धि सम्बन्धी मे असम्बद्ध सम्बन्ध द्वारा नही होती, इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिये समवाय को समवायी मे सम्बद्ध होना पड़ेगा, अन्यथा वह सम्बन्ध ज्ञान का हेतु नही वन सकता।

तथा यह समवाय नामका पदार्थ दो समवायी द्रव्यो में कल्पित किया जाता है या असमवायी द्रव्यो में कल्पित किया जाता है ? असमवायी द्रव्यो मे कहो तो घट

पटयोरप्येतत्प्रसंगः । अथ समवायिनोः; कुतस्तयोः समवायित्वम्–समवायात्, स्वतो वा ? समवायाच्चेत्; अन्योन्याश्रय·–सिद्धे हि समवायित्वे तयोः समवायः, तस्माच्च तत्त्वमिति । स्वतः समवायित्वे किं समवाय परिकल्पनया ।

किञ्च, अभिन्नं तेनानयो· समवायित्व विधीयते, भिन्नं वा ? न तावदभिन्नम्; तद्विधाने गगनादीना विधानानुषगात् । भिन्नं चेत्, तयोस्तत्सम्बन्धित्वानुपपत्ति· । सम्बन्धान्तरकल्पने चान-

---

पट मे भी मानना पडेगा ! क्योकि असमवायी मे समवाय वृत्ति है और घट पट असमवायी है । दूसरा पक्ष समवायी द्रव्यो मे समवाय परिकल्पित किया जाता है ऐसा कहो तो पुन प्रश्न है कि–उन समवायी द्रव्यो मे समवायीपना किससे आया है ? समवाय से कि स्वत. ? समवाय से कहो तो अन्योन्याश्रय होगा–समवायो द्रव्यो का समवायीपना सिद्ध होने पर उनमे समवाय की कल्पना होगी, और समवाय के परिकल्पित होने पर उससे समवायी द्रव्यो का समवायित्व सिद्ध हो सकेगा । समवायी मे समवायीपना स्वत. ही होता है ऐसा दूसरा विकल्प कहो तो समवाय पदार्थ को मानना व्यर्थ है ? क्योकि समवायी मे समवायीपना स्वतः रहता है ।

किञ्च, समवायी द्रव्यो मे समवाय द्वारा समवायीपना किया जाता है ऐसा आपका मत है तो वह समवायीपन समवायी द्रव्यो से भिन्न है या अभिन्न ? अभिन्न कहना तो उचित नही, क्योकि समवायी द्रव्यो का समवाय द्वारा किया जाने वाला समवायीपना उन द्रव्यो से अभिन्न है तो इसका अर्थ समवाय ने समवायित्व के साथ साथ समवायी द्रव्यो को भी किया है । जैसे आकाश और शब्द ये समवायी हैं इनके अभिन्न समवायीपने को समवाय ने किया तो इसका अर्थ समवाय ने आकाश एव शब्द को किया ? इसतरह विपरीत सिद्धात का प्रसंग प्राप्त होता है–आकाशादि द्रव्यो को कोई भी नही करता वे नित्य पदार्थ हैं, ऐसा सभी मानते हैं, अत. समवायी का अभिन्न समवायीपना समवाय द्वारा किया जाता है ऐसा कहना असम्भव है । समवाय द्वारा समवायी द्रव्यो का किया जाने वाला समवायीत्व उन द्रव्यो से भिन्न रहता है ऐसा दूसरा पक्ष भी गलत है, इस पक्ष मे उन समवायी द्रव्यो का समवायीपना भिन्न रहने से सबध नही बनेगा–"यह समवायीत्व इन दो द्रव्यो का है" एसा नही कह सकते और न उस भिन्न समवायीत्व से वे द्रव्य समवायवान बन सकते है । समवाय द्वारा किया

वस्था । तत एव तन्नियमे चेतरेतराश्रय –सिद्धे हि समवायिनोः समवायित्वनियमे समवायनियमसिद्धिः, ततश्च तन्नियमसिद्धिरिति । स्वत एव तु समवायिनोः समवायित्वे किं समवायेन ? ।

ननु संयोगेप्येतत्सर्वं समानम्; इत्यप्यवाच्यम्; संश्लिष्टतयोत्पन्नवस्तुस्वरूपव्यतिरेकेणास्याप्यसम्भवात् । भिन्नसंयोगवशात्तु संयोगिनोर्नियमे समानमेवैतत् ।

यच्चान्यदुक्तम्–संयोगिद्रव्यविलक्षणत्वाद्गुणत्वादीनामित्यादि; तदप्यनुक्तसमम्; यतो निष्क्रि-

---

गया समवायी का समवायित्व किसी अन्य सम्बन्ध से समवायी मे सम्बद्ध किया जाता है ऐसा माने तो अनवस्था आती है । [अर्थात् दूसरा सम्बन्ध भी सम्बन्धी द्रव्यो से भिन्न है कि अभिन्न है, भिन्न रहकर तो समवायित्व को जोड़ नही सकता इत्यादि पूर्वोक्त दोष आते हैं और संबध के लिये सम्बन्ध, पुन. सम्बन्ध के लिये सम्बन्ध इस तरह अनवस्था बढ़ती जाती है] यदि कहा जाय कि–समवाय के द्वारा ही समवायी द्रव्यो मे समवायीपने का संबधित होने का नियम है, तो इतरेतराश्रय दोष होगा–पहले समवायी द्रव्यो के समवायीपने का नियम सिद्ध होवे तो समवाय का नियम सिद्ध होगा और उसका नियम सिद्ध होवे तो समवायी के समवायित्व का नियम सिद्ध होगा । यदि कहो कि समवायी का समवायीपना तो स्वतः सिद्ध है, तो समवाय नामा पदार्थ मानना ही व्यर्थ है ।

शका—इसतरह समवाय को दूषित ठहरायेगे तो सयोग भी दूषित होगा अर्थात् उसकी भी सिद्धि नही हो सकेगी ?

समाधान—ऐसा नही कहना, सश्लेषरूप से उत्पन्न हुए वस्तु स्वरूप को छोड कर अन्य कोई सयोग नही है । जो परवादी सयोग को भिन्न मानकर उसके द्वारा सयोगी पदार्थो मे सयोगपना मानते है उनके मत मे समवाय के समान अनवस्था आदि दोष अवश्य आते है ।

समवाय के विषय मे शंका समाधान करते हुए वैशेषिक ने प्रतिपादन किया था कि संयोगी द्रव्य से विलक्षण ही गुण हुआ करते है, वे गुण यद्यपि निष्क्रिय है तो भी सयोगी द्रव्य के सक्रियवान् होने से आधेयभाव बन जाता है यह प्रतिपादन असत्

यत्वेप्येषामाधेयत्वमल्पपरिमाणत्वात्, तत्कार्यत्वात् तथाप्रतिभासाद्वा ? तत्राद्य· पक्षोऽयुक्तः; सामान्यस्य महापरिमाणगुणस्य चानाधेयत्वप्रसगात् । द्वितीयपक्षोप्यत एवायुक्तः ।

तृतीयपक्षोप्यविचारितरमणीयः; तेषामाधेयतया प्रतिभासाभावात् । तदभावश्च रूपादीनां स्वाधारेष्वन्तर्बहिश्च सत्त्वात् । न ह्यन्यत्र कुण्डादावधिकरणे बदरादीनामाधेयाना तथा सत्त्वमस्ति । अथ रूपादीनामाधेयत्वे सत्यपि युतसिद्धेरभावादुपरितनतया प्रतिभासाभावः, न; युतसिद्धत्वस्योपरितनत्वप्रतीत्यहेतुत्वात्, अन्यथोर्द्ध्वावस्थितवशादेः क्षीरनीरयोश्च सम्बन्धे तत्प्रसङ्गात् । ततः परपरि-

---

है । आपने निष्क्रिय होते हुए भी गुणो मे आधेयभाव माना है वह अल्प परिमाण [माप]पना होने से, या उन गुणी द्रव्य का कार्य होने से अथवा वैसा–आधेयरूप से प्रतिभास होने से । प्रथम पक्ष–सयोगी द्रव्य से गुण अल्प परिमाणरूप हैं अतः गुणो में आधेयपना है, अयुक्त होगा, क्योकि सामान्य तथा महापरिमाण नामा गुण को अनाधेय मानना पड़ेगा । क्योकि इनमे अल्प परिमाणत्व नही है । गुण सयोगी द्रव्य का कार्य है अत. इसमे आधेयत्व होता है, ऐसा-दूसरा पक्ष भी इसीलिये गलत होता है, अर्थात् जो द्रव्य का कार्य हो उसी मे आधेयपना होता है ऐसा कहेंगे तो महापरिमाण गुण मे आधेयपना घटित नही होता, क्योकि महापरिमाण किसी द्रव्य का कार्य नही है ।

तीसरा पक्ष–गुणो मे आधेयपना प्रतीत होता है अतः माना है ऐसा कहना भी अविचारित रमणीय है, क्योकि गुण आधेयरूप प्रतिभासित होते ही नही, उस तरह से प्रतिभासित नही होने का कारण भी यह है कि–रूप रसादि गुण अपने आधारभूत घट पट आदि पदार्थों मे अतरंग और बहिरग दोनों तरह से रहते है, आधेयत्व ऐसा नही है वह तो मात्र बहिरग से रहता है । कुण्ड आदि अधिकरणभूत अर्थ मे आधेयरूप बेर आवला आदि का अतरग–बहिरंग प्रकार से सत्व नही रहता ।

वैशेषिक—रूप रस इत्यादि गुण यद्यपि आधेयरूप हैं तो भी वे युत सिद्ध [पृथक् पृथक् सिद्ध] नही हैं अत· उनका ऊपरपने से [बाहर से] प्रतिभास नही होता ?

जैन—यह नही कहना, ऊपरपने से प्रतीति होने का कारण युतसिद्धत्व है ऐसा कहना अयुक्त है, अर्थात् जिनमे युतसिद्धत्व हो उसमे उपरितनरूप से प्रतीति होती है और जिनमे युत सिद्धत्व [युत–पृथक् पृथक् रूप से सिद्धयुत सिद्धत्व है–पृथक्

कल्पितपदार्थानां विचार्यमाणाना स्वरूपाव्यवस्थितेः कथ 'षडेव पदार्थाः' इत्यवधारण घटते स्वरूपासिद्धौ संख्यासिद्धेरभावात् ?

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छल [जाति]निग्रहस्थानाना नैयायिकाभ्युपगतषोडशपदार्थाना षट्पदार्थाधिक्येन व्यवस्थानाच्च। न च

पृथक् दो वस्तुओ का अवस्थान] नही रहता उनमें उपरितनरूप से प्रतीति नही होती ऐसा कहना असत् है, क्योकि इस तरह युत सिद्धत्व को उपरितन प्रतीति का कारण माने तो ऊर्ध्वस्थित बांसादि मे–खड़े रखे हुए बांस, लकड़ी आदि पदार्थ में युत सिद्धत्व मानना होगा क्योकि उसमे उपरितनरूप से प्रतीति हो रही है, तथा दूध और पानी का संबंध होने पर उपरितन प्रतीति होनी चाहिये ? क्योकि इन दूध पानी का युतसिद्ध संबंध है ? किन्तु ऐसा प्रतिभास नही होता, अत. उपरितन प्रतीति का कारण युतसिद्धत्व है ऐसा कहना अयुक्त है। इसप्रकार परवादी–वैशेषिक द्वारा परिकल्पित किये गये पदार्थों के विषय मे विचार करने पर उनका स्वरूप सिद्ध नही होता है, फिर किस प्रकार छह ही पदार्थ होते है ऐसा नियम सिद्ध हो सकता है ? जिनका स्वरूप ही असिद्ध है उनकी गणना असिद्ध होना स्वाभाविक है।

नैयायिक छह पदार्थो से भी अधिक पदार्थ मानते है, उनके मत मे प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टात, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान, इसप्रकार सोलह पदार्थ स्वीकार किये है। इन सोलह पदार्थो को द्रव्यादि छह पदार्थो मे अंतर्भूत कर लेने पर छह से अधिक सख्या सिद्ध नही होती ऐसा वैशेषिक का कहना भी असत् है। यदि नैयायिक के सोलह पदार्थो को अपने द्रव्यादि छह पदार्थो मे अन्तर्भूत कर सकते है, तो, उनके सक्षिप्तरूप से माने गये प्रमाण और प्रमेय इन दो पदार्थो मे द्रव्यादि छह पदार्थो को भी अन्तर्भूत कर सकते है। अत. पदार्थो की छह सख्या भी सिद्ध नही होती।

वैशेषिक—प्रमाण और प्रमेय मे छह पदार्थो का अन्तर्भाव हो सकता है किंतु अवान्तर भिन्न भिन्न लक्षण होने के कारण एव प्रयोजन होने के कारण द्रव्यादि छह पदार्थ ही व्यवस्थित किये जाते हैं ?

पदार्थषोडशकस्य षट्स्वेवान्तर्भावान्नातोधिकपदार्थव्यवस्थेत्यभिज्ञातव्यम्; द्रव्यादीनामपि षण्णा प्रमाणप्रमेयरूपपदार्थद्वयेऽन्तर्भावात्पदार्थषट्कस्याप्यनुपपत्तेः। अथ तदन्तर्भावेप्यवान्तरविभिन्नलक्षण-

---

जैन—तो फिर इसी अवातर विभिन्न लक्षण के कारण तथा प्रयोजन के कारण प्रमाण आदि सोलह पदार्थों को व्यवस्थित किया जाय दोनो जगह कोई विशेषता नही है। अर्थात् विभिन्न लक्षण आदि कारण से पदार्थों की छह सख्या तो व्यवस्थित हो सके और इन्ही विभिन्न लक्षणादि कारण से पदार्थों की सोलह संख्या व्यवस्थित नही हो सके ऐसी विशेषता देखने मे नही आती, किंतु नैयायिक की पदार्थ सख्या भी वैशेषिक के समान सिद्ध नही हो पाती, नैयायिक ने जिस तरह का प्रमाण प्रमेय आदि का स्वरूप प्रतिपादन किया है वह यथास्थान निषिद्ध हो चुका है [आगे जय पराजय नामा प्रकरण भी इन सोलह पदार्थों मे से किसी किसी का प्रतिषेध किया जायगा,] नैयायिक ने पदार्थों की सख्या सोलह मानी है किन्तु उनमे भी सपूर्ण पदार्थ नही आते क्योकि इन प्रमाण आदि सोलह पदार्थों से अन्य विपर्यय तथा अनध्यवसाय पदार्थ शेष रह जाते है। अत मे यह निश्चय हुआ कि वैशेषिक के अभिमत द्रव्यादि छह पदार्थ एव नैयायिक के अभिमत सोलह पदार्थ असिद्ध स्वरूप वाले है। इनका लक्षण कथमपि प्रमाणित नही होता।

विशेषार्थ—सपूर्ण विश्व मे दृश्यमान अदृश्यमान पदार्थ ऐसे तो अनत है किंतु इनकी जाति की अपेक्षा पृथक् पृथक् लक्षण की अपेक्षा कितने भेद है इस बात को जैन के अतिरिक्त कोई भी परवादी बता नही सकते, क्योकि इनका मत इनके ग्रन्थ अल्प ज्ञान पर आधारित है, अल्पज्ञ पुरुष अपनी बुद्धि अनुसार जैसा जितना जानने मे आया उतना ही कथन एव स्वय समझ सकता है फिर उसमे मिथ्यात्व का बहुत बडा पुट रहता है अत. वास्तविक तत्व को किसी सम्यग्ज्ञानी द्वारा समझाने बताने पर भी वह अपने हटाग्रह को नही छोड़ता या नही छोड पाता—

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयण तु ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भाव उवइट्ठ वा अणु वइट्ठ ॥१॥

अर्थात् मिथ्यात्व से दूषित–अनादि अविद्या के वासना से सयुक्त व्यक्ति जिनेन्द्र प्रणीत प्रवचन–तत्व प्रतिपादन को स्वीकार नही करता, उन पर विश्वास नही

वशात् प्रयोजनवशाच्च द्रव्यादिषट्कव्यवस्था, तर्हि तत एव प्रमाणादिषोडशव्यवस्थाप्यस्तु विशेषा-

---

कर पाता। और जो तत्व असद्भावरूप है उस पर किसी के कहने से या स्वयं ही विश्वास करता है। सो यहा वैशेषिक के षट् पदार्थवाद का विचार चल रहा था, श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने अपनी जैन स्याद्वाद पद्धति एवं अपूर्व तर्क तथा युक्ति द्वारा वैशेषिक को समझाया है कि यह पदार्थ सख्या इसलिये असत् है कि इनका लक्षण सदोष है, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एव समवाय ये छह पदार्थ आपने माने किंतु इनका स्वरूप सिद्ध नही होता, द्रव्य का लक्षण—"गुणवत् क्रियावत् समवायी कारण द्रव्यम्" इसप्रकार है, किंतु यह घटित नही होता क्योकि द्रव्य को गुण से सर्वथा भिन्न मानकर समवाय द्वारा उसका सम्बन्ध होना बताते हैं सो भिन्न गुण द्वारा द्रव्य गुणी होता है तो हर किसी द्रव्य मे हर कोई गुण सम्बद्ध हो सकता है, जो किसी को इष्ट नही। द्रव्यो की नौ सख्या भी असिद्ध है। गुण का लक्षण जो द्रव्य के आश्रित हो, स्वय गुण रहित हो, सयोग विभाग का निरपेक्ष कारण न हो वह गुण कहलाता है किंतु यह लक्षण इसलिये असिद्ध है कि गुण अपने गुणी से पहले भिन्न रहता है और फिर समवाय से सम्बद्ध होता है। संयोग और विभाग को गुण मानना तो सर्वथा हास्यास्पद है। कर्म नामा तीसरा पदार्थ विचित्र है, कर्म अर्थात् क्रिया, क्रिया कोई पृथक् पदार्थ नही है, क्रियाशील पदार्थ ही है, सामान्य—"अनुगत ज्ञान कारण सामान्यम्" जो अनुगत ज्ञान [गौरयं गौरय इति] को कराता है वह सामान्य नामा पदार्थ है यह भी द्रव्य से पृथक् वस्तु नही है। द्रव्य का अपनी जाति से साधारण स्वरूप होता है वही सामान्य कहलाता है, सामान्य को आकाशवत् सर्व व्यापक सर्वथा एक मानना भी प्रतीति से बाधित है। विशेष पदार्थ विशिष्टपने का प्रतिभास कराता है ऐसा विशेष का लक्षण भी असंगत है, प्रत्येक पदार्थ की विशेषता उसीमे स्वय है उसके लिये ऊपर से विशेष का सयोग कराने की आवश्यकता नही। समवाय पदार्थ—"अयुत सिद्धानामाधाराधेय भूतानां इहेदं प्रत्यय हेतु: यः सम्बन्धः सः समवाय." अयुत सिद्ध और आधेय आधार भूत पदार्थो मे जो इहेद—यहा यह है इस तरह का ज्ञान कराता है उस सम्बन्ध को समवाय कहते है। यह समवाय सम्बन्ध किसी प्रकार से सिद्ध नही होता। द्रव्यो को सम्बद्ध कराने के लिये अथवा द्रव्य मे गुणो को सम्बन्धित कराने के लिये इस समवाय नामा गोद की कोई भी आवश्यकता नही पडती, वे स्वयं इसीरूप सिद्ध है। इन सब

भावात्। न च सापि युक्ता; परोपगतस्वरूपाणा प्रमाणादीना यथास्थानं प्रतिषेधात्, विपर्ययानध्य-

---

पदार्थो का यथास्थान क्रमश मूल मे ही निरसन कर दिया है, यहां अधिक नही कहना है। बात यह है कि वैशेषिक के छह पदार्थों मे से एक द्रव्य नामा वस्तु तो है शेष गुण कर्म आदि सब पदार्थ मात्र काल्पनिक हैं क्योकि इनका पृथक् पृथक् अस्तित्व नही है स्वय वैशेषिक ने भी इनको पृथक मानकर भी द्रव्य मे गुण रहते हैं उसीमे कर्म रहता है। विशेष भी नित्य द्रव्यो मे रहते है ऐसी इनकी मान्यता है, द्रव्य मे ही रूपादि गुण रहते हैं उसीमे उत्क्षेपणादि कर्म है, द्रव्य के ही साधारणपने को या अनुगत प्रत्यय को कराने वाला सामान्य पदार्थ है, समवाय का कार्य तो गुण आदि का द्रव्य मे सम्बन्ध कराना है, और विशेष पदार्थ नित्य द्रव्य मे रहता है इस तरह एक द्रव्यनामा पदार्थ के ही ये शेष गुणादिक स्वरूप या स्वभाव ठहरते है, इसलिये पदार्थो की छह सख्या बताना असत्य है, तथा यह एक शेष जो द्रव्यनामा पदार्थ है उसकी नौ सख्या एव लक्षण स्वरूपादि भी सिद्ध नही हो पाते जैसे दिशा नामा द्रव्य पृथक् सिद्ध नही होता इत्यादि अतः वैशेषिक का षट् पदार्थवाद निराकृत होता है। वैशेषिक मत मे अभाव नामा सातवा पदार्थ भी माना है किन्तु असत्‌रूप होने से उसको षट् पदार्थों के साथ नही मिलाते। सद्‌भावरूप पदार्थ तो छह है और असद्‌भावरूप पदार्थ अभाव है ऐसा इन का मत है। छह पदार्थो के समान अभाव नामा पदार्थ भी पृथक्‌रूप से सिद्ध नही होता, वह भी द्रव्य का द्रव्यातर मे नही रहना इत्यादिरूप ही सिद्ध होता है। अभाव के विषय मे प्रथम भाग के "अभावस्यप्रत्यक्षादावन्तर्भाव" इस प्रकरण मे बहुत कुछ कहा गया है अर्थात् उसका पृथक् अस्तित्व निराकृत किया है। नैयायिक मत मे सोलह पदार्थ है प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धात, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान ये इनके पदार्थ या तत्व हैं इनमे प्रमाण तो ज्ञानरूप है और ज्ञान गुण होने के कारण द्रव्य मे अन्तर्भूत है, प्रमेय द्रव्यरूप है किंतु इसका लक्षण गलत बताते हैं, सशय तो ज्ञानरूप है। प्रयोजन कोई तत्व नही वह तो एक तरह से कार्य या अभिप्राय है। दृष्टान्त अनुमान ज्ञान का अश है या जिस वस्तु को दिखाकर समझाया जाता है वह वस्तु है पृथक् तत्व नही है। सिद्धांत नामा पदार्थ तो एक तरह का मत है। अवयव तो अवयवी द्रव्य ही है अवयवी से न्यारा नही है, अवयव का अर्थ यदि अनुमान के अग किया जाय तो वह ज्ञान या

वसाययोश्च प्रमाणादिषोडशपदार्थेभ्योऽर्थान्तरभूतयो प्रतीते ।

शब्द रूप है । तर्क, निर्णय ये दोनो ज्ञानात्मक या वचनात्मक है । वाद, जल्प और वितण्डा स्पष्ट रूप से विवाद–बातचीत या वचनरूप है । इसीप्रकार छल, जाति और निग्रह स्थान ये सब सभा मे विवाद करते समय गलत अनुमान वाक्य कहने के प्रकार है और ये ज्ञान के अल्प होने से या वचन कौशल के न होने से प्रयुक्त होते है, इस प्रकार इन सोलह तत्वो का प्रतिपादन वन्ध्या सुत के व्यावर्णन सदृश असत् है, क्योकि उनका स्वरूप–लक्षण इस उपर्युक्त कथनानुसार असम्भव ठहरता है, ज्ञान के वचन के भेद कोई तत्व कहलाते है ? अर्थात् नही कहलाते । इसतरह जैनाचार्य ने अपने अगाध पांडित्य द्वारा–सम्यग्ज्ञान पूर्ण युक्ति द्वारा वैशेषिक–नैयायिक के अभिमत पदार्थो का खण्डन किया है ।

॥ समवायपदार्थविचार समाप्त ॥

१७

धर्माधर्मद्रव्यविचारः

धर्माधर्मद्रव्ययोश्च । कुत प्रमाणात्तत्सिद्धिरिति चेत् ? अनुमानात्, तथाहि-विवादापन्नाः सकलजीवपुद्गलाश्रयाः सकृद्गतय साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षाः, युगपद्भाविगतित्वात, एकसरः सलिला श्रयानेकमत्स्यगतिवत् । तथा सकलजीवपुद्गलस्थितय' साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षा , युगपद्भा-

जैन सिद्धात मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इसप्रकार छह द्रव्य माने हैं इन्ही को तत्व, अर्थ, पदार्थ एव वस्तु कहते है, जीव द्रव्य के अस्तित्व मे कोई विवाद नही है [चार्वाक को छोडकर] पुद्गल दृश्यमान पदार्थ होने से सिद्ध ही है । आकाश द्रव्य का अस्तित्व एव उसका वास्तविक लक्षण वैशेषिक मत के आकाश का खण्डन करते हुए बता दिया है, और काल द्रव्य का वास्तविक स्वरूप भी इन्ही के काल द्रव्य का निरसन करते हुए प्रतिपादन कर चुके है, अब यहा पर धर्म और अधर्म, द्रव्य को सिद्ध करते है, वे द्रव्य किस प्रमाण से सिद्ध होगे ? इसप्रकार प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं कि वे द्रव्य तो अनुमान प्रमाण से सिद्ध होगे, अब उसीको बताते है—सपूर्ण [illegible] तथा पुद्गलो की एक बार मे होने वाली गमन क्रियाये सर्व साधारण बाह्य [illegible] रखती है, [साध्य] क्योकि ये एक साथ होने वाली गमन क्रियाये [illegible] के जल के आश्रय मे रहने वाले अनेक मत्स्यो की गमन [illegible] से एक ही साधारण बाह्य निमित्तरूप जल द्वारा होती है । [illegible] की सिद्धि होती है । तथा सकल जीव एव पुद्गलो की स्थिति

विस्थितित्वात्, एककुण्डाश्रयानेकबदरादिस्थितिवत् । यत्तु साधारण निमित्त स धर्मोऽधर्मश्च, ताभ्या विना तद्गतिस्थितिकार्यस्यासम्भवात् ।

गतिस्थितिपरिणामिन एवार्था परस्पर तद्धेतवश्चेत्; न; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्—सिद्धाया हि तिष्ठत्पदार्थेभ्यो गच्छत्पदार्थाना गतौ तेभ्यस्तिष्ठत्पदार्थाना स्थितिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च गच्छत्पदार्थाना गतिसिद्धिरिति । साधारणनिमित्तरहिता एवाखिलार्थगतिस्थितयः प्रतिनियतस्वकारणपूर्वकत्वादिति चेत्; कथमिदानी नर्त्तकीक्षणो निखिलप्रेक्षकजनाना नानातद्वेदनोत्पत्तौ साधारण निमित्तम् ?

साधारण बाह्य निमित्त की अपेक्षा लेकर होती है, क्योकि एक साथ होने वाली स्थिति है, जैसे एक कुण्ड के आश्रय मे अनेक बेर, आवला, आम आदि की स्थिति एक साथ है वह उस कुण्ड रूप बाह्य निमित्त की अपेक्षा लेकर होती है, जो इन जीव पुद्गलो की गति और स्थिति का निमित्त है वही क्रमशः धर्म एवं अधर्म द्रव्य है, इन दो द्रव्यों के अस्तित्व हुए बिना जीव पुद्गलो का गति स्थितिरूप कार्य होना असम्भव है । अभिप्राय यह है कि क्रियाशील पदार्थ जीव और पुद्गल है इनका सर्व साधारण बाह्य निमित्त यदि कोई है तो वह धर्म द्रव्य है और जो इन द्रव्यो का स्थित होने मे निमित्त है वह अधर्म द्रव्य है ऐसा अनुमान से सिद्ध होता है ।

शंका—गति और स्थिति क्रिया को करने में परिणत हुए जो पदार्थ है वे ही परस्पर मे उस गति स्थिति के निमित्त हुआ करते है ?

समाधान—ऐसा माने तो अन्योन्याश्रय होगा—ठहरते हुए पदार्थो से गमन करते हुए पदार्थो की गति सिद्ध होने पर उनसे ठहरते हुए पदार्थो की स्थिति सिद्ध होगी, और उस स्थिति के सिद्ध होने पर गमन करते हुए पदार्थो की स्थिति सिद्ध हो पायेगी । इसतरह दोनो ही असिद्ध रह जायेगे ।

शका—सपूर्ण पदार्थो की गति एव स्थिति जो होती है वह साधारण निमित्त से रहित ही होती है क्योकि वह अपने अपने प्रतिनियत निश्चित कारण से होती है ?

समाधान—यह शका असत् है, नृत्यकारिणी नृत्य कर रही है वह नृत्य रूप पर्याय या अवस्था सकल प्रेक्षक लोगो के नाना तरह के काम भाव आदि की उत्पत्ति कराने मे साधारण निमित्त है । वह किस प्रकार है ? जिसतरह एक ही नृत्य एक बार

सहकारिमात्रत्वेन चेत्; तर्हि सकलार्थगतिस्थितीना सकृद्भुवा धर्माधर्मौ सहकारिमात्रत्वेन साधारणं निमित्त किन्नेष्यते ?

पृथिव्यादिरेव साधारण निमित्त तासाम्; इत्यप्यसङ्गतम्, गगनवर्त्तिपदार्थगतिस्थितीना तदसम्भवात्। तर्हि नभः साधारण निमित्त तासामस्तु सर्वत्र भावात्; इत्यप्यपेशलम्; तस्यावगाह-निमित्तत्वप्रतिपादनात्। तस्यैकस्यैवानेककार्यनिमित्ततायाम् अनेकसर्वगतपदार्थपरिकल्पनानर्थक्यप्रस-

---

मे ही देखने वाले सकल व्यक्तियो के नाना भावो का निमित्त होता है उसी तरह धर्म अधर्म द्रव्य गति स्थिति शोल पदार्थो के गति स्थिति का क्रमशः साधारण निमित्त है।

शका—नृत्यकारिणीका नृत्य नाना भावो को उत्पन्न कराने मे मात्र सहकारी कारण है ?

समाधान–तो फिर ऐसे ही सकल पदार्थो की गति–स्थिति जो कि एक बार मे हो रही है उनके सहकारी कारण धर्म अधर्म द्रव्य है इसतरह से उनको साधारण निमित्तरूप से क्यो न माना जाय ? अर्थात् मानना ही चाहिये।

शका—द्रव्यो के गमन तथा स्थिति का साधारण निमित्त तो पृथिवी जलादि पदार्थ है ?

समाधान—यह बात गलत है, जो जीवादि पदार्थ आकाश मे [अधर] स्थित है उन पदार्थो को ये पृथिवी आदि पदार्थ गमनादि कराने मे निमित्त कैसे हो सकेगे, अर्थात् नही हो सकते।

शका—यदि ऐसी बात है तो गति और स्थितियो का साधारण निमित्त आकाश को माना जाय क्योकि वह तो सर्वत्र है ?

समाधान—यह कथन भी असुन्दर है, आकाश तो अवगाह देता है, उसीका वह साधारण निमित्त सिद्ध होता है।

शंका—वह एक ही आकाश द्रव्य अवगाह, गति आदि अनेक कार्यो का निमित्त माना जाय ?

ङ्गात्, कालात्मदिक्सामान्यसमवायकार्यस्यापि यौगपद्यादिप्रत्ययस्य बुद्धयादेः 'इदमतः पूर्वेण' इत्यादि-प्रत्ययस्य अन्वयज्ञानस्य 'इहेदम्' इति प्रत्ययस्य च नभोनिमित्तस्योपपत्तेस्तस्य सर्वत्र सर्वदा सद्भावात्। कार्यविशेषात्कालादिनिमित्तभेदव्यवस्थायाम् तत एव धर्मादिनिमित्तभेदव्यवस्थाप्यस्तु सर्वथा विशेषा-भावात्।

एतेनादृष्टनिमित्तत्वमप्यासा प्रत्याख्यातम्, पुद्गलानामदृष्टासम्भवाच्च। ये यदात्मोपभोग्याः

समाधान—इसतरह माना जाय तो आकाश आदि अनेक सर्वगत पदार्थों की कल्पना करना व्यर्थ ठहरता है, वैशेषिक आदि परवादी के यहां बताया है कि काल, आत्मा, दिशा सामान्य, और समवाय ये सर्वदा सर्वगत है, काल द्रव्य का कार्य युगपत्, चिर, क्षिप्र आदि का ज्ञान कराना है, इस कार्य से पृथक् ही आत्म द्रव्य का कार्य है वह बुद्धि आदि का निमित्त है। दिशा द्रव्य का कार्य 'यहा से यह पूर्व मे है इत्यादि ज्ञान को कराना है। "यह गौ है यह भी गौ है" इत्यादि रूप से अन्वय ज्ञान का हेतु सामान्य नामा सर्वगत पदार्थ है और इहेद प्रत्ययरूप कार्य को समवाय करता है। उक्त निखिल कार्य एक आकाश के निमित्त से होना मानना चाहिये क्योकि आकाश का सर्वत्र सर्वदा सद्भाव है।

शंका—कालादि द्रव्यो का पृथक् पृथक् विशेष कार्य देखकर इन विभिन्न कार्यों का विभिन्न निमित्त होना चाहिये इत्यादि रूप से इनको सिद्ध किया है।

समाधान—इसीप्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य को सिद्ध करना चाहिए, इनका भी गति और स्थितिरूप विभिन्न कार्य देखते है अत इन कार्यो का कोई साधारण निमित्त अवश्य है ऐसा अनुमान द्वारा आकाश द्रव्य से भिन्न द्रव्य रूप इनको सिद्ध किया जाता है। आकाश, काल आदि के समान ये भी सिद्ध होते हैं। उभयत्र कोई विशेष भेद नही है।

कोई कहे कि गति स्थितियो का निमित्त कारण अदृष्ट को माना जाय तो वह ठीक नही, इस मान्यता का भी पहले के समान खण्डन हुआ समझना चाहिए तथा यह भी बात है कि यदि अदृष्ट के निमित्त से गति स्थिति होती है तो पुद्गलो मे गमनादि नही हो सकेंगे, क्योकि पुद्गल के अदृष्ट नही होता।

पुद्गलास्तद्गतिस्थितयस्तदात्माऽदृष्टनिमित्ताश्चेत्; तर्ह्यसाधारणं निमित्तमदृष्टं तासां प्रतिनियतात्मादृष्टस्य प्रतिनियतद्रव्यगतिस्थितिहेतुत्वप्रसिद्धेः । न च तदनिष्टं तासां क्षमादेरिवासाधारणकारण-

---

वैशेषिक—जो पुद्गल जिस आत्मा के उपभोग्य हुआ करते है, वे उसी आत्मा के अदृष्ट द्वारा गति स्थितिरूप कार्य को करते हैं, अर्थात् उस आत्मा का अदृष्ट ही उस सम्बन्धी पुद्गल के गति स्थिति का निमित्त होता है, ऐसा माना जाय ?

जैन—ऐसा कहो तो अदृष्ट को गति और स्थितियों का असाधारण निमित्त मानना होगा न कि सर्व साधारण निमित्त, क्योकि अदृष्ट तो प्रत्येक आत्मा का पृथक् पृथक् अपने ही आत्मा मे प्रति नियमित होता है, उसके द्वारा अपनी ही आत्मा के उपभोग्य पुद्गल के गति एव स्थिति का निमित्तपना हो सकता है अन्य आत्मा के पुद्गल के गति स्थिति का नही । दूसरी बात यह है यदि कोई अदृष्ट को गति आदि का असाधारण निमित्त माने तो हम जैन को कोई अनिष्टकारक बात नही है, हमारा सिद्धात तो अबाधित ही रहता है कि इन गति स्थितियो का सर्व साधारण निमित्त तो धर्म-अधर्म द्रव्य ही है, अन्य नही । जिस तरह इन गति आदि का असाधारण निमित्त पृथिवी जल इत्यादि पदार्थ है उस तरह यदि अदृष्ट को इन गति आदि का असाधारण निमित्तपना माना जाय तो हमे इष्ट ही है किन्तु साधारण निमित्त तो गति स्थितियो का धर्म-अधर्म द्रव्य ही है, इसप्रकार गति स्थितिरूप कार्य विशेष से धर्म अधर्म द्रव्यो का सद्भाव सिद्ध होता है ।

विशेषार्थ—जब वैशेषिकादि परवादी द्वारा मान्य द्रव्य, गुण इत्यादि पदार्थों का खण्डन किया तो सहज ही प्रश्न होते है कि जैन के यहा पदार्थों का लक्षण क्या होगा, कितनी सख्या होगी, वे किस प्रमाण द्वारा आधारित है-सिद्ध होते है ? इत्यादि, सो यहा सक्षेप से बताया जाता है, मूल ग्रन्थ मे धर्म-अधर्म द्रव्य की सिद्धि की है, आत्मा आदि की सिद्धि तो परवादी के आत्मा आदि द्रव्यो का खण्डन करते हुए ही कर दी है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल इसप्रकार ये छह द्रव्य या पदार्थ है । जीव का लक्षण उपयोग-ज्ञान दर्शनमयी है, अर्थात् जिसमे ज्ञानदर्शन पाया जाय वह जीव द्रव्य है, इसकी सख्या अनन्त है, जैन जीव की सत्ता पृथक् पृथक् मानते है एक परमात्मा के ही अंशरूप सब जीव हैं ऐसा नही मानते है । जीव द्रव्य की सिद्धि

स्याद्दृष्टस्यापीष्टत्वात्। साधारण तु कारणं तासा धर्माधर्मावेवेति सिद्धः कार्यविशेषात्तयोः सद्भाव इति।

अपने स्वय के अनुभवरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा होती है, तथा अनुमान एवं आगम प्रमाण से भी होती है। जीव द्रव्य के ससारी मुक्त इत्यादि भेद प्रभेद, इनकी शुद्ध अशुद्ध अवस्था इत्यादि का वर्णन जैन ग्रन्थो मे पाया जाता है वही से [जीव कांड, सर्वार्थसिद्धि आदि से] जानना चाहिये। पुद्गल का लक्षण–स्पर्श, रस, गध और वर्ण जिसमे पाये जाते हैं वह पुद्गल द्रव्य है, चाहे दृश्यमान पुद्गल चाहे अदृश्यमान पुद्गल हो दोनो मे ही स्पर्शादि चारो गुण निश्चित रहते है, ऐसा नही है कि किसी मे एक किसी मे दो इत्यादिरूप से गुण रहते हो जैसा कि वैशेषिक मानते हैं। पुद्गल की जाति भेद की अपेक्षा दो भेद है अणु और स्कन्ध, स्कन्ध के स्थूल आदि छह भेद हैं, इनकी सख्या जीव से भी अनन्तानत प्रमाण है, यह द्रव्य तो चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। धर्म, अधर्म, काल और आकाश इनकी सिद्धि अनुमान तथा आगम प्रमाण से होती है। धर्म–अधर्म द्रव्यो का लक्षण उनके गति और स्थितिरूप कार्य विशेष द्वारा किया जाता है, अर्थात् गति परिणत जीव पुद्गलो को जो उदासीनरूप से निमित्त होता है वह धर्म द्रव्य है, यही इस द्रव्य का विशेष गुण है यही इसका लक्षण है, जैसा जीव का ज्ञान लक्षण है और विशेष गुण भी वही है। अधर्म द्रव्य स्थितिपरिणत जीव पुद्गलो का उदासीन सहायक है, इस द्रव्य का यह विशेष गुण एव लक्षण है। काल वर्त्तना लक्षण वाला है, इसके निमित्त से प्रत्येक द्रव्य मे प्रतिक्षण परिवर्त्तन होता है। इसी उपादान कारण द्वारा सूर्यादि के भ्रमण का निमित्त पाकर दिन, रात, वर्ष, अयन, युग इत्यादि व्यवहार काल बनता है। आकाश का लक्षण अवगाहना है, जीवादि सभी द्रव्यो को एव स्वय को जो स्थान दे वह आकाश है वह एक अखंडित सर्वगत है किंतु निरश नही अश सहित है–अनत प्रदेशी है। इन सभी द्रव्यो का विशेष विवेचन तत्वार्थ सूत्र, सर्वार्थ सिद्धि, राजवार्त्तिक, गोम्मटसार, पचास्तिकाय इत्यादि जैन ग्रन्थो में पाया जाता है, विशेष जानने के इच्छुक मुमुक्षुओ को वही से जानना चाहिये, यहा तो प्रसंग पाकर दिग्दर्शन मात्र कराया है।

॥ धर्माधर्मद्रव्यविचार समाप्त ॥

अथेदानी फलविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमज्ञाननिवृत्तिरित्याद्याह—

अज्ञाननिवृत्तिः हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।। ५।१ ।।

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ।। ५।२ ।।

अब यहा पर प्रमाण के फल का विचार करते है, परीक्षामुख तथा प्रमेय रत्नमाला इन दोनो ग्रन्थो मे प्रमाण के फल का प्रकरण पाचवे परिच्छेद मे दिया है किन्तु यहां प्रभाचन्द्राचार्य ने इसको चौथे परिच्छेद मे दिया है । अस्तु । प्रमाण का विवेचन करते समय चार विपयो मे विवाद होता है प्रमाए का स्वरूप–लक्षण, प्रमाण की सख्या, प्रमाण का विषय और प्रमाण का फल इसतरह स्वरूप विप्रतिपत्ति, सख्या विप्रतिपत्ति, विषय विप्रतिपत्ति, फल विप्रतिपत्ति इन चार विवादो मे से प्रथम परिच्छेद मे "स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण" इत्यादि रूप से स्वरूप विप्रतिपत्ति को दूर करते हुए प्रमाण का निर्दोष स्वरूप बताया है। तद् द्वेधा "प्रत्यक्षेतर भेदात्" इत्यादि रूप से प्रमाण के भेद द्वितीय परिच्छेद मे बतलाकर प्रमाण की—सख्या को निश्चित करके सख्या विप्रतिपत्ति दूर की। "सामान्य विशेषात्मा तदर्थोविषय" इत्यादिरूप से चौथे परिच्छेद मे प्रमाण के विषय का नियम बनाकर विषय विप्रतिपत्ति को समाप्त किया अब यहा चौथे परिच्छेद के अत मे [परीक्षामुख ग्रन्थ की अपेक्षा पाचवे परिच्छेद मे] अतिम फल विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए माणिक्यनदी आचार्य सूत्रावतार करते है—

अज्ञान निवृत्ति. हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।।५।१।।

प्रमाणादभिन्न भिन्नं च ।।५।२।।

द्विविध हि प्रमाणस्य फल ततो भिन्नम्, अभिन्न च। तत्राज्ञाननिवृत्तिः प्रमाणादभिन्नं फलम्। ननु चाज्ञाननिवृत्ति प्रमाणभूतज्ञानमेव, न तदेव तस्यैव कार्य युक्त विरोधात्, तत्कुतोसौ प्रमाणफलम्? इत्यनुपपन्नम्; यतोऽज्ञानमज्ञप्तिः स्वपररूपयोर्व्यामोहः, तस्य निवृत्तिर्यथावत्तद्रूपयोर्ज्ञप्तिः, प्रमाणधर्मत्वात् तत्कार्यतया न विरोधमध्यास्ते। स्वविषये हि स्वार्थस्वरूपे प्रमाणस्य व्यामोहविच्छेदा-

---

सूत्रार्थ—अज्ञान का दूर होना प्रमाण का फल है, तथा हेय पदार्थ मे हेयत्व की–त्याग–छोडने की बुद्धि होना, उपादेय मे ग्रहण की बुद्धि होना और उपेक्षणीय वस्तु में उपेक्षाबुद्धि होना प्रमाण का फल है। यह प्रमाण का फल प्रमाण से कथचित् भिन्न है और कथचित् अभिन्न भी है। किसी भी वस्तु को जानने से तत्सवधी अज्ञान दूर होता है, यह प्रमाण का–जानने का फल [लाभ] है, जिस वस्तु को जाना है उसमे यह मेरे लिये उपयोगी वस्तु है ऐसा जानना उपादेय बुद्धि कहलाती है यह कार्य भी प्रमाण का होने से उसका फल कहलाता है। तथा हानिकारक पदार्थ मे यह छोडने योग्य है ऐसी प्रतीति होना भी प्रमाण का फल है। जो न उपयोगी है और न हानिकारक है ऐसे पदार्थो मे उपेक्षाबुद्धि होना भी प्रमाण का ही कार्य है। यह प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न होता है तथा अभिन्न भी होता है। जो अज्ञान की निवृत्ति होना रूप फल है वह तो प्रमाण से अभिन्न है।

शंका—अज्ञान निवृत्ति होना प्रमाणभूत ज्ञान ही है फिर उसे प्रमाण का कार्य कैसे कह सकते है? यदि कहेगे तो विरुद्ध होगा, अतः प्रमाण का फल अज्ञान निवृत्ति है ऐसा कहना किस तरह सिद्ध होगा?

समाधान—यह शका ठीक नही, अज्ञान जो होता है वह नही जाननेरूप हुआ करता है स्व परका व्यामोहरूप होता है उसकी निवृत्ति होने पर जैसा का तैसा स्व परका जानना होता है यह प्रमाण का धर्म है अतः अज्ञान निवृत्ति प्रमाण का कार्य है [फल है] ऐसा मानने मे कोई विरोध नही होता, यदि प्रमाण अपने विषयभूत स्व पर अर्थ के स्वरूप मे होने वाला व्यामोह [अज्ञान विपर्ययादि] दूर नही कर सकता है तो वह बौद्ध के निर्विकल्प दर्शन और वैशेषिक के सन्निकर्ष के समान होने से प्रमाणभूत नही होगा। अर्थात् निर्विकल्प दर्शन स्वविषयसम्बन्धी अज्ञान को–व्यामोह को दूर नही करता सन्निकर्ष भी अज्ञान को दूर नही करता अतः अप्रमाण है वैसे यदि प्रमाण अज्ञान

भावे निर्विकल्पकदर्शनात् सन्निकर्षाच्चाविशेषप्रसङ्गत· प्रामाण्यं न स्यात् । न च धर्मधर्मिणोः सर्वथा भेदोऽभेदो वा, तद्भावविरोधानुषङ्गात् तदन्यतरवदर्थान्तरवच्च ।

अथाज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञानमेवेत्यनयो सामर्थ्यसिद्धत्वान्यथानुपपत्तेरभेद.; तन्न, अस्याऽविरुद्धत्वात् । सामर्थ्यसिद्धत्व हि भेदे सत्येवोपलब्ध निमन्त्रणे आकारणवत् । कथं चैव वादिनो हेतावन्वयव्यतिरेक-धर्मयोर्भेद. सिध्येत् ? 'साध्यसद्भावेऽस्तित्वमेव हि साध्याभावे हेतोर्नास्तित्वम्' इत्यनयोरपि सामर्थ्य-सिद्धत्वाविशेषात् ।

को दूर नही करेगा तो अप्रमाण हो जायगा । तथा अज्ञान निवृत्ति प्रमाण का स्वभाव या धर्म है, धर्म धर्मी से सर्वथा भिन्न या अभिन्न नही होता, यदि धर्म धर्मी का परस्पर मे सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद स्वीकार करेगे तो यह धर्म इसी धर्म का है ऐसा तद्भाव नही हो सकेगा, जिस तरह केवल धर्म या धर्मी मे तद्भाव नही बनता अथवा अर्थान्तरभूत दो पदार्थों का तद्भाव नही होता अर्थात् धर्मी से धर्म को सर्वथा अभिन्न माने तो दोनो मे से एक ही रहेगा क्योकि वे सर्वथा अभिन्न है एव धर्मी से धर्म सर्वथा भिन्न माने तो इस धर्मी का यह धर्म है ऐसा कथन नही हो सकेगा ।

शका—अज्ञाननिवृत्ति ज्ञान ही है इसलिये इनमे सामर्थ्य सिद्धत्व की अन्यथा-नुपपत्ति से अभेद ही सिद्ध होता है, अर्थात्–अज्ञाननिवृत्ति की अन्यथानुपपत्ति से ज्ञान सिद्धि और ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति से अज्ञाननिवृत्ति की सिद्धि होती है । अत इनमे अभेद है ।

समाधान—ऐसी बात नही कहना, ज्ञान की सामर्थ्य से ही अज्ञान निवृत्ति की सिद्धि हो जाती है तो भी इनमे भेद मानना अविरुद्ध है । क्योकि सामर्थ्य सिद्ध-पना भेद होने पर ही देखने मे आता है जैसे निमन्त्रण मे आह्वानन सामर्थ्य सिद्ध है । दूसरी बात यह है कि यदि सामर्थ्यसिद्धत्व होने से अज्ञान निवृत्ति और ज्ञान इनको अभेदरूप ही मानेगे तो आपके यहा हेतु मे अन्वय धर्म और व्यतिरेक धर्म मे भेद किस प्रकार सिद्ध होगा ? अर्थात् नही होगा, क्योकि साध्य के सद्भाव मे होना ही हेतु का साध्य के अभाव मे नही होना है, हेतुका साध्य मे जो अस्तित्व है वही साध्य के अभाव मे नास्तित्व है इसतरह ये दोनो सामर्थ्य सिद्ध हैं कोई विशेषता नही साध्य के होने पर होना अन्वयी हेतु है अथवा हेतुका अन्वय धर्म है और साध्य के नही होने पर नही

न चानयोरभेदे कार्यकारणभावो विरुध्यते; अभेदस्य तद्भावाविरोधकत्वाज्जीवसुखादिवत् । साधकतमस्वभाव हि प्रमाणम् स्वपररूपयोर्ज्ञप्तिलक्षणामज्ञाननिवृत्तिं निर्वर्त्तयति तत्रान्येनास्या निर्वर्त्तनाभावात् । साधकतमस्वभावत्व चास्य स्वपरग्रहणव्यापार एव तद्ग्रहणाभिमुख्यलक्षण। । तद्धि स्वकारणकलापादुपजायमान स्वपरग्रहणव्यापारलक्षणोपयोगरूप सत्स्वार्थव्यवसायरूपतया परिणमते इत्यभेदेऽप्यनयोः कार्यकारणभावाऽविरोधः ।

नन्वेवमज्ञाननिवृत्तिरूपतयेव हानादिरूपतयाप्यस्य परिणमनसम्भवात् तदप्यस्याऽभिन्नमेव

होना व्यतिरेक है–हेतु का व्यतिरेक धर्म इसतरह उप हेतु के अन्वय–व्यतिरेकरूप दो धर्म न मानकर अभेद स्वीकारना होगा ।

प्रमाण और अज्ञान निवृत्तिरूप प्रमाण का फल इनमे कथंचित् अभेद मानने पर भी कार्य कारणपना विरुद्ध नही है अर्थात् प्रमाण कारण है और अज्ञान निवृत्ति उसका कार्य है ऐसा कार्य कारणभाव अभेद पक्ष मे भी [प्रमाण से उसके फलको अभिन्न मानने पर भी] विरुद्ध नही पडता, अभेद का तद्भाव के साथ कोई विरोधकपना नही है जिसप्रकार जीव और सुख मे अभेद है फिर भी जीवका कार्य सुख है ऐसा कार्यकारणभाव मानते है । पदार्थो को जानने के लिये साधकतम स्वभाव वाला प्रमाण स्व परको जानना रूप ज्ञप्ति लक्षण वाली अज्ञान निवृत्ति को करता है, इस कार्य मे अन्य सन्निकर्षादि समर्थ नही है अर्थात् अज्ञान निवृत्ति को करने मे सन्निकर्षादि को शक्ति नही होती इस प्रमाण का साधकतम स्वभाव तो यही है कि स्व और परको ग्रहण करने का व्यापार–स्व परको ग्रहण करने मे अभिमुख होना । इसप्रकार के स्वभाव वाला प्रमाण अपने कारण सामग्री से उत्पन्न होता हुआ स्व परको ग्रहण करना रूप व्यापार लक्षण वाले उपयोगरूप परिणमन करता है जो कि परिणमन स्व परका निश्चयात्मक स्वरूप होता है [सशय विपर्यय अनध्यवसाय रहित सविकल्परूप से स्व और परका निश्चय करता है], इसप्रकार प्रमाण और उसका फल इनमे कार्य कारण भाव का अविरोध है ।

शका—इस तरह आप अज्ञान निवृत्तिरूप फल को प्रमाण से अभिन्न मानते है तो हान उपादान और उपेक्षारूप फल को भी प्रमाण से अभिन्न मानना चाहिये ? क्योकि हानोपादानादिरूप से भी प्रमाण का परिणमन [कार्य] होता है ।

फलं स्यात्; इत्यप्यसुन्दरम्; अज्ञाननिवृत्तिलक्षणफलेनास्य व्यवधानसम्भवतो भिन्नत्वाविरोधात्। अत आह-हानोपादानोपेक्षाश्च प्रमाणाद्भिन्न फलम्। अत्रापि कथञ्चिद्भेदो द्रष्टव्यः। सर्वथा भेदे प्रमाणफलव्यवहारविरोधात्। अमुमेवार्थं स्पष्टयन् यः प्रमिमीते इत्यादिना लौकिकेतरप्रतिपत्तिप्रसिद्धां प्रतीतिं दर्शयति—

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ॥५।३॥

यः प्रतिपत्ता प्रमिमीते स्वार्थग्रहणपरिणामेन परिणमते स एव निवृत्ताज्ञान· स्वविषये व्यामोहविरहितो जहात्यभिप्रेतप्रयोजनाप्रसाधकमर्थम्, तत्प्रसाधक स्वादत्ते उभयप्रयोजनाऽप्रसाधक तूपेक्षणीयमुपेक्षते चेति प्रतीते प्रमाणफलयो कथञ्चिद्भेदाभेदव्यवस्था प्रतिपत्तव्या।

समाधान—यह कहना गलत है, प्रमाण से प्रथम तो अज्ञान निवृत्तिरूप फल होता है अनन्तर हानादि फल होते हैं, अज्ञान निवृत्तिरूप फल से व्यवधानित होकर ही हानोपादानादि फल उत्पन्न होते हैं अतः इन हानादिको प्रमाण से कथचित् भिन्न मानने मे कोई विरोध नही आता। इसीलिये प्रमाण से हान, उपादान और उपेक्षा फल भिन्न है ऐसा कहा है। यह भिन्नता कथचित् है, यदि हानादि फल को सर्वथा भिन्न मानेगे तो यह प्रमाण का फल है इसप्रकार से कह नही सकेंगे। अब आगे प्रमाण के फल के विषय मे इसी भेदाभेद अर्थ को स्पष्ट करते हुए य प्रमिमीते इत्यादि सूत्र द्वारा लौकिक तथा शास्त्रज्ञ मे प्रसिद्ध ऐसी प्रतीति को दिखलाते है–य· प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीते ॥५।३॥

सूत्रार्थ—जो जानता है वही अज्ञान रहित होता है एवं हेयको छोडता है, उपादेय को ग्रहण करता है, उपेक्षणीय पदार्थ मे मध्यस्थ होता है इसप्रकार सभी को प्रतिभासित होता है।

जो प्रमाता जानता है अर्थात् स्व पर ग्रहणरूप परिणाम से परिणमता है उसीका अज्ञान दूर होता है, व्यामोह [सशयादि] से रहित होता है, वही प्रमाता पुरुष अपने इच्छित प्रयोजन को सिद्ध नही करने वाले पदार्थ को छोड देता है और प्रयोजन को सिद्ध करने वाले को ग्रहण करता है जो न प्रयोजन का साधक है और न असाधक है अर्थात् उपेक्षणीय है उस पदार्थ की उपेक्षा कर देता है, इस तरह तीन

नन्वेवं प्रमातृप्रमाणफलानां भेदाभावात्प्रतीतिप्रसिद्धस्तद्व्यवस्थाविलोपः स्यात्; तदसाम्प्रतम्; कथञ्चिल्लक्षणभेदतस्तेषा भेदात् । आत्मनो हि पदार्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वेन व्याप्रियमाण स्वरूपं प्रमाणं निर्व्यापारम्, व्यापार तु क्रियोच्यते, स्वातन्त्र्येण पुनर्व्याप्रियमाण प्रमाता, इति कथञ्चित्तद्भेदः । प्राक्तनपर्यायविशिष्टस्य कथञ्चिदवस्थितस्यैव बोधस्य परिच्छित्तिविशेषरूपतयोत्पत्तेरभेद इति । साधनभेदाच्च तद्भेदः; करणसाधन हि प्रमाण साधकतमस्वभावम्, कर्तृसाधनस्तु प्रमाता

प्रकार से प्रमाता की प्रक्रिया प्रतीति मे आती है, इसलिये प्रमाण से प्रमाण का फल कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न होता है ।

शंका—इसतरह प्रमाण के विषय मे मानेगे तो प्रमाता, प्रमाण और फल इनमें कुछ भी भेद नही रहेगा, फिर यह जगत प्रसिद्ध प्रमाता आदि का व्यवहार समाप्त हो जायगा ।

समाधान—यह शका निर्मूल है, प्रमाता आदि मे लक्षण भिन्न भिन्न होने से कथचित् भेद माना है । पदार्थ के जानने मे साधकतमत्व–करणरूप से परिणमित होता हुआ आत्मा का जो स्वरूप है उसे प्रमाण कहते है जो कि निर्व्यापाररूप है, तथा जो व्यापार है जानन क्रिया है वह फल है । स्वतन्त्ररूप से जानना क्रिया मे प्रवृत्त हुआ आत्मा प्रमाता है, इसतरह प्रमाण आदि मे कथचित् भेद माना गया है । अभिप्राय यह है कि–आत्मा प्रमाता कहलाता है जो कर्त्ता है, आत्मा मे ज्ञान है वह प्रमाण है, और जानना फल है । कभी कभी प्रमाता और प्रमाण इनको भिन्न न करके प्रमाता जानता है ऐसा भी कहते है क्योकि प्रमाता आत्मा और प्रमाण ज्ञान ये दोनों एक ही द्रव्य हैं केवल संज्ञा, लक्षणादि की अपेक्षा भेद है । इसतरह कर्त्ता और करण को भेद करके तथा न करके कथन करते है, "प्रमाता घट जानाति" यहा पर कर्त्ता करण दोनों को पृथक् नही किया, प्रमाता प्रमाणेन घट जानाति इसतरह की प्रतीति या कथन करने पर आत्मा के ज्ञान को पृथक् करके आत्मा कर्त्ता और ज्ञान करण बनता है । प्राक्तन पर्याय से विशिष्ट तथा कथचित् अवस्थित ऐसा जो ज्ञान है वही परिच्छित्ति विशेष अर्थात् फलरूप से उत्पन्न होता है अत. प्रमाण और फल मे अभेद भी स्वीकार किया है । कर्तृसाधन आदि की अपेक्षा भी प्रमाता आदि मे भेद होता है साधकतम स्वभाव रूप करण साधन होता है इसमे प्रमाण करण बनता है "प्रमीयते येन इति प्रमाण"

स्वतन्त्रस्वरूपः, भावसाधना तु क्रिया स्वार्थनिर्णीतिस्वभावा इति कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमादेव कार्यकारणभावस्याप्यविरोधः ।

यच्चोच्यते–आत्मव्यतिरिक्तक्रियाकारि प्रमाणं कारकत्वाद्वास्यादिवत्, तत्र कथञ्चिद्भेदे साध्ये सिद्धसाध्यता, अज्ञाननिवृत्तेस्तद्धर्मतया हानादेश्च तत्कार्यतया प्रमाणात्कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात् । सर्वथा भेदे तु साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः; वास्यादिना हि काष्ठादेश्छिदा निरूप्यमाणा छेद्यद्रव्यानुप्रवेशलक्षणैवावतिष्ठते । स चानुप्रवेशो वास्यादेरात्मगत एव धर्मो नार्थान्तरम् । ननु छिदा काष्ठस्था वास्यादिस्तु देवदत्तस्थ इत्यनयोर्भेद एव, इत्यप्यसुन्दरम्; सर्वथा भेदस्यैवमसिद्धेः, सत्त्वादिनाऽ-

---

कर्तृसाधन मे यः प्रमिमीते स प्रमाता इसप्रकार स्वतन्त्र स्वरूप कर्त्ता की विवक्षा होती है। भाव साधन मे स्वपर की निश्चयात्मक ज्ञप्तिक्रिया दिखायी जाती है "प्रमितिः प्रमाण" यह फलस्वरूप है। इसतरह कथचित् भेद स्वीकार करने से हो कार्य कारण भाव भी सिद्ध होता है, कोई विरोध नही आता। परवादी का कहना है कि आत्मा से पृथक् क्रिया को करने वाला प्रमाण होता है, क्योकि यह कारक है, जैसे वसूला आदि कारक होने से कर्त्ता पुरुष से पृथक् क्रिया को करते है, इस पर हम जैन का कहना है कि यदि आत्मा से प्रमाण को कथचित् भिन्न सिद्ध करना है तो सिद्ध साध्यता है, क्योकि हम जैन ने भी अज्ञान निवृत्ति को प्रमाण का धर्म माना है और हानादिक उसके [धर्म के] कार्य माने हैं, अत प्रमाण से फल का या प्रमाता का कथचित् भेद मानना इष्ट है। यदि इन प्रमाणादि मे सर्वथा भेद सिद्ध करेगे तो उस साध्य मे वसूले का दृष्टात साध्य विकल ठहरेगा, इसी को स्पष्ट करते है–वसूला आदि द्वारा काष्ठ आदि की जो छेदन क्रिया होती है उस क्रिया को देखते है तो वह छेद्यद्रव्य–काष्ठादि मे अनुप्रविष्ट हुई ही सिद्ध होती है, वसूला लकडी मे प्रवेश करके छेदता है यह जो प्रवेश हुआ वह स्वय वसूले का ही परिणमन या धर्म है अर्थान्तर नही अतः शकाकार का जो कहना था कि कर्त्ता आदि से करण पृथक्–भिन्न ही होना चाहिये, प्रमाता आदि से प्रमाण भिन्न ही होना चाहिये, यह कहना उसीके वसूले के दृष्टात द्वारा बाधित होता है।

शका—छेदन क्रिया तो काष्ठ मे हो रही और वसूला देवदत्त के हाथ मे स्थित है इसतरह क्रिया और करण इनमे भेद ही रहता है ?

भेदस्यापि प्रतीतेः। न च 'सर्वथा करणाद्भिन्नैव क्रिया' इति नियमोस्ति; 'प्रदीपः स्वात्मनात्मानं प्रकाशयति' इत्यत्राभेदेनाप्यस्याः प्रतीतेः। न खलु प्रदीपात्मा प्रदीपाद्भिन्नः; तस्याऽप्रदीपत्वप्रसंगात् पटवत्। प्रदीपे प्रदीपात्मनो भिन्नस्यापि समवायात्प्रदीपत्वसिद्धिरिति चेत्; न; अप्रदीपेपि घटादौ प्रदीपत्वसमवायानुषङ्गात्। प्रत्यासत्तिविशेषात्प्रदीपात्मनः प्रदीप एव समवायो नान्यत्रेति चेत्; स कोऽन्योन्यत्र कथञ्चित्तादात्म्यात्।

एतेन प्रकाशनक्रियाया अपि प्रदीपात्मकत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम्। तस्यास्ततो भेदे प्रदीप-

---

समाधान—यह बात गलत है, इसतरह भी सर्वथा भेद सिद्ध नही होता, सत्व आदि धर्मो की अपेक्षा इन करण और क्रियामे अभेद भी है। अर्थात् कर्त्ता देवदत्तादि करण वसूलादि एवं छेदन क्रिया ये सब अस्ति—सत्वरूप है, सत्त्वदृष्टि से इनमे कथंचित् अभेद भी है। तथा यह सर्वथा नियम नही है कि करण से क्रिया भिन्न ही है, "प्रदीपः स्वात्मना आत्मानं प्रकाशयति" इत्यादि स्थानो पर वह क्रिया करण से अपृथक्—अभिन्न प्रतीत हो रही है। प्रदीप का जो प्रकाशरूप स्वभाव है वह प्रदीप से भिन्न नही है, यदि भिन्न होवे तो प्रदीप—अप्रदीप बन जायगा जैसे प्रदीप से पट पृथक् होने के कारण अप्रदीप है।

शंका—प्रदीप से प्रदीप का स्वरूप भिन्न है किंतु समवाय से प्रदीप मे प्रदीपत्व सिद्ध होता है ?

समाधान—यह कथन ठीक नही, इसतरह अप्रदीपरूप जो घट पट आदि पदार्थ है उनमे भी प्रदीपपने का समवाय होने का प्रसंग आता है। क्योंकि जैसे प्रदीपत्व आने के पहले प्रदीप अप्रदीपरूप है वैसे पट घट इत्यादि पदार्थ भी अप्रदीप है।

शंका—प्रत्यासत्ति की विशेषता से प्रदीप मे ही प्रदीपत्वस्वरूप का समवाय होता है अन्यत्र नही।

समाधान—वह प्रत्यासत्ति विशेष कौन है, कथंचित् तादात्म्य ही तो है ? तादात्म्य को छोडकर प्रत्यासत्ति विशेष कुछ भी नही है।

जिसप्रकार प्रदीप का स्वरूप प्रदीप से भिन्न नही है प्रदीप का प्रदीपपना या स्वरूप प्रदीपात्मक ही है ऐसा सिद्ध हुआ, इसीप्रकार प्रदीप की प्रकाशन क्रिया प्रदीप

स्याऽप्रकाशकद्रव्यत्वानुषङ्गात् । तत्रास्याः समवायान्नाय दोषः; इत्यप्यसमीचीनम्; अनन्तरोक्ताऽशेषदोषानुषङ्गात् । तन्नानयोरात्यन्तिको भेदः ।

नाप्यभेदः; तदऽव्यवस्थानुषङ्गात् । न खलु 'सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलम्' इति सर्वथा तादात्म्ये व्यवस्थापयितु शक्यं विरोधात् ।

ननु सर्वथाऽभेदेप्यनयोर्व्यावृत्तिभेदात्प्रमाणफलव्यवस्था घटते एव, अप्रमाणव्यावृत्त्या हि ज्ञान

स्वरूप ही है ऐसा समझना चाहिये, यदि प्रकाशन क्रिया को प्रदीप से भिन्न माना जायगा तो प्रदीप अप्रकाशक द्रव्य बनेगा ।

शंका—प्रदीप का प्रकाशकत्व यद्यपि पृथक् है तो भी प्रदीप मे उसका समवाय होने से कोई दोष नही आता ।

समाधान—यह कथन असमीचीन है, इसमे वही पूर्वोक्त दोष आते हैं, अर्थात्—प्रदीप का प्रकाशकत्व प्रदीप से भिन्न है तो उसका समवाय प्रदीप मे होता है अन्यत्र नही होता ऐसा नियम नही बनता प्रकाशकत्व का समवाय होने के पहले प्रदीप भी अप्रकाशरूप था और घट पटादि पदार्थ भी अप्रकाश स्वरूप थे फिर प्रदीप मे ही प्रकाशकत्व क्यो आया घटादि मे क्यो नही आया इत्यादि शकाओ का समाधान नही कर सकने से समवाय पक्ष की बात असत्य होती है । इसप्रकार प्रमाण और प्रमाण के फल मे अत्यन्त भेद—सर्वथा भेद मानना सिद्ध नही होता ।

प्रमाण और उसके फल मे सर्वथा—अत्यन्त अभेद भी नही है । क्योकि सर्वथा अभेद माने तो इनकी व्यवस्था नही होगी कि यह प्रमाण है और यह उसका फल है । कोई बौद्ध मतवाले कहे कि प्रमाण और उसके फल की व्यवस्था बन जायगी, ज्ञान का पदार्थ के आकार होना प्रमाण है और उस पदार्थ को जानना प्रमाण का फल है । सो भी बात नही है उन दोनो मे सर्वथा तादात्म्य अर्थात् अभेद मानने मे उक्त व्यवस्था विरुद्ध पडती है । तादात्म्य एक ही वस्तुरूप होता उसमे यह प्रमाण है यह उसका फल है इत्यादिरूप व्यवस्था होना शक्य नही ।

शका—प्रमाण और फल मे सर्वथा अभेद होने पर भी व्यावृत्ति के भेद से प्रमाण फल की व्यवस्था घटित होती है—ज्ञान अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण कहलाता है और अफल की व्यावृत्ति से फल कहलाता है ।

प्रमाणमफलव्यावृत्या च फलम्; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; परमार्थतः स्वेष्टसिद्धिविरोधात्। न च स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदोप्युपपद्यते इत्युक्त सारूप्यविचारे। कथ चास्याऽप्रमाणफलव्यावृत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थावत् प्रमाणफलान्तरव्यावृत्त्याऽप्रमाणफलव्यवस्थापि न स्यात् ? ततः पारमा-

---

समाधान—यह कथन अविचार पूर्ण है, इसतरह व्यावृत्ति की कल्पना से भेद बतायेंगे तो अपना इष्ट वास्तविकरूप से सिद्ध नही होगा काल्पनिक ही सिद्ध होगा। अभिप्राय यह समझना कि बौद्ध प्रमाण और उसके फल मे सर्वथा अभेद बतलाकर व्यावृत्ति से भेद स्थापित करना चाहते है, अप्रमाण की व्यावृत्ति प्रमाण है और अफल की व्यावृत्ति फल है ऐसा इनका कहना है किन्तु यह परमार्थभूत सिद्ध नही होता अप्रमाण कौनसा पदार्थ है तथा उससे व्यावृत्त होना क्या है इत्यादि कुछ भी न बता सकते है और न सिद्ध ही होता है। तथा प्रमाण और फल मे स्वभाव भेद सिद्ध हुए बिना केवल अन्य की व्यावृत्ति से भेद मानना अशक्य है। इस विषय में साकार ज्ञानवाद के प्रकरण मे [प्रथम भाग मे] बहुत कुछ कह दिया है। बौद्ध अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण की और अफल की व्यावृत्ति से फल की व्यवस्था करते है, तो इस विषय मे विपरीत प्रतिपादन करे कि–प्रमाणान्तर की व्यावृत्ति अप्रमाण कहलाता है और फलान्तर की व्यावृत्ति अफल कहलाता है तो इसका समाधान आपके पास कुछ भी नही है, अत परमार्थभूत सत्य प्रमाण तथा फल को सिद्ध करना है तो इन दोना मे कथचित् भेद है ऐसी प्रतीति सिद्ध व्यवस्था स्वीकार करना चाहिये अन्यथा प्रमाण तथा फल दोनो की भी व्यवस्था नही बन सकती ऐसा निश्चय हुआ।

विशेषार्थ—प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न है कि अभिन्न है इस विषय मे विवाद है, नैयायिकादि उसको सर्वथा भिन्न मानते हैं, तो बौद्ध सर्वथा अभिन्न, किन्तु ये मत प्रतीति से बाधित होते हैं, प्रमाण का साक्षात् फल जो अज्ञान दूर होना है वह तो प्रमाण से अभिन्न है क्योकि जो व्यक्ति जानता है उसी को अज्ञान निवृत्ति होती है ज्ञान और ज्ञान की ज्ञप्ति–जानन क्रिया ये भिन्न भिन्न नही है। परवादी का यह जो कथन है कि कर्त्ता, करण और क्रिया ये सब पृथक् पृथक् ही होने चाहिये जैसे देवदत्त कर्त्ता वसूलाकरण द्वारा काष्ठ को छेदता है इसमे कर्त्ता करण और छेदन क्रिया पृथक् पृथक् है, सो ऐसी बात ज्ञान के विषय मे नही हो सकती यह नियम नही है कि कर्त्ता करण आदि सर्वथा पृथक् पृथक् ही हो, प्रदीप कर्त्ता प्रकाशरूप करण द्वारा घट

थिके प्रमाणफले प्रतीतिसिद्धे कथञ्चिद्भिन्ने प्रतिपत्तव्ये प्रमाणफलव्यवस्थान्यथानुपपत्ते रिति स्थितम् ।

को प्रकाशित करता है, इसमे प्रदीप कर्त्ता से प्रकाशरूप करण पृथक् नही दिखता न कोई इसे पृथक् मानता ही है एव प्रकाशन क्रिया भी भिन्न नही है, प्रमाण और फल वसूला और काष्ठ छेदन क्रिया के समान नही है अपितु प्रकाश और प्रकाशन क्रिया के समान अभिन्न है अत प्रमाण से उसके फल को सर्वथा भिन्न मानने का हटाग्रह अज्ञान पूर्ण है । प्रमाण से उसके फलको सर्वथा अभिन्न बताने वाले बौद्ध के यहा भी बाधा आती है, क्योकि प्रमाण और उसका फल सर्वथा अभिन्न है, अपृथक् है तो यह प्रमाण है और यह उसका फल है ऐसी व्यवस्था नही हो सकती । अत सही मार्ग तो स्याद्वाद की शरण लेने पर ही मिलता है कि प्रमाण का फल प्रमाण से कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न है लक्षण, प्रजोजन, आदि की अपेक्षा तो भिन्न है, प्रमाण का लक्षण स्वपर को जानना है और अज्ञान दूर होना इत्यादि फल का लक्षण है । हान, उपादान एव उपेक्षा ये भी प्रमाण के फल हैं, जो पुरुष जानता है वही हान क्रिया को करता है अर्थात् प्रमाण द्वारा यह पदार्थ अनिष्टकारी है ऐसा जानकर उसे छोड देता है, तथा उपादान क्रिया अर्थात् यह पदार्थ इष्ट है ऐसा जानकर उसे ग्रहण करता है, जो पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट है उसकी उपेक्षा करता है—उसमे मध्यस्थता रखता है, यह सब उस प्रमाता पुरुष की ही क्रिया है यह प्रमाण का फल परम्परा फल कहलाता है क्योकि प्रथम फल तो उस वस्तु सम्बन्धी अज्ञान दूर होना है, अज्ञान के निवृत्त होने पर उसे छोड़ना या ग्रहण करना आदि क्रमश बाद मे होता है । इसप्रकार प्रमाण और फल में कथचित् भेद और कथचित् अभेद है ऐसा सिद्ध होता है । इसप्रकार विषय परिच्छेद नामा इस अध्याय मे श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रमाण का विषय क्या है इसका बहुत विस्तृत विवेचन किया है अत मे यह फल का प्रकरण भी दिया है इस परिच्छेद मे प्रमाण का विषय बतलाते हुए सामान्यस्वरूप विचार, ब्राह्मणत्व जाति निरास, क्षण भगवाद, सम्बन्ध सद्भाववाद, अन्वय्यात्मसिद्धि, सामान्यविशेषात्मकवाद, अवयविस्वरूप-विचार, परमाणुरूप नित्यद्रव्यविचार, आकाशद्रव्यविचार, काल तथा दिशाद्रव्यविचार, आत्मद्रव्यविचार, गुणपदार्थविचार, कर्म पदार्थ एव विशेषपदार्थविचार, समवायपदार्थ विचार, धर्मअधर्मद्रव्यविचार और अतिम फलस्वरूपविचार इसतरह सोलह प्रकरणो पर विमर्श किया गया है, ये प्रकरण कुछ बौद्ध सम्बन्धी है और कुछ वैशेषिक सम्बन्धी

योऽनेकान्तपद प्रवृद्धमतुल स्वेष्टार्थसिद्धिप्रदम्,
प्राप्तोऽनन्तगुणोदय निखिलविन्नि:शेषतो निर्मलम् ।
स श्रीमानखिलप्रमाणविषयो जीयाज्जनानन्दन:,
मिथ्यैकान्तमहान्धकाररहित· श्रीवर्द्धमानोदित ।।

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे
चतुर्थ· परिच्छेद· ।। श्री ।।

हैं । अस्तु । अब यहां पर आचार्य प्रभाचन्द्र इस परिच्छेद को समाप्त करके अन्तिम आशीर्वादात्मक मंगल श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

योऽनेकान्त पद प्रवृद्धमतुल स्वेष्टार्थसिद्धिप्रदम् ।
प्राप्तोऽनतगुणोदय निखिलविन्नि.शेषतो निर्मलम् ।।
स श्रीमानखिलप्रमाणविषयो जीयाज्जनानदन ।
मिथ्यैकान्तमहान्धकाररहित. श्री वर्द्धमानोदित: ।।१।।

अर्थ—जो अनेकान्त पद को प्राप्त है ऐसा अखिल प्रमाण का विषय जयशील होवे, कैसा है वह अनेकान्त पद ! प्रवृद्धशाली एव अतुल है, तथा स्व—अपने इष्ट अर्थ की सिद्धि को देने वाला है, अनन्त गुणों का जिसमे उदय है, पूर्णरूप से निर्मल है, जीवो को आनन्दित करने वाला है, मिथ्या एकान्तरूप महान् अधकार से रहित है, श्री वर्द्धमान तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित है श्रीयुक्त ऐसा यह प्रमाण विषय जयवन्त वर्त्तो । पक्ष में—निखिल वित्—सर्वज्ञ देव जयशील होवे ! कैसे है सर्वज्ञ देव ? जो अनेकान्त पद को प्राप्त है, कैसा है अनेकान्त पद ? प्रवृद्ध, अतुल, स्वेष्टार्थसिद्धि का प्रदाता, अनन्त गुणो का जिसमे उदय पाया जाता है, पूर्णरूप से निर्मल है श्रीमान्—श्रीयुक्त है, श्री अर्थात् अंतरग लक्ष्मी अनंत ज्ञानादि, बहिरंग लक्ष्मी समवशरणादि से युक्त है, जगत् के जीवों को आनन्दित करने वाले है, सपूर्ण प्रमाणो के विषयो को जानने वाले होने से अखिल प्रमाण विषय है मिथ्या एकातरूपी महान् अधकार से रहित है, एव गुण विशिष्ट सर्वज्ञ देव सदा जयवंत रहे । इति ।

इति श्री प्रभाचन्द्राचार्य विरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामुखालंकारे
चतुर्थः परिच्छेद: समाप्त: ।

अथेदानी तदाभासस्वरूपनिरूपणाय—

ततोन्यत्तदाभासम् ॥ १ ॥

इत्याद्याह ।

प्रतिपादितस्वरूपात्प्रमाणसख्याप्रमेयफलाद्यदन्यत्तत्तदाभासमिति । तदेव तथाहीत्यादिना यथा-क्रम । व्याचष्टे । तत्र प्रतिपादितस्वरूपात्स्वार्थव्यवसायात्मकप्रमाणादन्ये—

अब यहां पर प्रमाणाभास, सख्याभास, विषयाभास और फलाभास का वर्णन करते है—

ततोन्यत्तदाभासम् ॥१॥

अर्थ—पहले जिनका वर्णन किया था ऐसे प्रमाणो का तथा उनकी सख्या विषय एवं फल इन चारो का जो स्वरूप बताया उससे विपरीत स्वरूप वाले प्रमाणाभास संख्याभास आदि हुआ करते हैं, अर्थात् प्रमाण का स्वरूप स्वपर का निश्चय करना है इससे विपरीत स्वरूपवाला प्रमाणाभास कहलाता है । प्रमाण की प्रमुख सख्या दो हैं इससे कम अधिक सख्या मानना सख्याभास है । प्रमाण का विषय सामान्य विशेषात्मक वस्तु है उसमे अकेला सामान्यादिको विषय बताना विषयाभास है । प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न तथा कथचित् अभिन्न होता है उससे विपरीत सर्वथा भिन्न या अभिन्न मानना फलाभास है । इन्ही को आगे क्रम से श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्य सूत्र द्वारा प्रतिपादन करते हैं—सर्व प्रथम स्वार्थ व्यवसायात्मक प्रमाण से अन्य जो हो वह प्रमाणाभास है ऐसा प्रमाणाभास का लक्षण करते हुए कहते हैं—

अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ॥ २ ॥

स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ॥ ३ ॥

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ॥ ४ ॥

अस्वसविदिगृहीतार्थं दर्शन सशयादय प्रमाणाभासाः ॥२॥

स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ॥३॥

अर्थ—अपने आपको नही जानने वाला ज्ञान, गृहीतग्राही ज्ञान, निर्विकल्प ज्ञान, सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय इत्यादि प्रमाणाभास कहलाते है [असत् ज्ञान कहलाते है] क्योकि ये सभी ज्ञान अपने विषय का प्रतिभास कराने मे असमर्थ हैं निर्णय कराने मे भी असमर्थ है। आगे इन्ही का उदाहरण देते है—

पुरुषातरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ॥४॥

अर्थ—अस्वसविदित—अपने को नही जानने वाला ज्ञान अन्य पुरुष के ज्ञान के समान है, अर्थात्—जो स्वय को नही जानता वह दूसरे व्यक्ति के ज्ञान के समान ही है, क्योकि जैसे पराया ज्ञान हमारे को नही जानता वैसे हमारा ज्ञान भी हमे नही जानता, अतः इसतरह का ज्ञान प्रमाणाभास है। गृहीत ग्राही—जाने हुए को जानने वाला ज्ञान पूर्वार्थ पहले जाने हुए वस्तु के ज्ञान के समान है, इस ज्ञान से अज्ञान निवृत्तिरूप फल नही होता क्योकि उस वस्तु सम्बन्धी अज्ञान को पहले के ज्ञान ने ही दूर किया है अतः यह भी प्रमाणाभास है। निर्विकल्प दर्शन चलते हुए पुरुष के तृण स्पर्श के ज्ञान के समान अनिर्णयात्मक है, जैसे चलते हुए पुरुष के पैर मे कुछ तृणादिका स्पर्श होता है किंतु उस पुरुष का उस पर लक्ष्य नही होने से कुछ है, कुछ पैर मे लगा इतना समझ वह पुरुष आगे बढ़ता है उसको यह निर्णय नही होता कि यह किस वस्तु का स्पर्श हुआ है। इसीतरह बौद्ध जो निर्विकल्प दर्शन को ही प्रमाण मान बैठे है वह दर्शन वस्तु का निश्चय नही कर सकता अतः प्रमाणाभास है। संशय ज्ञान स्थाणु और पुरुष आदि मे होने वाला चलित प्रतिभास है यह भी वस्तु बोध नही कराता अत प्रमाणाभास है। इन सशय विपर्यय और अनध्यवसाय को तो सभी ने प्रमाणाभास माना है।

चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ।। ५ ।।

एतच्च सर्वं प्रमाणसामान्यलक्षणपरिच्छेदे विस्तरतोऽभिहितमिति पुनर्नेहाभिधीयते । तथा

चक्षू रसयोर्द्रव्ये सयुक्त समवाय वच्च ।।५।।

चक्षु और रसका द्रव्य मे सयुक्त समवाय होने पर भी जैसे ज्ञान नही होता अर्थात् सन्निकर्ष को प्रमाण मानने वाले के मत मे चक्षु और रसका सन्निकर्ष होना तो मानते है किंतु वह सन्निकर्ष प्रमाणभूत नही है क्योकि उस सन्निकर्ष द्वारा ज्ञान रसका ज्ञान नही होता इसीप्रकार अस्वसविदित ज्ञान तथा सन्निकर्षादि भी प्रमाणाभास है, अर्थात् वैशेषिकादि परवादी सन्निकर्ष को [इन्द्रिय द्वारा वस्तु का स्पर्श होना] प्रमाण मानते हैं किंतु वह प्रमाणाभास है, क्योकि यदि सन्निकर्ष–छूना मात्र प्रमाण होता तो जैसे नेत्र द्वारा रूपका स्पर्श होकर रूपका ज्ञान होना मानते है वैसे जहा जिस द्रव्य मे रूप है उसी मे रस है अत नेत्र और रूपका संयुक्त समवाय होकर नेत्र द्वारा रूपका ज्ञान होना मानते है, वैसे उसी रूप युक्त पदार्थ मे रस होने से नेत्र का भी रसके साथ सयुक्त समवाय है किन्तु नेत्र द्वारा रसका ज्ञान तो होता ही नही, अत निश्चय होता है कि सन्निकर्ष प्रमाण नही प्रमाणाभास है । इन अस्वसविदित आदि के विषय मे पहले परिच्छेद मे प्रमाण का सामान्य लक्षण करते समय विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है अब यहा पुनः नही कहते ।

विशेषार्थ—ज्ञानको अस्वसविदित मानने वाले बहुत से परवादी हैं, नैयायिक ज्ञानको अस्वसविदित मानते हैं, इनका कहना है कि ज्ञान परपदार्थो को जानता है किंतु स्वय को नही, स्वय को जानने के लिये तो अन्य ज्ञान चाहिये, इसीलिये नैयायिक को ज्ञानान्तर वेद्यज्ञानवादी कहते है, इस मतका प्रथम भाग मे भलीभाति खडन किया है और यह सिद्ध किया है कि ज्ञान स्व और पर दोनो को जानता है । मीमासक के दो भेद हैं भाट्ट और प्राभाकर, इनमे से भाट्ट ज्ञानको सर्वथा परोक्ष मानता है, नैयायिक तो अन्य ज्ञान द्वारा ज्ञानका प्रत्यक्ष होना तो बताते है किंतु भाट्ट एक कदम आगे वढते हैं ये तो कहते हैं कि ज्ञान अन्य अन्य सभी वस्तुओ को जान सकता है किन्तु स्वयं हमेशा परोक्ष ही रहेगा, इसीलिये इन्हें परोक्ष ज्ञानवादी कहते है, यह मत भी नैयायिक के समान वाधित होने से पहले भाग मे खण्डित हो चुका है । प्राभाकर अपने भाई

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद् वह्निविज्ञानवत् ।। ६ ।।

विशद प्रत्यक्षमित्युक्त ततोन्यस्मिन्नऽवैशद्ये सति प्रत्यक्ष तदाभास बौद्धस्याकस्मिकधूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् इत्यप्युक्तं प्रपञ्चत प्रत्यक्षपरिच्छेदे ।

भाट्ट से एक कदम और भी आगे बढ़ते है, ये प्रतिपादन करते है कि ज्ञान और आत्मा ये दोनो भी परोक्ष हैं ज्ञान अपने को और अपने अधिकरणभूत आत्मा इनको कभी भी नही जान सकता अतः इन्हे आत्मपरोक्षवादी कहते है, इन नैयायिक आदि परवादी का यह अभिप्राय है कि प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति इन प्रमुख चार तत्वो में से प्रमाण या ज्ञान प्रमेय को तो जानता है और प्रमिति [जानना] उसका फल होने से उसे भी ज्ञान जान लेता है किन्तु प्रमाण अप्रमेय होने से स्वयं को कैसे जाने ? नैयायिक ज्ञानको अन्य ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष होना बताते है किंतु भाट्ट इसे सर्वथा परोक्ष बताते है, प्राभाकर प्रमाण करण और आत्मा कर्ता इन दोनो को ही परोक्ष–सर्वथा परोक्ष स्वीकार करते है, इनका मत साक्षात् बाधित होता है आत्मा और ज्ञान परोक्ष रहेगे तो स्वय को जो अनुभव सुख दु.ख होता है पर वस्तु को जानकर हर्ष विषाद होता है वह हो नही सकता इत्यादि बहुत प्रकार से इन मतो का निरसन किया गया है । इस प्रकार नैयायिक, भाट्ट और प्राभाकर ये तीनो अस्वसविदित ज्ञानवादी है, इनका स्वीकृत प्रमाण नही प्रमाणाभास है । गृहीत ग्राही ज्ञान प्रमाणाभास इसलिये है कि जिस वस्तु को पहले ग्रहण कर चुके उसको जान लेने से कुछ प्रयोजन नही निकलता । निर्विकल्प दर्शन को प्रमाण मानने वाले बौद्ध है उनका अभिमत ज्ञान वस्तु का निश्चायक नही होने से प्रमाणाभास के कोटि मे आ जाता है । संशयादि ज्ञानको सभी मतवाले प्रमाणाभासरूप स्वीकार करते है । सन्निकर्ष को प्रमाण वाले वैशेषिक का मत भी बाधित होता है प्रथम तो बात यह है इन्द्रिय और पदार्थ का स्पर्श सन्निकर्ष या छूना कोई प्रमाण या ज्ञान है नही वह तो एक तरह का प्रमाण का कारण है, दूसरी बात–हर इन्द्रियां पदार्थ को स्पर्श करके जानती ही नही चक्षु और मन तो बिना स्पर्श किये ही जानते है इत्यादि इस विपय को पहले बतला चुके है ।

अवैशधे प्रत्यक्ष तदाभास बौद्धस्याकस्माद् धूमदर्शनाद् वह्निविज्ञानवत् ।।६।।

अर्थ—अविशद ज्ञानको प्रत्यक्ष कहना प्रत्यक्षाभाम है, जैसे अचानक धूम के दर्शन से होने वाले अग्नि के ज्ञान को बौद्ध प्रत्यक्ष मानते है वह प्रत्यक्षाभास इसी को

वैशद्येपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥ ७ ॥

न हि करणज्ञानेऽव्यवधानेन प्रतिभासलक्षण वैशद्यमसिद्ध स्वार्थयो प्रतीत्यन्तरनिरपेक्षतया तत्र प्रतिभासनादित्युक्त तत्रैव । तथाऽनुभूतेर्थे तदित्याकारा स्मृतिरित्युक्तम् । अननुभूते—

बताते है–पहले प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते हुए विशद प्रत्यक्षम् ऐसा कहा था, इस लक्षण से विपरीत अर्थात् अविशद–अस्पष्ट या अनिश्चायक ज्ञान प्रत्यक्ष नही किन्तु प्रत्यक्षाभास है, जैसे–जिस व्यक्ति को धूम और वाष्पका भेद मालूम नही है उस ज्ञान के अभाव मे उसको निश्चयात्मक व्याप्ति ज्ञान भी नही होता कि जहा जहा धूम होता है वहा वहा अग्नि अवश्य होती है, ऐसे व्याप्तिज्ञान के अभाव मे यदि वह पुरुष अचानक ही धूम को देखे और यहा पर अग्नि है ऐसा समझे तो उसका वह ज्ञान प्रमाण नही कहलायेगा अपितु प्रमाणाभास ही कहलायेगा, क्योकि उसे धूम और अग्नि के सम्बन्ध का निश्चय नही है न वह धूम और वाष्प के भेद को जानता है, इसीतरह बौद्ध का माना हुआ निर्विकल्प प्रत्यक्ष–प्रत्यक्ष प्रमाण नही है किन्तु प्रत्यक्षाभास है, क्योकि जैसे अकस्मात् होने वाले उस अग्नि ज्ञान को अनिश्चयात्मक होने से प्रमाणाभास माना जाता है वैसे हो निर्विकल्प दर्शन अनिश्चयात्मक होने से प्रत्यक्ष प्रमाणाभास है ऐसा मानना चाहिये । इस विषय का प्रथम भाग मे प्रत्यक्ष परिच्छेद मे विस्तारपूर्वक कथन किया है ।

वैशेद्येपि परोक्ष तदाभास मीमासकस्य करणज्ञानवत् ॥७॥

अर्थ—विशद ज्ञान को भी परोक्ष मानना परोक्षाभास है, जैसे मीमासक का करणज्ञान, अर्थात्–मीमासक करणज्ञान को [जिसके द्वारा जाना जाय ऐसा ज्ञान स्वयं परोक्ष रहता है ऐसी मीमासक की मान्यता है, तदनुसार] परोक्ष मानते हैं वह मानना परोक्षाभास है, क्योकि करण ज्ञान मे अव्यवधानरूप से जानना रूप वैशद्य असिद्ध नही है, यह ज्ञान भी स्व और परको विना किसी अन्य प्रतीति की अपेक्षा किये प्रतिभासित करता है, अत प्रत्यक्ष है, इसे परोक्ष मानना परोक्षाभास है । इस विषय का खुलासा पहले कर चुके है ।

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथेति ॥ ८ ॥

तथैकत्वादिनिबन्धन तदेवेदमित्यादि प्रत्यभिज्ञानमित्युक्तम् । तद्विपरीत तु—

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥ ९ ॥

अनुभूत विषय मे "वह" इसप्रकार की प्रतीति होना स्मरण प्रमाण कहलाता है, यदि बिना अनुभूत किया पदार्थ हो तो—

अतस्मिन् तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथेति ॥८॥

अर्थ—जो वह नही है उसमे "वह" इसप्रकार की स्मृति होना स्मरणाभास है, जैसे जिनदत्त का तो अनुभव किया था और स्मरण करता है "वह देवदत्त" इस प्रकार का प्रतिभास होना स्मृत्याभास है। एक वस्तु मे जो एकपना रहता है उसके निमित्त से होने वाला—उसका ग्राहक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान होता है, तथा और भी प्रत्यभिज्ञान के भेद पहले बताये थे उनसे विपरीत जो ज्ञान हो वे प्रत्यभिज्ञानाभास हैं अर्थात् सदृश में एकत्व का और एकत्व मे सदृश का ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञानाभास है आगे इसीको कहते है—

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृश यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभास ॥९॥

अर्थ—सदृश वस्तु मे कहना कि यह वही पुरुष [जिसे मैने कल देखा था] है, और जो वही एक वस्तु है उसको कहना या उसमे प्रतीति होना कि यह उसके सदृश है सो कमशः एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास और सदृश प्रत्यभिज्ञानाभास है, जैसे एक व्यक्ति के दो युगलिया [जुडवा] पुत्र थे, मान लो एक का नाम रमेश और एक का नाम सुरेश था दोनो भाई—बिलकुल समान थे, उन दोनो को पहले किसी ने देखा था किन्तु समानता होने के कारण कभी रमेश को देखकर उसमे यह वही सुरेश है जिसे पहले देखा था ऐसी प्रतीति करता है, तथा कभी वही एक सुरेश को देखकर भी कहता या समझता है कि यह रमेश सुरेश सदृश है। इसतरह प्रत्यभिज्ञानाभास के उदाहरण समझने चाहिये ।

असम्बन्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्, यावांस्तत्पुत्रः स श्यामः इति यथा ॥ १० ॥

व्याप्तिज्ञान तर्क इत्युक्तम् । ततोन्यत्पुनः असम्बन्धे–अव्याप्तौ तज्ज्ञान=व्याप्तिज्ञान तर्काभासम् । यावांस्तत्पुत्र स श्याम इति यथा ।

इदमनुमानाभासम् ॥ ११ ॥

असबधे तज्ज्ञानं तर्काभासम् यावास्तत् पुत्रः स श्याम इति यथा ॥१०॥

अर्थ—जिसमे व्याप्ति–सबध नही है ऐसे असबद्ध पदार्थ मे सबंध का ज्ञान होना तर्काभास है, जैसे मैत्री का जो भी पुत्र है वह श्याम [काला] ही है इत्यादि । व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते हैं ऐसा पहले बता दिया है, उस लक्षण से अन्य जो ज्ञान हो वह तर्काभास है, व्याप्ति ज्ञान का लक्षण बतलाते हुए कहा था कि "उपलभानुपलभनिमित्त व्याप्तिज्ञान मूह." उपलम्भ और अनुपलम्भ के निमित्त से व्याप्ति का ज्ञान होना तर्क प्रमाण है, जैसे जहां जहा धूम होता है वहा वहा अग्नि होती है, और जहा अग्नि नही होती वहां धूम भी नही होता इत्यादि, इसप्रकार साध्य और साधन के अविनाभावपने का ज्ञान होना अर्थात् इस साध्य के बिना यह हेतु नही होता–इस हेतु का साध्य के साथ अविनाभावी सबंध है इसतरह सबधयुक्त पदार्थ का ज्ञान तो तर्क है किन्तु जिसमे ऐसा अविनाभावी सम्बन्ध नही है, उनमे सबध बताना तो तर्काभास ही है, जैसे किसी अज्ञानी ने अनुमान बताया कि यह मैत्री के गर्भ मे स्थित जो बालक है वह काला होगा, क्योकि वह मैत्री का पुत्र है, जो जो मैत्री का पुत्र होता है वह वह काला ही होता है, जैसे वर्त्तमान मे उसके और भी जो पुत्र है वे सब काले है । इस अनुमान मे मैत्रो के पुत्र के साथ काले रंग का अविनाभाव सम्बन्ध जोडा है वह गलत है, यह जरूरी नही है कि किसी के वर्त्तमान के पुत्र काले है अतः गर्भ मे आया हुआ पुत्र भी काला ही हो । जो साधन अर्थात् हेतु माध्य के साथ अविनाभावी हो साध्य के बिना नही होता हो उसीको हेतु बनाना चाहिये ऐसे हेतु से ही अनुमान सही कहलाता है अन्यथा वह अनुमानाभास होता है और ऐसे अविनाभाव सबध के नही होते हुए भी उसको मानना तर्काभास है ।

इदमनुमानाभासम् ॥११॥

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमित्युक्तम् । तद्विपरीत त्विद वक्ष्यमाणमनुमानाभासम् । पक्षहेतु-दृष्टान्तपूर्वकश्चानुमानप्रयोगः प्रतिपादित इति । तत्रेत्यादिना यथाक्रम पक्षाभासादीनुदाहरति ।

तत्र अनिष्टादिः पक्षाभासः ।। १२ ।।

तत्रानुमानाभासेऽनिष्टादिः पक्षाभासः तत्र—

अनिष्टो मीमांसकस्याऽनित्यः शब्द इति ।। १३ ।।

स हि प्रतिवाद्यादिदर्शनात्कदाचिदाकुलितबुद्धिर्विस्मरन्ननभिप्रेतमपि पक्ष करोति ।

अर्थ—अब यहां से अनुमानाभासका प्रकरण शुरु होता है, साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं ऐसा अनुमान का लक्षण पहले कहा था इससे विपरीत ज्ञानको अनुमानाभास कहते है । पक्ष हेतु, दृष्टातपूर्वक अनुमान प्रयोग होता है ऐसा प्रतिपादन किया था उन पक्ष आदि का जैसा स्वरूप बतलाया है उससे विपरीत स्वरूप वाले पक्ष आदि का प्रयोग करने से पक्षाभास आदि बनते है और इससे अनुमान भी अनुमानाभास बनते हैं, अब क्रम से इनको कहते है—

तत्र अनिष्टादिः पक्षाभास· ।।१२।।

अर्थ—अनिष्ट आदि को पक्ष बनाना पक्षाभास है, इष्ट, अबाधित और असिद्ध ऐसा साध्य होता है, साध्य जहा पर रहता है उसे पक्ष कहते है, जिस पक्ष मे अनिष्ट-पना हो या बाधा हो अथवा सिद्ध हो वे सब पक्षाभास है ।

अनिष्टो मीमासकस्याऽनित्य· शब्द इति ।।१३।।

अर्थ—मीमासक शब्द को नित्य मानने का पक्ष रखते है किंतु यदि कदाचित् वे पक्ष बनावे कि अनित्य शब्द·, कृतकत्वात् शब्द अनित्य है, क्योकि वह किया हुआ है, इसतरह शब्द को अनित्य बताना उन्हीके लिये अनिष्ट हुआ, प्रतिवादी के मत को देखना आदि के निमित्त से कदाचित् आकुलित बुद्धि होकर वादी अपने पक्ष को विस्मृत कर अनिष्ट ऐसे परमत के पक्ष को करने लग जाता है ।

तथा सिद्धः श्रावणः शब्द ॥ १४ ॥

सिद्धः पक्षाभासः, यथा श्रावणः शब्द इति, वादिप्रतिवादिनोस्तत्राऽविप्रतिपत्तेः । तथा—

बाधित प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ॥१५॥

पक्षाभासो भवति ।

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा—

अनुष्णोग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥ १६ ॥

अनुमानबाधितो यथा—

तथा सिद्ध श्रावण शब्द ॥१४॥

अर्थ—पक्ष मे रहने वाला साध्य असिद्ध विशेषण वाला होना चाहिये उसे न समझकर कोई सिद्ध को ही पक्ष बनावे तो वह सिद्ध पक्षाभास कहलाता है, जैसे किसी ने पक्ष उपस्थित किया कि "श्रावणः शब्द" शब्द श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होता है सो ऐसे समय पर वह पक्षाभास होगा क्योंकि शब्द श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होता है । ऐसा सभी को सिद्ध है, वादी प्रतिवादी का इसमे कोई विवाद नही है ।

बाधित. प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनै ॥१५॥

अर्थ—बाधित पक्ष पाच प्रकार का है प्रत्यक्ष बाधित, अनुमान बाधित, आगम बाधित, लोक बाधित, और स्ववचन बाधित, जो भी पक्ष रखे वह अबाधित होना चाहिये ऐसा पहले कहा था किन्तु उसे स्मरण नही करके कोई बाधित को पक्ष बनावे तो वह बाधित पक्षाभास है । अब इनके पाच भेदो मे से प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास का उदाहरण प्रस्तुत करते है—

अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥१६॥

अर्थ—अग्नि ठडी है, क्योंकि वह द्रव्य है, जैसे जल द्रव्य होने से ठडा होता है । इसप्रकार कहना प्रत्यक्ष बाधित है, क्योंकि साक्षात् ही अग्नि उष्ण सिद्ध हो रही है । अनुमान बाधित पक्षाभास का उदाहरण—

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद्घटवत् ।। १७ ।।

तथाहि—'परिणामी शब्दोऽर्थक्रियाकारित्वात्कृतकत्वाद् घटवत्' इति अर्थक्रियाकारित्वादयो हि हेतवो घटे परिणामित्वे सत्येवोपलब्धा', शब्देप्युपलभ्यमाना· परिणामित्वं प्रसाधयन्ति इति 'अपरिणामी शब्द·' इति पक्षस्यानुमानबाधा ।

आगमबाधितो यथा—

प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवदिति ।। १८ ।।

आगमे हि धर्मस्याभ्युदयनि.श्रेयसहेतुत्व तद्विपरीतत्व चाधर्मस्य प्रतिपाद्यते । प्रामाण्य चास्य प्रागेव प्रतिपादितम् ।

लोकबाधितो यथा—

अपरिणामी शब्द कृतकत्वात् घटवत् ।।१७।।

अर्थ—शब्द अपरिणामी होता है, क्योकि वह किया हुआ है, जैसे घट किया हुआ है, ऐसा कहना अन्य अनुमान द्वारा बाधित होता है, अब उसी अनुमान को बताते है—शब्द परिणामी है, क्योकि वह अर्थ क्रिया को करने वाला है तथा किया हुआ है, जैसे घट अर्थ क्रियाकारी और कृतक होने से परिणामी होता है, इसप्रकार के अनुमान द्वारा पहले के शब्द को अपरिणामी बतलाने वाला अनुमान बाधा युक्त होता है, क्योकि अर्थ क्रियाकारित्व आदि हेतु घटरूप उदाहरण मे परिणामित्व के होने पर ही देखे जाते है अतः शब्द मे यदि वे अर्थ क्रियाकारित्व और कृतकत्व दिखाई देते हैं तो वे शब्द को परिणामीरूप सिद्ध कर देते है, इसलिये "अपरिणामी शब्द:" इत्यादि पक्ष मे अनुमान से बाधा आती है । आगम बाधित पक्षाभास का उदाहरण—

प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्म पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।।१८।।

अर्थ—परलोक मे धर्म दु ख को देने वाला है, क्योकि वह पुरुप के आश्रित है, जैसे अधर्म पुरुष के आश्रित होने से दु ख को देनेवाला होता है, इसतरह कहना आगम बाधित है, आगम मे तो धर्म को स्वर्ग और मोक्ष का कारण वताया है इससे उलटे जो अधर्म है उसे दु:खकारी नीच गति का कारण बताया है, अत कोई धर्म को

शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवदिति ॥ १९ ॥

लोके हि प्राण्यङ्गत्वाविशेषेपि किञ्चिदपवित्रं किञ्चित्पवित्रं च वस्तुस्वभावात्प्रसिद्धम् । यथा गोपिण्डोत्पन्नत्वाविशेषेपि वस्तुस्वभावतः किञ्चिद्दुग्धादि शुद्धं न गोमांसम् । यथा वा मणित्वाविशेषेपि कश्चिद्विषापहारादिप्रयोजनविधायी महामूल्योऽन्यस्तु तद्विपरीतो वस्तुस्वभाव इति ।

स्ववचनबाधितो यथा—

माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ॥ २० ॥

दुःख का कारण कहे तो वह आगम बाधित पक्ष है। आगम प्रमाण किस प्रकार प्रामाणिक होता है इसका कथन पहले कर दिया है। लोक बाधित पक्षाभास का उदाहरण—

शुचि नरशिर कपाल प्राण्यंगत्वाच्छखशुक्तिवत् ॥१९॥

अर्थ—मृत मनुष्य का कपाल पवित्र है, क्योकि वह प्राणों का अग अवयव है, जैसे शख, सीप आदि प्राणी के अग होकर पवित्र माने गये हैं, इसतरह अनुमान प्रयुक्त करना लोक से बाधित है लोक मे तो प्राणी का अवयव होते हुए भी किसी अग को—अवयव को पवित्र और किसी को अपवित्र बताया है, क्योकि ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, जैसे कि गाय से उत्पन्न होने की अपेक्षा दूध और मास समान होते हुए भी दूध शुद्ध है और मास शुद्ध नही है, अथवा रत्न की अपेक्षा समानता होते हुए भी कोई रत्न विष बाधा को दूर करना इत्यादि कार्य मे उपयोगी होने से महामूल्य होता है और कोई रत्न ऐसा इतना उपयोगी नही होता, इसीप्रकार का उनमे भिन्न भिन्न स्वभाव है, इसीतरह प्राणो का अग होते हुए भी मृत मनुष्य की खोपडी अपवित्र है—छूने मात्र से सचेल स्नान करना होता है और शख, सीप आदि के छूने से स्नान नही करना पडता अत दोनो को समान बतलाना लोक बाधित है। स्ववचन बाधित पक्षाभास का उदाहरण—

माता मे वन्ध्या पुरुष सयोगेप्यगर्भत्वात् प्रसिद्ध वन्ध्यावत् ॥२०॥

अथेदानी पक्षभासानन्तर हेत्वाभासेत्यादिना हेत्वाभासानाह—

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाऽकिञ्चित्कराः ।। २१ ।।

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरित्युक्त प्राक्। तद्विपरीतास्तु हेत्वाभासाः। के ते ? असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाऽकिंचित्कराः।

तत्रासिद्धस्य स्वरूप निरूपयति—

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः इति ।। २२ ।।

सत्ता च निश्चयश्च [सत्तानिश्चयौ] असन्तौ सत्तानिश्चयौ यस्य स तथोक्त। तत्र—

अर्थ—मेरी माता वन्ध्या है, क्योकि पुरुष का सयोग होने पर भी गर्भधारण नही करती, जैसे प्रसिद्ध वन्ध्या स्त्री गर्भधारण नही करती, ऐसा किसी ने पक्ष कहा यह उसी के वचन से बाधित है मेरी माता और फिर वन्ध्या, यह होना अशक्य है यदि माता वन्ध्या होती तो तू कहा से होता ? इसतरह प्रत्यक्ष बाधित आदि पक्ष को स्थापित करने से वह अनुमान गलत हो जाता है अत अनुमान का प्रयोग करते समय इष्ट, अबाधित और असिद्ध इन विशेषणो से युक्त ऐसे पक्षका ही प्रयोग करना चाहिये, अन्यथा पक्षाभास होने से अनुमान भी असत् ठहरता है। इसप्रकार नौ सूत्रों द्वारा पक्षाभास का वर्णन करके अब आगे अठारह सूत्रो द्वारा हेत्वाभासो का वर्णन करते हैं—

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाऽकिञ्चित्करा ।।२१।।

अर्थ—हेत्वाभास के चार भेद है, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर साध्य के साथ जिसका अविनाभावी सम्बन्ध हो वह हेतु कहलाता है, ऐसा हेतु का लक्षण जिसमे न पाया जाय वह हेत्वाभास है, उसके ये असिद्धादि चार भेद हैं। उनमें से असिद्ध हेत्वाभास का निरूपण करते है—

असत् सत्ता निश्चयोऽसिद्धः ।।२२।।

अर्थ—जो हेतु साध्य मे मौजूद नही हो वह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है तथा जिसका साध्य मे रहना निश्चित न हो वह सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास है, यानी जिस

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वादिति ॥ २३ ॥

कथमस्याऽसिद्धत्वमित्याह—

स्वरूपेणासिद्धत्वात् इति ॥ २४ ॥

चक्षुर्ज्ञानग्राह्यत्व हि चाक्षुषत्वम्, तच्च स्वरूपेणासत्त्वादसिद्धम् । पौद्गलिकत्वात्तत्सिद्धिः, इत्यप्यपेशलम्, तदविशेषेप्यनुद्भूतस्वभावस्यानुपलम्भसम्भवाज्जलकनकादिसंयुक्तानले भासुररूपोष्ण-स्पर्शवदित्युक्त तत्पौद्गलिकत्वसिद्धिप्रघट्टके ।

पुरुष को जिस हेतुका साध्य के साथ होने वाला अविनाभाव मालूम न हो उसके प्रति हेतु का प्रयोग करना सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास है ।

"सत्ता च निश्चयश्च सत्तानिश्चयौ, असन्तौ सत्तानिश्चयौ यस्य असौ असत् सत्तानिश्चय" इसप्रकार "असत् सत्तानिश्चय" इस पदका विग्रह करके असिद्ध हेत्वाभास के दो भेद समझ लेने चाहिये ।

अविद्यमानसत्ताक परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥२३॥

अर्थ—जिसको सत्ता विद्यमान नही हो वह असत् सत्ता या स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, जैसे किसीने अनुमान वाक्य कहा कि–शब्द परिणामी है, क्योकि वह चाक्षुष है नेत्र द्वारा ग्राह्य है, सो यह अनुमान गलत है, शब्द चाक्षुष नही होता, शब्द मे चाक्षुष धर्म स्वरूप से ही असिद्ध है, इसी का खुलासा करते है–

स्वरूपेणासिद्धत्वात् ॥२४॥

अर्थ— शब्द को चाक्षुष कहना स्वरूप से ही असिद्ध है । चक्षु सम्बन्धी ज्ञान के द्वारा जो ग्रहण मे आता है ऐसे रूप जो नील पीतादि हैं वे चाक्षुप हैं, ऐसा चाक्षुप-पना शब्द का स्वरूप नही है अत. शब्द को चाक्षुष हेतु से परिणामी सिद्ध करना असिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है । कोई कहे कि–शब्द भी पुद्गल है और चाक्षुष रूपादि धर्म भो पुद्गल है अत पुद्गलपने की अपेक्षा समानता है, तथा शब्द को जब जैन लोग पौद्गलिक मानते है तब उसमे चाक्षुषपना होना जरूरी है, अत. चाक्षुष हेतु

ये च विशेष्यासिद्धादयोऽसिद्धप्रकारा. परैरिष्टास्तेऽसत्सत्ताकत्वलक्षणासिद्धप्रकारान्नार्थान्तरम्, तल्लक्षणभेदाभावात् । यथैव हि स्वरूपासिद्धस्य स्वरूपतोऽसत्त्वादसत्सत्ताकत्वलक्षणमसिद्धत्व तथा विशेष्यासिद्धादीनामपि विशेष्यत्वादिस्वरूपतोऽसत्त्वात्तल्लक्षणमेवासिद्धत्वम् ।

तत्र विशेष्यासिद्धो यथा–अनित्य शब्द सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वात् ।

से शब्द को परिणामी सिद्ध करना कैसे गलत हो सकता है ? सो यह शका ठीक नही, यद्यपि शब्द मे पौद्गलिकपने की अपेक्षा चाक्षुष की अविशेपता है अर्थात् शब्द मे चाक्षुप धर्म जो नीलादिरूप हे वह रहता है किन्तु वह अनुद्भूत स्वभाव वाला है, इसलिये दिखायी नही देता, शब्द मे रूप की अनुद्भूति उसी प्रकार की है कि जिस प्रकार की अनुद्भूति जल मे सयुक्त हुए अग्नि की है अर्थात् जैसे वैशेपिकादि का कहना है कि जल जव अग्नि से सयुक्त होता है तव उस अग्नि का चमकीला रूप अनुद्भूत– अप्रकट रहता है, तथा सुवर्ण मे अग्नि सयुक्त होने पर उसका उष्ण स्पर्श अनुद्भूत रहता है, ठीक वैसे शब्द मे चाक्षुषरूप अनुद्भूत रहता है, इस विषय मे शब्द को पौद्गलिक सिद्ध करते समय भली प्रकार से वता चुके है । मतलव यह हुआ कि शब्द को परिणमनशील सिद्ध करने के लिये यदि कोई अनुमान करे कि "परिणामी शब्द श्चाक्षुपत्वात्" तो यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास वाला अनुमान है, अर्थात् चाक्षुपत्वात् हेतु शब्द मे नहीं है ।

नैयायिकादिने असिद्ध हेत्वाभास के विशेष्यासिद्ध, विशेपणासिद्ध इत्यादि अनेक भेद किये हैं उन सव प्रकार के हेत्वाभासो मे असत् सत्तारूप असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण घटित होने से इससे पृथक् सिद्ध नही होते, जिसप्रकार इस स्वरूपासिद्ध हेतु मे स्वरूप से असत् होने के कारण असत् सत्तात्व लक्षण वाला असिद्धपना मौजूद है उसीप्रकार विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासो मे भी विशेष्यादिस्वरूप से असत्पना होने से असत्सत्तात्व लक्षण मौजूद है अत. ये असिद्ध हेत्वाभास मे ही अन्तर्भूत हैं ।

अब यहा पर परवादी द्वारा मान्य इन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासो का उदाहरण सहित कथन किया जाता है—सबसे पहले विशेष्यासिद्ध का उदाहरण देते हैं— जैसे किसी ने अनुमान प्रस्तुत किया कि–शब्द अनित्य है [साध्य] क्योंकि सामान्यवान होकर चाक्षुष है [हेतु] सो इसमें चाक्षुष हेतु विशेष्य है और उसका विशेषण सामान्यवान है चाक्षुषत्वरूप विशेष्य शब्द मे नही पाया जाता, अत. यह विशेष्यासिद्ध

विशेषणासिद्धो यथा–अनित्य शब्दश्चाक्षुषत्वे सति सामान्यवत्त्वात् ।

आश्रयासिद्धो यथा–अस्ति प्रधान विश्वपरिणामित्वात् ।

आश्रयैकदेशासिद्धो यथा–नित्या परमाणुप्रधानात्मेश्वरा अकृतकत्वात् ।

व्यर्थविशेष्यासिद्धो यथा–अनित्या परमाणवः कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात् ।

व्यर्थविशेषणासिद्धो यथा–अनित्या. परमाणवः सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात् । व्यर्थविशेष्य-विशेषणश्चासावसिद्धश्चेति ।

नामका हेत्वाभास कहलाया ।

विशेषणसिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण–शब्द अनित्य है, क्योकि वह चाक्षुष होकर सामान्यवान है, यहा चाक्षुष को विशेषण और सामान्यवान को विशेष्य बताया, शब्द चाक्षुप होता नही अत यह विशेषण असिद्ध नामा हेत्वाभास बना ।

आश्रयासिद्ध हेत्वाभास का दृष्टात–साख्याभिमत प्रधान तत्व है, क्योकि वही विश्वरूप परिणमन कर गया है इस अनुमान का विश्वपरिणामित्व हेतु आश्रय से विहीन है, क्योकि वास्तविकरूप से प्रधान तत्व की सिद्धि नही होती है ।

जिस हेतुका आश्रय एक देश असिद्ध हो उसका उदाहरण–परमाणु, प्रधान, आत्मा और ईश्वर ये चारो नित्य है, क्योकि अकृत्रिम हैं यहा जो अकृतकत्वात् हेतु है वह अपने पक्षभूत परमाणु आदि चारो मे न रहकर परमाणु और आत्मा इन दो मे ही रहता है क्योकि प्रधान और ईश्वर नाम के कोई पदार्थ हैं नही, अतः यह हेतु आश्रय एक देश असिद्ध हेत्वाभास कहलाया [तथा परमाणु सर्वथा नित्य नही होने से अकृतकत्व हेतु अनुमान बाधित पक्ष वाला भी है] ।

जिसका विशेष्य व्यर्थ हो वह व्यर्थ विशेष्यासिद्ध हेतु है जैसे परमाणु अनित्य है, क्योकि कृतक होकर सामान्यवान है, यह सामान्यवत्वात् ऐसा जो हेतु का विशेष्य भाग है वह व्यर्थ [बेकार] का है क्योकि कृतक–किया हुआ इतने विशेषण से ही साध्य सिद्ध हो जाता है ।

जिसका विशेषण व्यर्थ हो वह व्यर्थविशेषणासिद्ध हेत्वाभास है जैसे–परमाणु अनित्य हैं, क्योकि सामान्यवान होकर कृतक है यहा कृतकत्वरूप विशेष्य से ही साध्य

व्यधिकरणासिद्धो यथा-अनित्यः शब्द. पटस्य कृतकत्वात् । व्यधिकरणश्चासावसिद्धश्चेति । ननु शब्दे कृतकत्वमस्ति तत्कथमस्यासिद्धत्वम् ? तदयुक्तम्; तस्य हेतुत्वेनाप्रतिपादितत्वात् । न चान्यत्र प्रतिपादितमन्यत्र सिद्ध भवत्यतिप्रसङ्गात् ।

भागासिद्धो यथा-[अ]नित्य. शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । व्यधिकरणासिद्धत्व भागा-

---

[अनित्यपना] सिद्ध हो जाता है अतः सामान्यवान् विशेषण व्यर्थ ठहरता है । "व्यर्थ है विशेष्य और विशेषण जिसके" ऐसा व्यर्थ विशेष्यासिद्धादि पदो का समास है ।

जहा हेतु और साध्य का अधिकरण भिन्न भिन्न हो वह व्यधिकरण असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है, जैसे–शब्द अनित्य है, क्योकि पटके कृतकपना है । यहा पटके कृतकपने से शब्द का अनित्यपना सिद्ध किया सो गलत है, अन्य का धर्म अन्य मे नही होता, कोई कहे कि शब्द मे भी तो कृतक धर्म होता है अतः उसे असिद्ध क्यो कहा जाय ? सो बात अयुक्त है, शब्द मे कृतकत्व है जरूर किन्तु उसको तो हेतु नही बनाया, अन्य जगह कही हुई बात अन्य जगह लागू नही होती अन्यथा अतिप्रसग होगा, अर्थात्, फिर तो एक जगह साध्यसिद्धि के लिये हेतु के उपस्थित करने मात्र से सर्वत्र सभी प्रकार के साध्यो की सिद्धि हो बैठेगी । अतः पटके कृतकत्व से शब्द मे अनित्यपना सिद्ध करना अशक्य है, शब्द के कृतकत्व से ही शब्द मे कृतकत्व सिद्ध हो सकता है अन्यथा व्यधिकरणासिद्ध नामा हेत्वाभास होगा ।

जो पक्ष के एक भाग में असिद्ध हो उसे भागासिद्ध हेत्वाभास कहते है जैसे– शब्द अनित्य है क्योकि प्रयत्न के अनन्तर होता है । पक्ष के एक भाग मे रहे और एक भाग मे न रहे उस हेतु को भागासिद्ध हेत्वाभास कहते है, यहा शब्द पक्ष है साध्य अनित्यत्व है और हेतु प्रयत्न के अनन्तर होना है, सो ससार के सारे ही शब्द प्रयत्न के बाद ही हो ऐसी बात नही है, मेघध्वनि आदि बहुत से शब्द बिना प्रयत्न के भी होते हुए देखे जाते हैं, अत. पक्ष के एक भाग मे–जो शब्द पुरुष द्वारा किये–बोले गये हैं उनमे तो प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु है और मेघध्वनि आदि शब्द मे यह हेतु नही है इसलिये भागासिद्ध कहलाता है ।

सिद्धत्व च परप्रक्रियाप्रदर्शनमात्रं न वस्तुतो हेतुदोष:, व्यधिकरणस्यापि 'उदेष्यति शकट कृत्तिकोदयात्, उपरि वृष्टो देवोऽध.'पूरदर्शनात्' इत्यादेर्गमकत्वप्रतीते. । अविनाभावनिबन्धनो हि गम्यगमकभाव., न तु व्यधिकरणाव्यधिकरणनिबन्धन. 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वात्, धवलः प्रासाद काकस्य काष्र्ण्यात्' इत्यादिवत् ।

व्यधिकरणसिद्धत्व और भागासिद्धत्व ये हेतु तो कोई वास्तविक हेत्वाभास नही है, ये तो नैयायिकादि परवादी की अपनी एक प्रक्रिया दिखाना मात्र है व्यधिकरणासिद्धत्व का लक्षण यह किया कि पक्ष और हेतुका भिन्न भिन्न अधिकरण होना व्यधिकरणासिद्धत्व है सो यह बात गलत है, ऐसा हेतु हो सकता है कि उसका अधिकरण भिन्न हो और साध्य-पक्ष का अधिकरण भिन्न है जैसे एक मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा, क्योकि कृतिका नक्षत्र का उदय हो रहा है, इस अनुमान में रोहिणी का उदय होगा रूप साध्य और कृतिका का उदय हो चुका है यह हेतु इन दोनो का अधिकरण भिन्न भिन्न है फिर भी कृतिकोदय हेतु स्वसाध्य का गमक है, [सिद्ध करने वाला है] तथा ऊपर के भाग मे बरसात अवश्य हुई है, क्योकि यहां नीचले भाग मे नदी मे बाढ आयी है, यहा भी साध्य एव हेतु का विभिन्न अधिकरण है तो भी इनमे गम्य गमक भाव बराबर पाया जाता है, कहने का अभिप्राय यही है कि साध्य साधन मे गम्य गमक भाव जो होता है वह उन दोनो के अविनाभावी सबध के कारण होता है न कि व्यधिकरण अव्यधिकरण के कारण होता है, अर्थात् जहा व्यधिकरण हो वहा हेतु साध्य को सिद्ध न करे और जहा अव्यधिकरण हो वहां वह हेतु साध्य को सिद्ध कर देवे ऐसी बात नही है, साध्य की सिद्धि करने वाला तो वह हेतु है जो साध्य के साथ अविनाभाव रखता हो, साध्य के साथ अविनाभाव होने के बाद तो चाहे वह व्यधिकरणरूप हो चाहे अव्यधिकरणरूप हो । यदि व्यधिकरण अव्यधिकरण के निमित्त से गम्य गमक मानेगे तो "स· श्यामस्तत् पुत्रत्वात्" उसका गर्भस्थ पुत्र काला होगा, क्योकि उसका पुत्र है इत्यादि हेतु भी स्वसाध्य के गमक-सिद्धि कारक बन जायेंगे ? क्योकि उनमे व्यधिकरणासिद्धत्व नही है तथा यह महल सफेद है, क्योकि काक मे कालापना है, यह हेतु व्यधिकरण होने मात्र से गमक नही है ऐसा मानना होगा ? किन्तु ऐसी बात नही है, ये हेतु तो अविनाभाव सबध के अभाव होने से ही सदोष हैं और स्वसाध्य के गमक नही है ।

न च व्यधिकरणस्यापि गमकत्वे अविद्यमानसत्ताकत्वलक्षणमसिद्धस्व विरुध्यते; न हि पक्षेऽविद्यमानसत्ताकोऽसिद्धोऽभिप्रेतो गुरूणाम्। किं तर्हि ? अविद्यमाना साध्येनासाध्येनोभयेन वाऽविनाभाविनी सत्ता यस्यासावसिद्ध इति।

भागासिद्धस्याप्यविनाभावसद्भावाद्गमकत्वमेव। न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वमन्तरेण क्वापि दृश्यते। यावति च तत्प्रवर्त्तते तावतः शब्दस्यानित्यत्वं ततः प्रसिद्ध्यति, अन्यस्य

शका—व्यधिकरणत्व हेतु को साध्य का गमक माना जाय तो जिसकी सत्ता अविद्यमान है उसे अविद्यमान सत्ता नामका असिद्ध हेत्वाभास कहते है, इसप्रकार असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण विरुद्ध होगा ?

समाधान—ऐसी बात नही है, पक्ष मे जिसकी सत्ता अविद्यमान हो वह असिद्ध हेत्वाभास है ऐसा असिद्ध हेत्वाभास का अर्थ करना आचार्य को इष्ट नही है, अर्थात् अविद्यमान सत्ताक. परिणामी शब्द "इत्यादि रूप जो श्री माणिक्यनन्दी गुरुदेव ने सूत्र रचना की है उसका अर्थ यह नही है कि जो हेतु पक्ष मे मौजूद नही है वह असिद्ध हेत्वाभास है, किन्तु उसका अर्थ तो यह है कि साध्य के साथ जिसका अविनाभाव न हो वह असिद्ध हेत्वाभास है तथा दृष्टान्त और साध्य मे जिसकी मौजूदगी नही हो वह असिद्ध हेत्वाभास है।

भागासिद्ध नामका जो हेत्वाभास कहा वह भी गलत है, क्योकि पक्ष के एक भाग में हेतु के असिद्ध होने पर भी साध्य का अविनाभावी होकर गमक हो सकता है, भागासिद्ध हेतु का उदाहरण दिया था कि "अनित्यः शब्दः प्रयत्नानतरीयकत्वात्" शब्द अनित्य है, क्योकि वह प्रयत्न के अनन्तर पैदा होता है सो अनित्यत्व के बिना कोई भी वस्तु प्रयत्न से पैदा होती देखी नही जाती, अर्थात् प्रयत्नानंतरीयकत्वरूप हेतु अनित्यरूप साध्य का सदा अविनाभावी है, जो शब्द प्रयत्न से बनता है उसमे तो अनित्यपना प्रयत्न अनन्तरत्व हेतु से सिद्ध किया जाता है, और जो शब्द प्रयत्न बिना होता है ऐसे मेघादि शब्द की अनित्यता को कृतकत्वादि हेतु से सिद्ध किया जाता है अथवा प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु के प्रयोग से ही यह मालूम पड़ता है कि इस अनुमान में उसी शब्द को पक्ष बनाया है कि जो प्रयत्न के अनन्तर हुआ हो, इसतरह के पक्ष को बनाने से तो हेतु की उस पक्ष मे सर्वत्र प्रवृत्ति होगी ही फिर उसे भागासिद्ध कैसे कह सकते है ?

स्त्वन्यत' कृतकत्वादेरिति । यद्वा-'प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतूपादानसामर्थ्यात्' प्रयत्नानन्तरीयक एव शब्दोत्र पक्षः । तत्र चास्य सर्वत्र प्रवृत्तेः कथ भागासिद्धत्वमिति ?

अथेदानी द्वितीयमसिद्धप्रकार व्याचष्टे—

भावार्थ—असिद्ध हेत्वाभास के दो भेद है स्वरूपासिद्ध और सन्दिग्धासिद्ध, इनमे से स्वरूपासिद्ध हेतु वह है जिसका स्वरूप असिद्ध है, नैयायिक के यहा इस हेतु के आठ भेद माने है, विशष्वासिद्ध, विशेषणासिद्ध, आश्रयासिद्ध, आश्रयैकदेशासिद्ध, व्यर्थ-विशेष्यासिद्ध, व्यर्थविशेपणासिद्ध व्यधिकरणासिद्ध, भागासिद्ध । आश्रयैकदेशासिद्ध और भागासिद्ध मे यह अतर है कि-आश्रय एक देश असिद्ध मे हेतुं तो सिद्ध रहता है किन्तु आश्रय का एक देश ही असिद्ध होता है, और भागासिद्ध मे हेतु असिद्ध होता है और पक्ष या आश्रय का एक देश या भाग तो सिद्ध होता है ।

पहले के छह भेदो के लिये तो जैनाचार्य ने इतना ही कहा कि ये छहो भेद स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास से पृथक् सिद्ध नही होते, इनका लक्षण स्वरूपासिद्ध के समान ही हे, जब तक लक्षण भेद नही होता तब तक वस्तु भेद नही माना जाता है । व्यधि-करणासिद्ध के लिये समझाया है कि यह कोई दूपण नही है कि हेतु का अधिकरण साध्य या पक्ष से भिन्न होने से वह हेत्वाभास बन जाता हो अर्थात् साध्य-पक्ष का अधिकरण और हेतु का अधिकरण विभिन्न भी हो सकता है जैसे कृतिकोदय नामा हेतु रोहिणी उदय नामा पक्ष के आधार मे नही रहकर साध्य का गमक ही है, अत व्यधिकरणा-सिद्ध नामा कोई हेत्वाभास सिद्ध नही होता । भागासिद्ध नामा हेत्वाभास भी साध्या-विनाभावी हो तो अवश्य ही गमक होता है, अर्थात् पक्ष के एक भाग मे रहे वह भागा-सिद्ध हेत्वाभास है ऐसा कहना भी अयोग्य है क्योंकि बहुत से इसतरह के हेतु होते हैं कि जो पक्ष के एक भाग मे रहकर भी साध्य के साथ अविनाभावी सम्बन्ध होने के कारण सत्य हेतु कहलाते है-स्वसाध्य के गमक होते है । अतः परवादी को ऐसे ऐसे हेत्वाभासो के भेद नही मानने चाहिये ।

अब असिद्ध हेत्वाभास का दूसरा प्रकार बताते है—

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धि प्रत्यग्निरत्र धूमादिति ।। २५ ।।

कुतोस्याविद्यमाननियततेत्याह—

तस्य बाष्पादिभावेन भूतसघाते सन्देहात् ।। २६ ।।

मुग्धबुद्धेर्बाष्पादिभावेन भूतसघाते सन्देहात् । न खलु साध्यसाधनयोरव्युत्पन्नप्रज्ञ· 'धूमादिरीदृशो बाष्पादिश्चेदृशः' इति विवेचयितु समर्थ ।

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धि प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।।२५।।

अर्थ—जिस हेतुका साध्य साधनभाव निश्चित नही किया गया ऐसे हेतु का प्रयोग करना सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास है, अथवा जिस पुरुप ने साध्य साधनभाव का नियम नही जाना है उसके प्रति हेतुका प्रयोग करना सन्दिग्धासिद्ध है, जैसे मुग्धबुद्धि [अनुमान के साध्य–साधन को नही जानता हो अथवा अल्प बुद्धि वाला] के प्रति कहना कि–यहा पर अग्नि है, क्योकि धूम दिखायी दे रहा है ।

आगे बता रहे कि इस हेतु का निश्चय क्यो अविद्यमान है—

तस्य बाष्पादिभावेन भूतसघाते सदेहात् ।।२६।।

अर्थ—उस मुग्धबुद्धि पुरुप को अग्नि पर से उतारी हुई चावलादि की बटलोई को देखकर उसमे होने वाले बाष्प–बाफ के देखने से अग्नि का सदेह होगा अत. अनिश्चित अविनाभाव वाले हेतु का अथवा अल्पज्ञ के प्रति हेतु का प्रयोग करना सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास है ।

भावार्थ—चूल्हा पर पानी चावल डालकर बटलोई को चढाया वहां बटलोई मिट्टी की है अत पृथिवी, अग्नि, पानी ये तोनो हैं तथा हवा सर्वत्र है इसतरह भूत-चतुष्टय का सघात स्वरूप उस बटलोई मे पकते हुए चावलो से वाफ निकलती है, बाफ और धूम कुछ सदृश होते है अव कोई अल्पज्ञ पुरुष है उसको किसी ने कहा कि यहा सामने अवश्य अग्नि है, क्योकि धूम दिख रहा है, उस वाक्य को सुनकर उक्त पुरुप सदेह मे पड जायगा क्योकि वह साध्य साधन के भाव मे प्रथम तो अव्युत्पन्न है तथा धूमादि तो इसतरह का होता है और वाष्प इसतरह का होता है ऐसा विवेचन करना उसके लिये अशक्य है ।

साङ्ख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वादिति ॥ २७ ॥

चाविद्यमाननिश्चय.। कुत एतत् ?

तेनाज्ञातत्वात् ॥ २८ ॥

न ह्यस्याविर्भावादन्यत् कारणव्यापारादसतो रूपस्यात्मलाभलक्षणं कृतकत्वं प्रसिद्धम्।

सन्दिग्धविशेष्यादयोप्यविद्यमाननिश्चयतालक्षणातिक्रमाभावान्नार्थान्तरम्। तत्र सन्दिग्धविशेष्यासिद्धो यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिल. पुरुषत्वे सत्याद्याप्यनुत्पन्नतत्वज्ञानत्वात्। सन्दिग्धवि-

---

साख्य प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥२७॥

अर्थ—सांख्य मतानुसारी शिष्य को कहना कि शब्द परिणामी है, क्योकि कृतक-किया हुआ है, सो इस अनुमान के साध्य साधन भाव का निश्चय उस शिष्य को नही होने से उसके प्रति कृतकत्व हेतु सदिग्धासिद्ध है कैसे सो ही बताते है—

तेनाज्ञातत्वात् ॥ २८ ॥

अर्थ—सांख्यमतानुसारी शिष्य कृतकत्व हेतु और परिणामी साध्य इनके साध्य साधनभाव को नही जानता है, इसका भी कारण यह है कि-साख्य के यहा आविर्भाव तिरोभाव को छोडकर अन्य कोई उत्पत्ति और विनाश नही माना जाता, आविर्भाव से पृथक् किसी कारण के व्यापार से कोई असत् स्वरूप पदार्थ का आत्म लाभ होना-उत्पन्न हो जाना ऐसा कृतकपना साख्य के यहा पर प्रसिद्ध नही है। उनके यहां तो आविर्भाव-प्रकट होना ही उत्पन्न होना है और तिरोभाव होना ही नाश है, अमुक कारण से अमुक कार्य पैदा हुआ, मिट्टी ने घडे को किया, कुम्हार ने घडे को किया ऐसा उनके यहा नही माना है अत. ऐसे व्यक्ति को कोई कहे कि शब्द कृतक होने से परिणामी है, शब्द को उत्पन्न किया जाता है अत वह परिणामी है इत्यादि सो यह कथन उस साख्यमती शिष्य के प्रति सदिग्ध ही रहेगा।

इस सदिग्धासिद्ध हेत्वाभास के परवादी सदिग्धविशेष्य आदि अनेक भेद करते हैं किन्तु उन सबमे अविद्यमान निश्चयरूप लक्षण का अतिक्रम नही होने से कोई भिन्नपना नही है अर्थात् सदिग्धविशेष्य इत्यादि हेतु पृथक्रूप से सिद्ध नही होते। वे

शेषणासिद्धो यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिल सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वात्। एते एवासिद्धभेदाः केचिदन्यतरासिद्धाः केचिदुभयासिद्धाः प्रतिपत्तव्याः।

ननु नास्त्यन्यतरासिद्धो हेत्वाभास ; तथाहि-परेणासिद्ध इत्युद्भाविते यदि वादी तत्साधकं प्रमाणं न प्रतिपादयति, तदा प्रमाणाभासवदुभयोरसिद्धः। अथ प्रमाणं प्रतिपादयेत्, तर्हि प्रमाणस्यापक्षपातित्वादुभयोरप्यसौ सिद्ध । अन्यथा साध्यमप्यन्यतरासिद्ध न कदाचित्सिद्धयेदिति व्यर्थः

संदिग्धविशेष्यासिद्ध का उदाहरण इसप्रकार कहते है–कपिल नामा सांख्य का गुरु अभी भी राग मोहादि से युक्त है, क्योकि पुरुष होकर उसे तत्व ज्ञान नही हुआ है। संदिग्ध विशेषण असिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण–कपिल अभी भी रागादिमान है, क्योकि तत्त्वज्ञान रहित होकर पुरुष है। इन दोनो अनुमानो मे पुरुषत्व और तत्त्वज्ञान रहितत्व क्रमश. विशेष्य और विशेषण है वह असिद्ध है। ये विशेष्यासिद्ध इत्यादि हेत्वाभास बतलाये है उनमें से कोई कोई हेत्वाभास ऐसे है कि वादी प्रतिवादियो मे से किसी एक को असिद्ध है, तथा कोई कोई ऐसे है कि दोनों को असिद्ध हैं।

शंका—वादी प्रतिवादियो मे से एक के प्रति असिद्ध हो ऐसा कोई हेत्वाभास नही होता किन्तु जो भी हेतु असिद्ध होगा तो दोनो के प्रति ही असिद्ध होगा। इसी को बताते है–वादी प्रतिवादी विवाद कर रहे है उस समय प्रतिवादी ने वादी को कहा कि तुम्हारा कहा हुआ अनुमान का हेतु असिद्ध है, तब उस वाक्य को सुनकर वादी यदि अपने हेतु को सिद्ध करने वाला प्रमाण नही बताता है तो वह हेतु प्रमाणाभास के समान दोनो के लिए ही असिद्ध कहलायेगा, अर्थात् जैसे प्रमाणाभास दोनों को अमान्य है वैसे वह हेतु बनेगा, क्योकि जिस वादी ने हेतु प्रयुक्त किया है उसने उसे सिद्ध नही किया। यदि वह वादी अपने हेतु को सिद्ध करने वाले प्रमाण को उपस्थित करता है तो जो भी प्रमाण होगा वह पक्षपात रहित उभय मान्य होगा अत. प्रमाण सिद्ध वह हेतु सिद्ध हो कहलायेगा। अपने हेतु को प्रमाण द्वारा सिद्ध करके दिखाने पर भी उसे असिद्ध माना जाय तो साध्य कभी भी सिद्ध नही होगा क्योकि वह भी दोनो में से एक को असिद्ध रहता है, और इसतरह साध्य किसी प्रकार भी यदि सिद्ध नहीं होगा तो उसके लिए प्रमाण को उपस्थित करना व्यर्थ ही है। अभिप्राय यही हुआ कि वादी प्रतिवादी दोनो को असिद्ध ऐसा ही असिद्ध हेत्वाभास होता है, एक को असिद्ध और एक को सिद्ध ऐसा नहीं होता।

प्रमाणोपन्यास· स्यात्; इत्यप्यसमीचीनम्, यतो वादिना प्रतिवादिना वा सभ्यसमक्ष स्वोपन्यस्तो हेतुः प्रमाणतो यावन्न पर प्रति साध्यते तावत्त प्रत्यस्य प्रसिद्धेरभावात्कथ नान्यतरासिद्धता ? नन्वेवमप्यस्यासिद्धत्व गौणमेव स्यादिति चेत्, एवमेतत्, प्रमाणतो हि सिद्धेरभावादसिद्धोसौ न तु स्वरूपत । न खलु रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावत्काल मुख्यतस्तदाभासो भवतीति ।

समाधान—यह कथन असमीचीन है–वाद करने मे उद्युक्त वादी प्रतिवादी जब तक सभासदो के समक्ष अपने हेतु को प्रमाण से सिद्ध नही करते तब तक वह परके लिये अप्रसिद्ध ही रहता है अत हेतु अन्यतर असिद्ध कैसे नही हुआ ? अवश्य हुआ । अर्थात् सभा मे वादी अपना मत स्थापित करता है, अनुमान द्वारा स्वमत सिद्ध करता है उस समय प्रतिवादी को उसका अनुमान असिद्ध ही रहता है जब वह अपने अनुमानगत हेतु को उदाहरण आदि से सिद्ध करता है [प्रमाण से सिद्ध करता है] तभी उसको परवादी मानता है । अत. अन्यतर असिद्ध हेतु किस प्रकार नही होता ? होता ही है ।

शका—इसतरह से हेतु को अन्यतर असिद्ध बताया जाय तो इसकी यह असिद्धता गौण कहलायेगी ।

समाधान—ठीक तो है यह हेतु तब तक ही असिद्ध रहता है जब तक कि प्रमाण से उसे सिद्ध करके नही बताया जाता है, यह हेतु स्वरूप से असिद्ध नही रहता, परवादी की अपेक्षा से ही इसे असिद्ध हेत्वाभास कहा है ।

भावार्थ—जो वस्तु परको मालूम नही है, अथवा जिस पदार्थ के विषय मे किसी को जानकारी नही है तो उतने मात्र से वह वस्तु असत् है ऐसा नही माना जाता, रत्न अमृतादि पदार्थ किसी को अज्ञात है जब तक वे उसे प्रतीत नही होते तब तक क्या वे रत्नाभास आदि हो जाते हैं ? अर्थात् नही होते, उसी प्रकार यह अन्यतर असिद्ध हेत्वाभास है, वादी प्रतिवादी आपस मे एक दूसरे को अपना मत समझाते है तब तक उसके लिये वह असिद्ध रहता किन्तु वह स्वरूप से असिद्ध नही रहता । यहा तक यह बात निश्चित हुई कि वादी प्रतिवादियो मे से किसी एक को जो हेतु असिद्ध होता है वह अन्यतर असिद्ध हेत्वाभास है । इसप्रकार असिद्ध हेत्वाभास के दो ही भेद होते हैं, नैयायिकादि के माने गये हेत्वाभास सभी पृथक् वास्तविक हेत्वाभास नही है क्योकि पृथक् लक्षण वाले नही होने से इन्ही दो हेत्वाभासो मे अतर्लीन हैं ऐसा सिद्ध हुआ ।

अथेदानी विरुद्धहेत्वाभासस्य विपरीतस्येत्यादिना स्वरूप दर्शयति—

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धः अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।।२९।।

साध्यस्वरूपाद्विपरीतेन प्रत्यनीकेन निश्चितोऽविनाभावो यस्यासौ विरुद्ध । यथाऽपरिणामी शब्द कृतकत्वादिति । कृतकत्व हि पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनैवाविनाभूत बहिरन्तर्वा प्रतीतिविषय. सर्वथा नित्ये क्षणिके वा तदभावप्रतिपादनात् ।

ये चाष्टौ विरुद्धभेदा. परैरिष्टास्तेप्येतल्लक्षणलक्षितत्वाविशेषतोऽत्रैवान्तर्भवन्तीत्युदाह्रियन्ते । सति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः । पक्षविपक्षव्यापक सपक्षावृत्तिर्यथा–नित्य' शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् ।

अब इस समय विरुद्ध हेत्वाभास का कथन करते है—

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्ध , अपरिणामी शब्द' कृतकत्वात् ।।२९।।

अर्थ—विपरीत अर्थात् साध्य से विपरीत जो विपक्ष है उसमे जिस हेतु का अविनाभाव निश्चित है वह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है, जैसे किसी ने कहा कि शब्द अपरिणामी है, क्योकि वह कृतक है, सो ऐसा कहना गलत है इस अनुमान का कृतकत्व हेतु साध्य जो अपरिणामी है उसमे न रहकर इससे विपरीत जो परिणामीत्व है उसमें रहता है । साध्य से विपरीत जो विपक्ष है उसके साथ है अविनाभाव जिसका उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते है, इसप्रकार "विपरीतनिश्चिताविनाभाव" इस पद का विग्रह है । जैसे किसी ने कहा कि शब्द कृतक होने से अपरिणामी है, सो यह विरुद्ध है, क्योकि कृतकत्व तो उसे कहते है जो पूर्व आकार का परिहार और उत्तर आकार की प्राप्ति एव स्थितिरूप से परिणमन करता है, इसतरह के परिणामित्व के साथ ही कृतकत्व का अविनाभाव है, बहिरग घट आदि पदार्थ, अतरग आत्मादि पदार्थ ये सभी कथचित् इसीप्रकार से परिणामी होते हुए प्रतिभासित होते है, सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक मे परिणामित्व सिद्ध नही होता, ऐसा हमने पहले ही प्रतिपादन कर दिया है । इस विरुद्ध हेत्वाभास के नैयायिकादि परवादी आठ भेद मानते है, उनकी कोई पृथक् पृथक् लक्षण भेद से सिद्धि नही होती है आठों का अन्तर्भाव एक मे ही करके उनके उदाहरण उपस्थित करते है–जिसका सपक्ष मौजूद रहता है ऐसे विरुद्ध हेत्वाभास के चार भेद होते है, तथा जिसमे सपक्ष नही होता ऐसे विरुद्ध हेत्वाभास के चार भेद होते हैं, उनमे से प्रथम ही सपक्ष वाले विरुद्ध

उत्पत्तिधर्मकत्व हि पक्षीकृते शब्दे प्रवर्त्तते, नित्यविपरीते चानित्ये घटादौ विपक्षे, नाकाशादौ सत्यपि सपक्षे इति ।

विपक्षैकदेशवृत्तिः पक्षव्यापकः सपक्षावृत्तिश्च यथा—नित्यः शब्द. सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् । बाह्येन्द्रियग्रहणयोग्यतामात्र हि बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वमत्र विवक्षितम्, तेनास्य पक्षव्यापकत्वम् । विपक्षैकदेशव्यापकत्व चानित्ये घटादौ भावात्सुखादौ चाभावात् सिद्धम् । सपक्षावृत्तित्व चाकाशादौ नित्येऽवृत्ते. । सामान्ये वृत्तिस्तु 'सामान्यवत्त्वे सति' इति विशेषणाद्व्यवच्छिन्ना ।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति सपक्षावृत्तिश्च यथा–सामान्यविशेषवती अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षे

हेत्वाभासो के क्रमश दृष्टात देते है–जो हेतु पक्ष और विपक्ष मे व्यापक हो और सपक्ष मे न हो वह प्रथम विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे किसी ने अनुमान कहा कि शब्द [पक्ष] नित्य है [साध्य] क्योकि यह उत्पत्ति धर्म वाला है [हेतु] यहा उत्पत्ति धर्मकत्व हेतु पक्षभूत शब्द मे रहता है, तथा विपक्षभूत जो नित्य से विपरीत ऐसे अनित्य घटादि मे रहता है, किन्तु आकाशादि सपक्ष के होते हुए भी उसमे नही रहता ।

जो हेतु विपक्ष के एक देश मे रहता है, पक्ष मे व्यापक है सपक्ष मे नही है वह दूसरा विरुद्ध हेत्वाभास है जैसे–शब्द नित्य है, क्योकि सामान्यवान् होकर हमारे बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है । यहा बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य होना इतना ही बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व का अर्थ विवक्षित है, ऐसी बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षता पक्षभूत शब्द मे रहती है, यह बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व हेतु विपक्ष के किसी देश मे रहता है और किसी देश मे नही, अर्थात् घटादि अनित्य विपक्षभूत वस्तु मे बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना रूप धर्म पाया जाता है और सुख आदि अनित्यभूत विपक्ष मे वह बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व नही रहता अत. यह हेतु विपक्षैक देशवृत्ति वाला कहलाता है, आकाशादि नित्यभूत सपक्ष मे बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व नही रहने से सपक्ष असत्व कहा जाता है । सामान्यवत्वे सति इस विशेषण से सामान्य नामा पदार्थ मे इस हेतु का रहना निषिद्ध होता है । जो हेतु पक्ष और विपक्ष के मात्र एक देश मे रहे तथा सपक्ष मे न रहे वह तीसरा विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे–वचन और मन सामान्य विशेष वाले है एव हमारे बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष है, क्योकि नित्य है, यहा नित्यत्व हेतु पक्ष का एक देश जो मन है उसमे तो

वाग्मनसे नित्यत्वात् । नित्यत्व हि पक्षैकदेशे मनसि वर्त्तते न वाचि, विपक्षे चास्मदादिबाह्यकरणाप्रत्यक्षे गगनादौ नित्यत्वं वर्त्तते न सुखादौ । सपक्षे च घटादावस्याऽवृत्तेः सपक्षावृत्तित्वम् । सामान्यस्य च सपक्षत्व सामान्या (न्य) विशेषवत्त्वविशेषणाद्व्यवच्छिन्नम् । योगिबाह्यकरणप्रत्यक्षस्य चाकाशादेरस्मदाद्यऽग्रहणादसपक्षत्वम् ।

पक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षावृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा–नित्ये वाग्मनसे उत्पत्तिधर्मकत्वात् । उत्पत्तिधर्मकत्व हि पक्षैकदेशे वाचि वर्त्तते न मनसि, सपक्षे चाकाशादौ नित्ये न वर्त्तते, विपक्षे च घटादौ सर्वत्र वर्त्तते इति ।

तथाऽसति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः पक्षविपक्षव्यापकोऽविद्यमानसपक्षो यथा–आकाशविशेषगुणः शब्द प्रमेयत्वात् । प्रमेयत्व हि पक्षे शब्दे वर्तते । विपक्षे चानाकाशविशेषगुणे घटादौ, न तु

रहता है [परवादी ने मन को नित्य माना है] और वचन रूप पक्ष मे नही रहता। तथा जो बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष नही है ऐसे आकाशादि विपक्ष मे यह नित्यत्व हेतु रहता है किंतु सुखादि विपक्ष मे नही रहता, इस तरह यह पक्ष के एक देश मे तथा विपक्ष के एक देश मे रहने वाला कहा जाता है, घट आदि सपक्षभूत पदार्थ में यह हेतु नही रहने से सपक्ष अवृत्ति वाला है। यहा सामान्य को सपक्षपना नही है क्योकि "सामान्य विशेषवान हैं" ऐसे विशेषण द्वारा सामान्यनामा पदार्थ का व्यवच्छेद किया है। योगिजन के बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने वाले आकाशादिक यहां सपक्ष नही हो सकते, क्योकि वे हमारे द्वारा अग्राह्य है।

जो हेतु पक्ष के एक देश मे रहता हो, सपक्ष अवृत्ति वाला हो, और विपक्ष में पूर्ण व्यापक हो वह चौथा विरुद्ध हेत्वाभास है जैसे–मन और वचन नित्य हैं, क्योकि उत्पत्ति धर्म वाले है, यह उत्पत्ति धर्मत्व हेतु पक्ष के एकदेशभूत वचन मे रहता है और एकदेशभूत मन मे नही रहता। नित्य सपक्षभूत आकाशादि मे नही रहता। तथा विपक्षभूत घट पटादि मे सर्वत्र ही रहता है।

अब जिसका सपक्ष विद्यमान ही नही होता ऐसे विरुद्ध हेत्वाभास के चार भेद बतलाते है–जो हेतु पक्ष विपक्ष मे व्यापक है और अविद्यमान है सपक्ष जिसका ऐसा है उस विरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण–जैसे शब्द आकाश का विशेष गुण है, क्योकि वह प्रमेय है। यह प्रमेयत्व हेतु पक्षभूत शब्द मे रहता है, जो आकाश का गुण

सपक्षे तस्यैवाभावात् ।. न ह्याकाशे शब्दादन्यो विशेषगुण, कश्चिदस्ति य। सपक्षः स्यात् । परममहा-परिमाणादेरन्यत्रापि प्रवर्त्तित साधारणगुणत्वात् ।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिरविद्यमानसपक्षो यथा–सत्तासम्बन्धिनः षट् पदार्था उत्पत्तिमत्त्वात् । अत्र हि हेतु' पक्षीकृतषट्पदार्थैकदेशे अनित्यद्रव्यगुणकर्मण्येव वर्त्तते न नित्यद्रव्यादौ । विपक्षे चास-त्तासम्बन्धिनि प्रागभावाद्येकदेशे प्रध्वसाभावे वर्त्तते न तु प्रागभावादौ । सपक्षस्य चासम्भवादेव तत्रा-स्यावृत्तिः सिद्धा ।

पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिरविद्यमानसपक्षो यथा–आकाशविशेषगुण शब्दो बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्वात् । अय हि हेतु पक्षीकृते शब्दे वर्त्तते । विपक्षस्य चानाकाशविशेषगुणस्यैकदेशे रूपादौ वर्त्तते न तु सुखादौ । सपक्षस्य चासम्भवादेव तत्रास्याऽवृत्ति' सिद्धा ।

नही है ऐसे घट आदि विपक्ष मे भी रहता है, किन्तु सपक्ष'मे नही रहता, क्योकि इसका सपक्ष होता ही नही इसका भी कारण यह है कि आकाश मे शब्द को छोडकर अन्य कोई भी विशेष गुण नही होता जो उसका सपक्ष बने । परम महा' परिमाणादि गुण रहते तो है किंतु वे आत्मादि अन्य द्रव्य मे भी रहते हैं अत' सामान्य गुण रूप ही कहलाते है विशेष गुणरूप नही ।

जो हेतु पक्ष और विपक्ष के एक देश मे रहता है तथा सपक्ष जिसका नही है वह दूसरा विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे–द्रव्य, गुण आदि छहो पदार्थ सत्ता सम्बन्ध वाले होते है, क्योकि उत्पत्तिमान है, इस अनुमान मे जो उत्पत्तिमत्व हेतु है वह पक्ष मे लिये छहो पदार्थों मे' न रहकर एक देश मे–अर्थात् अनित्यद्रव्य तथा गुण' एव कर्म मे मात्र रहता है, नित्य द्रव्यादि अन्य पदार्थों मे नही रहता । विपक्ष जो असत्ता सम्बन्धी है ऐसे चार प्रकार के अभावों मे न रहकर सिर्फ एक देश जो प्रध्वसाभाव उसी मे उत्पत्तिमत्व हेतु' रहता है अन्य प्रागभाव आदि तीन प्रकार के अभावो मे नही रहता । इस हेतु का सपक्ष नही होने से उसमे रहना असिद्ध ही है ।

जो हेतु पक्ष मे पूर्णतया व्यापक हो, विपक्ष के एक देश' मे रहता है, एव अविद्यमान सपक्षभूत है वह तीसरा विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे–शब्द आकाश का विशेष गुण है, क्योकि बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष है, यह बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व हेतु पक्षरूप शब्द मे रहता है, अनाकाश के विशेषगुणभूत रूपरसादि विपक्ष के एक देश मे तो है किन्तु

पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापकोऽविद्यमानसपक्षो यथा-नित्येवाङ्मनसे कार्यत्वात्। कार्यत्व हि पक्षस्यैकदेशे वाचि वर्त्तते न मनसि। विपक्षे चानित्ये घटादौ सर्वत्र प्रवर्त्तते सपक्षे चावृत्तिस्तस्याभावात्सुप्रसिद्धा।

अथानैकान्तिकः कीदृश इत्याह—

विपक्षेप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ॥ ३० ॥

न केवल पक्षसपक्षेऽपि तु विपक्षेपीत्यपिशब्दार्थः। एकस्मिन्नन्ते नियतो ह्यैकान्तिकस्तद्विपरीतोऽनैकान्तिकः सव्यभिचार इत्यर्थः। क. पुनरय व्यभिचारो नाम ? पक्षसपक्षान्यवृत्तित्वम्। य खलु

सुखादि विपक्ष मे नही है अत. विपक्षैक देशवृत्ति कहलाया, सपक्ष का असत्व होने से उसमे रहना निषिद्ध है ही।

जो हेतु पक्ष के एक देश में रहता है और विपक्ष मे पूर्ण व्यापक रहता है एव अविद्यमान सपक्ष वाला है वह चौथा विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे वचन और मन नित्य हैं, क्योकि ये कार्यरूप है, यह कार्यत्व हेतु पक्ष के एक देशभूत वचन मे तो रहता है और मन मे नही रहता, अनित्य घटादि विपक्ष मे सर्वत्र रहता है, सपक्ष के अभाव होने से उसमे रहना असम्भव है ही। इसप्रकार जिसका सपक्ष नही होता ऐसे विरुद्ध हेत्वाभास के चार भेद और पहले जो सपक्ष वाले चार भेद बताये वे सब मिलकर आठ हुए इनका प्रतिपादन नैयायिकादि परवादी करते है किन्तु ये सबके सब विशेष लक्षण के अभाव मे कुछ भी महत्व नही रखते है।

अब अनैकान्तिक हेत्वाभास का वर्णन करते है—

विपक्षेप्यविरुद्ध वृत्तिरनैकान्तिकः ॥३०॥

अर्थ—जो हेतु विपक्ष मे भी अविरुद्ध रूपसे रहता हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। केवल पक्ष सपक्ष मे ही नही अपितु विपक्ष मे भी जो हेतु चला जाय वह अनैकान्तिक [व्यभिचारी] कहलाता है ऐसा सूत्रस्थ अपि शब्द का अर्थ है। एक धर्म मे जो नियत है वह ऐकान्तिक है और जो ऐकान्तिक नही वह अनैकान्तिक कहा जाता है, "एकस्मिन् अन्ते [धर्मे] नियतः स ऐकान्तिक [इकण प्रत्यय] न ऐकान्तिक. अनै

पक्षसपक्षवृत्तित्वे सत्यन्यत्र वर्त्तते स व्यभिचारी प्रसिद्ध । यथा लोके पक्षसपक्षविपक्षवर्ती कश्चित्पुरुषस्तथा चायमनैकान्तिकत्वेनाभिमतो हेतुरिति । स च द्वेधा निश्चितवृत्ति शङ्कितवृत्तिश्चेति । तत्र—

निश्चितवृत्तिर्यथाऽनित्य' शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवदिति ॥३१ ॥

कथमित्याह—

आकाशे नित्येप्यस्य सम्भवादिति ॥ ३२ ॥

शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वादिति ॥ ३३ ॥

कुतोऽस्य शङ्कितवृत्तिरित्याह—

अनैकान्तिक" इसप्रकार अनैकान्तिक पद का विग्रह है। अर्थ यह हुआ कि जो विपक्ष से व्यभिचरित होता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। कोई पूछे कि व्यभिचार किसे कहते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि पक्ष सपक्ष और विपक्ष मे रहना व्यभिचार है, जो हेतु पक्ष और सपक्ष मे रहते हुए अन्य–विपक्ष मे भी जाता है वह व्यभिचारी हेतु होता है, जैसे लोक मे भी प्रसिद्ध है कि–जो कोई पुरुष अपने पक्ष मे तथा सपक्ष मे बोलता है और विपक्ष मे भी बोलने लग जाता है अर्थात् तीनो मे मिला रहता है उसे व्यभिचारी दोगला कहते है ऐसा ही यह हेतु अनैकान्तिकरूप माना गया है। इसके दो भेद है निश्चित वृत्ति, और शकित वृत्ति। निश्चित वृत्ति अनैकान्तिक का उदाहरण—

निश्चितवृत्तिर्यथानित्य शब्द प्रमेयत्वात् घटवत् ॥३१॥

अर्थ—जो निश्चितरूप से विपक्ष मे जाता हो वह हेतु निश्चित वृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे–शब्द अनित्य है, क्योकि वह प्रमेय है, जिसप्रकार घट प्रमेय होने से अनित्य है। यह हेतु व्यभिचरित कैसे होता है सो ही बताते हैं—

आकाशे नित्येप्यस्य संभवात् ॥३२॥

अर्थ— यह प्रमेयत्व नित्य आकाश मे भी रहता है अतः व्यभिचरित है, शकित वृत्ति अनैकान्तिक का उदाहरण—

शकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ॥३३॥

सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।। ३४ ।।

एतच्च सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते । पराभ्युपगतश्च पक्षत्रयव्यापकाद्यनैकान्तिकप्रपञ्च एतल्लक्षणलक्षितत्वाविशेषान्नातोऽर्थान्तरम्, सर्वत्र विपक्षस्यैकदेशे सर्वत्र वा विपक्षे वृत्या विपक्षेप्यविरुद्धवृत्तित्वलक्षणसम्भवादित्युदाह्रियते । पक्षत्रयव्यापको यथा–अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् । पक्षे सपक्षे विपक्षे चास्य सर्वत्र प्रवृत्तेः पक्षत्रयव्यापक ।

सपक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा–नित्य शब्दोऽमूर्त्तत्वात् । अमूर्त्तत्व हि पक्षीकृते शब्दे सर्वत्र

अर्थ–जिसका विपक्ष मे जाना सशयास्पद हो वह शंकित वृत्ति अनैकातिक है, जैसे–सर्वज्ञ नही है, क्योंकि वह बोलता है । यह वक्तृत्व हेतु शकित वृत्ति हेत्वाभास क्यों हुआ सो बताते है–

सर्वज्ञेन वक्तृत्वाविरोधात् ।।३४।।

अर्थ—सर्वज्ञ के साथ वक्तृत्व का कोई विरोध नही है अर्थात् जो सर्वज्ञ हो वह बोले नही ऐसा कोई नियम नही, अत सर्वज्ञ का नास्तिपना वक्तृत्व हेतु द्वारा सिद्ध नही होता, वक्तृत्व तो सर्वज्ञ हो चाहे असर्वज्ञ हो दोनो प्रकार के पुरुषो में पाया जाना सम्भव है, इस विषय मे सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मे [दूसरे भाग मे] विस्तारपूर्वक कह दिया है, अब यहा नही कहते । नैयायिकादि ने इस अनैकान्तिक हेत्वाभास के पक्षत्रय व्यापक आदि अनेक [आठ] भेद किये हैं किंतु उन सबमे यही एक लक्षण–"विपक्ष मे अविरुद्धरूप से रहना पाया जाता है अतः इस अनैकान्तिक से पृथक् सिद्ध नही होते, सभी मे विपक्ष के एक देश मे या पूरे विपक्ष मे अविरुद्धरूप से रहना सभव है । अब इन्ही नैयायिकादि के अनैकान्तिक हेत्वाभासो के उदाहरण दिये जाते हैं–पक्ष विपक्ष सपक्ष तीनो मे व्याप्त रहने वाला प्रथम अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे–शब्द अनित्य है, क्योकि प्रमेय है, यह प्रमेय पक्ष शब्द मे, सपक्ष घट आदि मे और विपक्ष आकाशादि मे सर्वत्र ही रहता है, अतः इसे पक्ष त्रय व्यापक कहते हैं ।

जो सपक्ष तथा विपक्ष के एक देश मे रहे वह दूसरा अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे–शब्द नित्य है, क्योकि वह अमूर्त्त है, यह अमूर्त्तत्व हेतु पक्षीकृत शब्द मे पूर्ण-

वर्त्तते। सपक्षैकदेशे चाकाशादौ वर्त्तते, न परमाणुपु। विपक्षैकदेशे च सुखादौ वर्त्तते न घटादाविति।

पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा—गौरय विषाणित्वात्। विषाणित्व हि पक्षीकृते पिण्डे वर्त्तते, सपक्षे च गोत्वधर्माध्यासिते सर्वत्र व्यक्तिविशेषे, विपक्षस्य चागोरूपस्यैकदेशे महिष्यादौ वर्त्तते न तु मनुष्यादाविति।

पक्षविपक्षव्यापक सपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा—अगौरय विषाणित्वात्। अय हि हेतु. पक्षीकृतेऽगोपिण्डे वर्त्तते। अगोत्वविपक्षे च गोव्यक्तिविशेषे सर्वत्र, सपक्षरय चागोरूपस्यैकदेशे महिष्यादौ वर्तते न तु मनुष्यादाविति।

पक्षत्रयैकदेशवृत्तिर्यथा—अनित्ये वाग्मनसेऽमूर्त्तत्वात्। अमूर्त्तत्व हि पक्षस्यैकदेशे वाचि वर्त्तते

रूप से व्यापक है, सपक्ष के एक देश आकाशादि मे तो रहता है परमाणु मे नही रहता, विपक्ष के भी एक देश स्वरूप सुखादि मे रहता और घटादि विपक्ष मे नही रहता।

पक्ष और सपक्ष मे तो व्यापक हो विपक्ष के एकदेश मे रहे वह तीसरा अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे—यह पशु तो बैल है क्योकि सीग वाला है, यह विषाणित्व [सीगवालापन] हेतु पक्षभूत बैल मे रहता है, जिसमे गोत्व पाया जाता है ऐसे अन्य सब सपक्षभूत गो व्यक्तियो मे रहता है, विपक्षभूत गोत्व से रहित अगोरूप भैस आदि किसी किसी मे वह विषाणित्व पाया जाता है और अगौरूप अन्य विपक्ष जो मनुष्यादि है उनमे नही पाया जाता, अत विपक्षैक देशवृत्ति अनैकान्तिक है।

पक्ष विपक्ष मे व्यापक और सपक्ष के एक देश मे रहे वह चौथा अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे—यह पशु आगे है गो नही, क्योकि यह विपाणी है, यह विषाणित्व हेतु पक्षीकृत अगो पिंड मे रहता है, [सीग वाले पशु विशेप मे] अगोत्व का विपक्ष जो गो व्यक्ति विशेष है उसमे सर्वत्र रहता है। [यहा सामने उपस्थित एक पशु को तो पक्ष बनाया है जो कि अगो है। गो व्यक्ति विशेष जो खण्ड मुण्ड आदि सपूर्ण गो व्यक्तियां है उन सभी को विपक्ष मे लिया है] इस हेतु का सपक्ष अगो है सो अगोरूप भैस आदि किसी सपक्ष मे तो यह विपाणित्व हेतु रहता है और मनुष्यादि अगो सपक्ष मे नही रहता, अत अपक्षैक देश वृत्ति कहलाया।

पक्ष सपक्ष विपक्ष तीनो के एकदेश मे रहे वह पाचवा अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे—वचन और मन अनित्य है, क्योकि अमूर्त्त हैं, यह अमूर्त्तत्व हेतु पक्ष के

न मनसि, सपक्षस्य चैकदेशे सुखादौ न घटादौ, विपक्षस्य चाकाशादेर्नित्यस्यैकदेशे गगनादौ न परमाणुष्विति ।

पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा–द्रव्याणि दिक्कालमनास्यमूर्तत्वात् । अमूर्तत्वं हि पक्षस्यैकदेशे दिक्काले वर्तते न मनसि, सपक्षस्य च द्रव्यरूपस्यैकदेशे आत्मादौ वर्तते न घटादौ, विपक्षे चाद्रव्यरूपे गुणादौ सर्वत्रेति ।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति· सपक्षव्यापको यथा–अद्रव्याणि दिक्कालमनास्यमूर्तत्वात् । अत्रापि प्राक्तनमेव व्याख्यानम् अद्रव्यरूपस्य गुणादेस्तु सपक्षतेति विशेष. ।

एकदेश–वचन मे रहता है (परवादी की अपेक्षा वचन अमूर्त्त है) मन मे नही । सपक्ष के एकदेश सुखादि मे रहता है घटादि मे नही, इसीतरह विपक्ष जो यहा नित्य है उस नित्यभूत आकाशादि विपक्ष मे अमूर्त्तत्व रहता है और परमाणुरूप विपक्ष मे नही रहता अत. पक्षत्रय एकदेश वृत्ति कहा जाता है ।

पक्ष और सपक्ष के एकदेश मे रहे और विपक्ष मे व्यापक हो वह छठा अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे–दिशाकाल और मन ये सब द्रव्य है, क्योकि ये अमूर्त्त है, यहां अमूर्त्तत्व हेतु पक्ष का एकदेश जो दिशा और काल है उनमे तो रहता है और शेष एकदेश मनमे नही रहता । सपक्ष का एकदेश जो द्रव्यरूप आत्मा आदि है उनमे रहता है और घट आदि द्रव्यरूप सपक्ष मे नही । अद्रव्य जो गुणादि विपक्ष है उनमे सर्वत्र रहता है [नैयायिकादि परवादी के यहा मूर्त्तत्व अमूर्त्तत्व का लक्षण इसप्रकार है—"इयत्ताअवच्छिन्नयोगित्व मूर्त्तत्व" "इतना है" इसप्रकार जिसका माप हो सके वह मूर्त्तत्व कहलाता है और इससे विपरीत जिसका इतनापना–परिमाण न हो सके वह अमूर्त्तत्व कहलाता है, इस लक्षण के अनुसार सभी गुण–रूप, रस, गन्धादिक भी अमूर्त्त ठहरते है, किंतु यह लक्षण सर्वथा प्रत्यक्ष बाधित है अस्तु, इसी लक्षण के अनुसार यहा सभी गुणो को अमूर्त्त कहा] ।

पक्ष और विपक्ष के एकदेश मे और सपक्ष मे सर्वत्र व्यापक हो वह सातवां अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे–दिशा, काल और मन अद्रव्य है–द्रव्य नही कहलाते, क्योकि ये अमूर्त्त है । यहा पर भी पहले कहे हुए छठवे हेत्वाभास के समान सर्व

सपक्षविपक्षव्यापकः पक्षैकदेशवृत्तिर्यथा–पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशान्यनित्यान्यगन्धवत्त्वात् । अगन्धवत्त्वं हि पृथिवीतोऽन्यत्र पक्षैकदेशे वर्तते न तु पृथिव्याम्, सपक्षे चानित्ये गुणे कर्मणि च, विपक्षे चात्मादौ नित्ये सर्वत्र वर्तत इति ।

अथेदानीमकिञ्चित्करस्वरूपं सिद्ध इत्यादिना व्याचष्टे—

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।। ३५ ।।

सिद्धे निर्णीते प्रमाणान्तरात्साध्ये प्रत्यक्षादिबाधिते च हेतुर्न किञ्चित्करोतीत्यकिञ्चित्करो-ऽनर्थकः ।

व्याख्यान घटित करना चाहिये, इतनी विशेषता है कि अद्रव्यरूप जो गुणादिक है वे यहा सपक्ष कहलायेगे । इसका खुलासा करते है "दिशा काल और मन ये अद्रव्य है" यह तो पक्ष है इसमे अमूर्त्तत्व हेतु दिशा काल रूप पक्ष के एकदेश मे तो है और एक देश जो मन है उसमे नही है । विपक्ष यहा द्रव्य है सो किसी द्रव्यरूप विपक्ष मे तो अमूर्त्तत्व है और किसी मे नही, इसतरह पक्ष और विपक्ष के एकदेश मे अमूर्त्तत्व हेतु रहा । इस हेतु का सपक्ष गुणादि है उसमे सर्वत्र व्यापक है ।

जो हेतु सपक्ष और विपक्ष मे व्यापक हो और पक्ष के एकदेश मे रहे वह आठवा अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे–पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पदार्थ अनित्य है क्योकि ये अगधवान है । यह अगधवानत्व हेतु पृथिवी को छोडकर अन्य जल आदि पदार्थो मे तो रहता है किन्तु पृथिवी मे नही रहता । सपक्ष जो अनित्य गुण और कर्म है उनमे व्यापक है, और आत्मा आदि नित्यरूप विपक्ष मे भी सर्वत्र व्याप्त है । इसतरह नैयायिकादि के यहा हेत्वाभासो का वर्णन है, असिद्ध के आठ भेद विरुद्ध के आठ भेद और अनैकान्तिक आठ भेद ये अपने अपने असिद्ध आदि मे ही लीन है क्योकि इनमे कुछ भी लक्षण भेद नही है, अत इसतरह भेद करना गलत है ।

अब यहा पर श्रीमाणिक्यनदी आचार्य अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का स्वरूप बतलाते है—

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्कर ।।३५।।

अर्थ—जो प्रमाण प्रसिद्ध साध्य हो अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित साध्य हो ऐसे साध्य के लिये प्रयुक्त हुआ हेतु अकिञ्चित्कर कहलाता है, जो साध्य पहले ही

यथा श्रावणः शब्दः शब्दत्वादिति ॥३६॥

न ह्यसौ स्वसाध्य साधयति, तस्याध्यक्षादेव प्रसिद्धे.। नापि साध्यान्तरम्; तत्रावृत्तेरित्यत आह—

किञ्चिदकरणात् ॥ ३७ ॥

प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्येऽकिञ्चित्करोसौ—

यथाऽनुष्णोग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किंचित्कर्त्तुमशक्यत्वात् ॥ ३८ ॥

कुतोस्याऽकिञ्चित्करत्वमित्याह–किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ।

किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध हो चुका हो, या किसी प्रत्यक्षादि से जिसमें बाधा आती हो ऐसे वस्तु को साध्य बनाकर उसमे जो हेतु दिया जाय तो वह अकिंचित्कर माना जाता है, न किंचित् करोति इति अकिंचित्करः अनर्थक ऐसा व्युत्पत्यर्थ है। इसीके उदाहरण देते है—

यथा श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ॥३६॥

जैसे किसी ने कहा कि शब्द कर्णेन्द्रिय का विषय है, क्योकि वह शब्दरूप है। यहां शब्दत्व हेतु स्वसाध्य को [श्रावणत्व को] कुछ भी सिद्ध नही करता, क्योकि साध्य प्रत्यक्ष सिद्ध है अर्थात् शब्द कर्ण से प्रत्यक्ष सुनायी दे रहा उसे क्या कहना कि यह कर्ण से सुनायी देने वाला है ? अन्य साध्य को भी सिद्ध नही करता, क्योकि उसमे नही है, इसीको कहते है—

किञ्चिदकरणात् ॥ ३७ ॥

अर्थ—यह शब्दत्व हेतु कुछ भी नही करता है। प्रत्यक्षादि से बाधित जो साध्य है उसमे भी यह हेतु कुछ नही करता ऐसा बतलाते हैं—

यथा अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किंचित् कर्त्तुमशक्यत्वात् ॥३८॥

अर्थ—जैसे किसी ने अनुमान वाक्य का प्रयोग किया कि अग्नि ठंडी होती है, क्योकि वह द्रव्यरूप है, जिसप्रकार जल द्रव्य होने से ठंडा रहता है ! सो साध्य मे

ननु प्रसिद्धः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैश्च बाधित पक्षाभास प्रतिपादित तद्दोषेणैव चास्य दुष्टत्वात् पृथगकिञ्चित्कराभिधानमनर्थकमित्याशङ्क्य लक्षण एवेत्यादिना प्रतिविधत्ते—

लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ॥ ३९ ॥

लक्षणे लक्षणव्युत्पादनशास्त्रे एवासावकिञ्चित्करत्वलक्षणो दोषो विनेयव्युत्पत्त्यर्थं व्युत्पाद्यते, न तु व्युत्पन्नाना प्रयोगकाले । कुत एतदित्याह–व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।

दिया हुआ यह द्रव्यत्व हेतु कुछ नही कर सकता अर्थात् अग्नि को ठडा सिद्ध नही करता, क्योकि अग्नि तो प्रत्यक्ष से उष्ण सिद्ध हो रही ।

शंका—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचन इनसे बाधित जो पक्ष हो वह सब पक्षाभास है ऐसा पहले ही बता चुके है, उस पक्ष के दोप के कारण ही यह अकिंचित्कर हेतु हेत्वाभास बना है, अत इस हेत्वाभास को पृथक्रूप से कहना व्यर्थ है ?

समाधान—इसी बात को मनमे रखकर सूत्र को कहते है—

लक्षण एवासौ दोपो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ॥३९॥

अर्थ—लक्षण को बतलाने वाले हेतु के लक्षण शास्त्र मे ही इस अकिंचित्कर हेत्वाभास को गिनाया है, जो व्यक्ति अनुमान के प्रयोग करने मे कुशल है व्युत्पन्नमति है वह तो पक्ष के दोप के कारण ही इस हेतु को दुष्ट हुआ मान लेता है । अभिप्राय यह है कि–हेतु के लक्षण वतलाने वाले शास्त्र मे इस अकिंचित्कर लक्षण वाला दोष बता दिया है, इसका कारण यह है कि शिष्यो को पहले से ही व्युत्पन्न–अनुमान प्रयोग मे प्रवीण करना है अतः उनको समझाया है कि इसतरह के हेतुका प्रयोग नही करना, इसतरह का पक्ष नही वनाना, किन्तु जो व्युत्पन्नमति वन चुके हैं, वाद मे उपस्थित हुए है उनके लिये यह हेत्वाभास का लक्षण नही कहा, इसका भी कारण यह है कि व्युत्पन्न पुरुप यदि ऐसा अनुमान प्रयोग करेगे तो उन्हे वही रोका जायगा और कहा जायगा कि आपका यह पक्ष ठीक नही है, इस पक्ष के दोप से–पक्षाभास के प्रयोग से ही हेतु दूपित हुआ इत्यादि, मो कोई वाद कुशल पुरुप भी यदि किसी आकुलता आदि

अथेदानी दृष्टान्ताभासप्रतिपादनार्थं दृष्टान्तेत्याद्युपक्रमते । दृष्टान्तो ह्यन्वयव्यतिरेकभेदाद्द्विधेत्युक्तम् । तद्विपरीतस्तदाभासोपि तद्भेदाद्द्विधैव द्रष्टव्यः । तत्र—

दृष्टान्ताभासा अन्वये असिद्धसाध्यसाधनोभयाः ।। ४० ।।

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुख-परमाणु-घटवदिति ।। ४१ ।।

इन्द्रियसुखे हि साधनममूर्त्तत्वमस्ति, साध्य त्वपौरुषेयत्व नास्ति पौरुषेयत्वात्तस्य । परमाणुषु तु साध्यमपौरुषेयत्वमस्ति, साधनं त्वमूर्तत्व नास्ति मूर्तत्वात्तेषाम् । घटे तूभयमपि पौरुषेयत्वान्मूर्त्तत्वाच्चास्येति । न केवलमेत एवान्वये दृष्टान्ताभासा· ।

किन्तु—

कारणवश इसतरह का सदोष अनुमान प्रयोग कर बैठे तो उसे पक्ष के दोष से ही दूषित ठहराया जाता है । इसप्रकार यहा तक हेत्वाभास का वर्णन किया ।

अब इस समय दृष्टान्ताभास का प्रतिपादन करते है, दृष्टात के अन्वय दृष्टात और व्यतिरेक दृष्टात इसप्रकार दो भेद पहले बताये थे, अतः दृष्टाताभास भी दो प्रकार का है, उसमे पहले अन्वय दृष्टांताभास को कहते है—

दृष्टाताभासा अन्वये असिद्धसाध्यसाधनोभयाः ।।४०।।

अर्थ—अन्वय–जहा जहा साधन [धूम] होता है वहा वहा साध्य [अग्नि] होता है, इसप्रकार की व्याप्ति दिखलाकर दृष्टात दिया जाता है उस दृष्टात मे यदि साध्य न हो या साधन न हो अथवा उभय–दोनो नही हो वे सबके सब अन्वय दृष्टाताभास हैं, इनका उदाहरण देते है—

अपौरुषेय शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ।।४१।।

अर्थ—शब्द अपौरुषेय है, क्योकि वह अमूर्त्त है, जैसे इद्रिय सुख अमूर्त्त होने से अपौरुषेय है, अथवा परमाणु अमूर्त्त होने से अपौरुषेय है अथवा जिसप्रकार घट अमूर्त्त होने से अपौरुषेय है, इसप्रकार किसी ने अनुमान का प्रयोग किया इसमें शब्द को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये अमूर्त्तत्व हेतु दिया है और दृष्टात तीन दिये है,

विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम् ॥ ४२ ॥

विपरीतोऽन्वयो व्याप्तिप्रदर्शनं यस्मिन्निति । यथा यदपौरुषेयं तदमूर्तमिति । 'यदमूर्तं तदपौरुषेयम्' इति हि साध्येन व्याप्ते साधने प्रदर्शनीये कुतश्चिद्व्यामोहात् 'यदपौरुषेयं तदमूर्तम्' इति प्रदर्शयति । न चैवं प्रदर्शनीयम्—

विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गादिति ॥ ४३ ॥

विद्युद्वनकुसुमादौ ह्यऽपौरुषेयत्वेप्यमूर्तत्वं नास्तीति ।

उनमे प्रथम दृष्टान्त इन्द्रिय सुखका है इन्द्रिय सुख मे अमूर्त्तत्व हेतु [साधन] तो है किन्तु साध्य जो अपौरुषेय है वह नही, क्योकि इद्रिय सुख पुरुषकृत ही है अत. यह दृष्टान्त साध्यविकल ठहरता है। दूसरा दृष्टान्त परमाणु का है, इसमे साध्य–अपौरुषेयत्व तो है किन्तु साधन–अमूर्त्तत्व नही है अत. यह दृष्टान्त साधन विकल कहलाया। तीसरा दृष्टान्त घटका है, इसमे साध्य–साधन अपौरुषेय और अमूर्त्तत्व दोनो ही नही है, घट तो पौरुषेय और मूर्त्त है अत. घट दृष्टात उभयविकल है। और भी अन्वय दृष्टान्ताभास को बतलाते हैं—

विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेय तदमूर्त्तम् ॥४२॥

अर्थ—जिस दृष्टान्त मे विपरीत अन्वय दिखाया जाता है वह भी दृष्टान्ताभास कहलाता है, जैसे कहना कि जो अपौरुपेय होता है वह अमूर्त्त होता है। विपरीत रूप से अन्वय व्याप्ति है जिसमें उसे विपरीतान्वय कहते हैं, इसप्रकार विपरीतान्वय शब्दका विग्रह है। जो अमूर्त्त है वह अपौरुषेय होता है ऐसा सही अन्वय दिखाना चाहिए अर्थात् साध्य के साथ साधन की व्याप्ति बतलानी थी सो किसी व्यामोह के कारण उलटा अन्वय कर बैठता है कि जो अपौरुषेय है वह अमूर्त्त होता है, सो ऐसा कहना ठीक क्यों नही इस बात को कहते हैं—

विद्युदादिनातिप्रसगात् ॥ ४३ ॥

अर्थ—यदि जो अपौरुषेय है वह अमूर्त्त होता है ऐसा निश्चय करेंगे तो विद्युत्–विजली आदि पदार्थ के साथ अतिप्रसग प्राप्त होगा, अर्थात् विद्युत्, वनके पुष्प

व्यतिरेके दृष्टान्ताभासाः—

व्यतिरेके असिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।। ४४ ।।

असिद्धतद्व्यतिरेकाः—असिद्धस्तेषां साध्यसाधनोभयाना व्यतिरेको [व्या] वृत्तिर्येषु ते तथोक्ताः । यथाऽपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादित्युक्त्वा यन्नापौरुषेय तन्नामूर्त्त परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवदिति व्यतिरेकमाह । परमाणुभ्यो ह्यमूर्तत्वव्यावृत्तावप्यऽपौरुषेयत्व न व्यावृत्तमपौरुषेयत्वात्तेषाम् । इन्द्रियसुखे त्वपौरुषेयत्वव्यावृत्तावप्यमूर्त्तत्व न व्यावृत्तममूर्त्तत्वात्तस्य । आकाशे तूभय न व्यावृत्तमपौरुषेयत्वादमूर्त्तत्वाच्चास्येति । न केवलमेत एव व्यतिरेके दृष्टान्ताभासा किंतु—

इत्यादि पदार्थ अपौरुषेय तो अवश्य है [किसी मनुष्य द्वारा निर्मित नही है] किंतु अमूर्त्त नही है, इसीलिये विपरीत अन्वय दिखाना दृष्टान्ताभास है । जो अमूर्त्त है वह अपौरुषेय होता है ऐसा कहना तो घटित होता है किन्तु इससे विपरीत कहना घटित नही होता, अतः दृष्टान्त देते समय वादी प्रतिवादी को चाहिए कि वे विपरीत अन्वय न करे और न साध्य आदि से रहित ऐसे दृष्टात को उपस्थित करे ।

अब व्यतिरेक मे दृष्टान्ताभास किसप्रकार होते है सो बताते है—

व्यतिरेके असिद्ध तद् व्यतिरेका. परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।। ४४ ।।

अर्थ—जिस दृष्टान्त मे साध्य के व्यतिरेक की व्याप्ति न हो या साधन की अथवा दोनों के व्यतिरेक की व्याप्ति सिद्ध नही हो वह व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, उसके तीन भेद होते है, साध्य व्यतिरेक रहित, साधन व्यतिरेक रहित, उभय–साध्य साधन व्यतिरेक रहित । असिद्ध है साध्यसाधन और उभय का व्यतिरेक जिनमे उनको कहते है असिद्ध तद् व्यतिरेक, इसतरह "असिद्ध तद् व्यतिरेकाः" इस पदका समास विग्रह है, अब क्रमश. इनका उदाहरण प्रस्तुत करते है–शब्द अपौरुषेय है, क्योकि वह अमूर्त्त है, इसप्रकार साध्य और हेतु को कहकर व्यतिरेक दृष्टात बताया कि जो अपौरुषेय नही है वह अमूर्त्त भी नही होता जिसप्रकार परमाणु, इन्द्रिय सुख तथा आकाश अपौरुषेय नही होने से अमूर्त्त नही होते, सो ये तीनो ही दृष्टान्त गलत है, इसका खुलासा इस प्रकार है—परमाणुओ से अमूर्त्तत्व तो व्यावृत्त होता है [परमाणु मे अमूर्त्तत्व नही होने से] किन्तु अपौरुषेयत्व व्यावृत्त नही होता, क्योकि परमाणु अपौरुपेय ही हुआ

विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम् ।। ४५ ।।

विपरीतो व्यतिरेको व्यावृत्तिप्रदर्शनं यस्येति । यथा यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयमिति । 'यन्नापौरुषेयं तन्नामूर्त्तम्' इति हि साध्यव्यतिरेके साधनव्यतिरेकः प्रदर्शनीयस्तथैव प्रतिबन्धादिति ।

करते है । दूसरा दृष्टात इन्द्रिय सुख का दिया इसमे अपौरुषेय की व्यावृत्ति तो है किंतु अमूर्त्त की व्यावृत्ति नही हो सकती, क्योकि इन्द्रिय सुख अमूर्त्त ही है । तीसरा दृष्टात आकाश का है आकाश मे न अपौरुषेय की व्यावृत्ति हो सकती है और न अमूर्त्तत्व की व्यावृत्ति हो सकती है, आकाश तो अपौरुषेय भी है और अमूर्त्त भी है, अतः आकाश का दृष्टात साध्य साधन दोनो के व्यतिरेक से रहित ऐसा व्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहा जाता है । व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का और भी उदाहरण देते है ।

विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम् ।।४५।।

अर्थ—विपरीत—उलटा व्यतिरेक बतलाते हुए व्यतिरेक दृष्टान्त देना भी व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, जैसे—जो अमूर्त्त नही है वह अपौरुषेय नही होता । विपरीत है व्यतिरेक अर्थात् व्यावृत्ति का दिखाना जिसमे उसे कहते है विपरीत व्यतिरेक, इस प्रकार विपरीत व्यतिरेक शब्द का विग्रह समझना । वह विपरीत इसप्रकार होता है कि "जो अमूर्त्त नही है वह अपौरुषेय नही होता" यहा व्यतिरेक तो ऐसा करना चाहिये था कि साध्य के हटने पर साधन का हटाना दिखाया जाय अर्थात् जो अपौरुषेय नही है वह अमूर्त्त नही होता, इसीप्रकार कहने से ही व्यतिरेक व्याप्ति सही होती है, क्योकि साध्य साधन का इसी तरह का अविनाभाव होता है ।

भावार्थ—शब्द अपौरुषेय है, क्योकि वह अमूर्त्त है, इसप्रकार किसी मीमासकादि ने अनुमान वाक्य कहा, फिर व्यतिरेक व्याप्ति दिखाते हुए दृष्टांत दिया कि "जो जो अमूर्त्त नही है वह वह अपौरुषेय नही होता, जैसे परमाणु तथा इन्द्रिय सुख और आकाश अमूर्त्त नही होने से अपौरुषेय नही है" सो इसतरह किसी व्यामोह वश उलटा व्यतिरेक और उलटा ही दृष्टांत देवे तो वह व्यतिरेक दृष्टाताभास कहलाता है, यदि सिर्फ दृष्टात ही साध्य साधन के व्यतिरेक से रहित है तो वह व्यतिरेक दृष्टाताभास है और यदि मात्र व्यतिरेक व्याप्ति उलटी दिखायी तो भी वह दृष्टाताभास कहलाता है ।

अव्युत्पन्नव्युत्पादनार्थं पञ्चावयवोपि प्रयोग· प्राक् प्रतिपादितस्तत्प्रयोगाभास. कीदृश इत्याह–

अनुमान मे साध्य और साधन ये दो प्रमुख पदार्थ हुआ करते है, साध्य तो वह है जिसे सिद्ध करना है, और जिसके द्वारा वह सिद्ध किया जाय उसे साधन कहते है, साध्य के साथ साधन का अविनाभाव सम्बन्ध तो होता है किन्तु साधन के साथ साध्य का अविनाभाव होना जरूरी नही है, अत. पचावयवरूप अनुमान प्रयोग करते समय यह नियम लक्ष्य में रखकर वाक्य रचना करनी होगी अन्यथा गलत होगा जैसे–शब्द अपौरुषेय (साध्य) है क्योकि वह अमूर्त्त (साधन) है यहा अपौरुषेयरूप साध्य को अमूर्त्तरूप साधन सिद्ध कर रहा है अत. अपौरुषेय के साथ अमूर्त्त का अविनाभाव तो है किन्तु अमूर्त्त के साथ अपौरुषेय का अविनाभाव नही है, बिजली आदि पदार्थ अमूर्त्त न होकर भी अपौरुषेय है, अत. ऐसा व्यतिरेक नही दिखा सकते कि जहा जहा अमूर्त्त नही होता वहा वहां अपौरुषेय नही होता। पहले अन्वय दृष्टाताभास मे भी यही बात कही थी कि अन्वय यदि उलटा दिखाया जाय तो वह अन्वय दृष्टान्ताभास बनता है जैसे किसी ने कहा कि जो अपौरुषेय होता है वह अमूर्त्त होता है सो यह गलत ठहरता है, जो अपौरुषेय हो वह अमूर्त्त ही होवे ऐसा नियम नही है, इसलिये अनुमान प्रयोग मे अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति को सही दिखाना चाहिये अन्यथा दृष्टांताभास बनेगे। अन्वय या व्यतिरेक दृष्टांत देते समय यह लक्ष्य अवश्य रखे कि कही साध्य या साधन अथवा दोनो से विकल–रहित ऐसा दृष्टान्त–उदाहरण तो प्रस्तुत नही कर रहे ! यदि इस बात का लक्ष्य नही रखा जायगा तो वे सब दृष्टान्ताभास बनते जायेंगे। दृष्टान्त मे साध्य न रहे अथवा साध्य होकर भी यदि साधन न रहे तो भी वह दृष्टांताभास ही कहलायेगा, इसीलिये दृष्टात शब्द की निरुक्ति है कि "दृष्टौ साध्य साधनरूप धर्मौ [अंतौ] यस्मिन् स दृष्टात" देखे जाते है साध्य साधन के धर्म जिसमे वह दृष्टांत है।

अनुमान के कितने अग–या अवयव होते है इस विषय की चर्चा करते हुए तीसरे परिच्छेद मे कहा था कि जो पुरुष अव्युत्पन्न है–अनुमान वाक्य के विषय मे अजान है उसके लिये अनुमान मे पांच अवयव भी प्रयुक्त होते है अन्यथा दो ही प्रमुख अवयव होते है इत्यादि, सो अब यहा प्रश्न होता है कि उस अव्युत्पन्न–पुरुष के प्रति किस प्रकार का अनुमान प्रयोग अनुमान प्रयोगाभास कहलायेगा ? इसीका समाधान अग्रिम सूत्र द्वारा करते है—

बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ।। ४६ ।।

यथाग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ।। ४७ ।।

धूमवांश्चायमिति वा ।। ४८ ।।

यो ह्यव्युत्पन्नप्रज्ञोऽनुमानप्रयोगे पञ्चावयवे गृहीतसङ्केतः स उपनयनिगमनरहितस्य निगमन-रहितस्य वानुमानप्रयोगस्य तदाभासता मन्यते । न केवल कियद्धीनतैव बालप्रयोगाभास. किंतु तद्विपर्ययश्च-तेषामवयवाना विपर्ययस्तत्प्रयोगाभासो यथा—

बालप्रयोगाभासः पचावयवेषु कियद्धीनता ।।४६।।

अर्थ—बाल प्रयोग पाच अवयव सहित होना था उसमे कमी करना बाल प्रयोगाभास है, जैसे यहा अग्नि है [१ साध्य,] क्योकि धूम है [२ हेतु] जहा धूम होता है वहा अग्नि अवश्य होती है जैसे रसोई घर [३ दृष्टात] यहा पर भी धूम है [४ उपनय] अतः अवश्य ही अग्नि है [५ निगमन] ये अनुमान के पाच अवयव है इनमे से एक या दो आदि अव्यव प्रयुक्त नही होना बालप्रयोगाभास है ।

यथा अग्निमानयं देशो धूमवत्वात् यदित्थ तदित्थ यथा महानस ।।४७।।

अर्थ—स्वयं माणिक्यनदी आचार्य प्रयोग करके बतला रहे है कि–यदि कोई पुरुष अव्युत्पन्न व्यक्ति के लिये अनुमान के पाच अवयव न बताकर तीन ही बताता है तो वह बाल प्रयोगाभास कहलायेगा अर्थात्–यह प्रदेश अग्नि सहित है, क्योकि धूम दिखायी दे रहा है, जो इसतरह धूम सहित होता है वह अग्निमान होता है, जैसे रसोई घर । इस अनुमान मे तीन ही अवयव हैं आगे के उपनय और निगमन ये दो अवयव नही बताये अत यह बालप्रयोगाभास है ।

धूमवाश्चायम् इति वा ।।४८।।

अर्थ—अथवा उपर्युक्त अनुमान मे चौथा अवयव जोडना अर्थात् "यह प्रदेश भी धूमवाला है" ऐसे उपनय युक्त चार अवयव वाला अनुमान प्रयोग करना भी बाल प्रयोगाभास कहा जाता है । जो पुरुष अव्युत्पन्न बुद्धि है, जिसको सिखाया हुआ है कि

तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायमिति ॥ ४९ ॥

स ह्यु पनयपूर्वकं निगमनप्रयोग साध्यप्रतिपत्त्यङ्ग मन्यते, नान्यथा । कुत एतदित्याह—

स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ॥ ५० ॥

स्पष्टतया प्रकृतस्य साध्यस्य प्रतिपत्तेरयोगात् । यो हि यथा गृहीतसङ्केत स तथैव वाक्प्रयोगात्प्रकृतमर्थं प्रतिपद्येत नान्यथा लोकवत् । यस्तु सर्वप्रकारेण वाक्प्रयोगे व्युत्पन्नप्रज्ञ· स यथा यथा

अनुमान मे पाच अवयव होते है, अथवा किसी विषय को पांच अवयव द्वारा उसको समझाया है, सो ऐसे पुरुष के प्रति उपनय और निगमन रहित अनुमान प्रयोग करना अथवा निगमन रहित अनुमान प्रयोग करना ये सब बालप्रयोगाभास है । अब यह बताते है कि कम अवयव बताना मात्र बालप्रयोगाभास नही है किन्तु और कारण से अर्थात् विपरीत क्रम से कहने के निमित्त से भी बालप्रयोगाभास होता है, जैसे—

तस्मादग्निमान् धूमवाश्चाय ॥ ४९ ॥

अर्थ—अत अग्निमान है, यह भी धूमवान है, इसप्रकार पहले निगमन और पीछे उपनय का प्रयोग करना भी बालप्रयोगाभास है । जिनके मत मे पचावयवी अनुमान माना है अथवा जो अव्युत्पन्न है वह उपनय पूर्वक निगमन का प्रयोग होने को ही साध्य सिद्धि का कारण मानता है, इससे विपरीत निगमनपूर्वक उपनय के प्रयोग को साध्यसिद्धि का कारण नही मानता अत. विपरीत क्रम से प्रयोग करना बालप्रयोगाभास होता है । इसका भी कारण यह है कि—

स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ॥ ५० ॥

अर्थ—निगमन को पहले और उपनय को पीछे कहने से स्पष्टरूप से अनुमान ज्ञान नही हो पाता । प्रकृत जो अग्नि आदि साध्य है उसका ज्ञान विपरीत क्रम से कहने के कारण नही हो सकता, वात यह है कि जिस पुरुष को जिसप्रकार से संकेत बताया है वह पुरुष उसीप्रकार से वाक्य प्रयोग करे तो प्रकृत अर्थ को समझ सकता है अन्यथा नही, जैसे लोक व्यवहार मे हम देखते है कि जिस वालक आदि को जिस पुस्तक आदि वस्तु मे जिस शब्द द्वारा प्रयोग करके बताया हो वह बालकादि उसी

वाक्प्रयुज्यते तथा तथा प्रकृतमर्थं प्रतिपद्येत लोके सर्वभाषाप्रवीणपुरुषवत् । तथा च न त प्रत्यनन्तरोक्तः कश्चित्प्रयोगाभास इति ।

अथेदानीमागमाभासप्ररूपणार्थमाह—

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ॥ ५१ ॥

रागाक्रान्तो हि पुरुष· क्रीडावशीकृतचित्तो विनोदार्थं वस्तु किञ्चिदप्राप्नुवन्माणवकैरपि सह क्रीडाभिलाषेणेद वाक्यमुच्चारयति—

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवका इति ॥ ५२ ॥

शब्द द्वारा उस वस्तु को जानता है, अन्यथा नही । यह तो अव्युत्पन्न पुरुष की बात है, किन्तु जो पुरुष व्युत्पन्न बुद्धि है सब प्रकार के वाक्यो के प्रयोग करने समझने मे कुशल है वह तो जिस जिस प्रकार का वाक्य प्रयुक्त करो उसको उसी उसी प्रकार से झट समझ जाता है, जैसे कोई पुरुष सपूर्ण भाषाओ मे प्रवीण है तो वह जिस किसी प्रकार से वचन या वाक्य हो फौरन उसका अर्थ समझ जाता है, इस तरह यदि अनुमान प्रयोग मे जो व्युत्पन्न है उसके लिये कैसा भी अनुमान बताओ वह झट समझ जाता है, उस व्युत्पन्न मति पुरुष को कोई भी प्रयोग बालप्रयोगाभास नही कहलायेगा । क्योकि वह हर तरह से समझ सकता है । अस्तु ।

अब इस समय आगमाभास का प्ररूपण करते है—

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ॥५१॥

अर्थ—राग से युक्त अथवा द्वेष मोहादि से युक्त जो पुरुष है ऐसे पुरुष के वचन के निमित्त से जो ज्ञान होता है वह आगमाभास कहलाता है । रागादि से आक्रान्त व्यक्ति कभी क्रीडा कौतुहल के वश होकर विनोद के लिये [मनोरंजन के लिये] कुछ वस्तु को जब नही पाता तब बालको के साथ भी क्रीडा की अभिलाषा से इस तरह बोलता है कि—

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशय सन्ति धावध्व माणवका ॥५२॥

तथा क्वचित्कार्ये व्यासक्तचित्तो माणवकैः कदर्थितो द्वेषाक्रान्तोप्यात्मीयस्थानात्तदुच्चाटनाभिलाषेणेदमेव वाक्यमुच्चारयति ।

मोहाक्रान्तस्तु साख्यादि:—

अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति च ।। ५३ ।।

उच्चारयति । न खल्वज्ञानमहामहीधराक्रान्त· पुरुषो यथावद्वस्तु विवेचयितु समर्थ ।

ननु चैवविधपुरुषवचनोद्भूत ज्ञान कस्मादागमाभासमित्याह—

अर्थ—हे बालको ! दौडो दौड़ो नदी के किनारे बहुत से मोदक लड्डुओ के ढेर लगे है । इसतरह बालको के साथ मनोरंजन करते हुए कोई बात करे तो वे वचन आगमाभास कहलाते है, क्योकि इनमे सत्यता नही है । कभी कभी जब कोई व्यक्ति किसी कार्य मे लगा रहता है उस समय बालक उसे परेशान करते है तो वह बालको से पीडित हो क्रोध—द्वेप मे-आकर अपने स्थान से बालको को भगाने के लिये इसतरह के वचन बोलता है ।

मोह—मिथ्यात्व से आक्रान्त हुआ पुरुष जो कि परवादी सांख्यादि है वह जो वचन बोलता है वे वचन आगमाभास है अब उसका उदाहरण देते है—

अगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति च ।।५३।।

अर्थ—अगुली के अग्रभाग पर हाथियो के सैकडो समूह रहते है, इत्यादि वचन एव तत्सम्बन्धी ज्ञान सभी आगमाभास है, इसतरह के वचन आगमाभास इसलिये कहे जाते है कि इसतरह का वचनालाप अज्ञानरूपी बड़े भारी पर्वत से आक्रान्त हुए पुरुष ही बोला करते है, उनके द्वारा अज्ञान होने के कारण वास्तविक वस्तु तत्व का विवेचन नही हो सकता ।

शका—इसतरह मोहादि से आक्रात पुरुष के वचन से उत्पन्न हुआ ज्ञान आगमाभास क्यो कहा जाता है ?

विसंवादात् ॥ ५४ ॥

प्रतिपन्नार्थविचलनं हि विसंवादो विपरीतार्थोपस्थापकप्रमाणावसेयः । स चात्रास्तीत्यागमाभासता ।

अथेदानीं संख्याभासोपदर्शनार्थमाह—

विसंवादात् ॥ ५४ ॥

अर्थ—रागी मोही पुरुष के वचन विसंवाद कराते हैं अतः आगमाभास है। जो प्रमाण प्रतिपन्न पदार्थ है उससे विचलित होना विसंवाद कहलाता है अर्थात् विपरीत अर्थ को उपस्थित करने वाला प्रमाण ही विसंवादक है, ऐसा विसंवाद रागी मोही पुरुषों के वचन से उत्पन्न हुए ज्ञान में पाया जाता है अत. ऐसे वचन से उत्पन्न हुआ ज्ञान आगमाभासरूप सिद्ध होता है।

भावार्थ—"आप्तवचनादि निबंधनमर्थज्ञानमागमः" आप्त पुरुष सर्वज्ञ वीतरागी पुरुषों के वचन के निमित्त से अर्थात् उनके वचनों को सुनकर या पढकर जो पदार्थ का वास्तविक ज्ञान होता है उसको आगम प्रमाण कहते हैं ऐसा आगम प्रमाण का लक्षण करते हुए तीसरे परिच्छेद में [दूसरे भाग में] कहा था, उस लक्षण से विपरीत लक्षणवाला जो ज्ञान है वह सब आगमाभास है, जो आप्त पुरुष नहीं है राग द्वेष अथवा मोहयुक्त है उसके वचन प्रामाणिक नहीं होने से उन वचनों को सुनकर होने वाला ज्ञान भी प्रामाणिक नहीं होता, रागी पुरुष मनोरंजनादि के लिये जो वचन बोलता है उससे जो ज्ञान होता है वह आगमाभास है तथा द्वेषी पुरुष द्वेषवश जो कुछ कहता है उससे जो ज्ञान होता है वह आगमाभास है, मोह का अर्थ मिथ्यात्व है मिथ्यात्व के उदय से आक्रान्त पुरुष के वचन तो सर्वथा विपरीत ज्ञानके कारण होने से आगमाभास ही है, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, चार्वाक, मीमांसक आदि जितने भी मत हैं उन मतों के जो वचन अर्थात् ग्रन्थ है वे सभी विपरीत ज्ञानके कारण होने से आगमाभास कहे जाते हैं।

अब प्रमाण की संख्या सम्बन्धी जो विपरीतता है अर्थात् प्रमाण की संख्या कम या अधिकरूप से मानना संख्याभास है ऐसा कहते है—

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ॥ ५५ ॥

कस्मादित्याह—

लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्धयादेश्चासिद्धे.
अतद्विषयत्वात् ॥ ५६ ॥

कुतोऽसिद्धिरित्याह-अतद्विषयत्वात् । यथा चाध्यक्षस्य परलोकादिनिषेधादिरविषयस्तथा विस्तरतो द्वितीयपरिच्छेदे प्रतिपादितम् ।

अमुमेवार्थं समर्थयमान. सौगतादिपरिकल्पिता च सख्या निराकुर्वाण सौगतेत्याद्याह—

प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणमित्यादि सख्याभासम् ॥५५॥

अर्थ—प्रत्यक्षरूप एक ही प्रमाण है इत्यादि रूप मानना सख्याभास है ।

लौकायितकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्धयादेश्चासिद्धे.
अतद् विषयत्वात् ॥ ५६ ॥

अर्थ—लौकायित जो चार्वाक है वह एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है, यह एक प्रमाण सख्या ठीक नही है, क्योकि एक प्रत्यक्ष से परलोक का निषेध करना, पर जीवो मे ज्ञानादि को सिद्ध करना इत्यादि कार्य नही हो सकता, इसका भी कारण यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण परलोकादि को जानता ही नही उस ज्ञान की प्रवृत्ति परलोकादि परोक्ष वस्तु मे न होकर केवल घट पट आदि प्रत्यक्ष वस्तु मे ही हुआ करती है । चार्वाक एक ही प्रमाण मानते है, किन्तु उधर परलोकादि का निषेध करते है, सो परलोक नही है, सर्वज्ञ नही है, इत्यादि विषयो का निषेध करना अनुमानादि के अभाव मे कैसे शक्य होगा ? अर्थात् नही हो सकता, अत: एक प्रत्यक्ष मात्र को मानना सख्याभास है । प्रत्यक्ष का विषय परलोक आदि पदार्थ नही हो सकते प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा परलोक का निषेध करना अशक्य है इत्यादि बातो का खुलासा द्वितीय परिच्छेद मे कर दिया है, यहां अधिक नही कहते । आगे इसीका समर्थन करते हुए बौद्ध आदि परवादी द्वारा परिकल्पित प्रमाण सख्या का निराकरण करते हैं—

सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैः एकैकाधिकैः व्याप्तिवत् ॥ ५७ ॥

यथैव हि सौगतसाख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयाना मते प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैः प्रमाणैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिर्न सिध्यत्यतद्विपयत्वात् तथा प्रकृतमपि । प्रयोग –यद्यस्याऽविपयो न तत-

---

सौगत साख्य यौग प्राभाकर जैमिनीयाना प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्य भावै एकैकाधिकै. व्याप्तिवत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सौगत सांख्य यौग प्राभाकर जैमिनी इनके मत मे क्रमश प्रत्यक्ष और अनुमानो द्वारा, प्रत्यक्ष अनुमान आगमों द्वारा, प्रत्यक्षादि मे एक अधिक उपमा द्वारा, प्रत्यक्षादि मे एक अधिक अर्थापत्ति, और उन्हीमे एक अधिक अभाव प्रमाण द्वारा व्याप्ति ज्ञानका विषय ग्रहण नही होने से उन मतो की दो तीन आदि प्रमाण सख्या बाधित होती है उसीप्रकार चार्वाक की एक प्रमाण सख्या बाधित होती है, इसका विवरण इसप्रकार है कि चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है किन्तु एक प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसी चार्वाक का इष्ट सिद्धात जो परलोक का खडन करना आदि है वह किया नही जा सकता, क्योकि प्रत्यक्ष का विषय परलोकादि नही है प्रत्यक्ष प्रमाण उसको जान नही सकता, इसीप्रकार सौगत प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण माने है किंतु इन दो प्रमाणो द्वारा तर्क का विषय जो व्याप्ति है [जहा जहा धूम होता है वहा वहा अग्नि होती है इत्यादि] उसका ग्रहण नही होता अत. दो सख्या मानने पर भी इष्ट मतकी सिद्धि नही हो सकती । प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ऐसे तीन प्रमाण साख्य मानता है, प्रत्यक्ष अनुमान आगम और उपमान ऐसे चार प्रमाण यौग [नैयायिक–वैशेषिक] मानता है, प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, उपमा और अर्थापत्ति ऐसे पाच प्रमाण प्रभाकर मानता है, प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, उपमा, अर्थापत्ति और अभाव ऐसे छह प्रमाण जैमिनी [मीमासक] मानता है किन्तु इन प्रमाणो द्वारा व्याप्ति का ग्रहण नही होता क्योकि उन प्रत्यक्षादि छह प्रमाणो मे से किसी भी प्रमाण का विषय व्याप्ति है ही नही, व्याप्ति का ग्रहण हुए बिना अनुमान आदि प्रमाणो की सिद्धि हो नही सकती ऐसा परोक्ष प्रमाण का वर्णन करते हुए सिद्ध कर चुके हैं, यहा कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे बौद्ध आदि के इष्ट प्रमाण सख्या द्वारा व्याप्तिरूप विषय ग्रहण नही होता अत उनकी सख्या सिद्ध नही होती वैसे ही चार्वाक के एक प्रत्यक्ष

स्तत्सिद्धिः यथा प्रत्यक्षानुमानाद्यविषयो व्याप्तिर्न ततः सिद्धिसौधशिखरमारोहति, अविषयश्च परलोकनिषेधादिः प्रत्यक्षस्येति ।

मा भूत्प्रत्यक्षस्य तद्विषयत्वमनुमानादेस्तु भविष्यतीत्याह—

अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।। ५८ ।।

चार्वाकं प्रति । सौगतादीन्प्रति—

तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्य अव्यवस्थापकत्वात् ।।५६।।

प्रमाण द्वारा परलोक निषेधादि नही होने से वह एक सख्या बाधित होती है । अनुमान सिद्ध बात है कि–जो जिसका अविषय है वह उसके द्वारा सिद्ध नही होता, जैसे प्रत्यक्ष अनुमान आदि का व्याप्ति अविषय होने से उनके द्वारा वह सिद्धि रूपी प्रासाद शिखर का आरोहण नही कर सकती अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमानादि से व्याप्ति की सिद्धि नही होती, परलोक निषेध आदि प्रत्यक्ष प्रमाण का अविषय है ही अत वह प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता । इसप्रकार चार्वाक, बौद्ध आदि सभी परवादियो के यहा जो जो प्रमाण सख्या मानी है वह वह सब ही सख्याभास है वास्तविक प्रमाण सख्या नही है ऐसा निश्चय हुआ । अब यहा कोई शंका करे कि परलोक निषेधादिक प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय भले ही मत होवे किन्तु अनुमान प्रमाण का विषय तो वह होगा ही ? सो इस शका का समाधान करते हैं—

अनुमानादेस्तद् विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।।५८।।

अर्थ—चार्वाक यदि अनुमानादि द्वारा परलोक निषेध आदि कार्य होना स्वीकार करे, अर्थात् परलोक निषेध इत्यादि अनुमान का विषय है ऐसा माने तो उस अनुमान को प्रमाणभूत स्वीकार करना होगा, और इसतरह प्रत्यक्ष से अन्य भी प्रमाण है ऐसा स्वीकार करने से उस मत की प्रमाण सख्या खण्डित होती ही है । जैसे बौद्ध मतकी संख्या खण्डित होती है—

तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।।५६।।

अर्थ—बौद्ध यदि व्याप्ति को तर्क प्रमाण विषय करता है ऐसा माने अर्थात् तर्क प्रमाण द्वारा व्याप्ति का [साध्य–साधन का अविनाभाव] ग्रहण होता है ऐसा

कुत एतदित्याह अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।

प्रतिभासादिभेदस्य च भेदकत्वादिति ॥६०॥

माने तो उस तर्क प्रमाण को प्रत्यक्षादि से पृथक् स्वीकार करना होगा ही और ऐसा मानने पर उन बौद्धो की दो प्रमाण सख्या कहा रही ? अर्थात् नही रहती । यदि उस तर्क को स्वीकार करके अप्रमाण बताया जाय तो उस अप्रमाणभूत तर्क द्वारा व्याप्ति की सिद्धि हो नही सकती क्योकि जो अप्रमाण होता है वह वस्तु व्यवस्था नही कर सकता ऐसा सर्व मान्य नियम है ।

प्रतिभासादिभेदस्य च भेदकत्वात् ॥६०॥

अर्थ—कोई कहे कि अनुमान या तर्क आदि को प्रामाणिक तो मान लेवे किंतु उन ज्ञानो का अन्तर्भाव तो प्रत्यक्षादि मे ही हो जावेगा ? सो इस कथन पर आचार्य कहते है कि प्रतिभास मे भेद होने से–पृथक् पृथक् प्रतीति आने से ही तो प्रमाणो मे भेद स्थापित किया जाता है, अर्थात् जिस जिस प्रतीति या ज्ञान मे पृथक् पृथक् रूप से झलक आती है उस उस ज्ञानको भिन्न भिन्न प्रमाणरूप से स्वीकार करते हैं, प्रत्यक्षादि की प्रतीति से तर्क ज्ञानकी प्रतीति पृथक् या विलक्षण है क्योकि प्रत्यक्षादि से व्याप्ति का ग्रहण नही होकर तर्क ज्ञान से व्याप्ति का ग्रहण होता है इसी से सिद्ध होता है कि तर्क भी एक पृथक् प्रमाण है, जैसे कि प्रत्यक्षादि ज्ञान विलक्षण प्रतीति वाले होने से पृथक् पृथक् प्रमाण हैं । प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, तर्क प्रमाण इत्यादि प्रमाणो मे विभिन्न प्रतिभास है इन प्रमाणो की सामग्री भी विभिन्न है इत्यादि विषयो का पहले "तद्द्वेधा" इस सूत्र का विवेचन करते समय खुलासा कर दिया है अब यहा अधिक नही कहते हैं ।

विशेषार्थ—प्रत्यक्ष और परोक्ष इसप्रकार दो प्रमुख प्रमाण हैं ऐसा पहले सिद्ध कर आये है, प्रत्यक्ष प्रमाण के साव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष इसप्रकार दो भेद है इन दो मे "विशदं प्रत्यक्ष" ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण पाया जाता है अत: ये कथचित् लक्षण अभेद की अपेक्षा एक भी है । परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पाच भेद हैं इन सभी मे परोक्षमितरद–

प्रतिपादितश्चाय प्रतिभासभेदसामग्रीभेदश्चाध्यक्षादीना प्रपञ्चतस्तद्द्वैधेत्यत्रेत्युपरम्यते ।

अथेदानी विषयाभासप्ररूपणार्थं विषयेत्याद्युपक्रमते—

अविशदं परोक्षम्, ऐसा लक्षण सुघटित होता है अतः इनमे कथचित् अभेद भी है । प्रत्यक्ष प्रमाण मे पारमार्थिक प्रत्यक्ष की सामग्री अखिल आवरण कर्मो का नाश होना है, और साव्यावहारिक प्रत्यक्ष की सामग्री इन्द्रिया तथा मन है, अतरंग मे आवरण कर्म का क्षयोपशम होना है । परोक्ष ज्ञान में–स्मृति मे कारण प्रत्यक्ष प्रमाण तथा तदावरण कर्म का क्षयोपशम है, प्रत्यभिज्ञान मे प्रत्यक्ष तथा स्मृति एव तदावरण कर्म का क्षयोपशम इसप्रकार कारण है ऐसे ही तर्क आदि प्रमाणो के कारण अर्थात् सामग्री समझ लेना चाहिये इसतरह विभिन्न सामग्री के होने से प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणो मे एवं इनके प्रभेदो मे विभिन्नता आया करती है । प्रतिभास का भेद भी इनमे दिखायी देता है, प्रत्यक्ष का प्रतिभास विशद–स्पष्ट है और परोक्ष का अविशद–अस्पष्ट है । ऐसे ही इनके सांव्यावहारिक या अनुमानादि मे कथचित् विभिन्न विभिन्न प्रतिभास होते हैं अत. इन ज्ञानोको भिन्न भिन्न प्रमाणरूप माना है । जैन से अन्य परवादी जो चार्वाक बौद्ध आदि है उनके यहा प्रमाण सख्या सही सिद्ध नही होती क्योकि प्रथम तो वे लोग प्रमाण का लक्षण गलत करते है दूसरी बात इनके माने गये एक दो आदि प्रमाण द्वारा इन्ही का इष्ट सिद्धांत सिद्ध नही हो पाता, चार्वाक को परलोक का निषेध करना इष्ट है किन्तु वह प्रत्यक्ष से नही हो सकता, ऐसे ही बौद्ध को अनुमान प्रमाण मानना इष्ट है किन्तु अनुमान तभी सिद्ध हो सकता है जब उस अनुमान में स्थित जो साध्य–साधन का अविनाभाव है उसको जानने वाला तर्क ज्ञान स्वीकार किया जाय । यदि चार्वाक आदि कहे कि हम अनुमान को मानकर उनका अन्तर्भाव प्रत्यक्षादि मे ही कर लेगे ? सो बात गलत है क्योंकि जब इस तर्कादि ज्ञान मे प्रतिभास विभिन्न हो रहा है तो उसे अवश्य ही पृथक् प्रमाणरूप से स्वीकार करना होगा अन्यथा इन चार्वाक आदि का इष्ट कार्य सिद्ध नही हो सकता । इसप्रकार परवादियों की प्रमाण गणना सही नही है ऐसा निश्चित होता है । अस्तु ।

अब इस समय विषयाभास का वर्णन करते हैं—

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ।। ६१ ।।

विषयाभासा —सामान्य यथा सत्ताद्वैतवादिनः। केवल विशेषो वा यथा सौगतस्य। द्वय वा स्वतन्त्र यथा यौगस्य। कुतोस्य विषयाभासतेत्याह—

तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च ।। ६२ ।।

स ह्येवविधोर्थ स्वयमसमर्थ. समर्थो वा कार्यं कुर्यात्? न तावत्प्रथम पक्ष',

---

विषयाभास सामान्य विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ।।६१।।

अर्थ—प्रमाण का विषय "सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषय" इसप्रकार बतलाया था इससे विपरीत अकेला सामान्य अथवा अकेला विशेष या सामान्य और विशेष दोनो स्वतन्त्ररूप से प्रमाण के विषय है ऐसा कहना विषयाभास है। सत्ताद्वैत-वादी [ब्रह्माद्वैतवादी आदि] प्रमाण का विषय सामान्य है ऐसा कहते है अर्थात् प्रमाण मात्र सामान्य को जानता है सामान्य को छोडकर अन्य पदार्थ ही नही है अत. प्रमाण अन्य को कैसे जानेगा इसप्रकार इन सत्ताद्वैतवादियो की मान्यता है। बौद्ध प्रमाण का विषय केवल विशेष है ऐसा बताते है। नैयायिक-वैशेषिक प्रमाण का विषय सामान्य और विशेष मानते तो है किन्तु इन दोनो का अस्तित्व सर्वथा पृथक् पृथक् बतलाते हैं सामान्य सर्वथा एक स्वतत्र पदार्थ है और विशेष सर्वथा पृथक् एक स्वतत्र पदार्थ है ऐसा मानते है ये सभी विषय असत् है, इसतरह के विषय को ग्रहण करने वाला प्रमाण नही होता है प्रमाण तो सामान्य और विशेष दोनो जिसके अभिन्न अग हैं ऐसे पदार्थ को विषय करता है अत एक एक को विषय मानना विषयाभास है। आगे इसीको बताते है—

तथा–प्रतिभासनात् कार्या–करणाच्च ।।६२।।

अर्थ—सामान्य और विशेष ये दोनो स्वतत्र पदार्थ हो अथवा एक सामान्य मात्र ही जगत मे पदार्थ है, या एक विशेष नामा पदार्थ ही वास्तविक है सामान्य तो काल्पनिक है ऐसा प्रतीत नही होता, प्रतीति मे तो सामान्य विशेषात्मक एक वस्तु आती है, देखिये–गाय मे गोत्व सामान्य और कृष्ण शुक्ल आदि विशेष क्या न्यारे न्यारे प्रतिभासित होते है? नही होते, ससार भर का कोई भी पदार्थ हो वह सामान्य

स्वयमसमर्थस्याऽकारकत्वात्पूर्ववत् ॥ ६३ ॥

एतश्च सर्वं विषयपरिच्छेदे विस्तारतोभिहितमिति नेहाभिधीयते ।

नापि द्वितीयः पक्ष',

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ॥ ६४ ॥

विशेषात्मक ही रहेगा ऐसा अटल नियम है और यह नियम भी कोई जबरदस्ती स्थापित नही किया है किन्तु इसीप्रकार की प्रतीति आने से-प्रतीति के आधार पर ही स्थापित हुआ है। सामान्य विशेषात्मक ही पदार्थ है पृथक् पृथक् दो नही है ऐसा मानने का कारण यह भी है कि अकेला सामान्य या अकेला विशेष कोई भी कार्य नही कर सकता है। हम जैन सत्ताद्वैतवादी आदि परवादियो से प्रश्न करते है कि अकेला स्वतन्त्र ऐसा यह सामान्य या विशेष यदि कार्य करता है तो स्वय समर्थ होकर करता है या असमर्थ होकर करता है ? स्वय असमर्थ होकर तो कार्य कर नही सकते, क्योकि—

स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात् पूर्ववत् ॥६३॥

अर्थ—जो स्वयं असमर्थ है वह कार्य कर नही सकता जैसे पहले नही करता था, अर्थात् पदार्थ जो भी कार्य करते है उसमे वे किसी अन्य की अपेक्षा रखते है या नही ? यदि रखते हैं तो जब अन्य सहकारी कारण मिला तब पदार्थ ने कार्य को किया ऐसा अर्थ हुआ ? किन्तु ऐसा परवादी मान नही सकते क्योकि उनके यहा प्रत्येक पदार्थ को या सर्वथा परिणामी—परिवर्त्तनशील माना है या सर्वथा अपरिणमनशील माना है, यदि मान लो कि पदार्थ सर्वथा अपरिणामी है तथा स्वय असमर्थ है परकी अपेक्षा लेकर कार्य करता है तो ऐसा मानना अशक्य है, क्योकि जो अपरिणामी है उसको परकी सहायता हो तभी जैसा का तैसा है और परकी सहायता जब नही है तभी जैसा का तैसा पूर्ववत् है। इस विषय को विषय परिच्छेद मे विस्तारपूर्वक कह दिया है अतः यहा नही कहते है। दूसरा पक्ष—सामान्यादि अकेला स्वतत्र पदार्थ स्वय समर्थ होकर कार्य को करता है ऐसा मानना भी गलत है, क्योंकि—

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ॥६४॥

परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावादिति ॥ ६५ ॥

अथेदानीं फलाभासं प्ररूपयन्नाह—

फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ॥ ६६ ॥

कुतोस्य फलाभासतेत्याह—

अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ॥ ६७ ॥

न खलु सर्वथा तयोरभेदे 'इदं प्रमाणमिदं फलम्' इति व्यवहारः शक्यः प्रवर्त्तयितुम्—

अर्थ—जो समर्थ होकर कार्य करता है तो हमेशा ही कार्य की उत्पत्ति होना चाहिये ? क्योंकि उसे अन्य कारण की अपेक्षा है नहीं, यह सर्वसम्मत बात है कि जो समर्थ है किसी की अपेक्षा नहीं रखता है उसका कार्य रुकता नहीं, चलता ही रहता है।

परापेक्षणे परिणामित्व मन्यथा तदभावात् ॥६५॥

अर्थ—यदि वह समर्थ पदार्थ परकी अपेक्षा रखता है ऐसा माना जाय तो वह निश्चित ही परिवर्त्तनशील पदार्थ ठहरेगा। क्योंकि परिवर्त्तन के हुए बिना ऐसा कह नहीं सकते कि पहले कार्य को नहीं किया था पर सहायक कारण मिलने पर कार्य किया इत्यादि। इसप्रकार सर्वथा पृथक् पृथक् सामान्य और विशेष को मानना कथमपि सिद्ध नहीं होता है।

अब यहां फलाभास का वर्णन करते हैं—

फलाभास प्रमाणादभिन्न भिन्नमेव वा ॥६६॥

अर्थ—प्रमाण से प्रमाण का फल सर्वथा भिन्न ही है अथवा सर्वथा अभिन्न ही है ऐसा मानना फलाभास है इसे फलाभास किस कारण से कहते है, सो बताते हैं—

अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्ते· ॥६७॥

अर्थ—यदि प्रमाण से प्रमाण का फल सर्वथा अभिन्न ही है ऐसा स्वीकार किया जाय तो यह प्रमाण है और यह इसका फल है ऐसा व्यवहार बन नहीं सकता।

ननु व्यावृत्त्या तयो कल्पना भविष्यतीत्याह—

व्यावृत्त्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ।। ६८ ।।

प्रमाणान्तराद्व्यावृत्तौ वाऽप्रमाणत्वस्येति ।। ६९ ।।

एतच्च फलपरीक्षाया प्रपञ्चितमिति पुनर्नेह प्रपञ्च्यते ।

क्योकि अभेद मे इसतरह का कथन होना अशक्य है, यहा कोई बौद्धमती शिष्य प्रश्न करे कि–प्रमाण और फल मे अभेद होने पर भी व्यावृत्ति द्वारा यह प्रमाण का फल है ऐसा व्यवहार हो जाता है क्या दोष है ?

व्यावृत्यापि न तत् कल्पना फलान्तराद् व्यावृत्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ।।६८।।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते है कि–व्यावृत्ति–अफल की व्यावृत्ति फल है इसप्रकार की व्यावृत्ति से भी प्रमाण के फल की व्यवस्था नही होती, क्योकि जैसे विवक्षित किसी प्रमाण का फल अफल से व्यावृत्त है वैसे अन्य फल से भी व्यावृत्त होगा, और जब उसको फलान्तर से व्यावृत्ति करने के लिये बैठेंगे तब वह अफलरूप ही सिद्ध होवेगा ? यहा भावार्थ यह समझना कि बौद्धमत मे शब्द का अर्थ अन्यापोह किया है, जैसे गो शब्द है यह गो अर्थ को नही कहता किंतु अगो की व्यावृत्ति–अगो का अभाव है ऐसा कहता है, इस विषय पर अपोहवाद नामा प्रकरण मे [दूसरे भाग मे] बहुत कुछ कह आये है और इस व्यावृत्ति या अन्यापोह मतका खण्डन कर आये है, यहा पर इतना समझना कि फल शब्द का अर्थ अफल व्यावृत्ति है ऐसा करते है तो उसका घूम फिर कर यह अर्थ निकलता है कि फल विशेष से व्यावृत्त होना, सो ऐसा अर्थ करना गलत है ।

प्रमाणाद् व्यावृत्त्येवाऽप्रमाणत्वस्य ।।६९।।

अर्थ—तथा शब्द का अर्थ अन्य व्यावृत्तिरूप होने से बौद्ध फल शब्द का अर्थ अफल व्यावृत्ति [अफल नही होना] करते है तो जब अफल शब्द का अर्थ करना हो तो क्या करेंगे ? अफल की व्यावृत्ति ही तो करेंगे ? जैसे कि प्रमाण की व्यावृत्ति अप्रमाण है ऐसा अर्थ करते हैं ? किन्तु ऐसा अर्थ करना अयुक्त है । प्रमाण से प्रमाण

तस्माद्वास्तवो भेदः ॥ ७० ॥

प्रमाणफलयोस्तद्व्यवहारान्यथानुपपत्तेरिति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् ।

अस्तु तर्हि सर्वथा तयोर्भेद इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—

भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तिः (त्तेः) ॥ ७१ ॥

का फल सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न नही होता इत्यादि रूप से अभी चौथे परिच्छेद मे विस्तारपूर्वक कह आये है, यहा पुन. नही कहते ।

तस्माद् वास्तवो भेद ॥ ७० ॥

अर्थ—व्यावृत्ति या कल्पना मात्र से प्रमाण और फल मे भेद है ऐसा कहना सिद्ध नही होता, अत इनमे जो भेद है वह वास्तविक है काल्पनिक नही ऐसा स्वीकार करना चाहिए । यदि इसतरह न माने तो प्रमाण और फल मे जो भेद व्यवहार देखा जाता है कि यह प्रमाण है और यह उसका फल है, इत्यादि व्यवहार बनता नही, इस प्रकार प्रेक्षावान पुरुषो को प्रमाण एव फल के विषय मे समझना चाहिये ।

यहां पर कोई कहे कि प्रमाण और फल मे आप जैन वास्तविक भेद स्वीकार करते हैं, सो उनमे सर्वथा ही भेद मानना इष्ट है क्या ?

भेदे त्वात्मान्तरवत् तदनुपपत्ते. ॥७१॥

अर्थ—उपर्युक्त शका का समाधान करते है कि–प्रमाण और फल मे भेद है किंतु इसका मतलब यह नही करना कि सर्वथा भेद है, सर्वथा भेद और वास्तविक भेद इन शब्दो मे अन्तर है, सर्वथा भेद का अर्थ तो भिन्न पृथक् वस्तु रूप होता है और वास्तव भेद का अर्थ काल्पनिक भेद नही है, लक्षण भेद आदि से भेद है ऐसा होता है। यदि प्रमाण और फल मे सर्वथा भेद माने तो अन्य आत्मा का फल जैसे हमारे से भिन्न है वैसे हमारा स्वय का फल भी हमारे से भिन्न ठहरेगा, फिर यह प्रमाण हमारा है इसका फल यह है इत्यादि व्यपदेश नही होगा क्योकि वह तो हमारे आत्मा से एव प्रमाण से सर्वथा भिन्न है ।

समवायेऽतिप्रसङ्गः ।। ७२ ।।

समवायेऽतिप्रसगः ।। ७२ ।।

अर्थ—यहां कोई कहे कि प्रमाण से उसका फल है तो सर्वथा पृथक्, किन्तु इन दोनों का समवाय हो जाने से यह इस प्रमाण का फल है ऐसा व्यवहार बन जाता है ? सो यह बात असत् है, समवाय जब स्वयं पृथक् है तो इस प्रमाण मे इस फल को समवेत करना है, अन्य प्रमाण मे या आकाशादि मे नही, इत्यादि रूप विवेक समवाय द्वारा होना अशक्य है, भिन्न समवाय तो हर किसी प्रमाण के साथ हर किसी प्रमाण के फल को समवेत कर सकता है, इसतरह का अतिप्रसंग होने के कारण प्रमाण और फल में सर्वथा भेद नही मानना चाहिये । समवाय किसी गुण गुणी आदि का सम्बन्ध नही कराता, कार्य कारण का सम्बन्ध नही कराता इत्यादि, इस विषय मे समवाय विचार नामा प्रकरण मे कह आये है । यहां अधिक नही कहते । इसप्रकार प्रमाणाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास इन चारों का वर्णन समाप्त हुआ ।

।। तदाभास प्रकरण समाप्त ।।

इत्यप्युक्त तत्रैव ।

अथेदानी प्रतिपन्नप्रमाणतदाभासस्वरूपाणा विनेयाना प्रमाणतदाभासावित्यादिना फलमादर्शयति—

प्रमाण-तदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृता-ऽपरिहृतदोषौ वादिनः साधन-तदाभासौ प्रतिवादिनो दूषण-भूषणे च ।। ७३ ।।

प्रतिपादितस्वरूपौ हि प्रमाणतदाभासौ यथावत्प्रतिपन्नाप्रतिपन्नस्वरूपौ जयेतरव्यवस्थाया निबन्धन भवत । तथाहि—चतुरङ्गवादमुररीकृत्य विज्ञातप्रमाणतदाभासस्वरूपेण वादिना सम्यक्-

---

अब जिन्होंने प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप जाना है ऐसे शिष्यो को प्रमाण और प्रमाणाभास जानने का फल क्या है सो बताते है—

प्रमाण तदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिन साधन तदाभासौ प्रतिवादिनो दूपण भूषणे च ।।७३।।

अर्थ—प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप बता चुके हैं, यदि इनका स्वरूप भली प्रकार जाना हुआ है तो वाद मे जय होता है और यदि नही जाना हुआ है तो पराजय होता है, इसका खुलासा करते हैं—वाद के चार अग हुआ करते है सभ्य, सभापति, वादी और प्रतिवादी, इनमे जो वादी है [सभा मे पहली बार अपना पक्ष उपस्थित करने वाला पुरुष] वह यदि प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप जाना हुआ

प्रमाणे स्वपक्षसाधनायोपन्यस्ते अविज्ञाततत्स्वरूपेण तु तदाभासे। प्रतिवादिना वाऽनिश्चिततत्स्वरूपेण दुष्टतया सम्यक्प्रमाणेपि तदाभासतोद्भाविता। निश्चिततत्स्वरूपेण तु तदाभासे तदाभासतोद्भाविता।

है तो स्वपक्ष की सिद्धि के लिये सत्यप्रमाण उपस्थित करता है, और यदि उन प्रमाणादिका स्वरूप नही जाना हुआ है तो वह असत्य प्रमाण अर्थात् प्रमाणाभास को उपस्थित करता है, अब सामने जो प्रतिवादी बैठा है वह यदि प्रमाणादि का स्वरूप नही जानता तो वादी के सत्य प्रमाण को भी दुष्टता से यह तो प्रमाणाभास है ऐसा दोषोद्भावन करता है, और कोई अन्य प्रतिवादी यदि है तो वह प्रमाण आदि का स्वरूप जानने वाला होने से वादी के असत्य प्रमाण मे ही तदाभासता "तुमने यह प्रमाणाभास उपस्थित किया" ऐसा दोषोद्भावन करता है, अब यदि वादी उस दोषोद्भावन को हटाता है तो उसके पक्षका साधन होता है और प्रतिवाद को दूषण प्राप्त होता है, और कदाचित् वादी अपने ऊपर दिये हुए दोषोद्भावन को नही हटाता तब तो उसके पक्षका साधन नही हो पाता और प्रतिवादी को भूषण प्राप्त होता है [अर्थात् प्रतिवादी ने दोषोद्भावन किया था वह ठीक है ऐसा निर्णय होता है]।

विशेषार्थ— वस्तुतत्व का स्वरूप बतलाने वाला सम्यग्ज्ञान स्वरूप प्रमाण होता है, प्रमाण के बल से ही जगत के यावन्मात्र पदार्थ है उनका बोध होता है, जो सम्यग्ज्ञान नही है उससे वस्तु स्वरूप का निर्णय नही होता है, जिन पुरुषों का ज्ञान आवरण कर्म से रहित होता है वे ही पूर्णरूप से वस्तु तत्व को जान सकते है, वर्तमान मे ऐसा ज्ञान और ज्ञान के धारी उपलब्ध नही है, अत वस्तु के स्वरूप में विविध मत प्रचलित हुए है, भारत मे साख्य, मीमासक, योग आदि अनेक मत है और वे सारे ही स्व स्वमत को सही बतलाते है, कुछ शताब्दी पहले इन विविध मत वालो मे परस्पर मे अपने अपने मतकी सिद्धि के लिये वाद हुआ करते थे, यहां पर उसी वाद के विषय में कथन चलेगा, वाद के चार अग है, वादी–जो सभा मे सबसे पहले अपना पक्ष उपस्थित करता है, प्रतिवादी–जो वादी के पक्षको असिद्ध करने का प्रयत्न करता है, सभ्य–वाद को सुनने–देखने वाले एव प्रश्न कर्त्ता मध्यस्थ महाशय, सभापति–वाद मे कलह नही होने देना, दोनो पक्षो को जानने वाला एवं जय पराजय का निर्णय देने वाला सज्जन पुरुष। वादी और प्रतिवादो वे ही होने चाहिये जो प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप भली प्रकार से जानते हो, अपने अपने मत मे निष्णात हो, एव अनुमान प्रयोग में

एव तौ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिन: साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च भवत.।

ननु चतुरङ्गवादमुररीकृत्येत्याद्ययुक्तमुक्तम्, वादस्याविजिगीषुविषयत्वेन चतुरङ्गत्वासम्भवात्। न खलु वादो विजिगीषतोर्वर्त्तते तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थरहितत्वात्। यस्तु विजिगीषतोर्नासौ

अत्यन्त निपुण हो, क्योकि वाद मे अनुमानप्रमाण द्वारा ही प्राय. स्वपक्ष को सिद्ध किया जाता है। वादी प्रमाण और प्रमाणाभास को अच्छी तरह जानता हो तो अपने पक्षको सिद्ध करने के लिये सत्य प्रमाण उपस्थित करता है, प्रतिवादी यदि न्याय के क्रम का उल्लघन नही करता और उस प्रमाण के स्वरूप को जानने वाला होता है तो उस सत्य प्रमाण मे कोई दूषण नही दे पाता, और इसतरह वादी का पक्ष सिद्ध हो जाता है तथा आगे भी प्रतिवादी यदि कुछ प्रश्नोत्तर नही कर पाता तो वादी की जय भी हो जाती है तथा वादी यदि प्रमाणादि को ठीक से नही जानता तो स्वपक्ष को सिद्ध करने के लिये प्रमाणाभास—असत्य प्रमाण उपस्थित करता है, तब प्रतिवादी उसके प्रमाण को सदोष बता देता है, अब यदि वादी उस दोष को दूर कर देता है तो ठीक है अन्यथा उसका पक्ष असिद्ध होकर आगे उसका पराजय भी हो जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि वादी सत्य प्रमाण उपस्थित करता है तो भी प्रतिवादी उसका पराजय करने के लिये उस प्रमाण को दूषित ठहराता है, तब वादी उस दोष का यदि परिहार कर पाता है तो ठीक वरना पराभव होने की सभावना है, तथा कभी ऐसा भी होता है कि वादी द्वारा सही प्रमाण युक्त पक्ष उपस्थित किया है तो भी प्रतिवादी अपने मत की अपेक्षा या वचन चातुर्य से उस प्रमाण को सदोष बताता है ऐसे अवसर पर भी वादी यदि उस दोष का परिहार करने मे असमर्थ हो जाता है तो भी वादी का पराजय होना सभव है। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि अपने पक्षके ऊपर, प्रमाण के ऊपर प्रतिवादी द्वारा दिये गये दोषो का निराकरण कर सकना ही विजय का हेतु है।

जैन के द्वारा वाद का लक्षण सुनकर यौग अपना मत उपस्थित करता है—

यौग—वाद के चार अग होते है इत्यादि जो अभी जैन ने कहा वह अयुक्त है, वाद मे जीतने की इच्छा नही होने के कारण सभ्य आदि चार अगो की वहा संभावना नही है। विजय पाने की इच्छा है जिन्हे ऐसे वादी प्रतिवादियो के बीच मे

तथा सिद्धः यथा जल्पो वितण्डा च, तथा च वादः, तस्मान्न विजिगीषतोरिति । न हि वादस्तत्त्वाध्यवसायसरक्षणार्थो भवति, जल्पवितण्डयोरेव तत्त्वात् । तदुक्तम्—

"तत्त्वाध्यवसायसरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसरक्षणार्थं कटकशाखावरणवत्" [न्यायसू० ४।२।५०] इति । तदप्यसमीचीनम्; वादस्याविजिगीषुविषयत्वासिद्धेः । तथाहि–वादो नाविजिगीषुविषयो निग्रहस्थानवत्त्वात् जल्पवितण्डावत् । न चास्य निग्रहस्थानवत्त्वमसिद्धम्; 'सिद्धान्ता-

---

वाद नही चलता, क्योकि वाद तत्वाध्यवसाय का सरक्षण नही करता, जो विजिगीषुओ के बीच मे होता है वह ऐसा नही होता, जैसे जल्प और वितंडा मे तत्वाध्यवसाय संरक्षण होने से वे विजिगीपु पुरुषो में चलते है, वाद ऐसा तत्वाध्यवसाय का सरक्षण तो करता नही अत. विजिगीषु पुरुषो के बीच मे नही होता । इसप्रकार पचावयवी अनुमान द्वारा यह सिद्ध हुआ कि वाद के चार अग नही होते और न उसको विजिगीषु पुरुप करते हैं । यहां कोई कहे कि वाद भी तत्वाध्यवसाय के सरक्षण के लिये होता है ऐसा माना जाय ? सो यह कथन ठीक नही जल्प और वितडा से ही तत्व सरक्षण हो सकता है, अन्य से नही । कहा भी है–जैसे बीज और अकुरो की सुरक्षा के लिये काटो की बाड लगायी जाती है, वैसे तत्वाध्यवसाय के संरक्षण हेतु जल्प और वितंडा किये जाते है ।

जैन—यह कथन असमीचीन है, वादको जो आपने विजिगीषु पुरुषो का विषय नही माना वह बात असिद्ध है, देखिये–अनुमान प्रसिद्ध बात है कि–वाद अविजिगीपु पुरुषो का विषय नही होता, क्योकि वह निग्रह स्थानों से युक्त है, जैसे जल्प वितडा निग्रहस्थान युक्त होने से अविजिगीषु पुरुषो के विषय नही है । वाद निग्रहस्थान युक्त नही हो सो तो वात है नही, क्योकि आप यौग के यहा वाद का जो लक्षण पाया जाता है उससे सिद्ध होता है कि वाद मे आठ निग्रहस्थान होते है, अर्थात् 'प्रमाण तर्क साधनोपालभ. सिद्धान्ताविरुद्ध पचावयवोपपन्न , पक्ष पतिपक्षपरिग्रहो वाद·" ऐसा वाद का लक्षण आपके यहा माना है, इस लक्षण से रहित यदि कोई वादका प्रयोग करे तो निग्रहस्थान का पात्र बनता है, इसी का खुलासा करते हैं कि सिद्धात अविरुद्ध वाद न हो तो अपसिद्धात नामका निग्रहस्थान होता है, अनुमान के पाच अवयव ही होने चाहिये ऐसा वादका लक्षण था उन पाच अवयवो से कम या अधिक अवयव प्रयुक्त होते

विरुद्ध.' इत्यनेनापसिद्धान्तः, 'पञ्चावयवोपपन्न ' इत्यत्र पञ्चग्रहणात् न्यूनाधिके, अवयवोपपन्नग्रहणाद्धेत्वाभासपञ्चक चेत्यष्टनिग्रहस्थानाना वादे नियमप्रतिपादनात् ।

ननु वादे सतामप्येषा निग्रहबुद्धयोद्भावनाभावान्न विजिगीषास्ति । तदुक्तम्–तर्कशब्देन भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वज्ञापनादुद्भावननियमोपलभ्यते" [ ] तेन सिद्धान्ताविरुद्ध· पञ्चावयवोपपन्न इति चोत्तरपदयो· समस्तनिग्रहस्थानाद्युपलक्षणार्थत्वाद्वादेऽप्रमाणबुद्धया परेण छलजातिनिग्रहस्थानानि प्रयुक्तानि न निग्रहबुद्धयोद्भाव्यन्ते किन्तु निवारणबुद्धया । तत्त्वज्ञानायावयो

है तो क्रमश. न्यून और अधिक ऐसे दो निग्रह स्थानो का भागी बनता है एव पाच हेत्वाभासो मे से जो हेत्वाभास युक्त वाद का प्रयोग होगा वह वह निग्रहस्थान आवेगा इस तरह पाच हेत्वाभासो के निमित्त से पांच निग्रहस्थान होते हैं ऐसा यौग के यहां बताया गया है अतः जल्प और वितडा के समान वाद भी निग्रहस्थान युक्त होने से विजिगीषुओ के बीच मे होता है ऐसा सिद्ध होता है ।

यौग—यद्यपि उपर्युक्त निग्रहस्थान वाद मे भी होते हैं किन्तु उनको परवादी का निग्रह हो जाय इस बुद्धि से प्रगट नही किया जाता अत इस वाद मे विजिगीषा [जीतने की इच्छा] नही होती । कहा भी है वादका लक्षण करते समय तर्क शब्द आया है वह भूतपूर्व गति न्याय से वीतराग कथा का ज्ञापक है अत वाद मे निग्रहस्थान किस प्रकार से प्रगट किये जाते है उसका नियम मालूम पड़ता है, बात यह है कि "यहा पर यही अर्थ लगाना होगा अन्य नही" इत्यादि रूप से विचार करने को तर्क कहते है जब वादी प्रतिवादी व्याख्यान कर रहे हो तब उनका जो विचार चलता है उसमे वीतरागत्व रहता है ऐसे ही वाद काल मे भी वीतरागत्व रहता है वाद काल की वीतरागता तर्क शब्द से ही मालूम पड़ती है, मतलब यह है कि व्याख्यान–उपदेश के समय और वाद के समय वादी प्रतिवादी वीतरागभाव से तत्व का प्रतिपादन करते है, हार जीत की भावना से नही ऐसा नियम है । प्रमाणतर्क साधनोपालंभ सहित वाद होता है इस पद से तथा सिद्धात अविरुद्ध, पंचावयवोपपन्न इन उत्तर पदो से सारे ही निग्रहस्थान संगृहीत होते है इन निग्रहस्थानो का प्रयोग परका निग्रह करने की बुद्धि से नही होता किंतु निवारण बुद्धि से होता है, तथा उपलक्षण से जाति, छल आदि का प्रयोग भी निग्रह बुद्धि से न होकर निवारण बुद्धि से होता है,

प्रवृत्तिर्न च साधनाभासो दूषणाभासो वा तद्धेतुः। अतो न तत्प्रयोगो युक्त इति। तदप्यसाम्प्रतम्; जल्पवितण्डयोरपि तथोद्भावननियमप्रसङ्गात्। तयोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणाय स्वयमभ्युपगमात्। तस्य च छलजातिनिग्रहस्थानैः कर्तुमशक्यत्वात्। परस्य तूष्णीभावार्थं जल्पवितण्डयोश्छलाद्युद्भावनमिति चेत्, न; तथा परस्य तूष्णीभावाभावादसदुत्तराणामानन्त्यात्।

[न च] तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वरहितत्वं च वादेऽसिद्धम्, तस्यैव तत्संरक्षणार्थत्वोपपत्तेः। तथाहि-वाद एव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थः, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वे सिद्धान्ताविरुद्धत्वे पञ्चा-

---

ऐसा नियम है, जब वाद मे वादी प्रतिवादी प्रवृत्त होते हैं तब उनका परस्पर मे निर्णय रहता है कि अपन दोनो की जो वचनालाप की प्रवृत्ति हो रही है वह तत्व ज्ञानके लिये हो रही है, न कि एक दूसरे के साधनाभास या दूषणाभास को बतलाने [या हार जीत कराने] के लिये हो रही है, इत्यादि। इतने विवेचन से निश्चित हो जाता है कि वाद काल में निग्रहस्थानो का प्रयोग निग्रह बुद्धि से करना युक्त नही।

जैन—यह कथन गलत है, यदि वाद मे निग्रहस्थान आदि का प्रयोग निग्रह बुद्धि से न करके निवारण बुद्धि से किया जाता है ऐसा मानते है तो जल्प और वितंडा मे भी इन निग्रहस्थानादि का निवारण बुद्धि से प्रयोग होता है ऐसा मानना चाहिए। आप स्वयं जल्प और वितंडा को तत्वाध्यवसाय के संरक्षण के लिये मानते हैं, कहने का अभिप्राय यही है कि तत्वज्ञान के लिये वाद किया जाता है ऐसा आप यौग ने अभी कहा था सो यही तत्वज्ञान के लिये जल्प और वितडा भी होते है, तत्वज्ञान और तत्वाध्यवसाय संरक्षण इनमे कोई विशेष अन्तर नही है तथा तत्वाध्यवसाय का जो संरक्षण होता है वह छल, जाति और निग्रहस्थानो द्वारा करना अशक्य भी है।

यौग—तत्वाध्यवसाय का सरक्षण तो छलादि द्वारा नही हो पाता किन्तु जल्प और वितण्डा मे उनका उद्भावन इसलिये होता है कि परवादी चुप हो जावे।

जैन—ऐसा करने पर भी परवादी चुप नही रह सकता, क्योकि असत् उत्तर तो अनंत हो सकते हैं। असत्य प्रश्नोत्तरो की क्या गणना? यौग ने जो कहा था कि वाद तत्वाध्यवसाय का सरक्षण नही करता इत्यादि, सो बात असिद्ध है, उलटे वाद

वयवोपपन्नत्वे च सति पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवत्त्वात्, यस्तु न तथा स न तथा यथाक्रोशादि., तथा च वाद:, तस्मात्तत्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं इति । न चायमसिद्धो हेतु:;

"प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ. सिद्धान्ताविरुद्ध: पञ्चावयवोपपन्न: पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद.।" [न्यायसू० १।२।१] इत्यभिधानात् । 'पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवत्त्वात्' इत्युच्यमाने जल्पोपि तथा स्यादित्यवधारणविरोध:, तत्परिहारार्थं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वविशेषणम् । न हि जल्पे तदस्ति, "यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्प·।" [न्यायसू० १।२।२] इत्यभिधानात्।

ही उसका संरक्षण करने मे समर्थ होता है । हम सिद्ध करके बताते है—तत्वाध्यवसाय का रक्षण वाद द्वारा ही हो सकता है जल्प और वितडा द्वारा नही, क्योकि वाद चार विशेषणो से भरपूर है अर्थात् प्रमाण तर्क, स्वपक्ष साधन, परपक्षउपालंभ देने मे समर्थ वाद ही है, यह सिद्धात से अविरुद्ध रहता है, तथा अनुमान के पाच अवयवो से युक्त होकर पक्ष प्रतिपक्ष के ग्रहण से भी युक्त है, जो इतने गुणो से युक्त नही होता वह तत्वाध्यवसाय का रक्षण भी नही करता, जैसे आक्रोश-गाली वगैरह के वचन तत्व का संरक्षण नही करते । वाद प्रमाण तर्क इत्यादि से युक्त है अत. तत्वाध्यवसाय का संरक्षण करने के लिए होता है ।

यह प्रमाण तर्क साधनोपालभत्व इत्यादि विशेषण युक्त जो हेतु है वह असिद्ध नही समझना, आप यौग का सूत्र है कि "प्रमाण तर्क साधनोपालभ. सिद्धाताविरुद्ध पचावयवोपपन्न. पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद" अर्थात् वाद प्रमाण तर्क साधनोपालभ इत्यादि विशेषण युक्त होता है ऐसा इस सूत्र मे निर्देश पाया जाता है, यदि इस सूत्र मे "पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवत्व" इतना ही हेतु देते अर्थात् वादका इतना लक्षण करते तो जल्प भी इसप्रकार का होने से उसमे यह लक्षण चला जाता और यह अवधारण नही हो पाता कि केवल वाद ही इस लक्षण वाला है, इस दोष का परिहार करने के लिये प्रमाण तर्क साधनोपालभयुक्त वाद होता है ऐसा वाद का विशेषण दिया है, जल्प मे यह विशेषण होने पर भी आगे के सिद्धांत अविरुद्ध आदि विशेषण नही पाये जाते, जल्प का लक्षण तो इतना ही है कि—"यथोक्तोपपन्नश्छलजाति निग्रहस्थान साधनोपालभो जल्प" अर्थात् प्रमाण तर्क आदि से युक्त एव छल जाति निग्रहस्थान साधन उपालभ से युक्त ऐसा जल्प होता है, अत वादका लक्षण जल्प मे नही जाता

नापि वितण्डा तथानुषज्यते; जल्पस्यैव वितण्डारूपत्वात्, "स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ।" [न्याय-सू० १।२।३] इति वचनात् । स यथोक्तो जल्पः प्रतिपक्षस्थापनाहीनतया विशेषितो वितण्डात्वं प्रतिपद्यते । वैतण्डिकस्य च स्वपक्ष एव साधनवादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्षो हस्तिप्रतिहस्तिन्यायेन । तस्मिन्प्रतिपक्षे वैतण्डिको हि न साधनं वक्ति । केवलं परपक्षनिराकरणायैव प्रवर्त्तते इति व्याख्यानात् ।

पक्षप्रतिपक्षौ च वस्तुधर्मावेकाधिकरणौ विरुद्धावेककालावनवसितौ । वस्तुधर्माविति वस्तुविशेषौ वस्तुनः । सामान्येनाधिगतत्वाद्विशेषतोऽनधिगतत्वाच्च विशेषावगमनिमित्तो विचारः । एकाधि-

---

और इसी वजह से हेतु व्यभिचरित नही होता । वितडा भी तत्वाध्यवसाय सरक्षण नही करता, क्योकि वितण्डा जल्प के समान ही है "सप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितडा" जल्प के लक्षण मे प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित लक्षण कर देवे तो वितडा का स्वरूप बन जाता है जिसमे प्रतिपक्ष की स्थापना नही हो ऐसा जल्प ही वितंडापने को प्राप्त होता है, वितडा को करने वाला वैतडिक का जो स्वपक्ष है वही प्रतिवादी की अपेक्षा प्रतिपक्ष बन जाता है, जैसे कि हाथी ही अन्य हाथी की अपेक्षा प्रति हाथी कहा जाता है । इसप्रकार वैतडिक जो सामने वाले पुरुष ने पक्ष रखा है उसमे दूषण मात्र देता है किंतु अपना पक्ष रखकर उसके सिद्धि के लिये कुछ हेतु प्रस्तुत नही करता, केवल पर पक्ष का निराकरण करने मे ही लगा रहता है । कहने का अभिप्राय यही है कि जल्प और वितडा मे यही अन्तर है कि जल्प में तो पक्ष प्रतिपक्ष दोनो रहते है किन्तु वितंडा मे प्रतिपक्ष नही रहता, इसप्रकार आप यौग के यहा जल्प और वितडा के विषय में व्याख्यान पाया जाता है ।

अब यहां पर यह देखना है कि पक्ष और प्रतिपक्ष किसे कहते हैं, "वस्तुधर्मौ, एकाधिकरणौ, विरुद्धौ, एक कालौ, अनवसितौ पक्ष प्रतिपक्षौ" वस्तु के धर्म हो, एक अधिकरणभूत हो, विरुद्ध हो एक काल की अपेक्षा लिये हो और अनिश्चित हो वे पक्ष प्रतिपक्ष कहलाते हैं, इसको स्पष्ट करते हैं–वस्तु के विशेष धर्म पक्ष प्रतिपक्ष बनाये जाते हैं क्योंकि सामान्य से जो जाना है और विशेषरूप से नही जाना है उसी विशेष को जानने के लिये विचार [वाद विवाद] प्रवृत्त होता है, तथा वे दो वस्तु धर्म एक ही अधिकरण मे विवक्षित हो तो विचार चलता है, नाना अधिकरण मे स्थित धर्मो के विषय में विचार की जरूरत ही नहीं, क्योकि नाना अधिकरण मे तो वे प्रमाण

करणाविति, नानाधिकरणौ विचारं न प्रयोजयत उभयोः प्रमाणोपपत्तेः; तद्यथा–अनित्या बुद्धिर्नित्य आत्मेति। अविरुद्धावप्येव विचारं न प्रयोजयतः, तद्यथा-क्रियावद्द्रव्य गुणवच्चेति। एककालाविति, भिन्नकालयोर्विचाराप्रयोजकत्व प्रमाणोपपत्तेः, यथा क्रियावद्द्रव्यं निष्क्रिय च कालभेदे सति। तथाऽवसितौ विचार न प्रयोजयत , निश्चयोत्तरकाल विवादाभावादित्यनवसितौ तौ निर्दिष्टौ। एवविशे-

---

सिद्ध हो रहते है जैसे बुद्धि अनित्य है और आत्मा नित्य है ऐसा किसी ने कहा तो इसमें विचार–विवाद नही होता वे नित्य अनित्य तो अपने अपने स्थान मे हैं, किन्तु जहा एक ही आधार मे दो विशेषो के विषय मे विचार चलता हो कि इन दोनो मे से यहा कौन होगा। शब्द मे एक व्यक्ति तो नित्य धर्म मानता है और एक व्यक्ति अनित्य धर्म, तब विचार प्रवृत्त होगा, पक्ष प्रतिपक्ष रखा जायगा, एक कहेगा शब्द मे नित्यत्व है और दूसरा कहेगा शब्द मे अनित्यत्व है। यदि वे दो धर्म परस्पर मे विरुद्ध न हो तो भी विचार का कोई प्रयोजन नही रहता, जैसे द्रव्य क्रियावान होता है और गुणवान भी होता सो क्रिया और गुण का विरोध नही होने से यहा विचार की जरूरत नही। तथा वे दो धर्म एक काल मे विवक्षित हो तो विचार होगा, भिन्नकाल मे विचार की आवश्यकता नही रहती, भिन्न काल मे तो वे धर्म एकाधार मे रह सकते है जैसे काल भेद से द्रव्य मे सक्रियत्व और निष्क्रियत्व रह जाता [यौगमत की अपेक्षा] है। तथा जिन धर्मों का निश्चय हो चुका है उनमे विचार करने का प्रयोजन नही रहता, क्योंकि निश्चय होने के बाद विवाद नही होता अत अनवसित–अनिश्चित धर्मों के विषय मे विचार करने के लिये पक्ष प्रतिपक्ष स्थापित किये जाते है एक कहता है कि इसप्रकार के धर्म से युक्त ही धर्मी होता है तो दूसरा व्यक्ति–प्रतिवादी कहता है कि नही, इस प्रकार के धर्म से युक्त नही होता इत्यादि। इसप्रकार प्रमाण तर्क साधन उपलम्भादि विशेषण वाले पक्ष प्रतिपक्ष का ग्रहण जल्प और वितडा मे नही होता ऐसा सिद्ध होता है, केवल वाद मे ही इसप्रकार के विशेषण वाले पक्षादि होते हैं और वह वाद ही तत्वाध्यवसाय के सरक्षण के लिए होता है [किया जाता है] ऐसा सिद्ध हुआ, जिस प्रकार वाद से ख्याति पूजा लाभ की प्राप्ति होती है उसीप्रकार तत्वाध्यवसाय का रक्षण भी होता है ऐसा मानना चाहिए।

विशेषार्थ—यौग का कहना है कि वाद से अपने अपने तत्व के निश्चय का रक्षण नही हो सकता तत्व का संरक्षण तो जल्प और वितडा से होता है, आचार्य

षणौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ। तयोः परिग्रह इत्थभावनियम· 'एवधर्मायं धर्मी नैवधर्मा' इति च। ततः प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वविशेषणस्य पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्य जल्पवितण्डयोरसम्भवात् सिद्ध वादस्यैव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्व लाभपूजाख्यातिवत्।

तत्त्वस्याध्यवसायो हि निश्चयस्तस्य सरक्षण न्यायबलान्निखिलबाधकनिराकरणम्, न पुनस्तत्र

उनको समझा रहे कि आपके यहा जो वाद आदि का लक्षण किया है उससे सिद्ध होता है कि वाद से ही तत्व संरक्षण होता है, जल्प और वितडा से नही, वितडा मे तो प्रतिपक्ष की स्थापना ही नही होती, तथा इन दोनो मे सिद्धात अविरुद्धता भी नही, वाद मे ऐसा नही होता, वाद करने वाले पुरुष अपने अपने पक्ष की स्थापना करते है तथा उनका वाद प्रमाण तर्क आदि से युक्त होता है एव सिद्धात से अविरुद्ध भी होता है। सभा के मध्य मे वादी प्रतिवादी जो अपना अपना पक्ष उपस्थित करते हैं उसके विषय मे चर्चा करते हुए आचार्य ने कहा है कि जब एक ही पदार्थ के गुण धर्म के बारे में विवाद या मतभेद होता है तब अपनी अपनी मान्यता सिद्ध करने के लिये सभापति के समक्ष वादी प्रतिवादी उपस्थित होकर उस पदार्थ के गुण धर्म के विषय मे अपना अपना पक्ष रखते हैं जैसे एक पुरुप को शब्द को नित्य सिद्ध करना है और एक पुरुष को उसी शब्द को अनित्य सिद्ध करना है, पक्ष प्रतिपक्ष दोनो का अधिकरण वही शब्द है। नित्य और अनित्य परस्पर विरुद्ध है इसीलिये उन पुरुषों के मध्य मे विवाद खड़ा हुआ है यदि अविरुद्ध धर्म होते तो विवाद या विचार करने की जरूरत नही होती, तथा ये दोनो धर्म–नित्य अनित्य एक साथ एक वस्तु मे मानने की बात आती है तब विवाद पड़ता है तथा उन धर्मो का एक वस्तु मे यदि पहले से निश्चय हो चुका है तो भी विवाद नही होता अनिश्चित गुण धर्म मे ही विवाद होता है, इसप्रकार पक्ष प्रतिपक्ष का स्वरूप भली प्रकार से जानकर ही वादी प्रतिवादी सभा मे उपस्थित होते है और ऐसे पक्ष प्रतिपक्ष आदि के विषय मे जानकार पुरुष ही वाद करके तत्व निश्चय का सरक्षण कर सकते है, जल्प और वितडा मे यह सब सम्भव नही, क्योकि न इनमे इतने सुनिश्चित नियम रहते है और न इनको करने वाले पुरुष ऐसे क्षमता को धारते है। इसप्रकार जैनाचार्य ने उन्ही यौग के सिद्धांत के अनुसार यह सिद्ध किया है कि जल्प और वितडा से तत्व सरक्षण नही होता, अपितु वाद से ही होता है।

'तत्वाध्यवसाय संरक्षण' इस शब्द के अर्थ पर विचार करते है–तत्व का अध्यवसाय अर्थात् निश्चय होना उसका सरक्षण करना अर्थात् अपन जो तत्व का निर्णय

बाधकमुद्भावयतो यथाकथञ्चिन्निर्मुखीकरण लकुटचपेटादिभिस्तन्न्यक्करणस्यापि तत्त्वाध्यवसायसरक्षणार्थत्वानुषङ्गात् । न च जल्पवितण्डाभ्या निखिलबाधकनिराकरणम्; छलजात्युपक्रमपरतया ताभ्या सशयस्य विपर्ययस्य वा जननात् । तत्त्वाध्यवसाये सत्यपि हि परनिर्मुखीकरणे प्रवृत्तौ प्राश्निकास्तत्र सशेरते विपर्ययस्यन्ति वा–'किमस्य तत्त्वाध्यवसायोऽस्ति किं वा नास्तीति, नास्त्येवेति वा' परनिर्मुखीकरणमात्रे तत्त्वाध्यवसायरहितस्यापि प्रवृत्त्युपलम्भात् तत्त्वोपप्लववादिवत् । तथा चाख्यातिरेवास्य प्रेक्षावत्सु स्यादिति कुत पूजा लाभो वा ?

किये हुए है उसमे कोई बाधा करे तो उस निखिल बाधा को न्याय बल से दूर करना, इसतरह तत्वाध्यवसाय सरक्षण का अर्थ है, तत्व निश्चय का सरक्षण बाधा देने वाले पुरुष का मुख जैसा बने वैसा बद करना नही है, अर्थात् अपने पक्ष मे प्रतिवादी ने बाधक प्रमाण उपस्थित किया हो तो उसका न्यायपूर्वक निराकरण करना तो ठीक है किन्तु निराकरण का मतलब यह नही है कि प्रतिवादी का मुख चाहे जैसा बद करना, ऐसा करने से कोई तत्व निश्चय का सरक्षण नही होता । यदि प्रतिवादी का मुख बद करने से ही इष्ट तत्व सिद्ध होता है तो लाठी चपेटा आदि से भी प्रतिवादी का मुख बद कर सकते हैं और तत्व सरक्षण कर सकते है ? किंतु ऐसा नही होता है । कोई कहे कि जल्प और वितडा से निखिल बाधा का निराकरण हो सकता है सो बात गलत है, जल्प और वितडा मे तो न्यायपूर्वक निराकरण नही होता किन्तु छल, और जाति के प्रस्ताव से बाधा का निराकरण करते है, इसतरह के निराकरण करने से तो सशय और विपर्यय पैदा होता है । जल्प और वितण्डा मे प्रवृत्त हुए पुरुष प्रतिवादी के मुख को बद करने मे ही लगे रहते है यदि कदाचित् उनके तत्वअध्यवसाय होवे तो भी प्राश्निक लोगो को सशय या विपर्यय हो जाता है कि क्या इस वैतडिक को तत्वाध्यवसाय है या नही ? अथवा मालूम पडता है कि इसे तत्व का निश्चय हुआ ही नही इत्यादि । बात यह है कि परवादी की जबान बद कर देना उसे निरुत्तर करना इत्यादि कार्य को करना तो जिसे तत्वाध्यवसाय नही हुआ ऐसा पुरुष भी कर सकता है अत· प्राश्निक महाशयो को सदेहादि होवेंगे कि तत्वोपप्लववादी के समान यह वादी तत्व निश्चय रहित दिखाई दे रहा इत्यादि । जब इसतरह वादी केवल परवादी को निर्मुख करने मे प्रवृत्ति करेगा तो बुद्धिमान पुरुषो मे उसकी अप्रसिद्धि ही होवेगी । फिर ख्याति और लाभ कहा से होवेंगे ? अर्थात् नही हो सकते । इसप्रकार जो शुरु मे हम जैन ने कहा

ततः सिद्धश्चतुरङ्गो वादः स्वाभिप्रेतार्थव्यवस्थापनफलत्वाद्वादत्वाद्वा लोकप्रख्यातवादवत् । एकाङ्गस्यापि वैकल्ये प्रस्तुतार्थाऽपरिसमाप्तेः। तथा हि। अहङ्कारग्रहग्रस्ताना मर्यादातिक्रमेण प्रवर्तमानानां शक्तित्रयसमन्वितौदासीन्यादिगुणोपेतसभापतिमन्तरेण ।

"अपक्षपतिताः प्राज्ञाः सिद्धान्तद्वयवेदिनः ।

असद्वादनिषेद्धारः प्राश्निकाः प्रग्रहा इव ।" इत्येवविधप्राश्निकाश्च विना को नाम नियामकः स्यात् ? प्रमाणतदाभासपरिज्ञानसामर्थ्योपेतवादिप्रतिवादिभ्या च विना कथ वादः प्रवर्तेत ?

ननु चास्तु चतुरङ्गता वादस्य । जयेतरव्यवस्था तु छलजातिनिग्रहस्थानैरेव न पुनः प्रमाणतदाभासयोर्दुष्टयोद्भावितयो परिहृतापरिहृतदोषमात्रेण, इत्यप्यपेशलम्, छलादीनामसदुत्तरत्वेन

था कि चतुरंगवाद होता है सो सिद्ध हुआ, वाद के चार अग होते है यही अपने इच्छित तत्व को व्यवस्था करता है, सच्चा वादपना तो इसी मे है, जैसे कि लोक प्रसिद्ध वाद मे वादपना या तत्व व्यवस्था होने से चतुरंगता होती है । यह निश्चित समझना कि यदि वाद मे एक अग भी नही रहेगा तो वह प्रस्तुत अर्थ जो तत्वाध्यवसाय सरक्षण है उसे पूर्ण नही कर सकता । अब आगे वाद के ये चार अग सिद्ध करते है, सबसे पहले सभापति को देखे, वाद सभा मे जब वादी प्रतिवादी अहकार से ग्रस्त होकर मर्यादा का उल्लंघन करने लग जाते है तब उनको प्रभुत्व शक्ति, उत्साह शक्ति और मन्त्र शक्ति ऐसी तीन शक्तियो से युक्त उदासीनता पापभीरुता गुणों से युक्त ऐसे सभापति के बिना कौन रोक सकता है ? तथा अपक्षपाती, प्राज्ञ, वादी प्रतिवादी दोनो के सिद्धात को जानने वाले, असत्यवाद का निषेध करने वाले ऐसे प्राश्निक–सभ्य हुआ करते हैं जो कि बैलगाड़ी को चलाने वाले गाड़ीवान जैसे बैलो को नियत्रण मे रखते है वैसे वादी प्रतिवादी को नियंत्रण मे रखते है, उनको मर्यादा का उल्लघन नही करने देते । प्रमाण और प्रमाणाभास के स्वरूप को जानने वाले वादी प्रतिवादी के बिना तो वाद ही काहे का ? इसप्रकार निश्चित होता है कि वाद के चार अग होते है ।

यौग—वाद के चार अंग भले ही सिद्ध हो जाय किन्तु जय पराजय की व्यवस्था तो छल जाति और निग्रह स्थानो से ही होती है न कि प्रमाण और प्रमाणाभास मे दुष्टता से दिये गये दोषो के परिहार करने और नही करने से होती है । जय हो चाहे पराजय हो वह तो छल आदि से ही होगा ?

स्वपरपक्षयोः साधनदूषणत्वासम्भवतो जयेतरव्यवस्थानिबन्धनत्वायोगात् । ततः परैषा सामान्यतो विशेषतश्च छलादीना लक्षणप्रणयनमयुक्तमेव ।

तत्र सामान्यतश्छललक्षणम्—

"वचनविघातोर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्" [न्यायसू० १।२।१०] इति । "तत्त्रिविध वाक्छल सामान्यच्छलमुपचारच्छल च" [न्यायसू० १।२।११] इति ।

तत्र वाक्छललक्षण तेषाम्—"अविशेषाभिहितेर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्" [न्यायसू० १।२।१२] इति । अस्योदाहरणम्—'आढ्यो वै वैधवेयोय वर्तते नवकम्बल' इत्युक्ते प्रत्यवस्थानम् कुतोस्य नव कम्बलाः ? नवकम्बलशब्दे हि सामान्यवाचिन्यत्र प्रयुक्ते 'नवोस्य कम्बलो जीर्णो नैव' इत्यभिप्रायो वक्तु॰, तस्मादन्यस्यासम्भाव्यमानार्थस्य कल्पना 'नव अस्य कम्बला नाष्टौ'

जैन—यह बात गलत है, छल आदि तो असत् उत्तर देना रूप है । उन छलादि से अपने पक्षका साधन और परपक्ष मे दूषण देना रूप कार्य हो नही सकता, अत. जय पराजय की व्यवस्था उनके द्वारा होना असम्भव है । जब छल जाति आदि की वाद मे उपयोगिता ही नही है तो उनका सामान्य और विशेषरूप से लक्षण करना, उदाहरण सहित विस्तृत विवेचन सब व्यर्थ ही है अब यहा पर यौग मतानुसार छल आदि का वर्णन करते है । सामान्य से छल का लक्षण—"वचन विघातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम्" अर्थ—विकल्प द्वारा [अर्थ को बदलकर] वचन का व्याघात कर देना छल है, इसके तीन भेद हैं, वाक् छल, सामान्य छल और उपचार छल । यौग के यहा वाक् छल का लक्षण इसतरह बताया है कि वक्ता सामान्यरूप से किसी अर्थ को कहने वाला वचन प्रयोग करता है तब उसके अभिप्राय को छोडकर अन्य ही अर्थ की कल्पना करना वाक् छल है, इसका उदाहरण देते हैं—यह वैधवेय धनवान् है, क्योकि नव कबल युक्त है, ऐसा वादी ने अनुमान प्रयुक्त किया तब प्रतिवादी उसके अभिप्राय को जान बूझकर विपरीत करके कहता है कि इसके नौ कंबल कहा हैं ? वादी ने तो सामान्य से नवकबल शब्द का प्रयोग किया था उसका अभिप्राय तो यह था कि इस व्यक्ति का कंबल नवीन है पुराना नही, इस सामान्य सरल सीधे अर्थ को बदलकर जो अर्थ असम्भव है उसकी कल्पना करना कि इसके नौ कबल है आठ नही इत्यादि । सो यह प्रतिवादी का कथन अन्याय पूर्ण है अत उसका पराजय होता है, बुद्धिमान पुरुषो को तत्व परीक्षा करते

इति । एवं प्रत्यवस्थातुरन्यायवादित्वात्पराजय: । न खलु प्रेक्षावता तत्त्वपरीक्षायां छलेन प्रत्यवस्थानं युक्तमिति यौगा:; तेप्यतत्त्वज्ञा:; यतो यद्य`तावतैव जिगीषुर्निगृह्य`त तर्हि पत्रवाक्यमनेकार्थं व्याचक्षाणोपि निगृह्यताम् । न चैवम् । यत्र हि पक्षे वादिप्रतिवादिनोर्विप्रतिपत्त्या प्रवृत्तिस्तत्सिद्ध`रेवैकस्य जयोन्यस्य पराजय: न त्वनेकार्थत्वप्रतिपादनमात्रम् । एवं च 'आढ्यो वै वैधवेयो नवकम्बलत्वाद्देवदत्तवत्' इति प्रयोगे यदि वक्तु· 'नव: कम्बलोस्येति, नवास्य कम्बला' इति चार्थद्वय 'नवकम्बल:' इति शब्दस्याभिप्रेत भवति तदा-'कुतोस्य नव कम्बला:, इति प्रत्यवतिष्ठमानो हेतोरसिद्धतामेवोद्भावयति । अन्यस्तु तदुभयार्थसमर्थनेन तदेकतरार्थसमर्थनेन वा हेतुसिद्धि प्रदर्शयति । नवस्तावदेक: कम्बलोस्य प्रतीतो भवता, अन्येऽप्यष्टौ कम्बला गृहे तिष्ठन्तीत्युभयथा नवकम्बलत्वस्य सिद्ध`र्नासिद्धतोद्भावनीया ।

समय छलपूर्वक प्रतिपादन नही करना चाहिये । इसप्रकार वाक् छल के विषय मे यौग कहते है । किन्तु ये लोग वास्तविक वस्तु को नही जानते, क्योकि यदि इसप्रकार वचन का अर्थ बदलकर प्रत्यवस्थान करने वाले प्रतिवादी का निग्रह किया जायगा तो अनेक अर्थ से गूढ ऐसे पत्र वाक्य को कहने वाले वादी का भी निग्रह होना चाहिए । किंतु होता तो नही, जय पराजय की बात तो ऐसी है कि वादी और प्रतिवादी का विवाद तो स्व स्व पक्ष की सिद्धि मे है जब तक उन दोनो मे से एक के पक्ष की सिद्धि नही होती तब तक एक का जय और एक का पराजय हो नही सकता, वचन का व्याघात करने मात्र से-अर्थ को अनेकपने से प्रतिपादन करने मात्र से निग्रह अर्थात् पराजय नही होता । इसप्रकार यह निश्चय होता है कि वादी के कहे हुए वचन का दूसरा अर्थ करना गलत नही, अब वादी ने यदि अनुमान वाक्य कहा कि "आढ्यो वै वैधवेयो नवकबलत्वात् देवदत्तवत्" यह वैधवेय [विधवा का पुत्र] श्रीमन्त है क्योकि नवकबल युक्त है, जैसे देवदत्त, इसमे नवकबल जो पद है उसके दो अर्थ निकलते हैं नवीन है कबल जिसका ऐसा यह पुरुष है, एव इसके पास नौ कंबल हैं, अब इसमे से इसके नौ कबल कहां है ? इसप्रकार प्रतिवादी विवाद करते हुए हेतु की असिद्धता को ही उद्भावित करता है । पश्चात् वादी हेतु के दोनो अर्थो का समर्थन करके अथवा उनमे से किसी एक अर्थ का समर्थन करके निज हेतु को सिद्ध करता है, वह इसप्रकार कहता है कि नव् कबलत्वात् हेतु मे स्थित नव शब्द का अर्थ यदि नौ सख्यारूप है तो इस वैधवेय के नौ कबल हैं एक तो आप साक्षात् देख रहे और अन्य आठ कबल घर मे हैं, अत. नवकम्बलत्वात् हेतु सिद्ध है, इसमे असिद्धता दोष नही दे सकते । तथा नव शब्द का नूतन अर्थ भी है क्योकि इस व्यक्ति का कम्बल नूतन है, इसप्रकार दोनो

नवकम्बलयोगित्वस्य वा हेतुत्वेनोपादानात्सिद्ध एव हेतु । इति स्वपक्षसिद्धौ सत्यामेव वादिनो जयः परस्य च पराजयो नान्यथा । तन्न वाक्छलं युक्तम् ।

नापि सामान्यच्छलम् । तस्य हि लक्षणम्–"सम्भवतोर्थस्यातिसामान्ययोगादसद्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्" [न्यायसू० १।२।१३] इति । तथा हि–'विद्याचरणसम्पत्तिर्ब्राह्मणे सम्भवेत्' इत्युक्तेऽस्य वाक्यस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याऽसद्भूतार्थकल्पनया क्रियते । यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्सम्भवति व्रात्येपि सम्भवेद्ब्राह्मणत्वस्य तत्रापि सम्भवात् । तदिद ब्राह्मणत्व विवक्षितमर्थं विद्याचरण-

---

प्रकार से भी हेतु सिद्ध है । अथवा हमने नवकवलत्वात् हेतु मे केवल "नवीन कवल वाला होने से" इस रूप ही अर्थ ग्रहण किया है अत यह सिद्ध ही है । किन्तु यह सब होने पर भी वादी का जय और प्रतिवादी का पराजय तो वादी के स्वपक्ष की सिद्धि होने पर ही होगा अन्यथा नही हो सकता, अर्थात् हेतु को निर्दोष सिद्ध करने मात्र से जय नही होता अपितु तदनन्तर स्वपक्ष की सिद्धि होने पर ही होता है । अत. वाक् छल युक्त नही है ।

भावार्थ—नैयायिक के यहा छल, निग्रह स्थान आदि के द्वारा भी जय पराजय की व्यवस्था स्वीकार की है किन्तु वह असत् व्यवस्था है, सिद्धात सम्बन्धी वाद की बात तो दूर है किन्तु लौकिक वाद विवाद मे भी जब तक स्वपक्ष पुष्ट नही होता तब तक विजय नही मानी जाती, अत· आचार्य कह रहे है कि छल के तीन भेदो मे से प्रथम भेद जो वाक् छल है उसके द्वारा जय पराजय का निर्णय हो नही सकता इसलिये उसका वर्णन करना या वाद मे उसको स्वीकारना व्यर्थ है ।

सामान्य छल भी युक्त नही है । नैयायिक के न्यायसूत्र मे सामान्य छल का लक्षण इसप्रकार किया है–संभावित अर्थ की अत्यन्त सामान्यता होने से अन्य असद्भूत अर्थ की कल्पना करना सामान्य छल है आगे इसीको बताते है–विद्या और सदाचार रूप सपत्ति ब्राह्मण मे सम्भव है, अथवा यह पुरुष विद्या और सदाचार सपन्न है, क्योकि ब्राह्मण है जैसे अन्य विद्या सदाचार सम्पन्न ब्राह्मण हुआ करते है, इसप्रकार वादी के कहने पर प्रतिवादी अर्थ के भेद द्वारा असद्भूत अर्थ की कल्पना से वादी के वाक्य का विघात करता है, वह कहता है कि यदि ब्राह्मण में विद्या और सदाचार रहता है तो भ्रष्ट ब्राह्मण मे भी रहना चाहिये क्योकि उसमे भी ब्राह्मणत्व है । वह विद्या और

सम्पल्लक्षणं 'क्वचिदब्राह्मणे तादृश्येति क्वचित्तु व्रात्येऽत्येति तदभावेपि भावात्' इत्यतिसामान्यम्, तेन योगाद्वक्तुरभिप्रेतादर्थात्सद्भूतादन्यस्यासद्भूतार्थस्य कल्पना सामान्यच्छलम्। तच्चायुक्तम्; हेतुदोषस्यानैकान्तिकत्वस्यात्रापरेणोद्भावनात्। न चानैकान्तिकत्वोद्भावनमेव सामान्यच्छलम्; 'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद्घटवत्' इत्यादेरपि सामान्यच्छलत्वानुषङ्गात्। अत्रापि हि प्रमेयत्वं क्वचिद्घटादावनित्यत्वमेति, आकाशादौ तदभावेपि भावादत्येतीति। तथाप्यस्यानैकान्तिकत्वेपि प्रकृतेपि तदस्तु विशेषाभावात्। तन्न सामान्यच्छलमप्युपपन्नम्।

नाप्युपचारच्छलम्। तस्य हि लक्षणम्-"धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्"

सदाचार सपन्न विवक्षित अर्थ वाला ब्राह्मणत्व उस प्रकारके किसी ब्राह्मण पुरुष मे प्राप्त है, और किसी भ्रष्ट ब्राह्मण मे अप्राप्त है अर्थात् विद्याचरणयुक्त ब्राह्मणत्व भ्रष्ट ब्राह्मण मे नही है, भ्रष्ट ब्राह्मण मे तो विद्याचरण का अभाव होने पर भी ब्राह्मणत्व है, अत. यह ब्राह्मणत्व अतिसामान्यरूप है और इस कारण से वक्ता के इच्छित सद्भूत अर्थ को छोड अन्य असद्भूत अर्थ की कल्पना की जाती है। इसप्रकार यह सामान्य नामका छल माना है। आचार्य कहते है कि इसप्रकार का सामान्य छल भी अयुक्त है, उपर्युक्त अनुमान मे तो प्रतिवादी द्वारा अनैकान्तिक हेत्वाभासरूप दोष दिया जाता है। अर्थात् ब्राह्मणत्व हेतु विद्याचरण सपन्न ब्राह्मण और भ्रष्ट ब्राह्मण दोनो मे पाया जाने से अनैकान्तिक दोष युक्त होता है, न कि सामान्य छल रूप। यदि कहा जाय कि "अनैकान्तिक दोष प्रगट करना ही सामान्य छल है" तो यह भी अयुक्त है, इसतरह तो "शब्द अनित्य है, क्योकि प्रमेय है, जैसे घट" इत्यादि अनुमान वाक्य भी सामान्य छल रूप बन बैठेंगे, क्योकि इस अनुमान मे भी प्रमेयत्व हेतु किसी घट आदि मे तो अनित्यत्व को प्राप्त होता है और आकाश आदि मे अनित्यत्व का अभाव होने पर भी प्राप्त होता है, इसतरह प्रमेयत्व हेतु अति सामान्यरूप ही है फिर भी उसे अनैकान्तिक हेत्वाभासरूप माना जाता है तो प्रकृत सामान्य छल के उदाहरण मे प्रयुक्त ब्राह्मणत्व भी अनैकान्तिक हेत्वाभासरूप मानना चाहिये उभयत्र कोई विशेषता नही है। इसलिये सामान्य छल भी सिद्ध नही होता। न उसके निमित्त से वाद मे जय आदि की व्यवस्था हो सकती है।

छल का तीसरा भेद उपचार छल भी अयुक्त है। नैयायिक मत के आद्य प्रणेता अपने न्याय सूत्र मे इस छल का लक्षण लिखते है कि धर्म (स्वभाव) के विकल्प

[न्यायसू० १।२।१४] इति । धर्मस्य हि क्रोशनादेर्विकल्पोऽध्यारोपस्तस्य निर्देशे 'मञ्चा' क्रोशन्ति गायन्ति' इत्यादौ तात्स्थ्यात्तच्छब्दोपचारेणासद्भूतार्थस्य तु परिकल्पन कृत्वा परेण प्रतिषेधो विधीयते-'न मञ्चा क्रोशन्ति किन्तु मञ्चस्थाः पुरुषा क्रोशन्ति' इति । तच्च परस्य पराजयाय जायते यथा-वक्तुरभिप्रायमप्रतिषेधात् । शब्दप्रयोगो हि लोके प्रधानभावेन गुणभावेन च प्रसिद्ध. । ततो यदि वक्तुर्गौणोर्थोभिप्रेतः, तदा तस्यानुज्ञानं प्रतिषेधो वा विधातव्य. । अथ प्रधानभूत.; तदा तस्य

निर्देश होने पर मुख्य अर्थ के सद्भाव का निषेध करना उपचार छल है । वादी क्रोशन (गाना–चिल्लाना) आदि धर्म का विकल्प उपचरित कर कथन करता है कि "मचाः क्रोशति" मच गा रहे है, इस वाक्य मे "तात्स्थ्यात् तत् शब्द प्रयोग " उसमे स्थित व्यक्ति का उस शब्द से उपचार किया जाता है इस न्याय के अनुसार मच मे स्थित पुरुष ही मच शब्द द्वारा कहा गया है अर्थात् मच गा रहे है इस वाक्य का अर्थ मच पर बैठे हुए पुरुष गा रहे है ऐसा है किन्तु वादी के इस वाक्य को प्रतिवादी असद्भूत अर्थ वाला कहकर प्रतिषेध करता है कि मच नही गा रहे किन्तु मंच पर स्थित पुरुष गा रहे हैं । इसप्रकार उपचार छल करना प्रतिवादी के पराजय का ही कारण होगा, क्योकि इसने वक्ता के अभिप्राय का उल्लघन न करते हुए प्रतिषेध नही किया है, अर्थात् वक्ता के अभिप्राय का उल्लंघन करके उसके वाक्य मे दोष उपस्थित किया है । लोक व्यवहार मे शब्द का प्रयोग गौणभाव और प्रधान भाव दोनो रूप से हुआ करता है । अत यदि वक्ता को गौण अर्थ इष्ट है तो उसका अनुज्ञान या प्रतिषेध प्रतिवादी को करना चाहिए, अर्थात् वादी ने जो गौण अर्थ इष्ट करके वाक्य कहा है वह सिद्ध है तो स्वीकार करना और असिद्ध है तो प्रतिषेध करना चाहिये । तथा यदि वक्ता को प्रधान अर्थ इष्ट है तो उसका अनुज्ञान या प्रतिषेध करना चाहिये । इसप्रकार की व्यवस्था है, किंतु प्रतिवादी ऐसा नही करता, वक्ता गौण अर्थ इष्ट कर रहा और प्रतिवादी प्रधान अर्थ को लेकर प्रतिषेध करता है तो प्रतिवादी द्वारा स्व अभिप्राय ही निषिद्ध माना जायगा, न कि वादीका अभिप्राय । इसलिये यह दोष या पराजय वादी का नही कहलायेगा, और वादी निर्दोष वक्ता होने से प्रतिवादी ही पराजित माना जायगा ।

नैयायिक के इस उपचार छल का आचार्य निराकरण करते है कि यह कथन अविचारपूर्ण है, क्योकि गौण अर्थ अभीष्ट होनेपर मुख्य अर्थ द्वारा निषेध करना

तावित्ति । यदा तु वक्ता गौणमर्थमभिप्रैति प्रधानभूत परिकल्प्य परः प्रतिषेधति तदा तेन स्वमनीषा प्रतिषिद्धा स्यान्न परस्याभिप्राय इति नास्यायमुपालम्भः स्यात्, तदनुपालम्भाच्चासौ परजीयते, इत्यप्यविचारितरमणीयम्; यतो यद्येतावतैवासौ निगृह्येत तर्हि यौगोपि सकलशून्यवादिनं प्रति मुख्यरूपतया प्रमाणादिप्रतिषेध कुर्वन्निगृह्येत, सव्यवहारेण प्रमाणादेस्तेनाभ्युपगमात् । ततः स्वपक्षसिद्ध्यैव परस्य पराजयो न पुनश्छलमात्रेण ।

इत्यादिरूप से ही यदि प्रतिवादी का निग्रह या पराजय किया जाय तो शून्याद्वैत वादी बौद्ध के प्रति मुख्यरूप से प्रमाणादिका प्रतिषेध करता हुआ नैयायिक–वैशेषिक भी पराजित किया जा सकता है । क्योंकि शून्यवादी ने भी लोक व्यवहार मे उपचाररूप से प्रमाणादि तत्त्व को स्वीकार किया है । अत. यही बात निश्चित है कि स्वपक्ष की सिद्धि करने पर ही प्रतिवादी का पराजय हो सकता है न कि छल मात्र से हो सकता ।

विशेषार्थ—नैयायिक के यहा उपचार छल का वर्णन करते हुए कहा है कि वादी [प्रथम बार अपना पक्ष उपस्थित करनेवाले को वादी और उसका निषेध करते हुए अपना अन्य पक्ष या मतव्य स्थापित करनेवाले को प्रतिवादी कहते है] किसी शब्द के गौण अर्थ को इष्ट करके कथन करे और प्रतिवादी उक्त कथन मे प्रधान अर्थ को लेकर दोष उपस्थित करे तो यह उपचार छल है, इसतरह के छल करने से प्रतिवादी का पराजय हो जायगा । किंतु नैयायिक का यह कथन अयुक्त है, इससे तो उनका ही पराजय सम्भव है । वही दिखाते है । नैयायिक आदि प्रवादी बौद्ध के सकल शून्यवाद का निरसन करते है । शून्यवादी प्रमाण द्वारा शून्यवाद का समर्थन करते है, उनके यहां यद्यपि कोई भी तत्त्व वास्तविक नही है तो भी अपने शून्यवादका समर्थन करने के लिये प्रमाण उपस्थित करते है, उनका कहना है कि केवल लोक व्यवहार चलाने के लिये प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्व हम लोग उपचार रूप से स्वीकार करते है । इस शून्यवादी का मतव्य निराकृत करते हुए यदि नैयायिक कहे कि आपने जब सकल शून्यवाद स्वीकार किया है तब प्रमाण द्वारा शून्यत्व का समर्थन भी नही कर सकते । इस पर शून्यवादी कह देगा कि हमने शून्यत्व को गौण प्रमाण द्वारा सिद्ध किया है न कि प्रधान प्रमाण द्वारा, आपने हमारे गौणभूत अर्थ का व्याघात करके प्रधान अर्थ लिया है अत· आप उपचार छल के प्रयोक्ता होने से निगृहीत हो चुके है, क्योंकि आपके ही मत मे उपचार छल माना है और उसके प्रयोक्ता प्रतिवादी का उसमे

नापि जातिमात्रेण । तथाहि–तस्या सामान्यलक्षणम्–"साधर्म्यवैधर्म्याभ्या प्रत्यवस्थान जाति." [न्यायसू० १।२।१८] इति । तस्याश्चानेकत्वं साधर्म्यवैधर्म्याभ्या प्रत्यवस्थानस्य भेदात् । तथा च न्यायभाष्यकार:–"साधर्म्यवैधर्म्याभ्या प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वमिति" [न्यायभा० ५।१।१] । ताश्च खल्विमा जातय: स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते चतुर्विंशति , प्रतिषेधहेतव.–"साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यऽप्राप्तिप्रसगप्रतिदृष्टान्तानुपपत्तिसशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमा:" [न्यायसू० ५।१।१] इति सूत्रकारवचनात् ।

तत्र साधर्म्यसमा जाति न्यायभाष्यकारो व्याचष्टे–साधर्म्येणोपसहारे कृते साध्यधर्मविपर्ययो-

---

पराजय होना स्वीकार किया है । निष्कर्ष यह है कि उपचार छल को वाद मे पराजय का कारण मानना अयुक्त है ।

जाति मात्र के द्वारा भी पराजय सम्भव नही है । नैयायिक के यहा जातिका सामान्य लक्षण इसप्रकार है–साधर्म्य या वैधर्म्य द्वारा दूषण उपस्थित करना जाति है । साधर्म्य वैधर्म्य द्वारा दोष के अनेक भेद होने से जाति के अनेक भेद है । न्यायभाष्यकार भी इसीतरह प्रतिपादन करते है कि साधर्म्य (अन्वय दृष्टान्त) द्वारा या वैधर्म्य (व्यतिरेक दृष्टात) द्वारा दोप उपस्थित करने के अनेक विकल्प होने से जाति बहुत भेद वाली है । ये जो जातिया हैं वे विधिरूप साध्य को सिद्ध करने वाले हेतु के प्रयुक्त होने पर उसका प्रतिषेध करने वाली चौबीस प्रकार की हुआ करती हैं–साधर्म्यसमा १ वैधर्म्यसमा २ उत्कर्पसमा ३ अपकर्षसमा ४ वर्ण्यसमा ५ अवर्ण्यसमा ६ विकल्पसमा ७ साध्यसमा ८ प्राप्तिसमा ९ अप्राप्तिसमा १० प्रसगसमा ११ प्रतिदृष्टातसमा १२ अनुत्पत्तिसमा १३ सशयसमा १४ प्रकरणसमा १५ अहेतुसमा १६ अर्थापत्तिसमा १७ अविशेषसमा १८ उपपत्तिसमा १९ उपलब्धिसमा २० अनुपलब्धिसमा २१ नित्यसमा २२ अनित्यसमा २३ कार्यसमा २४ । न्याय सूत्र मे गौतमऋषि ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है ।

इन जातियो मे से प्रथम भेद साधर्म्यसमा का न्याय भाष्यकार ने इसप्रकार प्रतिपादन किया है–वादी द्वारा साधर्म्य दृष्टात द्वारा अनुमान पूर्ण कर चुकने पर प्रतिवादी साध्यधर्म का विपर्यय करके साधर्म्य द्वारा दोप उपस्थित करता है वह

पपत्ते· साधर्म्येण प्रत्यवस्थान साधर्म्यसम:.प्रतिषेध· । निदर्शनम्-'क्रियावानात्मा, क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वात्, यो य: क्रियाहेतुगुणाश्रय· स स क्रियावान् यथा लोष्ट', तथा चात्मा, तस्मात् क्रियावान्' इति साधर्म्योदाहरणेनोपसहारे कृते पर· साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तित: साधर्म्योदाहरणेनैव प्रत्यवतिष्ठते-'निष्क्रिय आत्मा विभुद्रव्यत्वादाकाशवत्' इति । न चास्ति विशेष:-'क्रियावत्साधर्म्यात्क्रियावता भवितव्य न पुनर्निष्क्रियत्वसाधर्म्यान्निष्क्रियेण' इति साधर्म्यसमो दूषणाभास. । न ह्यात्मन। क्रियावत्त्वे साध्ये क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वस्य हेतो: स्वसाध्येन व्याप्ति· विभुत्वान्निष्क्रियत्वसिद्धौ विच्छिद्यते । न च तदविच्छेदे तद्दूषणत्वम्, साध्यसाधनयोर्व्याप्तिविच्छेदसमर्थस्यैव दोषत्वेनोपवर्णनात् ।

वार्त्तिककारस्त्वेवमाह-साधर्म्येणोपसहारे कृते तद्विपरीतसाधर्म्येण प्रत्यवस्थान वैधर्म्येणोप-

---

साधर्म्यसमा जाति है । इसका उदाहरण-आत्मा क्रियावान् है, क्योकि वह क्रिया का हेतु रूप जो गुण है उसका आश्रय स्वरूप है, जो जो क्रिया हेतु गुणका आश्रय है वह वह पदार्थ क्रियावान् होता है, जैसे लोष्ट [मिट्टी का ढेला] आत्मा भी उसतरह है अत: क्रियावान् है, इसप्रकार साधर्म्य उदाहरण द्वारा वादी के उपसहार करने पर प्रतिवादी साध्यधर्म को विपर्ययरूप बदलकर साधर्म्य उदाहरण द्वारा ही दोष देता है । वह इसप्रकार-आत्मा निष्क्रिय है, व्यापकद्रव्य होने से जैसे आकाश । किंतु इन वादी और प्रतिवादी के अनुमानो मे कुछ विशेषता सम्भव नही कि जिससे क्रियावान् द्रव्य से साधर्म्य होने के कारण आत्मा क्रियावान् तो सिद्ध हो किन्तु निष्क्रिय द्रव्य से साधर्म्य होने से आत्मा निष्क्रिय सिद्ध नही हो । अत वादी द्वारा प्रयुक्त उक्त अनुमान मे प्रतिवादी द्वारा प्रतिपादित किया गया साधर्म्यसमा नामा जातिदोप दोष नही दूषणाभास है । क्योकि आत्मा के क्रियावान्पने को साध्य बनाकर प्रयुक्त हुआ "क्रिया हेतु गुणाश्रयत्व" नामा हेतु अपने साध्य के साथ जो व्याप्ति [अविनाभाव] रखता है वह अविनाभाव विभुद्रव्यत्व अर्थात् व्यापकत्व नामा हेतु द्वारा उसी आत्मा के निष्क्रियत्व सिद्ध करने पर नष्ट नही होता है । यदि कहा जाय कि अविनाभाव का विच्छेद भले ही मत होवे किन्तु साध्यसम [अथवा साधर्म्यसमा] दोष तो होगा ? सो ऐसी बात भी नही है, क्योकि साध्य और साधन का जो अविनाभाव है उसके विच्छेद करने मे जो समर्थ है वही दोप कहलाता है अन्य नही ।

न्यायसूत्र पर वार्तिक रचनेवाले उद्योतकर उक्त जाति का इसप्रकार वर्णन करते है कि साधर्म्य द्वारा वादी के उपसहार करने पर उस साधर्म्य से अन्य विपरीत

सहारे तत्साधर्म्येण प्रत्यवस्थान साधर्म्यसमः । यथा 'अनित्य. शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्कुम्भादिवत्' इत्युपसहृते पर' प्रत्यवतिष्ठते–यद्यऽनित्यघटसाधर्म्यादयमनित्यो नित्येनाप्याकाशेनास्य साधर्म्यममूर्त्तत्वमस्तीति नित्य' प्राप्त' । तथा 'अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्, यत्पुनरनित्य न भवति तन्नोत्पत्तिधर्मकम् यथाकाशम्' इति प्रतिपादिते परः प्रत्यवतिष्ठते–यदि नित्याकाशवैधर्म्यादनित्य' शब्दस्तदा साधर्म्यमप्यस्याकाशेनास्त्यमूर्त्तत्वम्, अतो नित्यः प्राप्त. । अथ सत्यप्येतस्मिन्साधर्म्ये नित्यो न भवति, न तर्हि वक्तव्यम्–'अनित्यघटसाधर्म्यान्नित्याकाशवैधर्म्याच्चाऽनित्यः शब्द.' इति ।

वैधर्म्यसमायास्तु जाते'–वैधर्म्येणोपसहारे कृते साध्यधर्मविपर्ययाद्वैधर्म्येण साधर्म्येण वा प्रत्यवस्थान लक्षणम् । 'यथात्मा निष्क्रियो विभुत्वात्, यत्पुनः सक्रिय तन्न विभु यथा लोष्ठादि, विभु-

---

साधर्म्य द्वारा दोष देना, तथा वैधर्म्य द्वारा उपसहार करने पर प्रतिवादी उस वैधर्म्य से भिन्न साधर्म्य द्वारा दोष देना साधर्म्यसमा जाति दोप है । जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला है घटादि की तरह । इसप्रकार वादी द्वारा अनुमान पूर्ण होने पर प्रतिवादी प्रतिकूलरूप से परिवर्त्तन करता है कि यदि अनित्य घटके साथ साधर्म्य [समानता] होने से शब्द अनित्य है तो नित्य आकाश के साथ भी इस शब्द का अमूर्त्तत्वरूप साधर्म्य होता ही है, इसतरह शब्द नित्यरूप सिद्ध हो सकता है । तथा शब्द अनित्य है क्योकि उत्पत्ति धर्मवाला है, जो अनित्य नही होता वह उत्पत्ति धर्म वाला नही होता, जैसे आकाश । इसप्रकार वादी द्वारा प्रतिपादन करने पर प्रतिवादी उसका निराकरण करता है कि नित्य आकाश के साथ वैधर्म्य होने के कारण यदि शब्द अनित्य है तो आकाश के साथ इस शब्द का अमूर्त्तत्व के निमित्त से साधर्म्य भी तो है, इस साधर्म्य के कारण तो शब्द नित्य बन बैठता है । यदि कहा जाय कि आकाश के साथ शब्दका अमूर्त्तत्व निमित्तक साधर्म्य भले ही हो किन्तु इससे शब्द नित्य सिद्ध नही होता । सो यह ठीक नही, क्योकि इसतरह तो अनित्य घट के साधर्म्य होने से और नित्य आकाश के वैधर्म्य होने के कारण शब्द अनित्य है, ऐसा भी न कह सकेगे ।

वैधर्म्यसमा नामकी दूसरी जाति का लक्षण इसप्रकार है–वैधर्म्य दृष्टात द्वारा वादी के उपसहार करने पर प्रतिवादी साध्यधर्म का विपर्यय कर वैधर्म्य या साधर्म्य द्वारा वादी के उक्त अनुमान का निराकरण कर देता है । जैसे आत्मा निष्क्रिय है,

आत्मा, तस्मान्निष्क्रिय ' इत्युक्ते परः प्राह-निष्क्रियत्वे सत्यात्मन. क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वं न स्यादाकाशवत्, अस्तिचैतत्, ततो नाय निष्क्रिय इति । साधर्म्येण तु प्रत्यवस्थानम्-'क्रियावानेवात्मा क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वात्, य ईदृश स ईदृशो दृष्टः यथा लोष्टादिः, तथा चात्मा, तस्मात्क्रियावानेव' इति ।

उत्कर्षसमादीना लक्षणम्-"साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसम " [न्यायसू० ५।१।४] इति ।

तत्रोत्कर्षसमायास्तावल्लक्षणम्-दृष्टान्तधर्म साध्ये समासञ्जयतो मतोत्कर्षसमा जातिः। तद्यथा-'क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वाल्लोष्टवत्' इत्युक्ते पर प्रत्यवतिष्ठते-यदि क्रियाहेतुगुणाश्रयो जीवो लोष्टवत्क्रियावांस्तदा तद्वदेव स्पर्शवान्भवेत् । अथ न स्पर्शवास्तर्हि क्रियावानपि न स्यादविशेषात् ।

व्यापक होने से । जो द्रव्य सक्रिय होता है वह व्यापक नही होता जैसे लोष्ट, आत्मा व्यापक है अतः निष्क्रिय है । इसतरह वादी द्वारा अनुमान प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी कहता है-आत्मा के निष्क्रियपना मानने पर उसमे क्रिया हेतु गुणका आश्रय घटित नही हो सकता जैसे आकाश मे घटित नही होता, किन्तु आत्मा मे उक्त आश्रय देखा गया है अत. वह निष्क्रिय नही है । तथा प्रतिवादी कभी साधर्म्य द्वारा भी उक्त अनुमान का निराकरण करता है-आत्मा क्रियावान् ही है, क्योंकि यह क्रिया हेतु गुणका आश्रय है, जो ऐसा है वह इसीप्रकार देखा गया है, जैसे लोष्ट [मिट्टी का ढेला या पत्थर] आदि, आत्मा उसीतरह का है अत. अवश्य क्रियावान् है ।

उत्कर्षसमा आदि अग्रिम छह जातियो का सामान्यत. लक्षण इसप्रकार कहा जाता है- पक्ष और दृष्टात के धर्म क समारोप मे तथा दोनो मे साध्यत्व होने से उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा और साध्यसमा जाति नामके दोष उपस्थित किये जाते है । इन छहो मे से उत्कर्षसमा जातिका उदाहरण प्रस्तुत करते है-दृष्टात के धर्मका साध्य मे समारोप करने से उत्कर्षसमा जातिदोष आता है, वह इसप्रकार आत्मा क्रियावान् है क्रिया हेतु गुणका आश्रय होने से लोष्ट की तरह, वादी के इस अनुमान मे प्रतिवादी उलाहना [दोष] देता है कि, यदि आत्मा क्रिया हेतु गुणका आश्रय होने से लोष्ट के समान क्रियावान् है तो उसी लोष्ट के समान स्पर्शवान् भी मानना होगा । कहा जाय कि आत्मा स्पर्शवान् तो नही है तब

यस्तु तत्रैव क्रियावज्जीवसाधने प्रयुक्ते साध्ये साध्यधर्मिणि धर्मस्याभावं दृष्टान्तात्समासञ्जयन्वक्ति सोऽपकर्षसमा जातिं वक्ति । यथा लोष्टः क्रियाश्रयोऽसर्वगतो दृष्टस्तद्वदात्माप्यसर्वगतोस्तु, विपर्यये विशेषो वा वाच्य इति ।

ख्यापनीयो वर्ण्योऽख्यापनीयोऽवर्ण्यः । तेन वर्ण्येनावर्ण्येन च समा जातिः । तद्यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–यद्यात्मा क्रियावान् वर्ण्यः साध्यस्तदा लोष्टादिरपि साध्योस्तु । अथ लोष्टादिरवर्ण्यस्तह्यात्माप्यवर्ण्योस्तु विशेषाभावादिति ।

विकल्पो विशेषः, साध्यधर्मस्य विकल्पं धर्मान्तरविकल्पात्प्रसञ्जयतो विकल्पसमा जातिः ।

तो क्रियावान् भी स्वीकार नही कर सकते, इसतरह क्रिया हेतु गुणाश्रयत्व हेतु मे अविशेषता है, कोई विशेषता नही ।

अपकर्षसमा जाति–उपर्युक्त पक्ष मे आत्मा को क्रियावान् साधने मे साध्य प्रयुक्त हुआ है उसी साध्यधर्मी मे धर्मका अभाव दृष्टात के सहारे से समारोपित करते हुए कहता है वह अपकर्षसमा जाति है। जैसे पूर्वोक्त अनुमान मे दोष दिखाना कि लोष्ट क्रियावान् होकर असर्वगत पाया जाता है उसीतरह आत्मा भी असर्वगत मानना होगा। यदि आत्मा विपर्यय है अर्थात् वह सर्वगत है तो वादी को वैसी विशेषता कहनी चाहिए ।

वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति–ख्यापनीय वर्ण्य है और अख्यापनीय अवर्ण्य है, इससे वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति दोष होता है। जैसे उसी क्रियावान् साध्य वाले अनुमानप्रयोग मे प्रतिवादी दोष देता है–जिसतरह आत्मा क्रियावान् साधन के लिये ख्यापित किया जाता है उसतरह लोष्ट आदि भी ख्यापित किया जाय अर्थात् उसको भी पक्ष बनाया जाय। प्रतिवादी द्वारा इसप्रकार की उलाहना देना वर्ण्यसमा जाति दोष है। तथा ऐसा कहना कि लोष्टादि को पक्षरूप नही बनाते तो आत्मा को भी अवर्ण्य अर्थात् पक्षरूप उपस्थित नही करना चाहिये, उभयत्र कोई विशेषता नही है, सो यह अवर्ण्यसमा जाति नामका दोष है ।

विकल्प समाजाति–विकल्प अर्थात् विशेष, उसी उपर्युक्त अनुमान मे साध्यधर्म जो क्रियाश्रयत्व है उसमे अन्य धर्मके विकल्प से भेद दिखाना विकल्पसमा जाति है ।

यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–क्रियाहेतुगुणोपेत किञ्चिद्गुरु दृश्यते यथा लोष्टादि, किञ्चित्तु लघूपलभ्यते यथा वायु , तथा क्रियाहेतुगुणोपेतमपि किञ्चित्क्रियाश्रय युज्येत यथा लोष्टादि, किञ्चित्तु निष्क्रियं यथात्मेति ।

हेत्वाद्यवयवयोगी धर्म. साध्य., तमेव दृष्टान्ते प्रसञ्जयत: साध्यसमा जाति' । यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्राह–यदि यथा लोष्टस्तथात्मा तदा यथात्माय तथा लोष्ट: स्यात् । 'सक्रिय.' इति साध्य-श्रात्मा लोष्टोपि तथा साध्योस्तु । अथ लोष्ट: क्रियावान्न साध्य , तदात्मापि क्रियावान्साध्यो मा भूद्विशेषो वा वाच्य इति ।

दूषणाभासता चासाम्–सत्साधने दृष्टान्तादिसामर्थ्ययुक्ते सति साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पमात्रात्प्रतिषेधस्य कर्तुमशक्यत्वात् । यत्र हि लौकिकेतरयोर्बुद्धिसाम्यं तस्य दृष्टान्तत्वान्न साध्यत्वमिति ।

जैसे उसी अनुमान में प्रतिवादी दोष उपस्थित करता है कि क्रियाश्रयत्व वादी का हेतु है सो यह क्रियाश्रयत्व कोई तो गुरु–भारयुक्त देखा जाता है जैसे कि लोष्टादि है, तथा कोई लघुस्वरूप देखा जाता है जैसे वायु । इसलिये यह क्रियाहेतु गुणाश्रयत्व भी किसी वस्तु मे क्रिया का आश्रययुक्त होता है लोष्ट की तरह और किसी वस्तु मे वह निष्क्रिय ही होता है जैसे आत्मा ।

साध्यसमाजाति–हेतु आदि अवयव युक्त धर्मसाध्य होता है उसीको दृष्टांत मे लगा दिया जाय वह साध्यसमा नामकी जाति है । जैसे इसी उपर्युक्त अनुमान मे साधन प्रयुक्त करने पर प्रतिवादी कहता है, यदि आप जैसा लोष्ट है वैसा आत्मा है इसतरह कहते हो तो जैसा आत्मा है वैसा लोष्ट है ऐसा सभावित होगा । तथा आत्मा जैसा सक्रिय साधा जाता है वैसा लोष्ट भी सक्रिय साधा जाना चाहिये । और यदि लोष्ट को क्रियावान् नही साधा जाता तो आत्मा भी क्रियावान् नही साधना चाहिए । उभयत्र कोई विशेषता नही है । यदि विशेपता है तो आपको बताना होगा ।

ये जो उत्कर्पसमा से लेकर साध्यसमा तक जातियां है वे सव दूपणाभासरूप है, क्योकि दृष्टांत आदि सामर्थ्ययुक्त वास्तविक हेतु के प्रयोग करने पर, केवल पक्ष और दृष्टांत मे धर्मका विकल्प [आरोप] कर उक्त साधनादिका प्रतिषेध करना शक्य नही है । जहा पर लौकिकजन तथा अलौकिकजन दोनो के बुद्धि का साम्य होता है अर्थात् दोनो को जो मान्य हो वह दृष्टात कहा गया है, उसको साध्य नही बना सकते ।

सम्यक्साधने प्रयुक्ते प्राप्त्या यत्प्रत्यवस्थान सा प्राप्तिसमा जाति. । अप्राप्त्या तु प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमेति । तद्यथा–हेतु साध्यं प्राप्य, अप्राप्य वा साधयेत् ? 'प्राप्य चेत्; हेतुसाध्ययोः प्राप्तयोर्युगपत्सम्भवात्कथमेकस्य हेतुतान्यस्य साध्यता युज्येत्' इति प्रत्यवस्थान प्राप्तिसमा जातिः । अथ 'अप्राप्य हेतु। साध्य साधयेत्, तर्हि सर्वसाध्यमसौ साधयेत् । न चाप्राप्त· प्रदीप: पदार्थाना प्रकाशको दृष्ट.' इति प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमेति ।

ताविमौ दूषणाभासौ प्राप्तस्यापि धूमादेरग्न्यादिसाधकत्वोपलम्भात्, कृत्तिकोदयादेस्त्वप्राप्तस्य शकटोदयादौ गमकत्वप्रतीतेरिति ।

दृष्टान्तस्यापि साध्यविशिष्टतया प्रतिपत्तौ साधन वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थान प्रसङ्गसमा जाति । यथात्रैव साधने प्रयुक्ते पर· प्रत्यवतिष्ठते—'क्रियाहेतुगुणयोगात्क्रियावाँल्लोष्ट·' इति हेतुर्नोक्तः। न च हेतुमन्तरेण साध्यसिद्धि ।

प्राप्ति और अप्राप्ति समाजाति–वादी द्वारा सत्य साधन प्रयुक्त करने पर प्राप्ति द्वारा जो दोष दिया जाता है वह प्राप्तिसमा जाति है, तथा अप्राप्ति द्वारा जो दोष उपस्थित किया जाय वह अप्राप्तिसमा नामकी जाति है। इन्हीको बताते है–अतिवादी वादी से प्रश्न करता है कि आपका हेतु साध्य को प्राप्त कर सिद्ध करता है या अप्राप्त कर सिद्ध करता है ? यदि प्राप्त कर साध्य को सिद्ध करता हैं तो हेतु और साध्य एक साथ प्राप्तरूप सभव होने से एक को हेतुपना और एक को साध्यपना किस प्रकार युक्तिसमत हो सकता है। इसतरह प्रतिवादी द्वारा उलाहना देना प्राप्तिसमा जाति है। तथा यदि आप वादी को अपना हेतु साध्य को बिना प्राप्त हुए सिद्ध करता है ऐसा मानना इष्ट है तो यह हेतु सभी साध्य को सिद्ध करने वाला बन जायगा। ऐसा देखा नही गया है कि अप्राप्त दीपक पदार्थों का प्रकाशन करता हो। इसतरह के प्रतिवादी द्वारा निरसन करने को अप्राप्तिसमा जाति दोप माना है।

किन्तु ये प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा दोनो हो सही दूषण नही दूषणाभास मात्र है। हेतु तो दोनो प्रकार से [प्राप्त औद अप्राप्त] देखे जाते है, जैसे धूम आदि हेतु प्राप्त होकर भी अग्नि आदि साध्य को सिद्ध करते है, एव कृतिका का उदयरूप हेतु बिना प्राप्त हुए शकट उदयरूप साध्य को सिद्ध करते हैं।

अस्याश्च दूषणाभासत्वम्–यथैव हि रूप दिदृक्षूणा प्रदीपोपादान प्रतीयते न पुनः स्वय प्रकाश-मानं प्रदीप दिदृक्षूणाम् । तथा साध्यस्यात्मनः क्रियावत्त्वस्य प्रसिद्ध्यर्थं लोष्टस्य दृष्टान्तस्य ग्रहण-मभिप्रेतं न पुनस्तस्यैव सिद्ध्यर्थं साधनान्तरस्योपादानम्, वादि प्रतिवादिनोरविवादविषयस्य दृष्टान्तस्य दृष्टान्तत्वोपपत्तेस्तत्रसाधनान्तरस्याफलत्वादिति ।

प्रतिदृष्टान्तरूपेण प्रत्यवस्थान प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः । यथात्रैव साधने प्रयुक्ते प्रतिदृष्टान्तेन पर: प्रत्यवतिष्ठते-क्रिया-हेतुगुणाश्रयमाकाश निष्क्रिय दृष्टमिति । कः पुनराकाशस्य क्रियाहेतुगुणः ? सयोगो वायुना सह । कालत्रयेप्यसम्भवादाकाशे क्रियाया । न क्रियाहेतुर्वायुना सयोगः, इत्यप्यसारम्,

---

प्रसंगसमा जाति–अनुमान मे दिये गये दृष्टात मे भी साध्य की विशिष्टरूप से जानकारी कराने के लिये हेतु कहना चाहिये, इसप्रकार का प्रसङ्ग उपस्थित करना प्रसगसमा जाति है । जैसे इसी उपर्युक्त अनुमान मे हेतु के प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी उलाहना देता है कि क्रिया के हेतुरूप गुण के योग से लोष्ट क्रियावान् है, इसतरह लोष्ट का जो दृष्टांत दिया था उसमें हेतु घटित नही किया, बिना हेतु के तो साध्य सिद्धि नही होती ।

यह प्रसंगसमा नामका जाति दूपण भी पूर्व की जाति दूपण की तरह दूषणा-भास है अर्थात् वास्तविक दूषण नही है । इसीको बतलाते हैं–किसी वस्तु के रूप को देखने के इच्छुक पुरुष दीपक को ग्रहण करते हुए पाये जाते है, किन्तु स्वय प्रकाशमान दीपक् को देखने के लिये तो दीपक का ग्रहण नही करते है। दूसरी बात यह है कि साध्यरूप आत्मा मे क्रियापना साधने के लिये लोष्टरूप दृष्टात का ग्रहण होता ही है, किन्तु उसी दृष्टात के सिद्धि के लिये तो अन्य हेतु ग्रहण करना कही भी नही माना । क्योकि वादी और प्रतिवादी दोनो का जिसमे विवाद नही है अविवाद का विषय है उसी दृष्टात के दृष्टातपना घटित हो सकता है। ऐसे सुप्रसिद्ध हुए दृष्टात मे पुनः अन्य हेतु की कोई सफलता नही, अर्थात् उसमे हेतु देना निष्फल है ।

प्रतिदृष्टातसमा जाति – प्रतिदृष्टांतरूप से अर्थात् प्रतिकूल दृष्टात द्वारा दोष उपस्थित करना प्रतिदृष्टातसमा जाति है । जैसे इसी उपर्युक्त क्रिया हेतु गुणाश्रय होने से आत्मा सक्रिय है इत्यादि अनुमान प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी प्रतिकूल दृष्टांत से दूषण उपस्थित करता है–आकाश क्रिया के हेतुरूप गुण का आश्रय है फिर भी निष्क्रिय देखा जाता है । कोई पूछे कि आकाश मे क्रिया का हेतुरूप गुण कौनसा है ? तो हम

वायुसयोगेन वनस्पतौ क्रियाकारणेन समानधर्मत्वादाकाशे वायुसयोगस्य । यत्त्वसौ तत्र क्रिया न करोति तन्नाकारणत्वात्, किन्तु परममहापरिमाणेन प्रतिबद्धत्वात् । अथ क्रियाकारणवायुवनस्पतिसंयोगसदृशो वाय्वाकाशसयोगो न पुनः क्रियाकारणम्; न कश्चिदप्येव हेतुरनैकान्तिकः स्यात्–'अनित्य शब्दोऽमूर्त्तत्वात्सुखादिवत्' इत्यत्राप्यमूर्त्तत्व हेतु शब्देऽन्योन्यश्चाकाशे तत्सदृश इति कथमस्याकाशेनानैकान्तिकत्वम् ? सकलानुमानोच्छेदश्च, अनुमानस्य सादृश्यादेव प्रवर्त्तनात् । न खलु ये धूमधर्माः क्वचिद्धूमे

बतलाते हैं कि वायु के साथ सयोग होना रूप क्रियाहेतु गुणाश्रय आकाश मे है किंतु उसमे तीन काल मे भी क्रिया की सभावना नही है । वायु के साथ सयोग होना क्रिया का हेतु नही है ऐसा कहना भी असत् है, देखा जाता है कि वायु के सयोग से वनस्पति मे क्रिया होती है, आकाश मे वनस्पति की तरह ही वायु के साथ संयोग होना रूप समान धर्म है । इतनी बात है कि यह वायुसयोग आकाश मे क्रिया को नही करता वह अकारणपना होने से नही करता हो ऐसी बात नही किंतु आकाश परम महापरिमाण से प्रतिबद्ध होने के कारण उक्त वायुसयोग क्रिया को नही करता है । यदि कहा जाय कि क्रिया का कारण जो वायु और वनस्पति का सयोग है उसके समान अन्य ही कोई वायु और आकाश का सयोग है अर्थात् वनस्पति और वायु का सयोग भिन्न जातीय है और वायु तथा आकाश का सयोग भिन्न है अत॰ क्रिया का कारण नही है ? सो यह कहना अयुक्त है, इसतरह तो कोई भी हेतु अनैकान्तिक नही रहेगा । इसका खुलासा– शब्द अनित्य है, क्योकि वह अमूर्त्त है जैसे सुखादिक, ऐसा अनुमान किया जाय तो इसका जो अमूर्त्तत्व हेतु है वह शब्दरूप पक्ष म अन्य है और आकाश मे उसके समान कोई अन्य है, ऐसा सभावित किया जा सकता है अत अमूर्त्तत्व हेतु का आकाश के साथ व्यभिचार दिखाना अर्थात् अनैकान्तिक दोष उपस्थित करना कैसे सम्भव होगा ? इसतरह तो अनैकान्तिक दोष ही जगत् से उठ जायगा । दूसरी बात यह भी है कि इसप्रकार वायुवनस्पति सयोग और वायुआकाश संयोग इनकी भिन्नता मानी जाय तो सपूर्ण अनुमान का विच्छेद होवेगा, अनुमान तो सादृश्य से ही प्रवृत्त होता है, अर्थात् अन्य के साथ व्याप्तियुक्त देखे हुए पदार्थ का अन्यत्र दर्शन हो जाने से ही अनुमान का प्रवर्त्तन माना गया है । किसी पर्वत आदि स्थान पर होने वाले धूम मे जो धूम के धर्म [वर्णादिगुण] देखे जाते है, वे ही धर्म अन्य स्थान के धूम मे नही देखे जाते, वहा तो उसके समानरूप वाले भिन्न ही धूमधर्म उपलब्ध होते है । अत होता

दृष्टास्त एवान्यत्र दृश्यन्ते तत्सदृशानामेव दर्शनात् । ततोनेन कस्यचिद्धेतोरनैकान्तिकत्वं क्वचिदनुमानात्प्रवृत्तिचेच्छता तद्धर्मसदृशस्तद्धर्मोनुमन्तव्य इति क्रियाकारणवायुवनस्पतिसंयोगसदृशो वाय्वाकाशसयोगोपि क्रियाकारणमेव । तथा च प्रतिदृष्टान्तेनाकाशेन प्रत्यवस्थान प्रतिदृष्टान्तसमः प्रतिषेधः ।

है, किसी किसी हेतु मे अनैकान्तिक दोष होता एव कही अनुमान से प्रवृत्ति होती है ऐसी व्यवस्था चाहने वाले को विवक्षित अनुमान मे जो हेतु के धर्म पाये जाते है वे तद् धर्म सदृश धर्म पाये जाते हैं ऐसा ही स्वीकार करना होगा । और ऐसा सर्वमान्य होने पर जैसे वायु सयोग वनस्पति मे क्रिया का कारण है वैसे आकाश मे भी क्रिया का कारण है यह बात सिद्ध होती है, इसलिये ऊपर जो कहा था कि "वनस्पति मे होने वाला वायुसयोग भिन्न जातीय है और आकाश मे होने वाला वायुसयोग भिन्न जातीय है" वह असत् है अतः प्रतिदृष्टात–प्रतिकूलदृष्टात स्वरूप आकाश से दोष उपस्थित करना प्रति दृष्टातसमा जाति दोष है ।

जातिवादी के इस लबे चौड़े बखान मे भी कुछ तथ्य नही अन्य जाति भेदो के समान यह प्रतिदृष्टातसमा जाति भी दोषाभास मात्र है इसीको दिखाते है–यदि प्रतिवादी यह कहता है कि जिसतरह तेरा लोष्टादि दृष्टांत है मेरा भी उसतरह आकाशादि दृष्टात है, तब तो व्याघात दोष हुआ, वह व्याघात ऐसा होगा कि एक व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त दृष्टात मे दृष्टातपना सिद्ध होने पर उसके प्रतिकूलरूप उपस्थित किया गया दृष्टात अब दृष्टांत ही सिद्ध होगा, दोनो मे दृष्टातपना तो बन नही सकता ।

भावार्थ—साध्य की सिद्धि मे अनुकूल और प्रतिकूल हो रहे लोष्ट या आकाश मे से एक का दृष्टातपना स्वीकार करने पर बचे हुए दूसरे का अदृष्टांतपना ही सिद्ध होगा, एक साथ अनुकूल, प्रतिकूल दोनो दृष्टातो मे तो समीचीन दृष्टांतपने का विरोध है । प्रतिवादी ने स्वमुख से ही कह दिया कि जैसा तेरा दृष्टात है वैसा मेरा दृष्टात है, एतावता उसने वादी के दृष्टात को अगीकार किया माना जायगा, ऐसी दशा मे अब प्रतिवादी प्रतिकूलदृष्टात कथमपि बोल नही सकता ।

स चायुक्त , अस्य दूषणाभासत्वात् । तथाहि–यदि तावदय ब्रूते–'यथाय त्वदीयो दृष्टान्तो लोष्टादिस्तथा मदीयोप्याकाशादि.' इति, तदा व्याघात –एकस्य हि दृष्टान्तत्वेन्यस्यादृष्टान्तत्वमेव, उभयोस्तु दृष्टान्तत्वविरोध । अथैव ब्रूते–यथाय मदीयो न दृष्टान्तस्तथा त्वदीयोपि इति' । तथापि व्याघात –प्रतिदृष्टान्तस्य ह्यदृष्टान्तत्वे दृष्टान्तस्यादृष्टान्तत्वव्याघात·, प्रतिदृष्टान्ताभावे तस्य दृष्टान्तत्वोपपत्ते । दृष्टान्तस्य वाऽदृष्टान्तत्वे प्रतिदृष्टान्तस्यादृष्टान्तत्वव्याघात·, दृष्टान्ताभावे तस्य तत्वोपपत्तेरिति ।

"प्रागुत्पत्ते कारणाभावाद्या प्रत्यवस्थितिः सानुत्पत्तिसमा जाति " [न्यायसू० ५।१।१२] तद्यथा–'विनश्वरः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्कटकादिवत्' इत्युक्ते पर प्राह–'प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्दे विनश्वरत्वस्य यत्कारण प्रयत्नानन्तरीयकत्व तन्नास्ति ततोयमविनश्वर , शाश्वतस्य च शब्दस्य न प्रयत्नानन्तर जन्म इति ।

प्रतिवादी यदि इसप्रकार कहता है कि जैसा यह मेरा दृष्टात नही वैसा तेरा भी नही है । ऐसे भी व्याघात दोष होगा, प्रतिवादी के प्रतिकूलदृष्टात मे अदृष्टातत्व स्वीकार किया जाय तो वादी के दृष्टात मे अदृष्टातत्व का निराकरण स्वत· ही होगा, क्योकि प्रतिदृष्टात के अभाव मे उसके सुलभता से दृष्टातत्व घटित होता है । अथवा वादी के दृष्टात मे अदृष्टातत्व स्वीकारा जाय तो प्रतिवादी के प्रतिदृष्टात मे अदृष्टांतत्व दोष समाप्त होगा अर्थात् प्रतिदृष्टात सत्य होगा, और इसतरह वादी के दृष्टात का अदृष्टातपना होने से अभाव होने पर उक्त प्रतिवादी का तत्व सिद्ध होगा । भावार्थ यही हुआ कि प्रतिदृष्टात समा नामका जातिदोष उठाना व्यर्थ है, इस दोष द्वारा जय पराजय नही होता न किसी के पक्षका निराकरण ही यह तो केवल दूषणाभास है ।

अनुत्पत्तिसमा जाति–उत्पत्ति के पहले कारण के अभाव से जो दोष उपस्थित किया जाता है वह अनुत्पत्तिसमा जाति है । वह इसप्रकार–शब्द नश्वर है मनुष्य के प्रयत्न द्वारा अव्यवहित उत्तरकाल मे उत्पत्ति वाला होने से जैसा कटक–कडा आदि है, इसतरह वादी द्वारा अनुमान प्रयुक्त होनेपर प्रतिवादी कहता है–उत्पत्ति के पहले अनुत्पन्नरूप शब्द मे नश्वरता का हेतु जो आपने प्रयत्न के अनन्तर होना [प्रयत्न के उत्तरकाल मे होना] बताया है वह नही है, इसलिये यह शब्द तो अविनश्वर है । इसतरह अनुत्पन्न शब्द मे नश्वरता नही होने से वह शाश्वत होगा और उस शाश्वत शब्द की पुन प्रयत्न के उत्तरकाल मे उत्पत्ति नही होती ।

सेयमनुत्पत्त्या प्रत्यवस्था दूषणाभासो न्यायातिलघनात् । उत्पन्नस्यैव हि शब्दस्य धर्मिण: प्रयत्नानन्तरीयकत्वमुत्पत्तिधर्मकत्व वा भवति नानुत्पन्नस्य । प्रागुत्पत्ते: शब्दस्याऽसत्त्वे किमाश्रयोयमुपालम्भ: ? न ह्ययमनुत्पन्नोऽसन्नेव 'शब्द:' इति 'प्रयत्नानन्तरीयक' इति 'अनित्य:' इति वा व्यपदेष्टु शक्य: । सत्त्वे तु सिद्धमेव प्रयत्नानन्तरीयकत्वकारण नश्वरत्वे साध्ये, अत: कथमस्य प्रतिषेध इति ?

"सामान्यघटयोरैन्द्रियिकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमा जाति ।" [न्यायसू० ५।१।१४] यथा 'अनित्य: शब्द. प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते पर: सद्दूषणमपश्यन् संशयेन प्रत्यवतिष्ठते–प्रयत्नानन्तरीयकेपि शब्दे सामान्येन साधर्म्यमैन्द्रियिकत्व नित्येनास्ति घटेन चानित्येनास्ति, सशय· शब्दे नित्यत्वानित्यत्वधर्मयोरिति ।

यह अनुत्पत्ति द्वारा प्रतिवादी का दोष देना दोषाभास मात्र है इसमे न्याय मार्ग का उल्लघन होता है । उत्पन्न हो चुके शब्द को ही पक्ष बनाया जाता है और उसका प्रयत्न के उत्तरकाल में होना या उत्पत्ति धर्मपना होना सिद्ध किया जाता है । अनुत्पन्न शब्द को पक्ष बताया ही नही जाता और न उसके प्रयत्न के अनन्तर होना रूप धर्म सिद्ध किया जाता है । जब उत्पत्ति के पहले शब्दका असत्व हो है तब किसका आश्रय लेकर प्रतिवादी उलाहना देगा ? अनुत्पन्न होने से असत्वरूप इस शब्द को 'यह शब्द है' "अथवा प्रयत्न के अनन्तर होने वाला है" 'या अनित्य है' इत्यादि कथन करना किसतरह शक्य है ? और जब उस शब्द का सत्त्व हो जाता है तब प्रयत्न के उत्तरकाल मे होनारूप हेतु नश्वरत्व साध्य को सिद्ध ही कर देता है फिर इस हेतु का प्रतिषेध किसप्रकार होगा ? अर्थात् नही हो सकता ।

संशयसमाजाति–पर अपर सामान्य और घट इनमें इन्द्रिय द्वारा ग्राह्यपना समानरूप से सिद्ध होने पर नित्यत्व अनित्यत्व के साधर्म्य से संशयद्वारा दोष देना संशयसमाजाति है । जैसे शब्द अनित्य है प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से, घट के समान इसप्रकार वादीद्वारा अनुमान देने पर प्रतिवादी इसमे वास्तविक दोष का अभाव देख संशय द्वारा उलाहना देता है कि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होनेपर भी शब्द मे नित्यस्वरूप सामान्य पदार्थ के साथ इन्द्रियग्राह्य होनारूप समानता है, तथा अनित्यस्वरूप घट के साथ भी प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होनारूप समानता है, इस कारण शब्द मे नित्यपन और अनित्यपन धर्मो का संशय रहता है ।

अस्याश्च दूषणाभासत्वम्–शब्दाऽनित्यत्वाऽप्रतिबन्धित्वात्। यथैव हि पुरुषे शिरःसंयमनादिना विशेषेण निश्चिते सति न स्थाणुपुरुषसाधर्म्यादूर्ध्वत्वात् सशयस्तथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विशेषेणाऽनित्ये शब्दे निश्चिते न घटसामान्यसाधर्म्यादैन्द्रियिकत्वात् सशयो युक्त इति।

"उभयसाधर्म्यात्प्रक्रियासिद्धः प्रकरणसमा जाति।" [न्यायसू० ५।१।१६] 'यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवत्' इत्यनित्यसाधर्म्यात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वाच्छब्दस्यानित्यता कश्चित्साधयति। अपरः पुनर्गोत्वादिना सामान्येन साधर्म्यात्तस्य नित्यताम् इति, अत. पक्षे विपक्षे च प्रक्रिया समानेति।

ईदृश्य च प्रक्रियाऽनतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानमयुक्तम्, विरोधात्। प्रतिपक्षप्रक्रियासिद्धौ हि प्रतिषेधो विरुध्यते। प्रतिषेधोपपत्तौ तु प्रतिपक्षप्रक्रियासिद्धिर्व्याहन्यते इति।

किन्तु यह जातिदूषण भी केवल दूषणाभास है, क्योकि उपर्युक्त पक्षभूत शब्द मे अनित्यपने का कोई प्रतिबन्ध नही है, जिसप्रकार पुरुष मे शिर का सयम न करना आदि विशेषता से पुरुषपने का निश्चय होने पर पुन पुरुष और स्थाणु [ठूंट] मे समानरूप से होने वाले ऊर्ध्वत्व धर्म से सशय नही होता है, उसीप्रकार शब्द मे प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होनारूप विशेषता से अनित्यपना निश्चित होनेपर घट और सामान्य मे समानता से होने वाले इन्द्रियग्राह्यत्व से सशय होना अयुक्त है।

प्रकरणसमाजाति–दोनो [नित्य अनित्य या सामान्य तथा घट] के साथ साधर्म्य होने के कारण दोनो की प्रक्रिया सिद्ध होना प्रकरणसमाजाति है। जैसे शब्द अनित्य है प्रयत्न के अनन्तर होने से घट के समान, इसप्रकार किसी वादी ने अनुमान प्रयोग किया, इसमे प्रयत्न के अनन्तर होना रूप हेतु अनित्य के साथ साधर्म्य रखता है अत उसके द्वारा वादी ने शब्द की अनित्यता को सिद्ध किया है। इसपर प्रतिवादी दोष उठाता है कि शब्द मे इन्द्रियग्राह्यत्व है वह गोत्वआदि सामान्य के साथ साधर्म्य रखता है अतः उस साधर्म्य से शब्द मे नित्यता सिद्ध होती है। इसप्रकार जहा पक्ष और विपक्ष मे समान प्रक्रिया पायी जाय वह प्रकरणसमा जाति है।

इस जाति का निराकरण इसतरह होता है कि प्रक्रिया का अतिक्रमण नही होने से अर्थात् समान प्रक्रिया होने से ऐसी उलाहना देना अयुक्त है, विरोध दोष होगा, देखिये, प्रतिपक्ष की प्रक्रिया [अनुमान का तरीका] सिद्ध हो जाने पर तो उस प्रतिपक्ष

"त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमा जाति ।" [न्यायसू० ५।१।१८] यथा सन्साधने दूषणमपश्यन्पर: प्राह–'साध्यात्पूर्वं वा साधनम्, उत्तर वा, सहभावि वा स्यात् ? न तावत्पूर्वम्; असत्यर्थे तस्य साधनत्वानुपपत्ते.। नाप्युत्तरम्; असति साघने पूर्वं साध्यस्य साध्यस्वरूपत्वासम्भवात्। नापि सहभावि; स्वतन्त्रतया प्रसिद्धयो साध्यसाधनभावासम्भवात्सह्यविन्ध्यवत्' इत्यहेतुसमत्वेन प्रत्यवस्थानमयुक्तम्; हेतो। प्रत्यक्षतो धूमादेर्वन्ह्यादौ प्रसिद्धे रिति ।

"अर्थापत्तित: प्रतिपक्षसिद्धे रर्थापत्तिसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।२१] यथात्रैव साधने प्रयुक्ते पर प्राह–'यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्वेनानित्य: शब्दो घटवत्तदार्थापत्तितो नित्याकाशसाधर्म्या-

---

का प्रतिषेध करना नियम से विरुद्ध पड़ता है । और प्रतिपक्ष के निषेध की सिद्धि हो चुकने पर तो प्रतिपक्ष की प्रक्रिया साधने का व्याघात होता है । इसतरह दोनो [पक्ष विपक्ष] मे प्रक्रिया समान कहा रही ? जिससे प्रकरणसमा जाति नामा दोष दिया जाय ?

अहेतुसमा जाति–साध्य सिद्धि के लिये प्रयुक्त हुए हेतु का तीनो कालो मे वर्त्तना नही बनने से दोष उठाना अहेतुसमा जाति है । वादी के वास्तविक हेतु मे कोई दोष न देखकर प्रतिवादी व्यर्थ ही कह बैठता है कि यह आपका हेतु साध्य के पहले विद्यमान रहता है या उत्तरकाल मे अथवा साध्य का सहभावि है ? साध्य के पहले तो विद्यमान नही हो सकता, क्योकि उसका साध्यभूत अर्थ ही नही अत साधन (हेतु) नही कहला सकता । साध्य के उत्तरकाल भावी हेतु का होना भी अयुक्त है, क्योकि जब साधन असत् था उस पूर्वकाल मे साध्य का साध्यस्वरूप असम्भव है । सहभावि भी नही हो सकता, जब स्वतत्ररूप से दोनो प्रसिद्ध है तो उनमे साध्य–साधनभाव असम्भव ही है, जैसे कि सह्य और विंध्य मे साध्य–साधनभाव असम्भव है ।

जातिवादी के इस अहेतुसमा जाति द्वारा दोष देना सर्वथा अयुक्त है, क्योकि हेतु की प्रसिद्धि तो प्रत्यक्षप्रमाण से है, जैसे कि अग्नि आदि साध्य मे धूमादि हेतु प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है ।

अर्थापत्तिसमा जाति–अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष सिद्ध होना अर्थापत्तिसमा जाति है । जैसे इसी पूर्वोक्त अनुमान के प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी कहता है–यदि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है जैसे घट है, तो अर्थापत्ति से इस शब्द मे नित्य

न्नित्योस्तु । यथैव ह्यस्पर्शवत्त्व खे नित्ये दृष्ट तथा शब्देपि' इति ।

अस्याश्च दूषणाभासत्वम्; सुखादिनानैकान्तिकत्वात् । नचानैकान्तिकाद्धेतोः प्रतिपक्ष-सिद्धिरिति ।

"एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सत्त्वोपपत्तितोऽविशेषसमा जाति ।" [न्यायसू० ५।१।२३] यथात्रैव साधने प्रयुक्ते पर प्रत्यवतिष्ठते–प्रयत्नानन्तरीयकत्वलक्षणैकधर्मोपपत्तेर्घटशब्द-योरनित्यत्वाविशेषे सत्त्वधर्मस्याप्यखिलार्थेषूपपत्तेरनित्यत्वाविशेषः स्यात् ।

आकाश के साथ समानता होने से नित्यत्व सिद्ध होवे । देखा भी जाता है कि जैसे अस्पर्शवान्पना नित्य आकाश मे है वैसा अस्पर्शवत्व शब्द मे भी है ।

यह अर्थापत्तिसमा जाति भी सही दूषण नही केवल दूषणाभास है । इसीको बतलाते है–प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्तिमान् होने से शब्द अनित्य है ऐसे वादी के कथन मे अर्थापत्ति से नित्य आकाश के साधर्म्य से शब्द को नित्य बताना तो सुखादि के साथ व्यभिचरित होता है, क्योकि सुखादि अस्पर्शवान् होकर भी अनित्य है । अत इसतरह के अनैकान्तिक हेतु से प्रतिवादी के प्रतिपक्ष की सिद्धि कथमपि सभव नही है ।

अविशेषसमा जाति–एक धर्म [प्रयत्नानतर उत्पत्तिमत्व] को उपपत्ति [शब्द मे, घट मे] अविशेप होने पर अर्थात् प्रयत्नानन्तर उत्पत्तिमत्व हेतु द्वारा शब्द और घट दृष्टात मे अनित्यत्व स्वीकृत होने पर वह धर्म अविशेष कहलाता है, इस पर पुन प्रतिवादी कहता है कि सब वस्तुओ मे सत्त्वधर्म घटित होने से घटादि की तरह अनित्यपना सिद्ध हो जाओ, इसतरह सब मे अनित्यपने का प्रसग अविशेषरूप से उपस्थित करना अविशेषसमा जाति है । जैसे वादी ने अनुमान प्रयुक्त किया कि शब्द अनित्य है प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से घट की तरह । पुन प्रतिवादी इसका निराकरण करता है कि प्रयत्नानतरीयकत्वरूप एक ही धर्म द्वारा घट और शब्द मे अनित्यपना समानरूप से स्वीकार करने पर तो सत्वधर्म सपूर्ण पदार्थो मे उपलब्ध होने से उनमें अनित्यत्व समानरूप से स्वीकार करना पडेगा इत्यादि । इसप्रकार प्रतिवादी का दोष उठाना अविशेषसमा जाति है ।

तस्याश्च दूषणाभासता, तथा साधयितुमशक्यत्वात् । न खलु यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्व साधनधर्म साध्यमनित्यत्व शब्दे साधयति तथा सर्वार्थे सत्त्वम्, धर्मान्तरस्यापि नित्यत्वस्याकाशादौ सत्त्वे सत्युपलम्भात्, प्रयत्नानन्तरीयकत्वे च सत्यऽनित्यत्वस्यैवोपलम्भादिति ।

"उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमा जाति ।" [न्यायसू० ५।१।२५] यथात्रैव साधने प्रयुक्ते पर· प्राह–'यद्यनित्यत्वे कारण प्रयत्नानन्तरीयकत्व शब्दस्यास्तीत्यनित्योसौ तदा नित्यत्वेप्यस्य कारण-मस्पर्शवत्त्वमस्तीति नित्योप्यस्तु' इत्युभयस्य नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थान-मुपपत्तिसमो दूषणाभासः । एव ब्रुवता स्वयमेवानित्यत्वकारणं प्रयत्नानन्तरीयकत्व तावदभ्युपगतम् । एव तदभ्युपगमाच्चानुपपन्नस्तत्प्रतिषेध इति ।

"निर्दिष्टकारणाभावेप्युपलम्भादुपलब्धिसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।२७] यथात्रैव

यह भी केवल दूषणाभास है, क्योकि उक्त प्रकार से सब मे अनित्यत्व साधना अशक्य है । जैसे प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना रूप साधन धर्म शब्द मे अनित्यरूप साध्य को सिद्ध करता है वैसे सत्वधर्म सभी पदार्थो मे अनित्यत्व सिद्ध नही करता, क्योंकि आकाश आदि मे नित्यरूप धर्मान्तर भी सत्त्व के होने पर उसी के साथ उपलब्ध है, किन्तु प्रयत्नानन्तरीयकत्व ऐसा नही है वह केवल अनित्यधर्म की उपलब्धि मे ही होता है । अत. अविशेष का प्रसग लाकर अविशेषसमा जाति उपस्थित करना असिद्ध है ।

उपपत्तिसमा जाति–उभयकारण की उपपत्ति होने से उपपत्तिसमा जाति दिखायी जाती है । जैसे उसी अनुमान के प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी कहता है–यदि अनित्यपन का कारण प्रयत्नानतरीयकत्व शब्द मे है अत· उसे अनित्य स्वीकार किया जाता है तो नित्यपन का कारण जो अस्पर्शवत्व है वह शब्द मे है अत· उसे नित्य भी स्वीकार करना चाहिए । इसप्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों के कारणों के उपपत्ति दिखाकर उलाहना देना उपपत्तिसमा जाति है । किन्तु यह दूषणाभास है । इस प्रकार से दोप उपस्थित करने वाले प्रतिवादी ने तो प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु को अनित्यपने का कारण स्वीकार कर ही लिया, और ऐसा स्वीकृत होने पर पुन. उसी का निराकरण शक्य नही है ।

उपलब्धिसमा जाति–निर्दिष्ट कारण के अभाव मे भी उपलब्धि दिखाना उपलब्धिसमा जाति है । जैसे प्रयत्नानंतरीयकत्व हेतु द्वारा शब्द में अनित्यत्व सिद्ध

साधने प्रयुक्ते पर. प्रत्यवतिष्ठते–'शाखादिभङ्गजे शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभावेप्यनित्यत्वमस्ति' इति ।

दूषणाभासत्व चास्या', प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धित्वात् । न खलु 'साधनमन्तरेण साध्य न भवति इति' नियमोस्ति, साधनस्यैव साध्याभावेऽभावनियमव्यवस्थिते' । न चानित्यत्वे प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेव गमकम्, उत्पत्तिमत्त्वादेरपि तद्गमकत्वात् ।

"तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमा जाति ।" [न्यायसू० ५।१।२९] 'यथा अविद्यमान शब्द उच्चारणात्पूर्वमनुपलब्धेरुत्पत्ते' पूर्वं घटादिवत् । न खलूच्चारणा-

---

होने पर प्रतिवादी कहता है–शाखा आदि के टूट जाने से प्रादुर्भूत हुए शब्द मे प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु का अभाव है फिर भी अनित्यत्व है, अर्थात् प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है ऐसा वादी ने कहा किन्तु शाखा टूट जाने से जो शब्द होता है उसमे प्रयत्न के अनन्तर होना रूप स्वभाव नही, अत आपका साध्य जो अनित्यत्व है वह हेतु जो प्रयत्नानतरीयकत्व है उसके अभाव मे भी पाया गया । इस प्रकार यह निर्दिष्ट किये गये कारण [हेतु] के अभाव मे भी साध्य उपलब्ध होना उपलब्धिसमा जाति दोष है ।

यह भी दूषणाभासरूप है क्योकि इसप्रकार का दूषण प्रकृत हेतु का प्रतिवधक नही होता । हेतु के बिना साध्य नही होता हो ऐसा नियम नही है अपितु साध्य के बिना हेतु नही होता ऐसा नियम है । यथा यह भी बात है कि केवल प्रयत्नानतरीयकत्व ही अनित्यपने का गमक नही है ? अनित्य का गमक तो उत्पत्तिमत्व आदि भी हुआ करते है ।

अनुपलब्धिसमा जाति–शब्द की अनुपलब्धि के समय अर्थात् उच्चारण के पहले अनुपलभ रहने से उस शब्द का अभाव वादी द्वारा सिद्ध करने पर प्रतिवादी उससे विपरीत भाव की उत्पत्ति दिखाता है वह अनुपलब्धिसमा जाति है । जैसे शब्द अविद्यमान है [शब्द का अस्तित्व नही है] क्योकि उच्चारण करने के पहले वह अनुपलब्ध रहता है [उपलब्ध नही होता] जैसे कि घट उत्पत्ति के पहले अनुपलब्ध रहता है । यहा कोई कहे कि उच्चारण के पहले शब्द विद्यमान है किन्तु उस पर आवरण रहने से पहले उपलब्ध नही होता ? सो यह कथन असत् है । उस शब्द को

त्प्राग्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धि. तदावरणानुपलब्धे , उत्पत्ते प्राग्घटादेरिव । यस्य तु दर्शनात् प्राग्विद्यमानस्यानुपलब्धिस्तस्य नावरणानुपलब्धि , यथा भूम्याद्यावृतस्योदकादे , आवरणानुपलब्धिश्च श्रवणात्प्राक् शब्दस्य ।' इत्युक्ते पर प्राह-तस्य शब्दस्यानुपलब्धेरप्यनुपलम्भादभावसिद्धौ सत्यां शब्दस्याभावविपरीतत्वेन भावस्योपपत्तेरनुपलब्धिसमा जाति ।

अस्याश्च दूपणाभासत्वम्, अनुपलब्धेरनुपलब्धिस्वभावतयोपलब्धिविषयत्वात् । यथैव ह्यु पलब्धिरुपलब्धेर्विषयस्तथानुपलब्धिरपि । कथमन्यथा 'अस्ति मे घटोपलब्धि तदनुपलब्धिस्तु नास्ति' इति सवेदनमुपपद्यते ?

"साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्ते सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमा जाति ।" [न्यायसू० ५।१।३२]

आवृत्त करने वाले आवरण की अनुपलब्धि है, अर्थात् शब्द का आवरण असिद्ध है, इसलिये शब्द विद्यमान है केवल उच्चारण के पूर्व अनुपलब्ध है ऐसा कहना नही बनता । जिस विद्यमान वस्तु की देखने के पूर्व अनुपलब्धि होती है उसके आवरण की अनुपलब्धि नही हुआ करती, अर्थात् उसका आवरण उपलब्ध ही होता है, जैसे भूमि आदि से आवृत्त जल आदि है तो जल के देखने के पूर्व उसके आवरणस्वरूप भूमि आदि उपलब्ध ही रहते है, अनुपलब्ध नही । किंतु शब्द के आवरण की तो सुनने के पूर्व अनुपलब्धि ही रहती है । इसप्रकार वादी के कह चुकने पर प्रतिवादी उसमे दूषण उठाते हुए कहता है कि शब्द के अनुपलब्धि की भी अनुपलब्धि है अत· उस अनुपलब्धि का तो अभाव सिद्ध होता है और इसतरह अनुपलब्धि की अनुपलब्धि होने से शब्द के अभाव का विपरीत धर्म जो भाव [सद्भाव] है उसकी सिद्धि होती है । इसप्रकार अनुपलब्धिसमा जाति का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है ।

उपर्युक्त जाति भी दूषणाभास है, क्योकि अनुपलब्धि की अनुपलब्धि स्वभाव से उपलब्धि हुआ ही करती है अर्थात् अनुपलब्धि तो अनुपलब्धि स्वभाव का विषय है वह उस रूप से प्रतीत होती ही है, जैसे कि उपलब्धि का विषय उपलब्धि है । अन्यथा मेरे को घटकी उपलब्धि है उसकी अनुपलब्धि तो नही है इसतरह का सवेदन कैसा होता है ?

अनित्यसमा जाति—साधर्म्य से तुल्य धर्म की प्राप्ति अर्थात् अनित्यत्व की प्राप्ति होने से सबको अनित्यपने का प्रसग दिखाना अनित्यसमा जाति है । जैसे शब्द

यथा 'अनित्य शब्द कृतकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते पर: प्रत्यवतिष्ठते—यदि शब्दस्य घटेन साधर्म्यं कृतकत्वादिनाऽनित्यत्व साधयेत्, तदा सर्वं वस्त्वनित्य प्रसज्येत घटादिनाऽनित्येन सत्त्वेन कृत्वा साधर्म्यमात्रस्य सर्वत्राऽविशेषात् ।

तस्याश्च दूषणाभासत्वम्, प्रतिषेधकस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गात् । पक्षो हि प्रतिषेध्य प्रतिषेधकस्तु प्रतिपक्ष । तयोश्च साधर्म्यं प्रतिज्ञादियोग: तेन विना तयोरसम्भवात् । तत· प्रतिज्ञादियोगाद्यथापक्षस्या सिद्धिस्तथा प्रतिपक्षस्यापि । अथ सत्यपि साधर्म्ये पक्षप्रतिपक्षयो पक्षस्यैवासिद्धिर्न प्रतिपक्षस्य, तर्हि घटेन साध्यर्म्यात्कृतकत्वाच्छब्दस्याऽनित्यतास्तु, सकलार्थाना त्वनित्यता तेन साधर्म्यमात्रात् मा भूदिति ।

अनित्य है, किया हुआ होने से, घट के समान । इसतरह वादी के कहने पर प्रतिवादी दोष देता है—यदि शब्द का घटके साथ कृतकत्वादि से साधर्म्य होने से अनित्यपना सिद्ध किया जाता है तो सभी वस्तु अनित्य सिद्ध होगी क्योकि अनित्य घट आदि के साथ सत्त्व धर्म द्वारा साधर्म्य तो सर्वत्र सर्व वस्तुओ मे समान रूप से पाया जाता है ।

इस जाति का निराकरण करते है कि यह केवल दूषणाभास है, क्योकि इस तरह तो प्रतिषेधक अर्थात् प्रतिषेध करने वाला जो प्रतिपक्ष है उसका भी अभाव होगा । देखिये, पक्ष तो प्रतिषेध्य [निषेध योग्य] हुआ करता है और प्रतिषेधक प्रतिपक्ष होता है, इन दोनो मे [प्रतिपेध्य—प्रतिषेधक या पक्ष प्रतिपक्ष मे] प्रतिज्ञा हेतु आदि का होना रूप साधर्म्य रहता ही है, उसके बिना पक्ष प्रतिपक्ष सभव ही नही । तिसकारण जैसे प्रतिवादी के कथनानुसार प्रतिज्ञा आदि युक्त पक्ष की असिद्धि हो रही है, वैसे प्रतिवादी के प्रतिपक्ष की भी असिद्धि हो जाओ ? क्योकि प्रतिज्ञादिरूप साधर्म्य दोनो मे है एक की असिद्धि होने पर दूसरे की असिद्धि होगी ही । यदि प्रतिवादी द्वारा कहा जाय कि पक्ष और प्रतिपक्ष मे साधर्म्य अवश्य है किन्तु पक्ष की ही असिद्धि है प्रतिपक्ष की नही । प्रतिवादी के इस मतव्य पर हम कहते हैं कि उसीप्रकार घट के साथ साधर्म्य को प्राप्त हुए कृतकत्व हेतु से शब्द की अनित्यता तो सिद्ध होवे किन्तु केवल सत्त्व द्वारा साधर्म्य होने से सब पदार्थो मे अनित्यपना मत होवे । यही न्याय मार्ग है ।

"शब्दाऽनित्यत्वोक्तौ नित्यत्वप्रत्यवस्थितिर्नित्यसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।३५ ?] तद्यथा—'अनित्यः शब्दः' इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते-शब्दाश्रयमनित्यत्वं किं नित्यम्, अनित्यं वा ? यदि नित्यम्; तर्हि शब्दोपि नित्यः स्यात्, अन्यथास्य तदाधारत्वं न स्यात्। अथानित्यम्; तथाप्ययमेव दोषः-अनित्यत्वस्याऽनित्यत्वे हि शब्दस्य नित्यत्वमेव स्यात्।

दूषणाभासत्वं चास्याः, प्रकृतसाधनाऽप्रतिबन्धित्वात्। प्रादुर्भूतस्य हि पदार्थस्य प्रध्वंसोऽनित्यत्वमुच्यते, तस्य प्रतिज्ञाने प्रतिषेधविरोधः। स्वय तदप्रतिज्ञाने च प्रतिषेधो निराश्रयः स्यात्।

नित्यसमा जाति–शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करने पर प्रतिवादी द्वारा उक्त पक्ष के अनित्य धर्म मे नित्यत्व का प्रसंग लाना नित्यसमा जाति है। जैसे शब्द अनित्य है ऐसा कहने पर प्रतिवादी उलाहना देता है कि शब्द के आश्रय रहने वाला यह अनित्यधर्म क्या नित्य है अथवा अनित्य ? अर्थात् शब्दरूप पक्ष मे साध्यरूप अनित्य-धर्म सदावस्थित है अथवा कादाचित्क है ? यदि उक्त धर्म नित्य है तो शब्द भी नित्य सिद्ध होगा, अन्यथा वह उस धर्म का आधार हो नही सकता। भावार्थ यह हुआ कि शब्द मे अनित्यपन सदा तीनो काल ठहरा हुआ मानोगे तब तो उस अनित्यपने का आधार शब्द भी नित्य हो जायेगा, अपने धर्म को सदाकाल नित्य ठहराने वाला धर्मी नित्य होना ही चाहिए, यदि शब्द को कुछ काल तक ठहरने वाला माने तो सदा ठहरने वाला अनित्यत्व धर्म भला किसके आधार स्थित होगा। दूसरा पक्ष–शब्द के आश्रय रहने वाले अनित्यत्व धर्म को अनित्य माना जाय तो उसमे भी यही दोष है, अर्थात् शब्द मे अनित्यत्व धर्म कभी कभी रहता है तो जब वह धर्म न रहेगा तब शब्द मे नित्यत्व आ धमकेगा।

यह नित्यसमा जाति भी दूषणाभास है क्योकि यह प्रकृत साधन का प्रति-बधक नही है। इसीको बतलाते है–प्रादुर्भूत पदार्थ के नाश होने को अनित्यत्व कहते है, जब प्रकृत अनुमान मे अनित्यत्व साध्यरूप स्वीकार कर लिया है तब उसका प्रतिषेध विरुद्ध पडता है, और यदि स्वय ने उसको स्वीकृत नही किया हो तो उसका प्रतिषेध निराश्रय है, मतलब यह है कि वादी ने शब्द अनित्य है ऐसा प्रतिज्ञा वाक्य कहा इस पर प्रतिवादी ने जब यह प्रश्न किया कि इस अनित्यत्व साध्यका आश्रय नित्य है या अनित्य ? तब निश्चित होता है कि इसने प्रतिज्ञा को स्वीकार किया है, इस प्रकार प्रतिज्ञा स्वीकृत होने पर उसीका पुनः निषेध तो विरुद्ध ही है। तथा कदाचित्

तन्नानित्यता शब्दे नित्यत्वप्रत्यवस्थितेर्निराकर्तुं शक्येति ।

"प्रयत्नानेककार्यत्वात्कार्यसमा जाति ।" [न्यायसू० ५।१।३७] यथा 'अनित्यः शब्द' प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' इत्युक्ते पर· प्रत्यवतिष्ठते–प्रयत्नानन्तर घटादीना प्रागऽसतामात्मलाभोपि प्रतीत , आवारकापनयनात् प्राक्सतामेवाभिव्यक्तिश्च । तत्कथमत. शब्दस्यानित्यतेति ?

दूषणाभासता चास्या , प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धित्वादेव । शब्दस्य हि प्रागसत स्वरूपलाभ-लक्षण जन्मैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वमुपपद्यते प्रागनुपलब्धिनिमित्तस्याभावेप्यनुपलब्धित सत्त्वासम्भवा-दिति ।

प्रतिवादी शब्द के इस अनित्यत्व को स्वीकार नही करता तो अनित्य का निषेध आश्रय रहित हो जायगा, अर्थात् "शब्द अनित्य है" इस प्रतिज्ञा को नही मानने पर ये विकल्प किसके आधार पर उठाये जायेगे कि शब्द मे रहने वाला अनित्य धर्म नित्य है अथवा अनित्य है ? इसलिये शब्द के अनित्यपने का निराकरण नित्यत्वरूप उलाहना द्वारा करना शक्य नही है ।

कार्यसमाजाति–प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने वाले कार्य अनेक तरह के होते है इसतरह कहकर वादी के प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु मे दोष देना कार्यसमाजाति है । जैसे वादी ने अनुमान कहा–"शब्द अनित्य है प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से" इस पर प्रतिवादी कटाक्ष करता है कि एक प्रयत्नानन्तरीयकत्व वह है जो प्रयत्न के पहले घटादि की तरह असत् रहता है और प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है तथा दूसरा प्रयत्नानन्तरीयकत्व वह है जो आवरण को हटाने के पहले सत् ही रहता है और अनन्तर अभिव्यक्त होता है । इसतरह प्रयत्नानन्तरीयकत्व से शब्द की अनित्यता कैसे सिद्ध हो सकती है ? अर्थात् प्रयत्न के अनन्तर होना तो सत्त्वभूत पदार्थ का भी होता है और असत्त्वभूत पदार्थ का भी होता है अत इसके द्वारा अनित्यपना सिद्ध नही होवेगा ।

यह कार्यसमाजाति दोष भी दोषाभास है, यह भी प्रकृत साधन का प्रति-बधक नही है । शब्द पहले असत् रहता है और प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है इसलिये इस शब्द के ही प्रयत्नानतरीयकत्व सुघटित होगा । शब्द उत्पन्न होने के पहले अनुपलब्ध रहता है उसका कारण शब्द को आवृत्त करने वाला आवरण [आवारक

तदेतद्यौगकल्पित जातीना सामान्यविशेषलक्षणप्रणयनमयुक्तमेव; साधनाभासेपि साधर्म्यादिना प्रत्यवस्थानस्य जातित्वप्रसङ्गात्। तथेष्टत्वान्न दोषः; तथा हि-असाधौ साधने प्रयुक्ते यो जातीना प्रयोग सोनभिज्ञतया वा साधनदोषस्य स्यात्, तद्दोषप्रदर्शनार्थं वा प्रसङ्गव्याजेन, इत्यप्यसमीचीनम्; साधनाभासप्रयोगे जातिप्रयोगस्य उद्योतकरेण निराकरणात्।

जातिवादी च साधनाभासमेतदिति प्रतिपद्यते वा, न वा ? यदि प्रतिपद्यते; तर्हि य एवास्य साधना भासत्व हेतुदोषोऽनेन प्रतिपन्न स एव वक्तव्यो न जाति, प्रयोजनाभावात्। प्रसङ्गव्याजेन दोषप्रदर्शनार्थं सा, इत्यप्ययुक्तम्, अनर्थसशयात्। यदि हि परप्रयुक्ताया जातौ साधनाभासवादी

वायु] है उसके अभाव होने पर भी यदि शब्द की अनुपलब्धि मानी जाय तो फिर शब्द का कभी सद्भाव ही नही होगा।

यह नैयायिक और वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित जातियो का लक्षण अयुक्त है, इसतरह दोष उपस्थित करना तो साधनाभास [हेत्वाभास] मे भी है उसमे भी साधर्म्यादि द्वारा दोष दिया जाता है इसलिये साधनाभास को भी जातिपने का प्रसग आयेगा।

नैयायिक-वैशेपिक-साधनाभास को जाति कहना इष्ट है अतः कोई आपत्ति नही। इसीको दिखाते है-वादी द्वारा असत् हेतु का प्रयोग करने पर प्रतिवादी जो जातियो का प्रयोग करता है वह हेतु के दोष का ज्ञान न होने से करता है। अथवा उक्त हेतु के दोष दिखाने के लिये जातियो का प्रयोग करता है, या कोई प्रसग के छल से जाति प्रयोग करता है।

जैन—यह कथन असमीचीन है। आपके यहा उद्योतकर ग्रन्थकार ने साधनाभास के प्रयुक्त होने पर जाति का प्रयोग करना निपिद्ध किया है।

दूसरी बात यह है कि जातिवादी पूर्व पक्ष रखने वाले वादी के हेतु को "यह हेत्वाभास है" ऐसा जानता है या नही जानता ? यदि जानता है तो इस वादी के हेतु मे जो असिद्धादि हेतु इसके द्वारा ज्ञात हुआ है उसी दोष को देना चाहिए, जाति दोष को नही, जाति दोष उपस्थित करने मे कोई प्रयोजन ही नही।

यौग—कोई प्रसंग देख छल से दोष का प्रदर्शन करने के लिये जाति का प्रयोग होता है।

स्वप्रयुक्तसाधनदोष पश्यन्, सभायामेव ब्रूयात् 'मया प्रयुक्ते साधनेऽय दोपः स चानेन नोद्भावितः, जातिस्तु प्रयुक्ता' इति तदा तावज्जातिवादिनो न जयः प्रयोजनम्, उभयोरज्ञानसिद्धेः। नापि साम्यम्, सर्वथा जयस्यासम्भवे तस्याभिप्रेतत्वात् "ऐकान्तिक पराजयाद्वर सन्देह" [ ] इत्यभिधानात्। तदप्रयोगेपि चैतत्समानम्–पूर्वपक्षवादिनो हि साधनाभासाभिधाने प्रतिवादिनश्च तूष्णीभावे यत्किञ्चिदभिधाने वा द्वयोरज्ञानप्रसिद्धित प्राश्निकैः साम्यव्यवस्थापनात्। यदा च साधनाभासवादी स्वसाधने दोष प्रच्छाद्य परप्रयुक्ता जातिमेवोद्भावयति तदा न तद्वादिनो जयः साम्य वा प्रयोजनम्, पराजयस्यैव सम्भवात्।

जैन—यह भी अयुक्त है। क्योकि इसतरह से दोष मे सशय बना रहेगा, इसीको बताते है–प्रतिवादी द्वारा जाति का प्रयोग करने पर यदि हेत्वाभास वाले अनुमान को कहने वाला वादी अपने हेतु के दोष को देखकर सभा मे ही कह बैठे कि मेरे द्वारा प्रयुक्त हेतु मे यह दोष है प्रतिवादी ने उसको प्रगट नही किया और जाति का प्रयोग किया इसप्रकार का प्रसग आवे तो इसमे जाति प्रयोग वाले प्रतिवादी का जय होना रूप प्रयोजन सधता नही, क्योकि ऐसे प्रसग मे वादी प्रतिवादी दोनो का अज्ञान ही सिद्ध होता है। ऐसे प्रसग मे दोनो का [वादी प्रतिवादी का] साम्य भी स्वीकृत नही होता, क्योकि सर्वथा जय का असम्भव हो जाय तो दोनो मे साम्य [समानता] माना जाता है। सर्वथा पराजय होने की अपेक्षा सदेह रहना श्रेष्ठ है, अर्थात् वादी प्रतिवादी मे से एक की सर्वथा हार होने की अपेक्षा दोनो के पक्ष प्रतिपक्षो मे सदेह रहना कुछ ठीक है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि प्रतिवादी जाति का प्रयोग न करे तो भी यही उपर्युक्त बात आती है अर्थात् सर्वथा जय किसी का नही होता, इसका विवरण–पूर्व मे पक्ष स्थापित करने वाले वादी ने हेत्वाभास कहा और इस पर प्रतिवादी मौन रहा अथवा जो चाहे बकवासरूप कहा तो इसमे दोनो को [वादी–प्रतिवादी की] अज्ञानता सिद्ध होती है, और प्राश्निक पुरुष [प्रश्नकर्त्ता मध्यस्थ सभ्यजन] दोनो मे समानता स्थापित कर देते है। कदाचित् हेत्वाभास कहने वाला वादी अपने हेतु के दोप छिपाकर प्रतिवादी द्वारा प्रयुक्त जाति को ही प्रगट करता है तब इससे वादी का जय होना या दोनो के कथन मे समानता होना रूप प्रयोजन नही सधता, ऐसे पराजय का प्रसग आयेगा।

अथ साधनाभासमेतदित्यप्रतिपाद्य जातिं प्रयुङ्क्ते; तथाप्यफलस्तत्प्रयोगः प्रोक्तदोषानुषङ्गात्। सम्यक्साधने तु प्रयुक्ते तत्प्रयोगः पराजयायैव। अथ तूष्णीभावे पराजयोऽवश्यंभावी, तत्प्रयोगे तु कदाचिदसदुत्तरेणापि निरुत्तरः स्यात् इत्यैकान्तिकपराजयाद्वर सन्देह इत्यसौ युक्त एवेति चेत्; न; तथाप्यैकान्तिकपराजयस्यानिवार्यत्वात्। यथैव ह्युत्तरपक्षवादिनस्तूष्णीभावे सत्युत्तराऽप्रतिपत्त्या पराजयः प्राश्निकैर्व्यवस्थाप्यते तथा जातिप्रयोगेऽप्युत्तराप्रतिपत्तेरविशेषात्, तत्प्रयोगस्यासदुत्तरत्वेनानुत्तरत्वात्।

ननु चास्य पराजयस्तैर्व्यवस्थाप्येत यद्युत्तराभासत्व पूर्वपक्षवाद्युद्भावयेत्, अन्यथा पर्यनुयो-

---

यौग—वादी ने हेत्वाभास कहा है, उसमे यह तुम्हारा हेतु असत् है अमुक् हेत्वाभास है ऐसा न बतलाकर जाति का प्रयोग प्रतिवादी करे तो भी वादी का हेत्वाभास कहना निष्फल ही है, क्योकि पराजय का प्रसग रूप उक्त दोष इसमे भी आता है। तथा यदि वादी सत् हेतु का प्रयोग करता है तो प्रतिवादी द्वारा प्रयुक्त जाति प्रतिवादी के पराजय ही कारण होगी। बात यह है कि वादी चाहे सम्यक् हेतु कहे चाहे असम्यक्, इसमे प्रतिवादी सर्वथा यदि मौन रहेगा तो उसका पराजय अवश्य हो जायगा, किन्तु यदि प्रतिवादी जाति का प्रयोग करता है तो कदाचित् उस असत् उत्तर द्वारा वादी निरुत्तर होना सभव है, इस रहस्य को ज्ञातकर अथवा बिना ज्ञात किये प्रतिवादी जाति दोष कहता है। "सर्वथा पराजय से सदेह रहना श्रेष्ठ है" इस उक्ति के अनुसार जाति का प्रयोग करना युक्त ही है।

जैन—यह बात ठीक नही है, जाति का प्रयोग करने पर भी आगे जाकर प्रतिवादी का सर्वथा पराजय होने का प्रसग आता है। प्रतिवादी मौन रहने पर जिस प्रकार प्राश्निक पुरुष "प्रतिवादी उत्तर देना अर्थात् समाधान देना जान नही रहा है" ऐसा समझकर उसके पराजय की घोषणा करते हैं, वैसे प्रतिवादी के जाति प्रयोग करने पर भी पराजय की घोषणा करते है, क्योकि जाति प्रयोग करने पर भी प्राश्निक जन निश्चय कर लेते है कि प्रतिवादी उत्तर को जानता नही, जाति प्रयोग द्वारा उत्तर देना तो असत् उत्तर ही है, समीचीन उत्तर नही है।

यौग—प्राश्निक पुरुषो द्वारा प्रतिवादी के पराजय को व्यवस्था तब सम्भव है जब वादी स्वय प्रतिवादी के असत् उत्तर को प्रकाशित करे, अन्यथा "तुम प्रतिवादी

न्योपेक्षणात्तस्यैव पराजयः स्यात् । नन्वेवमुत्तराभासस्योत्तरपक्षवादिनोपन्यासेपि अपरस्योद्भावनश-क्त्यशक्त्यपेक्षया जयपराजयव्यवस्थायामनवस्था स्यात् । न खलु जातिवादिवदस्यापि तूष्णीभाव सम्भवति, सम्यगुत्तराप्रतिपत्तावपि उत्तराभासस्योपन्याससम्भवात् । ततश्चोपन्यस्तजातिस्वरूपस्यतोऽन्यस्य चोद्भावनेपि उत्तरपक्षवादिनस्तत्परिहारे शक्तिमशक्तिं चापेक्ष्यैव पूर्वपक्षवादिनो जयः पराजयो वा व्यवस्थाप्येत जातिवादिन इवेतरस्योद्भावनशक्त्यशक्त्यपेक्ष इति । जातिलक्षणासदुत्तरप्रयोगादेव तत्परिहाराशक्तिनिश्चयात् पुनरुपन्यासवैफल्ये सत्साधनाभिधानादेवोत्तराभासत्वोद्भावनशक्तेरध्यवसायाद् इतरस्यापि कथं तद्वैफल्यं न स्यात् ? सत्साधनाभिधानात्तदभिधानसामर्थ्यमेवास्यावसीयते न

ने जाति का प्रयोग किया है" इसप्रकार के प्रश्न की उपेक्षा कर देने के कारण वादी का ही पराजय होवेगा ।

जैन—प्रतिवादी द्वारा उत्तराभास [असत् उत्तर] स्वरूप जाति के करने पर भी यदि वादी उस दोष को प्रकाशित करने की शक्ति रखता है तो जय और उक्त शक्ति नही रखता तो पराजय इसतरह की जय पराजय की व्यवस्था करने पर तो अनवस्था होगी । जाति को कहने वाले प्रतिवादी के समान वादी भी मौन रह सकता है, तथा वादी सम्यक् उत्तर को नही जाने तो उत्तराभास असत्व उत्तर को भी दे सकता है । तिस कारण से अन्य के उपस्थित किये गये जाति स्वरूप का उद्भावन करने पर भी प्राश्निकजन प्रतिवादी द्वारा उसका परिहार किये जाने की शक्ति है या नही है इसप्रकार की अपेक्षा लेकर ही वादी के जय या पराजय की व्यवस्था कर सकेंगे ? क्योकि जैसे पहले जाति का प्रयोग करने वाले प्रतिवादी की शक्ति अथवा अशक्ति देखी गयी थी वैसे वादी के भी उक्त दोष को प्रगट करने की शक्ति या अशक्ति अपेक्षित होगी ही ।

यदि कहा जाय कि प्रतिवादी द्वारा जाति लक्षण स्वरूप असत् उत्तर के प्रयोग से ही निश्चित होता है कि प्रतिवादी मे वादी का परिहार अथवा वादी द्वारा प्रयुक्त हेतु का परिहार करने की शक्ति नही है, अत वादी द्वारा पुन असत् उत्तररूप जाति प्रयोग करना व्यर्थ है ? तो फिर वादी द्वारा वास्तविक हेतु के करने से ही निश्चित होता है कि यह वादी प्रतिवादी के असत् उत्तर रूप दोष को प्रकाशित कर सकता है, इसतरह उसके शक्ति का निश्चय होने से प्रतिवादी का जाति प्रयोग किस प्रकार निष्फल या व्यर्थ नही होगा ? अवश्य ही होगा ।

परोपन्यस्तजात्युद्भावनसामर्थ्यम्, तर्हि जातिप्रयोगेप्युत्तराभासवादिनः सम्यगुत्तराभिधानासामर्थ्यमेवावसीयेत न परोद्भावितजातिपरिहारासामर्थ्यम्। ननु सदुत्तराभिधानासामर्थ्यादेवं तत्परिहारासामर्थ्यनिश्चय., तत्सद्भावे हि न सदुत्तराभिधानासामर्थ्यं स्यात्, एवं तर्हि सत्साधनाभिधानसामर्थ्यादेवास्य परोपन्यस्तजात्युद्भावनशक्त्यवसायोस्तु, तदभावे तदभिधानसामर्थ्यायोगात्। सत्साधनाभिधानसमर्थस्यापि कदाचिदऽसदुत्तरेण व्यामोहसम्भवान्न तदुद्भावनसार्थ्यमवश्यभावीति चेत्; तर्हि जातिवादिनः सदुत्तराभिधानासमर्थस्यापि स्वोपन्यस्तपरोद्भावितोत्तराभासपरिहारसामर्थ्यसम्भवात्पुनरुपन्यासश्च—

यौग—वादी निर्दोष हेतु कहता है तो उससे इतना ही ज्ञात होता है कि यह निर्दोष हेतु प्रयोग की सामर्थ्य रखता है, किंतु प्रतिवादी द्वारा प्रयुक्त जाति को प्रकाशित कर सकता है या नही कर सकता इस सामर्थ्य का ज्ञान तो नही हो सकता ?

जैन—तो फिर, प्रतिवादी द्वारा जाति प्रयोग करने पर इतना ही ज्ञात होता है कि यह सम्यक् उत्तर देने मे समर्थ नही है, किंतु इससे यह तो ज्ञात नही होगा कि वादी उक्त जाति का परिहार करने की सामर्थ्य रखता है या नही।

यौग—जाति दोष के परिहार के असमर्थपने का निश्चय तो सत् उत्तर के कथन नही करने से ही हो जायगा, क्योंकि दोष परिहार की शक्ति रहने पर सत् उत्तर के कथन करने की असमर्थता रह नही सकती ?

जैन—अच्छा तो सत् हेतु के कथन की सामर्थ्य से इस वादी के अंदर प्रतिवादी द्वारा कही जाने वाली जाति को प्रगट करने का सामर्थ्य सिद्ध हो जाओ, क्योकि इस सामर्थ्य के बिना वादी सत् हेतु के कथन का सामर्थ्य रख नही सकता।

यौग—वादी सत् हेतु प्रयोग का सामर्थ्य भले ही रखता हो तो भी कदाचित् प्रतिवादी के असत् उत्तर से व्यामोह को प्राप्त हो सकता है, इसलिये वादी मे उक्त जाति को प्रकाशित करने का सामर्थ्य होना अवश्यभावी नही है ?

जैन—तो फिर सत् उत्तर के कथन का असामर्थ्य रखने वाले जाति प्रयोक्ता पुरुष के भी अपने कहे हुए जाति मे पर जो वादी है उसके द्वारा उक्त उत्तराभास का परिहार का सामर्थ्य संभव होने से चतुर्थ जाति की उपस्थिति अपेक्षित होगी। पुनश्च

तुर्थोऽपेक्षणीयः स्यात् । साधनवादिनोपि तत्परिहारनिराकरणाय पञ्चम' । पुनर्जातिवादिनस्तन्निरा-करणयोग्यतावबोधार्थं षष्ठ इत्यनवस्थान स्यात् ।

ननु नाय दोषः पर्यनुयोज्योपेक्षणस्य प्रतिवादिनाऽनुद्भावनात्, 'कस्य पराजयः' इत्यनुयुक्ता' प्राश्निका एव हि पूर्वपक्षवादिनः पर्यनुयोज्योपेक्षणमुद्भावयन्ति । न खलु निग्रहप्राप्तो जातिवादी स्व कौपीन विवृणुयात् । तर्हि जात्यादिप्रयोगमपि त एवोद्भावयन्तु न पुन' पूर्वपक्षवादी । पर्यनुयोज्योपेक्षण ते पूर्वपक्षवादिन एवोद्भावयन्ति न जात्यादिवादिनो जात्यादिप्रयोगमिति महामाध्यस्थ्य तेषा येनैकस्य दोषमुद्भावयन्ति नापरस्येति । तत' पूर्वपक्षवादिन तूष्णीभावादिकमारचयन्तमुत्तराप्रतिपत्तिमुद्भाव-यन्नेव जातिवादी निगृह्णातीत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

सत् हेतु प्रयोक्ता वादी को भी उसके परिहार का निराकरण करने के लिये पचम का उपन्यास करना होगा । फिर जाति वादी जो प्रतिवादी है उसमे उक्त दोष के निराकरण करने की योग्यता जानने के लिये छठी जाति कहनी होगी, इसप्रकार अनवस्था होती चली जायगी ।

यौग—यह अनवस्था दोष नही आता, पर्यनुयोज्य उपेक्षण अर्थात् प्रश्न या शका का प्रसग होने पर भी उसको न उठाना उपेक्षा करना पराजय का अवसर है, इस पर्यनुयोज्य उपेक्षण का प्रतिवादी द्वारा उद्भावित नही किया जाता, किंतु "किसका पराजय हुआ" इसप्रकार सभ्य प्राश्निकको पूछने पर वे पूर्व मे पक्ष स्थापित करने वाले वादी के इस पर्यनुयोज्य उपेक्षण को प्रगट करते है । जाति का प्रयोक्ता स्वय तो अपने गुह्यांग को नही खोलेगा ? अर्थात् मैंने असत् उत्तररूप जाति का प्रयोग किया है तुमने क्यो नही प्रगट किया, ऐसा तो कोई कह नही सकता ।

जैन—ऐसी बात है तो प्राश्निक पुरुष प्रतिवादी के जाति दोष आदि प्रयोग को प्रगट करे, वादी को इसको प्रगट नही करना चाहिए । प्राश्निक जन वादी के प्रश्न करने योग्य प्रसग की उपेक्षा करना रूप पर्यनुयोज्य उपेक्षण का उद्भावन करे, और जाति प्रयोक्ता प्रतिवादी के जाति आदि प्रयोग का उद्भावन नही करे, ऐसा तो उनका यह कोई महामाध्यस्थ होगा, जिससे कि वे एक के दोष को तो प्रकट करे और दूसरे के दोष को न करे । अर्थात् मध्यस्थ प्राश्निक ऐसा नही कर सकते, वे तो जो भी सभा मे असत् प्रलाप करेगा उसी का दोषोद्भावन कर देंगे । अत प्राश्निक जनों

तत्रापि कथम्भूतेनोत्तराप्रतिपत्त्युद्भावनेनासौ विजयते ? किं स्वोपन्यस्तजात्यपरिज्ञानोद्भावनरूपेण, परोद्भावितजात्यन्तरनिराकरणलक्षणेन चो (वा, उ)त्तराप्रतिपत्तिमात्रोद्भावनाऽऽकारेण वा ? तत्राद्यविकल्पे 'अपकर्षसमाऽन्या वा जातिर्मया प्रयुक्तापि न ज्ञातानेन' इत्येव स्वोपन्यस्तजात्यपरिज्ञानमुद्भावयन्नात्मनः सम्यगुत्तराप्रतिपत्तिमसम्बद्धाभिधायित्वं परकीयसाधनसम्यक्त्वं चोद्भावयतीति जात्युपन्यासवैयर्थ्यम्, अवश्यम्भावित्वात्पराजयस्य । परेणाविज्ञातमात्मनो दोषं स्वयमुद्भावयन्नपि न पराजयमास्कन्दतीति चेत्; परेणाविज्ञात स दोष इति कुतोऽवसितम् ? तूष्णीभावादन्यस्य चोद्भावनादिति चेत्, न; वादविस्तरपरिहारार्थत्वात्तस्य । स्ववाग्यन्त्रिता हि वादिनो न विचलिष्यन्तीति

के नियम से माध्यस्थ रहता है ऐसा स्वीकार करने वाले आप यौग को मौन आदि का आचरण करने वाले वादी का प्रतिवादी द्वारा "यह उत्तर देने का ज्ञान नही रखता" इसप्रकार उद्भावन कर निग्रह होता है ऐसा मान्य करना होगा । उसमे भी यह बात है कि जाति प्रयोक्ता प्रतिवादी जो वादी का निग्रह करता है अर्थात् पराजय करता है वह किसप्रकार के उत्तर अप्रतिपत्ति के उद्भावन से विजयी होता है ? अपने द्वारा उपस्थित की गयी जाति का अपरिज्ञान देखकर "इस वादी को जाति का ज्ञान नही" इसप्रकार दोषोद्भावन करके विजयी होता है, किंवा वादी द्वारा उपस्थित की गयी जाति विशेष का निराकरण कर विजयी होता है । अथवा "वादी उत्तर देना जानता नही" इतने दोषोद्भावन मात्र से विजयी होता है ? प्रथम विकल्प माने तो मैंने अपकर्षसमा या अन्य जाति का प्रयोग किया तो भी इस वादी ने जाना नही । ऐसा अपने उपस्थित किये जाति के अपरिज्ञान का उद्भावन प्रतिवादी यदि करता है तो स्वमुख से ही सम्यग् उत्तर का अज्ञानरूप असम्बद्ध कथन को प्रगट कर रहा है एव पर जो वादी है उसके हेतु के समीचीनता को प्रगट कर रहा है । इसतरह प्रथम ही स्वमुख से बकवास करने पर तो जाति की उपस्थिति व्यर्थ है, क्योकि इसमे पराजय होना अवश्यभावी है ।

यौग—वादी द्वारा अज्ञात ऐसे अपने दोष को स्वय प्रतिवादी यदि प्रगट कर देवे तो भी प्रतिवादी पराजय को प्राप्त नही होता ।

जैन—वादी वह दोष नही जानता इस बात का निश्चय किससे होगा ?

यौग—वादी के मौन रहने से या अन्य ही किसी बात को कहने से निश्चय होता है कि इसने उक्त दोष नही जाना ।

स्वयमुद्भावनीय दोप परेणोद्भावयितु तूष्णीभावोऽन्यस्य चोद्भावन नाज्ञानात्। स्वयमुद्भाविते हि दोषे जात्यादिवादी तत्परिहारार्थं किञ्चिदन्यद्ब्रूयादिति न वादावसान स्यात्। परस्याऽज्ञानमाहात्म्य-ख्यापनार्थं वा; पश्यतैवविधमस्याज्ञानमाहात्म्यं येन स्वयमेव स्वदोपकलापमस्मत्साधनस्य सम्यक्त्व चोद्भावयतीति। एव साध्येन पूर्वपक्षवादिना प्रत्यवस्थिते किमत्र जातिवादी ब्रूयात्—'जातिर्मया प्रयुक्तापि न ज्ञातानेनेति वचनादुत्तरकालमनेनावसितो दोषकलापो न प्राक्, अतोऽज्ञानेनैव प्रतिवादिना तूष्णीभूतमन्यद्वोद्भावितम्' इति। अत्रापि शपथ. शरणम्। ननु यदि नाम जानतैव पूर्वपक्षवादिना तूष्णीभूतमन्यद्वोद्भावितं तथापि तेन सदुत्तरानभिधानात्कथ नास्य पराजय स्यात्? तदेतज्जाति-

---

जैन—यह बात नही है, मौन रहना या अन्य कुछ कहना तो वादी इसलिये करता है कि वाद का अब अधिक विस्तार न हो। क्योकि स्ववचन का नियत्रण करने वाले वादीगण होते हैं वे विचलित नही होते, अत स्वय प्रकट करने योग्य दोष को पर के द्वारा प्रकट कराने के लिये मौन रहते हैं या अन्य बात को कहते है, अज्ञान के कारण मौन नही रहते। दूसरी बात यह है कि यदि वादी स्वय उक्त दोष को प्रकट कर लेवे तो भी जाति प्रयोक्ता प्रतिवादी उसका परिहार करने के लिये पुन· कुछ अन्य बोलेगा, और इसतरह वाद का समापन न हो सकेगा। वादी इसलिये भी मौन रहता है कि जिससे सभ्यजनो को प्रतिवादी के अज्ञान माहात्म्य का पता चले, वे वादी अपने मौन द्वारा सभ्यो को यह जतलाया करते है कि देखो इस प्रतिवादी की अज्ञानता, जो अपने मुख से अपने दोष को और मेरे हेतु के वास्तविकपने को प्रगट कर रहा है। इसप्रकार साध्य को प्रथम बार कहने वाले वादी द्वारा प्रतिवादी का अज्ञान प्रकट करने पर उक्त प्रतिवादी क्या बोलेगा "मैंने जाति प्रयोग किया तो भी इसने नही जाना" ऐसा जब मैंने स्वय कहा तब इस वादी ने दोषकलाप जाना, पहले तो कुछ समझा ही नही, ऐसा तो प्रतिवादी कहेगा नही, और जब कुछ कहेगा नही तो यही समझा जायगा कि अज्ञान के कारण प्रतिवादी मौन है या अन्य कुछ का कुछ [1]कह रहा है। इसमे भी शपथ शरण है अर्थात् इस तरीके से कुछ निर्णय नही होगा।

यौग—यदि पूर्व पक्षवादी दोष को जानते हुए मौन रहे या अन्य बात कहे, तो इसने सत् उत्तर तो दिया ही नही अत इसका पराजय कैसे नही होगा?

---

१ टिप्पण—यहा सस्कृत मे पाठ अपूर्ण या अशुद्ध प्रतीत होता है।

वादिनो जात्युपन्यासेपि समान जातीनां दूषणाभासत्वात् । तस्मान्न स्वोपन्यस्तजात्यपरिज्ञानोद्भावन-रूपेणोत्तराऽप्रतिपत्त्युद्भावनेन तूष्णीभूतमन्यद्वोद्भावयन्तमितर निगृह्णाति ।

द्वितीयविकल्पे स्वोपन्यस्ता जातिः कथ परोद्भावितजात्यन्तररूपा न भवतीति वादिनेतरः प्रतिपाद्यते ? न तावत्स्वोपन्यस्तजातिस्वरूपानुवादेन, यथा नेयमुत्कर्षसमा जातिरपकर्षसमत्वादस्या इति; प्रथमपक्षोदितदोषप्रसङ्गात् । नाप्यनुपलम्भात्; अनुपलम्भमात्रस्याप्रमाणत्वात् । अनुपलम्भ-विशेषस्यापि स्वोपन्यस्तजातिस्वरूपोपलम्भलक्षणत्वात्, तत्र चोक्तदोषप्रसङ्गात् । तन्न जातिवादी जात्यन्तरमुद्भावयन्त प्रतिवादिन तदुद्भावितजात्यन्तरनिराकरणलक्षणेनोत्तराप्रतिपत्त्युद्भावनेन विजयते ।

नाप्युत्तराप्रतिपत्तिमात्रोद्भावनरूपेण; 'त्वया न ज्ञातमुत्तरम्' इत्युत्तराप्रतिपत्तिमात्रोद्भावने

जैन—यह बात तो जाति वादी के द्वारा जाति के उपस्थित करने पर भी समान रूप से होगी, क्योकि जातिया तो दूषणाभास स्वरूप ही है । इसलिये स्व उपन्यस्त जाति का अपरिज्ञान प्रगट करना रूप उत्तर अप्रतिपत्ति के उद्भावन द्वारा मौन से या अन्य कुछ कहते हुए प्रतिवादी का निग्रह नही करता है ।

द्वितीय विकल्प–वादी द्वारा उद्भावित की गयी जाति विशेष का निराकरण करने से प्रतिवादी विजयी होता है ऐसा माने तो इसमे प्रश्न उठता है कि अपने द्वारा उपस्थित की गयी जाति पर द्वारा उद्भावित जाति विशेषरूप नही होती है ऐसा वादी द्वारा प्रतिवादी को किसप्रकार समझाया जायेगा ? अपने उपन्यस्त जाति का स्वरूप बतलाकर तो समझा नही सकता, क्योकि यह उत्कर्षसमाजाति नही है यह तो अपकर्षसमाजातिरूप है, इसतरह यह प्रथमपक्ष मे कहा हुआ उत्तर अप्रतिपत्तिरूप दोप ही हुआ । अनुपलभ से भी समझा सकता है क्योकि अनुपलंभसामान्य अप्रमाण-स्वरूप है और अनुपलभविशेष भी अपनी उपन्यस्ताजाति स्वरूप उपलभ वाला होने-से उसमे वही उत्तर अप्रतिपत्ति दोष का प्रसंग होगा, अतः प्रथम बार जाति का प्रयोग करनेवाला जातिवादी अन्य जातिविशेष के प्रयोक्ता प्रतिवादी को उसके जाति विशेष का निराकरण करनारूप उत्तर अप्रतिपत्ति से जीत नही सकता यह निश्चित हुआ ।

तीसरा विकल्प–उत्तर अप्रतिपत्ति मात्र का उद्भावन करके भी विजयी नही हो सकता, क्योकि प्रतिवादी यदि कहेगा कि तुमने उत्तर को नही जाना, तो इस

हि पूर्वपक्षवादिनस्तद्विशेपविपय. प्रश्नोऽवश्यभावी 'मया तावदुत्तरमुपन्यस्तमेतच्च कथमनुत्तरम्' इति । जातिवादिना चास्योत्तराप्रतिपत्तिर्विशेषेणोद्भावनीया 'मयोपन्यस्ताप्येषा जातिस्त्वया न ज्ञाता ज्ञात्यन्तर चोद्भावितम्' इति । अत्र च प्रागुक्ताशेषदोषानुषङ्ग । तदेवमुत्तराऽप्रतिपत्त्युद्भावनत्रयेपि जातिवादिन· पराजयस्यैकान्तिकत्वात् 'ऐकान्तिकपराजयाद्वर सन्देह.' इति जानन्नपि जात्यादिक प्रयुङ्क्ते इत्येतद्वचो नैयायिकस्यानैयायिकतामाविर्भावयेत् । ततः स्वपक्षसिद्धयैव जयस्तदसिद्ध्या तु पराजय , न तु मिथ्योत्तरलक्षणजातिशतैरपीति ।

नापि निग्रहस्थानैः । तेषा हि "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्" [न्यायसू० १।२।१९]

उत्तर अप्रतिपत्ति मात्र का उद्भावन करने पर पूर्वपक्षवादी उसके विषय मे अवश्य ही प्रश्न करेगा कि मैंने तो उत्तर उपस्थित किया है, उसको अनुत्तर कैसे कहते हो ? इसप्रसग मे जातिवादी को तो इसके उत्तर अप्रतिपत्ति का विशेपरूप से उद्भावन करना पडेगा कि मैने यह अमुक जाति उपस्थिति की थी तुमने उसे जाना नही और अन्य जाति का उद्भावन किया । इसप्रकार के वार्त्तालाप मे पुनः वही पूर्वोक्त अशेष दोष आते है । इसतरह उत्तर अप्रतिपत्ति के उद्भावन करने के तीन तरीके होनेपर भी जातिवादी का सर्वथा पराजय का प्रसग दिखाई देता है, और "ऐकान्तिक पराजय से सदेहास्पद रहना श्रेष्ठ है" ऐसा जानते हुए भी जाति आदि प्रयोग किया जाना माने तो यह कथन नैयायिक के अनैयायिकपने को ही प्रगट करता है, अर्थात् सर्वथा पराजय का प्रसग आने की अपेक्षा वाद का विषय सशयित श्रेष्ठ है ऐसा नैयायिक स्वय स्वीकार करते है और सर्वथा पराजय का कारण स्वरूप जाति का प्रयोग भी मान्य करते है, यह तो उनके अनैयायिकता [न्याय की अज्ञानता] का द्योतक है ।

यहा तक यौग विशेप करके नैयायिक द्वारा प्रतिपादित असत् उत्तर स्वरूप चौबीस जातियो का पूर्वपक्ष सहित कथन कर निराकरण कर दिया है । अत मे आचार्य कहते है कि उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हुआ कि जाति प्रयोग से जय पराजय व्यवस्था नही होती, अत अपने पक्ष के सिद्धि से ही जय होता है और स्वपक्ष सिद्ध न होने से पराजय होता है । मिथ्या उत्तररूप सैकडो जाति द्वारा भी यह व्यवस्था नही हो सकती ।

नैयायिक द्वारा प्रतिपादित निग्रहस्थानो द्वारा भी जय पराजय की व्यवस्था सम्भव नही है । आगे इन्हीका विस्तृत विवेचन करते हैं । उन निग्रहस्थानो का

इति सामान्यलक्षणम् । विपरीता कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽनारम्भः, पक्षमभ्युपगम्य तस्याऽस्थापना, परेण स्थापितस्य वाऽप्रतिषेधः, प्रतिषिद्धस्य चाऽनुद्धार इति । प्रतिज्ञाहान्यादिर्व्यक्तिगत तु विशेषलक्षणम् ।

तत्र प्रतिज्ञाहानेस्तावल्लक्षणम्–"प्रतिदृष्टान्तधर्म्य(र्मा)नुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः" [न्यायसू० ५।२।२] "साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थितः प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽनुजानन् प्रतिज्ञा जहातीति प्रतिज्ञाहानिः। यथा 'अनित्यः शब्द ऐन्द्रियिकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते पर प्रत्यवतिष्ठते–सामान्यमैन्द्रियिक नित्य दृष्टम्, कस्मान्न तथा शब्दोपि ? इत्येव स्वप्रयुक्तस्य हेतोराभासतामवस्यन्नपि कथावसानमकृत्वा प्रतिज्ञात्याग करोति–यद्यैन्द्रियिक सामान्य नित्य कामं घटोपि नित्योस्त्विति । न (स) खल्वयं ससाधनस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्व प्रसजन्निगमनान्तमेव पक्षं जहाति । पक्ष च परित्यजन्-

---

सामान्य लक्षण गौतम के न्यायसूत्र मे इसप्रकार है–विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति को निग्रहस्थान कहते है । विपरीत अथवा कुत्सित प्रतिपत्ति होना [समझ] विप्रतिपत्ति है और जिसका प्रारम्भ करना हो उसका प्रारम्भ न करना अप्रतिपत्ति है, अर्थात् पक्ष को स्वीकार कर उसको उपस्थित नही करना या पर के द्वारा स्थापित पक्षका निषेध नही करना अथवा पर के द्वारा अपना पक्ष निषिद्ध करने पर उसका पुनः परिहार नही करना निग्रहस्थान है, यह निग्रहस्थानो का सामान्य लक्षण हुआ । इन निग्रहस्थानो का प्रतिज्ञाहानि आदि रूप विशेष लक्षण भी प्रतिपादित किया गया है ।

प्रथम प्रतिज्ञाहानि का लक्षण बतलाते है–अपने दृष्टांत मे प्रतिदृष्टांत [पर के दृष्टात] के धर्म को स्वीकार करना प्रतिहानि नामका निग्रहस्थान है [साध्यधर्म और धर्मी अर्थात् पक्ष के समुदाय को प्रतिज्ञा कहते है उसकी हानि करना प्रतिज्ञाहानि है] जब प्रतिवादी वादी के साध्यधर्म से विपरीत धर्म द्वारा प्रश्न करता है तब वादी प्रतिदृष्टात के धर्म को अपने दृष्टात मे स्वीकार कर प्रतिज्ञा को छोड बैठता है, यही प्रतिज्ञाहानि है । जैसे "शब्द अनित्य है इन्द्रियग्राह्य होने से घट के समान" इस प्रकार वादी के कहने पर प्रतिवादी प्रश्न उपस्थित करता है कि सामान्य नामा पदार्थ इन्द्रियग्राह्य होने पर भी नित्य देखा जाता है, उसप्रकार शब्द भी नित्य क्यो नही है ? ऐसा प्रश्न होने पर वादी अपने हेतु के असत्पने को जानते हुए भी वाद को समाप्त न कर प्रतिज्ञा को त्याग देता है कि यदि इन्द्रियग्राह्य सामान्य नित्य है तो घट भी नित्य हो जाओ । सो यह वादी साधन सहित दृष्टात को नित्यरूप स्वीकार कर

प्रतिज्ञा जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात्पक्षस्य" [न्यायभा० ५।२।२]।

इति भाष्यकारमतमसङ्गतमेव, साक्षाद्दृष्टान्तहानिरूपत्वात्तस्यास्तत्रैव साध्यधर्मपरित्यागात्। परम्परया तु हेतूपनयनिगम नाना त्याग, दृष्टान्तासाधुत्वे तेषामप्यसाधुत्वात्। तथा च 'प्रतिज्ञाहानिरेव' इत्यसङ्गतम्।

वार्त्तिककारस्त्वेवमाचष्टे-"दृष्टश्चासावन्ते स्थितश्चेति दृष्टान्तः पक्षः स्वपक्ष., प्रतिदृष्टान्तः, प्रतिपक्षः। प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञा जहाति। यदि सामान्यमैन्द्रियिक नित्य शब्दोप्येवमस्त्विति।" [न्यायवा० ५।२।२]

तदेतदप्युद्द्योतकरस्य जाड्यमाविष्करोति, इत्थमेव प्रतिज्ञाहानेरवधारयितुमशक्यत्वात्। प्रतिपक्षसिद्धिमन्तरेण च कस्यचिन्निग्रहाधिकरणत्वायोगात्। न खलु प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनु-

---

निगमन [प्रतिज्ञा को दुहराना निगमन है] तक पक्ष को ही छोड बैठता है। और पक्ष को छोड देने से प्रतिज्ञा को त्यागता है ऐसा कहा जाता है, क्योकि पक्ष प्रतिज्ञा के आश्रयरूप है।

गौतम के न्याय सूत्र पर भाष्य करने वाले पडित का उपर्युक्त मत असगत ही है, उक्त निग्रहस्थान साक्षात् रूप से तो दृष्टातहानिरूप है, क्योकि दृष्टात मे ही साध्यधर्म का त्याग किया गया है। और परम्परारूप से हेतु, उपनय और निगमन का त्याग किया है, क्योकि दृष्टात के असत् होने पर हेतु आदि भी असत् होते हैं। अत प्रतिहानि निग्रहस्थान मे प्रतिज्ञाहानि ही हुई ऐसा कहना असगत है।

न्याय सूत्र पर वार्तिक लिखने वाले उद्योतकर वार्तिककार इसप्रकार कहते है-अन्ते दृष्ट., अन्ते स्थित. वा दृष्टात जो अत मे दिखे या स्थित होवे सो दृष्टात कहलाता है, इससे पक्ष और स्वपक्ष लेना, प्रतिपक्ष को प्रतिदृष्टात कहते हैं। वादी प्रतिपक्ष के धर्मको अपने पक्ष मे स्वीकार कर प्रतिज्ञा को छोड़ देता है, वह कहता है कि यदि इन्द्रियग्राह्य सामान्य नित्य है तो शब्द भी इसप्रकार होवे।

उद्योत कर पंडित का यह कथन भी उनके अज्ञान को प्रगट कर रहा है क्योकि इसीप्रकार से ही प्रतिज्ञा की हानि होती है अन्यथा नही ऐसा अवधारण करना अशक्य है। तथा प्रतिपक्ष की सिद्धि हुए बिना किसी का निग्रह करना भी नही

जानत एव प्रतिज्ञात्यागो येनायमेक एव प्रकार प्रतिज्ञाहानौ स्यात्। अधिक्षेपादिभिराकुलीभावात् प्रकृत्या सभाभीरुत्वादऽन्यमनस्कत्वादेर्वा निमित्तात्किञ्चित्साध्यत्वेन प्रतिज्ञाय तद्विपरीत प्रतिजानतोऽप्युपलम्भात् पुरुषभ्रान्तेरनेककारणत्वोपपत्तेरिति।

तथा "प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम्।" [न्यायसू० ५।२।३] प्रतिज्ञातार्थस्य'ऽनित्य' शब्द इत्यादेरैन्द्रियिकत्वाख्यस्य हेतोर्व्यभिचारोपदर्शनेन प्रतिषेधे कृते त दोषमनुद्धरन् धर्मविकल्प करोति 'किमय शब्दोऽसर्वगतो घटवत्, किं वा सर्वगत सामान्यवत्' इति। यद्यसर्वगतो घटवत्, तर्हि तद्वदेवानित्योऽस्त्वित्येतत्प्रतिज्ञान्तर नाम निग्रहस्थान सामर्थ्याऽपरिज्ञानात्। स हि पूर्वस्या 'अनित्य' शब्दः' इति प्रतिज्ञायाः साधनायोत्तराम् 'असर्वगतः शब्दोऽनित्यः' इति प्रतिज्ञामाह। न च प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरसाधने समर्थाऽतिप्रसङ्गात्।

बनता। दूसरी बात यह है कि प्रतिपक्ष के धर्म को अपने पक्ष मे स्वीकार करनेवाले के ही प्रतिज्ञा का त्याग होता हो सो बात नही है, जिससे कि प्रतिज्ञाहानि मे यही एक प्रकार दिखाया जाय। प्रतिज्ञाहानि को छोड देने के अनेक प्रकार सभव है, देखिये प्रतिपक्षी पुरुष द्वारा तिरस्कृत होने से आकुलित होकर वादी प्रतिज्ञा को छोड बैठता है, अथवा स्वभावत सभाभीरु होने से या अन्यमनस्क [अन्यत्र मन के जाने से] किवा अन्य किसी निमित्त से किसी एक धर्म को साध्यरूप से स्वीकार कर पुन उससे विपरीत धर्म को मानते हुए देखा गया है, पुरुष को भ्रान्ति होने के तो अनेक कारण हुआ करते है।

प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ का प्रतिषेध होने पर धर्म का भेद करके अर्थ निर्देश करना प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान है, जैसे वादी ने "शब्द अनित्य है इन्द्रियग्राह्य होने से ऐसा प्रतिज्ञा वाक्य कहा, अब प्रतिवादी इन्द्रियग्राह्यत्व हेतु मे व्यभिचार दोष दिखाकर उसका खडन करता है उस समय वादी उस व्यभिचार दोष को तो हटाता नही और धर्म मे [साध्यधर्म मे] भेद करता है वह प्रतिवादी से कहता है—यह शब्द क्या घट के समान असर्वगत है, या सामान्य के समान सर्वगत है ? यदि घट के समान असर्वगत है तो उसी घट के समान अनित्य भी होवे। इसतरह प्रतिज्ञा को पलट देना प्रतिज्ञान्तर नामा निग्रहस्थान है, सामर्थ्य का ज्ञान न होने से वादी ऐसा कर बैठता है, क्योकि वादी पहले तो शब्द अनित्य है ऐसी प्रतिज्ञा करता है और उस प्रतिज्ञा को साधने के लिये "असर्वगत शब्द अनित्य है" ऐसी दूसरी प्रतिज्ञा कहता है किन्तु प्रतिज्ञा अन्य प्रतिज्ञा को सिद्ध करने मे समर्थ नही होती है। इससे तो अतिप्रसग आता है।

इत्यप्येतेनैव प्रत्युक्तम्; प्रतिज्ञाहानिवत्तस्याप्यनेकनिमित्तत्वोपपत्तेः। प्रतिज्ञाहानितश्चास्य कथ भेद. पक्षत्यागस्योभयत्राऽविशेषात् ? यथैव हि प्रतिदृष्टान्तधर्मस्य स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुज्ञानात्पक्षत्यागस्तथा प्रतिज्ञान्तरादपि। यथा च स्वपक्षसिद्ध्यर्थं प्रतिज्ञान्तरं विधीयते तथा शब्दाऽनित्यत्वसिद्ध्यर्थम्, भ्रान्तिवशात्तद्वच्छब्दोपि नित्योस्त्वित्यभ्यनुज्ञानम्। यथा चाभ्रान्तस्येद विरुध्यते तथा प्रतिज्ञान्तरमपि। निमित्तभेदाच्च तद्भेदेऽनिष्टनिग्रहस्थानान्तराणामप्यनुषङ्ग स्यात्। तेषा तत्रान्तर्भावे वा प्रतिज्ञान्तरस्यापि प्रतिज्ञाहानावन्तर्भाव स्यादिति।

"प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध प्रतिज्ञाविरोध" [न्यायसू० ५।२।४] यथा गुणव्यतिरिक्त द्रव्य रूपादिभ्यो भेदेनानुपलब्धे। इत्यप्यसुन्दरम्, यतो हेतुना प्रतिज्ञाया प्रतिज्ञात्वे निरस्ते प्रकारान्तरत प्रतिज्ञाहानिरेवेयमुक्ता स्यात, हेतुर्दोषो वात्र विरुद्धतालक्षण, न प्रतिज्ञादोष इति।

नैयायिक के इस दूसरे निग्रहस्थान का निरसन भी पूर्वोक्त रीत्या हो जाता है, क्योकि प्रतिज्ञाहानि के जैसे अनेक निमित्त है वैसे इस प्रतिज्ञान्तर के भी अनेक निमित्त सभव है। तथा प्रतिज्ञाहानि से प्रतिज्ञान्तर को भिन्न भी कैसे मान सकते हैं, क्योकि दोनो मे भी पक्षत्याग होना समान है, देखिये, प्रतिदृष्टांत के धर्म को अपने दृष्टात मे स्वीकार करने से जैसे पक्ष का त्याग हो जाता है वैसे प्रतिज्ञान्तर से भी पक्ष का त्याग होता है। वादी जिसतरह अपने पक्ष की सिद्धि के लिये प्रतिज्ञान्तर करता है उसतरह शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिये भ्रमवश सामान्य के समान शब्द भी नित्य होवे ऐसा मान बैठता है। जैसे अभ्रान्त व्यक्ति अपने स्वीकृत प्रतिज्ञा की हानि नही करता वैसे ही अभ्रान्त पुरुष प्रतिज्ञान्तर भी नही करता, मतलब यह है कि अभ्रान्त के तो ऐसा कथन नही होता। इसप्रकार प्रतिज्ञाहानि और प्रतिज्ञान्तर ये निग्रहस्थान एक ही है भिन्न नही है। यदि निमित्त के भेद से इनमे भेद माने तो आप नैयायिक को अन्य बहुत से अनिष्ट निग्रहस्थान स्वीकार करने होगे। अन्य निग्रहस्थानो को प्रतिज्ञाहानि आदि मे अन्तर्भूत किया जाता है ऐसा कहो तो प्रतिज्ञान्तर का भी प्रतिज्ञाहानि मे अन्तर्भाव करना चाहिये। तीसरा निग्रहस्थान—प्रतिज्ञा का और हेतु का विरोध होना प्रतिज्ञाविरोधनामा निग्रहस्थान है, जैसे द्रव्य गुणो से भिन्न हुआ करता है क्योकि रूपादि गुणो की भेदरूप से अनुपलब्धि है ऐसा अनुमान प्रयोग करना, इसमे प्रतिज्ञा मे तो कहा द्रव्य गुणो से भिन्न होना है, और हेतु दिया रूपादि गुणो की भेदरूप से अनुपलब्धि है, यह परस्पर विरुद्ध है। किंतु ऐसा

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासन्यासः ।" [न्यायसू० ५।२।५] यथा 'अनित्यः शब्द ऐन्द्रियिकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते पूर्ववत्सामान्येनानैकान्तिकत्वे हेतोरुद्भाविते प्रतिज्ञासन्यास करोति-क एवमाह 'नित्य (अनित्य) शब्दः' ? इत्यपि प्रतिज्ञाहानितो न भिद्यते हेतोरनैकान्तिकत्वोपलम्भेनात्रापि प्रतिज्ञायाः परित्यागाविशेषादिति ।

"अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ।" [न्यायसू० ५।२।६] निदर्शनम्- 'एकप्रकृतीदं व्यक्तं विकाराणां परिमाणान्मृत्पूर्वकघटशरावोदञ्चनादिवत्' इत्यस्य व्यभिचारेण प्रत्यवस्थानम्-नानाप्रकृतीनामेकप्रकृतीनां दृष्टं परिमाणमित्यस्य हेतोरहेतुत्वं निश्चित्य 'एकप्रकृति-समन्वये विकाराणां परिमाणात्' इत्याह । तदिदमविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषं ब्रुवतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानम् ।

निग्रहस्थान पूर्वोक्त निग्रहस्थान से पृथक् नही है क्योकि हेतु द्वारा प्रतिज्ञा का प्रतिज्ञापना खडित होना प्रकारान्तर से प्रतिज्ञाहानि ही है उसीको प्रतिज्ञा विरोध नाम से कहा, अथवा यह विरुद्ध हेत्वाभास नामा हेतुदोष है न कि प्रतिज्ञादोष है ।

चौथा निग्रहस्थान—पक्ष का प्रतिषेध हो जाने पर प्रतिज्ञा के अर्थ को हटा देना प्रतिज्ञा सन्यास निग्रहस्थान है । जैसे शब्द अनित्य है इन्द्रियग्राह्य होने से घट के समान, ऐसे वादी के कथन करने पर प्रतिवादी पूर्ववत् सामान्य के साथ हेतु का अनैकान्तिक दोप प्रगट कर देता है तब वादी प्रतिज्ञा का सन्यास अर्थात् त्याग करता है कि शब्द अनित्य है ऐसा किसने कहा ? इत्यादि । सो यह निग्रहस्थान भी प्रतिज्ञा हानि से भिन्न नही, इसमे भी हेतु को अनैकान्तिकरूप से उपलब्धि होने के कारण प्रतिज्ञा का त्याग समानरूप से है ।

अविशेषरूप कहे हुए हेतु का खडन होने पर विशेषहेतु का कथन करना हेत्वन्तर नामा पांचवाँ निग्रहस्थान है, यह व्यक्तरूप महदादि कार्य एक प्रकृतिरूप है, क्योंकि विकार अर्थात् वस्तु भेदो का परिमाण है, जैसे मिट्टीपूर्वक होने वाले घट, शराव, उदचन [पानी सीचने का पात्र] आदि कार्य एक मिट्टीरूप है, ऐसा किसी साख्यमती वादी ने कहा, इसमे प्रतिवादी व्यभिचार देता है—नाना प्रकृतिरूप और एक प्रकृतिरूप दोनो मे ही परिमाण देखा जाता है अतः वस्तु भेदो का परिमाण होने से ऐसा हेतु अहेतु है वास्तविक हेतु नही है, इस दोष के देने पर पुनः वादी हेतु मे

इत्यप्यसुन्दरम्, एव सत्यविशेषोक्ते दृष्टान्तोपनयनिगमने प्रतिषिद्धे विशेपमिच्छतो दृष्टाता-द्यन्तरमपि निग्रहस्थानान्तरमनुषज्येत तत्राक्षेपसमाधानाना समानत्वादिति ।

"प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बन्धार्थमर्थान्तरम् ।" [न्यायसू० ५।२।७] यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहे हेतुत साध्यसिद्धौ प्रकृताया प्रकृत हेतु प्रमाणसामर्थ्येनाहमसमर्थः समर्थयितुमित्यवस्यन्नपि कथामपरित्यजन्नर्थान्तरमुपन्यस्यति–नित्य शब्दोऽस्पर्शवत्वादिति हेतु । हेतुश्च हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्त पदम्, [पद] च नामाख्यातोपसर्गनिपाता इति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचष्टे ।

विशेषण बढाता है कि एक प्रकृतिरूप कारण से अनुस्यूत होने पर वस्तु भेदो का परिमाण है । सो इसतरह अविशेषरूप कहे हुए हेतु के निषिद्ध होने पर विशेषहेतु को कहना हेत्वन्तरनामा निग्रहस्थान है ।

यह निग्रहस्थान का वर्णन भी असत् है, इसतरह का निग्रहस्थान माने तो अविशेषरूप दृष्टात, अविशेपरूप उपनय, या निगमन के प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी उनका प्रतिषेध करता है और वादी पुन विशेषता चाहता हुआ दृष्टान्तान्तर आदि को कहता है ऐसे ऐसे अनेकानेक निग्रहस्थान बन बैठेगे, यदि उसमे आप नैयायिक कुछ आक्षेप उठायेगे तो वे आक्षेप आपके हेत्वान्तर मे घटित होगे, तथा जो समाधान आप देंगे वे ही इन दृष्टातान्तर आदि मे घटित होवेगे ।

छठा निग्रहस्थान–प्रकृत जो अर्थ है उससे असम्बद्ध अर्थ को कहते बैठना अर्थान्तर नामा निग्रहस्थान है, जैसे वादी ने पहले अनुमान प्रयोग किया कि शब्द अनित्य है इद्रियग्राह्य होने से, इस पर प्रतिवादी सामान्य इन्द्रियग्राह्य होने पर भी नित्य है, इत्यादि दोष उपस्थित करता है तब वादी साध्यसिद्धि मे प्रकृतहेतु को प्रमाण की सामर्थ्य द्वारा समर्थन करने के लिये मैं समर्थ नही हू ऐसा जानता हुआ भी वाद को नही छोड़ता और अन्य अर्थ को उपस्थित करता है कि शब्द नित्य है, अस्पर्शवान् होने से, तथा हेतु शब्द की निष्पत्ति करने लगता है–'हेतुः' यह कृदत पद है इसमे हिनोति धातु और तु प्रत्यय है । अथवा नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि का प्रकरण लेकर उनको कहने लग जाता है, वह सबका सब अर्थान्तर निग्रह स्थान है ।

तदेतदप्यर्थान्तर निग्रहस्थान समर्थे साधने दूषणे वा प्रोक्ते निग्रहाय कल्प्येत, असमर्थे वा ? न तावत्समर्थे, स्वसाध्य प्रसाध्य नृत्यतोपि दोषाभावाल्लोकवत् । असमर्थेपि प्रतिवादिन. पक्षसिद्धौ तन्निग्रहाय स्यात्, असिद्धौ वा ? प्रथमपक्षे तत्पक्षसिद्ध्यैवास्य निग्रहो न स्वतो निग्रहस्थानात् । द्वितीय पक्षेप्यतो न निग्रह पक्षसिद्धे रुभयोरप्यभावादिति ।

"वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ।" [न्यायसू० ५।२।८] यथाऽनित्यः शब्दो जबगडदशत्वात् झभघढधष्वत् । इत्यपि सर्वथार्थशून्यत्वान्निग्रहाय कल्प्येत, साध्यानुपयोगाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्त:; सर्वथार्थशून्यस्य शब्दस्यैवासम्भवात् । वर्णक्रमनिर्देशस्याप्यनुकार्येणार्थनार्थवत्त्वोपपत्त : । द्वितीयविकल्पे तु सर्वमेव निग्रहस्थान निरर्थक स्यात्, साध्यसिद्धावनुपयोगित्वाविशेषात् । केनचिद्विशेष-

---

अर्थान्तर निग्रहस्थान का निरसन—इस निग्रहस्थान के विषय मे प्रश्न है कि अर्थान्तर निग्रहस्थान समर्थ साधन या दूषण के कहने पर निग्रह के लिये माना जाता है या असमर्थ साधन वा दूषण कहने पर निग्रह के लिये माना जाता है ? समर्थ साधन या दूषण के प्रयोग मे तो निग्रह हो नही सकता क्योकि अपने साध्य को सिद्ध करके दिखा देने के बाद प्रवादी चाहे नृत्य भी करे तो उसमे दोष नही है, लोक मे भी ऐसा मानते है । यदि असमर्थ साधन या दूषण का प्रयोग किया है तो उसमे दो प्रश्न उठते है कि प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि होने पर उक्त अर्थान्तर वादी का निग्रह करने वाला माना जाता है या पक्ष के असिद्धि होने पर निग्रह माना जाता है ? प्रथम बात कहो तो प्रतिवादी के पक्ष सिद्ध होने के कारण ही वादी का निग्रह हुआ न कि अर्थान्तर निग्रहस्थान से निग्रह हुआ । दूसरी बात कहो तो उक्त अर्थान्तर से निग्रह हो नही सकता, क्योकि अभी वादी प्रतिवादी दोनो के भी पक्ष की सिद्धि हुई नही है ।

सातवा निग्रहस्थान—वर्णक्रम निर्देश से (अर्थात् अर्थ रहित) शब्दो को कहना निरर्थक नाम का निग्रहस्थान है, जैसे—शब्द अनित्य है जबगडदशवाला होने से झभघढधष के समान इसप्रकार का अनुमान कहना । इसमे जैन का प्रश्न है कि जबगडदशत्व हेतु मे प्रयुक्त वर्ण सर्वथा अर्थ शून्य होने से निग्रह माना जाता है, या साध्य मे अनुपयोगी होने से निग्रह माना जाता है ? प्रथम बात अयुक्त है, सर्वथा अर्थशून्य कोई शब्द नही होते । वर्णक्रम निर्देश का भी अर्थ बताया जाने पर अर्थवान् ही होते हैं । दूसरी बात कहो तब तो आपके जितने भी निग्रहस्थान है वे सबके सब निरर्थक निग्रह स्थान स्वरूप ही सिद्ध होते है, क्योकि वे साध्य के सिद्धि मे समानरूप से अनुपयोगी

मात्रेण भेदे वा खात्कृताकम्पहस्तास्फालनकक्षापिहिकादेरपि साध्यसिद्ध्यनुपयोगिनो निग्रहस्थानान्तरत्वानुषङ्ग इति।

'परिषत्प्रतिवादिभ्या त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम्।" [न्यायसू० ५।२।६] अत्रेदमुच्यते–वादिना त्रिरभिहितमपि वाक्य परिषत्प्रतिवादिभ्या मन्दमतित्वादविज्ञातम् गूढाभिधानतो वा, द्रुतोच्चाराद्वा ? प्रथमपक्षे सत्साधनवादिनोऽप्येतन्निग्रहस्थान स्यात्, तत्राप्यनयोर्मन्दमतित्वेनाविज्ञातत्व सम्भवात्। द्वितीयपक्षे तु पत्रवाक्यप्रयोगेऽपि तत्प्रसङ्गो गूढाभिधानतया परिषत्प्रतिवादिनोर्महाप्राज्ञयो-

---

है। यदि किंचित् विशेषता होने मात्र से उनमे भेद माना जाता है तो खकारना, कापना, हाथो को ठोकना, कक्षापिहिका [कक्ष–काख को ढकना] इत्यादिरूप से की गयी वादी के चेष्टाये भी साध्य सिद्धि मे अनुपयोगी होने से निग्रहस्थान मानने होगे। इसतरह बहुत सारे निरर्थक निग्रहस्थान बनेगे। इसलिये निरर्थक निग्रहस्थान से निग्रह करना–पराजय करना असम्भव है।

आठवा निग्रहस्थान–वादी ने तीन बार अनुमान वाक्य कहा तो भी सभ्य पुरुष और प्रतिवादी के द्वारा वह जाना नही जाय तो अविज्ञातार्थ नामा निग्रहस्थान है। इस विषय मे जैन प्रश्न करते है–वादी द्वारा तीन वार वाक्य के कहने पर भी सभ्य और प्रतिवादी द्वारा वह वाक्य अज्ञात रहता है उसमे कारण क्या है सभ्य और प्रतिवादी की बुद्धिमन्द है, अथवा उक्त वाक्य गूढ है, या वादी ने उसे अतिशीघ्रता से बोला है ? बुद्धिमन्द होने से सभ्यादि ने उक्त वाक्यार्थ को नही जाना ऐसा कहो तो, सच्चे हेतु का प्रयोग करने वाले वादी के ऊपर भी यह निग्रहस्थान लागू हो जायगा ? क्योकि उक्त हेतु प्रयोग को भी सभ्य और प्रतिवादी अपने मदबुद्धि के कारण जान नही सकते। गूढता के कारण उक्त वाक्य को नही जाना ऐसी दूसरी बात मानो तो पत्र वाक्य प्रयोग मे उक्त निग्रहस्थान का प्रसग आयेगा क्योकि पत्र द्वारा किये गये वाद मे जो वादी द्वारा पत्र मे लिखित अनुमान वाक्य रहता है वह अत्यन्त गूढ रहता है, उसको सभ्य और प्रतिवादी महाप्राज्ञ होने पर भी कदाचित् जान नही पाते।

नैयायिक–पत्र वाक्य की ऐसी वात है कि कदाचित् सभ्य और प्रतिवादी द्वारा उक्त वाक्य जाना नही जाता तो वादी स्वय उसका व्याख्यान अर्थात् खुलासा कर दिया करता है ?

रप्यविज्ञातत्वोपलम्भात् । अथाभ्यामविज्ञातमप्येतद्वादी व्याचष्टे, गूढोपन्यासमप्यात्मनः स एव व्याचष्टाम् । अव्याख्याने तु जयाभाव एवास्य न पुनर्निग्रहः, परस्य पक्षसिद्धेरभावात् । द्रुतोच्चारेपि अनयोः कथञ्चित् ज्ञान सम्भवत्येव सिद्धान्तद्वयवेदित्वात् । साध्यानुपयोगिनि तु वादिनः प्रलापमात्रे तयोरज्ञान नाविज्ञातार्थं वर्णक्रमनिर्देशवत् । ततो नेदमभि (वि) ज्ञातार्थं निरर्थकाद्भिद्यते इति ।

"पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ।" [न्यायसू० ५।२।१०] यथा दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाऽजिन पललपिण्ड ।

इत्यपि निरर्थकान्न भिद्यते–यथैव हि जबगडदश्त्वादौ वर्णाना नैरर्थक्य तथात्र पदानामिति । यदि पुनः पदनैरर्थक्य वर्णनैरर्थक्यादन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरमभ्युपगम्यते, तर्हि वाक्यनैरर्थक्यस्याप्या-

---

जैन—तो वही बात यहा होवे, अर्थात् वादी ने गूढ वाक्य कहा है और सभ्यादि उसको जान नही रहे तो वादी स्वय उसका अर्थ कह देगा । यदि वादी अपने गूढ वाक्य का अर्थ नही कहता है तो वादी का जय नही होगा, किन्तु इसको निग्रह हुआ नही कहते, क्योकि अभी प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि नही हुई है । शीघ्र उच्चारण के कारण सभ्यादि पुरुष वादी के वाक्यार्थ को नही जानते ऐसा कहना भी जमता नही क्योकि सभ्य और प्रतिवादी को पक्ष प्रतिपक्ष दोनो के सिद्धातों का ज्ञान रहने से उक्त वाक्य का किंचित् अर्थ तो जानेगे ही । वादी यदि साध्य के अनुपयोगी वाक्य का प्रलाप करता है तो यह उनका [वादी को साध्य साधन का अज्ञान है अथवा यह अज्ञान सभ्य और प्रतिवादी का है] अज्ञान है इसे अविज्ञातार्थ नाम नही है, जैसे वर्णक्रम निर्देश मे साध्य के अनुपयोगी वाक्य की बात थी । अत· यह अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान, निरर्थक निग्रहस्थान से पृथक् नही है ।

नौवा निग्रहस्थान–पूर्वापर सबध से रहित वाक्य प्रस्तुत करना अपार्थक निग्रहस्थान है, जैसे दश दाडिम है, छह पुआ, कु डा, बकरे का चर्म, मांसपिंड है ऐसे वाक्य कहना ।

यह भी निरर्थक निग्रहस्थान से पृथक् नही है, जिसतरह जबगडदशत्व आदि हेतु वाक्य मे वर्णो की निरर्थकता है उसतरह दश दाडिम आदि वाक्य मे पदों की निरर्थकता है । यदि पद निरर्थकता को वर्ण निरर्थकता से भिन्न मानकर इसको निग्रहातर माना जाता है तो वाक्य निरर्थकता भी इन दोनो से पृथक् होने से अन्य

स्यामन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरत्व स्यात् । पदवत् पौर्वापर्येण (ण) प्रयुज्यमानाना वाक्यानामप्यनेकधोपलम्भात् ।

"शङ्ख कदल्या कदली च भेर्या तस्या च भेर्यां सुमहद्विमानम् ।

तच्छङ्खभेरीकदलीविमानमुन्मत्तगङ्गप्रतिम बभूव ।।" [ ] इत्यादिवत् । यदि पुन पदनैरर्थक्यमेव वाक्यनैरर्थक्यं पदसमुदायात्मकत्वात्तस्य; तर्हि वर्णनैरर्थक्यमेव पदनैरर्थक्य स्याद्वर्णसमुदायात्मकत्वात्तस्य । वर्णाना सर्वत्र निरर्थकत्वात्पदस्यापि तत्प्रसङ्गश्चेत्, तर्हि पदस्यापि निरर्थकत्वात् तत्समुदायात्मनो वाक्यस्यापि नैरर्थक्यानुषङ्ग । पदार्थापेक्षया पदस्यार्थवत्त्वे वर्णार्थापेक्षया वर्ण-

---

निग्रहस्थान बन बैठेगा, क्योकि पदो के समान ही पूर्वापररूप से प्रयुक्त वाक्य भी अनेक प्रकार से उपलब्ध होते हैं । देखिये, शख केला मे है और केला नगाड़े मे है, उस नगाडे मे अच्छा बड़ा लम्बा चौडा विमान है, वे शख, नगाड़े, केला और विमान जिस देश मे गगा उन्मत्त है उसके समान हो गये । इत्यादि वाक्य पूर्वापर सम्बन्ध बिना प्रयुक्त होते हुए देखे जाते ही हैं । यदि कहा जाय कि पद निरर्थकता ही वाक्य निरर्थकता है क्योकि पद समुदाय ही वाक्य बनता है ? तो फिर वर्ण निरर्थकता ही पद निरर्थकता है क्योकि वर्ण समुदाय ही पद बनता है, ऐसा मानना चाहिये ।

प्रश्न—वर्णो को सर्वत्र [पद और वाक्य मे] निरर्थक मानेगे तो पदको भी निरर्थकता का प्रसग आयेगा ?

उत्तर—तो फिर पद को निरर्थक मानने से उसके समुदाय स्वरूप वाक्य के निरर्थकता भी अवश्य आयेगी ।

यदि कहो कि पदकी अर्थकी अपेक्षा पद मे अर्थवान्पना है, तो वर्ण की अर्थ की अपेक्षा वर्ण मे अर्थवान्पना है ही, जैसे प्रकृति [धातु और लिंग] प्रत्यय [ति, तस् आदि एव सि, औ आदि] आदि के वर्ण स्वय की अपेक्षा अर्थवान् होते हैं । अकेली प्रकृति अथवा अकेला प्रत्यय पद नही बनता है, और न प्रकृति और प्रत्यय मे अनर्थकपना ही है । वर्ण मे अभिव्यक्त अर्थ नही होता अत उनको अनर्थक कहते हैं ऐसा कहो तो पद मे भी अभिव्यक्त अर्थ नही होता इसलिये उसे भी अनर्थक मानना होगा । क्योकि जिसतरह प्रकृति का अर्थ प्रत्यय द्वारा अभिव्यक्त होता है और प्रत्यय

स्यापि तदस्तु प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णवत्। न खलु प्रकृति केवला पद प्रत्ययो वा, नाप्यनयोरनर्थकत्वम्। अभिव्यक्तार्थाभावादनर्थकत्वे पदस्यापि तस्यात् तथैव हि प्रकृत्यर्थः प्रत्येयनाभिव्यज्यते प्रत्ययार्थश्च प्रकृत्या तयो केवलयोरप्रयोगात्, तथा 'देवदत्तस्तिष्ठति' इत्यादिप्रयोगे सुबन्तपदार्थस्य तिङन्तपदेन तिङन्तपदार्थस्य च सुबन्तपदेनाभिव्यक्तेः केवलस्याप्रयोग। पदान्तरापेक्षस्य पदस्य सार्थकत्व प्रकृत्यपेक्षस्य प्रत्ययस्य तदपेक्षस्य च प्रकृत्यादिवर्णस्य समानमिति।

"अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्।" [न्यायसू० ५।२।११] अवयवाना प्रतिज्ञादीना विपर्यासेनाभिधानमप्राप्तकाल नाम निग्रहस्थानम्। इत्यप्यपेशलम्; प्रेक्षावता प्रतिपत्तृणामवयवक्रमनियम विनाप्यर्थप्रतिपत्त्युपलम्भाद्देवदत्तादिवाक्यवत्। ननु यथापशब्दाच्छ्रुताच्छब्दस्मरण ततोऽर्थप्रत्यय इति शब्दादेवार्थप्रत्ययः परम्परया तथा प्रतिज्ञाद्यवयवव्युत्क्रमात् तत्क्रमस्मरण ततो वाक्यार्थप्रत्ययो न

का अर्थ प्रकृति द्वारा अभिव्यक्त होता है इसलिये केवल प्रकृति या केवल प्रत्यय का प्रयोग नही करते, उसतरह देवदत्तस्तिष्ठति–"देवदत्त ठहरता है" इत्यादि प्रयोग में सुवतपद का अर्थ [सि विभक्ति वाला देवदत्त. पद] तिङन्त पद के अर्थ द्वारा [ति विभक्ति वाला तिष्ठति पद] और तिङन्त पद का अर्थ सुबत पद के अर्थ द्वारा अभिव्यक्त होता है, इसलिये केवल पद का प्रयोग नही करते। जो पद अन्य पद की अपेक्षा से युक्त है वह अर्थवान् है ऐसे कहे तो जो प्रत्यय प्रकृति की अपेक्षा से युक्त है अथवा जो प्रकृति प्रत्यय की अपेक्षा से युक्त है ऐसा प्रकृति आदि का वर्ण भी अर्थवान् क्यो नही होगा ? अवश्य होगा। इसतरह अपार्थक नामा निग्रहस्थान की व्यर्थता है।

दसवा निग्रहस्थान—अनुमान के अवयवों को विपरीतरूप से कहना अप्राप्तकाल नामका निग्रह स्थान है। प्रतिज्ञा हेतु आदि अनुमान के अवयव है उनका विपर्यास करके कथन करने से अप्राप्तकाल निग्रहस्थान होता है। सो यह निग्रहस्थान भी अयुक्त है; क्योकि बुद्धिमान् प्रतिवादी आदि को अवयव क्रम का नियम नही होने पर अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, जैसे "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" हे देवदत्त ! गाय को ताड़ो सफेद को दण्ड द्वारा" इस विपरीत पद प्रयुक्त वाक्य का सहज ही अर्थ कर लिया जाता है कि हे देवदत्त सफेद गाय को दण्डे से ताड़ो।

नैयायिक—जिसप्रकार असत्य शब्द के सुनने से पहले सत्य शब्द का स्मरण होता है फिर उस स्मृत शब्द से अर्थ बोध होता है अत परम्परा से शब्द से ही अर्थ

तद्व्युत्क्रमात्; इत्यप्यसारम्, एवंविधप्रतीत्यभावात्। यस्माद्धि शब्दादुच्चरितायत्रार्थे प्रतीति' स एव तस्य वाचको नान्यः, अन्यथा 'शब्दात्तत्क्रमाच्चापशब्दे तद्व्युत्क्रमे च स्मरण ततोऽर्थप्रतीतिः' इत्यपि वक्तु शक्येत। एव शब्दाद्यन्वाख्यानवैयर्थ्यं चेत्; न; एव वादिनोऽनिष्टमात्रापादनात्, अपशब्देपि चान्वाख्यानस्योपलम्भात्। 'संस्कृताच्छब्दात्सत्याद्धर्मोन्यस्मादऽधर्मः' इति नियमे चान्यधर्माधर्मोपाया-

---

बोध हुआ माना जाता है उसीप्रकार प्रतिज्ञा आदि अनुमान के अवयवो को अक्रम से सुनकर पहले उनके क्रम का स्मरण होता है और स्मृत क्रम से वाक्यार्थ का बोध होता है न कि अक्रमिक अवयवो से ?

जैन—यह कथन असार है, इसतरह की प्रतीति नही होती है, उच्चारण किये गये जिस शब्द से जिस अर्थ मे प्रतीति होती है वही शब्द उस अर्थ का वाचक हुआ करता है, अन्य नही। अन्यथा हम यो भी कह सकते हैं कि शब्द से या उसके क्रम से अपशब्द या व्युत्क्रम का स्मरण होता है फिर उस स्मृत अपशब्दादि से अर्थ बोध होता है।

नैयायिक—इसतरह शब्द से अपशब्द का स्मरण और उससे अर्थ बोध माने तो, शब्दो का अन्वाख्यान करना व्यर्थ सिद्ध होगा, अर्थात् विपरीत क्रम वाले शब्द होने पर या अपशब्द होने पर विद्वान्‌जन उनका क्रमवार व्याख्यान करते हैं श्लोको का अन्वय करके अर्थ बोध कराते है, अपशब्द का सुशब्द द्वारा कथन करते हैं, सो सब व्यर्थ रहेगा ? क्योकि क्रम के बिना या अपशब्द से [अपभ्रंश शब्द से] भी अर्थबोध होना मान लिया।

जैन—ऐसा नही है यहां केवल वादी के अनिष्ट का कथन करने की बात है। दूसरी बात यह भी है कि अपशब्द का भी अन्वाख्यान देखा जाता है। यदि आप कहें कि संस्कृत शब्द से धर्म होता है अन्य शब्द से नही अत अपशब्द का–अपभ्रंश का अन्वाख्यान होता ही नही, सो यह संस्कृत सत्यभूत शब्द से धर्म और अन्य शब्द से अधर्म होने का नियम स्वीकार करे तो इज्या [पूजा] अध्ययन आदि एव व्यसन आदि अन्य अन्य धर्म अधर्म के उपायो का अनुष्ठान व्यर्थ ठहरेगा। अर्थात् केवल संस्कृत शब्दोच्चारण से धर्म [पुण्य] होता है तो पूजा, तपस्यादि परिश्रम व्यर्थ है। तथा धर्म

नुष्ठानवैयर्थ्यम् । धर्माधर्मयोश्चाप्रतिनियमप्रसङ्गः; अधार्मिके धार्मिके च तच्छब्ददोपलम्भात् । भवतु वा तत्क्रमादर्थप्रतीतिः, तथाप्यर्थप्रत्ययः क्रमेण स्थितो येन वाक्येन व्युत्क्रम्यते तन्निरर्थकं न त्वऽप्राप्तकालमिति ।

"शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ।" [न्यायसू० ५।२।१४] तत्रार्थपुनरुक्तमेवोपपन्नं न शब्दपुनरुक्तम्; अर्थभेदेशब्दसाम्येप्यस्याऽसम्भवात्

"हसति हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति,
कृतपरिकर स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति ।
गुणसमुदित दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति,
धनलवपरिक्रीत यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ।"

[वादन्यायपृ० १११]

अधर्म में प्रतिनियम भी नही बन पायेगा, क्योकि धार्मिक पुरुष और अधार्मिक पुरुष दोनो मे संस्कृत [तथा अन्य] शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है । दुर्जन सतोप न्याय से मान भी लेवे कि शब्द के क्रम से अर्थबोध होता है, तो भी जिस वाक्य का क्रम से उच्चारण करने पर ही अर्थबोध होता हो उसका क्रम भग–विपरीत क्रम होना सदोप है किन्तु यह तो निरर्थक नामा दोष या निग्रहस्थान कहलायेगा न कि अप्राप्तकाल निग्रहस्थान । इसप्रकार अप्राप्तकाल निग्रहस्थान का निग्रह आचार्य ने कर दिया ।

ग्यारहवा निग्रहस्थान—अनुवाद को छोडकर अन्य वाद आदि मे शब्द या अर्थ का पुन प्रतिपादन करना पुनरुक्तनामा निग्रहस्थान है । इस पुनरुक्त के विषय मे हमारा [जैन का] कहना है कि अर्थ को पुन कहना ही पुनरुक्त दोप है शब्द को पुनः कहना पुनरुक्त दोष नही है, देखा जाता है कि शब्दो का साम्य होता है किंतु उनका अर्थ भिन्न भिन्न होता है अतः शब्दो को पुनः कहने मे पुनरुक्त दोष मानना असभव है । शब्दो की पुनरुक्तता का सुन्दर श्लोक प्रस्तुत करते है–हसति हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति, कृतपरिकर स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति । गुणसमुदित दोषापेत प्रणिन्दति निन्दति, धनलवपरिक्रीतं यत्र प्रनृत्यति नृत्यति ॥१॥ भृत्य [नौकर] अपने स्वामी के हसने पर तो हसता है, स्वामी के रोने पर रोता है, स्वामी के दौड़ने पर सामान सहित पसीना बहाता हुआ दौडता है, गुणसमुदाययुक्त एवं दोप रहित पुरुप की यदि स्वामी

इत्यादिवत् । तत· स्वेष्टार्थवाचकैस्तैरेवान्यैर्वा शब्दै सत्याः प्रतिपादनीया· । तत्प्रतिपादक-शब्दाना तु सकृत्पुनः पुनर्वाभिधानं निरर्थक न तु पुनरुक्तम् । यद्य(द)प्यर्थापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचन पुनरुक्तमुक्तम् । यथा 'उत्पत्तिधर्मकमनित्यम्' इत्युक्त्वाऽर्थादापन्नस्यार्थस्य योऽभिधायकः शब्दस्तेन स्वशब्देन ब्रूयात् 'नित्यमनुत्पत्तिधर्मकम्' इति । तदपि प्रतिपन्नार्थप्रतिपादकत्वेन वैयर्थ्यान्निग्रहस्थान नान्यथा । तथा चेद निरर्थकान्न विशेष्येतेति ।

"विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याऽप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ।" [न्यायसू० ५।२।१६] अप्रत्युच्चारयन्किमाश्रय परपक्षप्रतिषेध ब्रूयात् ? इत्यत्रापि किं सर्वस्य वादिनोक्तस्याननुभाषणम्,

---

निंदा करता है तो यह भी निंदा करता है, एव धनाश द्वारा खरीदे हुए यत्र स्वरूप यह भृत्य स्वामी के नृत्य करने पर स्वय नृत्य करने लगता है । इसमे "हसति हसति" इत्यादि शब्द पुन पुन कहे हैं तो भी अर्थ भिन्न होने से पुनरुक्त दोष नही माना जाता है । तिसकारण से अपने इष्ट अर्थो को कहने वाले उन्ही शब्दो द्वारा या अन्य शब्दो द्वारा सत्यार्थो का प्रतिपादन करना युक्त है । उक्त अर्थ के प्रतिपादन हो चुकने पर, उनके प्रतिपादक शब्दो का एक बार या पुन पुन कोई व्यक्ति कथन करता है तो वह निरर्थक दोष होगा न कि पुनरुक्त दोष । अर्थापत्ति से प्राप्त हुए अर्थ का स्वशब्द से पुन कहना पुनरुक्तता है, जैसे किसी वादी ने कहा कि "उत्पत्ति धर्मवाला अनित्य होता है" ऐसा कहकर अर्थापत्ति से प्राप्त अर्थ को कहनेवाला जो शब्द है उस स्वशब्द से बोलता है कि नित्य अनुत्पत्ति धर्मवाला होता है, यहा पर वादी ने उत्पत्ति धर्मवाला अनित्य होता है ऐसा कहा था इसीसे नित्य अनुत्पत्ति धर्मवाला होना सिद्ध हो जाता था फिर भी वादी ने उसे कहा, ऐसे प्रसग पर जो पुनरुक्तत्व कहा जाता है वह ज्ञात अर्थ का प्रतिपादक होने से व्यर्थता के कारण निग्रहस्थान कहा जायेगा अन्य प्रकार से नही । अर्थात् उपर्युक्त उदाहरण मे पुनरक्त के कारण निग्रहस्थान नही हुआ है, व्यर्थता के कारण हुआ है, और यह व्यर्थता निरर्थक से कोई पृथक् सिद्ध नही होती ।

बारहवां निग्रहस्थान—वादी द्वारा तीन बार जिसको कह दिया है एव जिसका अर्थ सभ्यजन जान चुके है उसके विषय मे प्रतिवादी कुछ भी न बोले तो वह अननुभाषणनामा निग्रहस्थान होता है । जब प्रतिवादी कुछ भी प्रतिपक्ष रूप कथन नही करेगा तो वादी के पक्ष का निरसन किस आश्रय से करेगा ? अत उसका यह अननुभाषण

किं वा यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्येति ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; परोक्तमशेषमप्रत्युच्चारयतोपि दूषणवचनाऽव्याघातात् । यथा 'सर्वमनित्य सत्त्वात्' इत्युक्ते 'सत्त्वात् इत्यय हेतुर्विरुद्धः' इति हेतुमेवोच्चार्य विरुद्धतोद्भाव्यते-'क्षणक्षयाद्येकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेः' इति, समर्थ्यते च, तावता च परोक्तहेतोर्दूषणात्किमन्योच्चारणेन ? अतो यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्यैवाऽप्रत्युच्चारणमननुभाषणं प्रतिपत्तव्यम् । अथैवं दूषयितुमसमर्थः शास्त्रार्थपरिज्ञानविशेषविकलत्वात्, तदाऽयमुत्तराऽप्रतिपत्तेरेव तिरस्क्रियते न पुनरननुभाषणादिति ।

"अविज्ञात चाज्ञानम् ।" [न्यायसू० ५।२।१७] विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना यदविज्ञात

निग्रहस्थान होता है । अननुभाषण के इस लक्षण मे हम जैन पूछते है कि वादी के कहे हुए प्रतिज्ञा हेतु आदि अवयवो स्वरूप सम्पूर्ण वाक्य का निरसन नही करने रूप अननुभाषण कहलाता है किंवा जिसके बिना साध्यसिद्धि न हो ऐसे विषय मे नही बोलना रूप अननुभाषण कहलाता है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, परवादी द्वारा प्रयुक्त सम्पूर्ण वाक्य का निरसनरूप कथन नही करे तो भी दूषण देना रूप वचन कह देने से कोई व्याघात नही है । जैसे सब पदार्थ अनित्य है सत्व होने से, ऐसा वादी के कहने पर यह तुम्हारा "सत्त्वात्" हेतु विरुद्ध है इसतरह केवल हेतु का उच्चारण कर प्रतिवादी उसमे विरुद्धता दिखाता है कि क्षण-क्षयादिरूप ऐकान्तिक पदार्थ मे सर्वथा अर्थक्रिया का विरोध होने से सत्त्व सिद्ध नही होता, अर्थात् क्षणिक पदार्थ मे अर्थक्रिया सभव नही और अर्थक्रिया के अभाव मे क्षणिक पदार्थ का सत्व नही बनता अत. सत्त्व हेतु क्षणिक का विरोधी होने से विरुद्ध हेत्वाभास है, इसप्रकार प्रतिवादी उक्त हेतु मे दोष प्रगट कर उस दोष को भली प्रकार समर्थित कर देता है, और इतने मात्र से ही वादी के हेतु मे दूषण आ जाता है । फिर अन्य पक्ष आदि के निरसन से क्या लाभ ? इसलिये यह कहना चाहिये कि जिसके बिना साध्यसिद्धि न हो उस वाक्य का प्रत्युच्चारणरूप निरसन यदि प्रतिवादी नही करता तो उसका अननुभाषण निग्रहस्थान होता है । यदि पूर्वोक्तरीत्या हेतु के दूषण देने मे प्रतिवादी शास्त्रार्थ का विशेष ज्ञान नही होने से असमर्थ होता है तो उस प्रतिवादी का उत्तर अप्रतिपत्ति [उत्तर को न दे सकना जान नही सकना] निग्रह स्थान से ही तिरस्कार हुआ माना जायगा न कि अननुभाषण से ।

तेरहवा निग्रहस्थान—वादी के वाक्य को प्रतिवादी नही जाने तो वह अज्ञान नामका निग्रहस्थान है । सभ्य पुरुष द्वारा ज्ञात अर्थ को यदि प्रतिवादी नही जानता तो

(न) तदज्ञान नाम निग्रहस्थानम् । अजानन् कस्य प्रतिषेधं ब्रूयात् ? इत्यप्यसारम्, प्रतिज्ञाहान्यादिनिग्रहस्थानाना भेदाभावानुषङ्गात् तत्राप्यज्ञानस्यैव सम्भवात् । तेषा तत्प्रभेदत्वे वा निग्रहस्थानप्रतिनियमाभावप्रसङ्ग परोक्तस्यार्द्धाज्ञानादिभेदेन निग्रहस्थानानेकत्वसम्भवात् ।

"उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ।" [न्यायसू० ५।२।१८] साप्यज्ञानान्न भिद्यत एव ।

"निग्रहप्राप्तस्यानिग्रह पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ।" [न्यायसू० ५।२।२१] पर्यनुयोज्यो हि निग्रहोपपत्त्या चोदनीयस्तस्योपेक्षण 'निग्रहं प्राप्तोसि' इत्यननुयोग एव । एतच्च 'कस्य पराजय' इत्यनुयुक्तया परिषदा वचनीयम् । न खलु निग्रहप्राप्त स्व कौपीन विवृणुयात् । इत्यप्यज्ञानान्न व्यतिरिच्यत एव ।

उसका अज्ञान निग्रहस्थान होगा । क्योकि वादी के वाक्य को जानेगा ही नही तो उसका प्रतिषेध कैसे करेगा ? आचार्य कहते हैं कि नैयायिक का यह निग्रहस्थान भी असार है, इससे तो आपके प्रतिज्ञा हानि आदि निग्रहस्थानो मे कोई भेद ही नही रहेगा, क्योकि उन सबमे भी अज्ञान की ही बहुलता है । यदि प्रतिज्ञा हानि आदि मे अज्ञान समानरूप से होने पर भी उनको अज्ञान नामा निग्रहस्थान से भिन्न माना जाय तो निग्रहस्थानो की सख्या का कोई नियम नही रहेगा फिर तो वादी के वाक्य का अर्द्ध अज्ञान रहना आदि रूप अज्ञान के अनेक भेद होने से अनेक निग्रहस्थान होना सभव है ।

चौदहवा निग्रहस्थान—वादी के अनुमान वाक्य को ज्ञात करके भी समय पर उत्तर नही दे सकना प्रतिवादी का अप्रतिभा नामका निग्रहस्थान है, सो यह भी अज्ञान निग्रहस्थान से भिन्न नही है ।

पन्द्रहवा निग्रहस्थान—जिसका निग्रह प्राप्त था फिर भी उसका निग्रह नही करना पर्यनुयोज्य उपेक्षण नामका निग्रहस्थान है । निग्रह की उपपत्ति से अर्थात् यह तुम्हारा निग्रहस्थान होने से तुम निगृहीत किये जाते हो ऐसा निग्रह प्राप्त वादी या प्रतिवादी को कहना चाहिये था किन्तु उसने उसकी उपेक्षा कर दी अत यह पर्यनुयोज्य उपेक्षण निग्रहस्थान कहलाया । इसमे जैन का कटाक्ष है कि निग्रह प्राप्त वादी या प्रतिवादी जो भी पुरुष है उस निग्रह प्राप्त अन्यतर पुरुष को शेष अन्य पुरुष उपेक्षा करता है तो पुन किसलिये कोई कहेगा कि मेरे निग्रह प्राप्ति की तुमने उपेक्षा की, इत्यादि, यह तो "किसका पराजय हुआ" ऐसा सभ्यजनो को पूछने पर सभ्यो द्वारा

"अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगः।" [न्यायसू० ५।२।२२] तस्याप्यज्ञानात्पृथग्भावोनुपपन्न एव।

"कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेप." [न्यायसू० ५।२।१९] सिसाधयिषितस्यार्थस्याऽशक्यसाध्यतामवसीय कालयापनार्थं यत्कर्त्तव्य व्यासज्य कथा विच्छिनत्ति–इद मे करणीय परिहीयते, तस्मिन्नवसिते पश्चात्कथयिष्यामि। इत्यप्यज्ञानतो नार्थान्तरमिति प्रतिपत्तव्यम्।

"स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा।" [न्यायसू० ५।२।२०] यः परेण चोदितं दोषमनुद्धृत्य ब्रवीति–'भवत्पक्षेप्ययं दोषः समान।' इति, स स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात्परपक्षे दोष प्रसजन् परमतमनुजानातीति मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानमापद्यते। इत्यप्यज्ञानान्न भिद्यते एव।

कहा जाना चाहिए, क्योकि निग्रह प्राप्त व्यक्ति स्वयं अपने कौपीन को नही खोलता है, अतः प्रथम बात यह हुई कि पर्यनुयोज्य उपेक्षण को सभ्यजन कहेगे प्रतिवादी अथवा वादी नही, तथा दूसरी बात यह है कि इसको कोई भी कहे किन्तु अज्ञान निग्रहस्थान से यह पृथक् नही है।

सोलहवां निग्रहस्थान—जो निग्रह का स्थान नही है उसमे निग्रह दोष उठाना निरनुयोज्यानुयोग नामका निग्रहस्थान है। किन्तु यह भी अज्ञान निग्रहस्थान से पृथक् नही होने से सिद्ध नही होता।

सतरहवा निग्रहस्थान—कार्य के व्यासग से कथा–वाद का विच्छेद कर देना विक्षेप नामा निग्रहस्थान है। जिस अर्थ को सिद्ध करने की इच्छा थी उसको उपस्थित करके पुनः वादी देखता है कि इसका सिद्ध होना अशक्य है, काल पूरा करने के लिये जो कर्त्तव्य था उसको गमाकर यह कहकर वादका विच्छेद कर देता है कि मेरा यह अवश्य कार्य नष्ट हो रहा है उसको पूरा करके पीछे इस विषय पर कहूगा। इसप्रकार यह विक्षेप निग्रहस्थान है। आचार्य कहते है कि यह भी अज्ञान निग्रहस्थान से भिन्न नही है।

अठारहवा निग्रहस्थान—अपने पक्ष मे दोष स्वीकार करके पर के पक्ष मे दोष का प्रसग लाना मतानुज्ञा नामका निग्रहस्थान है। जो वादी पर के द्वारा उपस्थित किये दोष को तो दूर करता नही और बोलता है कि तुम्हारे पक्ष मे भी यह दोप समानरूप से मौजूद है। सो यह स्वपक्ष मे दोष को मानकर पर पक्ष में दोष लगाता

अनैकान्तिकता चात्र हेतोः, तथाहि–'तस्करोय पुरुषत्वात्प्रसिद्धतस्करवत्' इत्युक्ते 'त्वमपि तस्कर स्यात्' इति हेतोरनैकान्तिकत्वमेवोक्त स्यात्। स चात्मीयहेतोरात्मनैवानैकान्तिकत्व दृष्ट्वा प्राह–भवत्पक्षेप्यय दोष समान –त्वमपि पुरुषोसि इत्यनैकान्तिकत्वमेवोद्भावयतीति।

"हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्।" [न्यायसू० ५।२।१२] यस्मिन्वाक्ये प्रतिज्ञादीनामन्यतमोऽवयवो न भवति तद्वाक्य हीन नाम निग्रहस्थानम्। साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात्, प्रतिज्ञादीना च पञ्चानामपि साधनत्वात्, इत्यप्यसमीचीनम्, पञ्चावयवप्रयोगमन्तरेणापि साध्यसिद्धे. प्रतिपादितत्वात्, पक्षहेतुवचनमन्तरेणैव तत्सिद्धेरभावात् अतस्तद्धीनमेव न्यूनं निग्रहस्थानमिति।

"हेतूदाहरणाधिकमधिकम्।" [न्यायसू० ५।२।१३] यस्मिन्वाक्ये द्वौ हेतू द्वौ वा दृष्टान्तौ

हुआ परमत को स्वीकारता है, अत. उसको मतानुज्ञा निग्रहस्थान प्राप्त होता है। किंतु यह भी अज्ञान निग्रहस्थान से पृथक् नही है। तथा इसतरह के कथन मे हेतु की अनैकान्तिकता सिद्ध होती है। आगे इसीको दिखाते हैं, यह चोर है पुरुष होने से प्रसिद्ध तस्कर के समान। ऐसा वादी के कहने पर प्रतिवादी यदि कहे कि फिर तुम तस्कर हो, इसतरह पुरुषत्व हेतु की अनैकान्तिकता कही। अब इस पर वादी अपने हेतु मे अपने द्वारा ही अनैकान्तिकता आती देखकर बोलता है कि आपके पक्ष मे भी दोष समान है, तुम भी पुरुष हो, इसतरह वह अनैकान्तिक दोष ही प्रगट कर देता है।

उन्नीसवा निग्रहस्थान—अनुमान के कोई अवयव कम करके कथन करना हीन नामका निग्रहस्थान है। जिस अनुमान वाक्य मे प्रतिज्ञा, हेतु आदि मे से कोई अवयव नही हो तो वह वाक्य हीन निग्रहस्थान कहलायेगा। क्योकि साधन के अभाव मे साध्य की सिद्धि नही होती और प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाचो ही साधन कहलाते है। नैयायिक का यह मतव्य भी असत् है, उक्त पाचो अवयवो के विना केवल दो अवयवो से भी साध्यसिद्धि होती है, हा पक्ष और हेतु इन दो के कथन के बिना तो साध्य की सिद्धि असम्भव है, इसलिये यदि इन दो मे से एक कम कहा जाय तो हीन निग्रहस्थान बन सकता है।

बीसवा निग्रहस्थान—हेतु और उदाहरण को अधिक देना अधिक नामका निग्रहस्थान है। जिस अनुमान वाक्य मे दो हेतु हो अथवा दो दृष्टात दिये हो वह

तदधिक निग्रहस्थानम्, इत्यपि वार्त्तम्; तथाविधाद्वाक्यात्पक्षप्रसिद्धौ पराजयायोगात्। कथ चैवं प्रमाणसप्लवोभ्युपगम्यते? अभ्युपगमे वाधिकत्वान्निग्रहाय जायेत। 'प्रतिपत्तिदार्ढ्य-संवादसिद्धि-प्रयोजनसद्भावान्न निग्रहः' इत्यन्यत्रापि समानम्। हेतुना दृष्टान्तेन वैकेन प्रसाधितेप्यर्थे द्वितीयस्य हेतोर्दृष्टान्तस्य वा नानर्थक्यम्, तत्प्रयोजनसद्भावात्। न चैवमनवस्था; कस्यचित्क्वचिन्निराकाक्षतोपपत्तेः प्रमाणान्तरवत्। कथ चास्य कृतकत्वादौ स्वार्थिककप्रत्ययवचनम्, 'यत्कृतक तदनित्यम्' इति व्याप्तौ यत्तद्वचनम्, वृत्तिपदप्रयोगादेव चार्थप्रतिपत्तौ वाक्यप्रयोगः अधिकत्वान्निग्रहस्थान न स्यात्?

अधिक निग्रहस्थान है। किन्तु यह भी व्यर्थ का निग्रहस्थान है। इसप्रकार के दो हेतु आदि वाले अनुमान वाक्य से यदि पक्ष सिद्ध होता है तो पराजय कथमपि नही होगा। दूसरी बात यह है कि इसतरह अधिक हेतु आदि का प्रयोग करना निषिद्ध मानोगे तो प्रमाण-संप्लव किस तरह स्वीकृत होगा? [एक प्रमाण के विषय मे अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति होना प्रमाण संप्लव कहलाता है, एकस्मिन् प्रमाण विषये प्रमाणान्तर वर्त्तन प्रमाणसप्लवः] यदि स्वीकृत है तो वह अधिक होने से निग्रह के लिये कारण बन जायगा।

नैयायिक—प्रमाण सप्लव मानने मे निग्रह का प्रसग नही होता, क्योकि इससे प्रतिपत्ति मे दृढता आती है एव सवाद [समर्थन] सिद्ध होता है?

जैन—यह बात अधिक हेतु आदि मे भी समान है। देखिये-एक हेतु या दृष्टात द्वारा साध्यसिद्ध होने पर भी दूसरा हेतु या दृष्टात देना व्यर्थ नही जाता, क्योकि द्वितीय हेतु आदि के प्रयोग से तो प्रतिपत्ति की दृढता आती है। ऐसा प्रयोग करने से अनवस्था हो जाने की आशका भी नही करना, किसी को किसी वाक्य मे निराकांक्षा हो ही जाती है जैसे प्रमाणान्तर प्रयोग मे हो जाती है। अर्थात् एक ही अनुमान वाक्य मे दूसरे हेतु आदि आयेंगे तो आगे आगे अन्यान्य भी आते रहने से अनवस्था वन बैठेगी ऐसी शका नही करना, क्योकि एक दो हेतु प्रयोग के अनन्तर प्रतिपत्ति की काक्षा समाप्त होती है। जैसे एक प्रमाण के विषय मे अन्य प्रमाण उपस्थित होवे तो आगे दो तीन प्रमाण के अनन्तर अपेक्षा समाप्त होती है अत प्रमाण सप्लव मे अनवस्था नही आती है। अधिक हेतु प्रयोग को निग्रहस्थान वतलाने वाले नैयायिक से हम जैन पूछते है कि, दो हेतु आदि के प्रयोग से निग्रह होता है तो कृतकत्व आदि हेतु पद में स्वार्थिक क प्रत्यय अधिक है, एव जो कृतक होता है वह अनित्य होता है—

तथाविधस्याप्यस्य प्रतिपत्तिविशेषोपायत्वात्तन्नेति चेत्, कथमनेकस्य हेतोर्दृष्टान्तस्य वा तदुपायभूतस्य वचन निग्रहाधिकरणम् ? निरर्थकस्य तु वचनं निरर्थकत्वादेव निग्रहस्थानं नाधिकत्वादिति ।

"सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्त. ।" [न्यायसू० ५।२।२३] प्रतिज्ञातार्थपरित्यागान्निग्रहस्थानम् । यथा नित्यानऽभ्युपेत्य शब्दादीन् पुनरनित्यान् ब्रूते । इत्यपि प्रतिवादिनः प्रतिपक्षसाधने सत्येव निग्रहस्थान नान्यथा ।

"हेत्वाभासाश्च यथोक्ता. ।" [न्यायसू० ५।२।२४] असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययाप-

---

"यत् कृतक तद् अनित्यं" इसप्रकार व्याप्ति दिखाने मे यत् और तत् शब्द अधिक है, यहां पर समासान्त पद के प्रयोग से ही अर्थ की प्रतिपत्ति होना सम्भव है अतः वाक्य प्रयोग करना अधिक होने से निग्रहस्थान कैसे नही होगा ? अवश्य ही होगा ।

नैयायिक—कृतकत्व आदि हेतु पद मे क प्रत्यय अधिक होने पर या यत् तत् शब्द अधिक होने पर भी वे शब्द प्रतिपत्ति विशेष के उपायभूत है अत. निग्रहस्थान नही कहलाते ?

जैन—तो फिर अनेक हेतु या दृष्टात भी प्रतिपत्ति विशेष के उपाय होने से निग्रहस्थान कैसे कहला सकते है ? हा यदि निरर्थक ही दो हेतु आदि प्रयुक्त होवे तो निरर्थक के कारण निग्रहस्थान बना न कि अधिकता के कारण ।

इक्कीसवा निग्रहस्थान—सिद्धात को स्वीकार कर पुन उसके अनियम से कथा [वाद] करना अपसिद्धात निग्रहस्थान है, अर्थात् अपने स्वीकृत आगम से विरुद्ध साध्य को सिद्ध करना अपसिद्धात कहलाता है, इसमे प्रतिज्ञात अर्थ का त्याग होने से निग्रह होता है । जैसे शब्दो को नित्य स्वीकार कर पुनः अनित्य कहने लगना । सो यह निग्रहस्थान भी प्रतिवादी के प्रतिपक्ष के सिद्ध होने पर ही उपयोगी है अन्यथा नही ।

बाईसवा निग्रहस्थान—हेत्वाभास का प्रयोग करना हेत्वाभास निग्रहस्थान है, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट, और प्रकरणसम ये पाच हेत्वाभास हैं, इनका अनुमान मे प्रवेश हो तो हेत्वाभास निग्रहस्थान बनता है । इनमे हमारा कहना है कि विरुद्ध हेत्वाभास के प्रगट होने पर प्रतिपक्ष की सिद्धि होती है अत. इस हेत्वा-

दिष्टप्रकरणसमा निग्रहस्थानम् । इत्यत्रापि विरुद्धहेतूद्भावने प्रतिपक्षसिद्धेर्निग्रहाधिकरणत्व युक्तम् । असिद्धाद्युद्भावने तु प्रतिवादिना प्रतिपक्षसाधने कृते तद्युक्त नान्यथेति ।

भास को निग्रहस्थान कह सकते है किन्तु असिद्ध आदि हेत्वाभास के प्रगट होने पर भी तदनन्तर यदि प्रतिवादी प्रतिपक्ष की सिद्धि कर देता है तब तो उक्त हेत्वाभास निग्रह-स्थान बन सकते है, अन्यथा नही ।

भावार्थ—यहां तक नैयायिक द्वारा मान्य २२ निग्रहस्थानो का निरसन किया है । चतुरंग [सभ्य, सभापति, वादी और प्रतिवादी] वाद के समय प्रथम पक्ष स्थापित करने वाला वादी यदि एक प्रतिज्ञा को कहकर पुन: उसको छोड देता है या अन्य प्रतिज्ञा करता है, तो वह वादी के पराजय का कारण है, ऐसा नैयायिक का कहना है, किन्तु वह समीचीन नही है प्रतिज्ञा हानि आदि स्वल्प स्वल्प दोप होने मात्र से वादी का पराजय या प्रतिवादी का विजय नही हुआ करता, वादी ने प्रतिज्ञा हानि आदि की और उसको ज्ञातकर प्रतिवादी ने उक्त दोष प्रगट भी कर दिया तो इतने मात्र से प्रतिवादी का विजय नही होगा, इसके लिये तो उसे अपना जो प्रतिपक्ष है उसको सभ्य आदि के आगे सभा मे सिद्ध करना होगा स्वपक्ष सिद्ध होने पर ही प्रतिवादी का जय माना जायगा । इसीप्रकार वादी ने कदाचित् सदोष अनुमान उपस्थित किया है और प्रतिवादी ने उसका प्रकाशन नही किया तो उतने मात्र से जय या पराजय नही हो सकता । तथा सदोप अनुमान वाक्य बोलने के अनेक प्रकार हो सकते है इसलिये नैयायिक का यह आग्रह कि निग्रहस्थान बाईस ही है समीचीन नही है न उन निग्रह-स्थानो द्वारा किसी का जय निश्चित हो सकता है, निग्रहस्थानो के पूर्व नैयायिको ने तीन प्रकार के छल [वाक्छल, सामान्य छल, और उपचार छल] एव चौबीस प्रकार जातियो का निरूपण कर उनके द्वारा उनके प्रयोक्ता वादी या प्रतिवादी का निग्रह होना कहा था, उस प्रकरण मे भी आचार्य ने यही सिद्ध कर दिया कि छल या जाति मात्र से जय पराजय की व्यवस्था नही होती है ।

अत मे यही निर्णय किया है कि वादी प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञा विरोध आदि रूप सदोप वाक्य कहे और प्रतिवादी उनका प्रकाशन करे अथवा नही भी करे तो भी उससे वादी का पराजय नही होगा न प्रतिवादी का जय। इसीप्रकार प्रतिवादी ने वादी

एतेनासाधनाङ्गवचनादि निग्रहस्थान प्रत्युक्तम्; एकस्य स्वपक्षसिद्ध्यैवान्यस्य निग्रहप्रसिद्धेः। ततः स्थितमेतत्—

"स्वपक्षसिद्धेरेकस्य निग्रहोन्यस्य वादिन.।

नासाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावन द्वयोः॥" [ ] इति।

इद चानवस्थितम्—

"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावन द्वयोः।

निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥" [वादन्यापृ० १] इति। अत्र हि स्वपक्ष साधयन्

के पक्ष का निरसन करने के लिये कुछ व्यर्थ का कथन किया निग्रहस्थानरूप वचन बोले तो उतने मात्र से उसका पराजय नही होगा न वादी का जय। जय पराजय की निर्दोष व्यवस्था यह है कि वादी ने सदोष वाक्य कहा और प्रतिवादी ने उसका प्रकाशन किया तथा अपने प्रतिपक्ष को भली प्रकार सभा मे सिद्ध कर दिया है तो प्रतिवादी का जय होगा। तथा वादी ने निर्दोष अनुमान कहा है और तदनन्तर सभा मे स्वपक्ष सिद्ध कर दिया है तो वादी का जय होगा। एक के जय निश्चित होने पर दूसरे का पराजय तो नियम से होगा ही। इसप्रकार स्वपक्ष की सिद्धि पर ही जय का निश्चय होता है अन्यथा नही।

यहा तक नैयायिक मताभिमत बाईस निग्रहस्थानो का निरसन हो चुका, अब आगे बौद्धाभिमत निग्रहस्थानो का सयुक्तिक निराकरण करते हैं।

बौद्ध के द्वारा माने गये निग्रहस्थानो का भी उपर्युक्त रीत्या निरसन हुआ समझना चाहिए, वादी या प्रतिवादी मे से एक के स्वपक्ष का सिद्ध होना ही दूसरे का निग्रह माना जाता है। इसी को अन्यत्र भी कहा है—एक वादी के स्वपक्ष के सिद्धि से अन्य का निग्रह हो जाता है, अतः वादी और प्रतिवादी मे असाधनागवचन और अदोषोद्भावन नाम के निग्रहस्थान मानना अयुक्त है। अत बौद्ध की यह मान्यता कि वादी का असाधनाग वाक्य का कहना ही निग्रहस्थान है एव प्रतिवादी का उक्त वाक्य मे अदोषोद्भावनदोष प्रकट नही करना ही निग्रहस्थान है, बस यही दो निग्रहस्थान स्वीकारने चाहिए, अन्य नैयायिकाभिमत प्रतिज्ञा हानि आदि निग्रहस्थान व्यर्थ के है। इत्यादि सो असिद्ध है। इस विषय मे बौद्ध के प्रति हम जैन प्रश्न करते हैं कि वादी के

वादिप्रतिवादिनोरन्यतरोऽसाधनाङ्गवचनादऽदोषोद्भावनाद्वा पर निगृह्णाति, असाधयन्वा ? प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य पराजयादन्योद्भावन व्यर्थम् । द्वितीयपक्षे तु असाधनाङ्गवचनाद्युद्भावनेपि न कस्यचिज्जयः पक्षसिद्धे रुभयोरभावात् ।

यच्चास्य व्याख्यानम्-"साधन सिद्धि तदङ्ग त्रिरूपं लिङ्गम्, तस्याऽवचन तूष्णीभावो यत्किञ्चिद्भाषणं वा । साधनस्य वा त्रिरूपलिङ्गस्याङ्ग समर्थनम् विपक्षे बाधकप्रमाणदर्शनरूपम्, तस्याऽवचन वादिनो निग्रहस्थानम्" [वादन्यायपृ० ५-६] इति । तत्पञ्चावयवप्रयोगवादिनोपि समानम्-शक्य हि तेनाप्येव वक्तुम्-सिद्ध्यङ्गस्य पञ्चावयवप्रयोगस्यावचनात्सौगतस्य वादिनो

असाधनागवचन के कहने पर प्रतिवादी स्वपक्ष को सिद्ध करते हुए वादी का निग्रह करता है या स्वपक्ष को बिना सिद्ध किये निग्रह करता है ? इसीप्रकार प्रतिवादी के अदोषोद्भावन अर्थात् दोष को प्रगट नही करने पर वादी स्वपक्ष को सिद्ध करते हुए उक्त प्रतिवादी का निग्रह करता है या स्वपक्ष को बिना सिद्ध किये निग्रह करता है ? स्वपक्ष को सिद्ध करते हुए निग्रह करता है ऐसा प्रथम विकल्प माने तो स्वपक्ष के सिद्धि से ही अन्य का पराजय हो चुका अब दूसरे दोप का उद्भावन व्यर्थ है । स्वपक्ष को सिद्ध किये विना ही पर का निगृह करता है ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो असाधनांग-वचन आदि का उद्भावन चाहे कर लेवे तो भी किसी का जय सम्भव नही, क्योकि दोनों के ही पक्ष के सिद्धि का अभाव है ।

आगे बौद्ध के असाधनागवचन निगृहस्थान का पुन. विवेचन करते हैं-सिद्धि को साधन कहते है उस साधन का अग त्रिरूप हेतु है उसका अवचन मौन रहना या जो चाहे बोलना है । अथवा त्रिरूप हेतु का समर्थन करने को अग कहते हैं अर्थात् विपक्ष मे बाधक प्रमाण है हेतु विपक्ष मे नही जाता है इत्यादि दिखाना साधन का अग कहलाता है, उसका अवचन-कथन नही करना असाधनागवचन नामका वादी का निगृहस्थान है । इस बौद्ध मतव्य पर हम जैन का कहना है कि यह व्याख्यान अनुमान के पाच अवयव मानने वाले यौग के भी घटित होगा, यौग कह सकते हैं कि साध्यसिद्धि का कारण पच अवयवो का प्रयोग है बौद्ध उसका कथन नहीं करते अत: बौद्ध प्रवादी का निगृह होता है ।

निग्रहः। ननु चास्य तदवचनेपि न निग्रहः प्रतिज्ञानिगमनयो. पक्षधर्मोपसंहारस्य सामर्थ्याद्गम्यमानत्वात्। गम्यमानयोश्च वचने पुनरुक्तत्वानुषङ्गात्। ननु तत्प्रयोगेपि हेतुप्रयोगमन्तरेण साध्यार्थाप्रसिद्धिः, इत्यप्यपेशलम्, पक्षधर्मोपसहारस्याप्येवमवचनानुपङ्गात्। अथ सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि 'यत्सत्तत्सर्वं क्षणिक यथा घट सश्च शब्द' इति पक्षधर्मोपसंहारस्य वचन हेतोरपक्षधर्मत्वेनासिद्धत्वव्यवच्छेदार्थम्, तर्हि साध्याधारसन्देहापनोदार्थं गम्यमानस्यापि पक्षस्य निगमनस्य च पक्षहतूदाहरणोपनयानामेकार्थत्वप्रदर्शनार्थं वचन किन्न स्यात्? न हि पक्षादीनामेकार्थत्वोपदर्शनमन्तरेण सगतत्व घटते; भिन्नविषयपक्षादिवत्।

ननु प्रतिज्ञात साध्यसिद्धौ हेत्वादिवचनमनर्थकमेव स्यात्, अन्यथा नास्या साधनागतेति चेत्;

शंका—पंच अवयवो का कथन नही करने पर भी निगृह नही होगा, क्योंकि प्रतिज्ञा और निगमन पक्षधर्म के उपसहार की सामर्थ्य से गम्य हो जाते हैं, गम्य होने पर भी उनको कहा जाय तो पुनरुक्तता होगी ?

प्रति शका—प्रतिज्ञा आदि का प्रयोग होने पर भी हेतु प्रयोग बिना तो साध्य अर्थ की असिद्धि ही है ?

समाधान—उपर्युक्त शका प्रति शका अयुक्त है, इसतरह के कथन से तो पक्ष धर्मका उपसहार करना भी असिद्ध होगा। यदि कहा जाय कि पक्षधर्म का उपसहार यद्यपि सामर्थ्य से गम्य है तो भी हेतु के अपक्षधर्मत्व की असिद्धि है अर्थात् अपक्षधर्मत्व के कारण हेतु असिद्ध हेत्वाभास नही है, ऐसा हेतु के अपक्षधर्मत्व का व्यवच्छेद करने के लिये पक्षधर्म का उपसहार करना घटित होता है, तो फिर साध्यधर्म के आधार के विषय मे उत्पन्न हुए सदेह को दूर करने के लिये सामर्थ्य से गम्य होने पर भी पक्ष [प्रतिज्ञा] का प्रयोग एव पक्ष, हेतु, उदाहरण और उपनयो का एकार्थपना दिखाने के लिये निगमन का कथन क्यो नही घटित होगा ? अवश्य होगा। क्योंकि पक्ष हेतु आदि का एकार्थत्व दिखाये बिना उक्त अवयवो की सगति नही बैठती, जैसे कि भिन्न भिन्न विषय वाले पक्ष हेतु की परस्पर सगति नही होती।

बौद्ध—प्रतिज्ञा से साध्य की सिद्धि मानी जाय तो हेतु आदि का कथन व्यर्थ होगा, और यदि प्रतिज्ञा से साध्यसिद्धि नही होती तो उसको साध्यसिद्धि का अग नही मानना चाहिये ?

तर्हि भवतोपि हेतुतः साध्यसिद्धौ दृष्टान्तोनर्थकः स्यात्, अन्यथा नास्य साधनांगतेति समानम् । ननु साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रदर्शनार्थत्वाद् दृष्टान्तो नानर्थक तत्र तदप्रदर्शने हेतोरगमकत्वात्, इत्यप्यसगतम्; सर्वानित्यत्वसाधने सत्त्वादेर्दृष्टान्ताऽसम्भवतोऽगमकत्वानुषगात् । विपक्षव्यावृत्त्या सत्त्वादेर्गमकत्वे वा सर्वत्रापि हेतौ तथैव गमकत्वप्रसगाद् दृष्टान्तोनर्थक एव स्यात् । विपक्षव्यावृत्त्या च हेतु समर्थयन् कथ प्रतिज्ञा प्रतिक्षिपेत् ? तस्याश्चानभिधाने क्व हेतुः साध्य वा वर्त्तेत ? गम्यमाने प्रतिज्ञा-

---

जैन—तो आपके यहा भी हेतु से साध्यसिद्धि होना माना जाता है तो दृष्टात व्यर्थ होगा, तथा हेतु से साध्यसिद्धि नही होती है तो उसको साध्यसिद्धि का अग नही मानना चाहिये ।

बौद्ध—साध्य और साधन की व्याप्ति दिखाने वाला होने से दृष्टांत देना व्यर्थ नही है यदि उक्त साध्य साधन की व्याप्ति दिखायी नही जायगी तो हेतु अगमक अर्थात् साध्य का अज्ञापक बन जायगा ।

जैन—यह असगत है, यदि दृष्टात के बिना हेतु को अगमक माना जायगा तो आपके सुप्रसिद्ध अनुमान का [सर्व क्षणिक सत्त्वात्] सत्त्व नामका हेतु दृष्टात के असम्भव होने से अगमक बन बैठेगा । यदि कहा जाय कि "सर्वं क्षणिक सत्त्वात् सब पदार्थ क्षणिक है–अनित्य है सत्त्वरूप होने से" इस अनुमान में सब पदार्थ पक्ष मे अन्तर्भूत होने से सपक्षरूप दृष्टात कहना अशक्य है तो भी सत्त्व हेतु विपक्ष जो अक्षणिक या नित्य है उससे व्यावृत्त है अत इस विपक्षाद् व्यावृत्तिरूप बल से वह साध्य का गमक बन जाता है, तो इसीप्रकार सभी हेतु साध्य के गमक हो जायेंगे अन्त मे दृष्टांत तो व्यर्थ ठहरता ही है । बडा आश्चर्य है कि आप बौद्ध विपक्ष व्यावृत्ति से हेतु का समर्थन करते हुए भी प्रतिज्ञा का निराकरण किसप्रकार करते है ? यदि प्रतिज्ञा वाक्य न कहा जाय तो हेतु या साध्य कहां पर रहेगा ?

बौद्ध—प्रतिज्ञा तो गम्यमान हुआ करती है उसी मे साध्य तथा हेतु रहते हैं ?

जैन—तो गम्यमान हेतु का समर्थन होना चाहिए न कि कहे जाने पर, अर्थात् हेतु के बिना कहे ही उसका समर्थन आपको करना चाहिए ? हेतु गम्यमान है ही ।

विषये एवेति चेत्; तर्हि गम्यमानस्यैव हेतोरपि समर्थनं स्यान्न तूक्तस्य। अथ गम्यमानस्यापि हेतोर्मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं वचनम्; तथा प्रतिज्ञावचने कोऽपरितोषः ?

यच्चेदम्–'असाधनागम्' इत्यस्य व्याख्यान्तरम्–"साधर्म्येण हेतोर्वचने वैधर्म्यवचनं वैधर्म्येण वा प्रयोगे साधर्म्यवचन गम्यमानत्वात् पुनरुक्तम्। अतो न साधनागम्।" [वादन्यायपृ० ६५] इत्यप्यसाम्प्रतम्, यत सम्यक्साधनसामर्थ्येन स्वपक्ष साधयतो वादिनो निग्रह स्यात्, अप्रसाधयतो वा ? प्रथमपक्षे कथं साध्यसिद्ध्यप्रतिबन्धिवचनाधिक्योपलम्भमात्रेणास्य निग्रहो विरोधात् ? नन्वेव

बौद्ध—यद्यपि हेतु गम्यमान [ज्ञात] है तो भी मदमति के बोध के लिये उसका कथन करते है ?

जैन—इसी तरह प्रतिज्ञा के कथन करने मे आपको क्या असतोप है ? अर्थात् जैसे गम्यमान हुआ भी हेतु मदमति के लिये कहना पडता है वैसे गम्यमान हुई भी प्रतिज्ञा मदमति के लिए कहनी पडती है।

बौद्ध के यहा "असाधनाग" इस पद का दूसरा व्याख्यान इसतरह है—साधर्म्य द्वारा [साधर्म्य दृष्टात अर्थात् अन्वय दृष्टात द्वारा] हेतु के कथन करने पर पुनः वैधर्म्य का [वैधर्म्य दृष्टात अर्थात् व्यतिरेक दृष्टात का] कथन करना अथवा वैधर्म्य द्वारा [व्यतिरेक दृष्टात द्वारा] हेतु के कथन करने पर पुनः साधर्म्य [अन्वय दृष्टात का] कथन करना पुनरुक्त दोष है क्योकि साधर्म्य वैधर्म्य मे से एक के कथन करने पर दूसरा स्वत गम्य होता है अत उक्त प्रयोग साधन का [साध्यसिद्धि का] अग नही है। सो यह व्याख्यान भी असत् है। इसमे हमारा प्रश्न है कि उक्त पुनरुक्त को आपने असाधनाग कहा वह सम्यक् हेतु की सामर्थ्य से स्वपक्ष को सिद्ध करने वाले वादी के निग्रह का कारण है अथवा स्वपक्ष को सिद्ध नही करने वाले वादी के निग्रह का कारण है ? प्रथम विकल्प कहो तो जो साध्यसिद्धि का प्रतिबंधक [रोकने वाला] नही है ऐसे वचन के अधिक कहने मात्र से वादी का निग्रह होना कैसे शक्य है ? यह तो परस्पर विरोध वाली बात है कि सम्यक् हेतु की सामर्थ्य से पक्ष सिद्ध कर रहा है और उसका निगृह [पराजय] भी किया जा रहा है।

नाटकादिघोषणातोऽप्यस्य निग्रहो न स्यात्, सत्यमेवैतत्, स्वसाध्य प्रसाध्य नृत्यतोपि दोपाभावाल्लोकवत्। अन्यथा ताम्बूलभक्षणभ्रूक्षेपखात्कृताकम्पहस्तास्फालनादिभ्योपिसत्यसाधनवादिनो निग्रह. स्यात्। अथ स्वपक्षमप्रसाधयतोस्य निग्रहः, नन्वत्रापि किं प्रतिवादिना स्वपक्षे साधिते वादिनो वचनाधिक्योपलम्भान्निग्रहो लक्ष्येत, असाधिते वा ? प्रथमविकल्पे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य निग्रहाद्वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकम्, तस्मिन् सत्यपि स्वपक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात्। द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसंगो जयप्रसंगो वा स्यात्स्वपक्षसिद्धेरभावाविशेषात्।

ननु न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात्। साधनवादिना

बौद्ध—साध्यसिद्धि मे अप्रतिबधक किन्तु पुनरुक्त ऐसे वचन को निगृहरूप न माना जाय तो वादी नाटक या घोषणा आदि कर बैठे तो उससे भी उसका निगृह नही कर सकेंगे ?

जैन—ठीक ही तो है, अपने साध्य को सिद्ध करके पीछे नृत्य भी करे तो कोई दोष नही है, लोक मे ऐसा ही देखा गया है। यदि ऐसा न माने तो सत्य साधन प्रयुक्त करने वाले वादी का ताबूल भक्षण करना, भौ चढाना, खकारना, हाथ हिलाना, ताली ठोकना आदि को करने से भी निगृह मानना होगा। दूसरा विकल्प—स्वपक्ष को सिद्ध न करके पुनरुक्तरूप कथन करने से वादी का निगृह होता है, ऐसा माने तो इसमे पुन: प्रश्न है कि वादी के पुनरुक्त प्रतिपादन करने पर प्रतिवादी द्वारा उसका जो निज पक्ष है उसको साधने पर वादी के पुनरुक्तरूप वचनाधिक्य से निगृह किया जाता है या उसके निज पक्ष के साधे बिना ही निगृह किया जाता है ? प्रथम विकल्प कहो तो प्रतिवादी के निज पक्ष की सिद्धि से ही निगृह हुआ, वचनाधिक्य दोष का प्रकाशन तो व्यर्थ ही है, क्योंकि वचनाधिक्य दोष प्रगट कर देने पर भी स्वपक्ष की सिद्धि किये बिना जय होना अशक्य है। दूसरा विकल्प वादी ने अधिक वचन कहा और प्रतिवादी ने स्वपक्ष को सिद्ध किया नही केवल वचनाधिक्य दोष उठाकर निग्रह किया, सो ऐसा माने तो एक साथ वादी प्रतिवादी दोनो के जय या पराजय का प्रसग आ धमकेगा, क्योंकि दोनो के भी अपने निजपक्ष की सिद्धि नही हुई है, इसमे दोनो समान है।

बौद्ध—स्वपक्ष सिद्धि जय का और स्वपक्ष की असिद्धि पराजय का कारण नही है, जय और पराजय का कारण तो क्रमश. ज्ञान और अज्ञान है। साधनवादी का

हि साधु साधन ज्ञात्वा वक्तव्य दूषणवादिना च तद्दूषणम् । तत्र साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यवचनाद्वाऽर्थस्य प्रतिपत्तौ तदुभयवचने वादिन· प्रतिवादिना सभायामसाधनागवचनस्योद्भावनात् साधुसाधनाभिधानाज्ञानसिद्धे पराजय, प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जय स्यात्; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; विकल्पानुपपत्तेः। स हि प्रतिवादी निर्दोषसाधनवादिनो वचनाधिक्यमुद्भावयेत्, साधनाभासवादिनो वा ? तत्राद्यविकल्पे वादिन कथ साधुसाधनाभिधानाऽज्ञानम्, तद्वचनेयत्ताज्ञानस्यैवासम्भवात् ? द्वितीयविकल्पे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवतिष्ठते साधनाभासस्यानुद्भावनात् । तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानाद्दूषणज्ञोसाविति चेत्, साधनाभासाज्ञानाददूषणज्ञोपीति नैकान्ततो वादिन जयेत्, तददोषो-

---

कर्त्तव्य है कि वह अच्छे निर्दोष साधन को जानकर कहे और प्रतिवादी का कर्त्तव्य है कि उक्त साधन के दूषण जानकर दूषण देवे। साधर्म्यवचन से या वैधर्म्यवचन से साध्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है इस पर भी वादी उन दोनो वचनो का प्रयोग करे तो प्रतिवादी द्वारा सभा मे वादी के ऊपर असाधनाग वचन रूप दोष का उद्भावन कर दिया जाने से वादी के सत्य हेतु के कथन का अज्ञान सिद्ध होकर वादी का पराजय स्वीकारा जायगा, और प्रतिवादी ने वादी के साधन के दूषण को ज्ञात किया है अत. उसके तत्सम्बन्धी ज्ञान का निर्णय होने से जय माना जायगा ?

जैन—यह बात अविचारपूर्ण है, इसमे कोई भी प्रश्न हल नही होता, यह बताओ कि निर्दोष हेतु का प्रयोग करने वाले वादी के वचनाधिक्य दोष को प्रतिवादी उठाता है अथवा हेत्वाभास का प्रयोग करने वाले वादी के उक्त दोष उठाता है ? प्रथम पक्ष कहो तो इसमे वादी के सत्य हेतु के कथन का अज्ञान कैसे हुआ ? क्योकि सत्य या साधु हेतु के ज्ञान रखने वाले के उक्त अज्ञान असम्भव है। हेत्वाभास कहने वाले वादी के ऊपर वचनाधिक्य दोष उठाया जाता है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो भी ठीक नही, क्योकि इसमे प्रतिवादी के दूषण देने का ज्ञान सिद्ध नही होता, प्रतिवादी को तो हेत्वाभास का प्रयोग करने वाले वादी के हेत्वाभास को प्रगट करना चाहिये था ? वादी के वचनाधिक्य दोष का इसे ज्ञान है अतः यह प्रतिवादी दूषणज्ञ—दूषण का ज्ञाता है ऐसा यदि कहो तो उक्त प्रतिवादी को हेत्वाभास का अज्ञान होने से अदूषणज्ञ कहा जायगा और इसलिये सर्वथा वादी को जीत भी नही सकता, उसके तो अदोषोद्भावन लक्षण वाला पराजय भी सम्भव है।

द्भावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारयितुमशक्तेः। अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकम्, नन्वेव साधनाभासानुद्भावनात्तस्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्यो-द्भावन कथ जयाय प्रकल्प्येत ? अथ वचनाधिक्य साधनाभास चोद्भावयत प्रतिवादिनो जय'; कथमेव साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनं तद्वचने वा साधर्म्यवचन पराजयाय प्रभवेत् ?

कथं चैव वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यं न स्यात् ? क्वचिदेकत्रापि पक्षे साधन-

---

बौद्ध—वचनाधिक्य दोष को प्रगट करने से ही प्रतिवादी का जय सिद्ध हो जाता है अत' साधनाभास दोष को प्रगट करना व्यर्थ है ?

जैन— इसीप्रकार साधनाभास को प्रगट नही करने से उस प्रतिवादी का पराजय सिद्ध होने पर वचनाधिक्य को प्रगट करना जय का कारण किसप्रकार माना जा सकता है ?

बौद्ध—अच्छा तो ऐसा माना जाय कि वचनाधिक्य और साधनाभास इन दोनो का उद्‌भावन–प्रगट करने वाले प्रतिवादी का जय होता है ?

जैन—तो फिर साधर्म्यवचन अर्थात् अन्वय दृष्टांत के कहने पर वैधर्म्यवचन अर्थात् व्यतिरेक दृष्टात देना आपने पराजय का कारण माना है वह किसप्रकार सभव होगा, तथा व्यतिरेक दृष्टात देने पर पुन अन्वय दृष्टात देना भी पराजय का कारण माना है वह भी कैसे सम्भव होगा ? अर्थात् जब यहा आपने स्वीकार कर लिया कि वचनाधिक्य और साधनाभास दोनो को प्रगट करने पर प्रतिवादी का जय होगा सो यह पुनरुक्तता या अधिक बोलना ही होता है और उससे जय होना भी मान लिया है, अत पहले आपने जो कहा था कि साधर्म्य दृष्टात दे चुकने पर पुन. वैधर्म्य दृष्टात का प्रयोग करे तो पुनरुक्तता या वचनाधिक्य होने से पराजय का कारण है इत्यादि, सो यह कैसे बाधित नही होगा ? अवश्य ही होगा क्योकि एक जगह अधिक वचन प्रयोग को पराजय का हेतु कह रहे हो और दूसरी जगह उक्त प्रयोग को जय का हेतु कह रहे हो।

दूसरी बात यह है कि जय का कारण सत्य हेतु प्रयोग का ज्ञान है और पराजय का कारण उक्त हेतु प्रयोग का न जानना रूप अज्ञान है ऐसा माना जाय तो

सामर्थ्यज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात्। न खलु शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा परीक्षायाम् एकस्य साधनसामर्थ्ये ज्ञानमन्यस्य चाज्ञान जयस्य पराजयस्य वा निबन्धन न सम्भवति। युगपत्साधनसामर्थ्यस्य ज्ञानेन वादिप्रतिवादिनोः कस्य जय पराजयो वा स्यात्तदविशेषात् ? न कस्यचिदिति चेत्; तर्हि साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणः साधनसामर्थ्याऽज्ञानसिद्धेः प्रतिवादिनश्च वचनाधिक्यदोषोद्भावनात्तद्दोषमात्रे ज्ञानसिद्धेर्न कस्यचिज्जय पराजयो वा स्यात्। न हि यो यद्दोष वेत्ति स तद्गुणमपि, कुतश्चिन्मारणशक्तिवेदनेपि विषद्रव्यस्य कुष्ठापनयनशक्तौ सवेदनानुदयात्। तन्न तत्सामर्थ्यज्ञानाज्ञाननिबन्धनौ जयपराजयौ शक्यव्यवस्थौ यथोक्तदोषानुषगात्। स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ तु तौ

वादी का पक्ष ग्रहण करना और प्रतिवादी का प्रतिपक्ष ग्रहण करना भी व्यर्थ कैसे नही होगा ? क्योंकि किसी एक के पक्ष ग्रहण पर भी हेतु के सामर्थ्य का ज्ञान और अज्ञान होना सम्भव है ? दूसरे प्रतिपक्ष को काहे को ग्रहण किया जाय ? देखिये शब्द आदि पदार्थ मे जब नित्यत्व या अनित्यत्व की परीक्षा की जाती है तब एक के [वादी के] साधन के सामर्थ्य के विषय मे ज्ञात है वह और उनके [प्रतिवादी के] उक्त विषय मे अज्ञात है वह जय या पराजय का निमित्त नही होता हो सो बात नही है, अर्थात् एक ही विषय मे किसी को ज्ञान और किसी को अज्ञान होना सम्भव ही है। दूसरी बात यह है कि एक साथ वादी और प्रतिवादी दोनो को साधन के सामर्थ्य का ज्ञान भी हो जाय तो उस समय उस ज्ञान के द्वारा दोनो मे से किसका जय और किसका पराजय माना जायगा ? क्योकि वादी प्रतिवादी दोनो मे ज्ञान समान है कोई विशेषता नही है। तुम कहो कि उस समय किसी का भी जय या पराजय नही होगा, तो फिर अधिक वचन को कहने वाला जो साधनवादी है उसके साधन के सामर्थ्य के विषय मे अज्ञान सिद्ध होता है क्योकि उसने अधिक वचन कहा है, तथा प्रतिवादी उक्त वचनाधिक्य दोष को प्रगट करता है उससे दोष के विषयमात्र मे उसका ज्ञान सिद्ध होता है, इस प्रकार के प्रसग मे किसी का जय या पराजय नही हो सकेगा। क्योंकि जो जिस व्यक्ति के दोष को जानता है वह उस व्यक्ति के गुण को भी जानता हो ऐसा नियम नही है, देखा भी जाता है कि किसी निमित्त से विषके मारक शक्ति को [दोष को] ज्ञात कर लेने पर भी उसके कुष्ठरोग को दूर करने की शक्ति को [गुणको] ज्ञात नही कर पाते। इसप्रकार निश्चित होता है कि साधन के सामर्थ्य के विषय मे ज्ञान होने से जय की और उक्त विषय मे अज्ञान होने से पराजय की व्यवस्था करना शक्य नही है, ऐसी व्यवस्था मानने मे उक्त दोष आते है। जय और पराजय की

निरवद्यो पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात् । कस्यचित्कुतश्चित्स्वपक्षसिद्धौ सुनिश्चितायां परस्य तत्सिद्ध्यभावतः सकृज्जयपराजयाप्रसंगात् ।

यच्चेदम्–'अदोषोद्भावनम्' इत्यस्य व्याख्यानम्–"प्रसज्यप्रतिषेधे दोषोद्भावनाऽभावमात्रम-दोषोद्भावनम्, पर्युदासे तु दोषाभासानामन्यदोषाणां चोद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रहस्थानम्"

व्यवस्था तो स्वपक्ष की सिद्धि और असिद्धि के द्वारा ही निर्दोष रीति से सम्पन्न होती है, इस व्यवस्था में पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण करना भी व्यर्थ नही होता है । इस व्यवस्था मे यह भी एक मौलिकता है कि वादी और प्रतिवादी मे से किसी एक पुरुष के किसी निर्दोष हेतु आदि के निमित्त से स्वपक्ष की सिद्धि सुनिश्चित हो जाती है तब शेष परवादी पुरुष के अपने पक्ष की सिद्धि का नियम से अभाव है अत. एक साथ दोनो के जय अथवा पराजय होने का प्रसग नही आता ।

यहा तक बौद्ध के "असाधनागम्" इस पद के व्याख्यान का निरसन किया ।

"अदोषोद्भावनम्" इस पद का उनके यहा व्याख्यान है कि दोषोद्भावनम् "पद मे नञ् समास है न दोषोद्भावनम् इति अदोषोद्भावनम्" इस नञ् का प्रसज्य प्रतिषेध [अत्यन्ताभाव] अर्थ करने पर दोषो के उद्भावन [प्रगट] का अभावमात्र अदोषोद्भावन कहलायेगा और नञ् का पर्युदास निषेध अर्थ करने पर दोषाभासो का तथा अन्य दोषो का उद्भावन करना अदोषोद्भावन कहलायेगा, ऐसा यह अदोषोद्-भावन प्रतिवादी का निग्रहस्थान है । इस व्याख्यान पर हम जैन का कहना है कि यदि वादी सदोष साधन [हेतु] का प्रयोग करता है और फिर भी प्रतिवादी अदोषोद्भावन रूप रहता है तो उसका निग्रहस्थान होगा किन्तु उसमे एक शर्त है यदि वादी स्वपक्ष को सिद्ध कर देगा तो उक्त अदोषोद्भावन प्रतिवादी का निग्रहस्थान बन जायगा, वादी स्वपक्ष को सिद्ध नही करेगा तो निग्रहस्थान नही हो सकता । बौद्ध के वचनाधिक्य दोष का निराकरण तो पहले ही उसके निरसन करते समय हो चुका है । आप बौद्ध जिसप्रकार प्रतिज्ञा आदि अनुमान के पाच अवयवो के प्रयोग करने पर वचनाधिक्य-नामा निग्रहस्थान हो जाना स्वीकारते है, उसीप्रकार यौग प्रतिज्ञा आदि तीन अवयवो के प्रयोग करने पर न्यून नामका निग्रहस्थान हो जाना मानते है, उभयत्र कोई विशेषता नही है । यौग की मान्यता है कि प्रतिज्ञा आदि पाचो भी अनुमान के अंग हैं, प्रतिज्ञा

[　　　　　　　　　　] इति, तद्वादिना दोषवति साधने प्रयुक्ते सत्यनुमतमेव, यदि वादी स्वपक्ष साधयेत्, नान्यथा। वचनाधिक्य तु दोषः प्रागेव प्रतिविहित। यथैव हि पञ्चावयवप्रयोगे वचनाधिक्य निग्रहस्थानम्, तथा त्र्यवयवप्रयोगे न्यूनतापि स्याद्विशेषाभावात्। प्रतिज्ञादीनि हि पञ्चाप्यनुमानागम्—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा" [न्यायसू० १।१।३२] इत्यभिधानात्। तेषा

हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन ये अनुमान के अग या अवयव कहलाते है, इन पाचो मे से किसी को न कहा जाय तो न्यून नामका दोष अवश्य आता है। इसप्रकार बौद्ध के असाधनाग वचन और अदोषोद्भावन निग्रहस्थान का निरसन हो जाता है। नैयायिक के निग्रहस्थानो का निरसन तो पहले कर चुके है। इसलिये जय और पराजय की व्यवस्था का कारण भी माणिक्यनन्दी आचार्य ने "प्रमाणतदाभासौ" इत्यादि सूत्र द्वारा बहुत ही निर्दोषपद्धति से प्रतिपादन किया है। जय पराजय का निर्णय अन्य किसी भी निमित्त से नही हो सकता। आचार्य महाराज अब इस जय पराजय प्रकरण का उपसहार करते हुए कहते है कि नैयायिक आदि प्रवादी छल, जाति आदि के द्वारा जय और पराजय की व्यवस्था स्वीकारते है उसे आग्रहरूपी पिशाच को छोडकर विचार पूर्ण भाव को निर्मल मन मे लाकर प्रामाणिक पुरुषो को स्वय ही निर्णय कर लेना चाहिये अर्थात् स्वपक्ष की सिद्धि होने पर जय और सिद्धि नही होने पर पराजय होता है, निग्रहस्थान या छल आदि से नही ऐसा स्व प्रज्ञा से बुद्धिमान् निश्चय करे, अब अधिक कथन नही करते है।

भावार्थ—प्राचीनकाल मे मत मतातर के विद्वान् स्व स्वमत का प्रचार करने के लिये वाद करते थे, वाद के चार अग माने है, वादी, प्रतिवादी, सभ्य सभापति, प्रथम पक्ष स्थापित करने वाला वादी कहलाता है, उसके पक्ष का निराकार करते हुए अपने प्रतिपक्ष को स्थापित करने वाला प्रतिवादी एव वाद के समय प्रश्नकर्त्ता मध्यस्थ महान् ज्ञानी पुरुप सभ्य है तथा सबके नियत्रक सभापति है, वाद के समय अनुमान प्रमाण द्वारा अपना पक्ष सिद्ध किया जाता है, यदि सबके समक्ष वादी का पक्ष हेतु आदि निर्दोष सिद्ध होते हैं, उसके पक्ष के सिद्धि को सभ्य और सभापति स्वीकृत करते है तो वादी का जय माना जाता है। वादी के पक्ष उपस्थित करने पर उसमे प्रतिवादी अनेक प्रकार से सत्य दोषो को प्रगट करता है। नैयायिक आदि का कहना है कि वादी या प्रतिवादी के अनुमान मे दोष प्रगट करना, तथा वादी आदि के द्वारा सदोष हेतु का

मध्येऽन्यतमस्याप्यनभिधाने न्यूनताख्यो दोषोनुषज्यत एव । "हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्" [न्यायसू० ५।२।१२] इति वचनात् । ततो जयेतरव्यवस्थाया. 'प्रमाणतदाभासौ' इत्यादितो नान्यनिबन्धन व्यवतिष्ठते, इत्येतच्छलादौ तन्निबन्धनत्वेनाग्रहग्रहं परित्यज्य विचारकभावमादायाऽमलमनसि प्रामाणिका. स्वयमेव सम्प्रधारयन्तु, कृतमतिप्रसंगेन ।

कहना, इत्यादि अनेक कारणो से निग्रहस्थान आदि दोष आते है और उनसे जय पराजय की व्यवस्था हो जाती है अर्थात् वादी ने सदोष हेतु कहा और प्रतिवादी ने उसको सभा में प्रगट करके दिखाया तो वादी का पराजय होवेगा इत्यादि, तथा प्रतिवादी ने वादी के निर्दोष हेतु मे भी यदि दोष प्रगट किया और वादी उक्त दोष को दूर नही कर सका तो भी वादी का निग्रह होगा । इसमें नैयायिक ने चौबीस जातियां तीन प्रकार का छल और बाईस निग्रहस्थान इसप्रकार के दोष गिनाये है और इनके प्रयोक्ता का इनके प्रयोग करने के कारण पराजित होना स्वीकारा है, इन्ही जाति छल और निग्रहस्थानो का इस जय-पराजय व्यवस्था प्रकरण मे विस्तृत विवेचन है । नैयायिक के यहा असदुत्तर जाति -असत्य उत्तर को जाति कहते है, वचनविघातोर्थोपपत्याछलं अर्थ का भेद करके वचन मे दोष देना छल है, विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थान-विपरीत या कुत्सित प्रतिपत्ति [ज्ञान-समझ] होना एव पक्ष को स्वीकृत करके भी स्थापित न करना निग्रहस्थान है, इसप्रकार इनका यह अतिसक्षेप से लक्षण है, इनके भेदो का पृथक् पृथक् लक्षण यथा स्थान मूल मे किया है । इन सबका आचार्य ने सुयुक्तिक निरसन किया है । आचार्य का कहना है कि वादी का कर्त्तव्य है कि वह निर्दोष अनुमान कहे एव प्रतिवादी का कर्त्तव्य है कि वह स्वमतानुसार उसमे दोषोद्भावन करे, किन्तु व्याकुलता आदि किसी भी कारण से वादी प्रतिवादी ऐसा नही करते है, छल जाति आदिरूप वचन प्रयोग करते है या मौन होना आदि चेष्टाये करते है तो यह निश्चित है कि उनका तब तक जय नही होगा जब तक वे निर्दोष अनुमान प्रयोग कर स्वपक्ष सिद्धि नही करते, तथापि उक्त छलादि का प्रयोग करने वाले का उतने मात्र से पराजय कथमपि घोषित नही होगा । दूसरी बात यह है कि असत् उत्तररूप जाति जो चौबीस गिनायी है वह भी अयुक्त है, जगत् मे असत्य उत्तर के चौबीस क्या हजारों लाखो तरीके होते हैं अत: इनकी सख्या निश्चित करना अशक्य है । यही दशा निग्रह स्थानों की है, निग्रहस्थानो मे कुछ ऐसे है जिनमे अतर दृष्टिगोचर नही होता । बौद्ध

साभास गदित प्रमाणमखिल सख्याफलस्वार्थत,
सुव्यक्तै सकलार्थसार्थविषयै· स्वल्पै: प्रसन्नै· पदै· ।
येनासौ निखिलप्रबोधजननो जीयाद्गुणाम्भोनिधि:,
वाक्कीर्त्यो परमालयोऽत्र सतत माणिक्यनन्दिप्रभु: ।।१।।

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे
पञ्चम परिच्छेद समाप्त ।।

ने जाति आदि को नही माना किन्तु दो निग्रहस्थान माने है असाधनाग वचन और अदोषोद्भावन । इन सबका क्रमवार निरसन आचार्य देव ने कर दिया है, सर्व प्रथम त्रिविध छल [वाक्छल, सामान्यछल और उपचारछल] का निरसन है अनन्तर चौबीस जातियो का और अत मे बाईस निग्रहस्थानो का निरसन किया है, तथा सबके अत मे बौद्धाभिमत उक्त दो निग्रह स्थानो का निराकरण किया है, और सिद्ध किया है कि स्वपक्ष की सिद्धि करने पर ही जय होता है और स्वपक्ष को सिद्ध नही करने पर पराजय होता है ।

अब श्री प्रभाचन्द्राचार्यदेव इस पचमपरिच्छेद का उपसहार करते है–इस परिच्छेद मे जिनके द्वारा प्रमाणाभास सहित सपूर्ण प्रमाणो का सुव्यक्त–स्पष्ट पूर्ण अर्थ के विषय वाले, स्वल्प एव प्रसन्न पदो द्वारा वर्णन किया गया है तथा उन प्रमाणो की सख्या और सख्याभास, फल और फलाभास, विषय और विषयाभासो का स्पष्ट पदो द्वारा वर्णन किया गया है वे निखिल बोध के जनक गुणो के समुद्र, सरस्वती और कीर्त्ति के परमधाम स्वरूपमाणिक्यनदी आचार्य इस भूमडल पर सदा जयवत रहे ।

इसप्रकार श्रीप्रभाचन्द्र आचार्य विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जो कि परीक्षा
मुख ग्रथ का अलकार स्वरूप है उसका पचम परिच्छेद पूर्ण हुआ ।।

जय पराजयव्यवस्था का सारांश

पञ्चम अध्याय का अतिम सूत्र प्रमाण तदाभासौ इत्यादि मे आचार्य श्री माणिक्यनन्दी ने जय पराजयव्यवस्था का संकेत मात्र किया है। स्वमत का प्रकाशन एवं प्रसार की दृष्टि से वाद किया जाता है। यौग की मान्यता है कि वीतराग पुरुषों में सिद्धात विषयक होने वाली चर्चा ही वाद है और परमत का निरसन एवं तत्त्व तथा स्वमत का संरक्षण करने के लिये जल्प और वितंडा होते है इन दो मे ही जय पराजय का लक्ष्य रहता है ये विजिगीपु पुरुषो द्वारा प्रवृत्त होते है। अर्थात् वाद तो वीतराग कथा रूप है यह गुरु और शिष्य या समान बुद्धिधारक पुरुषो मे होता है। किन्तु यह युक्त नही, जल्प और वितडा द्वारा तत्त्व संरक्षण होना असभव है, वितडा मे तो अपना निजी पक्ष ही नही हुआ करता केवल पर का निराकरण रहता है। तथा जाति छल आदि द्वारा एक दूसरे का खडन मात्र उनमे रहने से तत्त्व सरक्षण कथमपि नही होता। वाद द्वारा ही तत्त्व सरक्षण सभव है, इस बात को आचार्य ने सयुक्तिक सिद्ध किया है। इस तत्त्व संरक्षकवाद के चार अग है वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति। सभा मे सर्व प्रथम अपना पक्ष उपस्थित करने वाला वादी अनुमान द्वारा साध्य सिद्ध करता है, उस अनुमान मे प्रतिवादी दोष दिखाता है, यदि सभा के सामने वादी का अनुमान बाधित होता है तो उतने मात्र से कोई पराजय नही होता। प्रथम तो बात यह है कि वाद करने का अधिकार स्व स्व सिद्धात के प्रौढ विद्वान को ही होता है, उनका कर्त्तव्य है कि निर्दोष हेतु वाले अनुमान का प्रयोग करे, तथा प्रतिवादी का कर्त्तव्य है कि उसमे समीचीन रीत्या सभावित दोष प्रगट कर दे। यहा प्रश्न हो सकता है कि जब वादी ने निर्दोप हेतु उपस्थित किया है तो प्रतिवादी उसमे दोषोद्‌भावन कैसे कर सकता है? इसका उत्तर यह है कि वादी अपने सिद्धात के अनुसार अन्यथानुपपत्तिरूप समर्थ हेतु का प्रयोग करता है, इसके पश्चात् प्रतिवादी अपने सिद्धात का अवलवन लेकर उक्त हेतु मे दोष उठाता है, इसप्रकार विभिन्न सिद्धात द्वारा एक ही विषय मे समर्थ साधन

और समर्थदूषण व्यवस्थित होता है। हेतु मे दिये गये दोष का निराकरण वादी न करे, तथा प्रतिवादी अपने प्रतिपक्ष को सिद्ध कर देवे तो वादी की पराजय होगी, और वादी के हेतु मे प्रतिवादी दोष नही दे सकेगा या प्रतिवादी द्वारा दिये गये दोष का वादी निराकरण कर पश्चात् स्वपक्ष सिद्ध कर देगा तो वादी की जय और प्रतिवादी की पराजय निर्णीत होगी। स्वपक्ष को सिद्ध किये बिना जय कथमपि नही हो सकता। इसमे यौग का मतव्य सर्वथा भिन्न है वे छल [वचन विघातोर्थ विकल्पोपपत्या छलम् शब्द का दूसरा अर्थ करके परके वचन का व्याघात करना छल है] जाति [असदुत्तरं जाति. असत् उत्तर देना] एव निग्रहस्थानो द्वारा जय पराजय होना स्वीकार करते है। छल के तीन भेद, जाति के चौवीस भेद एव निग्रहस्थानो के बाईस भेद यौग ने स्वीकार किये है। बौद्ध ने असाधनागवचन और अदोषोद्भावन नामके दो निग्रहस्थान माने हैं। इन छल जाति आदि का आचार्य प्रभाचन्द्र ने अकाट्य तर्क शैली से निराकरण कर दिया है। बौद्ध के उक्त दो निग्रहस्थान एव यौग के प्रतिज्ञा हानि आदि २४ निग्रहस्थान ग्रामीणपन का प्रदर्शन मात्र है। इनके निग्रहस्थानो का सामान्य तथा विशेष लक्षण अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषो से भरा है। छल द्वारा तो कोई भी जय को प्राप्त नही कर सकता। प्रथम तो बात यह है कि चतुरगवाद मे सभ्य एव सभापति महान् बुद्धिमान हुआ करते है—

अपक्ष पतिताः प्राज्ञा सिद्धातद्वयवेदिन. ।
असद्वाद निषेद्धारः प्रश्निका प्रगृहा इव ॥१॥

अर्थात् पक्षपात रहित, प्राज्ञ, वादो तथा प्रतिवादी के सिद्धात के ज्ञाता, असत्य—अप्रशस्तवाद का निषेध करने वाले, शकट के बलीवर्द के नियन्त्रक के समान उन्मार्ग के निषेधक प्राश्निक अर्थात् सभ्य पुरुष हुआ करते है। ऐसे महाजन छल प्रयोग होते ही उसे रोक देते है अतः छल द्वारा जय आदि की कल्पना सर्वथा असभव है।

इसीप्रकार मिथ्या उत्तर स्वरूप जाति द्वारा जय पराजय की व्यवस्था भी असम्भव है। मिथ्या उत्तर चौबीस ही क्या सैकडो हजारो हो सकते है अतः इनकी सख्या निश्चित करना ही अज्ञानता है। अत. आचार्य माणिक्यनन्दी सूत्रकार का कथन ही युक्तिसगत है कि वादी ने अपने पक्ष की सिद्धि के लिये स्वसिद्धात अनुसार अनुमान

प्रमाण वाक्य कहा, पुनः प्रतिवादी ने उस प्रमाण वाक्य मे दोष दिया, पश्चात् वादी ने उस दोष का परिहार किया। ऐसी दशा में वादी का हेतु स्वपक्ष साधक होता हुआ जय का प्रयोजक है और प्रतिवादी का कथन दूषणरूप होता हुआ पराजय का नियामक है। तथा वादी ने हेत्वाभास का प्रयोग किया, प्रतिवादी ने उसके ऊपर असिद्ध आदि हेत्वाभासो को उठा दिया। यदि वादी उन दोषो का परिहार नही करता है तो ऐसी दशा मे वादी का उक्त हेतु हेत्वाभास होता हुआ पराजय का व्यवस्थापक है और स्वपक्ष सिद्धि को करते हुए प्रतिवादी का दूषण उठाना जयदायक है। स्वपक्ष की सिद्धि करना नितात आवश्यक है उसके बिना जय नही हो सकता है। इसप्रकार इस प्रकरण मे आचार्य ने जय पराजय की व्यवस्था निश्चित की है।

॥ जय पराजयव्यवस्था प्रकरण का साराश समाप्त ॥

२१

अथ षष्ठः परिच्छेदः

नयविवेचनम्

ननूक्त प्रमाणेतरयोर्लक्षणमक्षूण नयेतरयोस्तु लक्षण नोक्तम्, तच्चावश्य वक्तव्यम्, तदवचने विनेयाना नाऽविकला व्युत्पत्ति स्यात् इत्याशङ्कमान प्रत्याह—

सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ।। ६।७४ ।।

इति ।

सम्भवद्विद्यमान कथितात्प्रमाणतदाभासलक्षणादन्यत् नयनयाभासयोर्लक्षण विचारणीय नयनिष्ठैर्दिग्मात्रप्रदर्शनपरत्वादस्य प्रयासस्येति । तल्लक्षण च सामान्यतो विशेषतश्च सम्भवतीति

यहां पर कोई विनीत शिष्य प्रश्न करता है कि आचार्य माणिक्यनन्दी ने प्रमाण और प्रमाणाभासो को निर्दोष लक्षण प्रतिपादित कर दिया किन्तु नय और नयाभासो का लक्षण अभी तक नही कहा उसको अवश्य कहना चाहिए, क्योकि उसके न कहने पर शिष्यो को पूर्ण ज्ञान नही होगा ? इसप्रकार शका करने वाले शिष्य के प्रति आचार्य कहते है—"सभवदन्यद्विचारणीयम्" अन्य जो नयादि है उसका भी विचार कर लेना चाहिये । संभवद् पद का अर्थ है विद्यमान पूर्व मे कहे हुए प्रमाण और प्रमाणाभासो के जो लक्षण है उनसे अन्य जो नय और नयाभासो के लक्षण हैं उनका विचार नयो के ज्ञाता पुरुषो को करना चाहिये, क्योकि इस परीक्षामुख ग्रथ मे दिग्मात्र—अतिसक्षेप से कथन है ।

तथैव तद्व्युत्पाद्यते । तत्राऽनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः । निराकृतप्रतिपक्षस्तु नयाभासः । इत्यनयोः सामान्यलक्षणम् । स च द्वेधा द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकविकल्पात् । द्रव्यमेवार्थो विषयो यस्यास्ति स द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थो यस्यास्त्यसौ पर्यायार्थिकः । इति नयविशेषलक्षणम् । तत्राद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारविकल्पात् त्रिविधः । द्वितीयस्तु ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतविकल्पाच्चतुर्विधः ।

तत्रानिष्पन्नार्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः । निगमो हि सङ्कल्पः, तत्र भवस्तत्प्रयोजनो वा नैगमः । यथा कश्चित्पुरुषो गृहीतकुठारो गच्छन् 'किमर्थं भवान्गच्छति' इति पृष्टः सन्नाह–'प्रस्थमानेतुम्' इति । एधोदकाद्याहरणे वा व्याप्रियमाणः 'किं करोति भवान्' इति पृष्टः प्राह–'ओदन पचामि' इति । न

अब प्रभाचन्द्र आचार्य नयों का विवेचन करते हैं–नय का लक्षण सामान्य और विशेष रूप से हुआ करता है अत. उसी रूप से प्रतिपादन किया जाता है ।

नयों का सामान्य लक्षण–प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं करने वाला एव वस्तु के अश का ग्रहण वाला ऐसा जो ज्ञाता पुरुष का अभिप्राय है वह नय कहलाता है ।

नयाभास का लक्षण–जो प्रतिपक्ष का निराकरण करता है वह नयाभास है । इसप्रकार नय और नयाभास का यह सामान्य लक्षण है । नय मूल मे दो भेद वाला है द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय । द्रव्य ही जिसका विषय है वह द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय ही जिसका विषय है वह पर्यायार्थिक नय है । यह नय का विशेष लक्षण हुआ । आदि के द्रव्यार्थिकनय के नैगम, सग्रह और व्यवहार ऐसे तीन भेद हैं । पर्यायार्थिकनय के चार भेद है, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ।

नैगम नय का लक्षण–जो पदार्थ अभी बना नही है उसके सकल्प मात्र को जो ग्रहण करता है वह नैगमनय है । निगम कहते है संकल्प को, उसमे जो होवे सो नैगम अथवा निगम अर्थात् सकल्प जिसका प्रयोजन है वह नैगम कहलाता है । जैसे कोई पुरुष हाथ मे कुठार लेकर जा रहा है उसको पूछा कि आप कहां जा रहे है, तब वह कहता है प्रस्थ [करीब एक किलो धान्य जिससे मापा जाय ऐसा काष्ट का बर्त्तन विशेष] लाने को जा रहा हूँ । अथवा लकडी, जल आदि को एकत्रित करने वाले पुरुष को पूछा आप क्या कर रहे है ? तो वह कहता है "भात पका रहा हू" । किन्तु इस

चासौ प्रस्थपर्याय ओदनपर्यायो वा निष्पन्नस्तन्निष्पत्तये सङ्कल्पमात्रे प्रस्थादिव्यवहारात् । यद्वा नैकगमो नैगमो धर्मधर्मिणोर्गु णप्रधानभावेन विषयीकरणात् । 'जीवगुणः सुखम्' इत्यत्र हि जीवस्याप्राधान्य विशेषणत्वात्, सुखस्य तु प्राधान्य विशेष(ष्य)त्वात् । 'सुखी जीवः' इत्यादौ तु जीवस्य प्राधान्य न सुखादेर्विपर्ययात् । न चास्यैव प्रमाणात्मकत्वानुषङ्गः; धर्मधर्मिणोः प्राधान्येनात्र ज्ञप्तेरसम्भवात् । तयोरन्यतर एव हि नैगमनयेन प्रधानतयानुभूयते । प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयात्मक चार्थमनुभवद्विज्ञानं प्रमाण प्रतिपत्तव्य नान्यदिति ।

सर्वथानयोरर्थान्तरत्वाभिसन्धिस्तु नैगमाभास । धर्मधर्मिणोः सर्वथार्थान्तरत्वे धर्मिणि धर्माणा वृत्तिविरोधस्य प्रतिपादितत्वादिति ।

स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीयार्थानाक्रान्तभेदान् समस्तग्रहणात्सग्रहः । स च परोऽपरश्च ।

प्रकार का कथन करते समय प्रस्थ पर्याय या भात पर्याय निष्पन्न नही है, केवल उसके निष्पन्न करने का सकल्प है उसमे ही प्रस्थादि का व्यवहार किया गया है । अथवा नैगम शब्द का दूसरा अर्थ भी है वह इसप्रकार–"न एकं गम नैगम." जो एक को ही ग्रहण न करे अर्थात् धर्म और धर्मी को गौण और मुख्य भाव से विषय करे वह नैगम नय है । जैसे–जीवन का गुण सुख है अथवा सुख जीव का गुण है, यहां जीव अप्रधान है विशेषण होने से, और विशेष्य होने से सुख प्रधान है । सुखी जीव, इत्यादि मे तो जीव प्रधान है सुखादि प्रधान नही, क्योकि यहा सुखादि विशेषणरूप है ।

धर्म और धर्मी को गौण और प्रधान भाव से एक साथ विपय कर लेने से इस नय को प्रमाणरूप होने का प्रसग नही होगा, क्योकि इस नय मे धर्म और धर्मी को प्रधान भाव से जानने की शक्ति नही है । धर्म धर्मी मे से कोई एक ही नैगम नय द्वारा प्रधानता से ज्ञात होता है । इससे विपरीत प्रमाण द्वारा तो धर्मधर्मी द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुतत्त्व प्रधानता से ज्ञात होता है, अर्थात् धर्म धर्मी दोनो को एक साथ जानने वाला विज्ञान ही प्रमाण है अशरूप जानने वाला प्रमाण नही ऐसा समझना चाहिए ।

नैगमाभास–धर्म और धर्मी मे सर्वथा भेद है ऐसा अभिप्राय नैगमाभास कहलाता है । धर्म और धर्मी को यदि सर्वथा पृथक् माना जायगा तो धर्मी मे धर्मो का रहना विरुद्ध पडता है, इसका पहले कथन कर आये है ।

सग्रहनय का लक्षण–स्वजाति जो सत्‌रूप है उसके अविरोध से एक प्रकार को प्राप्त कर जिसमे विशेष अन्तर्भू त है उनको पूर्णरूप से ग्रहण करे वह सग्रहनय

तत्र परः सकलभावाना-सदात्मनैकत्वमभिप्रैति । 'सर्वमेक सदविशेषात्' इत्युक्ते हि 'सत्' इतिवाग्विज्ञानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्तात्मकत्वेतैकत्वमशेषार्थाना सगृह्यते । निराकृताऽशेषविशेषस्तु सत्ताऽद्वैताभिप्रायस्तदाभासो दृष्टेष्टबाधनात् । तथाऽपरः सग्रहो द्रव्यत्वेनाशेषद्रव्याणामेकत्वमभिप्रैति । 'द्रव्यम्' इत्युक्ते ह्यतीतानागतवर्तमानकालवर्त्तिविवक्षिताविवक्षितपर्यायद्रवणशीलाना जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानामेकत्वेन संग्रह.। तथा 'घटः' इत्युक्ते निखिलघटव्यक्तीना घटत्वेनैकत्वसग्रह॰।

सामान्यविशेषाणा सर्वथार्थान्तरत्वाभिप्रायोऽनर्थान्तरत्वाभिप्रायो वाऽपरसंग्रहाभास, प्रतीतिविरोधादिति ।

कहलाता है । उसके दो भेद है परसग्रहनय अपरसंग्रहनय । सकल पदार्थो को सत् सामान्य की अपेक्षा एकरूप इष्ट करने वाला पर सग्रहनय-है । जैसे किसी ने "सत् एक रूप है सत्पने की समानता होने से" ऐसा कहा इसमे "सत्" यह पद सत् शब्द, सत् का विज्ञान एव सत् का अनुवृत्तप्रत्यय अर्थात् इदं सत् इदं सत् यह सत् है यह भी सत् है इन लिंगो से सपूर्ण पदार्थो का सत्तात्मक एकपना ग्रहण होता है अर्थात् सत् कहने से सत् शब्द, सत् का ज्ञान एवं सत् पदार्थ इन सबका सग्रह हो जाता है अथवा सत् ऐसा कहने पर सत् इसप्रकार के वचन और विज्ञान की अनुवृत्तिरूप लिंग से अनुमित सत्ता के आधारभूत सब पदार्थो का सामान्यरूप से संग्रह करना संग्रहनय का विषय है जो विशेष का निराकरण करता है वह संग्रहाभास है, जैसे सत्ताद्वैत-ब्रह्माद्वैतवाद का जो अभिप्राय है वह सग्रहाभास है, क्योकि सर्वथा अद्वैत या अभेद मानना प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण से बाधित है । अपरसग्रहनय-द्रव्य है ऐसा कहने पर द्रव्यपने की अपेक्षा सपूर्ण द्रव्यो मे एकत्व स्थापित करना अपर सग्रहनय कहलाता है, क्योकि द्रव्य ऐसा कहने पर अतीत अनागत एवं वर्त्तमान कालवर्त्ती विवक्षित तथा अविवक्षित पर्यायो से द्रवणपरिवर्त्तन स्वभाव वाले जीव अजीव एव उनके भेद प्रभेदो का एक रूप से सग्रह होता है, तथा घट है, ऐसा कहने पर संपूर्ण घट व्यक्तियो का घटपने से एकत्व होने के कारण संग्रह हो जाता है ।

सामान्य और विशेषो को सर्वथा पृथक् मानने का अभिप्राय [यौग] अपर सग्रहाभास है एव उन सामान्य विशेषो को सर्वथा अपृथक् मानने का अभिप्राय [मीमासक] सग्रहाभास है, क्योकि सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न रूप सामान्य विशेषो की प्रतीति नही होती ।

संग्रहगृहीतार्थानां विधिपूर्वकमवहरणं विभजनं भेदेन प्ररूपणं व्यवहारः। परसंग्रहेण हि सद्धर्माधारतया सर्वमेकत्वेन 'सत्' इति संगृहीतम्। व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति। यत्सत्तद्द्रव्यं पर्यायो वा। तथैवापरः संग्रहः सर्वद्रव्याणि 'द्रव्यम्' इति, सर्वपर्यायाश्च 'पर्यायः' इति संगृह्णाति। व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति–यद्द्रव्यं तज्जीवादि षड्विधम्, यः पर्यायः स द्विविधः सहभावी क्रमभावी च। इत्यपरसंग्रहव्यवहारप्रपञ्चः प्रागृजुसूत्रात्परसंग्रहादुत्तरः प्रतिपत्तव्यः, सर्वस्य वस्तुनः कथञ्चित्सामान्यविशेषात्मकत्वसम्भवात्। न चास्यैव नैगमत्वानुषङ्गः; संग्रहविषयप्रविभागपरत्वात्, नैगमस्य तु गुणप्रधानभूतोभयविषयत्वात्।

यः पुनः कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः, प्रमाणबाधितत्वात्। न हि कल्पनारोपित एव द्रव्यादिप्रविभागः; स्वार्थक्रियाहेतुत्वाभावप्रसङ्गाद्गगनाम्भोजवत्।

व्यवहारनय का लक्षण–संग्रहनय द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों मे विधिपूर्वक विभाग करना–भेद रूप से प्ररूपण करना व्यवहारनय है, पर संग्रहनय ने सत् धर्म [स्वभाव] के आधार से सबको एक रूप से सत् है ऐसा ग्रहण किया था अब उसमे व्यवहारनय विभाग चाहता है–जो सत् है वह द्रव्य है अथवा पर्याय है, इत्यादि विभाजन करता है। तथा अपर संग्रहनय ने सब द्रव्यो को द्रव्य पद से संगृहीत किया अथवा सब पर्यायो को पर्याय पद से संगृहीत किया था उनमे व्यवहार विभाग मानता है कि जो द्रव्य है वह जीव आदि रूप छह प्रकार का है, जो पर्याय है वह दो प्रकार की है सहभावी और क्रमभावी। इसप्रकार अपर संग्रह और व्यवहार का प्रपंच परसंगृह के आगे से लेकर ऋजुसूत्र के पहले पहले तक चलता है, क्योंकि सभी वस्तुयें कथंचित् सामान्य विशेषात्मक हैं। इसप्रकार से द्रव्य और पर्याय का विभाग विस्तार करने से इसको नैगमनयत्व के प्रसंग होने की आशंका भी नही करना, क्योंकि व्यवहारनय संगृह के विषय मे विभाग करता है किन्तु नैगमनय तो गौण मुख्यता से उभय को [सामान्य विशेष या द्रव्य पर्याय] विषय करता है।

व्यवहाराभास का लक्षण–जो केवल कल्पनामात्र से आरोपित द्रव्य पर्यायो मे विभाग करता है वह व्यवहाराभास है, क्योंकि वह प्रमाण बाधित है। द्रव्यादिका विभाग काल्पनिक मात्र नही है, यदि ऐसा माने तो अर्थ क्रिया का अभाव होगा, जैसे कि गगन पुष्प मे अर्थ क्रिया नही होती। तथा द्रव्य पर्याय का विभाग परक इस व्यवहार को असत्य मानने पर उसके अनुकूलता से आने वाली प्रमाणो की प्रमाणता

व्यवहारस्य चाऽसत्यत्वे तदानुकूल्येन प्रमाणानां प्रमाणता न स्यात्। अन्यथा स्वप्नादिविभ्रमानुकूल्ये-नापि तेषां तत्प्रसङ्गः। उक्त च—

"व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणाना प्रमाणता।
नान्यथा बाध्यमानाना ज्ञानाना तत्प्रसङ्गत ॥" [लघी० का० ७०] इति।

का भी भंग हो जावेगा। तथा द्रव्यादि का विभाग सर्वथा कल्पना मात्र है और उसका विषय करने वाले व्यवहार द्वारा प्रमाणो की प्रमाणता होती है ऐसा माने तो स्वप्न आदि का विभ्रमरूप विभाग परक ज्ञान से भी प्रमाणो की प्रमाणता होने लगेगी। कहा भी है—व्यवहार के अनुकूलता से प्रमाणो की प्रमाणता सिद्ध होती है, व्यवहार की अनुकूलता का जहां अभाव है वहां प्रमाणता सिद्ध नही होती, यदि ऐसा न माने तो बाधित ज्ञानो में प्रमाणता का प्रसग आयेगा ॥१॥

भावार्थ—पदार्थ द्रव्य पर्यायात्मक है द्रव्य और पर्याय मे सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद मानना असत् है जो प्रवादो सर्वथा अभेद मानकर उनमे लोक व्यवहारार्थ कल्पना मात्र से विभाग करते है उनके यहा अर्थ क्रिया का अभाव होगा अर्थात् यदि द्रव्य से पर्याय सर्वथा अभिन्न है तो पर्याय का जो कार्य [अर्थ क्रिया] दृष्टिगोचर हो रहा है वह नही हो सकेगा, जीव द्रव्य की वर्त्तमान की जो मनुष्य पर्याय है उसकी जो मनुष्यपने से साक्षात् अर्थ क्रिया प्रतीत होती है वह नही हो सकेगी। पुद्गल परमाणुओ के पिड स्वरूप स्कध की जो अर्थ क्रियाये है [दृष्टिगोचर होना, उठाने धरने मे आ सकना, स्थूल रूप होना, प्रकाश या अधकार स्वरूप होना इत्यादि] वे भी समाप्त होगी, केवल कल्पना मात्र मे कोई अर्थ क्रिया [वस्तु का उपयोग मे आना] नही होती है जैसे स्वप्न मे स्थित काल्पनिक पदार्थ मे अर्थ क्रिया नही होती। अत सग्रहनय द्वारा गृहीत पदार्थो मे भेद या विभाग को करने वाला व्यवहारनय सत्य है एव उसका विषय जो भेदरूप है वह भी पारमार्थिक है। जो लोक व्यवहार मे क्रियाकारी है अर्थात् जिन पदार्थो के द्वारा लोक का जप, तप, स्वाध्याय, ध्यानरूप, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ एवं स्नान, भोजन, व्यापार आदि काम तथा अर्थ पुरुषार्थ सपन्न हो, वे भेदाभेदात्मक पदार्थ वास्तविक ही हैं और उनको विषय करने वाला व्यवहारनय भी वास्तविक है क्योकि

ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीत्यृजुसूत्रं 'सुखक्षणः सम्प्रत्यस्ति' इत्यादि। द्रव्यस्य सतोप्यनर्पणात्, अतीतानागतक्षणयोश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेनासम्भवात्। न चैवं लोकव्यवहारविलोपप्रसङ्गः; नयस्याऽस्यैव विषयमात्रप्ररूपणात्। लोकव्यवहारस्तु सकलनयसमूहसाध्य इति।

यस्तु बहिरन्तर्वा द्रव्यं सर्वथा प्रतिक्षिपत्यखिलार्थानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वाभिमानात् स तदाभासः प्रतीत्यतिक्रमात्। बाधविधुरा हि प्रत्यभिज्ञानादिप्रतीतिर्बहिरन्तश्चैकं द्रव्यं पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्ति प्रसाधयतीत्युक्तमूर्ध्वतासामान्यसिद्धिप्रस्तावे। प्रतिक्षणं क्षणिकत्वं च तत्रैव प्रतिव्यूढमिति।

नयरूप ज्ञान हो चाहे प्रमाणरूप ज्ञान हो उसमे प्रमाणता तभी स्वीकृत होती है जब उनके विषयभूत पदार्थ व्यवहार के उपयोगी या अर्थ क्रिया वाले हो। अस्तु।

ऋजुसूत्रनय का लक्षण—ऋजु स्पष्टरूप वर्त्तमान मात्र क्षण को पर्याय को जानने वाला ऋजु सूत्रनय है। जैसे इस समय सुख पर्याय है इत्यादि। यहां अतीतादि द्रव्य सत् है किन्तु उसकी अपेक्षा नही है, क्योकि वर्त्तमान पर्याय मे अतीत पर्याय तो नष्ट हो चुकने से असम्भव है और अनागत पर्याय अभी उत्पन्न ही नही हुई है। इस तरह वर्त्तमान मात्र को विषय करने से लोक व्यवहार के लोप की आशंका भी नही करनी चाहिए, यहा केवल इस नय का विषय बताया है। लोक व्यवहार तो सकल नयो के समुदाय से सम्पन्न होता है।

ऋजुसूत्राभास का लक्षण—जो अन्तस्तत्त्व आत्मा और बहिस्तत्त्व अजीवरूप पुद्गलादिका सर्वथा निराकरण करता है अर्थात् द्रव्य का निराकरण कर केवल पर्याय को ग्रहण करता है, सम्पूर्ण पदार्थो को प्रतिक्षण के अभिमान से सर्वथा क्षणिक ही मानता है वह अभिप्राय ऋजुसूत्राभास है। क्योकि इसमे प्रतीति का उलघन है। प्रतीति मे आता है कि निर्बाध प्रत्यभिज्ञान प्रमाण अतरग द्रव्य और बहिरग द्रव्य को पूर्व व उत्तर पर्याय युक्त सिद्ध करते हैं, इसका विवेचन ऊर्ध्वतासामान्य की सिद्धि करते समय हो चुका है। तथा उसी प्रसंग मे प्रतिक्षण के वस्तु के क्षणिकत्व का भी निरसन कर दिया है।

कालकारकलिङ्गसख्यासाधनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं शपतीति शब्दो नयः शब्दप्रधानत्वात् । ततोऽपास्त वैयाकरणाना मतम् । ते हि "धातुसम्बन्धे प्रत्यया." [पाणिनिव्या० ३।४।१] इति सूत्रमारभ्य 'विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो भविता' इत्यत्र कालभेदेप्येकं पदार्थमादृताः—'यो विश्वं द्रक्ष्यति सोस्य पुत्रो भविता' इति, भविष्यत्कालेनातीतकालस्याऽभेदाभिधानात् तथा व्यवहारोपलम्भात् । तच्चानुपपन्नम्; कालभेदेप्यर्थस्याऽभेदेऽतिप्रसगात्, रावणशङ्खचक्रवर्तिशब्दयोरप्यतीतानागतार्थगोचरयोरेकार्थतापत्तेः । अथानयोर्भिन्नविषयत्वानैकार्थता; 'विश्वदृश्वा भविता' इत्यनयोरप्यसौ मा भूत्तत एव । न खलु 'विश्व दृष्टवान्=विश्वदृश्वा' इति शब्दस्य योऽर्थोतीतकालः, स 'भविता' इति शब्दस्यानागतकालो युक्तः; पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वविरोधात् । अतीतकालस्याप्यनागतत्वाध्यारोपादेकार्थत्वे तु न परमार्थतः कालभेदेप्यभिन्नार्थव्यवस्था स्यात् ।

शब्दनय का लक्षण—काल, कारक, लिग, सख्या, साधन और उपग्रह के भेद से जो भिन्न अर्थ को कहता है वह शब्दनय है, इसमे शब्द ही प्रधान है । इस नय से शब्द भेद से अर्थभेद नही करने वाले वैयाकरणो के मतका निरसन होता है वैयाकरण पडित "धातुसबंधे प्रत्यया" इस व्याकरण सूत्र का प्रारभ कर "विश्व दृश्वा अस्य पुत्रो भविता" जिसने विश्व को देख लिया है ऐसा पुत्र इसके होगा, इसतरह काल भेद में भी एक पदार्थ मानते है जो विश्व को देख चुका है वह इसके पुत्र होगा, ऐसा जो कहा इसमे भविष्यत् काल से अतीतकाल का अभेद कर दिया है, उस प्रकार का व्यवहार उपलब्ध होता है, किन्तु शब्दनय से यह अयुक्त है काल भेद होते हुए भी यदि अर्थ मे भेद न माना जाय तो अतिप्रसग होगा, फिर तो अतीत और अनागत अर्थ के गोचर हो रहे रावण और शखचक्रवर्ती शब्दो के भी एकार्थपना प्राप्त होगा । यदि कहा जाय कि रावण और शखचक्रवर्ती ये दो शब्द भिन्न भिन्न विषय वाले है अत उनमें एकार्थपना नही हो सकता तो विश्वदृश्वा और भविता इन दो शब्दो मे एकार्थपना मत होवे । क्योकि ये दो शब्द भी भिन्न भिन्न विषय वाले हैं । देखिये "विश्व दृष्टवान् इति विश्वदृश्वा" ऐसा विश्वदृश्वा शब्द का जो अर्थ अतीत काल है वह "भविता" इस शब्द का अनागतकाल मानना युक्त नही है जब पुत्र होना भावी है तब उसमे अतीतपना कैसे हो सकता है । अतीतकाल का अनागत मे अध्यारोप करने से एकार्थपना बन जाता है ऐसा कहो तो काल भेद होने पर भी अभिन्न अर्थ की व्यवस्था मानना पारमार्थिक नही रहा, काल्पनिक ही रहा ।

तथा 'करोति क्रियते' इति कर्त्तृकर्मकारकभेदेप्यभिन्नमर्थं त एवाद्रियन्ते । 'य. करोति किञ्चित् स एव क्रियते केनचित्' इति प्रतीतेः । तदप्यसाम्प्रतम्; 'देवदत्तः कट करोति' इत्यत्रापि कर्तृकर्मणोर्देवदत्तकटयोरभेदप्रसङ्गात् ।

तथा, 'पुष्यस्तारका' इत्यत्र लिंगभेदेपि नक्षत्रार्थमेकमेवाद्रियन्ते; लिंगमशिष्य लोकाश्रयत्वात्तस्य, इत्यसंगतम्; 'पट· कुटी' इत्यत्राप्येकत्वानुषगात् ।

तथा, 'आपोऽम्भः' इत्यत्र सख्याभेदेप्येकमर्थं जलाख्य मन्यन्ते, सख्याभेदस्याऽभेदकत्वाद्गुर्वादिवत् । तदप्ययुक्तम्; 'पटस्तन्तवः' इत्यत्राप्येकत्वानुषगात् ।

तथा करोति क्रियते इनमे कर्त्तृकारक और कर्मकारक की अपेक्षा भेद होने पर भी वैयाकरण लोग इनका अभिन्न अर्थ ही करते है, जो करता है वही किसी द्वारा किया जाता है ऐसी दोनो कारको मे उन्होने अभेद प्रतीति मानी है किन्तु वह ठीक नही यदि कर्त्तृकारक और कर्मकारक मे अभेद माना जाय तो "देवदत्तः कट करोतिः" इस वाक्य मे स्थित देवदत्त कर्त्ता और कट कर्म इन दोनो मे अभेद मानना पडेगा ।

तथा पुष्प· तारका इन दो पदो मे पुलिग स्त्रीलिग का भेद होने पर भी व्याकरण पडित इनका नक्षत्र रूप एक ही अर्थ ग्रहण करते हैं, वे कहते है कि लिग अशिष्य है–अनुशासित नही है, लोक के आश्रित है अर्थात् लिंग नियमित न होकर व्यवहारानुसार परिवर्त्तनशील है किन्तु यह असंगत है, लिग को इसतरह माने तो पटः और कुटी इनमे भी एकत्व बन बैठेगा ।

तथा "आपः अभ" इन दो शब्दो मे सख्या भेद रूप बहुवचन और एक वचन का भेद होने पर भी वे इनका जल रूप एक अर्थ मानते है, वे कहते है कि सख्या भेद होने से अर्थभेद होना जरूरी नही है जैसे गुरु. ऐसा पद एक सख्या रूप है किन्तु सामान्य रूप से यह सभी गुरुओ का द्योतक है अथवा कभी बहुसन्मान की अपेक्षा एक गुरु व्यक्ति को 'गुरव' इस बहुसख्यात पद से कहा जाता है । सो वैयाकरण का यह कथन भी अयुक्त है, इसतरह तो पट तन्तव इन दो शब्दो का भी [वस्त्र धागे] एकार्थपना होवेगा ।

तथा 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता' इति साधनभेदेप्यर्थाऽभेदमाद्रियन्ते "प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेऽस्मदेकवच्च" [जैनेन्द्रव्या० १।२।१५३] इत्यभिधानात्। तदप्यपेशलम्; अहं पचामि त्वं पचसि' इत्यत्राप्येकार्थत्वप्रसङ्गात्।

तथा, 'सन्तिष्ठते प्रतिष्ठते' इत्यत्रोपग्रहभेदेप्यर्थभेदं प्रतिपद्यन्ते उपसर्गस्य धात्वर्थमात्रोद्द्योतकत्वात्। तदप्यचारु, 'सन्तिष्ठते प्रतिष्ठते' इत्यत्रापि स्थितिगतिक्रिययोरभेदप्रसङ्गात्। ततः कालादिभेदाद्भिन्न एवार्थः शब्दस्य। तथाहि–विवादापन्नो विभिन्नकालादिशब्दो विभिन्नार्थप्रतिपादको विभिन्न-

---

तथा "ऐहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता" [आवो तुम मानते होंगे कि मैं रथ से जावूंगा किन्तु नही जा सकते क्योकि उससे तो तुम्हारे पिता गये। ऐसा एहि इत्यादि सस्कृत पदों का अर्थ व्याकरणाचार्य करते है किंतु व्याकरण के सर्व सामान्य नियमानुसार इन पदो का अर्थ–आवो मै मानता हू, रथ से जावोगे किंतु नही जा सकोगे क्योकि उससे तुम्हारे पिता गये। इसप्रकार होता है] यहां साधन भेद– मध्यमपुरुष उत्तमपुरुष आदि का भेद होनेपर भी अर्थ अभेद है क्योकि हसी मजाक मे मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष मे एकत्व मानकर प्रयोग करना इष्ट है, ऐसा वे लोग कहते है किन्तु यह ठीक नही, इस तरह तो अह पचामि, त्व पचसि आदि में भी एकार्थपना स्वीकार करना पडेगा।

तथा संतिष्ठते प्रतिष्ठते इन पदो मे उपसर्ग का भेद होने पर भी अर्थ का अभेद मानते है क्योकि उपसर्ग धातुओ के अर्थ का मात्र द्योतक है, इसप्रकार का कथन भी असत् है, सतिष्ठते प्रतिष्ठते इन शब्दो मे जो स्थिति और गति क्रिया है इनमे भी अभेद का प्रसंग होगा। इसलिये निश्चित होता है कि काल, कारक आदि के भिन्न होने पर शब्द का भिन्न ही अर्थ होता है। विवाद मे स्थित विभिन्न कालादि शब्द विभिन्न अर्थ का प्रतिपादक है क्योकि वह विभिन्न कालादि शब्दत्वरूप है, जैसे कि अन्य अन्य विभिन्न शब्द भिन्न भिन्न अर्थो के प्रतिपादक हुआ करते है, मतलब यह है कि जैसे रावण और शंख चक्रवर्त्ती शब्द क्रमशः अतीत और आगामीकाल में स्थित भिन्न भिन्न दो पदार्थो के वाचक है वैसे ही विश्वदृश्वा और भविता ये दो अतीत और आगामी काल मे स्थित व्यक्ति के वाचक होने चाहिये, ऐसे ही कारक आदि मे समझना। यहा

कालादिशब्दत्वात् तथाविधान्यशब्दवत्। नन्वेव लोकव्यवहारविरोध. स्यादिति चेत्; विरुध्यतामसौ तत्त्व तु मीमास्यते, न हि भेषजमातुरेच्छानुवर्ति।

नानार्थान्समेत्याभिमुख्येन रूढ' समभिरूढ:। शब्दनयो हि पर्यायशब्दभेदान्नार्थभेदमभिप्रैति कालादिभेदत एवार्थभेदाभिप्रायात्। अय तु पर्यायभेदेनाप्यर्थभेदमभिप्रैति। तथा हि-'इन्द्र शक्रः पुरन्दर.' इत्याद्याः शब्दा विभिन्नार्थगोचरा विभिन्नशब्दत्वाद्वाजिवारणशब्दवदिति।

एवमित्थ विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूत परिणतमर्थं योभिप्रैति स एवम्भूतो नय'।

पर कोई शका करे कि इसतरह माने तो लोक व्यवहार मे विरोध होगा ? सो विरोध होने दो यहा तो तत्त्व का विचार किया जा रहा है, तत्त्व व्यवस्था कोई लोकानुसार नही होती, यथा औषधि रोगी की इच्छानुसार नही होती है।

समभिरूढनय का लक्षण—नाना अर्थों का आश्रय लेकर मुख्यता से रूढ होना अर्थात् पर्यायभेद से पदार्थ मे नानापन स्वीकारना समभिरूढनय कहलाता है। शब्दनय पर्यायवाची शब्दो के भिन्न होने पर भी पदार्थ मे भेद नही मानता, वह तो काल कारक आदि का भेद होने पर ही पदार्थ मे भेद करता है किन्तु यह समभिरूढ नय पर्यायवाची शब्द के भिन्न होने पर भी अर्थ मे भेद करता है। इसी को बताते है–इन्द्र शक्र पुरदरः इत्यादि शब्द है इनमे लिगादि का भेद न होने से अर्थात् एक पुलिंग स्वरूप होने से शब्दनय की अपेक्षा भेद नही है ये सब एकार्थवाची हैं। किन्तु समभिरूढ नय उक्त शब्द विभिन्न होने से उनका अर्थ भी विभिन्न स्वीकारता है जैसे कि वाजी और वारण ये दो शब्द होने से इनका अर्थ क्रमश. अश्व और हाथी है। मतलब यह है कि इस नय की दृष्टि मे पर्यायवाची शब्द नही हो सकते। एक पदार्थ को अनेक नामो द्वारा कहना अशक्य है, यह तो जितने शब्द है उतने ही भिन्न अर्थवान् पदार्थ स्वीकार करेगा, शक्र और इन्द्र एक पदार्थ के वाचक नही है अपितु शकनात् शक्रः जो समर्थ है वह शक्र है एव इन्दनात् इन्द्र. जो ऐश्वर्य युक्त है वह इन्द्र है ऐसा प्रत्येक पद का भिन्न ही अर्थ है इसतरह समभिरूढनय का अभिप्राय है।

एवभूतनय का लक्षण—एवं–इसप्रकार विवक्षितक्रिया परिणाम के प्रकार से भूत–परिणत हुए अर्थ को जो इष्ट करे अर्थात् क्रिया का आश्रय लेकर भेद स्थापित

समभिरूढो हि शकनक्रियाया सत्यामसत्या च देवराजार्थस्य शक्रव्यपदेशमभिप्रैति, पशोर्गमनक्रियाया सत्यामसत्या च गोव्यपदेशवत्, तथा रूढेः सद्भावात्, अय तु शकनक्रियापरिणतिक्षणे एव शक्रमभिप्रैति न पूजनाभिषेचनक्षणे, अतिप्रसगात् । न चैवभूतनयाभिप्रायेण कश्चिदक्रियाशब्दोस्ति, 'गौरश्वः' इति जातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात्, 'गच्छतीति गौराशुगाम्यश्व' इति । 'शुक्लो नीलः' इति गुणशब्दा अपि क्रियाशब्दा एव, 'शुचिभवनाच्छुक्लो नीलनान्नील.' इति । 'देवदत्तो यज्ञदत्त.' इति यदृच्छाशब्दा अपि क्रियाशब्दा एव, 'देवा एन देयासु' इति देवदत्तः, 'यज्ञे एन देयात्' इति यज्ञदत्त' । तथा संयोगिसमवायिद्रव्यशब्दाः क्रियाशब्दा. एव, दण्डोस्यास्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीति । पञ्चतयी तु शब्दाना प्रवृत्तिर्व्यवहारमात्रान्न निश्चयात् ।

करे वह एवभूतनय है । समभिरूढनय देवराज [इन्द्र] नामके पदार्थ मे शकन क्रिया होनेपर तथा नही होने पर भी उक्त देवराज की शक्र संज्ञा स्वीकारता है जैसे कि पशु विशेष मे गमन क्रिया होवे या न होवे तो भी उसमे गो सज्ञा होती है वैसी रूढि होने के कारण, किन्तु यह एवभूतनय शकन क्रिया से परिणत क्षण मे ही शक्र नाम धरता है, जिससमय उक्त देवराज पूजन या अभिषेक क्रिया मे परिणत है उस समय शक्र नाम नही धरता है, अतिप्रसग होने से । तथा इस एवभूतनय की अपेक्षा देखा जाय तो कोई शब्द क्रिया रहित या बिना क्रिया का नही है, गौः अश्वः इत्यादि जाति वाचक माने गये शब्द भी इस नय की दृष्टि मे क्रिया शब्द है, जैसे गच्छति इति गौः, आशुगामी अश्व. जो चलती है वह गो है जो शीघ्र गमन करे वह अश्व है इत्यादि । तथा शुक्लः नील. इत्यादि गुणवाचक शब्द भी क्रियावाचक ही है, जैसे कि शुचिभवनात् शुक्ल. नीलनात् नील शुचि होने से शुक्ल है, नील क्रिया से परिणत नील है इत्यादि । देवदत्तः, यज्ञदत्तः इत्यादि यदृच्छा शब्द [इच्छानुसार प्रवृत्त हुए शब्द] भी एवभूतनय की दृष्टि मे क्रियावाचक ही है । देवा एनं देवासुः इति देवदत्तः यज्ञे एनं देयात् इति यज्ञदत्त., देवगण इसको देवे, देवो ने इसको दिया है वह देवदत्त कहलाता है और यज्ञ मे इसको देना वह यज्ञदत्त कहलाता है । तथा संयोगी समवायी द्रव्यवाचक शब्द भी क्रियावाचक है, जैसे दण्ड जिसके है वह दडी है, विषाण [सीग] जिसके है वह विषाणी है । जाति, क्रिया, गुण, यदृच्छा और सम्बन्ध इसप्रकार पाचप्रकार की शब्दो की प्रवृत्ति जो मानी है वह केवल व्यवहाररूप है निश्चय से नही । अर्थात् उपर्युक्त उदाहरणो से एवंभूतनय की दृष्टि से निश्चित किया कि कोई भी शब्द फिर

एवमेते शब्दसमभिरूढैवम्भूतनया' सापेक्षा' सम्यग्, अन्योन्यमनपेक्षास्तु मिथ्येति प्रतिपत्तव्यम्।

एतेषु च नयेषु ऋजुसूत्रान्ताश्चत्वारोर्थप्रधाना शेषास्तु त्रय शब्दप्रधाना प्रत्येतव्या ।

कः पुनरत्र बहुविषयो नय को वाल्पविषय कश्चात्र कारणभूत. कार्यभूतो वेति चेत् ? 'पूर्वः पूर्वो बहुविषयः कारणभूतश्च परः परोल्पविषयः कार्यभूतश्च' इति ब्रूम' । सग्रहाद्धि नैगमो बहुविषयो भावाऽभावविषयत्वात्, यथैव हि सति सङ्कल्पस्तथाऽसत्यपि, सग्रहस्तु ततोल्पविषय. सन्मात्रगोचरत्वात्, तत्पूर्वकत्वाच्च तत्कार्य' । सग्रहाद्व्यवहारोपि तत्पूर्वकः सद्विशेषावबोधकत्वादल्पविषय एव । व्यवहारात्कालत्रितयवृत्त्यर्थगोचरात् ऋजुसूत्रोपि तत्पूर्वको वर्तमानार्थगोचरतयाल्पविषय एव । कारकादि-

---

उसे व्यवहार से जातिवाचक कहो या गुणवाचक कहो सबके सब शब्द क्रियावाचक ही है-क्रिया के द्योतक ही है ।

ये शब्दनय, समभिरूढनय और एवभूतनय परस्पर मे सापेक्ष हैं तो सम्यग्नय कहलाते हैं यदि परस्पर मे निरपेक्ष है तो मिथ्यानय कहलाते हैं ऐसा समझना चाहिये । [नैगमादि सातोनय परस्पर सापेक्ष होनेपर ही सम्यग्नय है अन्यथा मिथ्यानय हैं] इन सात नयो मे नैगम, सग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थ प्रधान नय है और शेष तीन शब्द, समभिरूढ और एवभूतनय शब्द प्रधान नय कहलाते है ।

शका—इन नयो मे कौनसा नय बहुविषयवाला है और कौनसा नय अल्प विषयवाला है, तथा कौनसा नय कारणभूत और कौनसा नय कार्यभूत है ?

समाधान—पूर्व पूर्व का नय बहुविषयवाला है एव कारणभूत है, तथा आगे आगे का नय अल्पविषयवाला है एव कार्यभूत है । सग्रह से नैगम बहुत विषय वाला है क्योकि नैगम सद्भाव और अभाव दोनो को विषय करता है, अर्थात् विद्यमान वस्तु मे जैसे सकल्प सम्भव है वैसे अविद्यमान वस्तु में भी सम्भव है, इस नैगम से सग्रहनय अल्प विषयवाला है, क्योकि यह सन्मात्र—सद्भावमात्र को जानता है । तथा नैगम पूर्वक होने से सग्रहनय उसका कार्य है । व्यवहार भी सग्रह पूर्वक होने से कार्य है एव विशेष सत् का अवबोधक होने से अल्प विषयवाला है । व्यवहार तीनकालवर्ती अर्थ का ग्राहक है उस पूर्वक ऋजुसूत्र होता है अत ऋजुसूत्र उसका कार्य है एव केवल वर्त्तमान अर्थ का ग्राहक होने से अल्प विषयवाला है । ऋजुसूत्रनय कारक आदि

भेदेनाऽभिन्नमर्थं प्रतिपद्यमानादृजुसूत्रतः तत्पूर्वकः शब्दनयोप्यल्पविषय एव तद्विपरीतार्थगोचरत्वात्। शब्दनयात्पर्यायभेदेनार्थाभेदं प्रतिपद्यमानात् तद्विपर्ययात् तत्पूर्वक समभिरूढोप्यल्पविषय एव। समभिरूढतश्च क्रियाभेदेनाऽभिन्नमर्थं प्रतियतः तद्विपर्ययात् तत्पूर्वक एवम्भूतोप्यल्पविषय एवेति।

नन्वेते नया. किमेकस्मिन्विषयेऽविशेषेण प्रवर्त्तन्ते, किं वा विशेषोस्तीति ? अत्रोच्यते—यत्रोत्तरोत्तरो नयोऽर्थांशे प्रवर्त्तते तत्र पूर्वः पूर्वोपि नयो वर्त्तते एव, यथा सहस्रेऽष्टशती तस्यां वा पञ्चशतीत्यादौ पूर्वसख्योत्तरसख्यायामविरोधतो वर्त्तते। यत्र तु पूर्वः पूर्वो नयः प्रवर्त्तते तत्रोत्तरोत्तरो नयो न प्रवर्त्तते; पञ्चशत्यादावऽष्टशत्यादिवत्। एव नयार्थे प्रमाणस्यापि साशवस्तुवेदिनो वृत्तिरविरुद्धा, न तु प्रमाणार्थे नयाना वस्त्वशमात्रवेदिनामिति।

का भेद होने पर भी अभिन्न अर्थ को ग्रहण करता है, और शब्दनय कारकादि के भेद होने पर अर्थ मे भेद ग्रहण करता है अत. ऋजुसूत्र से शब्दनय अल्प विषयवाला है तथा ऋजुसूत्रपूर्वक होने से शब्दनय उसका काय है। शब्दनय पर्यायवाची शब्द या पर्याय के भिन्न होनेपर भी उनमे अर्थ भेद नही करता किंतु समभिरूढनय पर्याय के भिन्न होनेपर अर्थ मे भेद करता है अत शब्दनय से समभिरूढनय अल्प विषयवाला है एव तत्पूर्वक होने से उसका कार्य है। समभिरूढनय क्रिया का भेद होने पर भी अर्थ मे भेद नही करता किन्तु एवभूत क्रिया भेद होने पर अवश्य अर्थ भेद करता है अतः समभिरूढ से एवभूत अल्प विषयवाला है तथा तत्पूर्वक होने से कार्य है। इस प्रकार नैगमादिनयो का विषय और कारण कार्य भाव समझना चाहिये।

शका—ये सात नय एक विषय मे समानरूप से प्रवृत्त होते हैं अथवा कुछ विशेषता है ?

समाधान—विशेषता है, वस्तु के जिस अश मे आगे आगे का नय प्रवृत्त होता है उस अंश मे पूर्व पूर्व का नय प्रवृत्त होता ही है, जैसे कि हजार संख्या मे आठसौ की सख्या रहती है एव आठसौ मे पाचसौ रहते है, पूर्व संख्या मे उत्तर सख्या रहने का अविरोध है। किंतु जिस वस्तु अश मे पूर्व पूर्व का नय प्रवृत्त है उस अश मे उत्तर उत्तर का नय प्रवृत्त नही हो पाता, जैसे कि पाचसौ की सख्या मे आठसौ सख्या नही रहती है। इसीतरह सकल अंश युक्त या साश वस्तु के ग्राहक प्रमाण की नय के विषय मे प्रवृत्ति होना अविरुद्ध है, किंतु एक अंशमात्र को ग्रहण करने वाले नयो की प्रमाण के विषय मे प्रवृत्ति नही हो सकती है। जैसे पाचसौ मे आठसौ नही रहते हैं।

कथं पुनर्नयसप्तभङ्ग्या' प्रवृत्तिरिति चेत् ? 'प्रतिपर्यायं वस्तुन्येकत्राविरोधेन विधिप्रतिषेध-कल्पनाया:' इति ब्रूमः। तथाहि–सङ्कल्पमात्रग्राहिणो नैगमस्याश्रयणाद्विधिकल्पना, प्रस्थादिकं कल्पना-मात्रम्– प्रस्थादि स्यादस्ति' इति। संग्रहाश्रयणात्तु प्रतिषेधकल्पना; न प्रस्थादि सङ्कल्पमात्रम्–प्रस्थादि-सन्मात्रस्य तथाप्रतीतेरसतः प्रतीतिविरोधादिति। व्यवहाराश्रयणाद्वा द्रव्यस्य पर्यायस्य वा प्रस्थादि-

---

सप्तभंगी विवेचन

प्रश्न—नयों के सप्तभंगों की प्रवृत्ति किसप्रकार हुआ करती है ?

उत्तर—एक वस्तु में अविरोधरूप से प्रति पर्याय के आश्रय से विधि और निषेध की कल्पना स्वरूप सप्तभंगी है या सप्तभंगी की प्रवृत्ति है। आगे इसी को दिखाते है– संकल्पमात्र को ग्रहण करनेवाले नैगमनय के आश्रय से विधि [अस्ति] की कल्पना करना, कल्पना मे स्थित जो प्रस्थ [माप विशेष] है उसको "प्रस्थादि स्याद् अस्ति" ऐसा कहना और संग्रह का आश्रय लेकर प्रतिषेध [नास्ति] की कल्पना करना, जैसे प्रस्थादि नही है ऐसा कहना। संग्रह कहेगा कि प्रस्थादि संकल्प मात्र नही होता, क्योंकि सत् रूप प्रस्थादि मे प्रस्थपने की प्रतीति होगी असत् की प्रतीति होने मे विरोध है। इसप्रकार नैगम द्वारा गृहीत जो विधिरूप संकल्प मे स्थित प्रस्थादि है वह संग्रहनय की अपेक्षा निषिद्ध होता है। अथवा नैगम के संकल्पमात्ररूप प्रस्थादि का निषेध व्यवहार से भी होता है, क्योंकि व्यवहारनय भी द्रव्यप्रस्थादि या पर्यायप्रस्थादि का विधायक है इससे विपरीत संकल्पमात्र मे स्थितप्रस्थादि फिर चाहे वह आगामी समय मे सत्‌रूप होवे या असत्‌रूप होवे ऐसे प्रस्थादि का विधायक व्यवहार नहीं हो सकता। नैगम के प्रस्थादि का ऋजुसूत्रनय द्वारा ग्रहण नही होता क्योंकि यह पर्याय मात्र के प्रस्थादि को प्रस्थपने से प्रतिपादन करता है अतः नैगम के प्रस्थादि का वह निषेध [नास्ति] ही करेगा। अर्थात् प्रस्थ पर्याय से जो रहित है उसकी प्रतीति इस नय से नही हो सकती। शब्दनय भी कालादि के भेद से भिन्न अर्थरूप जो प्रस्थादि है उसीको प्रस्थपने से कथन करता है अन्यथा अतिप्रसंग होगा। समभिरूढनय का आश्रय लेने पर भी नैगम के प्रस्थादि मे प्रतिषेध कल्पना होती है, क्योंकि समभिरूढ पर्याय के भेद से भिन्न अर्थरूप को ही प्रस्थादि स्वीकार करेगा, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। एवं-भूत का आश्रय लेकर भी सङ्कल्परूप प्रस्थादि मे प्रतिषेध कल्पना होती है, क्योंकि यह

प्रतीतिः; तद्विपरीतस्याऽसत' सतो वा प्रत्येतुमशक्तेः। ऋजुसूत्राश्रयणाद्वा पर्यायमात्रस्य प्रस्थादित्वेन प्रतीतिः, अन्यथा प्रतीत्यनुपपत्ते.। शब्दाश्रयणाद्वा कालादिभिन्नस्यार्थस्य प्रस्थादित्वम्, अन्यथाति-प्रसङ्गात्। समभिरूढाश्रयणाद्वा पर्यायभेदेन भिन्नस्यार्थस्य प्रस्थादित्वम्; अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्।

नय भी प्रस्थकी मापने की जो क्रिया है उस क्रिया मे परिणत प्रस्थ को ही प्रस्थपने से स्वीकार करता है, सङ्कल्पस्थित प्रस्थका प्रस्थपना स्वीकार नही करता, अन्यथा अति-प्रसंग होगा। इसप्रकार नैगमनय द्वारा गृहीत प्रस्थादि विधिरूप है और अन्य छह नयों मे से किसी एक नय का आश्रय लेनेपर उक्त प्रस्थादि प्रतिषेधरूप है अतः प्रस्थादि स्यादस्ति, प्रस्थादि स्यान्नस्ति, ये दो भंग हुए, तथा क्रम से अर्पित उभयनय की अपेक्षा प्रस्थादि स्याद् उभयरूप है [अस्तिनास्तिरूप] युगपत् उभयनय की अपेक्षा स्याद् प्रस्थादि अवक्तव्य है। इसीतरह अवक्तव्यरूप शेष तीन भंगो का कथन करना चाहिये। वे इसप्रकार है—नैगम और अक्रम की अपेक्षा लेने पर प्रस्थादि स्यात् अस्ति अवक्तव्य है। संग्रह आदि में से किसी एक नय की अपेक्षा और अक्रम की अपेक्षा लेने पर प्रस्थादि स्यात् नास्ति अवक्तव्य है। नैगम तथा सग्रहादि मे से एक एव अक्रम की अपेक्षा लेने पर प्रस्थादि स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य है।

विशेषार्थ—यहा पर श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने सप्तभगी बनाने के प्रकार सूचित मात्र किये है। श्लोकवार्त्तिक मे इसका विस्तृत विवेचन पाया जाता है। वह इसप्रकार—नैगमनय की अपेक्षा अस्तित्व कहने पर स्यात् प्रस्थादि अस्ति १ संग्रह की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि नास्ति २ क्रम से उभय की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि अस्ति नास्ति ३ अक्रम की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि अवक्तव्य ४ नैगम और अक्रम की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि अस्ति अवक्तव्य ५ सग्रह और अक्रम की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि नास्ति अवक्तव्य ६ और नैगम और सग्रह तथा अक्रम की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि अस्ति नास्ति अवक्तव्य ७ इसप्रकार नैगमनय विधि को विषय करने पर और उसके साथ सग्रहनय निषेध को विषय करने पर ये सात भंगो वाली एक सप्तभगी हुई। इसीतरह नैगम से विधि कल्पना कर और व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवभूत से प्रतिपेध की कल्पना कर दो। मूल भगो को बनाकर शेप पाच क्रम अक्रम आदि से बनाते हुए पाच सप्तभगियां बना लेना। नैगमनय की सग्रह आदि के साथ छह सप्तभगिया होती हैं। तथा सग्रहनय की अपेक्षा विधि कल्पना कर और व्यवहारनय की अपेक्षा प्रतिषेध कल्पना

एवभूताश्रयणाद्वा प्रस्थादिक्रियापरिणतस्यैवार्थस्य प्रस्थादित्व नान्यस्य अतिप्रसङ्गादिति । तथा स्यादुभय क्रमार्पितोभयनयार्पणात् । स्यादवक्तव्य सहार्पितोभयनयाश्रयणात् एवमवक्तव्योत्तरा: शेषास्त्रयो भङ्गा यथायोगमुदाहार्या: ।

ननु'चोदाहृता नयसप्तभगी । प्रमाणसप्तभगीतस्तु तस्या. किङ्कृतो विशेष इति चेत् ?

करते हुए दो मूल भग वनाकर सप्तभगी वना लेना । इमीप्रकार सग्रह की अपेक्षा विधि कल्पना कर ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवभूत नयो की अपेक्षा नास्तित्व मानकर अन्य चार सप्तभगिया बना लेना । इनप्रकार सग्रहनय की व्यवहार आदि के साथ कथन कर देने से एक एक के प्रति एक एक सप्तभगी होती हुई पाच सप्तभंगियां हुई तथा व्यवहार की अपेक्षा अस्तित्व कल्पना कर और ऋजुसूत्र की अपेक्षा नास्तित्व को मानकर एक सप्तभगी बनाना । इसीप्रकार व्यवहार-नयकी अपेक्षा अस्तित्व मानकर शब्द, समभिरूढ और एवभूत से नास्तित्व कल्पते हुये तीन सप्तभगिया और भी बना लेना । ये व्यवहारनयकी ऋजुसूत्र आदि के साथ बन चार सप्तभगिया हुई तथा ऋजुसूत्र की अपेक्षा विधिकल्पना के अनुसार शब्द आदिक तीन नयो के साथ निषेध कल्पना कर दो दो मूल भग बनाते हुये ऋजुसूत्र की शब्द आदि तीन के साथ तीन सप्तभगिया हुई तथा शब्दनयकी अपेक्षा विधिकल्पना कर और समभिरूढ के साथ निषेध कल्पना करते हुये एक सप्तभगी बनाना । इसीप्रकार शब्द द्वारा विधि और एवभूत द्वारा निषेध कल्पना कर सप्तभगी होगी तथा समभिरूढ की अपेक्षा अस्तित्व और एवभूत की अपेक्षा नास्तित्व लेकर सप्तभगी बना लेना । इसप्रकार स्वकीय पक्ष हो रहे पूर्व पूर्व नयो की अपेक्षा विधि और प्रतिकूल पक्ष माने गये उत्तर उत्तर नयो की अपेक्षा प्रतिषेधकल्पना करके सात मूल नयो की इक्कीस सप्तभगिया हो जाती हैं । ऐसे ही आगे चलकर नैगम आदि के प्रभेद करके एक सौ सतरह सप्तभगी तथा उत्तरोत्तर प्रभेदो की अपेक्षा एक सौ पचहत्तर सप्तभगी सम्भव है ।

शका—नयसप्तभगी का प्रतिपादन तो हुआ किंतु प्रमाण सप्तभगी और इस नयसप्तभगी मे क्या विशेषता है अथवा भेद या अतर है ?

'सकलविकलादेशकृत' इति ब्रूमः। विकलादेशस्वभावा हि नयसप्तभगी वस्त्वशमात्रप्ररूपकत्वात्। सकलादेशस्वभावा तु प्रमाणसप्तभंगी यथावद्वस्तुरूपप्ररूपकत्वात्। तथा हि–स्यादस्ति जीवादिवस्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया। स्यान्नास्ति परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया। स्यादुभय क्रमार्पितद्वयापेक्षया। स्यादवक्तव्य सहार्पितद्वयापेक्षया। एवमवक्तव्योत्तरास्त्रयो भंगाः प्रतिपत्तव्याः।

समाधान— सकलादेश और विकलादेश की अपेक्षा विशेषता या भेद है। वस्तु के अंशमात्र का प्ररूपक होने से नय सप्तभगी विकलादेश स्वभाव वाली है और यथावत् वस्तु स्वरूप [पूर्ण वस्तु] की प्ररूपक होने से प्रमाण सप्तभगी सकलादेश स्वभाव वाली है। ऊपर नय सप्तभगी के उदाहरण दिये थे अब यहां प्रमाण सप्तभगी का उदाहरण प्रस्तुत करते है–स्यात् अस्ति जीवादि वस्तु स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा १ स्यात् नास्ति जीवादि वस्तु पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा २ स्यात् अस्ति नास्ति जीवादि वस्तु क्रमार्पित स्वद्रव्यादि एव परद्रव्यादि की अपेक्षा ३ स्यात् जीवादि वस्तु अवक्तव्य सहअर्पित स्वपरद्रव्यादि अपेक्षा ४ स्यात् जीवादि वस्तु अस्ति अवक्तव्य स्वद्रव्यादि और अक्रम की अपेक्षा ५ स्यात् जीवादि वस्तु नास्ति अवक्तव्य परद्रव्यादि और अक्रम की अपेक्षा ६ स्यात् जीवादिवस्तु अस्ति नास्ति अवक्तव्य स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि तथा अक्रम की अपेक्षा ७ इसप्रकार प्रमाण सप्तभगी को समझना चाहिये।

विशेषार्थ—यहा पर प्रश्न हुआ कि नयसप्तभगी और प्रमाण सप्तभगी मे क्या विशेष या अन्तर है? इसके उत्तर मे आचार्य ने कहा कि इनमे विकलादेश और सकलादेश की अपेक्षा विशेष या अतर है। प्रमाण ज्ञान सकलादेश–पूर्णरूप से वस्तु का ग्राहक है और नयज्ञान विकलादेश–अशरूप से वस्तु का ग्राहक है। प्रमाण सप्तभगी और नयसप्तभगी मे मौलिक अंतर यह दिखता है कि नयसप्तभगी मे नास्तित्व की व्यवस्था कराने के लिये विरुद्ध धर्म अपेक्षणीय है और प्रमाण सप्तभगी मे नास्तित्व धर्म की व्यवस्था के लिये अविरुद्ध आरोपित धर्म से नास्तित्व की व्यवस्था है। अथवा सर्वथा भिन्न पदार्थो की अपेक्षा विरुद्ध पदार्थो की ओर से भी नास्तित्व बन जाता है। तथा प्रमाण सप्तभगी और नयसप्तभंगी मे अन्य धर्म की अपेक्षा रखना और अन्य धर्म की उपेक्षा रखना यह भेद भी प्रसिद्ध है।

कस्मात्पुनर्नयवाक्ये प्रमाणवाक्ये वा सप्तैव भगा· सम्भवन्तीति चेत् ? प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव सम्भवात् । प्रश्नवशादेव हि सप्तभगीनियमः । सप्तविध एव प्रश्नोपि कुत इति चेत् ? सप्तविधजिज्ञासासम्भवात् । सापि सप्तधा कुत इति चेत् ? सप्तधा सशयोत्पत्ते । सोपि सप्तधा कथमिति चेत् ? तद्विषयवस्तुधर्मस्य सप्तविधत्वात् । तथा हि–सत्त्व तावद्वस्तुधर्म'; तदनभ्युपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात् खरशृङ्गवत् । तथा कथञ्चिदसत्त्वं तद्धर्म एव, स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरप्यस्याऽसत्त्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाऽसम्भवाद्वस्तुप्रतिनियमविरोध. स्यात् । एतेन क्रमार्पितोभय-

---

शका—नयवाक्य तथा प्रमाण वाक्य मे सात ही भग क्यो होते है ?

समाधान—प्रतिपाद्यभूत जो शिष्यादि है उनके प्रश्न सात ही होने से प्रमाण वाक्य तथा नय वाक्य मे सात ही भग होते है । प्रश्न के वश से सप्तभगी का नियम प्रसिद्ध है ।

शका—प्रतिपाद्यो के सात ही प्रश्न क्यो हैं ।

समाधान—सात प्रकार से जानने की इच्छा होने के कारण सात ही प्रश्न होते है ।

शका—जानने की इच्छा भी सात प्रकार की क्यो है ?

समाधान—सात प्रकार का सशय होने के कारण सात जिज्ञासा है ।

शका—सशय भी सात प्रकार ही क्यो होता है ?

समाधान—सशय विषयक वस्तु के धर्म सात प्रकार के होने से सशय भी सात प्रकार का होता है । आगे इसीको दिखाते है–सत्त्व अर्थात् अस्तित्व वस्तु का धर्म है हो यदि इस अस्तित्व को वस्तु का धर्म न माना जाय तो वस्तु का वस्तुत्व ही समाप्त होगा गधे के सीग की तरह । तथा वस्तु का नास्तित्व धर्म भी कथञ्चित् है क्योकि यदि वस्तु मे नास्तित्व धर्म न माने तो उस वस्तु का प्रतिनियत स्वरूप असम्भव होगा, अर्थात् जैसे स्वरूपादि की अपेक्षा नास्तित्व धर्म अनिष्ट है वैसे पर रूपादि की अपेक्षा भी नास्तित्व धर्म को अनिष्ट किया जाय तो प्रतिनियत स्वरूप न रहने से वस्तु का प्रतिनियम ही विघटित होवेगा । जैसे वस्तु मे अस्ति और नास्ति धर्म सिद्ध होते हैं

त्वादीनां वस्तुधर्मत्व प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम् । तदभावे क्रमेण सदसत्त्वविकल्पशब्दव्यवहारविरोधात्, सहाऽवक्तव्यत्वोपलक्षितोत्तरधर्मत्रयविकल्पस्य शब्दव्यवहारस्य चासत्त्वप्रसगात् । न चामी व्यवहारा निर्विषया एव; वस्तुप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिनिश्चयात् तथाविधरूपादिव्यवहारवत् ।

ननु च प्रथमद्वितीयधर्मवत् प्रथमतृतीयादिधर्माणा क्रमेतरार्पितानां धर्मान्तरत्वसिद्धेर्न सप्तविधधर्मनियमः सिद्धचेत्; इत्यप्यसुन्दरम्; क्रमार्पितयोः प्रथमतृतीयधर्मयोः धर्मान्तरत्वेनाऽप्रतीते, सत्त्वद्वयस्यासम्भवाद्विवक्षितस्वरूपादिना सत्त्वस्यैकत्वात् । तदन्यस्वरूपादिना सत्त्वस्य द्वितीयस्य सम्भवे विशेषादेशात् तत्प्रतिपक्षभूतासत्त्वस्याप्यपरस्य सम्भवादपरधर्मसप्तकसिद्धि (द्धेः) सप्तभङ्गय-

---

वैसे क्रमार्पित उभयत्व आदि शेष धर्म भी वस्तु धर्म रूप है ऐसा प्रतिपादन हुआ समझना । अर्थात् स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य आदि धर्म भी वस्तु मे है । अस्ति नास्ति का अभाव करे तो क्रम से सत्त्व और असत्त्व शब्द का व्यवहार विरुद्ध होगा । तथा युगपत् की अपेक्षा अवक्तव्य आदि से उपलक्षित स्यात् अवक्तव्य एव उत्तर के तीन धर्म रूप शब्द व्यवहार भी समाप्त होगा । स्यात् अस्ति नास्ति, स्याद् अवक्तव्य आदि व्यवहार निर्विषय–विषयरहित काल्पनिक भी नही कहे जा सकते, क्योकि इन शब्द व्यवहारो से वस्तु की प्रतिपत्ति [ज्ञान] वस्तु की प्रवृत्ति [वस्तु को लेने आदि के लिये प्रवृत्त होना] एव वस्तु की प्राप्ति होती है । जैसे कि अन्यत्र प्रतिपत्ति प्रवृत्ति आदि का व्यवहार होता है । यदि अन्यत्र शब्दादि से होने वाला व्यवहार भी निर्विषयी माना जायगा तो सम्पूर्ण प्रत्यक्षादि से होने वाला व्यवहार भी लुप्त होगा और फिर किसी के भी इष्ट तत्त्व की व्यवस्था नही हो सकेगी ।

शका—प्रथम [अस्ति] और द्वितीय [नास्ति] धर्म के समान प्रथम और तृतीय आदि धर्मो को क्रम तथा अक्रम से अर्पित करने पर अन्य अन्य धर्म भी बन सकते है अत. सात ही प्रकार का धर्म है ऐसा नियम असिद्ध है ?

समाधान—यह कथन असत् है, क्रम से अर्पित प्रथम और तृतीय धर्म धर्मान्तररूप अर्थात् पृथक् धर्मरूप प्रतीत नही होते । एक ही वस्तु में दो सत्त्व धर्म असम्भव है, केवल विवक्षित स्वरूपादि की अपेक्षा एक ही सत्त्वधर्म सम्भव है । अर्थात् विवक्षित एक मनुष्य वस्तु मे स्वद्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा एक ही सत्त्व या अस्तित्व है दूसरा सत्त्व नही है । यदि उससे अन्य स्वरूपादि की अपेक्षा दूसरा सत्त्व

न्तरसिद्धितो' न कश्चिदुपालम्भः । एतेन द्वितीयतृतीयधर्मयोः क्रमार्पितयोर्धर्मान्तरत्वमप्रातीतिकं व्याख्यातम् । कथमेव प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयचतुर्थयोश्च सहितयोर्धर्मान्तरत्वं स्यादिति चेत् ? चतुर्थेऽवक्तव्यत्वधर्म्मे सत्वासत्वयोरपरामर्शात् । न खलु सहार्पितयोस्तयोरवक्तव्यशब्देनाभिधानम् । किं तर्हि ? तथार्पितयोस्तयो. सर्वथा वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन प्रतिपादनमिष्यते । न च तेन सहितस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्योभयस्य वाऽप्रतीतिर्धर्मान्तरत्वासिद्धिर्वा, प्रथमे भगे सत्त्वस्य प्रधानभावेन प्रतीते, द्वितीये त्वसत्त्वस्य, तृतीये क्रमार्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोः, चतुर्थे त्ववक्त-

---

संभावित किया जाय अर्थात् उस मनुष्य पर्यायभूत वस्तु से अन्य जो देवादिपर्यायभूत वस्तु है उसके स्वद्रव्यादि की अपेक्षा दूसरा सत्त्व पर्याय विशेष के आदेश से सभावित किया जाय तो उस द्वितीय सत्त्व के प्रतिपक्षभूत जो असत्त्व है वह भी दूसरा संभावित होगा और इसतरह एक अपर धर्मवाली न्यारी सप्तभगी सिद्ध हो जायगी, इसप्रकार की सप्तभगान्तर मानने मे तो कोई दोष या उलाहना नही है । जैसे प्रथम और तृतीय धर्म को धर्मान्तरपना सिद्ध नही होता और न सप्तभग से अधिक भग सिद्ध होते है वैसे हो द्वितीय और तृतीय धर्म को क्रम से अर्पित करने मे धर्मान्तरपना सिद्ध नही होता ऐसा निश्चय करना चाहिए ।

शका—यदि उक्त रीत्या धर्मान्तरपना सम्भव नही है तो प्रथम के साथ चतुर्थ का सयोग करने पर स्यात् अस्ति अवक्तव्य एव द्वितीय के साथ चतुर्थ का संयोग कर स्यात् नास्ति अवक्तव्य, तृतीय के साथ चतुर्थ का सयोग कर स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य को धर्मान्तरपना कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—अवक्तव्य नाम के चौथे धर्म मे सत्त्व और असत्त्व का परामर्श नही होने से उक्त धर्मान्तरपना बन जाता है । युगपत् अर्पित उन सत्त्व असत्त्व का अवक्तव्य शब्द द्वारा कथन नही होता अपितु उक्त रीति से अर्पित हुए उन सत्त्व असत्त्व को सर्वथा कहना अशक्य है इस रूप अवक्तव्य नामा जो धर्मान्तर है उसका अवक्तव्य शब्द द्वारा प्रतिपादन होता है । उस अवक्तव्य सहित सत्त्व की या असत्त्व अथवा उभय की प्रतीति नही होती हो अथवा यह अवक्तव्य पृथक् धर्मरूप सिद्धि नही होता हो सो भी बात नही है । देखिये—प्रथम भग मे [स्यात् अस्ति] सत्त्व-प्रधान भाव से प्रतीत होता है, द्वितीय भग मे [स्यात् नास्ति] असत्व प्रधान भाव से प्रतीत होता है,

व्यत्वस्य, पञ्चमे सत्त्वसहितस्य, षष्ठे पुनरसत्त्वोपेतस्य, सप्तमे क्रमे क्रमवत्तदुभययुक्तस्य सकलजनै: सुप्रतीतत्वात् ।

ननु चावक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरत्वे वस्तुनि वक्तव्यत्वस्याष्टमस्य धर्मान्तरस्य भावात्कथ सप्तविध एव धर्म: सप्तभङ्गीविषय: स्यात् ? इत्यप्यपेशलम्, सत्त्वादिभिरभिधीयमानतया वक्तव्यत्वस्य प्रसिद्धे', सामान्येन वक्तव्यत्वस्यापि विशेषेण वक्तव्यतायामवस्थानात् । भवतु वा वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वयोर्धर्मयो: प्रसिद्धि:; तथाप्याभ्या विधिप्रतिषेधकल्पनाविषयाभ्या सत्त्वासत्त्वाभ्यामिव सप्तभङ्ग्यन्तरस्य प्रवृत्तेर्न तद्विषयसप्तविधधर्मनियमव्याघात', यतस्तद्विषय: संशय' सप्तधैव न स्यात् तद्धेतुर्जि-

---

तृतीय भग मे [स्यात् अस्ति नास्ति] क्रम से अर्पित सत्त्व असत्व प्रधानता से प्रतीत होता है, चतुर्थ भङ्ग मे [स्यात् अवक्तव्य] अवक्तव्यधर्म प्रधानता से प्रतीत होता है, पचम भङ्ग में [स्यात् अस्ति अवक्तव्य] सत्त्व सहित अवक्तव्य मुख्यता से प्रतिभासित होता है, षष्ठ भङ्ग मे [स्यात् नास्ति अवक्तव्य] असत्त्व सहित अवक्तव्य मुख्यता से ज्ञात होता है, और अन्तिम सप्तभङ्ग मे [स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य] क्रम से उभय युक्त अवक्तव्य प्रतिभासित होता है । इसप्रकार यह सर्वजन प्रसिद्ध प्रतीति है अर्थात् सप्तभङ्गी के ज्ञाता इन भङ्गो मे इसीतरह प्रतीति होना स्वीकार करते है ।

शङ्का—यदि अवक्तव्य को वस्तु मे पृथक् धर्मरूप स्वीकार किया जाता है तो वक्तव्यत्व नामका आठवा धर्मान्तर भी वस्तु मे हो सकता है फिर वस्तु मे सप्तभगी के विषयभूत सात प्रकार के ही धर्म हैं ऐसा किसप्रकार सिद्ध हो सकेगा ?

समाधान—यह शका व्यर्थ की है, जब वस्तु सत्त्व आदि धर्मो द्वारा कहने मे आने से वक्तव्य हो रहो है तो वक्तव्य की सिद्धि तो हो चुकती है । सामान्य से वक्तव्यपने का भी विशेष से वक्तव्यपना बन जाता है । अथवा दूसरी तरह से वक्तव्य और अवक्तव्य दो धर्म वस्तु मे अवस्थित है ऐसा माने तो भी सप्तभगी मानने मे या वस्तु मे सात प्रकार के धर्म मानने मे कोई विरोध नही आता, जब वक्तव्य और अवक्तव्य नाम के दो पृथक् धर्म मानते है तब सत्त्व और असत्त्व के समान इन वक्तव्य और अवक्तव्य को क्रम से विधि और प्रतिषेध करके अन्य सप्तभंगी की प्रवृत्ति हो जायगी अत' सप्तभगी के विषयभूत सात प्रकार के धर्मो का नियम विघटित नही होता अर्थात् आठवां धर्म मानने आदि का प्रसंग नही आता । इसप्रकार एक वस्तु में सात प्रकार के

ज्ञासा वा तन्निमित्त' प्रश्नो वा वस्तुन्येकत्र सप्तविधवाक्यनियमहेतु । इत्युपपन्नेयम्–प्रश्नवशादेक-वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी । 'अविरोधेन' इत्यभिधानात् प्रत्यक्षादिविरुद्धविधि-प्रतिषेधकल्पनाया· सप्तभङ्गीरूपता प्रत्युक्ता, 'एकवस्तुनि' इत्यभिधानाच्च अनेकवस्त्वाश्रयविधिप्रति-षेधकल्पनाया इति ।

।। नयविवेचन समाप्त· ।।

धर्म ही सिद्ध होते है और उनके सिद्ध होने पर उनके विषयरूप सशय सात प्रकार का, उसके निमित्त से होने वाली जिज्ञासा सात प्रकार की एव उसके निमित्त से होने वाला प्रश्न सात प्रकार सिद्ध हो जाता है । इसलिये एक वस्तु मे सात प्रकार के वाक्यो का नियम है । इसतरह 'प्रश्नवशात् एक वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभगी' प्रश्न के वश से एक वस्तु मे विरोध नही करते हुए विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना सप्तभगी है । यह सप्तभगी का लक्षण निर्दोष सिद्ध हुआ । सप्तभगी के लक्षण मे अविरोधेन–विरोध नही करते हुए यह पद है उससे प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित या विरुद्ध जो विधि और प्रतिषेध की कल्पना है वह सप्तभगी नही कहलाती ऐसा निश्चय होता है । तथा एक वस्तुनि–एक वस्तु मे इस पद से अनेक पृथक् पृथक् वस्तुओ का आश्रय लेकर विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना मना होता है अर्थात् एक ही वस्तु मे विधि आदि को लेकर सप्तभग किये जाते है अनेक वस्तुओ का आश्रय लेकर नही ।

।। नय विवेचन एव सप्तभगी विवेचन समाप्त ।।

नयविवेचन एवं सप्तभंगी विवेचन का सारांश

अनिराकृत प्रतिपक्षो वस्त्वशग्राही ज्ञातुरभिप्रायोनय. प्रतिपक्ष का निराकरण न करके वस्तु के एक अश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है। और जो प्रतिपक्ष का निराकरण करता है वह नयाभास है। अर्थात् एक ही वस्तु मे परस्पर विरुद्ध रूप धर्म हुआ करते है जैसे अस्तित्व और नास्तित्व तथा नित्यत्व और अनित्यत्व आदि इन विरद्ध धर्मो मे एक धर्माश को ग्रहण करते हुए भी उसके विरुद्ध या प्रतिपक्ष दूसरा धर्म है उसका निराकरण न करना समीचीन नय ज्ञान और प्रतिपक्ष धर्म का निराकरण करना मिथ्यानयज्ञान या नयाभास है। इसप्रकार सक्षेप से सपूर्ण नयो में एव उनके प्रभेदो मे सुघटित होने वाला नय का तथा नयाभास का सामान्य लक्षण है। नय के मूल दो भेद हैं द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक नय। द्रव्य जिसका प्रयोजन अर्थात् विषय है वह द्रव्यार्थिक और पर्याय जिसका प्रयोजन या विषय है वह पर्यायार्थिक नय है। द्रव्यार्थिक नय के नैगमनय, सग्रहनय, व्यवहारनय ऐसे तीन भेद है। पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय एवभूतनय ऐसे चार भेद है। इन सबका अबाधित लक्षण मूल मे है। सकल्प मात्र का ग्राहक नैगम है अथवा धर्म धर्मी को गौण और मुख्यता से विषय करना नैगमनय है। जो धर्म और धर्मी मे सर्वथा भेद मानता है वह नैगमाभास है। नैयायिक वैशेषिक धर्म और धर्मी मे, [गुण और गुणी मे] सर्वथा भेद स्वीकार करते हैं अत. वे नैगमाभासी हैं। सभी विशेषो को अतर्लीन करके अविरोध रूप से सत् सामान्य का ग्राहक संग्रह नय है और इससे विपरीत विशेषो का विरोध करने वाला सग्रहाभास है अद्वैतवादो–ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत आदि तथा साख्य सग्रहाभासी हैं। संग्रहनय द्वारा गृहीत अर्थो का विधि पूर्वक विभाग करना व्यवहारनय है और उक्त अर्थो मे होनेवाले कथचित् भेदो को सर्वथा काल्पनिक मानकर विभाग करना व्यवहाराभास है।

वर्तमान क्षण का ग्राहक ऋजुसूत्र नय है। द्रव्यत्व का सर्वथा निषेध करके केवल क्षणमात्र रूप वस्तु को मानने वाला ऋजुसूत्राभास है। बौद्ध वस्तु को सर्वथा क्षणिक स्वीकारते है अतः ऋजुसूत्राभासी हैं।

काल कारक आदि के भेदो से भिन्न अर्थ को कहने वाला शब्दनय है। शब्द भेद से अर्थभेद स्वीकारने वाला समभिरूढनय है इसकी दृष्टि मे एक वस्तु के पर्यायवाची अनेक शब्द नही हो सकते। विवक्षित क्रिया परिणत वस्तु मात्र का ग्राहक एवभूतनय है। इसकी दृष्टि मे जिस समय जो क्रिया करता है वही उसकी सज्ञा है, अन्य समय मे वह सज्ञा नही है। ये शब्दनय, समभिरूढनय और एवभूतनय परस्पर मे यदि सापेक्ष है तब तो सम्यक्नय कहलायेगे अन्यथा शब्दनयाभास आदि हो जायेगे। ऋजु-सूत्र तक चार नय अर्थप्रधान है और अग्रिम तीन नय शब्दप्रधान है।

नैगम आदि नयो मे आगे आगे के नय अल्प विषय वाले होते गये है। इन सातो नयो का आगे आगे विषय किसप्रकार अल्प होता गया है इसके लिए एक उदाहरण है—एक व्यक्ति ने कहा "चिड़िया बोल रही है" अब नैगमनय कहेगा गाव मे चिडिया बोल रही है। सग्रहनय की अपेक्षा वृक्ष पर चिड़िया बोल रही है। व्यवहार-नय की अपेक्षा तनाधार पर, ऋजुसूत्र की अपेक्षा शाखा पर, शब्दनय की अपेक्षा घौसले मे, समभिरूढ की अपेक्षा शरीर मे और एवभूतनय की अपेक्षा कण्ठ मे चिडिया बोल रही है। यह उदाहरण केवल अल्प अल्प विषय किसप्रकार है इसके लिये दिया है।

सप्तभंगी

प्रश्न के वश से एक ही वस्तु मे अविरोधरूप से विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है। इसमे सात भग होते है अत सप्तभगी कहते है। सात भग ही क्यो होते है इसके लिये श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने बहुत ही सुन्दर कथन किया है कि प्रतिपाद्य पुरुष के सात ही प्रश्न होने से सप्त भग है। सात ही प्रश्न क्यो है तो सात प्रकार से वस्तु तत्त्व समझने की जिज्ञासा होती है जिज्ञासा भी सात क्यो तो सशय सात प्रकार का होता है, और सशय सात प्रकार का ही क्यो तो वस्तु मे स्वय मे सात ही स्वरूप है इसलिये।

सप्तभगी के नयसप्तभगी और प्रमाणसप्तभगी ऐसे दो भेद है। दोनो मे यही अन्तर है कि प्रमाणसप्तभगी मे नास्तित्व धर्म की व्यवस्था के लिये अविरुद्ध आरोपित धर्म से नास्तित्व की व्यवस्था होती है और नयसप्तभगी मे नास्तित्व की

व्यवस्था के लिये विरुद्ध धर्म अपेक्षणीय है। अथवा प्रमाण सप्तभगी सकलादेशी और नयसप्तभगी विकलादेशी है। अन्य धर्म की अपेक्षा रखना और अन्य धर्म की उपेक्षा करना यह भी इन दो सप्तभंगी मे भेद—अन्तर है। वस्तु मे सात ही स्वरूप क्यो हैं इसका समाधान भी बहुत अच्छे प्रकार से दिया है नयसप्तभंगी का कथन करते हुए नैगम आदि नयो में से नैगम और संग्रह, नैगम और व्यवहार इत्यादि का आश्रय लेकर विधि प्रतिषेध की कल्पना करके दिखाया गया है। जैसे नैगमनय के आश्रय से विधि कल्पना प्रस्थादि सकल्पमात्र रूप है "स्यात् प्रस्थादि अस्ति" और सग्रहनय के आश्रय से प्रतिषेध कल्पना, प्रस्थादि संकल्पमात्र नही है स्यात् प्रस्थादि नास्ति इत्यादि। इस प्रकार इन दोनों के आश्रय से एक सप्तभगी होगी ऐसे ही नैगम और व्यवहार, नैगम और ऋजुसूत्र इत्यादि का आश्रय लेकर सप्तभंगी के सैकड़ों भेद होना सम्भव है। अस्तु।

।। नयविवेचन एव सप्तभगी विवेचन का साराश समाप्त ।।

अथवा प्रागुक्तश्चतुरङ्गो वादः पत्रावलम्बनमप्यपेक्षते, अतस्तल्लक्षणमत्रावश्यमभिधातव्यम् यतो नास्याऽविज्ञातस्वरूपस्यावलम्बनं ,जयाय प्रभवतीति ब्रुवाणं प्रति सम्भवदित्याह । सम्भवद्विद्यमानमन्यत् पत्रलक्षण विचारणीय तद्विचारचतुरै । तथाहि–स्वाभिप्रेतार्थसाधनानवद्यगूढपदसमूहात्मक

पहले जयपराजय प्रकरण मे चार अग [वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति] वाला वाद होता है ऐसा कहा था यह वाद कभी पत्र के अवलबन की अपेक्षा भी रखता है, अत. यहा पर उस पत्र का लक्षण कहना योग्य है, क्योकि जो पुरुष पत्र के स्वरूप को नही जानता वह उसका अवलम्बन लेकर वाद करेगा तो जय प्राप्त करने के लिये समर्थ नही होगा। इसप्रकार का प्रश्न होने पर श्री माणिक्यनन्दी ने "सभवदन्यद्विचारणीयम्" यह उत्तर स्वरूप सूत्र रचा है। अर्थात् प्रमाण–प्रमाणाभास का कण्ठोक्त कथन कर देने पर शेष नय आदि का कथन अन्य ग्रन्थो से जानना ऐसा परीक्षामुखसूत्रकार का अभिप्राय है अथवा प्रमाणतदाभासौ . इत्यादि द्विचरम सूत्र मे वाद मे होने वाली जय पराजय व्यवस्था कर देने पर पत्र द्वारा होने वाले वाद मे पत्र का स्वरूप किस प्रकार का होना चाहिये इस बात को अन्य ग्रन्थ से जानना चाहिये ऐसा सूत्रकार का अभिप्राय है। अब इस अभिप्राय के अनुसार "सभवदन्यद्-विचारणीयम्" इस सूत्र का अर्थ करते है–सभवद् अर्थात् विद्यमान अन्यद् जो पत्र का

प्रसिद्धावयवलक्षणं वाक्यं पत्रमित्यवगन्तव्यं तथाभूतस्यैवास्य निर्दोषतोपपत्तेः। न खलु स्वाभिप्रेतार्थासाधक दुष्टं सुस्पष्टपदात्मकं वा वाक्य निर्दोष पत्र युक्तमतिप्रसङ्गात्। न च क्रियापदादिगूढ काव्यमप्येव पत्र प्रसज्यते; प्रसिद्धावयवत्वविशिष्टस्यास्य पत्रत्वाभिधानात्। न हि पदगूढादिकाव्य प्रमाणप्रसिद्धप्रतिज्ञाद्यवयवविशेषणतया किञ्चित्प्रसिद्धम्, तस्य तथा प्रसिद्धौ पत्रव्यपदेशसिद्धेरबाधनात्। तदुक्तम्—

"प्रसिद्धावयव वाक्य स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्।
साधु गूढपदप्राय पत्रमाहुरनाकुलम्॥" [पत्रप० पृ० १]

कथ प्रागुक्तविशेषणविशिष्ट वाक्य पत्र नाम, तस्य श्रोत्रसमधिगम्यपदसमुदयविशेषरूपत्वात्,

---

लक्षण है उसका तद्विचार करने मे चतुर पुरुषो को विचार करना चाहिये। आगे पत्र का लक्षण कहते है–अपने को इष्ट ऐसे साधन वाला निर्दोष एव गूढ पदो के समुदाय स्वरूप, प्रसिद्ध अवयव युक्त वाक्य को पत्र कहते हैं, इसतरह के लक्षणो से लक्षित वाक्य ही निर्दोष पत्र कहा जा सकता है। जो अपने इष्ट अर्थ का साधन नही है, अपशब्द वाला है, या गूढ अर्थ युक्त नही है ऐसा वाक्य निर्दोष पत्र नही कहा जा सकता, अन्यथा काव्य आदि किसी वाक्य को पत्र मानने का अतिप्रसंग उपस्थित होगा। पत्र के लक्षण में तीन विशेषण है अपने इष्टार्थ का साधक हो, निर्दोष गूढ पद युक्त हो, एव अनुमान के प्रसिद्ध अवयवो से सहित हो। इनमे से क्रिया पद आदि से गूढ काव्य भी हुआ करता है अतः उसको पत्र मानने का प्रसंग आयेगा ऐसी आशका नही करना क्योकि अनुमान के प्रसिद्ध अवयवो से सहित होने पर ही पत्रपना सभव है, काव्य मे होने वाले क्रिया आदि के गूढपद प्रमाण प्रसिद्ध प्रतिज्ञा हेतु आदि अवयवो से विशिष्ट नही हुआ करते है। यदि किसी काव्य मे इसतरह के पद–वाक्य होवे तो वह भी पत्र कहा जा सकता है। पत्र परीक्षा नामाग्रन्थ में पत्र का यही लक्षण कहा है– प्रसिद्धावयव वाक्य स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्। साधु गूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम्॥१॥ अर्थात् प्रसिद्ध अवयव संयुक्त स्वेष्ट अर्थ का प्रसाधक, निर्दोष एव गूढ पदो से युक्त अबाधित वाक्य को पत्र कहते है।

शंका—उपर्युक्त विशेषों से युक्त वाक्य को पत्र कहना किसप्रकार संगत हो सकता है यह तो कर्ण द्वारा गम्य पदो के समुदायरूप है अर्थात् उच्चारित किये गये

पत्रस्य च तद्विपरीताकारत्वात् ? न च यद्यतोऽन्यत्तत्तेन व्यपदेष्टुं शक्यमतिप्रसङ्गादिति चेत्, 'उपचरितोपचारात्' इति ब्रूमः। 'श्रोत्रपथप्रस्थायिनो हि वर्णात्मकपदसमूहविशेषस्वभाववाक्यस्य लिप्यामुपचारस्तत्रास्य जनैरारोप्यमाणत्वात्, लिप्युपचरितवाक्यस्यापि पत्रे, तत्र लिखितस्य तत्रस्थत्वात्' इत्युपचरितोपचारात्पत्रव्यपदेशः सिद्धः। न च यद्यतोन्यत्तत्तेनोपचारादुपचरितोपचाराद्वा व्यपदेष्टुमशक्यम्, शक्रादन्यत्र व्यवहर्तृजनाभिप्राये शक्रोपचारोपलम्भात्, तस्माच्चान्यत्र काष्ठादावुपचरितोपचाराच्छक्रव्यपदेशसिद्धेः। अथवा प्रकृतस्य वाक्यस्य मुख्य एव पत्रव्यपदेशः—'पदानि त्रायन्ते गोप्यन्ते रक्ष्यन्ते परेभ्यः स्वयं विजिगीषुणा यस्मिन्वाक्ये तत्पत्रम्' इति व्युत्पत्तेः। प्रकृतिप्रत्ययादि-

---

अक्षर समुदायरूप है ? पत्र तो उससे विपरीत आकार वाला अर्थात् लिपिबद्ध अक्षर समूह [लिखित अक्षर समूह] वाला होता है जो जिससे अन्य होता है वह उस रूप से कहा नही जा सकता अन्यथा अतिप्रसंग होगा ?

समाधान—यहा पर उपचरित उपचार द्वारा पत्र का लक्षण कहा गया है वह उपचार इसप्रकार है–कर्ण पथ मे प्रस्थान करने वाले वर्णात्मक पद समूह स्वभाव वाले वाक्य का लिपि मे उपचार किया जाता है क्योकि वहा पर स्थित जनो द्वारा उसका आरोप किया जा रहा है, तथा लिपि मे उपचरित वाक्य का पत्र मे आरोप किया जाता है, उस पत्र मे लिखित वाक्य का वहा पर स्थितपना होने से, ऐसे उपचरित उपचार से वाक्य को पत्र कहा जा सकता है भावार्थ यह है कि वाक्य तो सुनायी देने वाले शब्दरूप है और पत्र कागज आदि पर लिपिबद्ध हुए शब्द है अत वाक्य को पत्र कैसे कहा ऐसी शका थी उसका समाधान किया कि उपचार करके ऐसा कहा जाना सभव है। जो जिससे अन्य है वह उसके द्वारा उपचार से या उपचरित उपचार से कहा नही जाता हो सो बात नही है, देखा जाता है कि व्यवहारीजन इन्द्र से अन्य किसी व्यक्ति मे इन्द्र का उपचार कर उसे इन्द्र कहते है [जैसे पूजा प्रतिष्ठा आदि के समय मनुष्य को ही मुकुट आदि पहनाकर इन्द्र नाम से पुकारा जाता है।] तथा उस उपचार रूप इन्द्र से अन्य जो काष्ठ आदि है उसमे उपचरित उपचार से इन्द्र सज्ञा करते है। अथवा पत्र इस पद का अर्थ अन्य प्रकार से सभव है अत उपचरित उपचार न करके मुख्य रूप से भी वाक्य को पत्र कहा जा सकता है–"पदानि त्रायन्ते गोप्यन्ते रक्ष्यन्ते परेभ्यः स्वय विजिगीषुणा यस्मिन् वाक्ये तत् पत्रम्" प मायने पदो की त्र मायने रक्षा करना अर्थात् परवादी से अपने पदो को जिसमे गुप्त रखा

गोपनाद्धि पदानां गोपन विनिश्चितपदस्वरूपतदभिधेयतत्त्वेभ्योपि परेभ्य: सम्भवत्येव । तस्योक्त-प्रकारस्य पत्रस्यावयवौ क्वचिद्द्वावेव प्रयुज्येते तावतैव साध्यसिद्धे: । तद्यथा—

"स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मतदुभान्तवाक् ।
परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकत्वत:" [ ]

इति । एव अन्त ह्यान्त', स्वार्थिकोऽण् वानप्रस्थादिवत् । प्रादिपाठापेक्षया सोरान्त: स्वान्त उत्, तेन भासिताद्योतिता भूतिरुद्भूतिरित्यर्थ: । सा आद्या येषा ते स्वान्तभासितभूत्याद्या ते च ते त्र्यन्ताश्च उद्भूतिव्ययध्रौव्यधर्मा इत्यर्थ: । ते एवात्मान: तास्तनोतीति स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मतत् इति साध्यधर्म: । उभान्ता वाग्यस्य तदुभान्तवाक्=विश्वम्, इति धर्मि । तस्य साध्यधर्मविशिष्टस्य निर्देश. । उत्पादादित्रिस्वभावव्यापि सर्वमित्यर्थ । परान्तो यस्यासौ परान्त प्र., स एव द्योतित द्योतनमुपसर्ग इत्यर्थ । तेनोद्दीप्ता चासौ मितिश्च तया इत' स्वात्मा यस्य तत्परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मक 'प्रमितिप्राप्तस्वरूपम्' इत्य-

---

जाता है वह वाक्य पत्र कहलाता है, इसतरह पत्र शब्द की व्युत्पत्ति है। पदो का स्वरूप एव उनके वाच्यार्थ को जानने वाले परवादी से भी प्रत्यय प्रकृति आदि के गोपन से पदो का गोपन करना सम्भव होता ही है। उक्त प्रकार से कहे हुए पत्र के अवयव कही पर दो ही प्रयुक्त होते है, उतने मात्र से साध्य सिद्धि हो जाने से। अब दो अवयव युक्त पत्र वाक्य का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—स्वान्त भासित भूत्याद्य-त्र्यन्तात्मतदुभान्तवाक् । परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकत्वत ॥१॥ इस वाक्य का विश्लेपण—अन्त शब्द से आन्त वना इसमे स्वार्थिक अण् आया है जैसे वान प्रस्थ आदि मे आता है। प्र आदि उपसर्ग के पाठअपेक्षा से "सु" के आन्त जो हो वह स्वान्त उत् [उपसर्ग] है, उससे भासित भूति अर्थात् उद्भूति [उत्पाद] वह आदि मे जिनके है वे स्वान्तभासितभूत्याद्या तथा त्रन्ता ये उत्पादव्ययध्रोव्य धर्म कहलाये वे जिनका स्वरूप है और उनको जो व्याप्त करे वह स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मतत् कहलाया। यह साध्य है। उभान्त वचन जिसके है वह उभान्तवाक् अर्थात् विश्व है यह धर्मी है। उस साध्य धर्म से विशिष्ट का निर्देश किया अर्थात् उत्पाद आदि त्रिस्वभाव व्यापी सब पदार्थ है [यहा तक प्रतिज्ञा वाक्य का विश्लेपण हुआ] आगे हेतु वाक्य को कहते हैं; परा जिसके अन्त मे है वह परान्त है अर्थात् प्र वही द्योतित अर्थात् उपसर्ग, उससे उद्दीप्त जो मिति उसके द्वारा इत मायने प्राप्त है स्वात्मा जिसकी वह परान्तद्योतितोद्दीप्त-मितीतस्वात्मक है अर्थात् प्रमीति [ज्ञान] को प्राप्त स्वरूप वाला है उसका भाव

र्थः। तस्य भावस्तत्त्व 'प्रमेयत्वम्' इत्यर्थं, प्रमाणविषयस्य प्रमेयत्वव्यवस्थिते. इति साधनधर्मनिर्देशः। दृष्टान्ताद्यभावेऽपि च हेतोर्गमकत्वम् "एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्" [परीक्षामु० ३।३७] इत्यत्र समर्थितम्। अन्यथानुपपत्तिबलेनैव हि हेतोर्गमकत्वम्, सा चात्रास्त्येव एकान्तस्य प्रमाणागोचरतया विषयपरिच्छेदे समर्थनात्। एव प्रतिपाद्याशयवशात्त्रिप्रभृतयोप्यवयवा पत्रवाक्ये द्रष्टव्या। तथाहि—

"चित्राद्यदन्तराणीयमारेकान्तात्मकत्वत॰।
यदित्थं न तदित्थ न यथाऽकिञ्चिदिति त्रय ॥१॥
तथा चेदमिति प्रोक्तौ चत्वारोऽवयवा मता।
तस्मात्तथेति निर्देशे पञ्च पत्रस्य कस्यचित् ॥२॥" [पत्रप० पृ० १०]

चित्रमेकानेकरूपम्, तदततीति चित्रात्—एकानेकरूपव्यापि अनेकान्तात्मकमित्यर्थं। सर्व-

---

अर्थात् प्रमेयत्व, प्रमाण का विषय प्रमेयपना होने से इसप्रकार हेतु अर्थ मे पचमी का तस् प्रत्यय जोडकर साधन [हेतु] निर्देश "परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकत्वतः" किया है। इस पत्र स्थित अनुमान वाक्य मे दृष्टात आदि अंग नही है तो भी हेतु स्वसाध्य का गमक है, "एतद्द्वयमेवानुमानागनोदाहरणम्" [परीक्षामुख ३।३७] इस सूत्र मे निश्चित किया जा चुका है कि अनुमान के दो ही [प्रतिज्ञा और हेतु] अग होते हैं, उदाहरण अनुमान का अग नही है। हेतु का गमकपना अन्यथानुपपत्ति के बल से ज्ञात हो जाता है, वह अन्यथानुपपत्ति उपर्युक्त पत्रवाक्य के हेतु मे [प्रमेयत्व] मौजूद है, सर्वथा एकान्त रूप नित्यादि प्रमाण के गोचर नही है, इस बात का निर्णय विषय परिच्छेद मे हो चुका है। यह अवश्य ज्ञातव्य है कि अनुमान के अंग प्रतिपाद्य [शिष्यादि] के अभिप्रायानुसार हुआ करते है अत॰ पत्र वाक्य में दो के बजाय तीन आदि अग भी सम्भव हैं। आगे इसीको दिखाते हैं—पत्र परीक्षा ग्रथ मे पृष्ठ दस पर पत्र वाक्य मे तीन अग या चार अथवा पाच अग का निर्देश बताया गया है। "चित्राद्यदन्तराणीय, [प्रतिज्ञा] आरेकान्तात्मकत्वत. [हेतु] यदित्थ न तदित्थं न यथा अकिञ्चित्" यह तीन अग वाला अनुमान प्रयोग है इसमे "तथा च इद" इतना जोडने पर किसी पत्र के चार अग होते हैं, एव "तस्मात् तथा" इतना जोडने पर पाच अवयव होते है। अब अनुमान के इन वाक्यो का अर्थ किया जाता है—चित्र एक अनेक रूप को कहते है उसको 'अतति' इति चित्रात् अर्थात् एकानेक व्यापक अनेकान्तात्मपना। सर्व,

विश्वयदित्यादिसर्वनामपाठापेक्षया यदन्तो विश्वशब्दो 'यत् अन्ते यस्य' इति व्युत्पत्तेः । तेन राणीय शब्दनीयं विश्वमित्यर्थः । तदनेकान्तात्मकं विश्वमिति पक्षनिर्देशः । आरेका संशय, सा अन्ते यस्येत्यारेकान्तः प्रमेयः "प्रमाणप्रमेयसंशय" [न्यायसू० १।१।१] इत्यादिपाठापेक्षया, स आत्मा यस्य तदारेकान्तात्मकम्, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्, इति साधनधर्मनिर्देशः । यदित्थं न भवति यच्चित्रान्न भवति तदित्थं न भवति आरेकान्तात्मकं न भवति यथाऽकिञ्चित्=न किञ्चित् अथवा अकिञ्चित् सर्वथैकान्तवाद्यभ्युपगतं तत्त्वम् । इति त्रयोऽवयवाः पत्रे क्वचित्प्रयुज्यन्ते । तथा चेदमिति पक्षधर्मोपसंहारवचने चत्वारः । तस्मात्तथाऽनेकान्तव्यापीति निर्देशे पञ्चेति ।

यच्चेद यौगैः स्वपक्षसिद्ध्यर्थं पत्रवाक्यमुपन्यस्तम्–सैन्यलङ्भाग् नाऽनन्तरानर्थार्थंप्रस्वापकृदाऽऽ-

---

विश्व आदि सर्वनामो के पाठ की अपेक्षा यत् शब्द के अन्त में विश्व शब्द है, यत् है अंत मे जिसके उसे कहते है 'यदन्त' इसतरह यदन्त शब्द की निरुक्ति है । उससे राणीयं कहने योग्य विश्व है । इसप्रकार 'चित्राद्यन्तराणीय' यह पक्ष निर्देश हुआ इसका अर्थ विश्व [जगत्] अनैकान्तात्मक [अनेक धर्मात्मक] है । आरेका मायने संशय वह है अन्त मे जिसके उसे कहते है आरेकान्त अर्थात् न्यायसूत्र के [नैयायिक ग्रंथ के] पाठ की अपेक्षा संशय पद प्रमेय के अन्त मे है अतः आरेकान्त कहने से प्रमेय आता है, वह जिसकी आत्मा अर्थात् स्वरूप है वह आरेकान्तात्मक कहलाया और उसमे भाव अर्थ का त्व प्रत्यय जोड़कर पंचमी निर्देश कर देने पर "आरेकान्तात्मकत्वतः" बना, यह हेतु निर्देश है । जो ऐसा चित्रात् [अनेकान्तात्मक] नही होता वह उसप्रकार आरेकान्तात्मक [प्रमेय] नही होता, जैसे कि अकिञ्चित् वस्तु, न किञ्चित् इति अकिञ्चित् अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी का माना गया तत्त्व । उपर्युक्त संपूर्ण विश्लेषण का संक्षेप यह हुआ कि, सम्पूर्ण पदार्थ अनेकान्तात्मक है, प्रमेय होने से, जो अनेक धर्मात्मक नही होता वह प्रमेय नही होता, जैसे एकान्तवादी का तत्त्व प्रमेय नही है । इसतरह के तीन अवयव किसी पत्र मे प्रयुक्त होते है । इसमे पक्ष धर्म का उपसंहार अर्थात् उपनय अवयव जोड़े अर्थात् "यह प्रमेयरूप है" तो चार अवयव होते हैं । तथा "तस्मात् तथा" अतः अनेकान्तात्मक विश्व है ऐसे निगमन के प्रयुक्त होने पर पांच अवयववाला अनुमान बनता है ।

अब यौग द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि के लिये प्रयुक्त हुए पत्र के अनुमान वाक्य को उपस्थित करते हैं–"सैन्यलङ् भाग् नाऽनतरानर्थार्थं प्रस्वापकृदाऽऽशैट्स्यतोऽनीक्टो-

शोट्स्यतोऽनीक्टोनेनलड्यु कुकुलोद्भवो वैषोप्यनैश्यनापस्तन्नऽनृरड्लड्जुट् परापरतत्त्ववित्तदन्योऽनादि-रवायनीयत्वत एव यदीदृक्तत्सकलविद्वर्गवदेतच्चैवमेवं तदिति पत्रम्। अस्यायमर्थ:-इन आत्मा सकल-स्यैहिकपारलौकिकव्यवहारस्य प्रभुत्वात्, सह तेन वर्तते इति सेन:। स एव चातुर्वर्ण्यादिवत्स्वार्थिके ष्यणि कृते 'सैन्यम्' इति भवति। तस्य लड्=विलास:, त भजते सेवते इति सैन्यलड्भाक्-'देह.' इति यावत्। अर्थ प्रयोजन तस्मै अर्थार्थं, न अर्थार्थोऽनर्थार्थं। प्रकृष्टो लौकिकस्वापाद्विलक्षण: स्वाप: प्रस्वाप =बुद्ध्यादिगुणवियुक्तस्यात्मनोऽवस्थाविशेष: मोक्ष इति यावत्। न हि तत्साध्य किञ्चित्प्रयो-जनमस्ति; तस्य सकलपुरुषप्रयोजनानामन्ते व्यवस्थानात्। अनर्थार्थश्चासौ प्रस्वापश्च। नन्वेव सौगत-स्वापस्यापि ग्रहण स्यात्, सोपि ह्यनर्थार्थप्रस्वापो भवति सकलसन्ताननिवृत्तिलक्षणस्य मोक्षस्य सौगतै-रभ्युपगमात्। तदुक्तम्—

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥

नेनलड्यु कुकुलोद्भवो वैषोप्यनैश्यतापस्तन्नऽनृरड्लड्जुट् परापरतत्त्व वित्तदन्योऽनादि-रवायनीयत्वत एव यदीदृक् तत् सकलविद्वर्गवदेतच्चैव मेव तत्" यह पत्र है। इसका अर्थ इन मायने आत्मा सकल इहलोक सम्बन्धी एव परलोक सबंधी व्यवहार का प्रभु होने से आत्मा इन कहलाता है, उसके साथ रहे वह सेन है उसमे चातुर्वर्ण्य शब्द के समान स्वार्थिक ष्यण् प्रत्यय जोडने पर 'सैन्य' बना। उसका लड् [लड् धातु विलास अर्थ मे] अर्थात विलास उसको भजे वह सैन्यलड्भाक् अर्थात् देह है। अर्थप्रयोजन उसके लिये हो वह अर्थार्थ है .न अर्थार्थं अनर्थार्थ. है। प्र स्वाप. अर्थात् लौकिक स्वाप [निद्रा] से विलक्षण स्वाप को प्रस्वाप कहते है उसका अर्थ है बुद्धि आदि गुणो से पृथक् ऐसी आत्मा की अवस्था होना अर्थात् मोक्ष है। उस मोक्ष को साधने का कोई प्रयोजन नही क्योकि सकल पुरुष के प्रयोजनो के अत मे यह व्यवस्थित है। अनर्थार्थ और प्रस्वाप का कर्मधारय समास हुआ है।

शंका—प्रस्वापरूप उक्त मोक्ष के मानने पर सौगत के स्वापरूप मोक्ष का ग्रहण होवेगा क्योकि वह भी अनर्थार्थ प्रस्वाप है, सम्पूर्ण सन्तानो की निवृत्ति होना रूप मोक्ष सौगत ने भी माना है। कहा भी है—जैसे दीपक निवृत्ति को प्राप्त हुआ [बुझा हुआ] न पृथ्वी मे जाता है न आकाश मे जाता है, न किसी दिशा में न किसी

जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥"

[सौन्दरनन्द १६।२८, २९]

अत्राह–नानन्तरेति । अन्तो विनाशस्तं राति पुरुषाय ददातीत्यन्तरः । नान्तरोऽनन्तरः पुरुषस्य विनाशदायको नेत्यर्थः । अनन्तरश्चासावनर्थार्थप्रस्वापश्चानन्तरानर्थार्थप्रस्वापः । नेति निपातः प्रतिषेधवाची । नानन्तरानर्थार्थप्रस्वापो लौकिको निद्राकृतः स्वाप इत्यर्थ । त कृन्तति छिनत्तीति नानन्तरानर्थार्थप्रस्वापकृत्–'प्रबोधकारीन्द्रियादिकारणकलापः' इति यावत् । शिषु इत्यय धातुर्भौवादिकः सेचनार्थः, "जिषु डिपु शिषु विषु उक्ष पृषु वृषु सेचने" [ ] इत्यभिधानात् । तस्माच्छेषण भावे घञि कृते 'शेष.' इति भवति । तस्मात्स्वार्थिकेऽणि कृते 'शैष:' इति जायते । शैष करोति "तत्करोति तदाचष्टे, तेनातिक्रामति धुरूप च" [ ] इति णिचि कृते टे खे च कृते शैषोति भवति । "तदन्ता धव" [जैनेन्द्रव्या० २।१।३९] इति धुसंज्ञाया सत्या "प्रागधोस्ते" [जैनेन्द्रव्या० १।२।१४८] इत्याङा योग: । आशैपयति समन्ताद्भुवः सेकं करोतीति क्विपि तस्य च सर्वापहारेण लोपे डत्वे च कृते आशैडिति भवति । आशैट् चासौ स्यच्चाशैट्स्यत् लोकप्रसिद्ध समुद्रः । तस्मादा-

---

विदिशा मे जाता है, केवल तैल के क्षय से शात ही होता है, वैसे ही जीव निर्वृत्ति को प्राप्त हुआ न पृथ्वी मे जाता है न आकाश मे जाता है, न दिशा मे न विदिशा मे जाता है केवल क्लेश के क्षय होने से शाति को प्राप्त होता है ॥२८।२९॥

समाधान— इस प्रसग को दूर करने हेतु ही "नानन्तरा" विशेषण दिया है । आगे इसीको बताते है–अन्त मायने विनाश उसको जो पुरुष के लिये देवे वह अन्तर है न अन्तर: अनन्तर: अर्थात् पुरुष का विनाशदायक नही है, इस अनन्तर और अनर्थार्थ प्रस्वाप का कर्मधारय समाप्त हुआ है । इसमे प्रथम ना निषेध वाचक निपात जुडा है, इसका अर्थ लौकिक निद्राकृत स्वाप है, उसको छेदे सो नानन्तरानर्थार्थप्रस्वापकृत् है अर्थात् प्रबोध करने वाले इन्द्रियादि कारणों का कलाप । शिषु धातु श्वादिगण सेचन अर्थवाला है, जिषु डिपु शिषु विषु उक्ष पृषु वृषु सेचने ये धातुये सीचना अर्थ मे हैं । शिषु धातु मे घञ् प्रत्यय से शेष· बना पुन. स्वार्थिक अण् से शैष: बना । फिर उसमे करने या कहने अर्थ मे णिच् प्रत्यय एव टि का लोप करने पर शैषी बना । पुन. धातु सज्ञा करके आङ् जोडा, आशैषयति–सब ओर से पृथ्वी का सेच करने अर्थ मे क्विप् प्रत्यय आकर लुप्त हुआ एवं ष को ड हुआ आशैड् । इसके साथ स्यत का समास आशैट्

शैद्स्यत:–आ समुद्रादिति यावत् । निपूर्व इष् इत्यय धातुर्गत्यर्थ परिगृह्यते–"इष् गतिहिंसनयोश्च" [ ] इति वचनात् । नीषते गच्छतीति नीट्, न नीडऽनीट् । तस्मात्स्वार्थिके के प्रत्ययेऽनीट्क इति भवति । अचलो गिरिनिकर इत्यर्थ । यदि वा अ विष्णु नीषति गच्छति समाश्रयतीत्यनीड्=भुवनसन्निवेश तदुक्तम्—

"युगान्तकालप्रतिसहृतात्मनो जगन्ति यस्या सविकासमासते ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ।।"

[शिशुपालव० १।२३]

न विद्यते ना समवायिकारणभूतो यस्यासावऽना, "ऋन्मो" (न्मो) [जैनेन्द्रव्या० ४।२।१५३] इति कप् सान्तो न भवति 'सान्तो विधिरनित्य:" [ ] इति परिभाषाश्रयणात् । इनो भानु । लषण लट् कान्ति:–"लष् कान्तौ" [ ] इति वचनात् । लषा युक् योगो यस्यासौ लड्युक्–चन्द्र । इनश्च लड्युक् चेनलड्युक् सूर्याचन्द्रमसौ । कुलमिव कुल सजातीयारम्भकावयवसमूहः । तस्मादुद्भव आत्मलाभो यस्यासौ कुलोद्भव पृथिव्यादिकार्यद्रव्यसमूह। । 'वा' इत्यनुक्तसमुच्चये, तेनानित्यस्य गुणस्य कर्मणश्च ग्रहणम् । एषः प्रतीयमान। । अतो नाश्रयासिद्धिः । अद्भ्यो हितोऽप्य –समुद्रादि । निशाया कर्म नैश्यमन्धकारादि । ताप औष्ण्यम् । स्तनतीति स्तन् मेघः ।

स्यत हुआ उसका अर्थ समुद्र तक ऐसा हुआ । निपूर्वक इष् धातु गति और हिंसा अर्थ मे है नीषते इति नीट्, न नीट् अनीट् उसमे स्वार्थिक क प्रत्यय अनीट्क बना । उसका अर्थ पर्वत समूह है । अथवा अ मायने विष्णु का आश्रय लेवे वह अनीट् अर्थात् भुवन रचना । यह भुवन रचना विष्णु के आश्रय से होती है । इसका प्रमाण शिशुपाल वध पुस्तक मे है–युगान्तकाल मे सहृत किया है अपनेको जिसने ऐसे नारायण के [विष्णु] जिस शरीर मे जगत् विकास युक्त होकर रहता है उस शरीर मे नारद के आगमन से उत्पन्न हुआ हर्ष समाया नही ।।१।। न विद्यते ना समवायिकारणभूत यस्य असौ अना, समवायिकारण नही है जिसके । इन–सूर्य, लट्–काति । लट् से युक्त हो वह लट्युक् अर्थात् चन्द्र । इनका समास होने पर इन लड्युक् हुआ इसका अर्थ सूर्य चन्द्र है । सजातीय आरभक अवयवो के समूह कुल कहलाता है । उससे उत्पत्ति है जिसके वह कुलोद्भव है अर्थात् पृथ्वी आदि कार्य द्रव्यो का समूह । वा शब्द अनुक्त का समुच्चय करता है उससे गुण और कम पदार्थ का ग्रहण हुआ । एष. पद प्रतीतिका सूचक है इससे हेतु का आश्रयासिद्ध दोष दूर होता है । आप्य. पद समुद्रादि का सूचक है । नैश्य पद से अधकार लेना । ताप से उष्णता, स्तन् पद से मेघ लेना, इन सबका

एतेषां द्वन्द्वे कवद्भावः। किम्भूत· स तच्च। न विद्यते ना पुरुषो निमित्तकारणमस्येति। रटनं परिभाषणं तस्य लड् विलासः, त जुषते सेवते इति–‘जुषी प्रीतिसेवनयोः” [ ] इत्यभिधानात्। अनृरड्लड्जुट्। अत्रापि कबऽभावे निमित्तमुक्तम्।

अत्र साध्यधर्ममाह। परापरतत्त्ववित्तदन्य इति। पर पार्थिवादिपरमाण्वादिकारणभूतं वस्तु, अपर पृथिव्यादिकार्यद्रव्यम्, तयोस्तत्त्व स्वरूपम्, तस्मिन्विद् बुद्धिर्यस्यासौ परापरतत्त्ववित्–कार्यकारणविषयबुद्धिमान् पुरुष इत्यर्थ.। तस्मात्परोक्तादन्यः परापरतत्त्ववित्तदन्यो बुद्धिमत्कारण इत्यर्थ। यदा नपु सकेन सम्बन्धस्तदा परापरतत्त्ववित्तदन्यदिति व्याख्येयम्। कुत एतदित्याह–अनादिरवायनीयत्वत इति। कार्यस्य हेतुरादिस्तत. प्राग्रेव तस्य भावात्। तस्मादन्योऽनादि. कार्यसन्दोहः। तस्य रवस्तत्प्रतिपादक कार्यमिति वचनम्। तेनायनीय प्रतिपाद्य तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मादनादिरवायनीयत्वत –‘कार्यत्वात्’ इत्यर्थ.। एव यदनादिरवायनीय तदीदृग् बुद्धिमत्कारणम्। तत्कला अव-

---

समाहार द्वन्द्व समास किया है उक्त पदार्थ कैसा है तो नही है पुरुप कारण जिसका ऐसा है। रट् भाषण है उसका लड् विलास है इसमे सेवन अर्थ का जुष् धातु जुडकर समास होकर अनृरड्लड्जुट् बना। यहा तक पक्ष का कथन हुआ।

अब साध्य को कहते है–‘परापरतत्त्ववित्तदन्य’ पृथिवी आदि के कारणभूत परमाणु आदि वस्तु को ‘पर’ कहते है और इन्ही के कार्यों को अपर कहते है, उनके स्वरूप को जानने वाली बुद्धि जिसके है वह परापरतत्त्ववित् है। उससे जो अन्य हो अर्थात् अबुद्धिमान कारणरूप हो वह परापरतत्त्ववित्तदन्य है। यदि इस पद को नपु सक लिंग बनावे तो परापरतत्त्ववित्तदन्यत्। अब हेतु निर्देश करते है–‘अनादिरवायनीयत्वत’ कार्य के पहले होने से कारण को आदि कहते है उससे भिन्न अनादि है उस रूप कार्य समूह, उसका अव अर्थात् प्रतिपादक वचन उससे अयनीय अर्थात् प्रतिपाद्य। इसमे त्व प्रत्यय एव पचमी निर्देश होने पर अनादिरवायनीयत्वत· अर्थात् कार्यत्वात् यह हेतु पद हुआ। अब उदाहरण कहते है, इस तरह जो अनादिरवायनीय है वह ऐसा बुद्धिमान कारण है। अवयव या भाग को कला कहते है कलायुक्त को सकल कहते है इसमे लाभार्थक वित् धातु जोडा पुनः सवरण अर्थ वाले वृ धातु में औणादिका ग प्रत्यय लगाके सकलविद्वर्ग· बना इसका अर्थ पट–वस्त्र हुआ। इसमे उपमा वाचक वत् जुड़ा सकलविद्वर्गवत्। यह तनु भुवन आदि इसतरह अनादिरवायनीय [कार्यत्वात्] है अतः बुद्धिमतकारणरूप है। इसप्रकार सैन्यलड्भाग्···से लेकर सकलविद्वर्गवत् तक

यवा भागा इत्यर्थ., सह कलाभिर्वर्तते इति सकला । वित् आत्मलाभो–"विद्लृ लाभे" [ ] इति वचनात् । यस्य सकला वित् वृणोति प्रच्छादयतीत्यौणादिके गे वर्ग इति भवति । सकलविच्चासौ वर्गश्चेति सकलविद्वर्ग·-पट इत्यर्थ । तेन तुल्य वर्त्तते इति सकलविद्वर्गवत् । एतच्च तन्वादि एवमनादिरवायनीयप्रकार तत्तस्माद्बुद्धिमत्कारणमिति । तदेतदसमीचीनम्; अनुमानाभासत्वादस्य । तदाभासत्व च तदवयवाना प्रतिज्ञाहेतूदाहरणाना कालात्ययापदिष्टत्वाद्यनेकदोषदुष्टत्वेन तदाभासत्वात्सिद्धम् । एतच्चेश्वरनिराकरणप्रकरणाद्विशेषतोवगन्तव्यम् ।

ननु चोक्तलक्षणे पत्रे केनचित्कमप्युद्दिश्यावलम्बिते तेन च गृहीते भिन्ने च यदा पत्रस्य दातैव ब्रूयात् 'नाय मदीयपत्रस्यार्थ.' इति, तदा किं कर्तव्यमिति चेत्; तदासौ विकल्प्य प्रष्टव्य –कोय भवत्पत्रस्यार्थो नाम–किं यो भवन्मनसि वर्तते सोस्यार्थ , वाक्यरूपात्पत्रात्प्रतीयमानो वा स्यात्, भवन्मनसि वर्तमानः ततोपि च प्रतीयमानो वा प्रकारान्तरासम्भवात् ? तत्र प्रथमपक्षे पत्रावलम्बनमनर्थकम् । तद्धि (द्धि) प्रतिवादी समादाय विज्ञातार्थस्वरूपस्तत्र दूषण वदतु विपरीतस्तु निर्जितो भवत्वित्य-

---

वाक्य का विवरण है । जो सरल शब्दो मे तनु पर्वत आदि पदार्थ बुद्धिमान कारण से निर्मित है कार्य होने से, जो कार्य होता है वह बुद्धिमान द्वारा निर्मित होता है जैसे वस्त्र, तनु पर्वतादि कार्य है अत. बुद्धिमान कारण युक्त है । सो यह यौगाभित अत्यन्त क्लिष्ट रूप अनुमान वाक्य भी अनुमानाभास मात्र है क्योकि इसके अवयव जो प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण है उनमे कालात्ययापदिष्ट आदि अनेक दोष हैं । इस अनुमान का निराकरण ईश्वर निराकरण प्रकरण मे विशेष रूप से किया गया है वही से इसका विशेष ज्ञात करना चाहिये ।

शका—इसप्रकार के लक्षण वाले पत्र का किसी वादी ने किसी प्रतिवादी को उद्देश्य कर अवलबन लिया, किन्तु प्रतिवादी ने उक्त पत्र वाक्य का कोई भिन्न ही अर्थ ग्रहण किया उस समय पत्र दाता कहे कि मेरे पत्र का ऐसा अर्थ नही है तब प्रतिवादी का कर्त्तव्य रहेगा ?

समाधान—उस समय प्रतिवादी को पूछना चाहिये कि आपके पत्र का अर्थ क्या है जो आपके मन मे है वह है अथवा इस पत्र वाक्य से जो प्रतीत हो रहा वह है, किं वा आपके मन मे स्थित और पत्र से प्रतीयमान ऐसा उभय अर्थ है ? इनसे भिन्न तो कोई प्रकार अर्थ हो नही सकता । प्रथम पक्ष कहो तो पत्र का अवलबन लेना व्यर्थ है, क्योकि पत्र का अवलंबन इसलिये लिया जाता है कि प्रतिवादी उस पत्र को पढकर

वलम्ब्यते । यश्च तस्मादर्थः प्रतीयते नासौ तदर्थ इति न तत्र केनचित्साधनं दूषणं वा वक्तव्यमनुपयोगात् । यस्तु तदर्थो भवच्चेतसि वर्त्तमानो नासौ कुतश्चित्प्रतीयते परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादिति ? तत्रापि न साधनं दूषणं वा सम्भवति । न ह्यप्रतीयमानं वस्तु साधनं दूषणं वार्हत्यऽतिप्रसङ्गात् । यदि पुनरन्यतः कुतश्चित्तं प्रतिपद्य प्रतिवादी तत्र साधनादिकं ब्रूयात्; तर्हि पत्रावलम्बनानर्थक्यम् । तत एव 'तत्प्रतिपत्तिश्चेच्चित्रमेतत्–'तस्यासावर्थो न भवति ततश्च प्रतीयते' इति, गोशब्दादप्यश्वादिप्रतीतिप्रसङ्गात् । सङ्केते सति भवतीति चेत्कः सङ्केतं कुर्यात् ? पत्रदातेति चेत्; किं पत्रदानकाले, वादकाले वा, तथा प्रतिवादिनि, अन्यत्र वा ? तद्दानकाले प्रतिवादिनीति चेत्, न; तथा व्यवहाराभावात् । न खलु कश्चिद् 'अयं मम चेतस्यर्थो वर्त्ततेऽस्येदं पत्रं वाचकमस्मात्त्वयायमर्थो वादकाले प्रतिपत्तव्यः' इति सङ्केतं विदधाति । तथा तद्विधाने वा किं पत्रदानेन ? केवलमेव वक्तव्यम्–'अर्थो

उसके अर्थ को समझता है तो उसमे दूषण कहे और यदि उसके अर्थ को नही समझता है तो पराजित होवे । जब यह कह दिया कि पत्र से जो अर्थ प्रतीत हो रहा है वह अर्थ नही है तब उस अप्रतीत अर्थ वाले पत्र मे किसी के द्वारा साधन या दूषण अनुपयोगी होने से कहना ही नही चाहिये । आपके मन मे जो अर्थ है वह किसी प्रमाण से प्रतीत नही हो सकता क्योंकि परके चित्त का निश्चय होना अशक्य है । इसलिये इस मन में स्थित अर्थ वाले पत्र वाक्य मे दूषण या साधन कहना सम्भव नही है । अज्ञात वस्तु साधन या दूषण के योग्य नही हुआ करती है अतिप्रसग आता है । यदि कहा जाय कि प्रतिवादी किसी अन्य से उस चित्त स्थित अर्थ को ज्ञात करके फिर उसमे साधनादि को बोल देगा, तो पत्र का अवलबन लेना व्यर्थ ठहरता है । यदि कहा जाय कि मन में स्थित अर्थ की उस पत्र से ही प्रतीति होती है, तो यह आश्चर्य की बात होगी कि पत्र का मनमे स्थित यह अर्थ भी नही है और इस पत्र वाक्य से वह प्रतीत भी होता है ? इससे तो गो शब्द से भी अश्व की प्रतीति होने का प्रसग आयेगा, यदि कहा जाय कि मनमे स्थित अर्थ यद्यपि पत्र से अप्रतीत है तो भी सकेत कर देने पर वह अर्थ प्रतीत हो जायगा ? तो प्रश्न होता है कि उस सकेत को कौन करेगा ? पत्रदाता सकेत करता है तो कब करेगा पत्र देते समय या वाद के समय, तथा प्रतिवादी को सकेत करेगा या अन्य किसी पुरुष को संकेत करेगा ? पत्र देते समय प्रतिवादी को सकेत करता है ऐसा कहना अशक्य है क्योंकि ऐसा व्यवहार होता ही नही, देखिये, मेरे मनमे यह अर्थ है, यह पत्र इस अर्थ का वाचक [कहता] है, वादकाल मे तुम इसका यह अर्थ समझना इसतरह के सकेत को वादी कैसे करे ? यदि करता है तो पत्र देने मे लाभ ही क्या

मम चेतसि वर्त्तते, अत्र त्वया साधन दूषण वा वक्तव्यम्' इति। दृश्यन्ते साम्प्रतमप्यऽमत्सराः सन्त एव वदन्त.—'शब्दो नित्योऽनित्य इति वाऽस्माक मनसि प्रतिभाति, तत्र यदि भवता दूषणाद्यभिधाने सामर्थ्यमस्ति यामः सभ्यान्तिकम्' इति। कालान्तरेऽविस्मरणार्थं तद्दान चेत्; तर्ह्यगूढ पत्र दातव्यम्, इतरथा तद्दानेपि विस्मरणसम्भवे किं कर्त्तव्यम्? विस्मर्तु र्निग्रहश्चेत्, न, पूर्वसङ्केतविधानवैयर्थ्य-प्रसङ्गात्। न तत्प्रसङ्गः प्रतिवादिन पत्रार्थपरिज्ञानार्थत्वात्तस्येति चेत् तर्हि तत्परिज्ञानार्थं विस्मृत-सङ्केतस्य पुनस्तद्विधानमेवास्तु, न तु निग्रहः। यदि च भवच्चित्ते वर्त्तमानोप्यर्थ सङ्केतबलेन पत्रादेव प्रतीयते, तर्हि ततो य प्रतीयते स तदर्थो न मनस्येव वर्तमानः। यदि पुन' सङ्केतसहायात्पत्रात्तस्य प्रतीतेर्न तदर्थत्वम्, तर्हि न कश्चित्कस्यचिदर्थ स्यात् सङ्केतमन्तरेण कुतश्चिच्छब्दादर्थाऽप्रतीतेः।

हुआ? फिर तो वादी को केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मेरे मनमे यह अर्थ है इसमे तुम साधन या दूषण जो भी कुछ देना हो उसे दो। वर्त्तमान मे भी ऐसे मत्सर रहित महापुरुष देखे जाते ही है कि हमारे मनमे शब्द नित्य या अनित्यरूप प्रतीत होता है यदि इस विषय मे आपको दूषणादि उपस्थित करने की सामर्थ्य है तो सभ्य पुरुषो के समक्ष चले। इसप्रकार पहले ही स्वाभिप्राय को कह देते है। यदि कहा जाय कि कालातर मे विस्मरण न हो जाय इस हेतु से लिखित रूप पत्र दिया जाता है तो फिर उस पत्र को अगूढ–सरल अर्थ वाला देना चाहिए, अन्यथा पत्र देने पर भी अर्थ का विस्मरण होने पर क्या किया जायगा? विस्मरण करने वाले का निग्रह किया जायगा ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि इसतरह तो पूर्व मे किया हुआ सकेत व्यर्थ ठहरेगा। प्रतिवादी को पत्र के अर्थ का परिज्ञान कराने के लिये सकेत किया जाता है अतः वह व्यर्थ नही है ऐसा कहे तो पत्र के अर्थ का परिज्ञान कराने के लिये सकेत को भूले हुए प्रतिवादी को पुन सकेत करना चाहिए निग्रह करना तो युक्त नही। अर्थात् जब प्रतिवादी को अर्थ बोध हेतु प्रथम सकेत किया है तो वह पुनः भी किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि आपके मनमे स्थित जो भी अर्थ है और वह यदि पत्र से ज्ञात होता है तो उससे प्रतीत हुआ वह उसका अर्थ कहलाया, वह अर्थ मनमे ही है ऐसा तो नही रहा। तथा सकेत की सहायता लेकर पत्र से उसके अर्थ की प्रतीति हुई है अत वह अर्थ पत्र का नही है ऐसा माना जाय तो किसी का कोई भी अर्थ सकेत किये बिना शब्द से प्रतीत नही हो सकेगा। इसलिये निश्चित होता है कि पत्र देते समय प्रतिवादी को उसके अर्थ का सकेत करना सिद्ध नही होता। वाद के समय

तत्र तद्दानकाले प्रतिवादिनि सङ्केतः। नापि वादकाले, तथाव्यवहारविरहादेव। किं च वादकालेपि चेद्वादी प्रतिवादिने स्वय पत्रार्थं निवेदयति; तर्हि प्रथम पत्रग्रहीतुरुपन्यासोऽनवसरः स्यात्। तन्नायमपि पक्षः श्रेयान्।

अथान्यत्र; तर्हि स एव तदर्थज्ञः, इति कथं प्रतिवादी साधनादिक वदेत् तस्य तदर्थाऽपरिज्ञानात्? प्रतिवादिनस्तदर्थापरिज्ञान वादिनोभीष्टमेव तदर्थत्वात्पत्रदानस्येति चेत्, तर्हि पत्रमनक्षर दातव्यमतः सुतरा तदपरिज्ञानसम्भवात्। अशिष्टचेष्टाप्रसङ्गोन्यत्रापि समानः। इति न किञ्चित्प्रागुक्त-

---

प्रतिवादी को अर्थ का सकेत किया जाना भी शक्य नही, क्योकि ऐसा व्यवहार मे होता नही। किच, यदि वादी स्वय वाद काल मे भी प्रतिवादी के लिये पत्रार्थ को बतला देता है तो पहले से पत्र ग्राहक के उपन्यास का अवसर नही रहता। अतः वादकाल में प्रतिवादी को सकेत करने का पक्ष सिद्ध नही होता है।

दूसरा विकल्प यह था कि वादी अपने मन मे स्थित अर्थ का किसी अन्य पुरुष के लिये संकेत कर देता है, सो इस पक्ष मे वह अन्य पुरुप ही पत्र के अर्थ को समझेगा, फिर प्रतिवादी उसमें साधनादिको कैसे कह सकेगा? क्योकि उसने उक्त अर्थ को जाना ही नही।

शका—प्रतिवादी को यदि उक्त अर्थ का ज्ञान नही होता है तो वादी के लिए अच्छा ही है इसलिये ही तो पत्र दिया जाता है?

समाधान—यदि ऐसी बात हो तो वादी को प्रतिवादी के लिये अक्षर रहित पत्र देना चाहिए इससे खूब अच्छी तरह अपरिज्ञान सम्भव है।

शका—अक्षररहित पत्र देना तो अशिष्टाचार है?

समाधान—तो फिर अपने मन मे स्थित अर्थवाला पत्र देना भी अशिष्टाचार क्यो नही होगा? इसलिये मन मे स्थित अर्थवाला पत्र प्रतिवादी को देना तथा अर्थ अन्य किसी पुरुष को कहना रूप पत्र दान से कुछ भी प्रयोजन नही सधता है।

लक्षणपत्रदानेन प्रयोजनम् । ननु वादप्रवृत्ति. प्रयोजनमस्त्येव–तद्दाने हि वादः प्रवर्त्तते, साधनाद्यभिधानं तु मानसार्थे वचनान्तरात्प्रतीयमान इत्यभिधाने तु पराक्रोशमात्र लिखित्वा दातव्य ततोपि वादप्रवृत्ते सम्भवात् किमतिगूढपत्रविरचनप्रयासेन ? तन्नाद्यपक्षे पत्रावलम्बन फलवत् ।

अथ तच्छब्दाद्यः प्रतीयते स तदर्थ., तर्हि खात्पतिता नो रत्नवृष्टिः प्रकृतिप्रत्ययादिप्रपञ्चार्थप्रविभागेन प्रतीयमानस्य पत्रार्थत्वव्यवस्थिते. । अथ नाय तदर्थः; कथमन्यस्तदर्थ. स्यात् ? अथान्यार्थसम्भवेपि यस्तदवलम्बिनेष्यते स एव तदर्थ । कुत एतत् ? ततः प्रतीतेश्चेत्, अन्योप्यत एव स्यात् ।

शका—ऐसा पत्र देने मे वाद प्रवृत्ति होना रूप प्रयोजन सिद्ध होता है क्योंकि ऐसा पत्र देने से वाद प्रारम्भ हो जाता है, तथा साधनादि कथन तो अन्य वचन द्वारा मन मे स्थित अर्थ की प्रतीति होने से हो जाता है ?

समाधान—उक्त प्रकार का पत्र देने मे वाद प्रारम्भ होना ही प्रयोजन है तो परवादी को गाली आदि लिखकर देने मे भी वाद प्रवृत्ति का प्रयोजन सधता है अत. परको गाली मात्र को लिखकर दे देना चाहिये व्यर्थ के अत्यन्त गूढ पत्र को रचने से क्या लाभ ? इसप्रकार आपके मन मे स्थित जो अर्थ है वह पत्र का अर्थ है ऐसा पक्ष स्वीकार करने मे पत्र का अवलम्बन लेकर वाद करना फलवान् सिद्ध नही होता ।

दूसरा विकल्प—पत्र के शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है वह उसका अर्थ है ऐसा कहो तो हम जैन के लिये आकाश से रत्न वृष्टि होने के समान हुआ क्योंकि प्रकृति प्रत्यय आदि के विस्तृत अर्थ विभाग से प्रतीयमान अर्थवाला पत्र होता है उसका अर्थ शब्द से प्रतीत होता है ऐसा हमने पत्र का लक्षण किया है वह सिद्ध हुआ । यदि शब्द से प्रतीयमान अर्थ उस पत्र का नही होता तो अन्य दूसरा अर्थ कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता ।

शका—अन्य दूसरा अर्थ सम्भव तो है किन्तु पत्र का अवलम्बन लेने वाले वादी को जो अर्थ इष्ट है वही अर्थ पत्र का कहलायेगा ?

समाधान—यह किससे जाने ? उस तरह प्रतीति होने से जाना जायगा ऐसा कहो तो अन्य अर्थ भी प्रतीति से जाना जावे ।

शका—शब्द से प्रतीयमान अर्थ समानरूप होने पर भी उस वादी द्वारा जो अर्थ इष्ट किया है वही उस शब्द का अर्थ मान्य होगा अन्य नही ।

अथ ततः प्रतीयमानत्वाविशेषेपि यस्तेनेष्यते स एव तदर्थो नान्यः, ननु शब्दः प्रमाणम्, अप्रमाण वा ? प्रमाण चेत्; तर्हि तेन यावानर्थः प्रदर्श्यते स सर्वोपि तदर्थ एव । न खलु चक्षुषानेकस्मिन्नर्थे घटादिके प्रदर्श्यमाने 'तद्वता य इष्यते स एव तदर्थो नान्यः' इति युक्तम् । अथाप्रमाणम्, तर्हि तेनेष्यमाणोपि नार्थः । न हि द्विचन्द्रादिकस्तद्दर्शिनेष्यमाणोर्थो भवितुमर्हति, अन्यथा परेणेष्यमाणोप्यर्थो किं न स्यात् । तन्नायमपि पक्षो युक्त ।

ततो यः प्रतीयते तद्दातुश्चेतसि च वर्तते स तदर्थः; इत्यत्रापिकेनेदमवगम्यताम् वादिना, प्रतिवादिना, प्राश्निकैर्वा ? तत्राद्यविकल्पे प्रतिवादिना वादिमनोर्थानुकूल्येन पत्र व्याख्याते वादिना तथावधारितेपि स वैयात्याद्यदैव वदति 'नायमस्यार्थो मम चेतस्यन्यस्य वर्त्तनात्, विपरीतप्रतिपत्तेर्नि-गृहीतोसि' इति तदा किं कर्तव्य प्राश्निकै. ? तथाभ्युपगमश्चेत्; महामध्यस्थास्ते यत्सदर्थप्रतिपाद-

---

समाधान—अच्छा बताइये कि शब्द प्रमाण है कि अप्रमाण है ? प्रमाण है तो उस शब्द द्वारा जितना अर्थ दिखाया जाता है वह सब उस शब्द का अर्थ ही कहलायेगा । नेत्र द्वारा अनेक घट आदि अर्थ के दिखाये जाने पर उस नेत्रवान् मनुष्य द्वारा जो पदार्थ इष्ट होता है वही उस नेत्र का अर्थ [विषय] है अन्य नही है ऐसा तो कहा नही जा सकता है । यदि शब्द को अप्रमाण माना जाय तो वादी द्वारा इष्ट अर्थ भी वास्तविक अर्थ नही कहा जा सकता । नेत्र रोगी एक ही चन्द्र को दो चन्द्र रूप देखता है सो उस दर्शक पुरुष द्वारा इष्ट किया जो दो चन्द्र अर्थ है वह अर्थभूत नही हो सकता अन्यथा प्रतिवादी द्वारा ग्रहण किया गया पत्र का अर्थ भी अर्थभूत क्यो नही होगा ? इसतरह शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है वही पत्र का अर्थ है ऐसा कथन भी परवादी के यहा सिद्ध नही हो पाता ।

पत्र से जो प्रतीत होता है और पत्रदाता के चित्त मे जो रहता है वह पत्र का अर्थ है ऐसा तृतीय पक्ष माने तो इस बात को कौन ज्ञात करेगा वादी या प्रतिवादी अथवा प्राश्निक पुरुष ? वादी द्वारा उक्त बात जानी जाती है ऐसा माने तो वादी के चित्त स्थित अर्थ के अनुकूलता से प्रतिवादो द्वारा पत्र का व्याख्यान कर दिया जाय एव वादो द्वारा उसका अवधारण [मन मे] भी हो जाय तो भी कदाचित् धृष्टता से वादी इस तरह कह बैठे कि यह इस पत्र का अर्थ नही है मेरे मन मे अन्य अर्थ है, तुमने विपरीत अर्थ किया अतः निगृहीत हुए हो, तो प्राश्निक जनो का क्या कर्त्तव्य होगा ? उसके निग्रह को स्वीकार करना चाहिए ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योकि

कस्यापि प्रतिवादिनो निग्रहं व्यवस्थापयन्ति वाद्यभ्युपगममात्रेण । न तावन्मात्रेणास्य निग्रहोऽपि तु यदा वादी स्वमनोगतमर्थान्तरं निवेदयतीति चेत्; ननु 'तेन निवेद्यमानमर्थान्तरं पत्रस्याभिधेयम्' इति कुतोऽवगम्यताम् ? तदप्रातिकूल्येन निवेदनाच्चेत्; तत एव प्रतिवादिप्रतिपाद्यमानोप्यर्थस्तदभिधेयोस्तु विशेषाभावात् । वादिचेतस्यऽस्फुरणान्नेति चेत्; इदमपि कुतोऽवगम्यताम् ? तत्रार्थदर्शनाच्चेत्, किं पुनस्तच्चेतः प्राश्निकानां प्रत्यक्षं येनैवं स्यात् ? तथा चेत्; अतीन्द्रियार्थदर्शिभिस्तर्हि प्राश्निकैर्भवितव्यं नेतरपण्डितैः । तथा च प्रत्यक्षत एव वादिप्रतिवादिनोः सारेतरविभागं विज्ञायोपन्यासमन्तरेणैव

वादी के स्वीकृति मात्र से सत्य अर्थ को कहने वाले प्रतिवादी का भी वे प्राश्निक पुरुष निग्रह स्थापित करते है तो अच्छे महामध्यस्थ कहलायेंगे ? अर्थात् वे इसतरह करने से मध्यस्थ किसप्रकार कहला सकते है ?

शका—वादी की स्वीकृति मात्र से इस प्रतिवादी का निग्रह भले ही नही हो किन्तु जब वादी अपने मनोगत दूसरे अर्थ को निवेदन कर देता है तब तो प्रतिवादी का निग्रह हो ही जायगा ?

समाधान—इसमे भी प्रश्न होता है कि वादी द्वारा निवेदित किया गया दूसरा अर्थ पत्र का वाच्यार्थ है यह किससे निश्चित करे ?

शका—पत्र की अप्रतिकूलता से अर्थान्तर का निवेदन करने से पत्र का वाच्यार्थ निश्चित होवेगा ?

समाधान—तो इसी तरह प्रतिवादी द्वारा कहा हुआ अर्थ भी पत्र का वाच्यार्थ सिद्ध हो सकता है कोई विशेषता नही है ।

शका—प्रतिवादी द्वारा कहा हुआ अर्थ वादी के मन में स्फुरित नही होने से वह पत्र का वाच्यार्थ नही कहला सकता ?

समाधान—यह भी कैसे जाना जाय ? यदि कहो कि पत्र मे अर्थ को देखने से जाना जायगा तो भी गलत है क्योकि वादी का चित्त प्राश्निक जनो के प्रत्यक्ष तो है नही जिससे कि पत्र का अर्थ देखकर यही अर्थ इसके चित्त मे है ऐसा निश्चय हो सके । प्राश्निक को वादी का चित्त प्रत्यक्ष है ऐसा कहो तो आपकी दृष्टि मे अतीन्द्रिय ज्ञानी पुरुष ही प्राश्निक हो सकते है अन्य पडित पुरुष नही । और जब ऐसी बात है

जयेतरव्यवस्था रचयेयुः। नो चेत्कथं तत्र कस्यचित्स्फुरणमस्फुरणं वा ते प्रतियन्तु ? न ह्यप्रतिपन्न-भूतलस्य 'अत्र भूतले घटोस्ति नास्ति' इति वा प्रतीतिरस्ति । अथ स्वयमेव यदासौ वदति–'ममायमर्थो मनसि वर्तते नायम्' इति तदा ते तथा प्रतिपद्यन्ते, न; तदापि सदेहात्–'किं प्रतिवादिना योर्थो निश्चितः स एवास्य मनसि वर्तते शब्देन तु वदति नायमर्थो मम मनसीति किन्त्वन्य एव–यो मया प्रतिपाद्यते, उतायमेव, इति न निश्चयहेतुः। दृश्यन्ते ह्यनेकार्थं पत्र विरचय्य, 'यदीदमस्यार्थतत्त्व प्रतिवादी ज्ञास्यति तर्ह्येव वदिष्यामः, नेदमर्थतत्त्वमस्य किन्त्विदमिति, अथेद ज्ञास्यति तत्राप्यन्यथा वदिष्याम' इति सम्प्रधारयन्तो वादिन'। अथ गुर्वादिभ्य पूर्वमसौ तन्निवेदयति, ततस्तेभ्यः प्राश्नि-

---

तो वे अतीन्द्रिय ज्ञानीजन वादी और प्रतिवादी के सार या असार अर्थ को प्रत्यक्ष से वाक्य उपन्यास के बिना ही ज्ञात कर लेगे और जय पराजय की व्यवस्था कर देगे ? यदि ऐसा नही है तो वे अतीन्द्रिय ज्ञान रहित प्राश्निक महाजन किसी के मनके स्फुरण को [मनके विकल्प विचार मे स्थित अर्थ को] या अस्फुरण को किस तरह ज्ञात कर सकते है ? जिसने भूतल को नही जाना वह किसप्रकार ज्ञात कर सकता है कि "यहा पृथ्वी पर घट नही है" ।

शका—जब वादी स्वय ही कह देता है कि मेरे मन मे यह अर्थ है प्रतिवादी का कहा हुआ अर्थ तो मेरे मनमे वर्त्त नही रहा, तब प्राश्निक जन प्रतिवादी द्वारा कहा जा रहा अर्थ वादी के मन मे स्फुरायमान है या नही इस बात को ज्ञात करते है ?

समाधान—यह कथन असत् है, ऐसा माने तो भी सदेह रहेगा अर्थात् प्राश्निक जन अतीन्द्रिय ज्ञानी तो है नही उन्हे तो संशय ही रहेगा कि प्रतिवादी द्वारा जो अर्थ निश्चित किया है वही अर्थ इस वादी के मन मे वर्त्त रहा किन्तु शब्द से कहता है कि वह अर्थ मेरे मन मे नही, मेरे मन मे तो जो बता रहा हू वह अर्थ है । अथवा सच मे यही अर्थ वादी के मन मे है जो मुख से कह रहा है । इसतरह प्राश्निक को निश्चय नही हो सकता । देखा भी जाता है कि वादी अनेक अर्थ वाले पत्र को रचते है और मनमे विचारते है कि यदि प्रतिवादी इस अर्थ को जानेगा तो हम ऐसा कहेगे कि इस पत्र वाक्य का यह अर्थ नही है किन्तु यह है, तथा प्रतिवादी यदि इस दूसरे अर्थ को जानेगा तो अन्य अर्थ को कहेगे ।

शका—वादी पहले अपने गुरुजनादि को पत्र वाक्य के अर्थ का निवेदन कर देता है अत पीछे प्राश्निक पुरुष उन गुरु आदि से वादी के अर्थ का निश्चय कर लेते है ?

काना तन्निश्च'; न; अत्राप्यारेकाऽनिवृत्तेः, स्वशिष्यपक्षपातेनान्यथापि तेषां वचनसम्भवात्। यदि पुनर्वादी वादप्रवृत्तेः प्राक् प्राश्निकेभ्यः प्रतिपादयति-'मदीयपत्रस्यायमर्थः, अर्थान्तरं ब्रुवन् प्रतिवादी भवद्भिर्निवारणीय' इति। अत्रापि प्रागप्रतिपन्नपत्रार्थानां महामध्यस्थानामुभयाभिमतानामकस्मादाहूतानां सभ्यानां मध्ये विवादकरणे का वार्त्ता? 'पत्रात्तः प्रतीयते स एव तत्र तदर्थः' इति चेत्, अन्यत्रापि स एवास्त्वविशेषात्। तन्नाद्यः पक्षो युक्तः।

नापि द्वितीयः। न खलु प्रतिवादी वादिमनो जानाति येन 'योऽस्य मनसि वर्त्तते स एव मयार्थो निश्चितः' इति जानीयात्। एतेन तृतीयोपि पक्षश्चिन्तितः; सभ्यानामपि तन्निश्चयोपायाभावात्। किञ्चेदं पत्रं तद्दातुः स्वपक्षसाधनवचनम्, परपक्षदूषणवचनम्, उभयवचनम्, अनुभयवचनं वा?

समाधान—यह भी ठीक नही, ऐसा करने पर भी संशय समाप्त नही हो सकता, क्योकि वे गुरुजन भी अपने शिष्य के पक्षपात के कारण अन्यथा वचन कह सकते है अर्थात् वादी के गुरु जब देखेंगे कि वादी ने जो अर्थ मेरे को बताया था वही प्रतिवादी कह रहा और इससे प्रतिवादी का निग्रह सम्भव नही। तब वे स्वशिष्य के जयार्थ अन्य ही कोई अर्थ बता सकते है। यदि ऐसा माना जाय कि वादी वाद प्रारभ होने के पहले प्राश्निकजनो को बतला देता है कि मेरे पत्र का यह अर्थ है, इसमे प्रतिवादी अर्थान्तर—दूसरा अर्थ बोलेगा तो आप उसका निवारण करना, तो यदि जो पहले से पत्र के अर्थ को नही जानते है महामध्यस्थ है वादी प्रतिवादी दोनो को मान्य हैं ऐसे अचानक बुलाये गये सभ्यजनो के मध्य मे विवाद करने पर क्या होगा? यदि कहा जाय कि उस वक्त पत्र से जो अर्थ प्रतीत हो रहा है वही अर्थ उन अकस्मात् बुलाये गये सभ्यो मे होने से पत्रार्थ का निश्चय होवेगा। तो पूर्व से उपस्थित सभ्यो मे भी यह निश्चय होवे कोई विशेषता नही है। इसलिये पत्र से प्रतीत होता है और जो पत्रदाता वादी के चित्त मे है वह पत्र का अर्थ है इस बात को वादी जानता है ऐसा प्रथम पक्ष मानना युक्त नही है।

दूसरा पक्ष—पत्र से जो प्रतीत है और जो वादी के मनोगत है वह पत्र का अर्थ है इस बात को प्रतिवादी जानता है ऐसा कहना भी गलत है, क्योकि प्रतिवादी वादी के मनको जानता तो है नही जिससे वह ज्ञात कर सके कि जो इसके मनमे है वही अर्थ मैंने निश्चित किया है। तीसरा पक्ष—पत्र से जो प्रतीत है और वादी के जो मनोगत है वह पत्रार्थ है इस बात को प्राश्निक जन ज्ञात करते है ऐसा कहना भी

तत्राद्यविकल्पत्रये सभ्यानामग्रे त्रिरुच्चारणीयमेव तत्तत्रापि वैषम्यात् । तथोच्चारितमपि यदा प्राश्निकैः प्रतिवादिना च न ज्ञायते वाद्यऽभिप्रेतार्थानुकूल्येन तदा तद्दातुः किं भविष्यति ? निग्रहः, "त्रिरभिहितस्यापि कष्टप्रयोगद्रुतोच्चारादिभिः परिषदा प्रतिवादिना चाज्ञातमज्ञात नाम निग्रहस्थानम्" [न्यायसू० ५।२।६] इत्यभिधानात्, इति चेत्; तस्य तर्हि स्ववधाय कृत्योत्थापनम् उक्तविधिना सर्वत्र तदज्ञानसम्भवात् । तावन्मात्रप्रयोगाच्च स्वपरपक्षसाधनदूषणभावे प्रतिवाद्युपन्यासमनपेक्ष्यैव

पूर्वोक्तरीत्या खंडित होता है, क्योंकि प्राश्निक पुरुष भी ऐसे अर्थ का निश्चय नही कर सकते । किंच, यह पत्र किस प्रकार का होता है पत्रदाता के स्वपक्ष के साधन वचन वाला होता है या प्रतिवादी के पक्ष के दूषण वचन वाला होता है, अथवा उभय वचन वाला है या कि अनुभव वचन वाला है ? आदि के तीनो विकल्प माने तो ठीक नही जचता, उक्त प्रकार के पत्र सभ्यो के आगे तीन बार सुनाया जाना चाहिये ऐसा सामान्य नियम है तदनुसार पत्र वाक्य का तीन बार उच्चारण भी कर दिया किन्तु जब प्रतिवादी और प्राश्निक पुरुष उस पत्र के अर्थ को वादी के द्वारा इष्ट किये गये अर्थानुसार ज्ञात न कर सकेंगे तब पत्रदाता वादी का क्या किया जायगा ? निग्रह ही किया जाना चाहिये क्योकि वाद मे वादी के द्वारा अनुमान वाक्य तीन बार कहा फिर भी कठिन वाक्यार्थ के कारण अथवा शीघ्रता से उच्चारण करने के कारण सभ्य और प्रतिवादी उक्त वाक्यार्थ को नही जानते तो अज्ञात नामा निग्रह स्थान वादी के ऊपर लागू होता है । इसतरह निग्रह का प्रसङ्ग तो उस वादी के लिये घातक ठहरा अर्थात् पत्र का प्रयोग करना तो "स्ववधाय कृत्या उत्थापनम्" अपने वध के लिये राक्षसी को उठाने के समान है, क्योकि उक्त विधि से तो सर्वत्र पत्र वाक्य सम्बन्धी अज्ञान रहना सभव है अर्थात् पत्र वाक्य गूढ होने के कारण सभ्य आदि को उसका ज्ञान न होना सहज बात है । तथा यदि उतने पत्र प्रयोग मात्र से स्वपक्ष साधन और पर पक्ष दूषण होना स्वीकारे तो प्रतिवादी के प्रतिवचन की अपेक्षा किये बिना ही सभ्यजन वादी की जय और प्रतिवादी के पराजय की व्यवस्था कर देवे ? [किन्तु ऐसा देखा नही जाता है] चतुर्थ विकल्प–वादी का पत्र अनुभय वचन वाला है अर्थात् न स्वपक्ष साधक है न परपक्ष दूषक है केवल अनुभय वचन युक्त है, ऐसा कहे तो वादी का निग्रह निश्चित ही होगा, क्योकि उसने स्वपक्ष मे साधन या परपक्ष मे दूषणरूप कुछ वचन कहा ही नही । अब इस पत्र के विवेचन को समाप्त करते हैं । उपर्युक्त पत्र सम्बन्धी विवेचन

सभ्याः वादिप्रतिवादिनोर्जयेतरव्यवस्था कुर्यु.। चतुर्थपक्षे तु तन्निग्रह सुप्रसिद्ध एव, स्वपरपक्षयो. साधनदूषणाऽप्रतिपादनात्। इत्यलमतिप्रसगेन।

अथेदानीमात्मन· प्रारब्धनिर्वहणमौद्धत्यपरिहार च सूचयन् परीक्षामुखेत्याद्याह—

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥ १ ॥

परीक्षा तर्क, परि समन्तादशेषविशेषत ईक्षणं यत्रार्थानामिति व्युत्पत्ते.। तस्या मुख तद्व्युत्पत्तौ प्रवेशार्थिना प्रवेशद्वार शास्त्रमिद व्यधामह विहितवानस्मि। पुनस्तद्विशेषणमादर्शमित्याद्याह।

का सार यह निकलता है कि पत्र गूढ अर्थवाला होता है उस अर्थ को प्रतिवादी एव सभ्य पुरुप जानते है तथा प्रतिवादी उक्त पत्र वाक्य का निराकरण करता है, यहां ऊपर जो चर्चा उठायी है कि यदि प्रतिवादी वादी के पत्र वाक्य को नही जाने तो क्या होगा ? किसका जय होगा ? प्राश्निक पुरुप भी उक्त अर्थ को नही जाने तो जयादि की व्यवस्था कैसे होगी इत्यादि सो ये शंकाये व्यर्थ की है, वाद करने का अधिकार महान् तार्किक विद्वानो को ही हुआ करता है, तथापि कदाचित् किसी वादी के गूढ पत्र को प्रतिवादी ज्ञात न कर सके तो इतने मात्र से निग्रह या पराजय, जय का निर्णय नही हो सकता। वादी को तो स्वपक्ष का विश्लेषण सभ्य जनो के सामने करना ही होगा एव उसको सिद्ध करना होगा तभी जय की व्यवस्था सभव है। अस्तु।

इसप्रकार पत्र विचार नामा यह अतिम प्रकरण समाप्त होता है।

अब श्री माणिक्यनदी आचार्य अपने द्वारा प्रारम्भ किया गया जो परीक्षामुख ग्रन्थ है उसके निर्वहन की सूचना एव औद्धत्य परिहार अर्थात् स्व लघुता की सूचना करते हुए अतिम श्लोक द्वारा उपसहार करते है—

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः।
सविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥ १ ॥

अर्थ—तर्क को परीक्षा कहते है, परि–समतात् सब ओर से विशेषतया अर्थो का जहां 'ईक्षण' देखना हो उसे परीक्षा–परिईक्षा–परीक्षा कहते है। उस परीक्षा का मुख अर्थात् परीक्षा को जानने के लिये उसमे प्रवेश करने के इच्छुक पुरुषो के लिये

आदर्शधर्मसद्भावादिदमप्यादर्श. । यथैव ह्यादर्श शरीरालङ्कारार्थिना तन्मुखमण्डनादिकं विरूपकं हेयत्वेन सुरूपक चोपादेयत्वेन सुस्पष्टमादर्शयति तथेदमपि शास्त्र हेयोपादेयतत्त्वे तथात्वेन प्रस्पष्टमादर्शयतीत्यादर्श इत्यभिधीयते । तदीदृश शास्त्र किमर्थं विहितवान् भवानित्याह । सविदे । कस्येत्याह मादृश: । कीदृशो भवान् यत्सदृशस्य सवित्त्यर्थं शास्त्रमिदमारभ्यते इत्याह–बाल: । एतदुक्त भवति–यो मत्सदृशोऽल्पप्रज्ञस्तस्य हेयोपादेयतत्त्वसविदे शास्त्रमिदमारभ्यते इति । किंवत् ? परीक्षादक्षवत् । यथा परीक्षादक्षो महाप्रज्ञ: स्वसदृशशिष्यव्युत्पादनार्थ विशिष्ट शास्त्र विदधाति तथाहमपीदं विहितवानिति । ननु चाल्पप्रज्ञस्य कथ परीक्षादक्षवत् प्रारब्धैवविधविशिष्टशास्त्रनिर्वहण तस्मिन्वा कथमल्पप्रज्ञत्व परस्परविरोधात् ? इत्यप्यचोद्यम्, औद्धत्यपरिहारमात्रस्यैवैवमात्मनो ग्रन्थकृता प्रदर्शनात् ।

मुख–प्रवेशद्वार सदृश है ऐसे इस शास्त्र को मैंने 'व्यधाम्' रचा है । इस परोक्षा मुख शास्त्र का विशेषण कहते है–आदर्श अर्थात् दर्पण उसके धर्म का सद्भाव होने से यह ग्रथ आदर्श कहलाता है अर्थात् जिस प्रकार आदर्श शरीर को अलकृत करने के इच्छुक जनो को उनके मुखके सजावट मे जो विरूपक [कुरूप] है उसको हेमरूप से और सुरूपक है उसको उपादेयरूप से साफ स्पष्ट दिखा देता है उसीप्रकार यह परीक्षामुख शास्त्र भी हेय और उपादेयतत्त्व को स्पष्ट दिखा देता है इसलिये इसे आदर्श कहते है । इसप्रकार के शास्त्र को आपने किस लिये रचा ऐसे प्रश्न के उत्तर मे कहते है 'सविदे' सुज्ञान के लिये रचा है । किसके ज्ञान के लिये तो 'मादृश.' मुझ जैसे के ज्ञान के लिये । आप कैसे है जिससे कि अपने समान वाले के ज्ञानार्थ आपने यह शास्त्र रचा है तो 'बाल.' अर्थात् जो मेरे जैसा अल्प ज्ञानी है उसके हेयोपादेय तत्त्वो के ज्ञानार्थ यह शास्त्र प्रारम्भ हुआ । परीक्षा दक्ष के समान, जैसे परीक्षा मे दक्ष अर्थात् चतुर अकलक देव आदि महाप्रज्ञ पुरुष अपने सदृश शिष्यो को व्युत्पत्तिमान बनाने हेतु विशिष्ट शास्त्र रचते है वैसे मैने भी इस शास्त्र को रचा है ।

शका—अल्पज्ञ पुरुष परीक्षा मे दक्ष पुरुष के समान इस प्रकार का विशिष्ट शास्त्र रचनाका प्रारम्भ एव निर्वहण कैसे कर सकता है ? यदि करता है तो उसमे अल्पज्ञपना कैसे हो सकता है दोनो परस्पर मे विरुद्ध हैं ?

समाधान—यह शका ठीक नही, यहा पर केवल अपनी धृष्टता का परिहार ही ग्रन्थकार ने किया है, अर्थात् प्राज्ञ होते हुए भी लघुता मात्र प्रदर्शित की है ।

विशिष्टप्रज्ञासद्भावस्तु विशिष्टशास्त्रलक्षणकार्योपलम्भादेवास्याऽवसीयते । न खलु विशिष्टं कार्यम-विशिष्टादेव कारणात् प्रादुर्भावमर्हत्यतिप्रसङ्गात् । मादृशोऽबाल इत्यत्र नञ् वा द्रष्टव्य. । तेनायमर्थ – यो मत्सदृशोऽबालोऽनल्पप्रज्ञस्तस्य हेयोपादेयतत्त्वसंविदे शास्त्रमिदमहं विहितवान् । यथा परीक्षादक्षः परीक्षादक्षार्थं विशिष्टशास्त्रं विदधातीति । ननु चानल्पप्रज्ञस्य तत्संवित्तेर्भवत इव स्वत' सम्भवात्त प्रति शास्त्रविधानं व्यर्थमेव; इत्यप्यसुन्दरम्; तद्ग्रहणेऽनल्पप्रज्ञासद्भावस्य विशिष्य विवक्षितत्वात् । यथा ह्यहं तत्करणेऽनल्पप्रज्ञस्तज्ज्ञस्तथा तद्ग्रहणे योऽनल्पप्रज्ञस्तं प्रतीदं शास्त्रं विहितम् । यस्तु शास्त्रान्तर-द्वारेणावगतहेयोपादेयस्वरूपो न तं प्रतीत्यर्थ इति ।

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे

षष्ठः परिच्छेदः समाप्तः ।। छ ।।

विशिष्ट शास्त्र रचनारूप कार्य के करने से ही ग्रन्थकार का प्राज्ञपना निश्चित होता है । विशिष्ट कार्य अविशिष्टकारण से तो हो नही सकता अन्यथा अतिप्रसग होगा । अथवा श्लोक मे जो "मादृशो बालः" पद है उनमे मादृशोऽबाल ऐसा नञ् समासान्त पद मानकर इसतरह अर्थ कर सकते है कि जो मेरे समान अबाल–महान् बुद्धिशाली है उसके हेयोपादेयतत्त्व ज्ञानार्थ इस शास्त्र को मैंने रचा है । जैसे परीक्षादक्ष पुरुष परीक्षा मे दक्ष कराने के लिये विशिष्ट शास्त्र रचते है ।

शका—महाप्राज्ञ पुरुष तो आपके समान स्वत ही उक्त तत्त्वज्ञानयुक्त होते है अत. उनके लिये शास्त्र रचना व्यर्थ ही है ?

समाधान–ऐसा नही कहना, इस शास्त्र के ग्रहण [वाचन आदि] मे महा-प्रज्ञा का सद्भाव विवक्षित है, अर्थात् जैसे मैं शास्त्र करने मे प्राज्ञ हूँ और हेयोपादेय-तत्त्व का ज्ञाता हूँ वैसे इन तत्त्वो के ग्रहण मे अथवा इस ग्रन्थ के वाचनादि मे जो प्राज्ञ पुरुष है उनके प्रति यह शास्त्र रचा गया है । जो शास्त्रान्तर से हेयोपादेयतत्त्वो को जान चुका है उनके प्रति इस ग्रथ को नही रचा है । इसप्रकार परीक्षामुख के अतिम श्लोक का विवरण है ।

इसप्रकार माणिक्यनन्दी आचार्य द्वारा विरचित परीक्षामुख नामा सूत्र ग्रन्थ के अलकार स्वरूप प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामा टीका ग्रंथ मे जो कि श्री प्रभाचन्द्र आचार्य द्वारा रचित है, षष्ठ परिच्छेद समाप्त हुआ ।

गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदम्,
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः।
तद्व्याख्यातमदो यथावगमतः किञ्चिन्मया लेशतः,
स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥
मोहध्वान्तविनाशनो निखिलतो विज्ञानशुद्धिप्रदः,
मेयानन्तनभोविसर्पणपटुर्वस्तूक्तिभाभासुरः।
शिष्याब्जप्रतिबोधनः समुदितो योऽद्रेः परीक्षामुखात्,
जीयात्सोत्र निबन्ध एष सुचिरं मार्त्तण्डतुल्योऽमल ॥ २ ॥
गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः।
नन्दताद्दुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः ॥ ३ ॥
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालय।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद्रत्ननन्दिपदे रतः ॥ ४ ॥

अब प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ के कर्त्ता श्रीप्रभाचन्द्राचार्य अंतिम प्रशस्ति वाक्य कहते है। श्लोकार्थ–श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्य ने जो अद्वितीय पद रूप शास्त्र रचा, कैसा है वह ? गंभीर अर्थवाला, सम्पूर्ण पदार्थो का प्रतिपादक, शिष्यो को प्रबोध देने मे समर्थ, एव सुस्पष्ट है, उसका व्याख्यान मैंने अपने अल्प बुद्धि के अनुसार किञ्चित् किया है, यह व्याख्यान ग्रन्थ विशुद्ध बुद्धि वाले महापुरुषो के मनोगृह मे जब तक सूर्य चन्द्र है तब तक स्थिर रहे ॥१॥ इसप्रकार माणिक्यनन्दी आचार्य के सूत्र ग्रन्थ के प्रशंसारूप अर्थ को कहकर प्रभाचन्द्राचार्य अपने टीका ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड की तुलना लोक प्रसिद्ध मार्त्तण्ड से [सूर्य से] करते है–जो पूर्णरूप से मोहरूप अधकार का नाश करने वाला है, विज्ञान की शुद्धि को देने वाला है, प्रमेय [ज्ञेय पदार्थ] रूप अनंत आकाश मे फैलने मे चतुर है, वस्तु के कथनरूप काति प्रताप से भासुर है, शिष्यरूपी कमलो को विकसित करने वाला है, परीक्षा मुखरूपी उदयाचल से उदित हुआ है, अमल है, ऐसा यह मार्त्तण्ड के तुल्य प्रमेयकमलमार्त्तण्ड निबंध चिरकाल तक इस वसुन्धरा पर जयवत रहे ॥२॥ प्रसन्न कर दिया है अशेष सज्जनो को जिन्होने एवं मिथ्या एकान्तरूप रजको नष्ट करने के लिये जैनमत के सागर स्वरूप है ऐसे गुरुदेव श्री माणिक्यनन्दी आचार्य वृद्धि को प्राप्त होवे ॥३॥ श्री पद्मनन्दी सैद्धान्तिक के शिष्य, अनेक गुणो के मन्दिर, माणिक्यनन्दी आचार्य के चरणकमल मे आसक्त ऐसे

श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्द्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।।

(इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचित· प्रमेयकमलमार्त्तण्डः समाप्तः)

।। शुभं भूयात् ।।

प्रभाचन्द्र [मैं ग्रन्थकार] चिरकाल तक जयवत वर्त्तो ।।४।। श्री भोजदेव राजा के राज्य मे धारा नगरी के निवासी, पर अपर परमेष्ठी [पर परमेष्ठी अर्हन्त सिद्ध, अपर परमेष्ठी आचार्य उपाध्याय और साधुगण] के चरणकमलो को नमस्कार करने से अर्जित हुए निर्मल पुण्य द्वारा नष्ट कर दिया है सम्पूर्ण पापमलरूप कलक को जिन्होने ऐसे श्री प्रभाचन्द्र पडित [आचार्य] द्वारा विरचित निखिल प्रमाण और प्रमेयो के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला परीक्षामुख सूत्र का यह विवरण है ।

इसप्रकार श्रीप्रभाचन्द्र विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामा यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ ।

।। इति भद्रं भूयात् ।।

अथ प्रशस्ति

प्रणम्य शिरसा वीरं धर्मतीर्थप्रवर्त्तकम् ।
तच्छासनान्वयं किञ्चिद् लिख्यते सुमनोहरम् ॥ १ ॥

नभस्तत्वदिग्वीराब्दे कुन्दकुन्द गणी गुणी ।
संजातः सघनायको मूलसघप्रवर्त्तक' ॥ २ ॥

आम्नाये तस्य संख्याता विख्याताः सुदिगम्बराः ।
प्राविरासन् जगन्मान्याः जैनशासनवर्द्धकाः ॥ ३ ॥

क्रमेण तत्र समभूत सूरिरेकप्रभावक. ।
शांतिसागर नामा स्यात् मुनिधर्मप्रवर्त्तकः ॥ ४ ॥

वीरसागर आचार्यस्तत्पट्टे समलकृतः ।
ध्यानाध्ययने रक्तो विरक्तो विषयामिषात् ॥ ५ ॥

अथ दिवंगते तस्मिन् शिवसिन्धुर्मुनीश्वर. ।
चतुर्विधगणैः पूज्यः समभूत् गणनायकः ॥ ६ ॥

तयो. पार्श्वे मया लब्धा दीक्षा ससारपारगा ।
आकरी गुणरत्नाना यस्यां कायेऽपि हेयता ॥ ७ ॥
[विशेषकम्]

प्रशमादिगुणोपेतो धर्मसिन्धुर्मुनीश्वर. ।
आचार्यपद मासीनो वीरशासनवर्द्धकः ॥ ८ ॥

आर्या ज्ञानमती माता विदुषी मातृवत्सला ।
न्यायशब्दादिशास्त्रेषु धत्ते नैपुण्य माञ्जसम् ॥ ९ ॥

कवित्वादिगुणोपेता प्रमुखा हितशासिका ।
गर्भाधानक्रियाहीना मातैव मम निश्छला ॥ १० ॥

नाम्ना जिनमती चाह शुभमत्यानुप्रेरिता ।
यया कृतोऽनुवादोयं चिरं नन्द्यात् महीतले ॥ ११ ॥

॥ इति भद्रं भूयात् सर्वं भव्यानां ॥

परीक्षामुखसूत्रपाठः ।

।। प्रथमः परिच्छेदः ।।

प्रमाणादर्थससिद्धिस्तदाभासाद्विपर्यय. ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्प लघीयस: ।। १ ।।

१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम् ।
२ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत् ।
३ तन्निश्चयात्मक समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ।
४ अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ।
५ दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।
६ स्वोन्मुखतया प्रतिभासन स्वस्य व्यवसायः ।
७ अर्थस्येव तदुन्मुखतया ।
८ घटमहमात्मना वेद्मि ।
९ कर्मवत्कर्तृ करणक्रियाप्रतीतेः ।
१० शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।
११ को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छस्तदेव तथा नेच्छेत् ।
१२ प्रदीपवत् ।
१३ तत्प्रामाण्य स्वत: परतश्चेति ।

।। द्वितीयः परिच्छेदः ।।

१ तद्द्वेधा ।
२ प्रत्यक्षेतरभेदात् ।
३ विशद प्रत्यक्षम् ।
४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासन वैशद्यम् ।
५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशत साव्यवहारिकम् ।
६ नार्थालोकौ कारण परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।
७ तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।
८ अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशक प्रदीपवत् ।
९ स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।
१० कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचार. ।
११ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।
१२ सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ।

।। तृतीयः परिच्छेदः ।।

१ परोक्षमितरत् ।

२ प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ।

३ सस्कारोद्‌बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ।

४ स देवदत्तो यथा ।

५ दर्शनस्मरणकारणक सङ्कलन प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेद तत्सदृश तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ।

६ यथा स एवाय देवदत्तः । ७. गोसदृशो गवयः ।

८ गोविलक्षणो महिषः । ९. इदमस्माद् दूरम् ।

१० वृक्षोऽयमित्यादि ।

११ उपलम्भानुपलम्भनिमित्त व्याप्तिज्ञानमूहः ।

१२ इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ।

१३ यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।

१४ साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।

१५ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।

१६ सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव ।

१७ सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ।

१८ पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ।

१९ तर्कात्तन्निर्णय ।

२० इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यम् ।

२१ सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नाना साध्यत्व यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ।

२२ अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्व माभूदितीष्टाबाधितवचनम् ।

२३ न चासिद्धवदिष्ट प्रतिवादिनः ।

२४ प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ।

२५ साध्य धर्म. क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ।

२६ पक्ष इति यावत् ।

२७ प्रसिद्धो धर्मी ।

२८ विकल्पसिद्धे तस्मिन्सत्तेतरे साध्ये ।

२९ अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ।

३० प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ।

३१ अग्निमानय देश. परिणामी शब्द इति यथा ।

३२ व्याप्तौ तु साध्य धर्म एव ।

३३ अन्यथा तदघटनात् ।

३४ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।

३५ साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ।

३६ को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।
३७ एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ।
३८ न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ।
३९ तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ।
४० व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ।
४१ नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ।
४२ तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ।
४३ कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ।
४४ न च ते तदङ्गे । साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ।
४५ समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु साध्ये तदुपयोगात् ।
४६ बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ।
४७ दृष्टान्तो द्वेधा । अन्वयव्यतिरेकभेदात् ।
४८ साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ।
४९ साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ।
५० हेतोरुपसंहार उपनयः ।
५१ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ।
५२ तदनुमानं द्वेधा ।
५३ स्वार्थपरार्थभेदात् ।
५४ स्वार्थमुक्तलक्षणम् ।
५५ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ।
५६ तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।
५७ स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ।
५८ उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ।
५९ अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ।
६० रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ।
६१ न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ।
६२ भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ।
६३ तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।
६४ सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ।
६५ परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी ।
६६ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ।

६७ अस्त्यत्र छाया छत्रात् ।
६८ उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ।
६९ उदगाद्भरणिः प्राक्तत एव ।
७० अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ।
७१ विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ।
७२ नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ।
७३ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ।
७४ नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ।
७५ नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ।
७६ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।
७७ नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात् ।
७८ अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात् ।
७९ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ।
८० नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ।
८१ नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ।
८२ नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ।
८३ न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ।
८४ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्प्राक् तत एव ।
८५ नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ।
८६ विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा । विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ।
८७ यथाऽस्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ।
८८ अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ।
८९ अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः ।
९० परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ।
९१ अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ।
९२ कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ।
९३ नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिसंशब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा ।
९४ व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा ।
९५ अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ।
९६ हेतुप्रयोगो हि यथाव्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ।
९७ तावता च साध्यसिद्धिः ।
९८ तेन पक्षस्तदाधारसूचनायोक्तः ।
९९ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।
१०० सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।

१०१ यथा मेर्वादयः सन्ति ।

॥ चतुर्थः परिच्छेदः ॥

१ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय. ।
२ अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ।
३ सामान्यं द्वेधा, तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ।
४ सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ।
५ परापरविवर्त्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।
६ विशेषश्च ।
७ पर्यायव्यतिरेकभेदात् ।
८ एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविन परिणामा: पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ।
९ अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ।

॥ पञ्चमः परिच्छेदः ॥

१ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।
२ प्रमाणादभिन्न भिन्नञ्च ।
३ य. प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ।

॥ षष्ठः परिच्छेदः ॥

१ ततोऽन्यत्तदाभासम् ।
२ अस्वसविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ।
३ स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ।
४ पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ।
५ चक्षूरसयोर्द्रव्ये सयुक्तसमवायवच्च ।
६ अवैशद्ये प्रत्यक्ष तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ।
७ वैशद्येऽपि परोक्ष तदाभास मीमासकस्य करणज्ञानवत् ।
८ अतस्मिंस्तदिति ज्ञान स्मरणाभासम्, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ।
९ सदृशे तदेवेद तस्मिन्नेव तेन सदृश यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ।
१० असम्बद्धे तज्ज्ञान तर्काभासम्, यावास्तत्पुत्र. स श्यामो यथा ।
११ इदमनुमानाभासम् ।
१२ तत्रानिष्टादि पक्षाभासः ।
१३ अनिष्टो मीमासकस्यानित्यः शब्द· ।
१४ सिद्ध· श्रावणः शब्दः ।
१५ बाधित· प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ।
१६ अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ।
१७ अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत् ।

१८ प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।
१९ शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत् ।
२० माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ।
२१ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ।
२२ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ।
२३ अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ।
२४ स्वरूपेणासत्वात् ।
२५ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।
२६ तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ।
२७ सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।
२८ तेनाज्ञातत्वात् ।
२९ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।
३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।
३१ निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ।
३२ आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।
३३ शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।
३४ सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।
३५ सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।
३६ सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ।
३७ किञ्चिदकरणात्
३८ यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ।
३९ लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।
४० दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः ।
४१ अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ।
४२ विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम् ।
४३ विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ।
४४ व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।
४५ विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम् ।
४६ बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ।
४७ अग्निमानयं देशो धूमवत्वात् यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ।
४८ धूमवांश्चायमिति वा ।
४९ तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायमिति ।
५० स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ।
५१ रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।
५२ यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ।

५३ अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ।
५४ विसंवादात् ।
५५ प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ।
५६ लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ।
५७ सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैः व्याप्तिवत् ।
५८ अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।
५९ तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।
६० प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ।
६१ विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ।
६२ तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च ।
६३ समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।
६४ परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ।
६५ स्वयमसमर्थस्य अकारकत्वात्पूर्ववत् ।
६६ फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ।
६७ अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ।
६८ व्यावृत्त्याऽपि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ।
६९ प्रमाणाद्व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ।
७० तस्माद्वास्तवो भेदः ।
७१ भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ।
७२ समवायेऽतिप्रसङ्गः ।
७३ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ।
७४ संभवदन्यद्विचारणीयम् ।

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ।।१।।

।। इति परीक्षामुखसूत्रं समाप्तम् ।।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	५	पूर्वोत्तरा .	अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्यय गोचरत्वात् पूर्वोत्तरा-
४	१०	वैशिष्य	वैशिष्टच
३५	१४	पदर्थों की	पदार्थों की
६८	२	तद्दृथा ।	तद्वृथा ।
९३	३	प्राग्भावस्या	प्रागभावस्या
१०३	१८	सत्व और क्षणिकमे	सत्त्व और अक्षणिकमे
११३	१३	सुगता और इतर चित्तो मे	सुगत और इतर जनोके चित्तो मे
११७	१९	स्वर्ग प्राप्य	स्वर्ग प्रापण
१२३	३	कृतत्व	कृतकत्व,
१२४	१७	भवान्तर	भावान्तर
१५०	९	शक्य क्योकि	शक्य नही, क्योकि
१७०	६	दिष्ट	द्विष्ट
१८०	१	स्वकार्यकारणदुपरमते ।	स्वकार्यकरणादुपरमते ।
१९७	२६	सदोष बाधित	बाधित
२००	२४	"खस्यभावः खत्वे"	"खस्य भाव खत्व"
२१८	२०	संकट	संकर
२२०	४	प्रभाव	प्रमाण

पृष्ठ २१६ की सस्कृत भाषा की चार पंक्तियो एव पृष्ठ २१७ की तीन पक्तियो का हिंदी अर्थ गलती से अन्य प्रकरण मे पृष्ठ २२१ और २२२ पर छप गया है ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२९	१	योग के	यौग के
२३३	२	तद् व्यापकस्यापि	व्यापकस्यापि
२३७	११	मित्ति आदि	मिट्टी आदि
२५६	४	एक द्रव्य. । शब्दः	एकद्रव्यः शब्दः
३१४	२३	उस दिन निकटवर्ती	उस निकटवर्ती

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६७	८	[जानने का] कोई नही	[जाननेका] कोई कारण नही
४४७	२५	इसप्रकार	जैन–इसप्रकार
४७६	२३	सत्करी सत्ता" द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन पदार्थों मे सत्ता के समवाय से सत्त्व होता है।	सत्करी सत्ता"
४८३	६	नियाम्येत	नियम्यते
५०४	६	यह धर्म इसी धर्म का	यह धर्म इसो धर्मो का
५१४	५	क्रम । व्याचष्टे	क्रम व्याचष्टे ।
५१६	६	ज्ञान रसका	रसका
५१७	२७	वह प्रत्यक्षा भास इसी को	वह प्रत्यक्षाभास है। आगे इसी को
५४४	१८	यह पशु आगे है	यह पशु अगौ है
५४४	२४	अपक्षैक देश	सपक्षैक देश
५६४	१४	अतिवादी	प्रतिवादी
५६६	२७	अतः होता है, किसी	अतः किसी
५६७	१८	अब दृष्टात ही	अब अदृष्टान्त ही
५६६	१३	बताया ही नही	बनाया ही नही
५६६	१८	नश्वरत्व	नश्वरत्व
६१३	५	तदुद्भावनसाथ्र्य	तदुद्भावनसामर्थ्यं
६४५	२	खात्कृताकम्प	खात्कृतकम्प
६८५	५	। एव अन्त ह्यान्तः	। अन्तः एव ह्यान्तः
६८५	२१	भासितभूत्पाद्या	भासितभूत्याद्या
६८५	२८	प्रमीति	प्रमिति
६६२	७	गृहीते भिन्ने च यदा	गृहीते भिन्न चार्थे यदा
७००	१	काना तन्निश्चः	काना तन्निश्चयः

भारतीय श्रुति–दर्शन केन्द्र
जयपुर

प्रमेयकमल मार्त्तण्ड तृतीय भाग के सहयोगी

द्रव्य-प्रदाता

२००१) श्री बदामबाई (धर्मपत्नी श्री रतनलालजी जैन टौंक)
२०००) श्री निहालचन्दजी लुहाडिया, अजमेर
२०००) श्री रतनचन्दजी मुख्तार सहारनपुर की धर्मपत्नी
१००१) श्री सुमतिदेवी (धर्मपत्नी श्री महावीरप्रसादजी छाबडा रानोली)
१००१) श्री तारादेवी पाटनी (धर्मपत्नी श्री पारसमलजी मेडता सिटी)
१००१) श्री कल्याणबक्षजी रतनलालजी जैन, बनेठा
१०००) श्री सुखमालचन्दजी सर्राफ, सहारनपुर
१०००) श्री राजेश्वरी जैन, सहारनपुर
१०००) श्री सुभाषचन्दजी जैन, शाहपुर
१०००) श्री पवनकुमारजी मगनलालजी सर्राफ, बासवाडा
१०००) श्री नाथूलालजी जैन लोहारिया
१०००) श्री भगवानलालजी बिरदीचन्दजी सलूम्बर
१०००) श्री स्नेहलता जैन C/o श्री चादमलजी बडी, बम्बई
१०००) श्री शातिलालजी नेमीचन्दजी काशलीवाल
१०००) श्री शातिलालजी दोसी, दिल्ली
१०००) श्री कल्याणमलजी जैन, उदयपुर
१०००) श्री जीवनी बाई पाडचा, आनन्दपुर कालू
१०००) श्री कचनबाई जैन (धर्मपत्नी श्री भागचन्दजी पाटनी)
१०००) श्री कमेलाबाई काला, सुजानगढ (जयपुर)
१०००) ब्र० शातिबाई जैन, खम्मापेट (डोरनकल जक्शन)
१०००) श्री गुणमालाबाई (धर्मपत्नी श्री विमलचन्दजी डोटिया बम्बई)
५००) श्री गणेशलालजी जैन, लोहारिया
५००) श्री रोडमलजी जैन, लोहारिया
५००) श्री महावीर स्टोर्स, डूगरपुर
५००) श्री लालचन्दजी जैन, निवाई
५००) श्री बिरदीचन्दजी जानकीलालजी जैन, निवाई
५००) श्री रुकमणी बाई सलूम्बर (माताजी श्री नरेन्द्रकुमारजी मीडा)
५००) श्री गणपति देवी जैन, गिरीडीह
५००) डॉ० आर० के० बक्षी, बम्बई
५००) श्री बुधमलजी जैन, नागौर

२८५०५)